डॉ॰ धर्मवीर भारती
सम्पादन डॉ॰ रघुवंश
समिति डॉ॰ व्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

आलोचना विशेषांक

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ३ अंक १ पूर्णाङ्क ६ अक्तूबर १९५३

वार्षिक मूल्य १२) इस अंक का ५)

सूची

आलोचना

सम्पादकीय

मूल्यगत संक्रमण और समीक्षा का मानदण्ड

आज की स्थिति में जब हम यह कहते हैं कि साहित्य का दायित्व बढ़ गया है उस समय यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इसमें समीक्षा के दायित्व का प्रश्न भी अन्तर्निहित है। अन्ततोगत्वा साहित्य के मूल्यों की व्याख्या करना, पाठक को उन मूल्यों के विषय में अन्तर्दृष्टि देना तथा साहित्यकार को उसके उपलब्ध मूल्यों के प्रति जागरूक करना ही समीक्षा का कर्तव्य है। आलोचना के सातवें अंक के सम्पादकीय में हम समीक्षा के तीन आयामों और उनके सापेक्ष महत्त्व पर विचार कर चुके हैं। किन्तु समीक्षा का दायित्व केवल वहीं समाप्त नहीं हो जाता। ये आयाम समीक्षात्मक पद्धतियों से सम्बन्धित हैं। इनसे केवल इतना ही समझा जा सकता है कि समीक्षा की प्रणाली को किन-किन दृष्टि-बिन्दुओं से नियोजित करना चाहिए। पर समीक्षा की मूल समस्या आज भी ज्यों-की-त्यों रह जाती है। प्रश्न है कि समीक्षा इस प्रकार साहित्य के किन मूल्यों की व्याख्या या स्थापना करती है ? ये मूल्य क्या हैं ? ये मूल्य परिवर्तनशील हैं या स्थायी ? इन मूल्यों के विषय में, उनकी प्रकृति के सम्बन्ध में विचार कर लेना यहाँ नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इन मूल्यों के अनुसार ही समीक्षा का मानदण्ड निर्धारित किया जा सकता है। बिना साहित्य के मूल्यों की स्थापना के समीक्षात्मक मानदण्ड का निरूपण भी नहीं किया जा सकता और यदि साहित्य के मूल्य युग-युग में परिवर्तित होते रहते हैं तो युग-युग की समीक्षा का मानदण्ड एक-सा नहीं हो सकता। समीक्षा के मानदण्ड के स्थायित्व से साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि साहित्य द्वारा अभिव्यक्त मूल्यों में स्थायित्व की भावना है। परन्तु मूल्यों के प्रश्न को उठाने के पहले हम यहाँ बिना विवाद में पड़े साहित्य में मूल्यों की स्वीकृति की समस्या पर विचार कर लेना चाहेंगे।

स्वीकृति-अस्वीकृति की समस्या मूल्यों के सन्दर्भ में समीक्षा की आधारभूत समस्या है। यह ठीक है कि प्लेटो और भरत मुनि से लेकर १९वीं शती के पहले तक साहित्य की प्रयोजनीयता पर किसी ने स्पष्ट रूप से अविश्वास नहीं किया था। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि आधुनिक यूरोप की १९वीं शती के 'कला

कला के लिए' सिद्धान्त की अवहेलना की जा सकती है या अन्य सौन्दर्यवादी सिद्धान्तों की महत्ता को भुलाया जा सकता है। यह यूरोप की शताब्दी क्या ज्ञान-विज्ञान की प्रगति की दृष्टि से और क्या जीवन तथा साहित्य-सम्बन्धी गम्भीर चिन्तन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आज के जीवन में जो मूल्यगत संक्रमण की स्थिति जान पड़ती है उसका सूत्रपात या यों कहें कि उसके कारणों का आविर्भाव इसी शताब्दी से होता है, इस कारण भी इस युग के दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्लेटो, अरिस्टाटिल, एरस्टास्थनीज आदि ग्रीक-विचारकों से लेकर मध्य युग के धार्मिक विचारकों तक और पुनरुत्थान युग के स्टीफ़न गोसन, स्पेंसर, मिल्टन से लेकर रोमाण्टिक युग के पीकाक, शेली आदि तक तथा आधुनिक युग में मैथ्यू आर्नल्ड, टॉल्सटॉय से लेकर बर्नर्ड शा, सामेरसेट मॉम तक ने साहित्य की प्रयोजनात्मकता स्वीकार की है। परन्तु प्रयोजन को स्वीकार करते हुए भी इन विभिन्न आलोचकों के मूल्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण में भारी अन्तर है। प्लेटो ने साहित्य को राज्य से निष्कासित किया था, क्योंकि वह साहित्य को अपनी जीवन-सम्बन्धी स्थापनाओं के प्रतिकूल समझता था। इसी प्रकार डीगो रीवरा और प्लेखनाव-जैसे तानाशाही विचार-धारा के समर्थक साहित्य की प्रचारात्मक उपयोगिता को ही स्वीकृति देते हैं। इनके विपरीत अरिस्टाटिल ने अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति के रूप में साहित्य को जीवन के यथार्थ-रूप में स्वीकार किया, शेली ने उसे श्रेष्ठ और आनन्दित मन की, सर्वश्रेष्ठ आनन्दोल्लास के क्षणों की अभिव्यक्ति के रूप में माना है, टॉल्सटॉय ने साहित्य के आचरणात्मक प्रभाव पर बल दिया और सामरसेट मॉम ने कला का मूल्य सौन्दर्य में स्वीकार न करके सुन्दर व्यवहार माना है। प्रयोजन-सम्बन्धी इस विभिन्नता में इतनी समानता तो है ही कि पाठक को प्रभावित करने की शक्ति के आधार पर इन विचारकों ने साहित्य में मूल्यों की स्थापना की है। 'कला कला के लिए'-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विचारकों ने साहित्य के प्रयोजन को अस्वीकार किया है। विक्टर कॉजन तथा विक्टर ह्यूगो के विचार को गातिपर ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया और बाद में गॉकूंत, रेनान, फ़्लोवर्त्त, बादलेयर आदि ने इस सिद्धान्त को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया तथा इंग्लैंड में इसके प्रवर्त्तक वाल्टर पेटर स्वेनबर्न आदि रहे हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रयोजन को अस्वीकार करके इन साहित्य-शास्त्रियों और साहित्यकारों ने साहित्य से मूल्यों को बहिष्कृत कर दिया है। सामान्यतया इन्होंने प्रयोजन के रूप में साहित्य में किसी आचरणात्मक या सामाजिक मूल्य की स्वीकृति नहीं दी है। विद्वानों का कहना है कि 'कला कला के लिए'-सिद्धान्तवादियों ने साहित्य में आचरण-सम्बन्धी मूल्यों को अस्वीकार करने में या तो अनाचार (immoral) अथवा निराचार (amoral) का प्रतिपादन किया है और इस प्रकार उन्होंने एक तरह से आचरणात्मक प्रयोजन को साहित्य में मान्यता ही दी है। वास्तव में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन विचारकों ने इस प्रकार साहित्य के मूल्य को नैतिक मूल्य से भिन्न करके देखने की कोशिश की। वैसे जब लॉंगिनस काव्य को आत्मा की प्रतिध्वनि कहता है अथवा क्रोचे अभिव्यञ्जना के रूप में काव्य की व्याख्या करता है उस समय यह भी नहीं कहा जा सकता कि अन्य सौन्दर्यवादी विचारकों की दृष्टि में यह बात कभी आई ही नहीं। प्रयोजन की दृष्टि से साहित्य पर विचार करने वाला समीक्षक या तो जीवन के बदले हुए मूल्यों के साथ अपने मानदण्ड को बदलेगा, अथवा धार्मिक रूढ़िवादी और मार्क्सवादी के साथ सामाजिक नियमों

को अटल मानकर उनके अनुसार अपने मानदण्ड को स्थायी स्वीकार करेगा। इसके विपरीत अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद कलावादी समीक्षक साहित्य के कुछ ऐसे मूल्यों का संकेत देता है जो जीवन के साधारण मूल्यों से असम्बद्ध और असम्पृक्त हैं। इस प्रकार यह सारा विवाद इस बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है कि साहित्य के स्थायी मूल्य नैतिक आचार तथा अन्य सामाजिक मर्यादाओं से सम्बद्ध हैं अथवा नहीं? सौन्दर्यवादियों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन अत्यन्त कुशलता से किया है किन्तु वे इस स्थापना को निर्मूल नहीं कर पाए हैं कि साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अक्षुण्ण रहा है। ऐसी स्थिति में जीवन के बदलते हुए मूल्यों के साथ साहित्य के समीक्षात्मक मूल्यों के विकसित होने की सम्भावना बनी रहती है। ग्रीक-युग के जीवन्त समाज, सशक्त साहित्य, समुन्नत संस्कृति तथा सचेष्ट आलोचना-शास्त्र में संतुलन है तो मध्य युग के साधारण समाज, नीरस साहित्य, पतनोन्मुखी संस्कृति के साथ आलोचना का दृष्टिकोण रूढ़िवादी है। इसी प्रकार का अन्तर संस्कृत के महाकाव्यों के युग तथा हिन्दी के भक्ति-काल में माना जा सकता है। एक में तत्कालीन जीवन के अनुरूप अलंकरण का सौन्दर्य-बोध है तो दूसरे में साहित्यिक भक्ति-भावना के अनुरूप रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। इसी प्रकार रीतिकालीन पतनोन्मुखी समाज तथा साहित्य के अनुरूप उस काल की रूढ़िबद्ध समीक्षा-पद्धति है। पर इस समानता को बहुत दूर तक सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसा आगे देखा जायगा न जीवन के मूल्य मूलतः बदलते हैं (विकसित अवश्य होते हैं) और न साहित्यगत मूल्यों और तत्कालीन सामाजिक मूल्यों की तद्रूपता ही अनिवार्य है। यह भ्रम यूरोप की १९वीं शती के क्रान्तिकारी युग के कारण पैदा हुआ है जिसमें एक पूँजीवाद, व्यक्तिवाद तथा विज्ञानवादी भौतिकवाद के कारण मानवीय जीवन के मूल्यों में अस्थिरता आ गई थी। उस काल की मूल्यगत अस्थिरता और संघर्ष को देखकर उस युग का व्यक्ति समझने लगा था कि वह जीवन के मूल्यों का आमूल परिवर्तन करने जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि इसका प्रभाव उस युग के साहित्य और उसके समीक्षात्मक दृष्टिकोण दोनों पर समान रूप से पड़ा है। वर्तमान युग के मूल्यगत संक्रमण की भूमिका विचारों और विश्वासों के इस क्रान्तिकारी युग में प्रारम्भ हो गई थी, जिस संक्रान्ति की परिस्थिति में आज यूरोप पुनः स्थायी मूल्यों की खोज में है। यहाँ यह स्थिति निश्चित रूप से कह देना आवश्यक है कि हमारे देश में न तो यूरोप-जैसा विश्वास-हीनता का युग कभी रहा है और न आज यहाँ यूरोप के अर्थ में मूल्यगत संक्रमण की स्थिति ही है। यह संक्रमण हमारे लिए भावावेश की परिस्थिति नहीं है, वरन् बौद्धिक स्थिति-मात्र है। (सम्भवतः इसी कारण इस विषय में हमारा दृष्टिबिन्दु अधिक असम्पृक्त रह सकेगा।) फिर भी यूरोप की इस समस्या को हम निरपेक्ष भाव से नहीं देखते रह सकते, क्योंकि उसका समाधान हमारे और समस्त विश्व साहित्य के भविष्य के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। इस दृष्टि से यूरोप की स्थिति का संक्षिप्त पर्यवेक्षण आवश्यक है।

यूरोप में आधुनिक युग वैज्ञानिक उन्नति के साथ प्रारम्भ हुआ था। १९वीं शती में भौतिक विज्ञान की आश्चर्यजनक सम्भावनाओं से यूरोप चकित हो गया। उसी समय औद्योगिक क्रान्ति के साथ पूँजीवादी व्यवस्था का युग प्रारम्भ हुआ जिसके प्रभाव में सामन्ती सभ्यता का अन्त हो गया। राष्ट्रपिता तथा प्रजातन्त्र की भावना के विकास के साथ विचार-स्वातन्त्र्य की ऐसी महत्ता हुई कि व्यक्ति ने अपने को प्रधानता देकर धर्म,

दर्शन, समाज, संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक अथवा तार्किक दृष्टि से विचार करना शुरू किया। भौतिक विज्ञानों के साथ समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा मानव-शास्त्र आदि क्षेत्रों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकसित होने से इस युग में प्राचीन स्थापनाओं, मर्यादाओं और मूल्यों में क्रान्ति उपस्थित हुई। यह आधुनिक युग अपनी वैज्ञानिक दृष्टि तथा मशीनी सभ्यता के साथ पिछले समस्त युगों के सामने प्रश्न-चिह्न बन गया। नवीन सम्भावनाओं के इस वैज्ञानिक भौतिकवाद ने जीवन-सम्बन्धी मूल्यों की परम्परा को अस्वीकार किया और मानव को भौतिक कार्य-कारण-शृङ्खला की कड़ी के रूप में माना। उसके अनुसार प्राणियों के विकास-क्रम में अन्तिम परिणति होकर भी मानव अपनी बाह्य परिस्थितियों से मजबूर है; विषम भौतिक तत्त्वों के संयोग से उसका संगठन हुआ है; वह भौतिक नियमों से शासित है और उसका भावात्मक समस्त जीवन काम-वासना अथवा अहं-मूलक प्रवृत्तियों पर आधारित है। इस प्रकार पुनर्जागरण के बाद यूरोप में विचार-चिन्तन का जो उत्कृष्ट युग प्रारम्भ हुआ, जिसकी समता ग्रीक-युग के अतिरिक्त यूरोप का कोई युग नहीं कर सकता, वह वैज्ञानिक भौतिकवाद की मशीनी सभ्यता के बन्धन में जकड़कर छटपटाने लगा। वास्तव में जीवन का कोई भी दृष्टिकोण रूढ़िबद्ध (dogmatic) तथा निश्चित नियतिगत (determinastic) रूप में स्वीकृत हो जाने पर स्वतः उसकी गति के लिए बाधक हो जाता है। वैज्ञानिक उन्नति के साथ भौतिकवाद ने रूढ़िवादी धार्मिक विश्वासों और स्थापनाओं के विरुद्ध अपना प्रहार किया था और उस समय यह आन्दोलन क्रान्तिकारी जान पड़ता था। पर शीघ्र ही वह अपनी रूढ़ियों से ग्रस्त हो गया, जो उसकी ही स्थापनाओं को जड़-मूल से हिलाने लगीं। धार्मिक, सामाजिक, नैतिक-मर्यादाओं, परम्पराओं और आदर्शों से उसने विद्रोह कराना सिखाया था, पर इस युग के वैज्ञानिकों, समाज-शास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों की स्थापनाओं ने मनुष्य को भौतिक परिस्थितियों का दास-मात्र बना डाला। प्रत्यक्ष में मशीनों के विकास के साथ मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करता जा रहा था, पर विजय केवल भौतिक संघर्ष के रूप में थी; क्योंकि इसके पीछे प्रेरणा और प्रगति का कोई अन्य स्रोत नहीं रह गया था। उस प्रकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता का स्वप्न अपने मूलगत अन्तर्विरोध के कारण नष्ट हो गया और वह नये विश्वासों और मूल्यों की खोज में पुरानों को खोकर अविश्वासी बन गया। राष्ट्रों की स्पर्द्धा के कारण यूरोप में जो भयानक युद्ध हुए उन्होंने भी इस परिस्थिति में सहायता दी।

कहा गया है कि मशीन युग की बढ़ती हुई सभ्यता और सम्भावनाओं के साथ मूल्यगत आस्था के अभाव में सांस्कृतिक उपलब्धियों का सन्तुलन अस्थिर हो गया है। युग की परिस्थिति का यह स्वाभाविक परिणाम है। पर इस सन्तुलन की रक्षा का प्रयत्न भी १९वीं शती के मानव-वादियों (Humanist) ने किया। इन्होंने वैज्ञानिक युग के साथ समझौता करते हुए तर्क, प्रयोजन आदि के आधार पर मानव-जीवन के आचरणात्मक मूल्यों को स्थापित करने की कोशिश की है। इन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ इन मूल्यों का आधार तर्क और व्यक्तिगत विवेक-मात्र किया है। पर बिना पर्याप्त प्रेरक शक्ति की सही व्याख्या किये मानववादी मूल्यों की स्थापनाएँ थोथी जान पड़ती हैं। आगे चलकर इस मानववाद का एक दूसरा रूप सामने आया है जिसने इस सन्तुलन के लिए एक भिन्न आधार स्वीकार किया है। ऐतिहासिक भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक पद्धति से इसी सन्तुलन को पूँजीवादी व्यवस्था की समाजवादी परिणति

में देखना है। उसने यथार्थवादी भौतिक व्याख्या के लिए सामाजिक मानवता को स्वीकार किया है। इस आदर्श ने साम्यवादी देशों में समाज की आर्थिक व्यवस्था के सामंजस्य में सचमुच अद्भुत सफलता प्राप्त की है। साथ ही इसका प्रभाव समस्त संसार पर पड़ रहा है। पर उस निश्चित दृष्टिकोण से समस्त मानव-इतिहास की, समस्त देशों के युग-युग के इतिहास की तथा व्यक्ति के सूक्ष्म मन की व्याख्या प्रस्तुत करने का दावा भ्रामक और थोथा सिद्ध हो गया है। ऐसी स्थिति में आज का युग संक्रान्ति का युग है, जिसमें जीवन के मूल्य हों या साहित्य के मानदण्ड के मूल्य—सभी के विषय में अनिश्चित स्थिति जान पड़ती है।

जिस प्रकार १९वीं शती के यूरोप में बदलते हुए मूल्यों का युग प्रारम्भ हुआ था, जिसकी चरम परिणति २०वीं शताब्दी में आज मूल्यगत संक्रान्ति में परिलक्षित हो रही है, उसी प्रकार यूरोप में १९वीं शताब्दी के साहित्य और उसके समीक्षात्मक मानदण्डों में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए ये उन सबके बीच (आज के संक्रान्ति काल में) साहित्य के समुचित आलोचनात्मक दृष्टिकोण के लिए वर्तमान युग आकुल हो उठा है। वास्तव में इस दृष्टि से फ्रांस ने यूरोप का प्रतिनिधित्व किया है, इसीलिए उसको ही विचारात्मक संघर्ष का सबसे अधिक बोझा ढोना पड़ा है। इस युग के प्रारम्भ में बादलेयर की स्थिति रोमाण्टिक तथा प्रतीकवादियों के बीच की है। भावनाओं तथा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के साथ उसका प्रधान स्वर रोमाण्टिक है। पर उसकी कविता में आत्मा की अन्यमनस्कता, भ्रान्ति, आत्महत्या की इच्छा, रोग, मृत्यु और सामान्य विरक्ति तीखेपन से व्यक्त हुई है। उसने जीवन में पीड़ा और अवसाद को स्वीकार किया है और इस प्रकार अपने युग के टूटते हुए विश्वासों को उसने साहित्य की मान्यता के रूप में स्वीकार कर लिया है। बअरलेन, रेम्बो तथा मेलार्मे आदि प्रतीकवादियों ने साहित्य को शुद्ध अनुभूति, कल्पना और विचार के चरम संवेदक क्षणों में केन्द्रित करने की कोशिश की। चाहे बअरलेन की निरुद्देश्य अनुभूति को कल्पना-बिम्बों में ग्रहण करने की बात हो या रेम्बो द्वारा सागर की लहर के समान आकस्मिक अनुभूति के कल्पना-संकेतों में ग्रहण करने का प्रश्न हो अथवा मेलार्मे के वैयक्तिक मानसिक तीव्र संवेदनाओं के ध्वन्यात्मक चित्रों का प्रश्न हो, इतना निश्चित है कि प्रतीकवाद के मूल में युग का व्यक्तिवाद तथा तत्कालीन समस्या से पलायन की मनोवृत्ति परिलक्षित होती है। जोला में इस युग का यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित हुआ, जो वैज्ञानिक यथार्थवाद की स्थापनाओं को ग्रहण करके भी असफल रहा है। जारा और फिलिप सुपोल के दादाइज़्म में सामाजिक मान्यताओं के विध्वंस की प्रबल आकांक्षा और आन्द्रे ब्रताँ तथा आन्द्रे जीद के अतियथार्थवाद में प्रत्येक विश्वास, आस्था के प्रति जो घृणा है उससे स्पष्ट हो जाता है कि भौतिक उन्नति के साथ वैज्ञानिक युग ने किस प्रकार मनुष्य का विश्वास छीन लिया है। उसने भौतिक शक्तियों पर विजय पाई है, उसने अपने अन्तर्मन को भी खोज डाला है पर न तो उसने अपने को जीता है और न अपने आप पर विश्वास करना ही सीखा है। वह चाहे किर्कगार्ड तथा हेडगर द्वारा प्रतिपादित तथा सार्त्र द्वारा स्थापित अस्तित्ववाद हो अथवा इलियट तथा इज़रा पाउण्ड का निर्वैयक्तिकतावाद; सब में आज के संक्रान्ति-युग की छाया है। जैसे आज का जीवन अपने मूल्यों की दिशा में अनिश्चित, अस्पष्ट और उलझा हुआ है, वैसी ही आज के साहित्य की मान्यताएँ भी हैं।

मार्क्सवाद ने वैज्ञानिक भौतिकवाद के अन्तर्द्वन्द्व में सन्तुलन स्थापित करने की कोशिश की है और उसीके आधार पर साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी (या सामाजिक यथार्थवादी) समीक्षात्मक मानदण्ड की स्थापना का प्रयत्न किया है। मार्क्स ने यद्यपि अपने सिद्धान्त को ऐतिहासिक (यथार्थवादी) भौतिकवाद कहा है, पर उसने विज्ञानवाद और भौतिकवाद दोनों को स्वीकार किया है। इस दृष्टि से दार्शनिक विचार तथा नैतिक मर्यादा अथवा मूल्य समाज की आर्थिक परिस्थितियों की प्रतिक्रिया के बदलते हुए पहलू हैं। नैतिक मूल्य वस्तु-स्थितियाँ-भर हैं, जो परिस्थितियों की विशेष प्रतिक्रिया के रूप में सामने आते हैं। मार्क्स के अनुसार किसी भी देश के सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक मूल्य उसकी बाह्य उपलब्धि-मात्र हैं; जो आर्थिक परिस्थितियों की प्रवृत्ति से निर्धारित बाहरी ढाँचे के रूप में सामाजिक व्यवस्था को सहारा देते हैं। सामाजिक परिणति की दृष्टि से मार्क्स ने निश्चय ही मानव के किन्हीं शाश्वत मूल्यों को स्वीकार नहीं किया। पर साहित्य और संस्कृति को केवल बाह्य उपलब्धियों के रूप में स्वीकार करके भी मार्क्स, एंजिल्स तथा एक सीमा तक लेनिन भी साहित्य के स्थायी तत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सके हैं और यह उनके सिद्धान्त के अन्तर्विरोध का परिचायक है। जिस प्रकार रूढ़िगत धर्म तथा रूढ़िगत भौतिकवाद मानव-जीवन का सन्तुलित दृष्टिकोण प्रदान करने में असफल रहा उसी पद्धति को अपनाकर मार्क्सवाद भी अन्तर्विरोध से बच नहीं सका और उसकी परिणति भी वही हुई। समाज की अन्तिम स्वीकृति में इस प्रकार व्यक्ति का अपनत्व बिलकुल नष्ट हो गया। भौतिकवाद ने मनुष्य के समस्त आत्मिक मूल्यों को वस्तु तत्त्व के अन्तर्गत स्वीकार करके मानवीय अस्तित्व के स्तर-भेद को नहीं माना और वह यह भेद भी नहीं कर सका कि मनुष्य का एक प्राकृतिक जीवन है, जो प्राकृतिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं से निर्धारित होता है अथवा अन्तर्वृत्तियों के सन्तोष में अर्थ ग्रहण करता है और दूसरा एक भिन्न स्वतन्त्र जीवन है जिसमें वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को अर्थ और मूल्यों की उपलब्धि में संयोजित करता है। मार्क्सवादी व्याख्या इससे अधिक भिन्न नहीं है, क्योंकि इसमें सामाजिक जीवन की परिस्थितियों में भौतिक मूल्यों को स्थापित करने वाली 'उत्पादन-प्रणाली' को ऐतिहासिक विकास का महत्त्वपूर्ण और निर्णायक कारण माना है। इस प्रकार आज के मूल्यगत संक्रमण-युग में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जीवन के साथ साहित्य में मूल्यों की स्थापना के प्रयत्न में असफल रहा है।

इस प्रकार रूढ़िगत धर्म, रूढ़िगत भौतिकवाद तथा रूढ़िगत समाजवाद तीनों ही आज मानवीय जीवन की समस्या को सुलझाने में असमर्थ हैं, परिणामस्वरूप साहित्य के समीक्षात्मक मूल्यों के विषय में आज अनिश्चय की स्थिति है। इन सभी समाधानों में जीवन को किसी एक विशेष दृष्टि से ग्रहण किया गया है और सामान्यतः इनमें एक-सी गलती पाई जाती है। परम्परा से यह देखा गया है कि मानवीय विचारों के समस्त आन्दोलनों में आंशिक सत्य रहता है और ये सब एक सीमा तक मानवीय जीवन को अग्रसर करने में सहायक हुए हैं। सम्भवतः जब कभी अन्वेषण का सत्य—चाहे भौतिक जीवन के क्षेत्र में हो अथवा आध्यात्मिक जीवन के अर्थ में—परम्परा में पड़कर अन्तिम सत्य मान लिया जाता है, तभी वह अपनी गत्यात्मक शक्ति से विच्छिन्न होकर मानवीय जीवन की प्रगति को अवरुद्ध कर लेता है और प्रत्येक संक्रान्ति का युग जीवन की समस्त दिशाओं के लिए नई सम्भावनाओं को लेकर

उपस्थित होता है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। कोई कारण नहीं कि इस संक्रान्ति में जीवन के अधिक सन्तुलित, स्वस्थ और सुन्दर भविष्य के उद्भव की कल्पना पर विश्वास न किया जाय। आज के यूरोप का आधुनिक युग की उपलब्धियों के प्रति विश्वास टूट रहा है। वास्तव में एक लम्बे अरसे से किसी-न-किसी रूप में मानव व्यक्ति के अपनेपन को अस्वीकार किया जाता रहा है, जिसके कारण ऐसा जान पड़ने लगा है कि यूरोप में पुनः धार्मिक श्रद्धा और विश्वास की लालसा जाग उठी है। पर इस नवीन धार्मिक तथा आध्यात्मिक उत्साह में रूढ़िवादी धर्म की स्थापना की सम्भावना भ्रामक है और यदि प्रतिक्रिया के रूप में सम्भव हो तो उसे एक नया दुर्भाग्य मानना चाहिए। निकोलस वर्दयीव, मार्टिन बूबर तथा लुइस मम्फ़ोर्ड आदि ने आचरणात्मक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक मूल्यों के लिए धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में व्यक्ति की नई स्वतन्त्रता की स्थापना की है। इसी प्रकार कार्ल मनहम तथा हेराल्ड लास्की आदि नव-मार्क्सवादियों ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की नई व्याख्या प्रस्तुत की है। इन प्रयत्नों से इतना तो सिद्ध होता है कि यह संक्रान्ति का युग किसी सन्तुलन की खोज कर रहा है। वर्तमान विभिन्न विज्ञानों की नवीन खोज भी इस समन्वय की दृष्टि को प्राप्त करने में सहायक हो रही है, क्योंकि विज्ञानवाद का यह युग अब बीत गया है जब उसकी दृष्टि में भौतिक कार्य-कारण की शृङ्खला में मनुष्य असहाय पुर्जा-मात्र रह गया था। आज जो वैज्ञानिक दृष्टि हमको जीवन और संस्कृति, साहित्य तथा कला आदि के क्षेत्र में प्राप्त हुई है वह समग्र और संश्लिष्ट चित्र उपस्थित कर सकेगी, ऐसा विश्वास है। आज की वैज्ञानिकता १९वीं शती के विज्ञानवाद से भिन्न है और उसकी निरपेक्षता जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के सन्तुलन तथा सामंजस्य में अन्तर्निहित है। इसीलिए आज साहित्य के मूल्यांकन के लिए मानव-शास्त्र, समाज-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन तथा संस्कृति आदि के व्यापक अध्ययन की आवश्यकता है जिससे मानव-जीवन की सम्पूर्णता को दृष्टि-पथ में रखकर समीक्षात्मक मानदण्ड की स्थापना हो सके।

अभी तक यह मानकर चला गया है कि युग-युग में जीवन के मूल्य बदलते हैं और उन्हींके अनुसार साहित्य के समीक्षात्मक मानदण्ड भी बदलते हैं। पर जैसा कि कहा गया है इस बात में आंशिक सत्य ही है। जीवन का सामाजिक विकास हो या वैयक्तिक चेतना का विकास हो, विच्छिन्न रूप से उसकी सम्भावना नहीं मानी जा सकती। साहित्यकार जीवन के जिस अंश को ग्रहण करता है इस प्रकार वह अपने-आप भाव में निस्संग, असम्पृक्त अथवा निरपेक्ष नहीं होता। उस सामाजिक अथवा वैयक्तिक परिस्थिति (मानसिक) के पीछे समस्त जाति के (जिसे हम मानवता के अर्थ में भी ले सकते हैं) दुःख, सुख, संघर्ष, उत्थान, पतन, आदर्श, चिन्तन तथा अनुभूति के हजारों वर्ष का क्रमिक इतिहास रहा है। इस प्रकार साहित्यकार अपनी व्यक्तिगत अनुभूति से एक ओर अपने वर्तमान समाज से सम्बद्ध है और दूसरी ओर उसके द्वारा अभिव्यक्त जीवन की सम्पूर्ण ऐतिहासिक परम्परा की कड़ी के रूप में है। घोर-से-घोर व्यक्तिवादी अपने चिन्तन के शुद्ध क्षण, अनुभूति की असम्पृक्त स्थिति या कल्पना की असम्बद्ध उड़ान के निरपेक्ष-से-निरपेक्ष क्षण का मानव-इतिहास की चिरन्तन प्रवहमान धारा से असम्बद्ध करने का दावा नहीं कर सकता। वास्तव में सांस्कृतिक उपलब्धियों के रूप में प्राप्त मानव-जीवन के विभिन्न मूल्य युग-युग में मूलतः परिवर्तित नहीं होते, इसका कारण यही है कि मानव-जीवन के

अविच्छिन्न प्रवाह में कोई समान आधार उसको ग्रहण किये है जो देश-काल की बदलती हुई परिस्थितियों में समान रूप से अन्तर्निहित है। यह ठीक है कि ये सांस्कृतिक उपलब्धियाँ अर्थात् जीवन के मूल्यों की प्राप्ति किसी क्रमिक रेखा में अग्रसर नहीं होतीं। जो युग-जीवन में संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित करने के लिए जितना संघर्ष सहन करता है वह उतना ही अधिक सांस्कृतिक दृष्टि से समुन्नत होता है। सांस्कृतिक उत्थान के बाद के युग कभी-कभी बड़े ही हीन और ओछे जान पड़ते हैं, यह ठीक है कि विषमता की दृष्टि से आगे के युग विकास करते भले ही जान पड़ें। बाद में वही संतुलन व्यक्ति तथा समाज के अधिक विषम स्तर पर स्थापित किया जाता है। जीवन की विषमता की दृष्टि से असमान होते हुए भी दो भिन्न सांस्कृतिक उत्थान के युग समान परम्परा के मूल्यों का प्रतिपादन करते हैं। साहित्य और संस्कृति इस दृष्टि से समान हैं और साहित्य की मान्यताओं के विषय में भी यही कहा जा सकता है।

पर साहित्य जीवन की अन्य उपलब्धियों से भिन्न भी है और यह स्थिति उसके मूल्यांकन के दृष्टिकोण को अधिक स्पष्ट कर देती है। सभीके मन में यह प्रश्न बार-बार आता है कि अनेक पिछले युगों का साहित्य, जिसकी अन्य मान्यताएँ हमारे लिए महत्त्व नहीं रखतीं, आज भी हमारे लिए क्यों आकर्षण की वस्तु है ? पर साहित्य, विशेषकर उच्च साहित्य, जीवन को जिस समग्रता में ग्रहण करता है, अथवा पूर्णता में अभिव्यक्त करता है उसकी अपने-आपमें देश-काल से निरपेक्ष स्थिति हो जाती है। युगीन जीवन की सीमाएँ उसमें प्रत्यक्ष न हों ऐसी बात नहीं, पर वह जीवन के संतुलन का जो आधार ग्रहण करता है वह युग-युग के मानव में एक प्रकार से समान होता है और इसी संतुलन की सम्पूर्णता को व्यापक अर्थों में सौन्दर्य-बोध भी कह सकते हैं, और यही नया सौन्दर्य-बोध समीक्षा का स्थायी किन्तु निरन्तर विकासशील मानदण्ड बन सकता है, क्योंकि इसीमें प्रयोजन और प्रेषणीयता का सूक्ष्म समन्वय सम्पन्न हो सकता है।

सौन्दर्य-बोध के प्रश्न को उठाने से सम्भवतः यह भ्रम हो सकता है कि हम पिछले सौन्दर्य-वादियों की पुनः स्थापना कर रहे हैं। इस प्रश्न का विस्तृत समाधान यहाँ सम्भव नहीं है। हम किसी ऐसे सौन्दर्य-बोध को स्वीकार नहीं करते जिसका प्रभाव नितान्त वैयक्तिक अथवा असामाजिक हो। साहित्यिक अथवा कलात्मक सौन्दर्य-बोध सांस्कृतिक मूल्यों के समान, जीवन की देश-काल की बदलती हुई परिस्थितियों में सन्तुलन के व्यापक मानदण्ड के रूप में विकसित होता है। साहित्यिक सौन्दर्य-बोध के क्षेत्र में अनुभूति की निर्भरता, अभिव्यक्ति की निर्वैयक्तिकता अथवा प्रभाव की अलौकिकता को हम वैयक्तिक अनुभूति के विशिष्ट क्षणों और सामाजिक जीवन के विशिष्ट मूल्यों को संतुलन के अर्थ में ही ग्रहण कर सकते हैं अन्यथा नहीं। वास्तव में साहित्य अन्तर और बाह्य, व्यक्ति और समाज के समुचित सामंजस्य के साथ जीवन को ऐसी सम्पूर्णता के साथ ग्रहण करता है कि वह अपनी देश-कालगत सीमाओं के बावजूद भी सर्वदेशीय तथा सर्वकालीन बन जाता है। साहित्य के इस स्थायी तत्त्व को प्रतिपादित करने के लिए समीक्षा के अनेक दृष्टिकोणों के साथ सौन्दर्य-बोध का पद स्थायी (स्थिर के अर्थ में नहीं) मानदण्ड, किसी-न-किसी रूप में अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा जो अपने-आपमें असम्पृक्त, निरपेक्ष न होकर यदि मानवीय जीवन की समस्त सीमाओं से मर्यादित है तो साथ ही युग-युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों को अर्थवान भी करता है।

निबन्ध

परशुराम चतुर्वेदी

आलोचना और अनुसन्धान

हिन्दी में 'आलोचना' शब्द आजकल साहित्यिक समालोचना के लिए प्रयुक्त होता है, जो अंग्रेजी शब्द 'लिटरेरी क्रिटिसिज़्म' का समानार्थक है। 'क्रिटिसिज़्म' शब्द का मूल रूप ग्रीक शब्द 'क्रिटिकोस' के साथ सम्बद्ध है, जिसका अभिप्राय विवेचन करना या निर्णय देना है। साहित्यिक कृतियों की आलोचना कदाचित् उस प्राचीन काल में ही होने लगी थी जिस समय उनका प्रादुर्भाव सर्वप्रथम मौखिक रूप में हुआ था और जब उनके श्रोताओं ने उनसे प्रभावित होकर उन पर अपनी टीका-टिप्पणी आरम्भ की थी। किन्तु इसके अर्थ-विकास को अधिक प्रेरणा उस समय मिली जब इसका प्रयोग अभिनयों तथा (विशेषतः ग्रीस-जैसे देशों में वहाँ के) व्याख्यानों के सम्बन्ध में भी होने लगा। फिर क्रमशः जब एक पृथक् काव्य-शास्त्र का निर्माण हुआ तो उसके आधार पर विविध साहित्यिक कृतियों के परिचय, वर्गीकरण तथा गुण-दोष-विवेचन की एक सुव्यवस्थित परिपाटी चली, जिसके द्वारा इसे और भी प्रोत्साहन मिला और स्वयं इसके भी व्यापक सिद्धान्तों पर स्वतन्त्र विचार होने लगा। तब से आलोचना ने उधर बहुत दूर तक प्रगति की है और इसने न केवल किसी कृति-विशेष के ही समुचित अध्ययन का प्रयत्न किया है, अपितु उसके सृजन की प्रक्रिया, उसके स्रष्टा के व्यक्तित्व तथा उसके युग एवं तत्कालीन प्रवृत्तियों के भी समझने की चेष्टा की है और इस प्रकार इसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है।

'आलोचना' शब्द आजकल जिस अर्थ को व्यक्त कर रहा है वह सम्भवतः पाश्चात्य देशों की ही साहित्यिक चेतना के क्रमिक विकास का परिणाम है। भारतीय साहित्यिक समीक्षा, अत्यन्त प्राचीन होती हुई भी, उससे विलक्षण है। इसके 'समीक्षा' शब्द का अभिप्राय 'अन्तर्भाष्य' तथा 'अवान्तरार्थ-विच्छेद'-मात्र ही समझा जाता रहा है तथा समीक्षकों का ध्यान प्रधानतः आलोच्य ग्रन्थों तक ही केन्द्रित रहता आया है और इसी कारण भारतीय पद्धति ने शास्त्रीयता का ही अनुसरण विशेष रूप से किया है। टीकाओं द्वारा किसी पाठ का विश्लेषण करके इसने उसके तात्पर्य का स्पष्टीकरण तथा विवेचन किया है अथवा भाष्यों के सहारे उसके मूलभूत सिद्धान्तों की कल्पना करके उन्हें अपने ढंग से निरूपित एवं प्रतिपादित करने की चेष्टा की है, जिस दशा में इसे प्रायः 'मीमांसा' का भी नाम दिया जाता रहा है। आधुनिक आलोचना की भाँति स्वतन्त्र रूप से विकसित होने का इसे अवसर नहीं मिला है और आज भी इसमें प्राचीनता की ही झलक दीखती है। इसमें जहाँ काव्य-तत्त्व के दार्शनिक अध्ययन

एवं शास्त्रीय व्याख्यादि, अथवा अधिक-से-अधिक रचना-शैलियों की परीक्षा, पर ही विशेष ध्यान दिया गया है वहाँ पाश्चात्य देशों की आलोचना के क्रमशः साहित्यिक कृतियों के व्यावहारिक पक्ष को भी पूरा महत्त्व दिया है। अतएव इसका क्षेत्र जहाँ अधिकतर काव्य-शास्त्र तक ही सीमित जान पड़ता है वहाँ आलोचना का सम्पर्क आधुनिक मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के साथ भी स्थापित होता गया है और उसने अपना एक स्वतन्त्र रूप भी ग्रहण कर लिया है।

इसी प्रकार आधुनिक 'अनुसन्धान' शब्द के भी अर्थ में कुछ-न-कुछ विशेषता आ गई जान पड़ती है। यह शब्द भी आजकल अधिकतर वैज्ञानिक अन्वेषण के लिए प्रयुक्त होने लगा है, जिसकी प्रक्रिया के अन्तर्गत केवल किसी वस्तु-विषयक तात्त्विक चिन्तन या गवेषणा का ही समावेश नहीं रहता है, उसके सूक्ष्म निरीक्षण और विश्लेषण को भी उचित स्थान मिला करता है। इसमें उसके प्रत्येक अंश का एक-दूसरे के साथ कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने तथा उनके संश्लेषण द्वारा किसी महत्त्वपूर्ण निश्चय तक पहुँचने की भी प्रधानता रहती है। अनुसन्धान का काम अब केवल किसी वस्तु के सम्बन्ध में पता लगाना अथवा किसी बात के मूल उत्स तक जाने का प्रयास करना-मात्र ही नहीं रह गया है, उसके बीज रूप से लेकर उसके क्रमिक विकास तक का परिचय प्राप्त करना, उसकी सजातीय वस्तुओं के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन करना तथा विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार उसका उचित और वास्तविक स्थान निर्धारित करना भी आज उक्त प्रक्रिया के प्रमुख अंग बन गए हैं। आज का अनुसन्धित्सु अपने कार्य में कोरी जिज्ञासा की प्रेरणा से नहीं प्रवृत्त होता और न उसकी तृप्ति-मात्र से ही वह सन्तुष्ट हो जाना चाहता है। वह अपने प्रयत्नों का क्षेत्र और भी विस्तृत करके अपने को एक पक्का प्रयोगवादी भी सिद्ध करना चाहता है। इस प्रकार आधुनिक अनुसन्धान-प्रणाली शास्त्रीयता की प्राचीन परिधि को लाँघकर क्रमशः ठेठ सामाजिक जीवन के अधिकाधिक सम्पर्क में भी आती जान पड़ती है। प्राचीन काल की नादानुसन्धान अथवा तत्त्वानुसन्धान जैसी क्रियाएँ जहाँ आत्मलक्षी और अभ्यांतरिक रहीं वहाँ आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धान प्रधानतः बहिर्लक्षी और पदार्थनिष्ठ बन गया है, जिस कारण इसके क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक व्यापकता लक्षित होती है।

पाश्चात्य साहित्यिक आलोचना के इतिहास से पता चलता है कि अनुसन्धान की आवश्यकता इसे प्राचीन काल से ही पड़ती आई है। ईसवी सन् के पहले वाली दो-एक शताब्दियों में जब अलक्षेन्द्र की विजयों के कारण ग्रीक राज्य के प्रसार एवं ग्रीक सभ्यता के प्रचार का कार्य बढ़ रहा था, एथेन्स से दूर वाले देशों तक में ग्रीक साहित्य की चर्चा होने लगी और उन क्षेत्रों के विद्वानों ने इसकी ओर आकृष्ट होकर इसके समुचित अध्ययन के प्रति पूर्ण उत्साह प्रदर्शित करना आरम्भ किया। फलतः प्राचीन ग्रन्थों तथा पांडुलिपियों की खोज होने लगी और इस कार्य में संलग्न होकर वे लोग इस बात के अनुसन्धान में भी प्रवृत्त हुए कि अमुक रचना वस्तुतः अमुक कवि व लेखक की है भी या नहीं। कभी-कभी तो ऐसी रचनाओं के वास्तविक लेखक व कवि का ठीक पता चल जाने पर भी यह प्रश्न बना रहता था कि उनका शुद्ध और प्रामाणिक पाठ क्या रहा होगा और इस बात का निर्णय करते समय उनके शब्दों, वाक्य-खण्डों एवं वर्णन-शैली आदि तक पर पूरा विचार होने लग जाता था। आलोचना के साथ अनुसन्धान के सहयोग का कदाचित् यह पहला अवसर था और इतिहासकारों ने इस प्रकार की शैली को

'मूल पाठ-निर्धारण' का नाम दिया है। इस शैली ने उस समय प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में बड़ी सहायता की और उसके द्वारा आगे के आलोचकों का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया। परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जो इसके द्वारा हुआ वह ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक आलोचना-शैलियों को जन्म देना था।

इन उपर्युक्त दोनों प्रणालियों को पीछे रोमीय आलोचकों ने भी अपनाया। सिसेरो के लिए यहाँ तक कहा जाता है कि उसने किसी भी लेखक या कवि की कृति को भली भाँति समझने के पूर्व उसकी युग-परम्परा, उसके वातावरण तथा परिस्थितियों का भी सम्यक् परिचय पा लेना अत्यन्त आवश्यक ठहराया था। इसी प्रकार फिर आगे चलकर इस बात की भी खोज की जाने लगी कि अमुक लेखक का किसी पहले से आती हुई विशिष्ट साहित्यिक धारा से कहाँ तक सम्बन्ध है और वह अपनी अमुक विचार-धारा अथवा वर्णन-शैली की परम्परा के लिए उसका कहाँ तक ऋणी है। मूल लेखक के देश एवं काल से परिचित होने का अर्थ केवल इतना ही नहीं कि आलोचक को उसका कोरा ज्ञान हो जाना चाहिए। ऐतिहासिक आलोचना-शैली को महत्त्व देने वालों का यहाँ तक कहना था कि आलोचक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने को मूल लेखक के युग एवं वातावरण में पहले रख ले और उस काल की आत्मा को भली भाँति हृदयंगम कर लेने पर ही उसे उसकी कृतियों पर कुछ कहने का साहस करना चाहिए। उसे अपने को तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के रंग में पूर्णतः रँग लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार एक ओर जहाँ इन आलोचकों ने मूल लेखक की कृति को किसी युग-विशेष के मानदण्ड से परखने की चेष्टा की वहाँ दूसरी ओर उन्होंने उसे उसके पूर्ववर्त्ती युगों एवं लेखकों की ओर से प्रवाहित होती आने वाली धारा-विशेष द्वारा निर्मित भी माना। किन्तु उन दोनों की दृष्टि सदा अनुसन्धान की ही ओर लगी रही और दोनों ने ऐतिहासिक तथ्यों की खोज द्वारा अपने परिणामों को पुष्ट एवं तर्क-संगत बनाने के प्रयत्न किये।

परन्तु उक्त ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक आलोचना-पद्धतियों की प्रगति केवल वहीं तक आकर नहीं रुक गई। आधुनिक पाश्चात्य आलोचकों ने प्रचलित वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर अपने अनुसन्धान के कार्य को और भी आगे बढ़ाया। उन्होंने मनोविज्ञान की सहायता से प्रत्येक प्रमुख लेखक और कवि की मानसिक स्थिति की परीक्षा करनी आरम्भ की और इस प्रकार नवोदित उत्साह में आकर उन्होंने अपने आलोच्य साहित्यिक ग्रन्थ को मानो किसी प्रयोगशाला का-सा रूप दे दिया। टेन ने तो इस प्रकार के उपलब्ध परिणाम को 'मनोवैज्ञानिक सत्य' तक का नाम दिया, जिसका तात्पर्य साहित्य-सम्बन्धी इतिहास के आधारों के कार्य-कारण-सम्बन्धों का विश्लेषण समझा गया और इस बात को उसने स्वरचित अंग्रेजी साहित्य के इतिहास द्वारा उदाहृत भी किया। अतएव, उसके सिद्धान्तों को तत्त्वतः स्वीकार करने वाले बहुत से लेखकों ने साहित्य के इतिहास को विकासवादी नियमों द्वारा भी परिचालित मान लिया, जिस कारण इस वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली तथा पूर्वागत ऐतिहासिक पद्धति के बीच सामंजस्य लक्षित होने लगा। मनोवैज्ञानिक आलोचना-पद्धति ने इधर इस बात पर भी पूरा अनुसन्धान करने की चेष्टा की है कि अमुक कृति का निर्माण उसके रचयिता ने किस प्रकार किया होगा, उन दोनों में कितनी दूरी तक का घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकता है तथा पाठक व श्रोता को वे दोनों किस प्रकार और कहाँ तक प्रभावित करने में समर्थ कहे जा सकते हैं। फिर भी इस पद्धति को काम में लाने वाले

ने ऐसा करते समय प्रस्तुत रचना की अपेक्षा उसके लेखक के मानसिक स्तरों की विविध क्रियाओं पर ही विशेष ध्यान देना उचित समझा है।

इसी प्रकार साहित्यिक आलोचना करते समय अनुसन्धान की सहायता लेने वालों का एक अन्य वर्ग उन लेखकों का है जो किसी रचना के मर्म को भली भाँति समझने तथा उसके अन्तर्गत उपलभ्य वैषम्य का समुचित समाधान करने के लिए उसके रचयिता के व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी वृत्तान्तों से भी अवगत हो लेना आवश्यक समझते हैं। इसके अनुसार कोई भी कला-कृति और उसका कलाकार वस्तुतः एक और अभिन्न वस्तु हैं और उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। कवि या लेखक जो-कुछ भी लिखा करता है उसका उत्स कहीं-न-कहीं उसके विचारों अथवा अनुभवों में अन्तर्हित रहता है, इस कारण यदि इन बातों का अध्ययन सावधानी के साथ किया जाय तो उन रचनाओं की विविध गुत्थियों का सुलझाना कठिन नहीं है। किसी कलाकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपने निजी जीवन की सारी बातें खोलकर आगे के लिए रख छोड़े। इसके सिवाय अनेक बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें वह अपने जीवन में कदाचित् गोपनीय भी समझा करता है। किन्तु इन सभी का पता उसकी कृतियों के भीतर किसी-न-किसी प्रकार लगाया जा सकता है और इनके द्वारा उनके पूर्ण रूप से समझने में सहायता ली जा सकती है। अतएव, इस पद्धति का प्रयोग करने वालों ने कलाकारों के जीवन-वृत्त अथवा उनके सम्बन्ध की संस्मरणात्मक रचनाओं के अध्ययन को बड़ा महत्त्व दिया है।

आधुनिक आलोचना-प्रणाली ने इसी प्रकार अपने क्षेत्र के अन्तर्गत उन बातों का भी समावेश करने की चेष्टा की है जो हमारे दैनिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं और जो हमारे समाज के आर्थिक एवं राजनीतिक प्रश्नों पर भी आश्रित हैं। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार मानव-समाज एवं सभ्यता सदा परिवर्तनशील है और आर्थिक उत्पादन के साधनों की नियन्त्रणकारी सत्ता ही वस्तुतः हमारे समाज की व्यवस्था को प्रभावित किया करती है। समाज के अन्तर्गत सदा दो पृथक् वर्ग रहा करते हैं जिनमें आर्थिक वैषम्य के कारण निरन्तर संघर्ष चला करता है और इसका प्रतिबिम्ब युग-विशेष के साहित्य पर भी पड़ता है। अतएव यह आवश्यक है कि किसी साहित्यिक कृति की समुचित आलोचना करने के पहले उसके रचना-काल की आर्थिक दशा पर भी विचार कर लिया जाय। इस आलोचना-पद्धति को, इसी कारण, यथार्थवादी या प्रगतिवादी आलोचना का भी नाम दिया जाता है। इसका प्रयोग करने वालों ने खोज पूर्वक यह निर्धारित किया है कि प्राचीन काल की सामाजिक व्यवस्था में प्रभु एवं दास का सम्बन्ध प्रमुख था जिस कारण तत्कालीन कला एवं साहित्य का प्रधान उद्देश्य प्रभु श्रेणी वाले व्यक्तियों का मनोरंजन और आनन्दवर्द्धन रहा करता था। फिर इसके अनन्तर एक बार ऐसी परिस्थिति आई जिसमें जनसाधारण-वर्ग के व्यक्तियों ने राजतन्त्र के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और उस युग के कवियों और लेखकों ने उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। इसी प्रकार आधुनिक युग की विशेषता पूँजीपतियों तथा 'सर्वहारा'-वर्ग के व्यक्तियों के बीच संघर्ष में देखी जा सकती है। अतएव, सच्चे प्रगतिशील व यथार्थवादी साहित्य की परीक्षा इसी मानदण्ड के अनुसार की जा सकती है कि वह उक्त तथ्य का चित्रण करने में कहाँ तक समर्थ है। इस कार्य में असफल प्रतीत होने वाले साहित्यकारों की कृतियों का नाम इन समालोचकों ने प्रतिगामी व पलायनवादी साहित्य दिया है।

इसके सिवाय नवीन वैज्ञानिक पद्धति को अपनाने वाले इन आलोचकों की यह भी धारणा है कि किसी रचना के मूल पाठ का निर्धारण करते समय भी हमारा काम केवल उस कृति के साधारण निरीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन से ही नहीं चल सकता, जैसा पहले कभी प्राचीन ग्रीक साहित्य का सम्पादन करते समय हो जाया करता था। इस कार्य में हमें आधुनिक भाषा-विज्ञान से भी पूरी सहायता लेनी चाहिए और उस रचना की भाषा, शब्दावली, व्याकरण एवं लिपि आदि सम्बन्धी सभी दृष्टियों के अनुसार भी परीक्षा करनी चाहिए। प्रत्येक भाषा का एक अपना पृथक् इतिहास होता है जिस कारण बिना इस बात का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये कि आलोच्य कृति के माध्यम का स्वरूप कब कैसा रहा होगा हम इस पर अन्तिम निर्णय नहीं दे सकते कि उसका शुद्ध एवं प्रामाणिक पाठ अमुक प्रकार का ही होगा। कहते हैं कि प्राचीन काल में महर्षि वेदव्यास ने मौखिक रूप में प्रचलित वेद-मन्त्रों को एकत्र करके उन्हें संहिताओं के रूप में वर्गीकृत कर दिया था और उनके सम्पादन का कार्य केवल इतने से ही पूरा हो गया था। परन्तु आजकल के वैज्ञानिक सम्पादक को हस्तलिखित प्रतियों के निरीक्षण और उनकी साधारण तुलना आदि से भी सन्तोष नहीं होता। वह इस प्रकार की सामग्री का पर्यालोचन भी एक विशिष्ट एवं निश्चित ढंग से ही करना चाहता है। वह उपलब्ध प्रतियों को क्रमबद्ध करता है, उनकी कालानुक्रमानुसार तालिका बनाता है, फिर उसके आधार पर प्राचीनतम आदर्श पाठ एवं प्रस्तुत पाठ में एकरूपता लाने का प्रयत्न करता है। इसके द्वारा मूल पाठ के विषय में अपना एक मत निश्चित करते हुए अन्त में उसके विवेचन की ओर भी प्रवृत्त होता है। इस प्रणाली में स्वभावतः प्रायः उन सभी सिद्धान्तों को आधार बनाकर चलना पड़ता है जो भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं और जो अनुसन्धान पर भी आश्रित हैं।

इस प्रकार आधुनिक आलोचकों के विभिन्न वर्गों ने अनुसन्धान की सहायता अपनी दृष्टि-विशेष द्वारा ली है और इसका प्रयोग अपने-अपने ढंग से करते हुए आलोचना-पद्धति में व्यापकता लाने की चेष्टा की है। आलोचना-विषयक सिद्धान्तों तथा उसके इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य क्रमशः विशाल रूप धारण करता जा रहा है और जान पड़ता है कि वह अपने ग्रन्थों की बहुलता में किसी दिन रचनात्मक साहित्य से भी होड़ करने लगेगा। फलतः इसका एक परिणाम यह भी देखने में आता है कि साधारण पाठकों का ध्यान मूल कृतियों की ओर से खिंचकर उन पर किये गए विवेचनों पर ही अधिक जाने लगा है। ऐसे लोग किसी कला-कृति का अनुशीलन करने की अपेक्षा उसके निर्माणकालीन जीवन-मात्र के अध्ययन को कम महत्त्व देते नहीं जान पड़ते और उसके रचयिता को युग-विशेष की देन-मात्र स्वीकार करते हुए स्वयं उसकी देन के प्रति प्रायः उपेक्षा प्रदर्शित करने लग जाते हैं जिसके कारण उनका कार्य कभी-कभी केवल अधूरा और एकांगी बनकर ही रह जाता है। युग-विशेष की विचार-धारा अथवा उसकी प्रवृत्तियों की ओर अधिक ध्यान देने के कारण कभी-कभी हम अपने आलोच्य ग्रन्थ के कवि या लेखक के व्यक्तित्व अथवा उसकी योग्यता के प्रति भी न्याय करने में पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हो पाते। किसी साहित्यकार का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते समय भी हमारा अनुसन्धान प्रायः इसी बात की ओर अपना लक्ष्य रखता है कि हम कृति-विशेष के रचना-समय वाली उसकी विविध मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का ही सूक्ष्म निरीक्षण करें। उनके उद्भव, विकास एवं कार्यक्रम का ठीक-ठीक ब्यौरा उपस्थित करें और उनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध की खोज करें। उस समय हमारी दशा ठीक उस

व्यक्ति की-सी हो जाती है जिसे किसी परोसे गए भोज्य पदार्थ का स्वाद न लेकर उसकी पाक-क्रिया की जाँच-मात्र ही सूझती हो।

आलोचना में प्रयुक्त की गई उक्त प्रकार की वैज्ञानिक प्रणालियाँ किसी आलोचक को बहुधा आवश्यकता से अधिक निष्पक्ष एवं अनासक्त भी बना देती हैं जिस कारण उनमें स्वभावतः सहृदयता उस मात्रा में नहीं आ पाती जितनी अन्यथा अनिवार्य हो सकती है। प्रत्येक बात का विश्लेषण एवं वर्गीकरण करते जाना और उसे किसी रूखे-सूखे पदार्थ-सा ज्यों-का-त्यों रख छोड़ने का प्रयत्न करना केवल कोरे मस्तिष्क का व्यापार बन जाता है जो साहित्य जैसी सरस वस्तु के सम्बन्ध में कभी उचित और उपयोगी नहीं हो सकता। जो वस्तु मानव-समाज के रागात्मक सम्बन्धों के चित्रण में भाग लेती हो उसकी आलोचना करते समय सहृदयता से काम न लेना प्रत्युत निष्पक्षता के आवेश में कभी-कभी हृदयहीनता का-सा परिचय देने लगना कभी उपयुक्त व स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता और न ऐसे व्यक्ति कभी उसके उचित मूल्यांकन में समर्थ ही हो सकते हैं। इसके सिवाय आलोचना की उक्त वैज्ञानिक प्रणालियाँ किसी आलोचक को स्वच्छन्द रूप से कार्य भी नहीं करने देतीं। वे विभिन्न वैज्ञानिक पद्धतियों का अनुसरण करती हैं जिनमें प्रायः बहुत स्पष्ट और कठोर नियमों का पालन किया जाता है। आलोचक को उनके नियन्त्रण में रहने के लिए बहुधा बाध्य होना पड़ जाता है और फलतः वह विचार-स्वातन्त्र्य से सदा लाभ नहीं उठा पाता।

लगभग इसी प्रकार का परिणाम हमें उस दशा में भी देखने को मिलता है जब हम आलोचना की प्रगतिवादी अथवा तथाकथित यथार्थवादी पद्धति का प्रयोग किया करते हैं। इसके अनुसार किसी कलाकार की कृति कदाचित् केवल उसी रूप में आदर्श मानी जा सकती है जब उसमें जनसाधारण की आर्थिक दशा अथवा ठेठ जन-जीवन का स्पष्ट चित्रण पाया जाय, जब 'शोषितों' के प्रति पूर्ण सहानुभूति उसमें व्यक्त की जाय तथा 'शोषकों' द्वारा उन पर किये गए अत्याचारों के विरुद्ध उसमें न केवल रोष प्रकट किया जाय, अपितु उन्हें किसी कल्पित उज्ज्वल भविष्य की तैयारी के लिए सजग और सचेत भी किया जाय। इस प्रकार का साहित्य अपनी मूल प्रेरणा अथवा आदिम उपक्रम से ही स्वभावतः एकांगी और एकपक्षीय बन जाता है और उसमें औदार्य, उन्मुक्तता व सार्वभौमता के वे उदात्त गुण नहीं आ पाते जिनके द्वारा ही वस्तुतः उसे अपने नाम ('साहित्य') को सार्थक बनाने की क्षमता मिल सकती है। ऐसे साहित्य में कभी-कभी उस प्रचार-कार्य की भी गन्ध आने लगती है जिसमें हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य के-से केवल उपदेशों व सुझावों का ही पुट नहीं रहा करता, प्रत्युत द्वेषजनक ललकारों की झंकार भी भरी रहती है और जो उच्च साहित्यिक आदर्शों के अनुकूल न पड़कर उसे कभी-कभी संकीर्ण साम्प्रदायिकता का शिकार तक बना देता है।

जहाँ तक किसी कृति के वैज्ञानिक ढंग से सम्पादन का सम्बन्ध है उसके महत्त्व के विषय में किसी मतभेद को स्थान नहीं है। उसका पाठ उसका वास्तविक शरीर है जिसका स्वस्थ एवं सुन्दर होना ही उसकी सजीवता तथा क्षमता का परिचायक हो सकता है और बिना उसके मौलिक एवं स्वाभाविक रूप ग्रहण किये ऐसा सम्भव भी नहीं हो सकता। परन्तु जिस प्रकार किसी व्यक्ति को पूर्ण रूप से समझने तथा उसे उच्च व निम्न स्थान प्रदान करने के लिए केवल उसके स्वास्थ्य या सौन्दर्य को ही महत्त्व नहीं दिया जा सकता, उसकी आत्मा एवं चरित्र का भी समुचित मूल्य

आँकना पड़ता है उसी प्रकार उक्त साहित्यिक कृति के विषय में भी कहा जा सकता है। आलोच्य ग्रन्थ के पाठ-निर्धारण का सफल कार्य उसे केवल उसकी प्रामाणिकता का ही निदर्शन-पत्र दे सकता है। उसके वर्ण्य विषय, भाव-सौन्दर्य, रचना-शैली अथवा जन-हित-सम्बन्धी उपादेयता के प्रश्नों का समाधान इसके द्वारा नहीं किया जा सकता। प्रामाणिक रूप में निर्धारित किया गया पाठ इन दृष्टियों से अध्ययन करने के लिए उपयोगी आधार बन सकता है और इस प्रकार वह किसी कृति की सांगोपांग आलोचना के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण भी है, किन्तु केवल इतना ही सभी-कुछ नहीं है। कभी-कभी तो उसमें की गई आवश्यकता से अधिक छान-बीन आलोचकों के सामने अनेक भ्रमात्मक प्रश्न भी खड़े कर देती है, जिनके कारण उनके निर्णय-कार्य में कई बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं।

अतएव, ऊपर दिये गए केवल कतिपय संक्षिप्त उदाहरणों द्वारा भी स्पष्ट हो जा सकता है कि आधुनिक आलोचना-पद्धति में अनुसन्धान का, चाहे वह शुद्ध वैज्ञानिक हो अथवा केवल ऐतिहासिक-मात्र ही क्यों न हो, एक बहुत बड़ा हाथ है। इसके द्वारा उसकी विविध प्रक्रियाओं में न केवल विवेचन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है, अपितु आलोच्य कृति के अधिक-से-अधिक स्पष्टीकरण का पूरा अवसर भी मिल जाता है। आधुनिक आलोचना की जिन प्रणालियों ने अनुसन्धान को नहीं अपनाया है और जो तर्क एवं सैद्धान्तिक विवेचन का ही आश्रय ग्रहण करती हैं उनमें दार्शनिकता का पुट अधिक मात्रा में दीख पड़ता है। उनमें सुदूर गहराई तक पहुँचने एवं तथ्य निकालने के प्रयत्न किये जाते हैं, जिस कारण उनमें वास्तविक तत्त्व की ओर से ध्यान के प्रायः हट जाने की आशंका रहती है। उनका अनुसरण करने वाले आलोचक कभी-कभी एक ऐसी विचित्र शैली का भी प्रयोग करते हैं जिसमें भाववाचक शब्द अधिक रहा करते हैं और उसमें व्यक्त की गई भाव-धारा के अन्तर्गत क्रमिक प्रवाह एवं सातत्य के भी लक्षण बहुत कम देखने में आते हैं। फलतः इस प्रकार की पद्धति में भी हमें उस अनुपात-सम्बन्धी अनौचित्य के ही दर्शन होते हैं जिसके कारण हमने उपर्युक्त अन्य आलोचना-प्रणालियों को एकांगी ठहराया है। किसी साहित्यिक कृति-विशेष की आलोचना उसी दशा में पूर्ण कही जा सकती है जब उसमें उसकी विशेषताओं के अनुसार प्रायः सभी आवश्यक दृष्टिकोणों से विचार किया गया हो, किन्तु इसके साथ ही जिसमें किसी भी एक पक्ष पर उसके उचित अनुपात से अधिक बल भी न दिया गया हो।

डॉक्टर हरद्वारी लाल शर्मा

सौन्दर्य-तत्त्व और आलोचना के मानदण्डों का विकास

: १ :

सौन्दर्य साहित्य का व्यापक गुण है। किसी भी प्रकार के साहित्य को, जहाँ शब्दों के चयन में ओज, माधुर्य आदि अनुभूतियों को जगाने वाली ध्वनि हो, वाक्यों की गति में संगीत जैसा लय का उत्थान-पतन हो, विभिन्न अवयवों में परस्पर समन्वय और मेल हो तथा आत्मा को आलोक और आह्लाद से आप्लावित कर देने वाले किसी अर्थ का उद्घाटन हो, हम 'सुन्दर' कह सकते हैं। सम्भव है वैज्ञानिक और दार्शनिक साहित्य में भोग और रूप-तत्त्वों पर ध्यान न देकर केवल अर्थ की गवेषणा, स्थापना आदि के लिए शुद्ध तर्कों का प्रयोग किया जाय। ऐसी अवस्था में साहित्यकार का अभिप्राय 'रस' की भावना को उद्बुद्ध न करके केवल बुद्धि के सत्य का अनुसन्धान करने वाली अवधान, युक्ति आदि प्रक्रियाओं को समुन्नत करना होता है। उस समय 'सत्य' के उद्घाटन से अद्भुत मानसिक उल्लास होता है जिसे हम बुद्धि की 'प्रसन्नता' या 'प्रसाद' कह सकते हैं। सत्य की अभिव्यक्ति करने वाला साहित्य 'नीरस' होकर भी—अथवा, नीरस होकर ही—प्रसन्नता की अनुभूति उत्पन्न करता है, किन्तु इस अर्थाभिव्यक्ति में भाषा का 'भोग' और अवयवों के समन्वय और सन्तुलन से उत्पन्न 'रूप' विद्यमान होने पर सौन्दर्य के चमत्कार का उदय होता है। तब 'सत्य' और 'सुन्दर' का मिलन होता है। वस्तुतः तब सत्य सुन्दर होता है और तभी आनन्द की भावना से प्राणित हुई बुद्धि उसे ग्रहण करती है।

रसानुभूति के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ हैं जिनके कारण हम 'सौन्दर्य' को समझने में भूल कर जाते हैं, जैसे, (क) रस और तृप्ति में हम भेद नहीं करते। वस्तुतः किसी प्राकृतिक प्रवृत्ति की तृप्ति में जिस जड़ता, आवेग, व्यक्तित्व का संकोच तथा श्रम आदि का अनुभव होता है उसके स्पर्श से ही रस का अनुभव विकृत और क्षीण हो जाता है। रस के अनुभव में शरीर, प्राण, मन, बुद्धि तथा आत्मा में भी स्फूर्ति, प्रकाश और विश्राम की प्रतीति होती है। यद्यपि रस और तृप्ति के मूल में जीवन की स्थायी प्रवृत्तियाँ रहती हैं, तथापि इनके कारणों में अन्तर होने से इन दोनों अनुभवों में भी भारी भेद हो गया है। (ख) हम बहुधा रस और सुख को भिन्न नहीं कर पाते। वस्तुतः रसानुभूति में सुख से भी अधिक दुःख, वैराग्य, भय आदि वेदनाएँ रहती हैं, जिनसे आत्म-शक्ति द्रवित होकर नवीन स्तरों पर उठती है और बुद्धि में नवीन आलोक की धाराएँ बह उठती हैं। भय, वैराग्य आदि वेदनाओं का स्थान सौन्दर्य के अनुभव में महत्त्वपूर्ण है। (ग) हम रस और भावोद्रेक अथवा भावनोद्रेक को समान अनुभव समझते हैं जबकि रस के अनुभव में भावना के अतिरिक्त और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण जीवन के अन्यान्य अनुभव तथा

मानसिक क्रियाएँ विद्यमान रहती हैं। वस्तुतः रसानुभूति में पड़कर प्रत्येक मानसिक क्रिया, बुद्धि की युक्तियाँ, दार्शनिक सिद्धान्त, धर्म और नीति के तत्त्व 'रसनीय' हो जाते हैं। भावना के प्रभाव से इन तत्त्वों में 'कोमलता' अवश्य उत्पन्न हो जाती है, किन्तु रसानुभूति हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अनुभूति होने के कारण केवल 'भावना' या इसका उद्रेक नहीं है।

सौन्दर्य का सम्बन्ध एक ओर उस व्यक्त मूर्त्ति से है जिसे हम 'सुन्दर' वस्तु कहते हैं और जिसमें भोग, रूप, अभिव्यक्ति आदि गुण रहते हैं। दूसरी ओर इसका सम्बन्ध 'रस' अथवा 'आनन्द' से है जो मानव-आत्मा की एक प्रकृष्ट अनुभूति हैं। प्रत्येक कला सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए अपने अनुकूल माध्यमों का प्रयोग करती है। माध्यम की भिन्नता के कारण इनमें सौन्दर्य की व्यक्त मूर्त्ति भी भिन्न होती है, जिन्हें हम काव्य, राग, चित्र, नृत्य, प्रतिमा और भवन कहते हैं। साहित्य में सौन्दर्य और रसानुभूति के स्वरूप का निश्चय करने के लिए हमें कलाओं में इसके स्थान का निर्णय करना चाहिए।

संगीत में स्वर माध्यम है। यह माध्यम 'कालिक' है अर्थात् इसमें काल की भाँति गति रहती है, इसका विस्तार 'स्थान' में नहीं होता। गति-स्वरूप होने के कारण संगीत का सर्व-प्रथम प्रभाव यह होता है कि वह जड़ता को दूर करके जीवन को उसकी स्वाभाविक गति प्रदान करता है। जीवन की जड़ता के निर्गलन से अर्थात् वासना तथा उद्वेग आदि ग्रन्थियों के उपराम हो जाने से 'लय' का अनुभव उत्पन्न होता है। संगीत का आनन्द इसी स्वर-सिन्धु में 'लय' होने का अनुभव है।

साहित्य अपने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए संगीत से गति, छन्द, स्वर के माधुर्य तथा लयात्मक अनुभव को उधार लेता है, किन्तु इस अनुभव में शब्द के लोच और अर्थ के आलोक को जोड़कर साहित्य जीवन की प्रगति के लिए प्रकाशमय दिगन्तरालों का उद्घाटन कर देता है। संक्षेप में साहित्य स्वरों की संगति, इनके माधुर्य, ओज, लय आदि को अनेक स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि प्रखर अनुभूतियों, कल्पना के द्वारा सृजन किये गए अद्भुत लोकों तथा विचारों द्वारा प्राप्त अनेक निर्णीत सिद्धान्तों के अनन्त अर्थालोक से भर देता है जिसके कारण स्वर शब्द का स्वरूप धारण करते हैं, इनका सामंजस्य वाक्यों के रूप में प्रकट होता है तथा राग का एक व्यापक अनुभव साहित्य में प्रधान रस कहलाता है। संगीत स्वरों का साहित्य है और साहित्य शब्दों का संगीत है। कलाओं में साहित्य संगीत के निकटतम है।

चित्र रेखा और वर्णों की संगति से उत्पन्न होता है और इसका माध्यम 'दृश्य' अथवा 'स्थानिक' है। चित्र को रेखा और वर्णों से निर्मित 'दृश्य-संगीत' भी कहा जा सकता है। स्थानिक होने के कारण चित्र में गति उत्पन्न करने तथा ओज, माधुर्य आदि गुणों की अभिव्यक्ति के लिए रेखा की गति, उतार-चढ़ाव तथा वर्णों के छाया-प्रकाश, घनत्व और विरलता आदि कौशलों का प्रयोग किया जाता है। साहित्य की भाँति चित्र में 'अर्थ का आलोक' रहता है। फलस्वरूप अनेक स्मृतियाँ, अतीत और अनागत की आकांक्षाएँ, विचारों की नूतन धाराएँ उदित हो जाती हैं। दृष्टि चित्र से दूर कल्पना के लोकों में जाती है, किन्तु पुनः आकृष्ट होकर रेखा और रंगों की संगति का अवगाहन करने लगती है। रेखा पुनः-पुनः संकेतों के बल से दृष्टि को कल्पना के आलोक से भर देती है। यह आकर्षण-विकर्षण चित्र-सौन्दर्य से उत्पन्न 'रस' का रहस्य है।

साहित्य शब्दों के द्वारा अर्थों का अवगाहन करता है। अर्थ अव्यक्त और सूक्ष्म पदार्थ हैं। अर्थ और अनुभूति के मूर्त होने के लिए चित्र सबसे सरल और उपयुक्त साधन है। साहित्य इसीलिए चित्र-कला से कल्पना को लेकर शब्दों में रेखा और रंगों की संकेत-शक्ति भर देता है।

मूर्ति जीवन के प्रवाह को स्थिर रूप में देखने की कला है। जीवन सनातन है और काल की भाँति सतत गतिशील है। मूर्ति इस सनातन, गतिशील काल का एक क्षण है, जिसे मूर्तिकार कल्पना और कौशल के बल से स्थिर कर देता है। मूर्ति जिस क्षण को स्थिर करती है उसके ध्यान से 'पूर्वापर' का उद्घाटन होता है; रेखा, रंग, आकार, घन, आयाम आदि के संकेत से कल्पना सजग हो उठती है और जीवन की जड़ताओं से संकुचित आत्मा अपने सनातन और असीम व्यक्तित्व का अवगाहन करती है। साहित्य मूर्ति-कला से न केवल अर्थों को मूर्त करने का सिद्धान्त ग्रहण करता है, अपितु जीवन को मूर्त करने के कौशल को भी स्वीकार करता है। वह कौशल है : प्रवाह में उस क्षण को स्थिर और मूर्त करना जो सम्पूर्ण जीवन की ओर संकेत कर सके अर्थात् जहाँ 'क्षण' में 'सनातन' की अभिव्यक्ति सम्भव हो सके।

भवन-निर्माण-कला अथवा स्थापत्य, कला वह है जिसमें हमें जीवन की क्षणिकता, इसके परिवर्तन और विकार के स्पर्श से रहित शुद्ध चिरन्तन तत्त्वों का मूर्त, साक्षात् अनुभव ज्यामितिक आकारों के संकेत से कराया जाता है। साहित्य जीवन की इतनी प्रखर अभिव्यक्ति है कि इसमें जीवन का चिरन्तन रूप प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतएव साहित्य में जहाँ-कहीं सनातन तथ्यों का प्रतिपादन, तरल जीवन के मूल में अचल नियमों का उद्घाटन किया जाता है वह साक्षात् न होकर दूर के संकेतों द्वारा किया जाता है। जहाँ इसका शब्दों और युक्तियों से साक्षात्कार कराया जाता है, वह शुद्ध 'दर्शन' का रूप धारण करता है। जब 'दर्शन' अथवा दार्शनिक तत्त्व भावमय होकर मन्दिर या मस्जिद का रूप धारण करते हैं तो वह 'भवन का सौन्दर्य' होता है।

साहित्यिक सौन्दर्य में संगीत का लय, चित्र की रूपता, मूर्ति और भवन के 'सनातन' की ओर प्रबल संकेत विद्यमान रहते हैं। अर्थ-प्रधान कला होने के कारण, साहित्यिक सौन्दर्य अर्थों की परस्पर संगति, सन्तुलन, सापेक्षा आदि से उत्पन्न होता है। इसका अर्थ है कि अनेक अर्थों में, जैसे कल्पना, भावना, प्रवृत्ति, विचार, नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक वृत्तियों में, इस प्रकार सन्तुलन होना चाहिए कि उससे सौन्दर्य का अनुभव सम्भव हो सके। जिस साहित्य में इन मानवीय अनुभूतियों में सामंजस्य का अभाव है वह साहित्य सुन्दर नहीं कहा जा सकता। एक दृष्टि से सामंजस्य का नाम ही सौन्दर्य है। तब तो वह साहित्य जो अनन्त अर्थों में अर्थात् मनुष्य की अनेकानेक अनुभूतियों में समन्वय उत्पन्न कर सके, वह सुन्दर साहित्य है।

साहित्य में रस भी अर्थों के प्रभाव से अनुभव किया जाता है, यद्यपि साहित्यकार अपनी रचना में संगीत, चित्र आदि से भी सहायता ले सकता है। फिर यदि अर्थ स्वयं संगति-हीन, असत्य, असन्तुलित और अशक्त है तो केवल शब्दों की झंकार से साहित्य-रस का अनुभव सम्भव नहीं। साहित्य में तो संगीत, चित्र आदि का कौशल अर्थ की अभिव्यक्ति को समर्थ बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अन्ततोगत्वा साहित्य का सौन्दर्य अर्थ और अनुभूति का सौन्दर्य

है, जिसकी समर्थ अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का संगीत, छन्द, अलंकार इत्यादि उपकरण-मात्र हैं।

: २ :

प्रश्न उठता है कि क्या हम इस सौन्दर्य को नाप सकते हैं?

यदि हम स्वयं अपनी आत्मा की गहराई नाप सकें तो अवश्य ही रसानुभूति और सौन्दर्य की थाह पा सकते हैं। वैदिक काल से यह प्रयत्न चला आ रहा है; 'आत्मा स्वयं रस है, रस से चराचर की सृष्टि और पालन होता है और रस में ही सारा विश्व विलीन हो जाता है।' यह इन आदिकालीन दार्शनिकों का निर्णय था। परन्तु आत्मा अनन्त, अमेय और अखण्ड है, हम इसका मन, वाणी या इन्द्रियों से निर्वचन नहीं कर सकते, यद्यपि आत्मा के ऊपर छाये हुए मलावरणों को हटाकर हम स्वयं वही बन सकते हैं। हम स्वयं आत्म-रूप होकर इसकी उपासना कर सकते हैं। रस का अनुभव तन्मय होकर ही सम्भव है : काव्य, संगीत, चित्र या मूर्ति बनकर ही रसिक इनके रस का आस्वादन करता है। तब फिर हम इनके सौन्दर्य की नाप कैसे करें?

भरत ने रसानुभूति के आध्यात्मिक आधार को हटाकर मानव-प्रकृति की स्थायी प्रवृत्तियों को आधार माना, जिसके फलस्वरूप सौन्दर्य का प्रश्न दार्शनिक स्तर से नीचे मनोवैज्ञानिक स्तर पर आ गया, जहाँ इसका विश्लेषण सम्भव हो सका। दार्शनिक भाषा के स्थान पर वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग हुआ। विभाव, अनुभाव आदि के भेद से रसों में भेद किया गया। यद्यपि भरत ने साहित्य के अन्य अंगों, जैसे अलङ्कार, गुण आदि का उल्लेख किया, तथापि उसकी साहित्य-समालोचना का मूलाधार रस ही रहा। साहित्य-समालोचना में यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टिकोण के दोष हमें जानने आवश्यक हैं जिससे हम अन्यान्य उन मतों को समझ सकें, जो समालोचना के विकास-क्रम में उदित हुए।

(१) यदि साहित्य में सौन्दर्य का रूप केवल रस है और रस की अनुभूति केवल स्थायी प्रवृत्तियों को विभावों द्वारा जाग्रत करके प्राप्त होती है तो सौन्दर्य के अनुभव में अन्यान्य मानसिक क्रियाएँ, जैसे कल्पना, विचार, सामाजिक, नैतिक धारणाएँ आदि को कोई स्थान नहीं मिलता। इससे एक तो साहित्य-सृजन का क्षेत्र संकुचित हो जाता है और दूसरे सौन्दर्य के आस्वादन में केवल भावना का आस्वादन होता है। हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व, बुद्धि की सम्पूर्ण चेष्टाएँ तथा अन्य आध्यात्मिक अनुभव सौन्दर्य की अनुभूति में सम्मिलित नहीं होते। इसलिए हम सौन्दर्य को केवल भरत का प्रतिपादित किया हुआ 'रस' और 'रस' को केवल भावना का उत्थान और पुष्टि मानने को प्रस्तुत नहीं। केवल प्रवृत्ति को रस का आधार मानने से भावना—जीवन की पुष्टि और विकास के स्थान पर इनकी तृप्ति को भी रसानुभूति ही स्वीकार किया गया—इतिहास इसका साक्षी है।

(२) केवल 'रस' को सौन्दर्य स्वीकार करके हम सौन्दर्य की अनुभूति में अभिव्यक्ति को उचित महत्त्व नहीं दे पाते। वस्तुतः साहित्य में रसानुभूति के समान ही रसाभिव्यक्ति पर भी बल दिया जाना चाहिए, क्योंकि कला के लिए 'क्या अभिव्यक्त किया जाय?' के समान ही—या, इससे भी अधिक—'कैसे अभिव्यक्त किया जाय?' का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। रस का साक्षात् वर्णन साहित्य में दोष माना जाता है।

(३) स्थायी प्रवृत्ति के उत्थान को 'रसानुभूति' मानकर हम सौन्दय के गम्भीर आध्यात्मिक प्रभाव को भूल जाते हैं। वस्तुतः सौन्दर्य का अनुभव केवल मानसिक स्तर तक ही नहीं, आध्यात्मिक स्तर तक जाता है जिसके कारण यह आत्मा की भाँति अमेय हो जाता है और चित में अलौकिक चमत्कार उत्पन्न करता है। केवल मानसिक स्तर पर हम 'रस', सुख और तृप्ति में भेद नहीं कर सकते और हम यह देख चुके हैं कि रसानुभूति में सुख से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दुःख, वेदना, वैराग्य और भय के लिए है।

भरत के रस-सिद्धान्त के तीनों दोषों को दूर करने के लिए साहित्य-समालोचना की अनेक धाराएँ प्रवाहित हुईं, जिनका स्वरूप १२वीं शताब्दी तक स्पष्ट हो गया। (क) एक मत ने निश्चय किया कि काव्य का आस्वादन सम्पूर्ण व्यक्तित्व के द्वारा होना चाहिए (अखण्ड बुद्धि समास्वाद्यं काव्यम्।) इसने काव्य-सौन्दर्य के अनेक तत्त्वों का अवगाहन किया, जिसके फलस्वरूप रीति, गुण, अलंकार आदि का विकास हुआ। मानना होगा कि साहित्य-मर्मज्ञों के इन प्रयत्नों से साहित्यिक सौन्दर्य का स्वरूप विशद हुआ और सौन्दर्यानुभूति के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और विवेचन से रीति, गुण, छन्द, अलङ्कार आदि तत्त्वों के पीछे रहने वाली अनेक मानसिक क्रियाओं का पता चला। (ख) 'रस' के स्थान पर 'रसास्वादन' की मानसिक क्रिया के स्पष्ट करने के लिए 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति' और 'काव्यानुमिति' का आविष्कार हुआ। साहित्य में रसाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त सामग्री की खोज हुई जिससे अधिक-से-अधिक 'चर्वणा' उत्पन्न हो सके। साहित्य में सौन्दर्य की नाप 'चर्वणा' के आधार पर प्रारम्भ हुई और अलंकार, गुण आदि को 'चर्वणा' के लिए उचित सामग्री का रूप दिया गया। (ग) सौन्दर्यानुभूति के आध्यात्मिक आधार को स्पष्ट करने के लिए 'चमत्कार' का आविष्कार हुआ और इसे रसानुभूति का सार माना गया। चमत्कार का अर्थ आनन्द का वह अनुभव स्वीकार किया गया जिसमें रसयिता मन, प्राण, बुद्धि के बन्धनों से निर्मुक्त होकर अपने ही आनन्द-स्वरूप का अनुभव करता है। इस मत ने रस, ध्वनि, अलंकार, गुण आदि को काव्य-सौन्दर्य के अंग माना और इनको चमत्कार की उत्पादक सामग्री स्वीकार करके इनके परस्पर सम्बन्ध का निश्चय किया।

'चमत्कार', 'चर्वणा', 'अलङ्कार' आदि के आविष्कार से सौन्दर्य का स्वरूप विशद हुआ, किन्तु इसके नापने के लिए किन्हीं निश्चित मानदण्डों का आविष्कार नहीं हुआ। केवल 'सहृदय' रसिक की अनुभूति को सौन्दर्य का मानदण्ड मान लिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि अन्ततोगत्वा 'सहृदय' का अनुभव ही 'रस' की माप है, किन्तु 'सहृदयता' का स्वयं निश्चित स्वरूप तो होना ही चाहिए जिससे सौन्दर्य के विषय में निर्विवाद निर्णय किया जा सके। ध्वनिकार और पंडितराज जगन्नाथ ने इस 'सहृदयता' के स्वरूप का विचार करते हुए सौन्दर्य को नापने के लिए कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। 'सहृदयता' सौन्दर्य को अवगाहन और आस्वादन करने की क्षमता का नाम है जिसके लिए रसिक को कवि की कारयित्री प्रतिभा के समान भावयित्री प्रतिभा का वरदान प्राप्त होना चाहिए। सहृदय व्यक्ति रस के आस्वादन में सम्पूर्ण अनुभूतियों का सामञ्जस्य और परिपाक चाहता है : वह असामञ्जस्य को असत्य की भाँति सहन या स्वीकार नहीं कर सकता। अनुभूतियों का सामञ्जस्य ही साहित्यिक सौन्दर्य का सत्य है। इस विचार के आधार पर 'अङ्गाङ्गि भाव' या 'रसाङ्गता' के सिद्धान्त का आविष्कार हुआ। यदि साहित्य में किसी अनुभूति का परिपाक होता है और साहित्यकार के शब्दार्थ, उसकी

कल्पना, योजना, भावना, शैली आदि अनेक उपकरण इस अनुभूति को सजीव और परिपुष्ट बनाते हैं तो वह साहित्य सुन्दर है और उसी सीमा तक सुन्दर है जिस सीमा तक साहित्यकार अनेक अंगों और उपकरणों के आयोजन से समन्वित अनुभूति उत्पन्न करने में सफल हुआ है। परन्तु यह कब सम्भव है? पंडितराज के अनुसार उसी समय जब कलाकार प्रत्येक अंग के आविष्कार के लिए पृथक् प्रयत्न नहीं करता, प्रत्युत सम्पूर्ण साहित्य एक ही प्रयत्न में जन्म लेता है। साहित्य का जन्म 'अवतार' की भाँति ही 'सशङ्खचक्रं सकिरीट कुण्डलं, सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्' होता है, उसमें ऊपर से आवरण और अलङ्कार लादने की आवश्यकता नहीं होती। साहित्यिक सौन्दर्य की माप के लिए ये मापदण्ड आज भी हमें स्वीकार्य हैं।

: ३ :

पश्चिम में साहित्य-समालोचना की दिशा हमसे कुछ भिन्न रही है। इसका प्रारम्भ यूनान देश में प्लेटो और अरस्तू से भी पूर्व हो चुका था और यूनानी साहित्य में उस समय भी संसार के सर्वश्रेष्ठ काव्य और दुःखान्त नाटक विद्यमान थे। अरस्तू ने विश्लेषण-प्रधान शैली का आविष्कार किया और काव्य, नाटक आदि के विभिन्न अंगों और उनकी एक सूत्रता का प्रतिपादन किया। उसका सौन्दर्य के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय था कि सुन्दर वस्तु में 'अनेकों की एकता' (Unity in diversity) होनी चाहिए। प्रभाव के विषय में अरस्तू के अनुसार दुःखान्त नाटक से भावना का तीव्रतम उद्रेक होना चाहिए जिससे रसिक आवेग के वेग शान्त होने पर अद्भुत सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार सौन्दर्य के सम्पूर्ण अनुभव में आकार और वस्तु, इन दो तत्त्वों और इनके आधारभूत सिद्धान्तों का आविष्कार हुआ।

रोमन कवियों और नाटककारों ने यूनानी आदर्शों को ग्रहण किया; वेदना को और भी तीव्र बनाने के लिए उर्वर कल्पना से अनेक लोकों और पुरुषों की सृष्टि की। साहित्यिक सौन्दर्य का आदर्श वही आकार में 'अनेकों की एकता' और प्रभाव में भावना की तीव्रता रहा। ईसाई-धर्म के विकास से आध्यात्मिक प्रभावों का समावेश हुआ। गोथिक गिरजों के निर्माण के साथ जिस मध्यकालीन सन्त-साहित्य का विकास हुआ उसमें भारतीय सन्त-साहित्य की भाँति मार्मिकता, जीवन की उदारता और उच्चता की भावनाएँ विद्यमान हैं। वैदिक साहित्य में जिस 'सहज' सौन्दर्य का रस मिलता है, भारतीय सन्त-साहित्य में हृदय-स्पर्शी होकर जो सहज सौन्दर्य फिर से आविर्भूत हुआ है, उसीका स्वाद मध्यकालीन यूरोपीय सन्तों की वाणी में विद्यमान है। किन्तु वैदिक साहित्य में जिस सहज आह्लाद, जीवन के लिए निर्मुक्त उत्साह और आध्यात्मिकता का प्राचुर्य है, वह भारतीय सन्त-साहित्य में निर्वेद, निवेदन, दीनता के भावों से दब गया है और यूरोप के तत्कालीन साहित्य में तो इन भावों का ही प्राबल्य है। विज्ञान और गवेषणा का युग प्रारम्भ होने पर जहाँ ईसाईयत का विरोध हुआ, जीवन में नवीन आदर्शों का उदय हुआ, साथ ही साहित्य में भी नवीन प्रगतियों ने जन्म लिया, सृजन के लिए नूतन और प्रबल प्रेरणा मिली। इस प्रेरणा का मूलोद्गम जीवन में आध्यात्मिकता न थी, प्रत्युत इसका अभाव था। फलस्वरूप यूनानी आदर्शों का साहित्य में फिर से आविर्भाव हुआ। साहित्य में 'आकार' पर एक ओर बल दिया गया जिससे 'अनेकों की एकता' के सिद्धान्त को अनेक प्रकार से सिद्ध करने के लिए नवीन कौशलों का आविष्कार हुआ। 'प्रभाव' को तीव्र और वेदना को प्रखर बनाने के लिए यूनानी

देवताओं के लोक को त्यागकर प्रकृति को स्थान मिला। परन्तु प्रकृति में दिव्यता है। इसलिए इसे भी त्यागकर मानव-जीवन को ही प्रखर वेदनाओं की मूलभूमि स्वीकार किया गया। मानव-जीवन की यथार्थता में, उसकी सामाजिक, नैतिक आदि समस्याओं और परिस्थितियों में ही, साहित्य के लिए उचित प्रभावोत्पादक सामग्री मिल सकती है—बस यहीं से अर्वाचीन यूरोपीय साहित्य का प्रारम्भ—सम्भवतः अन्त भी—होता है।

समीक्षा की भरमार होते हुए भी साहित्यिक सौन्दर्य का आदर्श अभी तक यूनानी परिभाषा की सीमाओं को पार नहीं कर सका है। इसी परिभाषा के अन्तर्गत जिन नवीनताओं का उदय हुआ है नीचे हम उनका संकेत इसलिए करते हैं कि इनसे हमारी विचार-धारा प्रभावित हुई है।

(क) वेदना को प्रखर बनाने के लिए यथार्थवाद को ग्रहण किया है। यद्यपि यथार्थवाद आधुनिक विज्ञान की उपज है, तथापि साहित्य में इसका उपयोग प्रभाव को तीव्र बनाने के लिए किया गया है। अब हमें प्रखर वेदना के लिए देवों के लोकों की कल्पना नहीं करनी है, जैसा कि यूनान के साहित्यिकों और वीर-काव्य के कवियों को करना पड़ा। हमारे लौकिक जीवन और इसकी दैनिक परिस्थितियों में तीव्र अनुभूति के लिए प्रचुर सामग्री विद्यमान है। हमारे युग में 'यथार्थ' ही सुन्दर है, अयथार्थ असुन्दर है। यथार्थ ही आदर्शों का निश्चय और निर्माण करता है। यथार्थवाद आदर्श का विरोधी नहीं, विधायक और नियामक है।

(ख) 'साहित्य मानवता की यथार्थ अभिव्यक्ति है।' इस मानवता में जीवन के सभी पहलू साङ्गोपाङ्ग सम्मिलित हैं—इसकी आशा और दुराशा, इसकी अच्छाइयाँ और दुर्बलताएँ, इसके पश्चात्ताप और सत्संकल्प आदि। मानवता साहित्यिक सौन्दर्य की कसौटी है। मानवता-रहित साहित्य सुन्दर नहीं होता। इस नवीन आदर्श को अपनाने से साहित्य में कई नवीन प्रगतियों का उदय हुआ है, जैसे—(१) भाषा और प्रयोग की सरलता की ओर झुकाव, (२) स्थूल, इन्द्रिय-ग्राह्य तथा भोग योग्य कल्पना का उपयोग (Concrete, gross and voluptuous imagery), (३) संक्षिप्त, स्पष्ट, सरल, आश्चर्यजनक नवीनताओं की खोज, (४) साहित्य में 'सनसनी' (sensation) का महत्त्वपूर्ण स्थान, (५) नैतिक और धार्मिक भावनाओं का आर्थिक, सामाजिक तथा मानसिक समस्याओं से प्रतिद्वन्द्व और इनकी विजय।

(ग) साहित्य में बौद्धिक तत्त्वों का समावेश हुआ है, यद्यपि 'भावना' का अभाव नहीं हुआ, प्रत्युत उसका प्रभाव अपेक्षाकृत व्यापक हो गया है। तर्क और भावना का संघर्ष वर्तमान साहित्य की मुख्य ध्वनि है।

(घ) साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अब घनिष्ठ है। जीवन में एक ओर व्यक्ति और दूसरी ओर समाज है। जीवन की सामूहिक चेतना से वर्तमान साहित्य ऊर्मिल है और साहित्य की नूतनतम दिशा तो सामूहिक चेतन-स्तर को भेदकर समष्टि अचेतन (Collective Unconscious) की ओर जा रही है। वस्तुत वर्तमान कला और साहित्य इसी अचेतन, किन्तु जीवन की आधार-भूमि और प्रबल प्रेरक शक्ति के स्वरूप की खोज में लगे हैं। इसकी अभिव्यक्ति के लिए जहाँ एक ओर नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का उदय हो रहा है वहाँ नवीन प्रतीकों द्वारा साहित्य और कला इस अभिव्यक्ति को सुन्दर बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि हमारे युग में साहित्य सृजन के लिए प्रचुर सामग्री प्राप्त

है। इस सामग्री से 'सौन्दर्य' सृजन करने के लिए यूनानी परिभाषा, जिसमें आकार (Form) और प्रभाव या वस्तु (Matter) दोनों का समावेश है, आज भी सम्मान्य है। इसके अतिरिक्त साहित्य में सौन्दर्यावगाहन की दो अन्य दिशाएँ और स्पष्ट हो चली हैं। (क) *उपयोगितावाद*, जिसके अनुसार कोई रूप, योजना, प्रयोग अथवा अलंकार आदि इसीलिए और उसी सीमा तक सुन्दर प्रतीत होता है जिस लिए और जिस सीमा तक वह उपयोगी है। वस्तु की उपयोगिता ही उसके सौन्दर्य का मूल और माप है। कहानी और नाटक-साहित्य में परिवर्तन और भाषा के प्रयोग में सरलता तथा भावों की स्पष्टता आदि इसी उपयोगिता-सिद्धान्त के फल हैं। (ख) *रहस्यवाद*, उपयोगिता की विपरीत दिशा में एक नूतन रहस्यवाद का उदय हो रहा है जिसके अनुसार प्रत्येक प्रयोग, अलंकार और रूप हमारे सादि और सान्त जीवन में किसी अनादि और अनन्त जीवन की झाँकी उत्पन्न करते हैं। विज्ञान और विशेषतः मनोविज्ञान ने अनुभव की प्राचीन सीमाओं को इतना विस्फारित कर दिया है कि साहित्य केवल 'ससीम' की प्रतीति उत्पन्न करके रसिक को प्रसन्न नहीं कर सकता, प्रत्युत उसे असीम सत्ता, असीम व्यक्तित्व और जीवन के अनन्त और अनादि प्रवाह का रहस्यमय उद्घाटन अनेक संकेतों के द्वारा करना अभीष्ट हो गया है।

: ४ :

हमारे देश के वर्तमान साहित्य में पश्चिम और पूर्व की दोनों विचार-धाराएँ आकर मिल गई हैं, फलस्वरूप साहित्य-समीक्षा में कई नवीन दृष्टिकोणों का उदय हुआ है : (क) रस, ध्वनि, अलंकार सिद्धान्तों का पुनरुत्थान, (ख) विश्लेषण-प्रधान मनोवैज्ञानिक समीक्षा, (ग) विकासवाद को आधार मानने वाली ऐतिहासिक समीक्षा, (घ) यथार्थवाद, उपयोगितावाद, समाजवाद, प्रगतिवाद आदि पर आश्रित वैज्ञानिक समीक्षा, (ङ) साहित्य में दार्शनिक तत्त्वों का अवगाहन करने वाली दार्शनिक समीक्षा।

उक्त समीक्षा के प्रकारों में सौन्दर्य की दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन अभी स्पष्ट धारा के रूप में प्रारम्भ नहीं हुआ। इस दृष्टि से समीक्षा के लिए हमें निम्न लिखित योजना पर काम करना उचित होगा—

(१) चित्र, संगीत, मूर्त्ति तथा स्थापत्य आदि कलाओं में सौन्दर्य के जिन नवीन आदर्शों का आविष्कार हो रहा है, साहित्य-समीक्षकों को उनके अध्ययन से साहित्य में 'सौन्दर्य' का स्वरूप निश्चय करना चाहिए। एक युग की सौन्दर्य-चेतना कलाओं के माध्यम से व्यक्त होती है। अतएव साहित्य अन्य कलाओं के विकास से प्रभावित न हो, यह उचित नहीं है और न यह सम्भव ही हो सकेगा।

(२) भरत के रस-सिद्धान्त का आधारभूत जो मानसिक विश्लेषण या जिसके अनुसार विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि का निरूपण हुआ था, वह विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान के विकास से बहुत पुराना, अधूरा और अवैज्ञानिक प्रतीत होता है। 'रसानुभूति' के मानसिक कारणों तथा इसके विश्लेषण के पुनः अध्ययन करनें से जहाँ विभाव आदि की परिभाषा बदल जाती है वहाँ 'रस' की भी नवीन परिभाषा करनी आवश्यक प्रतीत होती है। 'रस' और 'आनन्द' की नवीन परिभाषा से साहित्य में सौन्दर्यावगाहन का स्वरूप ही बदल जायगा।

(३) मनोविज्ञान के आधुनिक विकास से अलंकार, रीति, छन्द, लय आदि साहित्य

के अवयवों का अध्ययन पुनः होना चाहिए। इससे इनके मानसिक प्रभावों की गवेषणा होगी और 'सौन्दर्यानुभूति' में इन प्रभावों के लिए उचित स्थान और कार्य निश्चय हो सकेगा।

(४) चरम मनोविज्ञान ने जीवन की अचेतन प्रेरणाओं और इसकी अभिव्यक्तियों का अध्ययन किया है। 'अचेतन' की अभिव्यक्ति प्रतीकों के द्वारा होती है। 'प्रतीक' स्थूल द्वारा सूक्ष्म की प्रतीति उत्पन्न करने का साधन है। वर्तमान समय में जहाँ धर्म, नीति, समाज आदि का अध्ययन प्रतीकवाद के आधार पर हुआ है, वहाँ कला में भी यह प्रारम्भ हो चुका है। साहित्यिक अभिव्यक्ति में प्रतीक का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। वस्तुतः पन्त, निराला, महादेवी वर्मा आदि आधुनिक साहित्यिकों की कृति को रस, ध्वनि आदि के आधार पर नहीं समझा जा सकता।

(५) एक ओर साहित्य में भोग, रूप तथा अभिव्यक्ति के मानसिक और आध्यात्मिक प्रभावों का अध्ययन आवश्यक है तथा संवाद, सामञ्जस्य, सापेक्षा, सन्तुलन आदि सौन्दर्य के सनातन सत्यों का पुनः निरूपण उचित है तो दूसरी ओर रसिक में 'व्यक्तित्व', इसके स्वरूप, सीमाओं, आधारों और आकांक्षाओं का अध्ययन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, कारण कि सौन्दर्यास्वादन में सुन्दर वस्तु और रसयिता दोनों का ही समान स्थान है। रसिक के व्यक्तित्व के अध्ययन से रस और रसास्वादन दोनों के स्वरूप स्पष्ट हो सकेंगे।

उपर्युक्त योजना को आधार मानकर हम साहित्यिक सौन्दर्य की समीक्षा के लिए निम्न लिखित मानदण्डों को उपस्थित कर सकते हैं—

(१) यह विदित रहते हुए भी कि सौन्दर्य के मूलभूत सिद्धान्त नहीं बदल सकते, यह निश्चय है कि हम इसकी सामग्री, योजना, रसास्वादन आदि में भारी परिवर्तन देखते हैं। आज हम साहित्य में सौन्दर्य की समीक्षा करते समय सौन्दर्य की सृष्टि जिस सामग्री से की जाती है उस सामग्री को नहीं छोड़ सकते। आज यह सामग्री इतनी प्रचुर, इतनी विस्तृत और इतनी गम्भीर है कि हमारे आस्वादन में इसका अवश्य प्रभाव पड़ता है। एक ओर समस्त बाह्य जगत् और विज्ञानों के अनुसन्धानों द्वारा विस्फारित किया गया अनन्त और अद्भुत प्रकृति का अन्तराल, दूसरी ओर वर्ग, देश, धर्म, जाति आदि की सीमाओं को पार करके मानवता का उदय, तीसरी ओर मनुष्य के सीमित, अचेतन व्यक्तित्व के नीचे असीम, अचेतन सत्ता की आधार-शिला का आविष्कार; जिससे हमारी कलात्मक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विचार-धारा में क्रान्ति का प्रारम्भ, चौथी ओर जटिलता के कारण जीवन में भयंकर संघर्ष की भावना। इस चतुर्दिक् जीवन के उद्गार के अवसर पर साहित्यिक सौन्दर्य का अन्तराल भी व्यापक होना चाहिए और इस सौन्दर्य की माप इस अन्तराल की व्यापकता के अनुसार होनी चाहिए। हमारा बहुत-सा अधपका कहानी, उपन्यास और कविता-साहित्य इस व्यापक जीवन के उद्गार से बिलकुल अपरिचित-सा प्रतीत होता है।

(२) सामग्री के भिन्न होने से 'रस' का प्राचीन पारिभाषिक अथवा पीछे का परिमार्जित रूप अनुपयुक्त हो गया है। केवल भावों का उद्रेक 'रसानुभूति' नहीं है, अपितु जीवन के विभिन्न और कभी-कभी विरोधी उद्गारों में सामञ्जस्य की भावना ही रसानुभूति है। यहाँ तक भी सत्य है कि कभी-कभी सामञ्जस्य, संवाद और एकता उत्पन्न करना विरोधी उद्गारों में सम्भव ही नहीं प्रतीत होता। उस समय असामञ्जस्य, रूप का अभाव और संघर्ष की प्रचण्डता ही 'रस' का अनुभव उत्पन्न करती है। वर्तमान अमरीकी साहित्य में जहाँ 'सामञ्जस्य' उत्पन्न करने का प्रयत्न

है, वहाँ 'क्रान्ति' का अनुभव करने वाले देशों में 'असामञ्जस्य' ही सौन्दर्यानुभूति की मूल भूमि है इस सामञ्जस्य का अनुभव हम भावना के स्तर पर ही केवल नहीं करते, वरन् बौद्धिक स्तर पर अधिक करते हैं। इसलिए साहित्यिक रसानुभूति में भावना-प्रवणता की अपेक्षा विचार-प्रवणता अब अधिक है। सत्य तो यह है कि रसानुभूति एक विशेष 'बौद्धिक भावना' (Intellectual Feeling) है चाहे मनोविज्ञान इसे स्वीकार न करे। सौन्दर्य की माप इसी भावना की प्रखरता, स्पष्टता और परिपाक के आधार पर होनी चाहिए।

(३) साहित्य में सामग्री और रस की व्यापकता के कारण अब कल्पना का कार्य केवल साधर्म्य की खोज करके अलङ्कारों की सृष्टि करना नहीं रह गया है, अपितु इस सामग्री की शब्दार्थ में अभिव्यक्ति के लिए उचित और सबल प्रतीकों का आविष्कार करना है। मानना होगा कि आज के साहित्य में अभिव्यक्ति का एक-मात्र साधन 'प्रतीक' है। जिस प्रकार बीते युगों में धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति के लिए मन्दिर, देवता, अवतार, नवधा भक्ति और अनेक भक्तों का आविष्कार हुआ था, उसी प्रकार इस युग की चेतना को व्यक्त करने के लिए नवीन प्रतीकों का सृजन होना चाहिए। साहित्यिक सौन्दर्य की माप के लिए इन प्रतीकों की स्पष्टता, उपयुक्तता तथा सबलता की नाप होनी चाहिए।

(४) रसिक में रसानुभूति के प्रभाव को नापना भी आवश्यक है। ये प्रभाव दो प्रकार के हैं—(क) निषेधात्मक प्रभाव यह है कि साहित्य में रूप, भोग, सामग्री का संघटन आदि किस सीमा तक रसिक को उसकी मनोग्रन्थियों से मुक्त करने में सफल होते हैं। 'मनोग्रन्थि' आधुनिक मनोविज्ञान की खोज है; इनसे दुःख, जटिलता आदि कष्ट उत्पन्न होते हैं। सौन्दर्य का प्रभाव संगीत की भाँति इन ग्रन्थियों को खोलने में सामर्थ होना चाहिए। (ख) विधानात्मक प्रभाव यह है कि रसिक का व्यक्तित्व जीवन के लिए नवीन प्रेरणा और उत्साह पा सकें, बुद्धि के लिए नवीन प्रकाश और कल्पना के लिए नूतन दिशाएँ मिल सकें। रसिक के ऊपर पड़ने वाला यह प्रभाव भी सौन्दर्यानुभूति का मानदण्ड है।

(५) कोई भी अनुभूति हो, उसमें उदय, विकास, परिपाक और निर्वाह का क्रम रहता है। यदि उदय से परिणाम तक सारी अनुभूति शब्दार्थ के साहित्य से 'रस' के प्रभाव को उत्पन्न करती है तो वह सौन्दर्य की अनुभूति है। साहित्यिक सौन्दर्य के मूल्याङ्कन में इस अनुभूति की व्यापकता, सत्यता, स्वाभाविकता तथा क्रम-विकास आदि का अध्ययन करना चाहिए। किन्तु स्मरण रहे कि अनुभूति का क्रम विकास यद्यपि साहित्य को 'रूप' प्रदान करता है तथापि नवीनता की खोज करने वाले युग में साहित्यिक कलाकारों ने अनेक कौशलों का आविष्कार किया है, जिसमें क्रम-विकास के स्थान पर 'आश्चर्य' 'वेग' आदि का उद्रेक हो। इससे समाचार-पत्रीय साहित्य में चटकीलापन और चुलबुलाहट आ गए हैं। हम इसे शास्त्र की दृष्टि से 'सुन्दर' कहने में हिचकते हैं। वस्तुतः यह केवल मनोरञ्जन का साहित्य है। किन्तु इस साहित्य के परिपाक से निश्चय ही नवीन साहित्यिक 'रूपों' का विकास सम्भव है।

ऊपर किया गया विवेचन केवल सौन्दर्य के सामान्य मानदण्डों की रूप-रेखा प्रस्तुत करता है, जिनका हम साहित्यिक मूल्याङ्कन में उपयोग कर सकते हैं। किन्तु जिस प्रकार 'सामान्य सौन्दर्य' केवल शास्त्रीय सिद्धान्तों का नाम है, वस्तुतः सौन्दर्य प्रत्येक कला में स्वकीय रूप में ही प्रकट होता है, उसी प्रकार 'साहित्यिक सौन्दर्य' का सामान्य रूप भी केवल कुछ सिद्धान्तों का संगठित रूप

है, वस्तुतः यह सौन्दर्य कहानी, उपन्यास, काव्य, नाटक आदि अनेक रूपों में व्यक्त होता है। यहाँ तक भी सत्य है कि यह सौन्दर्य प्रत्येक कहानी, प्रत्येक काव्य में निराला ही रहता है। वस्तुतः मूल्याङ्कन के सामान्य सिद्धान्तों का उपयोग इन्हींके सम्बन्ध से सिद्ध हो सकता है—वैसे तो ये केवल शास्त्र की शोभा-मात्र हैं।

शान्ति भिक्षु

आलोचना में साहिष्णुता की मर्यादा : बौद्ध संकेत

आलोचना क्यों की जाय ? क्या यह भी इतनी आवश्यक है कि इसके बिना दुनिया का काम ही न चले ? शायद बुद्ध ने आलोचना को छिछले स्तर पर होते देखकर कहा था, 'वादं जातं नो उपेति'[1] । वाद जहाँ हो रहा हो—आलोचना जहाँ हो रही हो वहाँ न फटकना चाहिए। बुद्ध-युग में लोग वादरोपण के लिए प्रायः व्याकुल ही रहा करते थे और कितनी ही बार यह आवश्यक हो जाता था कि उसकी उपेक्षा कर दी जाय। पर उपेक्षा करने से शायद हमेशा काम नहीं चल सकता। इसलिए उस युग में ही यह आवश्यक हो गया था कि आलोचना के साध्य और साधन के सम्बन्ध में कुछ निर्धारण हो।

अध्यात्म-साधना में लगे बौद्ध सन्तों की दृष्टि में जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ था शान्तिमय जीवन। जिन सिद्धान्तों से, जिन मन्तव्यों से शान्तिमय जीवन अबाध गति से चलता रहे उन्हीं पर वे विचार करते थे। प्रत्येक मत और तर्क की परख वे इसलिए करते थे कि उसमें शायद कोई ऐसा तत्त्व छिपा हो जो जीवन की शान्ति को शीतल-जल से सींच सके। यह तर्क वाद में बड़ा प्रबल हो गया। बुद्ध से लेकर लगभग ईसा की चौथी शती तक प्रत्येक युक्ति और प्रत्येक वचन में इसीकी खोज होती रही और इसके प्रभाव के कारण शान्ति के लक्ष्य को लक्ष्य मानकर प्रवृत्त हुए सभी भाषितों को बुद्धभाषित मान लिया गया। असंग के गुरु मैत्रेयनाथ ने स्पष्ट ही कह दिया कि—"जो शान्ति की अनुशंसा का प्रदर्शक है, जो सार्थक है और धर्मपद-युक्त है, तथा त्रैधातुक दोषों को दूर करने वाला है वही बुद्ध वचन है। जो ऐसा नहीं वह बुद्ध-वचन भी नहीं"—

> यदर्थवद्धर्मपदोपसंहितं
> त्रिधातुसंक्लेश निबर्हणं वचः।
> भवेच्च यच्छान्त्यनुशंस दर्शकं
> तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यथा ॥[2]

शान्ति के ध्येय से व्यवहार में तथा साहित्य में विचार-चर्चा करना आलोचना-प्रत्यालोचना एवं ऊहापोह करना प्राचीन साधकों को बहुत प्रिय था। आज वे लोग, जो शान्ति की बातें करते हैं, क्या आलोचना के क्षेत्र में भी इस ध्येय को सम्मुख रखते हैं ?

लगभग सहस्राब्दी तक (बुद्ध से लेकर ई० चौथी शती तक) शान्ति के ध्येय को लोग सुनते रहे। चूँकि शान्ति का जीवन साधकों की चीज थी। प्राकृत-जीवन से उसमें भेद रहता ही

---

१. सुत्तनिपात, अट्ठक वग्ग ३।६ ।
२. 'बोधिचर्यावतार' में उद्धृत ।

था। इस भेद को मिटाने के लिए आलोचना के क्षेत्र में एक प्राकृत ध्येय की खोज होने लगी। पर वह प्राकृत ध्येय ऐसा चाहिए था कि उसमें शान्ति का ध्येय सम्मिलित रहे। बुद्ध के बाद की पहली सहस्राब्दी अध्यात्म पर थी और उसमें धार्मिक और दार्शनिक चर्चा शान्ति के ध्येय को लेकर होती रही। इस चर्चा के भीतर छिपा हुआ तार्किक स्वरूप उस समय अलग से न देखा जाता था। पर अब वह स्वरूप निरन्तर वाद-विवाद और चर्चा होते-होते निखर आया। तर्क के इस निखरे युग में आलोचना के ध्येय पर इस दृष्टि से विचार होने लगा कि वह ध्येय प्रामाणिक है या नहीं। प्रामाणिकता की कसौटी इस युग के प्रवर्तक दिङ्नाग (५वीं शती) और धर्मकीर्ति (छठी शती) ने अर्थक्रिया[1] मानी। अर्थक्रिया से अभिप्राय है दुनिया की स्वार्थ-सिद्धि। चित्र-लिखित गो से गोरस नहीं मिल सकता, चित्र-लिखित अश्व पर सवारी नहीं की जा सकती, चित्र-लिखित घट से पानी नहीं भरा जा सकता अतः चित्र-लिखित गो, अश्व, घट दुनिया की अर्थक्रिया की दृष्टि से प्रमाण नहीं। इस अर्थक्रिया ने शान्ति के ध्येय को दुनिया में ला बिठाया नहीं तो वह शायद अरण्य, नदी-पुलिन, गुहा, चैत्य एवं विवेकवास की ही संगिनी रही होती। शान्ति ने अर्थक्रिया से मिलकर उसे आधुनिक भौतिकवाद के समकक्ष नहीं बनाया, पर उसे ऊपर उठा दिया है। तार्किक क्षेत्र में अर्थक्रिया का लगभग बुद्ध-धर्म के अवसान के समय तक भारत में बोल-बाला रहा। शान्ति और अर्थक्रिया के आधार पर आलोचना में परख होने का अर्थ है आलोचना का मानव-जीवन के पास आ जाना और मानव को सर्वश्रेष्ठ मानकर मानव की समस्याओं को लक्ष्य में रखकर आलोचना का प्रवृत्त होना।

आलोचना किन साधनों से होनी चाहिए? सभी सच्चे साधन आलोचना में काम लाए जा सकते हैं पर हमारा साहित्य इसका साक्षी नहीं है। प्राचीन समय में विचार करते हुए कितनी ही बार छल-कपट से काम लिया जाता था। अक्षपाद के 'न्याय-सूत्र' में जल्प और वितण्डा को भी तत्त्व-रक्षण का उपाय माना है।[2] यह सचमुच असत्य के द्वारा सत्य की रक्षा हुई। पर असत्य के बल पर सत्य कब तक टिका रहेगा। उसे आत्मबल पर ठहरना होगा।[3]

युक्ति का आधार यदि तथ्य न हो तो वह बहुत ही उपहसनीय हो जाती है। कितनी बार युक्ति अपने-आपमें ठीक होती है, पर तथ्याश्रित न होने के कारण अर्थक्रिया कारक नहीं होती। यहाँ इसका उदाहरण देना होगा। शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य में बौद्धों का खण्डन किया है। युक्तियाँ बड़ी प्रबल हैं। युक्तियों के साथ उन्होंने जो गाली-गलौज[4] का प्रयोग किया है उससे वातावरण बहुत गरम हो उठता है, पर यह सब बड़े दुर्बल आधार पर किया गया है। उन्होंने पहले ही मान लिया है कि बौद्ध मत अभाववाद का प्रतिपादक है। आज भी कितने ही

---

१. प्रमाण वार्तिक १।३।

२. दे० न्याय सूत्र ४।२।५०।

३. धर्मकीर्ति ने तत्त्व रक्षा के इस उपाय पर कटाक्ष करते हुए कहा है—छल आदि से यदि तत्त्व-रक्षा करनी हो तो वह तलवार के बूते पर भी हो सकती है, पर वैसा करना ठीक नहीं—"तत्त्व रक्षणार्थं सद्भिरुपहर्तव्यमेव छलादि विजिगीषुभिरितिचेत् नखचपेटशस्त्र-प्रहारादीपनादिभिरपि वक्तव्यम्। तस्मान्न ज्यायानयं तत्त्वरक्षणोपायः।" [वादन्याय पृष्ठ ७१]

४. देखिये २।२।३२ पर शांकर भाष्य।

उसी लीक पर चले जा रहे हैं, पर यह किसी की समझ में नहीं आ रहा है कि अतीत और वर्तमान की बौद्ध-जनता जिस पर आस्था बनाये हुए है वह 'अभाव' नहीं हो सकता। अभाव-रूपी परमार्थ पर मर मिटना शायद सम्भव नहीं है।

निर्गुण परमार्थ है या सगुण ? कबीर निर्गुण के पक्षपाती हैं। उनका राम अवतारी नहीं है। वह अवतारी नहीं हो सकता, क्योंकि अवतार नाना दोषों से पूर्ण है। इस प्रधान तर्क में यदि भूल दिखानी हो तो अवतार की शुद्धता प्रमाणित करनी चाहिए, पर शुद्धता प्रमाणित करने के स्थान पर तुलसी शंकराचार्य का अनुगमन करते हैं—उन्होंने पूर्व पक्ष का अनुवाद यों किया है :

प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥
राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥
जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि, नारि बिरहँ मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥१०८॥[1]

इस पूर्व पक्ष का उत्तर तुलसी यों देते हैं :

एक बात नहिं मोहिं सोहानी। जदपि मोह बस कहेउ भवानी॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जो मोह पिसाच।
पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साच॥११४॥
अग्य अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहुँ संत सभा नहिं देखी॥
बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥
तिन्ह कृत महा मोह मद पाना। तिन्हकर कहा करिअ नहिं थाना॥[2]

प्रश्न और उत्तर में कोई मेल नहीं है। इतने उत्तर और तू-तू मैं-मैं के बाद प्रश्न तदवरूप है। स्त्री के विरह में सुध-बुध खोकर भटकने वाला राजकुमार ब्रह्म कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर में बुद्धिमान् पाठक उचित समाधान चाहता है। चुनी-चुनी गालियां नहीं।

शान्ति एवं अर्थक्रिया-रूप साध्य तथा तथ्य-साधनों के होने से ठीक-ठीक आलोचना तो हो सकती है, पर वह लोक-ग्राह्य होगी या नहीं इसमें सन्देह है। विशेष भावनाओं और विश्वासों से परिचालित जन-समूह को उनसे अलग करके कोई तथ्य समझा लेना कठिन काम है। समझा लेने पर भी उसको मनवा लेना और भी कठिन है। पर धीरे-धीरे इस प्रकार की टेव बनाना कि युक्तिसम्मत बात सुनी जाय यह भी अलोचना के द्वारा सम्भव है। यदि जन-समूह में आलोचना-बुद्धि न जगी तो वह शायद आलोचक का ही दोष होगा। श्रोता का न समझ सकना श्रोता की मूढ़ता हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती, पर वक्ता की जड़ता तो बिना प्रमाणित हुए नहीं रहती। एवं जहाँ आलोचक का उत्तरदायित्व महान् है वहाँ जिनके लिए आलोचना की जा रही है उनका भी उचित अधिकारी होना आवश्यक है। लोक के उचित अधिकारी न होने पर आलोचक को माथा पीटकर रह जाना पड़ता है और जब वह देखता है कि बड़े-बड़े असम्बद्ध बातें करते जा रहे हैं "वाल्मीकि ने वानरों से समुद्र पर पुल बँधवाया, व्यास ने अर्जुन के बाणों

१. बाल कांड।
२. वही।

से छप्पर छवा दिया। पर कोई माई का लाल न निकला जो कहे कि ये बूढ़े बातों में अति कर रहे हैं। इधर शब्द और अर्थों को तौलकर रखने पर भी लोग ग़लती निकालने को मुँह बाए खड़े हैं। लोकरूढ़ि तुझे नमः।"

शैलैर्बन्धयति स्म वानर हृतैर्वाल्मीकिरम्भोनिधिं,
व्यासः पार्थ शरैस्तथापि हि तयोर्नात्युक्तिरुद्भाव्यते।
वागर्थौ तुलया धृतावपि तथाप्यस्मत्प्रबन्धानयं,
लोको दूषयितुं प्रसारितमुखस्तुभ्यं प्रतिष्ठे नमः॥[1]

१. धर्मकीर्ति

डॉक्टर एस० पी० खत्री

प्राचीन यूनानी साहित्य-शास्त्र

: १ :

साधारणतः यह सर्वमान्य सिद्धान्त रहा है कि आदि मनुष्य की नैसर्गिक सौन्दर्यानुभूति-क्षमता तथा उसकी सौन्दर्यासक्ति ही आधुनिक कलाओं का मूल स्रोत होगा; और समय की प्रगति के साथ-साथ जैसे-जैसे सौन्दर्यानुभूति के साधन बढ़ते जायँगे, कला तथा उससे सम्बन्धित अन्यान्य क्षेत्रों की भी प्रगति होती जायगी। प्रायः जिन-जिन देशों में कला का आरम्भिक अवतरण हुआ उनमें यूनानी समाज की गणना पहले-पहल होगी। परन्तु यूनान का समस्त जीवन व्यापक रूप में दर्शन की ही छत्र-छाया में पल्लवित-पुष्पित हुआ है, जिसके फलस्वरूप यूनानी राजनीति, यूनानी समाज तथा यूनानी साहित्य दर्शनज्ञों हो द्वारा नियन्त्रित, मर्यादित तथा प्रेरित हुआ। यूनानी आलोचना-शास्त्र का जन्म भी यूनानी दर्शनज्ञों के सामाजिक एवं साहित्यिक चिन्तन द्वारा ही सम्भव हुआ: दर्शनज्ञों ने ही उसे प्रेरित किया, मर्यादित किया तथा तत्कालीन अनेक साहित्यिक धाराओं के अवगाहन के फलस्वरूप एक विशिष्ट आलोचना-शास्त्र का निर्माण किया। यूनानी आलोचना की कोई भी बनी-बनाई पुस्तक न तो हमें प्राप्त है और न इस सुविधा की उस युग में कोई सम्भावना ही थी; परन्तु फिर भी साहित्यिक आलोचनात्मक अनुशीलन द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि यूनानी दर्शनज्ञों की चिन्तन-धाराओं में ही हमें यूनानी आलोचना-शास्त्र की मूल रूप-रेखा दिखलाई देगी, जिनका कालान्तर में विकास होता गया और जो सिद्धान्त-निर्माण में व्यापक रूप में प्रयुक्त हुई। यूनान के आदि कवि होमर तथा विशिष्ट कलाकार हिसियॉड की रचनाओं में ही हमें पहले-पहल आलोचना-सिद्धान्तों का मूल संकेत प्राप्त होगा। यद्यपि आलोचना के मूल संकेत देने वाले अन्य लेखकों[1] की महत्ता कम नहीं, फिर भी ऐतिहासिक रूप में जब तक हम महान् सुखान्तकी लेखक एरिस्टाफ़ेनीज के युग में नहीं पहुँच जाते आलोचनात्मक विचार स्फुट रूप में ही प्राप्त होते हैं। एरिस्टाफ़ेनीज द्वारा लिखित सुखान्तकीयों में ही हमें पहले-पहल यूनानी आलोचना-शास्त्र की स्पष्ट रूप-रेखा दृष्टिगत होगी।

साहित्यकारों के अतिरिक्त जिन दर्शनज्ञों[2] ने साहित्यिक अनुसन्धान तथा उससे सम्बन्धित नैतिक प्रश्नों पर चिन्तन किया उनमें प्लेटो का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्लेटो ने ही पहले-पहल विशिष्ट रूप में साहित्य की उपादेयता, साहित्य तथा कला का सम्बन्ध और साहित्य एवं नैतिकता की अभिन्नता पर व्यापक प्रकाश डाला। यद्यपि उन्होंने विशुद्ध आलोचना-शास्त्र पर कोई पुस्तक नहीं लिखी परन्तु उनके अनेक 'संवादों' में जहाँ उन्होंने समसामयिक प्रश्नों पर

---

१. जेनोफ़नीज़; हेराक्लिटस; पिण्डर; गोर्ज़ियास, डिमाक्रिटस; प्लूटार्क; डायोजेनीज़ लार्यटीज़।

२. प्लेटो; आइसाक्रेटीज़; अरस्तू; थियोफ्रैस्टस।

चिन्तन किया हमें अनेक आलोचना-सिद्धान्तों के स्पष्ट दर्शन होंगे। इन 'संवादों'[1] में उन्होंने भाषण-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, काव्य तथा कविता का विवेचन किया और उनसे सम्बन्धित समस्याओं पर विशद प्रकाश डाला।

प्लेटो द्वारा प्रस्तुत आलोचना-सिद्धान्तों को विधिवत् तथा सम्यक् रूप में हृदयंगम करने के लिए यह अत्यावश्यक है कि यूनान की राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था पर एक दृष्टि डाल ली जाय। उनके समय में यूनान की राजधानी एथेंस की महत्ता बहुत कुछ घटने पर भी न घटी थी और यद्यपि देश के राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन का शीघ्रतर ह्रास हो रहा था परन्तु कोई भी ऐसा महत्त्वपूर्ण नगर न था जो एथेंस का स्थान ले सकता और ह्रास की गति को रोक सकता। देश के राजनीतिक तथा सामाजिक ह्रास के साथ-साथ सत्साहित्य का भी पतन विशेष रूप में हो रहा था। तत्कालीन दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी-लेखकों की रचनाओं ने इस धारणा को और भी पुष्ट किया। महाकाव्य तथा गीत-काव्य भी हीन कोटि के थे और किसी ओर भी प्रगति के लक्षण दृष्टिगत न थे। साहित्य हीन था; लेखक अनुकर्त्ता थे। और इन अनुकर्त्ताओं द्वारा निर्मित साहित्य से देश का कल्याण किस प्रकार होगा यही प्लेटो के चिन्तन-विशेष का विषय बना। हीन साहित्यकार उच्छृङ्खलता का पोषक होगा, युवा-समाज का कण्टक होगा और आदर्शवादी जनतन्त्र का घातक होगा। जब प्लेटो ने देश, समाज तथा साहित्य की यह विषमावस्था देखी तो वह अत्यन्त क्षुब्ध हुए और उन्होंने नैतिक आदर्शवाद का पुनरुत्थान करना अपना धर्म समझा। यूनानी समाज के इस विषम वातावरण के कारण ही प्लेटो ने साहित्य को उपादेयता की कसौटी पर कसा और केवल नैतिक दृष्टिकोण द्वारा ही आलोचना-सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयत्न किया। यही कारण विशेष था कि उन्होंने न तो साहित्य की शैली विशेष पर और न उसकी आनन्ददायिनी शक्ति पर ही अपनी दृष्टि एकाग्र की; उन्होंने केवल नैतिकादर्शों का प्रसार ही साहित्य का मूल लक्ष्य समझा और साहित्य की वस्तु पर विशेष रूप में ध्यान दिया।

प्लेटो का स्पष्ट कथन है कि जब तक व्यक्ति का निजी चरित्र विशिष्ट न होगा, जब तक उसमें श्रेष्ठ विचारशीलता न होगी, जब तक उससे समन्वय और सामंजस्य की स्थापना न होगी तब तक विरचित साहित्य भी हीन होगा। इसके विपरीत यदि उसमें उच्च स्तर की श्रेष्ठता है, समन्वय है, तो उसके द्वारा सत्य की अभिव्यंजना होगी, सत्य की प्रेरणा मिलेगी। इस कथन से स्पष्ट है कि वह साहित्य में ही नहीं वरन् साहित्यकार में भी श्रेष्ठ चरित्र, श्रेष्ठाचरण तथा सत्यानुसरण का समावेश चाहते थे और उनके लिए वही साहित्य श्रेष्ठ तथा पठनीय था जो सत्य-सन्देश दे; श्रेष्ठाचरण में सहयोग दे। इस श्रेष्ठ साहित्यिक कसौटी पर भला कौन-सा साहित्यकार था जो खरा उतरता? होमर तथा हिसियॉड के समान लेखक, पिण्डर के समान कवि तथा अन्य नाटककार नैतिकता-प्रसार की दृष्टि से उतने श्रेष्ठ न निकले जितनी प्लेटो को आशा थी। उनका निर्णय था कि कवि तथा गद्य-लेखक मानव-चरित्र की अभिव्यंजना में निकृष्ट हैं: वे अपनी रचनाओं द्वारा यह सन्देश देते हैं कि दुष्ट सुखी रहते हैं और साधुतापूर्ण आचरण करने वाले दुःख पाते हैं; असत्याचरण लाभदायक है, सत्याचरण दूसरों के लिए हितकर चाहे हो भी परन्तु अपने लिए कदापि हितकर नहीं!!

प्लेटो ने तत्कालीन यूनानी रचनात्मक साहित्य की वस्तु को ही निन्दनीय नहीं ठहराया

---

१. आयॉन; रिपब्लिक; लॉज़।

वरन् साहित्य-शैली का भी विरोध किया। उन्होंने इस श्रेष्ठ साहित्यिक तथ्य पर किंचित्मात्र भी ध्यान नहीं दिया कि साहित्य मूलतः किसी व्यक्तिगत दृष्टिकोण का ही परिचायक रहेगा; और यह उसकी श्रेष्ठता का प्रमाण है, हीनता का नहीं। रचनात्मक साहित्यकार अपनी साहित्यिक अभिव्यंजना में सत्य अथवा यथार्थ का दिग्दर्शन नहीं कराता, वह तो केवल उस सत्य अथवा यथार्थ की मानसिक वस्तु-स्थिति का ही दिग्दर्शन कराता है। परन्तु यह तथ्य प्लेटो की नैतिक परिधि में प्रकाश न पा सका और इसी कारणवश उन्होंने साहित्यकार को चित्रकार ही नहीं वरन् सभी उपयोगी शिल्पियों की तुलना में हीन कोटि का ठहराया। उनकी दृष्टि में कवि का अनुकरण छायारूपी संसार का अनुकरण है, जो वास्तविक और यथार्थ दैव-लोक से कहीं दूर जा पड़ता है। फलतः रचनात्मक साहित्यकार न तो सत्य का दिग्दर्शन सफलता पूर्वक करा सकेगा और न वह श्रेष्ठ शिक्षा-प्रदान में ही सफल होगा। इसके साथ-साथ कवियों का यह उद्देश्य भी रहता है कि उनके द्वारा प्रदर्शित जीवन दृश्य प्रभावपूर्ण भी हों। इस विषम उद्देश्य की पूर्ति में वे ऐसे पात्रों को चुनते हैं जिनमें ऐन्द्रिक उन्माद हो, जो भावावेश में ही अपना समस्त कार्य करें और जो साधारण स्तर से कहीं अधिक विभिन्न हों। भावावेशपूर्ण पात्रों के चुनाव में तथा उनके द्वारा सम्पादित कार्यों के प्रदर्शन में साहित्यकार को सुविधा भी मिलती है, क्योंकि उनके प्रदर्शन में विभिन्नता तथा वैचित्र्य की काफी सम्भावना रहेगी। परन्तु ऐसे पात्र, जो साधुतापूर्ण हों और नियन्त्रित जीवन व्यतीत करते हों, ऐसी सहज़ सुविधा नहीं प्रदान कर पाएँगे। उनके आचरण में न तो विभिन्नता होगी और न कोई विशेष वैचित्र्य; और दर्शकों की दृष्टि में वे साधारण, अनाकर्षक तथा नीरस प्रतीत होंगे। इस कोटि के साहित्यिक प्रदर्शन द्वारा जन-मन भावुकता की ओर ही अधिक अग्रसर होगा और मानसिकता की ओर कम; वह भावना को अधिक महत्त्व देगा, मस्तिष्क को कम; जो सामाजिक सुव्यवस्था के लिए हितकर नहीं। यद्यपि प्लेटो ने दर्शनज्ञ होने के नाते मानव-जीवन की मानसिक तथा आध्यात्मिक गहराइयों में पैठ-कर उसकी यथेष्ट नाप-जोख की और कला-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तत्त्व की ओर संकेत किया, परन्तु फिर भी वे कला की अभिव्यंजना के महत्त्व को न परख सके और उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण दूषित ही रह गया। जहाँ उन्होंने कला तथा नैतिकता के अटूट सम्बन्ध की महत्त्वपूर्ण घोषणा की और कलाकार तथा साहित्यकार का ध्यान 'सत्यं' की ओर एकाग्र किया; जहाँ उनके विश्लेषण ने करुणा द्वारा प्राप्त आनन्द की मूल भावना का महत्त्व स्वीकार किया, वहाँ वे उस मनोविज्ञान की गुत्थी को न सुलझा सके जिसके द्वारा कला मानवी आत्मा को बरबस अपनी ओर खींचती रहती है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आलोचना-शास्त्र को उनकी कोई रचनात्मक देन नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्लेटो ने ही काव्य, नाटक (दुखान्तकी एवं सुखान्तकी) भाषण-शास्त्र तथा गद्य-शैली-जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपनी आलोचनात्मक दृष्टि डाली और उनके अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ओर संकेत ही नहीं वरन् उनका वर्णन भी किया। उन्होंने ही पहले-पहल काव्य का वर्गीकरण किया और गीत, महाकाव्य तथा नाटक उसके तीन विशिष्ट अंग प्रमाणित किये। गीत तथा नाटक दोनों के समन्वय द्वारा ही महाकाव्य की सृष्टि होगी जिनमें दोनों वर्गों की शैलियों का प्रयोग होगा। काव्य के प्रत्येक रूप में उन्होंने सामंजस्य गुण की सराहना की और और सामंजस्य-विहीन काव्य की निकृष्टता घोषित की। श्रेष्ठ दुःखान्तक कलाकार को तो उन्होंने

वह पद प्रदान किया जो किसी भी युग में उसे न प्राप्त हो सका और न हुआ है। श्रेष्ठ दुःखान्तकी लेखक को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ समाज-सेवक तथा श्रेष्ठ नैयायिक का स्थान दिया। सुखान्तकी रचना के मूल स्रोत का भी उद्घाटन प्लेटो द्वारा ही सम्भव हुआ और हास्य-रस के विकास और प्रदर्शन पर उनके विचारों का महत्त्व आधुनिक काल तक कम नहीं हुआ है। हास्यास्पद कार्यों का प्रदर्शन ही उन्होंने सुखान्तकी का मूल आधार माना और हास्य-रस का आविर्भाव मानवी गर्व की भावना में अन्तर्हित प्रमाणित किया। क्षति-हीन हास्य की मर्यादा उन्होंने ही स्थापित की और सभ्य समाज के लिए हास्य की आवश्यकता पर विशद प्रकाश डाला। श्रेष्ठ आलोचक की दृष्टि से उन्होंने प्रचलित भाषण-शास्त्र के भी मूल तत्त्वों का विश्लेषण किया और प्रवृत्ति, ज्ञान तथा अभ्यास तीनों की आवश्यकता प्रमाणित की। गद्य-शैली में उन्होंने स्पष्टता, क्रम, तारतम्य तथा सामंजस्य आदि गुण अपेक्षित माने और 'भाव-प्रकाश' के सिद्धान्तों को मनोविज्ञान तथा चिकित्सा-शास्त्र के नियमों पर आधारित किया। संक्षेप में यों तो प्लेटो ने सभी तत्कालीन साहित्यिक प्रश्नों पर विचार किया परन्तु काव्य, नाटक, भाषण-शास्त्र तथा गद्य-शैली-विषयक उनके आलोचनात्मक विचारों ने आगामी युगों के आलोचकों का मार्ग प्रशस्त किया।

: २ :

अरस्तू के आलोचना-सिद्धान्तों में हमें प्लेटो के साहित्यिक दृष्टिकोण तथा उनके साहित्यिक सिद्धान्तों का समुचित संशोधन दृष्टिगत होगा। प्लेटो की आलोचना-प्रणाली ने जहाँ साहित्य तथा नैतिकता का अमर बन्धन सहज ही प्रमाणित कर दिया था वहाँ वह साहित्य की अभिव्यक्ति के सिद्धान्तों को पूर्णरूपेण न परख सके और इस कार्य को अरस्तू के प्रतिभापूर्ण दृष्टिकोण ने ही सम्पन्न किया। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि कलाकार द्वारा प्रदर्शित जीवन-दृश्य किसी प्रकार भी न तो असत्य है और न यथार्थता से विमुख है, क्योंकि जिस सत्य की वह अभिव्यक्ति करते हैं उसमें हमें विज्ञान की सत्यता के दर्शन नहीं होंगे। उनकी सत्याभिव्यक्ति दूसरे प्रकार की होगी; उनमें हमें वैज्ञानिक सत्य के दर्शन न होकर सम्भावित सत्यता के दर्शन होंगे। अपने मत को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने इतिहास तथा काव्य की तुलना करते हुए यह विचार प्रस्तावित किया कि काव्य का यह उद्देश्य नहीं कि वह भूत काल के जीवन या दृश्यों अथवा घटनाओं का वर्णन करे, उसे तो सम्भाव्य घटनाओं का ही दिग्दर्शन कराना अपेक्षित होगा। भूत काल के आधार पर क्या सम्भव है और उस सम्भवता से अन्य दूसरी सम्भाव्यताएँ क्या हैं इसी पर काव्य प्रकाश डालेगा। छन्द-प्रयोग भी काव्य तथा इतिहास की विभिन्नता स्पष्ट नहीं कर पाएगा, क्योंकि इतिहास भी तो छन्दबद्ध हो सकता है। उनकी विभिन्नता इसीमें है कि जहाँ इतिहास यह बतलाता है कि क्या हो चुका है : काव्य यह बतलाएगा कि क्या सम्भवतः होगा। एक की दृष्टि भूत काल पर और दूसरे की भविष्य पर लगी रहेगी। यही कारण है कि काव्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। काव्य द्वारा प्रदर्शित सत्य अधिक व्यापक एवं सार्वलौकिक होगा : इतिहास द्वारा प्रदर्शित सत्य सीमित तथा एकांगी होगा।

साहित्य के ऊपर लगे हुए मूल आरोप का भी खण्डन अरस्तू ने बहुत पटुता से किया। प्लेटो का आरोप था कि काव्य मनुष्य के भावना-जगत् को ही प्रेरित तथा प्रभावित करता है और उसकी बौद्धिक शक्ति को क्षति पहुँचाता है, परन्तु अरस्तू ने दुःखान्तकी के प्रभाव का

विश्लेषण करते हुए यह प्रमाणित किया कि भावना-जगत् पर पड़ा हुआ प्रभाव अत्यन्त हितकर होगा। दुःखान्तकी द्वारा उद्बुद्ध 'भय' तथा 'करुणा' की भावना रंगस्थल पर बाह्य रूप में हलचल को देखकर अपना सन्तुलन कर लेगी और जो भी उसमें अतिरिक्त मात्रा रहेगी उसका परिमार्जन तथा संशोधन हो जायगा। 'करुण' रस की महत्ता की स्थापना अरस्तू के आलोचना-सिद्धान्त की विशेषता है, जिसका प्रमाण हमें अपने प्रतिदिन के साहित्यिक पठन-पाठन में सहज ही अनुभवीन होगा। साधारणतः जब भी हम किसी रंगस्थल पर दुःखान्तकी का प्रदर्शन देखते हैं अथवा किसी ऐसी साहित्यिक कृति का पठन-पाठन करते हैं जिसका अन्त दुःखद होता है तो हम सहज ही अपने भाग्य अथवा दुर्भाग्य की तुलना नाटकीय रूप में प्रदर्शित दुर्भाग्य से करने लगते हैं और अपने को अहोभाग्य समझकर अपने में निहित 'भय' तथा 'करुणा' की अतिरिक्त भावना का सन्तुलन एवं परिष्कार कर लेते हैं। अरस्तू ने अपने विशिष्ट वैज्ञानिक विश्लेषण का परिचय अन्य साहित्यिक अनुसन्धानों के क्षेत्र में भी दिया। उन्होंने काव्य के मूल स्रोत का अनुसन्धान करते हुए उसे मानव प्रकृति का सहज व्यापार घोषित किया और उसका स्थान संगीत के अन्तर्गत निर्धारित किया। काव्य तथा नैतिकता के सम्बन्ध की समीक्षा करते हुए उन्होंने अफलातूँ के विचारों को दुहराया तो अवश्य, परन्तु उन्होंने उसके आनन्ददायी तत्त्व को प्रमुखता प्रदान की और नैतिक आदेश का स्थान गौण-रूप में ही रखा। काव्य-सृजन में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा को उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थान दिया और अपने इस विशेष आलोचना-सिद्धान्त द्वारा आगामी युगों के विचारकों को बहुत व्यापक रूप में प्रभावित किया। काव्य तथा छन्द के सम्बन्ध में तो उनके विचार आधुनिक विचार-धारा से कुछ आगे ही जान पड़ेंगे, क्योंकि उन्होंने काव्य-रचना में छन्द की महत्ता बिलकुल ही घटा दी और उसे काव्य-सृजन के लिए अपेक्षित नहीं समझा। इस सिद्धान्त में आधुनिक मुक्तछन्द के सिद्धान्त की अभूत-पूर्व छाया मिलेगी।

इसके अतिरिक्त यह अरस्तू की ही सूझ थी कि उन्होंने श्रेष्ठ कलाकारों द्वारा नियम-भंग के उदाहरणों को कोई महत्त्व नहीं दिया और उनके इस सहज अधिकार की रक्षा की। इस वर्ग के आलोचकों को अरस्तू ने सत्साहित्य के परखने का श्रेष्ठ मार्ग दिखलाया। शाब्दिक आलोचना में संशोधन के लिए उन्होंने यह निर्देश दिया कि कवियों द्वारा स्थापित शब्द-प्रयोग-परम्परा, शब्द की व्यक्तिगत रूढ़ि, आलंकारिक प्रयोग तथा विराम-चिह्न से सम्बन्धित प्रयोग—सब पर ध्यान देने के पश्चात् ही आलोचना लिखनी चाहिए। यही नहीं उन्होंने श्रेष्ठ आलोचकों को काव्य के कल्पनात्मक तत्त्वों को भी हृदयंगम करने का आदेश दिया। काव्य में चमत्कार का श्रेष्ठ स्थान निर्धारित करने का श्रेय अरस्तू को ही मिलना चाहिए। उन्होंने ही यह अकाट्य रूप में प्रमाणित किया कि कला, शब्द, नियम, यथार्थ—सबके ऊपर निर्भर न रहकर कुछ दूसरे ही सौन्दर्यात्मक तथा कलात्मक गुणों पर आधारित रहेगी। कला का संसार पार्थिवता और यथार्थता के नियमों द्वारा परिचालित नहीं—वह परिचालित है कुछ अन्य अनुभवात्मक तथा दैवी अथवा अमूर्त सिद्धान्तों द्वारा, जिनके प्लेटो तथा अरस्तू दो ही विचारक यूनानी आलोचना-क्षेत्र में अग्रणी हैं और इन्हीं दोनों के आलोचनात्मक सिद्धान्त आगामी युगों के आलोचना-सिद्धान्त के मूल आधार रहे। यूनान तथा रोम के जो भी आलोचक साहित्य-समीक्षा में अग्रसर हुए उन्होंने या तो इन्हीं दोनों महान् विचारकों के साहित्य-सिद्धान्तों को दुहराया अथवा उनका पिष्टपेषण किया।

डॉक्टर देवराज

प्राचीन साहित्य-शास्त्र की उपयोगिता

: १ :

प्राचीन साहित्य एवं साहित्य-शास्त्र की उपयोगिता की चर्चा एक व्यापक सन्दर्भ में भी की जा सकती है, और अपेक्षाकृत संकीर्ण परिधि में भी। व्यापक परिधि में 'प्राचीन' के बदले 'अतीत' शब्द रखा जा सकता है। हम अतीत के साहित्य-शास्त्रियों (अथवा साहित्यकारों, विचारकों आदि) को क्यों पढ़ें? प्रस्तुत निबन्ध में हमें इस व्यापक प्रश्न पर विचार नहीं करना है। यहाँ हम 'प्राचीन' का अर्थ 'क्लासिकल' लेंगे। हमारा तात्पर्य उन साहित्य-मीमांसकों से है जिन्होंने अपने मन्तव्यों का प्रतिपादन 'क्लासिकल' संस्कृत-साहित्य की कृतियों के आधार पर किया।

पहले हम यह स्पष्ट करें कि इस प्रकार के प्रश्न को उठाने की आवश्यकता क्या है? आज हम अक्सर यह शिकायत सुनते हैं कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में अच्छे समीक्षकों की कमी है। यदि इस कथन का प्रमाण देना अपेक्षित हो, तो हम कहेंगे—हिन्दी के समीक्षा-साहित्य से शुक्ल-जी की कृतियों को निकाल देने की कल्पना कीजिए, और देखिए कि उस साहित्य में कितनी बड़ी रिक्तता हो जाती है। शुक्ल जी के अतिरिक्त यदि हम उसमें से निम्नतर श्रेणी के चार-छः समीक्षकों की कृतियाँ निकाल दें, तो शायद हिन्दी में आलोचना-साहित्य के नाम पर प्रायः कुछ भी नहीं रह जायगा। कुछ लोग शायद इस चार-छः की संख्या के बदले एक दर्जन कहना चाहें, किन्तु उस दशा में हम उन समीक्षकों की भी गणना कर रहे होंगे जिन्होंने न तो कोई स्वतन्त्र चिन्तन किया है और न आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन का प्रयत्न ही।

ऊपर के तथ्यों के साथ ही हमें एक दूसरी चीज पर ग़ौर करना है। हिन्दी-भाषा के विशाल क्षेत्र में कम-से-कम एक दर्जन विश्वविद्यालय तथा बीसियों डिग्री-कॉलेज हैं। इन संस्थाओं के सभी अध्यापक एम० ए० की डिग्री पाये हुए रहते हैं और उनमें काफी संख्या में डॉक्टर भी हैं। प्रायः ये सभी अध्यापक प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों के मुख्य सिद्धान्तों से परिचित रहते हैं। प्राचीन साहित्य-शास्त्र के इतने जानकारों के रहते हुए यदि यह कहा जाय कि हिन्दी में अच्छे समीक्षकों की कमी है तो इसका यह अर्थ होगा कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र का परिज्ञान किसी व्यक्ति को अच्छा समीक्षक बनाने में असमर्थ है। इस स्थिति से कुछ लोग यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्रेष्ठ समीक्षक बनने के लिए 'क्लासिकल' साहित्य-शास्त्र का ज्ञान अपेक्षित नहीं है। दूसरा निष्कर्ष इससे भी खराब हो सकता है। वह यह कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र का अध्ययन श्रेष्ठ समीक्षक बनने में बाधक है। तीसरा सम्भव निष्कर्ष यह है कि उच्च कोटि का आलोचक बनने के लिए 'क्लासिकल' साहित्य-शास्त्र का अध्ययन काफ़ी नहीं है।

सम्भवतः उक्त तीन निष्कर्षों में अन्तिम सबसे अधिक सचाई के निकट है। किन्तु सिर्फ इस निष्कर्ष को स्वीकार कर लेने से यह समझ में नहीं आ सकता कि प्राचीन साहित्य-शास्त्र किस

अर्थ में, एवं किस प्रक्रिया से, हमारी समीक्षा-बुद्धि को विकसित अथवा पुष्ट करता है। इस समस्या पर विचार करते हुए हम पाठकों से एक यह नम्र निवेदन कर दें कि प्रस्तुत लेखक को प्राचीन साहित्य-शास्त्र की गहरी जानकारी का बिलकुल ही दावा नहीं है।

: २ :

साहित्य-शास्त्र का सामान्य प्रयोजन

आलोचना रसानुभूति की भौतिक व्याख्या है। आलोचक विश्लेषण करता है; वह हमारे मस्तिष्क में उन तत्त्वों की विश्लिष्ट चेतना उत्पन्न करता है जो किसी साहित्यिक कृति अथवा उसके किसी अंश को रसमय या नीरस बनाते हैं। काव्य की विशेषताओं को सामान्य नाम देने का अर्थात् सामान्य रूप में प्रकट करने का नाम ही साहित्य-शास्त्र है।

एक समझदार पाठक की दृष्टि से आलोचना एवं साहित्य-शास्त्र दोनों का उपयोग यह है कि वह उनकी मदद से अच्छे-बुरे साहित्य के विधायक तत्त्वों की सचेत अवगति प्राप्त करे। इस क्रिया द्वारा साहित्य का रस-ग्रहण एक अन्ध-व्यापार न रहकर चेतनामूलक व्यापार बन जाता है। आलोचना-शास्त्र की जानकारी रखने वाला पाठक अधिक सचेत भाव से साहित्य का रस लेता है, और विभिन्न कृतियों के सौष्ठव में विवेक करना सीखता है। स्वयं लेखकों के लिए भी आलोचना तथा साहित्य-शास्त्र का कम महत्त्व नहीं है। साहित्यिक सौन्दर्य के विधायक तत्त्वों की विश्लिष्ट चेतना द्वारा वे उन तत्त्वों का सचेत उपयोग करने की क्षमता प्राप्त करते हैं।

किन्तु साहित्य-शास्त्र का मुख्य प्रयोजन है हमारी रस-संवेदना का शिक्षण एवं परिष्कार। प्रत्येक प्रकार की साहित्यिक विचारणा का आधार साहित्यकारों की विद्यमान कृतियाँ होती हैं। उन कृतियों में से ही साहित्य-मीमांसक अपने उदाहरण चुनते हैं। इस प्रकार साहित्य के विचारक हमें इस बात का मौका देते हैं कि हम श्रेष्ठ कृतियों की कतिपय विशेषताओं को ज्यादा अवधान से देखें। इस दृष्टि से पढ़ा हुआ साहित्य-शास्त्र काव्य के मर्मस्थलों से निकट परिचय स्थापित करने का उपकरण बन सकता है। प्राचीन-साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों को विशेषतः उनके अलंकार-प्रकरणों को, प्रस्तुत लेखक प्रायः इसी लोभ से पढ़ता है कि वहाँ काव्य-रचना के चुने हुए उदाहरण सुलभ रूप में मिल जाते हैं।

इसके विपरीत अधिकांश पाठक, जिनमें प्रधानतया वे ही लोग होते हैं जो आलोचक बनने की धुन में हैं, साहित्य-शास्त्र को इस उद्देश्य से पढ़ते हैं कि वे शीघ्रता से कुछ ऐसे सूत्रों को पा जायँ जिनकी मदद से वे जल्दी-से-जल्दी साहित्य के निर्णायकों की पंक्ति में स्थान पा जायँ। ऐसे पाठकों का लक्ष्य साहित्य का अधिक रस लेना, अथवा रस लेने की क्षमता उत्पन्न करना उतना नहीं होता जितना कि एक प्रकार की शक्ति या अस्त्रों का संचय कर लेना। वे लोग स्वयं अपने शिक्षण अथवा 'डिसिप्लिन' के लिए नहीं, अपितु लेखकवर्ग पर हुकूमत या शासन करने के लिए, साहित्य-शास्त्र पढ़ते हैं। और क्योंकि साहित्य शास्त्र का परिज्ञान काफी मेहनत से होता है, इसलिए उनमें स्वभावतः यह धारणा उत्पन्न हो जाती है कि उन्होंने साहित्यिक सिद्धान्तों के रूप में किसी बहुत बड़ी चीज को हस्तगत कर लिया है। इस प्रकार के आलोचक-अध्येताओं में ऐसे कम ही होते हैं जो स्वयं साहित्य के अध्ययन में गहरा चाव रखते हों और उसके द्वारा अपनी रस-संवेदना का निरन्तर परिष्कार करते रहते हों। इन शक्ति-लिप्सु

आलोचक-पाठकों में प्रायः जिज्ञासा-वृत्ति भी तीव्र नहीं होती। फलतः वे इसका प्रयत्न भी नहीं करते कि बाद के अध्ययन द्वारा साहित्य-शास्त्रियों के बताये हुए सिद्धान्त-सूत्रों की परीक्षा करने का प्रयत्न करें। किन्तु जो साहित्य के प्रकृत विचारक होते हैं वे साहित्य-शास्त्र को प्रायः लगातार अपने अध्ययन द्वारा आँकते रहते हैं।

साहित्य के स्वतन्त्र विचारक को कुछ और भी करना पड़ता है। उसे देखना होता है कि विशिष्ट प्राचीन विचारक ने काव्य-सौष्ठव के उपादानों को कहाँ तक ठीक से देखा और वर्गीकृत किया है। दूसरे, वह यह निश्चय करने का प्रयत्न करता है कि साहित्य-मीमांसकों द्वारा दिये गए सिद्धान्त-सूत्र कहाँ तक अनुभूत साहित्यिक विशेषताओं की सन्तोषप्रद व्याख्या कर पाते हैं। एक वस्तुतः मौलिक विचारक साहित्यिक सौष्ठव के उपादानों को अपनी निराली दृष्टि से देखने तथा समझने का प्रयास करता है।

: ३ :

प्राचीन साहित्य-शास्त्र

संस्कृत-साहित्य का स्थान विश्व के चार-छः विकसित साहित्यों के साथ है। प्राचीन साहित्यों में यूनानी साहित्य का भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाद के साहित्यों में तो अँगरेजी, फ्रेञ्च, जर्मन आदि साहित्यों का भी नाम लिया जा सकता है। ये सभी साहित्य सम्पूर्ण अर्थ में प्रौढ़ साहित्य हैं। यहाँ प्रौढ़ता से तात्पर्य दो चीजों से है: एक अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता, दूसरे अभिव्यक्त संवेदना की प्रौढ़ता। दोनों दृष्टियों से प्रौढ़ साहित्य एक सुसंस्कृत, स्वतन्त्र जाति द्वारा ही उत्पन्न किया जा सकता है। संस्कृत-साहित्य के निर्माता इसी प्रकार की सभ्य एवं संस्कृत जातीय चेतना के प्रतिनिधि थे, इसीलिए संस्कृत का 'क्लासिकल' साहित्य पूर्ण अर्थ में प्रौढ़ साहित्य बन सका है। इसके विपरीत हिन्दी-साहित्य में—जिसके प्रतिनिधि कवि जायसी, सूर, तुलसी और बिहारीलाल हैं—अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता तो है, किन्तु जीवन-संवेदना की परिपूर्णता एवं परिपक्वता नहीं है। हिन्दी के साहित्यिकों ने अपने लम्बे इतिहास में मौलिक काव्य-शास्त्र का सृजन नहीं किया; उनकी नीति तथा जीवन-विवेक भी प्राचीन विचारकों से ग्रहण किया गया है। जीवन-संवेदना की दृष्टि से संस्कृत-काव्य की तुलना में हिन्दी-साहित्य एकांगी अथच अस्वस्थ सीमा तक धार्मिक अथवा परलोक-परायण है।

हम यह कहना चाह रहे हैं कि क्योंकि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र एक नितान्त प्रौढ़ साहित्यिक परम्परा के विश्लेषण पर आधारित है, इसलिए उसका अध्ययन रस-संवेदना के परिष्कार एवं चिन्तन की योग्यता के सम्पादन दोनों दृष्टियों से विशेष उपयोगी होना चाहिए। किन्तु किसी अध्येता में इस उपयोगिता का पूर्ण प्रतिफलन तभी हो सकता है, जब वह संस्कृत काव्य-शास्त्र का अध्ययन संस्कृत-ग्रन्थों के उदाहरणों के सम्पर्क में ही करे। कुछ आगे चलकर हम इस मन्तव्य को उदाहरण देकर स्पष्ट करेंगे।

यहाँ संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की कुछ सीमाओं का निर्देश करना भी आवश्यक है। ये सीमाएँ कुछ हद तक उस जीवन की सीमाओं से सम्बन्धित हैं जिनकी अभिव्यक्ति संस्कृत-साहित्य में हुई है। यूरोप, विशेषतः आधुनिक यूरोप की, और प्राचीन यूनान की भी, तुलना में भारतीय जीवन-धारा की प्रगति मन्थर रही है। हमारे इतिहास में फ्रांस तथा रूस-जैसी राजनीतिक

आर्थिक क्रान्तियाँ प्रायः कभी नहीं हुईं; राजनीतिक उथल-पुथल के नाम पर यहाँ शासन-प्रणालियों का नहीं, शासक व्यक्तियों अथवा वंशों का ही परिवर्तन होता रहा। विश्वासियों एवं अनुयायियों के इस देश में विचारगत क्रान्तियाँ भी कम ही हुई हैं। वस्तुतः हमारी समन्वयवाद की 'स्पिरिट' क्रान्तिकारी उथल-पुथल की विरोधी रही है। यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में हम समाज-शास्त्र अथवा ऐतिहासिक आलोचना-जैसी चीज़ को उगते हुए नहीं पाते। संस्कृत-साहित्य-मीमांसक साधारण तौर पर यह जानते थे कि काव्य नैतिक जीवन को प्रभावित करता है, किन्तु इस प्रभाव की गहराई एवं विस्तार की ठीक चेतना उन्हें नहीं थी। न वे यही समझते थे कि साहित्य का अपने देश-काल से आवश्यक लगाव होता है। सच पूछिये तो उनका समग्र साहित्यिक चिन्तन इस मान्यता पर अवलम्बित है कि मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन युग-युग में प्रायः वही बना रहता है। उनके मस्तिष्क में यह बात भी कभी नहीं आई कि जीवन-मूल्यों के निर्धारण में, शास्त्रवेत्ता धर्माचार्यों एवं दार्शनिकों के अतिरिक्त, साहित्यकारों का भी हाथ हो सकता है। यदि कोई प्राचीन साहित्य-मीमांसक आज आकर कविवर माइकेल मधुसूदन-दत्त का 'मेघनाद-वध'—जिसमें राम को नहीं, रावण को श्रेष्ठ घोषित किया गया है—पढ़े, तो उसे आश्चर्य और क्षोभ से सिर पीटकर रह जाना पड़े।

संक्षेप में, संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों को यह चेतना नहीं है कि साहित्यगत मूल्य युग-जीवन से भी निर्धारित या सम्बद्ध होते हैं। न उन्हें यही अवगत है कि एक महान् कलाकार किसी जाति या युग के समूचे जीवन की सम्भावनाओं का उद्घाटन या निरूपण करता है। फलतः जब कभी ये विचारक दो कवियों की तुलना करने बैठते हैं तो उनकी अभिव्यक्तिगत विशेषताओं के अतिरिक्त दूसरी चीजें प्रायः बिलकुल ही नहीं देख पाते। संस्कृत के किसी साहित्य-मीमांसक में आपको इस चेतना का आभास नहीं मिलेगा कि माघ अथवा श्रीहर्ष से कालिदास इसलिए श्रेष्ठतर हैं कि उन्होंने भारतीय जीवन एवं संस्कृति को अधिक समग्रता में उद्घाटित या चित्रित किया है।

इस आलोचना से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है। यह ज़रूरी नहीं कि एक महान् कलाकार का पूर्ण मूल्यांकन उसके समय में हो जाय। किसी भी समुन्नत युग की श्रेष्ठ कला-कृति जितनी पूर्ण होती है, यह आवश्यक नहीं कि उस युग का साहित्य-शास्त्र उतना ही पूर्ण हो। किसी भी युग में जीवन को समझने के प्रयत्न जीवन की समग्र जटिलता को पूर्णतया विश्लेषित करके समझ लें, यह जरूरी नहीं है। यही कारण है कि आज का श्रेष्ठ आलोचक कालिदास पर जितना सुन्दर समीक्षा-ग्रन्थ लिख सकता है, वैसा प्राचीन काल के किसी आचार्य के लिए सम्भव नहीं था। वस्तुतः प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने जहाँ काव्य को रस तथा अलंकारों की कसौटियों पर कसने का प्रयत्न किया, वहाँ उसे जीवन की जटिलताओं से सुसम्बद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया। कारण यह था कि उन युगों में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आज-जैसी क्रान्तियाँ नहीं होती थीं। अतएव, जीवन के स्थिर पहलुओं की अभिव्यक्ति में कोई विशेष ध्यान देने योग्य चीज न पाकर, प्राचीन साहित्य-शास्त्री अभिव्यक्तिगत निरालेपन—वक्रोक्ति तथा अलंकारों—को समझने का विशेष प्रयत्न करते रहे।

: ४ :

रस-निरूपण के अतिरिक्त भारत के प्राचीन साहित्याचार्यों ने काव्याभिव्यक्ति के गुण-

दोषों का जैसा विशद विवेचन किया है, वैसा अन्य किसी देश में मिलना कठिन है। भारतीय साहित्य-मीमांसकों की दृष्टि में जीवन के विभिन्न पक्ष समान रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति के विषय थे; रसों की विभिन्नता इसी तथ्य का स्वीकरण है। वहाँ भी शृङ्गार-रस की प्रधानता इसकी द्योतक है कि प्राचीन काल में साहित्य मुख्यतः आनन्द के लिए लिखा और पढ़ा जाता था। नाटक की विशिष्ट महत्ता का भी यही रहस्य है। आज के युग में नाटक साहित्य का उतना महत्त्वपूर्ण अंग नहीं रह गया है—क्योंकि वर्तमान जीवन की गहन जटिलता रंगमंच पर अभिनय द्वारा प्रदर्शनीय नहीं है। उस समय साहित्य पर राज्य का नियन्त्रण नहीं था, और न साहित्य में किसी ऐसे संघर्ष का चित्रण ही रहता था जो राज-शक्ति के लिए खतरनाक हो। इसलिए साहित्य के विचारक, काव्य में अभिव्यक्त जीवन की ओर से निश्चिन्त होकर, उस अभिव्यक्ति की पूर्णता के विधायक तत्त्वों की ओर विशेष ध्यान दे सके। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि उस युग के श्रेष्ठ साहित्यकार, साहित्य-शास्त्री विश्लेषण से पहले ही, वैसी पूर्णता को प्राप्त कर चुके थे। अपनी इस अभिव्यक्तिगत पूर्णता के कारण ही प्राचीन 'क्लासिकल' साहित्य आगे आने वाले युगों के लिए चिरन्तन आदर्श बना रहा है।

हम यह नहीं मानते कि प्राचीन विचारकों ने अभिव्यक्तिगत पूर्णता का जो विश्लेषण किया है, उसके उपादानों या उपकरणों की जो व्याख्या की है, वह अन्तिम या पूर्णतया सही है; किन्तु हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इस पूर्णता की जैसी चेतना प्राचीन साहित्यकारों एवं साहित्य-शास्त्रियों में थी वैसी आज के लेखकों तथा विचारकों में (विशेषतः अपने देश में) नहीं है। यही कारण है कि आज के लेखकों की नई-से-नई अनुभूति, उनकी नई-से-नई दृष्टि का प्रतिपादन, सशक्त एवं सप्राण अभिव्यक्ति के अभाव में प्रभावहीन बनकर विस्मृत हो जाता है। इस दृष्टि से छायावाद की श्रेष्ठतम रचनाएँ 'बिहारी की सतसई' से कठिनता से होड़ ले सकती हैं; प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी काव्य की स्थिति तो और भी खराब है।

हमारे मतानुसार काव्य साहित्य में अभिव्यक्तिगत पूर्णता की प्रतिष्ठा वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त जीवन-स्पन्दन स्पष्ट एवं प्रभविष्णु रूप ले पाता है। निबद्ध अनुरूप ही अभिव्यक्ति की भाषा मधुर अथवा कर्कश, रसाकुल अथवा बौद्धिक, चित्रमयी अथवा भावना-प्रधान, तरह-तरह की हो सकती है। इस सम्बन्ध में प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने अनेकानेक नियमों-उपनियमों का संकेत किया है, किन्तु मुख्य चीज है उनकी यह अन्तर्दृष्टि, जो न्यूनाधिक पूर्णअभिव्यक्तियों के सूक्ष्म अन्तर को बिना सन्देह के देख और पकड़ लेती है।

केवल एक उदाहरण से हम प्राचीन साहित्य-शास्त्र की इस महत्त्वपूर्ण लब्धि का आभास देंगे। 'काव्यालंकार सूत्र' तथा उसकी 'वृत्ति' के लेखक वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। यह रीति विशेष प्रकार की, अथवा विशिष्ट गुणों वाली पद-योजना है। इन गुणों का शब्द तथा अर्थ दोनों से सम्बन्ध होता है। वामन का विचार है कि कालिदास के निम्न श्लोक में 'वैदर्भी' रीति है, जिसका मतलब है कि उसमें काव्य-सौन्दर्य के विधायक अशेष गुण पाये जाते हैं।

श्लोक निम्न लिखित है :

गाहन्तां महिषा निपात सलिलं शृंगैर्मुहुस्ताडितम्।
छायाबद्ध कदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु॥

विस्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले ।
विश्रामं लभतामिदं च शिथिल ज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥

यह पद्य 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का है। अर्थ सीधा है। शकुन्तला में अनुराग हो जाने के बाद दुष्यन्त मृगया के कठोर कर्म को बन्द करके त्रासहीन, शान्त वातावरण के उत्पन्न होने की कामना करता है। कहता है—"बार-बार अपने सींगों से ताड़ित करती हुई भैंसें अब निःशंक पोखर के जल में किलोल करें; छाया में झुण्ड बनाकर बैठे हुए हिरण जुगाली करें; विश्वस्त भाव से वराहों के सरदार जल में प्रविष्ट होकर मुस्ता (एक प्रकार की घास) का उत्खनन करें; और हमारा यह धनुष भी, डोरी के बन्धन को शिथिल करके विश्राम-लाभ करे।"

वामन के एक प्रसिद्ध टीकाकार का मत है कि उक्त पद्य में ओज, प्रसाद तथा माधुर्य-गुण अपनी परिपूर्णता में विद्यमान हैं। इसी प्रकार समता, सौकुमार्य, उदारता, कान्ति, अर्थव्यक्ति-आदि गुण भी उसमें उपस्थित हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार उक्त श्लोक में ही नहीं, कालिदास की प्रायः समस्त रचनाओं में, 'वैदर्भी' रीति का पूर्ण निर्वाह किया गया है। हम नहीं जानते कि आज के प्रगतिवादी, क्रान्तिवादी, प्रयोगवादी, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक समीक्षक कालिदास की उक्त विशेषता अथवा वामन की उक्त प्रशंसा का क्या अर्थ लगायँगे और उस विशेषता या प्रशंसा को अपने अभिमत सिद्धान्तों की भाषा में किस प्रकार प्रकट करेंगे; किन्तु यह निश्चित है कि कोई भी रसज्ञ पाठक अथवा जिम्मेदार आलोचक कालिदास के कृतित्व के इस पहलू की उपेक्षा नहीं कर सकता। और, समकालीन आलोचकों के प्रभाव में, जो लेखक अभिव्यक्ति के उक्त गुणों की उपेक्षा करता है, वह विश्व-साहित्य को कोई स्थायी चीज दे सकता है इसमें सन्देह है।

हम यह कहना चाहते हैं कि 'क्लासिकल' साहित्य के विश्लेषकों ने आकुलताहीन अवकाश के उस युग में, पूर्ण अभिव्यक्ति की जिन विशेषताओं का साक्षात्कार किया था उसकी चेतना प्राप्त करना हमारे अपरिपक्व साहित्य के अर्धविकसित लेखकों के लिए नितान्त आवश्यक है। हमारे समीक्षकों के लिए भी, जो आजकल विभिन्न वादों और सिद्धान्तों से आक्रान्त एवं आतंकित हैं, यह कम आवश्यक नहीं है कि वे साम्प्रदायिक लेखकों से, अनुभूति की दिशा एवं क्षेत्र से भिन्न, उसकी उस सचाई एवं परिपक्वता की माँग करें जो अभिव्यक्तिगत पूर्णता में प्रतिफलित होती है।

आज स्थिति यह है कि वे आलोचक, जो अभिव्यक्ति की जरूरतों से परिचित हैं, लेखकों को नये अनुभव क्षेत्रों के उद्घाटन तथा प्रकाशन की छूट नहीं देना चाहते—वे चाहते हैं कि नवीन लेखक बनी-बनाई लीकों पर चलते हुए घिसे हुए, पुराने विषयों पर लिखते रहें; इसके विपरीत नवीनतावादी आलोचक, जिनमें अधिकांश 'क्लासिकल' साहित्य के अभिव्यक्तिगत सौष्ठव से अपरिचित हैं, मात्र अनुभूति के विशिष्ट रूपों, क्षेत्रों एवं दिशाओं की ही माँग करते हैं और इसकी परवाह नहीं करते कि उनके अभिमत लेखक कहाँ तक अपने कृतित्व को प्रौढ़ता के धरातल पर ले जा सकते हैं। ये दोनों ही प्रकार के आलोचक हमारी साहित्य-सृष्टि के सफल अभियान के लिए खतरनाक हैं। सब प्रकार का अर्धसत्य खतरनाक होता है; किन्तु समीक्षक का अर्धसत्य स्रष्टा के अर्धसत्य से कहीं अधिक हानिकर और संकटावह बन जाता है। बात यह है कि समीक्षक मानवीय संस्कृति के मानों का संरक्षक है; एकांगी होकर वह विशिष्ट क्षेत्र में जितना अहित कर सकता है,

उतना एकांगी साहित्यकार नहीं। साहित्यकार का काम, शायद, केवल अपने युग की चेतना से चल जाय, किन्तु समीक्षक के लिए यह अनिवार्य है कि वह युग-युग की उच्च सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों से सुपरिचित हो।

: ५ :

अतिरिक्त टिप्पणी

वामन जिसे 'वैदर्भी' रीति कहता है उसके अंगभूत गुणों की व्याख्या करने का उसने सतर्क प्रयत्न किया है। टीकाकारों ने समझाया है कि किस प्रकार कालिदास के उद्धृत पद्य में विभिन्न गुणों की स्थिति है। विस्तार के भय से हमें इन नितान्त रोचक विवरणों को छोड़ देना पड़ा है। कहीं-कहीं लगता है कि वामन द्वारा कथित काव्य-गुण परस्पर विरोधी हैं, जैसे—पदों की सघन या समासयुक्त योजना ओज गुण है और शिथिल योजना प्रसाद गुण है। वामन ने इस आपत्ति का निराकरण करने की कोशिश की है, किन्तु शायद, सफल नहीं हुआ है। पाठकों को हम फिर स्मरण दिलाएँ—महत्त्व की बात यह जानना उतना नहीं है कि वामन ने अभिव्यक्तिगत पूर्णता का किस प्रकार विश्लेषण या व्याख्या की है; ज्यादा महत्त्व की बात है इस पूर्णता के विभिन्न स्तरों की चेतना होना। 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में जगह-जगह इस चेतना के उल्लेखनीय निदर्शन हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न शब्द-गुणों की व्याख्या करते हुए वामन ने बतलाया है कि नियोजित पदावली के थोड़े हेर-फेर से किस प्रकार अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में कमी-बेशी हो जाती है। यथा :

(१) 'भ्रमरी मंजु गीतयः' में श्लेष गुण है; 'भ्रमरी वल्गु गीतयः' में नहीं है।

(२) 'स्वचरण विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां, झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलञ्च' में उदारता गुण की अवस्थिति है; 'चरणकमललग्नैर्नूपुरैर्नर्तकीनां, झटिति रणितमासीन्मंजु चित्रं च तत्र' में नहीं।

काव्य-सौष्ठव के स्तरों के इस सूक्ष्म अन्तर को हृदयंगम करने के लिए विकसित संवेदना की अपेक्षा है। शायद कुछ पाठक समझें कि इस प्रकार का भेद-निरूपण कोरा पाण्डित्य-प्रदर्शन है और प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों का खामखयालीपन-मात्र है। बात ऐसी नहीं है। आधुनिक काल के अन्यतम कवि-समीक्षक टी० एस० इलियट ने शेक्सपियर, क्रिस्टोफर मॉरलो आदि की तुलना करते हुए उनकी समान दीखने वाली पंक्तियों में अन्तर देखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार का अन्तर देखने, महसूस करने की क्षमता उच्च कोटि की काव्य-रचना और उसके मूल्यांकन दोनों के लिए जरूरी है। हिन्दी में इस क्षमता के अभाव का एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन प्रसाद का 'कामायनी' काव्य और उसकी स्तुतिमूलक समीक्षाएँ हैं।

अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता अन्ततः अनुभूति की प्रौढ़ता का प्रतिफलन-मात्र है। कवि किसी भी जीवन-दर्शन को मानने वाला क्यों न हो—चाहे वह ईश्वरवादी हो अथवा नास्तिक, भौतिकवादी हो अथवा संशयवादी—उसे कभी भी कलात्मक महत्त्व के उक्त पैमाने की अवहेलना का अधिकार नहीं मिल सकता। किसी भी वाद या जीवन-दर्शन की परिधि में एक लेखक प्रौढ़-संवेदना-सम्पन्न भी हो सकता है और अप्रौढ़ या अपरिपक्व भी। समीक्षा का एक प्रमुख कार्य यह है कि वह लेखक विशेष के कृतित्व की पूर्णता अथवा परिपक्वता की जाँच करे। पिछले

२५-३० वर्षों से अर्थात् हिन्दी-समीक्षा के जन्म-काल से ही, हमारे समीक्षक ठीक यही काम नहीं करते रहे हैं। जीवन-दर्शन पर जोर देने की झोंक में वे यह पूछना भूलते रहे हैं कि विशिष्ट जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति 'अण्डर ग्रेजुएट' धरातल पर हो रही है, अथवा विश्व के श्रेष्ठतम मनीषियों की चेतना एवं रस-संवेदना के धरातल पर। 'कामायनी' आदि में निबद्ध दार्शनिक विचारों की अतिशय प्रशंसा के रूप में हमारी समीक्षा की यह अप्रौढ़ता निस्संकोच स्पष्टता से प्रकाशित होती रही है।

दि० के० बेडेकर

भरत-प्रणीत रस-सिद्धान्त : एक स्पष्टीकरण

लगभग एक साल पहले 'आलोचना' संख्या ३ और ४ में मैंने दो लेख लिखकर भरत के रस-सिद्धान्त का विवेचन किया था। इसके बाद रस-सिद्धान्त पर फिर विचार करने का प्रसंग करुण-रस के नाटकों का अध्ययन करते हुए आया। मेरा मत है कि करुण-रसपूर्ण नाटकों का उद्‌गम भी यज्ञ-पुरुष के बलिदान से उत्पन्न होने वाली भीषण तथा उदात्त दो प्रकार की मनोवृत्तियों में है। फिर मेरे मन में यह सवाल पैदा हुआ कि यज्ञोत्पन्न रस-व्यवस्था और यज्ञोत्पन्न करुण-रसपूर्ण नाटकों का आपस में केवल भाई-भाई का सम्बन्ध है अथवा उनका उससे ज्यादा घनिष्ठ सम्बन्ध है इस विषय में कुछ विचार मैं पुनः अपने हिन्दी-पाठकों के सम्मुख रख रहा हूँ।

भरत के बाद करुण-रस को रसराज का स्थान प्राप्त हुआ, हालांकि भरत की रस-व्यवस्था में उसे रौद्र-रस का अनुयायी ही माना गया है। स्वभावतः मैं सोचने लगा कि करुण-रस को गौण स्थान मिलने का क्या कारण था? भरत की रस-व्यवस्था पर फिर विचार करने के बाद भी करुण-रसपूर्ण नाटकों तथा रस-व्यवस्था के सम्बन्ध का स्पष्ट और सही ज्ञान मुझे नहीं हुआ। करुण-रस से रौद्र-रस की पुष्टि होती है। अतः करुण को रौद्र का अनुयायी मानने की बात भरत ने कही है। किन्तु सावाल यह है कि करुण जहाँ रौद्र का पोषक है वहाँ शृङ्गार का भी तो है? फिर भरत ने उसे शृङ्गार का अनुयायी क्यों नहीं माना? उसी प्रकार वीर की मृत्यु तो करुण-रस के उत्कर्ष की पराकाष्ठा है फिर भरत ने वीर-रस और करुण-रस का निकटतम सम्बन्ध क्यों नहीं स्वीकार किया? करुण-रस का अन्य रसों से क्या सम्बन्ध है? सारांश में इस प्रकार के अनेक प्रश्न मेरे मन में बराबर विद्यमान रहे।

इन प्रश्नों पर गहराई के साथ चिन्तन-मनन करते हुए एक बात मेरे मन में जम गई कि करुण को शृङ्गार या वीर-रस के बजाय रौद्र-रस से ही सम्बन्धित करने में भरत का कोई खास उद्देश्य है। भरत ने जो चार मुख्य रस तथा चार अनुयायी रस माने हैं उसके मूल में उसका विशिष्ट दृष्टिकोण तथा व्यापक अनुभव है। इसी कारण मुझे इस प्रश्न का उत्तर मिल गया कि करुण का रौद्र के साथ ही भरत ने रिश्ता क्यों जोड़ा है? यह उत्तर निस्सन्देह मेरी कल्पना की उपज है। यह आरोप लगाया जा सकता है कि मैं अपनी बात भरत के सिद्धान्तों पर लाद रहा हूँ। किन्तु मैं समझता हूँ कि उससे मूलभूत रस-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण होगा और उसकी सुसम्बद्धता तथा जीवनानुभूतियों से उसकी एकरूपता प्रकट होगी।

मैं अपनी बात को अगले पृष्ठ पर दिये गए वर्तुलाकार चित्र से स्पष्ट करूँगा। इस वर्तुलाकार चित्र से मेरी समझ में वह चीज फौरन आ गई जो पहले नहीं आती थी। महाकाव्यों, नाटकों आदि कला-कृतियों में देवता तथा राक्षस अथवा सात्विक तथा आसुरी शक्तियों के संघर्ष का स्वरूप प्रकट किया जाता है। इस संघर्ष में हार-जीत का सिलसिला जारी रहता है। कभी देवता लोग जीतते

हैं तो कभी राक्षस। यदि दुनिया का यही नियम न रहता तो निश्चय ही संघर्ष का सवाल ही न उठता। यदि हमेशा देवताओं की ही जीत होती तो दैत्यों का नाम भी मिट जाता। यदि हमेशा दैत्यों की ही जीत होती तो देवता रावण के जेलखाने में हमेशा के लिए बन्द रहते। यह केवल पौराणिक गाथा का सवाल नहीं है, बल्कि प्राचीन, आधुनिक तथा भविष्यकालीन मानव-जीवन का प्रश्न है। यह वर्तमान जीवन के प्रतिदिन के अनुभव का भी प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर किसी को अपने मन से नहीं देना है। वह तो हम अपने प्रत्यक्ष जीवन में अनुभव कर रहे हैं (उत्तर यह है कि अच्छी और बुरी भावनाओं या मानव तथा उसका प्रतिरोध करने वाली प्राकृतिक शक्तियों का संघर्ष प्रत्येक युग, प्रत्येक समाज तथा प्रत्येक मानव-हृदय में निरन्तर रूप से चल रहा है और उसका अन्त होना या उसमें बाधा पैदा होना सर्वथा असम्भव है।
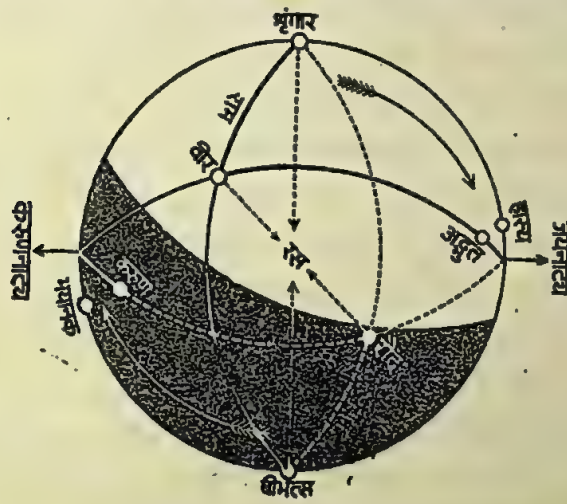
इसी संघर्ष का स्वरूप भरत के सामने था। इसलिए उसने चार मुख्य रस तथा चार अनुयायी रसों की व्यवस्था प्रस्तुत की। यह व्यवस्था इस वर्तुलाकार चित्र से स्पष्ट होगी और उसमें गति या आन्दोलन होने की कल्पना भी की जा सकेगी।

कोई भी महाकाव्य या नाटक लीजिए, उसमें हम कभी श्रृङ्गार-वीर युग्म का उत्कर्ष पायँगे, तो कभी अपकर्ष—इसी प्रकार कभी बीभत्स-रौद्र युग्म का उत्कर्ष दिखाई देगा, तो कभी अपकर्ष। एक ही महाकाव्य में आरोह-अवरोह का यह क्रम दिखाई देता है। 'रामायण' का ही उदाहरण लीजिए; धनुष-भंग के समय शंकर जी का धनुष तोड़ने का प्रयत्न करते हुए रावण के सीने पर जब धनुष गिरता है तो रावण की फजीहत होती है और हास्य-रस उत्पन्न होता है। वही धनुष जब भगवान् रामचन्द्र के हाथों से टूटता है तो अद्भुत रस उत्पन्न होता है। किन्तु हास्य-अद्भुत-रस भी ज्यादा देर तक नहीं टिकते और हमारे सामने कैकेयी की ईर्ष्या का रौद्र-बीभत्स रूप प्रकट होता है। यह ईर्ष्या सत्व गुण को पराजित करती है, जिसके परिणामस्वरूप ही जानकी के वनवास की करुण-कहानी शुरू होती है और दशरथ के मरने से अयोध्या नगरी में भयानक मुर्दनी छा जाती है। धीरोदात्त नाटक की विजय से हास्य-अद्भुत युग्म का प्रसन्नतापूर्ण वातावरण उत्पन्न होता है, किन्तु शीघ्र ही उसकी जीवन-नौका करुण-भयानक के समुद्र में डूब जाती है। यही खेल राम और सीता की लम्बी कहानी है। 'उत्तर रामचरित' विजय के शिखर से नीचे उतरने वाले नायक का चरित्र है जो करुण है। इसीलिए करुण ही एक-मात्र रस है यह

धारणा भवभूति को हुई। किन्तु सम्पूर्ण 'रामायण' कैसी है? वह न तो करुण है और न प्रसन्नता-पूर्ण ही। उसका रूप उस नौका की तरह है जो स्वर्ग और पाताल को छूने वाली बड़ी लहरों से आन्दोलित होती है। इसीमें 'रामायण' के हृदयस्पर्शी होने की सामर्थ्य का रहस्य छिपा है। मैं समझता हूँ कि समस्त महाकाव्यों की सामर्थ्य का भी यही रहस्य है!

उपरिनिर्दिष्ट युक्ति तथा चित्र की सहायता से कुछ सम्बन्धित प्रश्नों का हल कैसे होता है इस पर अब हम विचार करेंगे। शृङ्गार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र को मुख्य तथा करुण, भयानक हास्य तथा अद्भुत को गौण रस मानने का कारण यह बताया जा सकता है कि मुख्य रस हेतुस्वरूप और गौणरस फलस्वरूप हैं। हास्य तथा करुण-रस फलस्वरूप हैं। कार्य को प्रेरित करने वाले शृङ्गार-वीरादि रस मुख्य हैं। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत वर्णित हास्य, भय, आक्रमणशीलता, यौन-आकर्षण आदि भावनाओं से भरत-प्रणीत हास्य, करुण, वीर तथा शृङ्गारादि रसों का मेल नहीं बैठता, क्योंकि मनोविज्ञान को अलग-अलग व्यक्तियों का मानसिक विश्लेषण करते समय ये भावनाएँ मिली हैं। इसके विपरीत, भरत ने समष्टिरूप मानव-जीवन का विचार करके उसके संघर्षों के स्वरूप की खोज की और उसे रस के रूप में लोगों के सामने प्रस्तुत किया।

उक्त विवेचन से प्रोफेसर क्षीरसागर का यह मत ठीक जँचता है कि करुण-रसपूर्ण नाटक से भयानक-रस की प्रतीति होती है और उस 'भयानक' में भी 'अद्भुत' का अंश रहता है। किन्तु 'अद्भुत' की यह प्रतीति 'वीर' की जीत होने पर भी होती है। हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि किसी महापुरुष का विनाश होने पर उसके विनाश की सारी कारण-शृङ्खला हमारी समझ में नहीं आती। इसी प्रकार जब किसी महापुरुष या सिद्धान्त की विजय होती है, तो उसके भी ऐसे अनेक कारण होते हैं जो हमारी समझ में नहीं आते।

अब इसी प्रसंग में शान्त-रस के बारे में भी थोड़ा विचार करना बेहतर होगा। प्रश्न उपस्थित होता है कि जब जय और पराजय के दो कोणों के बीच आन्दोलित होने वाले जीवन का संघर्ष खत्म हो जायगा तब नाट्य-तत्त्व कहाँ रहेगा? इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न हमारे भारतीय दार्शनिकों ने किया है। इसीलिए भरत ने शान्त रस को भी नवाँ रस मानने की आवश्यकता महसूस की। यह सच है कि कुछ लोग जीवन में द्वन्द्वातीत अवस्था का अनुभव कर सकते हैं; किन्तु सवाल यह है कि जीवन और व्यक्ति में वर्तमान संघर्ष क्या हमेशा के लिए खत्म होगा? और यदि ऐसा हुआ तो यह कहना होगा कि मानव-जीवन के विकास का सिद्धान्त ही समाप्त हो गया।

यदि जीवन निरन्तर विकास के लिए एक संघर्ष-स्वरूप ही है तो फिर कला और नाटक में शान्त-रस का क्या स्थान है? भरत ने शान्त-रस को आठ रसों की अवस्था के बाहर जो स्थान दिया है, क्या वह उचित नहीं है? इन प्रश्नों का अधिक ऊहापोह करने के बजाय मैं अन्त में यही कहूँगा कि रस-व्यवस्था का उसके मूल रूप में अध्ययन करने पर ही हमें उसके गौरवपूर्ण रूप तथा रस-व्यवस्था में निहित जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण की जानकारी होगी। इस दृष्टि से भरत का महत्त्व आज भी अद्वितीय है।

आनन्दप्रकाश दीक्षित

रस की व्याख्याओं के दार्शनिक आधार

: १ :

दार्शनिकों की भूमि भारतवर्ष में काव्यात्मा रस का पल्लवन भी दार्शनिक आधार-भूमि पर ही हुआ है। मीमांसा, न्याय, सांख्य, शैव तथा वेदान्त दर्शनों ने रस-विचार को प्रभावित ही नहीं किया, प्रत्युत उसे मार्ग भी सुझाया है।

'रस-सूत्र' के प्रथम व्याख्याकार भट्ट लोल्लट का 'आरोपवाद' 'मीमांसा' की भूमि पर स्थित है। 'मीमांसा' वेदवादी दर्शन है और वेद की प्रामाणिकता के लिए किसी बाह्य साधन की खोज में विश्वास नहीं करता। अतएव, इसे 'स्वतः प्रामाण्यवाद' भी कहा जाता है। मीमांसकों का एक दल 'अख्यातिवाद' का पोषक है। उसका मत है कि किसी वस्तु के ज्ञान का प्रमाण वह वस्तु स्वयं है तथा किसी काल-विशेष में होने वाला किसी वस्तु का बोध उस काल में उस वस्तु का सत्य-ज्ञान ही है। भले ही अन्य किसी समय में हमें यह प्रतीत हो कि अमुक वस्तु वह नहीं है जो हमने समझी थी, किन्तु जिस समय उस वस्तु के सम्बन्ध में हमें जो बोध हो रहा है उस समय किसी विरोध का ज्ञान न होने के कारण वह ज्ञान ही हमारे लिए सत्य है। उदाहरणतः, रस्सी को पड़ी देखकर उसे सर्प समझने की दशा में दो प्रकार का ज्ञान ही काम करता है। एक है प्रत्यक्ष ज्ञान, जिसके कारण हम सामने पड़ी हुई किसी लम्बी टेढ़ी वस्तु को देख रहे हैं; दूसरा है तत्सदृश सर्प की पूर्वानुभूत स्मृति का ज्ञान। फलस्वरूप उस समय हमें एक सम्मिश्रित ज्ञान होता है और यह विवेक नहीं रहता कि यह दो पृथक् वस्तुएँ हैं अथवा दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध है। हम एक वस्तु को तत्सदृश कोई अन्य वस्तु समझकर उस पहली वस्तु पर किसी दूसरी वस्तु का आरोप कर लेते हैं और उसी प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं जैसा हमें दूसरी वस्तु के प्रति करना चाहिए। इस अवस्था के लिए, दार्शनिक शब्दावली में, संसर्गाग्रह की आवश्यकता नहीं, केवल असंसर्गाग्रह ही पर्याप्त है। असंसर्गाग्रह अर्थात् भिन्न तत्त्व के बोध न होने के कारण बोधा के लिए तत्कालीन ज्ञान सत्य ही है, भ्रम नहीं। मीमांसक की विचार-सरणि में भ्रम की कहीं सत्ता ही नहीं है।

'रस सूत्र' की व्याख्या-रूप में भट्ट लोल्लट द्वारा कथित—'स च रसः मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्येऽनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलात्'—वाक्य में प्रयुक्त 'अनुसन्धान' शब्द का विचार करते हुए परवर्ती आलोचकों ने उसका अर्थ 'आरोप' बताया है और सम्पूर्ण पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है कि : "नट में वास्तविक अनुकार्य रामादि का आरोप करके सामाजिक चमत्कृत होता है।" इस अर्थ में आये हुए आरोप शब्द के आधार पर कहा जा सकता है कि लोल्लट ने 'रस-सूत्र' की व्याख्या मीमांसा के आधार पर की है। उनके इस कथन को रस्सी तथा साँप वाले उदाहरण के आधार पर इस प्रकार समझा जा सकता है कि यों तो रस की

अवस्थिति वास्तविक अनुकार्य रामादि में ही है किन्तु नट भी अपने कौशल से ऐसा प्रदर्शन करता है कि हम उसे ही वास्तविक अनुकार्य अर्थात् रामादि समझकर चमत्कृत होते हैं। इस प्रकार व्याख्या करते हुए भट्ट लोल्लट ने जो भ्रम की शंका तक नहीं की उसका एक-मात्र कारण यही था कि उनके मीमांसा-सिद्धान्त में भ्रम को स्थान ही नहीं मिला है। जिस समय हम राम तथा नट के भेद का ज्ञान न रखकर नट को ही राम समझ लेते हैं, उतनी देर के लिए वही ज्ञान यथार्थ है, उसे हम भ्रम नहीं कह सकते। अन्य दार्शनिक उस स्थिति को भ्रम कहें तो कहें, लोल्लट को वह स्वीकार नहीं।

भट्ट लोल्लट के इस मत का दूसरा नाम 'उत्पत्तिवाद' भी दिया गया है। लोल्लट का कहना था कि : स्थायी भाव से विभावादि का संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार विभाव चित्त में स्थायी रहने वाली वृत्ति की उत्पत्ति में कारणस्वरूप होते हैं। यथा :

"विभावादि संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रस-निष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्।"

किन्तु, जिस प्रकार आने वाले आलोचकों ने लोल्लट के आरोपवाद को भ्रम-मात्र मानकर तिरस्कृत कर दिया उसी प्रकार उनके इस उत्पत्ति-सम्बन्धी विचार को भी नैयायिकों ने अस्वीकार कर दिया। व्यावहारिक दृष्टि से निमित्त-कारण के नष्ट हो जाने पर भी जिस प्रकार कार्य के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता और वह पूर्ववत् वर्तमान रहता है, उसी प्रकार विभावादि के नष्ट हो जाने पर रस को कोई हानि नहीं पहुँचनी चाहिए। उदाहरण के रूप में इसे नैयायिक यों कहेगा कि जिस प्रकार कुम्हार के मर जाने पर भी कार्य रूप घट वैसा ही बना रहता है वैसे ही विभावादि के नष्ट हो जाने पर भी रस को भी वैसा ही बना रहना चाहिए। किन्तु, रस को 'विभावादि-जीवतावधि' बताया गया है जिससे सिद्ध ही है कि वह विभावादि के साथ-ही-साथ नष्ट हो जाता है। अतएव लोल्लट के द्वारा, प्रतिपादित उत्पत्ति सिद्धान्त नितान्त भ्रामक है।

निमित्त कारण तथा कार्य वाली स्थिति यदि न भी स्वीकार की जाय और विभाव तथा रस के बीच ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध मानना चाहें तब भी नैयायिक उसे मानने में असमर्थ है। क्योंकि ज्ञाप्य के पूर्वतः वर्तमान रहते हुए ही ज्ञापक कारण का महत्त्व है। यदि ज्ञाप्य पहले से वर्तमान ही नहीं है तो ज्ञापक किसका ज्ञापन करेगा। उदाहरणतः; यदि अन्धकार में घट रहा हो तब तो दीपक उसे ज्ञापित करेगा अन्यथा उसके न रहने पर दीपक का प्रकाश कितना भी फैलाया जाय, उससे घट ज्ञापित नहीं होगा। उसी प्रकार जब लोल्लट पूर्व से ही रस की सत्ता स्वीकार नहीं करते तो विभावादि को उसका ज्ञापक मानना भी भ्रमात्मक ही है। तात्पर्य यह कि मीमांसक लोल्लट का खण्डन करते हुए दूसरा आचार्य सामने आया तो दर्शन की बाँह पकड़कर ही।

: २ :

दूसरे व्याख्याता शंकुक 'न्याय-दर्शन' के अनुयायी थे। उन्होंने न्यायानुमोदित अनुमान की प्रक्रिया का सहारा लेकर रस को अनुमेय सिद्ध करने की चेष्टा की। संक्षेप में इस सिद्धान्त का आधार इस प्रकार है—

जब हम किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं तब उस वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराने में जो साधक वस्तु काम में आती है, उसे हेतु अथवा लिंग कहते हैं। लिंग के द्वारा

होने वाला ज्ञान ही अनुमान-ज्ञान कहा जाता है। यह तीन प्रकार का है :—१. पूर्ववत्, २. शेषवत् तथा ३. सामान्यतोदृष्ट। जहाँ भविष्यत्-कार्य का अनुमान वर्तमान कारण से होता हो वहाँ 'पूर्ववत् अनुमान' होता है, जैसे—दृश्यमान मेघ से भविष्य में होने वाली वृष्टि का अनुमान। 'शेषवत् अनुमान' में कार्य देखकर विगत कारण का अनुमान किया जाता है, जिस प्रकार उमड़ती नदी को देखकर वर्षा का अनुमान करना। 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान' में अन्य दो के समान साधन-साध्य के बीच का कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं रहता; यथा—समय-समय पर चन्द्रमा आकाश के विभिन्न स्थानों पर दिखाई देता है। इससे उसकी गति को प्रत्यक्ष न देखकर भी हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि चन्द्रमा गतिशील है। इस प्रकार इस अनुमान का आधार है कि अन्यान्य वस्तुओं के स्थान-परिवर्तन के साथ-साथ उनकी गति का भी प्रत्यक्ष होता है।

अनुमान की सिद्धि में तीन बातों पर ध्यान दिया जाता है—(१) पक्ष, (२) साध्य और (३) हेतु। 'पक्ष' अनुमान का वह अंग है जिसके लिए अनुमान की सृष्टि होती है। 'साध्य' वह है जो पक्ष के सम्बन्ध में सिद्ध किया जाता है। जिसके द्वारा पक्ष के सम्बन्ध में साध्य सिद्ध किया जाता है वह 'हेतु' कहलाता है। वाक्यों द्वारा व्यक्त करते समय अनुमान में सबसे पहले पक्ष का सम्बन्ध साध्य के साथ स्थापित किया जाता है, जैसे—पर्वत वह्निमान है। तदुपरान्त उसका हेतु बतलाया जाता है। जैसे, क्योंकि पर्वत धूमवान है। अन्त में साध्य के साथ हेतु का अविच्छेद्य सम्बन्ध बताया जाता है। जैसे, जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग है, जैसे चूल्हे में। विशेषतः अनुमान के लिए (१) 'पक्ष' में 'हेतु' की स्थिति तथा (२) 'हेतु' और 'साध्य' में 'व्याप्ति सम्बन्ध' की स्थिति आवश्यक है।

अन्य व्यक्ति को समझाने के लिए अनुमान में पंचावयव वाक्य से काम लिया जाता है। यह वाक्य क्रमशः 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', 'उदाहरण' 'उपनय' तथा 'निगमन' हैं। जैसे—

१—राम मरणशील है।···प्रतिज्ञा।
२—क्योंकि वह मनुष्य है।···हेतु।
३—सभी मनुष्य मरणशील हैं। जैसे देवदत्त आदि।··· उदाहरण।
४—राम भी मनुष्य है।··· उपनय।
५—अतः वह मरणशील है।··· निगमन।

शंकुक के सिद्धान्त को समझने के लिए इस सारी पृष्ठभूमि को समझने की आवश्यकता थी। उनके अनुसार रसानुमिति इस प्रकार समझाई जायगी—

विभाव, अनुभाव तथा संचारियों की सहायता से रस की अनुमिति होती है। यह रस के लिए कारणस्वरूप हैं। इनको क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारी माना जायगा। उदाहरणतः सीता आदि आलम्बन विभाव तथा उपनयादि उद्दीपन विभाव स्थायी भाव के कारण माने जायँगे। भौंह की गति तथा कटाक्ष आदि उसी रति या अनुराग के कार्यस्वरूप हैं। लज्जा, हास आदि संचारी भाव रति के सहकारी समझे जायँगे। इस प्रकार विभाव रूपी कारण के द्वारा रति रूपी कार्य की सिद्धि होगी। यह स्थिति पूर्ववत् अनुमान से भिन्न नहीं है। रति कार्य सिद्ध किये जाने पर, शेषवत् से भिन्न नहीं है। तथा संचारी का सहकारी होना सामान्यतोदृष्ट की स्थिति है। तात्पर्य यह कि जब कहीं सुन्दर स्वच्छ चन्द्रिका में राम के द्वारा सीता के दर्शन का वर्णन, कटाक्ष आदि का निरूपण तथा लज्जा, हास आदि का वर्णन या दर्शन होता है तो हम तुरन्त अनुमान

करेंगे कि अमुक के हृदय में रति का उद्बोध हुआ।

पंचावयव वाक्य के द्वारा इसे इस प्रकार समझा सकेंगे कि :

(१) सीता के हृदय में राम के प्रति रति उत्पन्न हुई।···प्रतिज्ञा।

(२) राम को देखकर सीता ने प्रेममयी दृष्टि से राम की ओर दृष्टिपात किया।··· हेतु।

(३) जिसे राम से रति नहीं, वह इनकी ओर इस प्रकार दृष्टिपात नहीं करती।···जैसे, मन्थरा।··· उदाहरण।

(४) सीता विलक्षण कटाक्षादि से युक्त है।···· उपनय।

(५) अतः सीता राम-विषयक रति से युक्त है।··· निगमन।

शंकुक का अनुमिति सिद्धान्त भी विद्वानों के बीच सम्मानित न हो सका। इस मत के अनुसार भाव का अनुमान हो जाने पर ही रस का आस्वाद सम्भव हो पाता है। किन्तु, रस की प्रतीति में इस प्रकार का क्रम अथवा कारण-कार्य-सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि रसास्वाद पानक रस के आस्वाद के सदृश है जिसमें एक ही साथ गुड़-मिर्चादि का सम्मिलित स्वाद आता है। इस मत के स्वीकार करने पर रस को संलक्ष्यक्रम स्वीकार करना होगा। किन्तु रस वस्तुतः असंलक्ष्यक्रम माना गया है। अतएव इस दृष्टि से भी इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकेगा। अन्य अनेक आपत्तियों का निर्देश हमारे निबन्ध का लक्ष्य नहीं है।

: ३ :

शंकुक के अनुवर्ती भट्टनायक के सिद्धान्त की प्रसिद्धि भुक्तिवाद के नाम से हुई। किसी ने उन्हें मीमांसक बताया, किसी ने सांख्यानुगामी, और किसी ने वेदान्ती। अधिकांश विद्वान् उन्हें सांख्यानुगामी ही मानते है। संक्षेप में उनका मत इस प्रकार है—

निष्पत्ति का अर्थ है भोग। संयोग के द्वारा भोज्य-भोजक सम्बन्ध का संकेत किया गया है। इस रस-भुक्ति में क्रमशः तीन शक्तियाँ—अभिधा, भावना तथा भोजकत्व काम करती है। अभिधा से केवल शब्दार्थ-ज्ञान होता है। भावना के द्वारा विभावादी का साधारणीकरण होता है और साधारणीकरण होने पर सत्वोद्रेक के कारण जो एक प्रकार का प्रकाश-रूप आनन्द का ज्ञान है उसीका रस रूप में भोग किया जाता है। इस भोग में भोजकत्व व्यापार सहायक होता है।

सत्वोद्रेक तथा भोग शब्दों को लेकर इस मत का सम्बन्ध सांख्य से स्थापित किया गया है। सांख्य के अनुसार यह प्रकृति त्रिगुणात्मक है और स्वतन्त्र पुरुष भी बुद्धि के फेर में पड़कर इस त्रिगुण से प्रभावित होकर नाना रूपों में व्यक्त होता है। यह त्रिगुण संसार की प्रतिष्ठा के लिए इसी प्रकार मिलकर संचालित होते हैं; जैसे तेल, आग और बत्ती तीनों मिलकर प्रदीप के द्वारा प्रकाश करते हैं। इनमें कभी कोई प्रधान रहता है कभी कोई। किन्तु इनका स्वभाव अलग-अलग निश्चित है। सत्व में प्रीति, रज में अप्रीति तथा तम में विषादात्मकता है। अर्थात् प्रीतिमय होने के कारण सत्व सुखकर है, रज अप्रीति के कारण दुःखकारक और तम विषादात्मक है। सत्व लघु होने के कारण उच्चता की ओर जाता है। इस प्रकार सत्वोद्रेक के द्वारा आनन्द-प्राप्ति का विचार भट्टनायक को इसी सांख्य से मिला प्रतीत होता है।

'सांख्य' इस त्रिगुणात्मक बन्धन तथा त्रयताप से मुक्ति का उपाय खोजता है। उसके अनुसार पुरुष प्रकृति के बन्धन में पड़कर अपने-आपको भूल जाता है और त्रिगुण के कारण ही

जब तब उत्पन्न होने वाले दुःखों को अज्ञानवश अपना ही सुख-दुःख समझ बैठता है। अतएव इससे मुक्ति का एक-मात्र उपाय है अन्य दो गुणों को नष्ट करके सत्व की प्रधानता उपलब्ध करना। सत्वोद्रेक के सहारे ही पुरुष बुद्धि के प्रभाव से जनित अनेक बन्धनों का नाश करके अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है और कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है। यह कैवल्य की स्थिति ही सांख्य में मध्यस्थ स्थिति कही गई है और पुरुष को इस अवस्था में साक्षी द्रष्टा-मात्र माना गया है।[1] 'मध्यस्थ' का अर्थ टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने उदासीन बताते हुए उसे सुख एवं दुःख से हीन माना है। साथ ही कैवल्य के सम्बन्ध में उन्होंने बताया है कि इस स्थिति में सुख-दुःख अथवा मोह अर्थात् दूसरे शब्दों में सत्व, रज एवं तम, किसी की भी सत्ता नहीं रहती। यही मुक्ति की अवस्था है।

इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि भट्टनायक ने एक ही साथ भोग तथ परब्रह्मास्वाद की बात कहकर (परब्रह्मास्वादविधेन भोगेन परं भुज्यते इति) मानो दो विरोधी बातों का आश्रय लिया है। 'सांख्य' में यह स्पष्ट कहा गया है कि व्यक्ति दो दशाओं में से किसी एक का ही अवलम्ब ग्रहण करता है। या तो वह भोग अर्थात् सुखदुःखानुभूति की ओर आकृष्ट होता है अथवा अपवर्ग अर्थात् मोक्ष की ओर। अतएव दोनों दो विरोधी स्थितियाँ हैं। किन्तु भट्टनायक ने दोनों को स्वीकार करके सम्भवतः यह प्रदर्शित करना चाहा है कि एक ओर तो यह स्थिति वास्तविक सांसारिक सुखदुःखादि अनुभवसापेक्ष्य स्थिति से भिन्न है और दूसरी ओर यह साक्षात् ब्रह्मास्वाद न होकर उसके सदृश-मात्र है।

: ४ :

चौथे व्याख्याता आचार्य अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद शैव 'दर्शन' से प्रभावित है। उन्होंने रसदशा को 'वीतविघ्न प्रतीति' माना है और उसे निर्विघ्न संवित् बताया है। इस संवित् के अन्य पर्याय के रूप में उन्होंने चमत्कार, रस, स्फुरता आदि कई नाम भी रखे हैं। इनमें चमत्कार का शैवागमों में जो वर्णन किया गया है उसके आधार पर हम उसे विमर्श दशा भी कह सकते हैं। शैव-दर्शन में चमत्कार और विमर्श का पर्याय के रूप में प्रयोग किया भी गया है। तात्पर्य यह कि रसानुभूति की दशा विमर्श दशा है।

दार्शनिक विचार से विमर्श का तात्पर्य है स्वतन्त्र इच्छा। शैवागमों में जिस परम शिव का वर्णन किया गया है उसीकी स्वतन्त्र इच्छा के परिणाम-स्वरूप इस जगत् की अभिव्यक्ति कही गई है। अर्थात् वह सृष्टि-प्रसार के लिए किसी बाह्य उपादान पर निर्भर नहीं करता, बल्कि स्वतः उसके अन्तः में निहित सृष्टि इच्छा होते ही बाहर व्यक्त होने लगती है। इस प्रकार यह दशा स्वतन्त्र होने के कारण निर्विकल्प दशा भी कही जा सकती है। विकल्प का तात्पर्य होगा असीम और अबाधित को ससीम और बाधित अथवा परतन्त्र बना देना। वह परम शिव माया-जनित देश-काल की बाधा से सर्वथा स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र होने के कारण ही यह दशा विघ्न-विनिर्मुक्त संवित्ति, रसना, चर्वणा, निर्वृत्ति अथवा प्रमातृ-विश्रान्ति आदि नामों से भी पुकारी गई है। यथा :

"तथाहि लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोग-

---

१. देखिये, सां० का० १६।

समापत्तिलयविश्रान्त्यादि शब्दैरभिधीयते।"

इसी आधार पर अभिनव ने रस को विघ्नविनिर्मुक्त प्रतीति माना और स्थायी भावों को हमारे हृदय में पूर्व से ही वासना-रूप में स्थित स्वीकार किया। जिस प्रकार स्रष्टा परमशिव की अन्तःव्यापी इच्छा-मात्र से सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार सहृदय के हृदय में पूर्व से ही स्थायीभाव वासना-रूप में अवस्थित हैं और समय पाकर वही रस-रूप में व्यक्त हो जाते हैं। किन्तु जिस प्रकार परमशिव की इच्छा विघ्नहीन है उसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति के लिए भी सहृदय का हृदय अभिनव द्वारा गिनाये गए सात विघ्नों से मुक्त रहना चाहिए, तभी एक प्रकार की विश्रान्ति का अनुभव होता है।

इस विघ्नविनिर्मुक्त प्रतीति का स्वरूप किस प्रकार उपस्थित होता है इसके लिए अभिनव चार स्थितियों की कल्पना करते हैं। पहली स्थिति में हम रंगमञ्च पर व्यक्ति-विशेष को ही देखते हैं। इस प्रकार की स्थिति में हमारी चक्षुरिन्द्रिय ही सहायक होती है। किन्तु संगीतादि के प्रभाव से सहृदय की कल्पना धीरे-धीरे उदित होने लगती है और तब व्यक्ति-विशेष अपने व्यक्तित्व को त्यागकर हमारे सम्मुख सामान्य रूप में ही आते हैं। यह स्थिति शैवागमों की 'आभास' स्थिति ही है। अर्थात् इससे व्यक्ति-विशेष का तो बोध नहीं होता किन्तु द्वैत बना रहता है। सहृदय 'मैं' और 'वह' का भेद जानता रहता है। दोनों मिलकर अद्वैत स्थापित नहीं करते। यही दूसरी स्थिति है जिसके सम्पन्न होने पर व्यक्ति धीरे-धीरे लीन होने लगता है और उसके चित्त में अवस्थित स्थायी भाव फिर तीसरी अवस्था में न तो उसके अपने रहते हैं न किसी अन्य से उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध रहता है। विभावादि के व्यक्तित्व के लोप के साथ यह वासनात्म तथा स्थित स्थायीभाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगते हैं। अब यदि सहृदय का चित्त किसी प्रकार के विघ्न से प्रभावित नहीं है तो वह इसी साधारणीकृत उद्बुद्ध स्थायीभाव का रस-रूप में आनन्द लेने लगता है। यही चौथी और अन्तिम स्थिति है। अभिनव ने 'शाकुन्तल' में आये हुए उस दृश्य को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है जहाँ दुष्यन्त मृग का पीछा करता हुआ दिखाया गया है। यह बात उन्होंने निम्न शब्दों में कही है :

"तस्य च ग्रीवाभंगाभिराममित्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकापहसिततद्वाक्योपात्तदेशकालादिविभागा तावत् प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितं, तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्तो मध्यस्थोवेत्यादि प्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतभानादिबुद्ध्यंतरोदयानियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यां विलक्षण निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्य' साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्त्तमानं भयानको रसः।"[1]

इससे स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि 'वीतविघ्नप्रतीति ग्राह्यो भाव एव रसः' में अभिनव गुप्त का भाव शब्द से स्थायीभाव का ही तात्पर्य था न कि विभावादि की साधारणीकृत अवस्था का द्योतन कराना। उनके विचार से स्थायीभाव का ही साधारणीकरण होता है, विभावादि का नहीं; और वही फिर रस-रूप में आस्वाद भी किया जाता है। विभावादि तो उसके व्यंजक अर्थात् साधन-मात्र हैं। उनका विचार स्पष्ट रूप से यही है कि 'हमें रति आदि स्थायीभाव की प्रतीति तटस्थ भाव से ही होती है। अर्थात् हम किसी की रति का अनुभव न करके केवल रति

१. अ० भा० पृष्ठ २०१।

मात्र की प्रतीति करते हैं। इस अवस्था में हमें परात्मता के निश्चित स्वरूप का भी ज्ञान नहीं रहता। यही कारण है कि उस अवस्था में सुख अथवा दुःख का अनुभव नहीं रहता। इस प्रकार शृङ्गार संवित् के द्वारा गोचरीभूत साधारणीकृत रति ही है।''

''अतएव तटस्थतया रत्यवगमः, न च नियतकारणतया, येनार्जनाभिष्वंगादिसंभावना न च नियतपरात्मैकगततया येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणभूता संतानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरीभूता रतिः शृङ्गारः।''[1]

स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने 'रस' शीर्षक के अन्तर्गत शैव दर्शन को ही अभिनव के सिद्धान्त के पृष्ठाधार के रूप में देखते हुए कतिपय अन्य बातों की ओर भी आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया है। उनका विचार इस प्रकार है :

''अभिनव गुप्त ने रस की व्याख्या में आनन्द-सिद्धान्त की अभिनेय काव्य वाली परम्परा का पूर्ण उपयोग किया। शिव-सूत्रों में लिखा है—नर्तक आत्मा, प्रेक्षकाणि इन्द्रियाणि। इन सूत्रों में अभिनय को दार्शनिक उपमा के रूप में ग्रहण किया गया है। शैवाद्वैतवादियों ने श्रुतियों के आनन्दवाद को नाट्यगोष्ठियों में प्रचलित रखा था। इसलिए उनके यहाँ रस का साम्प्रदायिक प्रयोग होता था। 'विगलितभेदसंस्कारमानन्दरसप्रवाहमयमेव पश्यति'—क्षेमराज। इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में है। अभिनव गुप्त ने नाट्य-रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द-रस को पल्लवित किया।''[2]

तात्पर्य यह कि प्रसाद जी रस का सम्बन्ध समरसता-सिद्धान्त से जोड़ते हैं। यह समरसता जीवात्मा परमात्मा की वह अवस्था है जिसमें उनका सम्बन्ध परस्पर दम्पति के सम्बन्ध के समान रहता है और जहाँ जाकर द्वैत भी अमृतोपम लगने लगता है। अर्थात् जिस प्रकार दम्पति एक-दूसरे के लिए सब-कुछ त्याग करते और दूसरे के सुख में ही सुखी रहते हुए अमृत के समान आनन्द का उपभोग करते हैं उसी प्रकार साधारणीकरण अवस्था में पहुँचे हुए स्थायीभाव के द्वारा संवित्विश्रान्ति की स्थिति में हमें केवल रस का ही आस्वाद होता है। इसी समरसता को शैवागमों ने इस प्रकार बताया है :

''जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
स्त्रियोरिवदम्पत्योः जीवात्मपरमात्मनोः॥''

: ५ :

आगे चलकर पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रस सूत्र' की व्याख्या में वेदान्त का प्रयोग करते हुए 'आवरण भंग' की प्रक्रिया जोड़ दी। उनके विचार से आवरण के भंग हो जाने के अनन्तर ही वृत्ति में स्वप्रकाश रूप आनन्दात्मक चित्त का प्रतिबिम्ब पड़ता है। तदनन्तर वह स्थिति आती है जिसमें चित्त और चैतन्य का अभेद प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार वृत्ति चिन्मयी हो जाती है। ऐसा न होने पर विभाव आदि के आधार पर वृत्ति की स्वप्रकाशता उत्पन्न हो जाने पर भी उसकी आनन्दात्मकता सिद्ध नहीं होगी।

वेदान्त में चित् के प्रतिबिम्ब का ही दूसरा नाम है—आभास। इसीसे चित् का अनुमान

---

१. अ० भा०।
२. पृष्ठ ७६।

होता है जिस कारण उसे साक्षिभास्य कहा गया है। अतएव कहा जा सकता है कि रस चित् के प्रतिबिम्ब में प्रकाशित होने वाले विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव से मिश्रित रति आदि स्थायीभाव के रूप में प्रकट एक चित्तवृत्ति ही है।

रस की उत्पत्ति और विनाश के सम्बन्ध में भी उन्होंने विचार करते हुए कहा कि "रस को ध्वनित करने वाले विभावादिकों के अथवा उनके संयोग से उत्पन्न किये हुए अज्ञान रूप आवरण के भंग की उत्पत्ति और विनाश के कारण ही रस की भी उत्पत्ति और विनाश मान लिये जाते हैं।"

रस का सम्बन्ध सविकल्पक समाधि से जोड़ने की चेष्टा भी पण्डितराज की ओर से की गई। उन्होंने समझाया कि "सहृदय पुरुष जो विभावादिकों का आस्वादन करता है, उसका सहृदयता के कारण, उसके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव के द्वारा, काव्य की व्यंजना से उत्पन्न की हुई उसकी चित्त-वृति, जिस रस के विभावादिकों का उसने आस्वादन किया है, उसके स्थायीभाव से युक्त अपने स्वरूपानन्द को अपना विषय बना लेती है—अर्थात् तन्मय हो जाती है। जैसी कि सविकल्पक समाधि में योगी की स्थिति हो जाती है।"[1]

किन्तु, "यह चर्वणा परब्रह्म के आस्वादरूप समाधि से विलक्षण भी है। क्योंकि इसका आलम्बन विभावादि विषयों—सांसारिक पदार्थों, से युक्त आत्मानन्द है और समाधि के आनन्द में विषय साथ नहीं रह सकते।"[2]

इस रसास्वाद के आनन्द का प्रमाण पण्डितराज ने श्रुतियों की 'रसो वै सः' तथा 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' पंक्तियों का सहारा लेकर उपस्थित किया। इस प्रकार श्रुति का सहारा लेने से रस के एक होते हुए भी उसकी अनेकता भी प्रतिपादित हो गई। क्योंकि चिदानन्द के समान रस के एक होते हुए भी उपाधि स्वरूप उक्त वृत्ति के विविध विभावादि से उत्पन्न होने के कारण रस में भी अनेकता की सिद्धि हो गई। 'रसो वै सः' के द्वारा जहाँ एक ओर 'चिदात्मक रस' का संकेत किया गया वहाँ दूसरी ओर दूसरी श्रुति के सहारे 'वृत्तिरूप रस' की भी स्वीकृति दे दी गई।

रस की इसी एकात्मता तथा विविधता के सम्बन्ध में विचार करते हुए प्रसाद जी ने दार्शनिक दृष्टियों को निम्न रूप में रखा है :

"वासनात्मक रूप में स्थित रति आदि वृत्तियों में ब्रह्मास्वाद की कल्पना साहित्य में महान् परिवर्तन लेकर उपस्थित हुई।...आनन्दवादियों की यह व्याख्या उन सब शंकाओं का समाधान कर देती है—(जो विविधता तथा एकता के सम्बन्ध में थी।) उनके यहाँ कहा गया है—'लोकानन्दः समाधिसुखम्, (शिव सूत्र १८)। क्षेमराज उसकी टीका में कहते हैं 'प्रमातृपदविश्रान्ति अवधानान्तरचमत्कारमयो य आनन्द एतदेव अस्य समाधिसुखम्।' इस प्रमातृपद-विश्रान्ति में जिस चमत्कार या आनन्द का लोकसंस्था आनन्द के नाम से संकेत किया गया है, वही रस के साधारणीकरण में प्रकाशानन्दमय विश्रान्ति के रूप में नियोजित था। इन आलोचकों का यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि चित्तवृत्तियों की आत्मानन्द में तल्ली-

१. र० गं० पृ० ६०।
२. पृ० ६२।

नता समाधिसुख है। साहित्य में भी इस दार्शनिक परिभाषा को मान लेने से चित्त की स्थायी वृत्तियों की बहुसंख्या का कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया। सब वृत्तियों का प्रमातृपद —अहम् में विश्रान्ति होना ही पर्याप्त था। अभिनव के आगमाचार्य गुरु उत्पल ने कहा है कि—"प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः।"

"प्रकाश का यहाँ तात्पर्य है—चैतन्य। वह चेतना जब आत्मा में ही विश्रान्ति पा जाय, वही पूर्ण अहं भाव है। साधारणीकरण द्वारा आत्म-चैतन्य का रसानुभूति में, पूर्ण अहंपद में विश्रान्ति हो जाना आगमों की ही दार्शनिक सीमा है। साहित्यदर्पणकार की रस-व्याख्या में उन्हीं लोगों की शब्दावली भी है—सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः, इत्यादि।"

"यह रस बुद्धिवादियों के पास गया, तो धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया कि रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्त्व है। फिर तो—'चमत्कारापरपर्याय अनुभव सात्विक रस को पण्डितराज जगन्नाथ ने आगमवादियों की ही तरह 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवालब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' के प्रकाश में आनन्द ब्रह्म ही मान लिया।"[1]

सारांश यह कि इस प्रकार रस-सूत्र के विभिन्न व्याख्याताओं के विचारों से परिचित होने पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि रस-सिद्धान्त एक दार्शनिक आधार-भूमि पर पनपा है। भिन्न-भिन्न दार्शनिक मतों के प्रकाश में इसका विवेचन किया गया है यहाँ तक कि रस की एकता-अनेकता का विचार भी इन दार्शनिक सरणियों के ही आधार पर किया गया और उसे ब्रह्मास्वाद के सदृश कहने अथवा समाधिसुख के समान कहने की चेष्टा भी इन्हीं दार्शनिक मतों का ही परिणाम है। अतएव रस-निष्पत्ति तथा समस्त रस-विवेचन कोई ऐसी सरल बात नहीं है जिसे तुरन्त ही ग्रहण कर लिया जाय, इसके समझने के लिए दार्शनिक आधार-भूमि की आवश्यकता है।

---

१. पृष्ठ ७६-७७

डॉक्टर नगेन्द्र

वामन के काव्य-सिद्धान्त

विवेचन-क्षेत्र

आचार्य वामन ने सामान्य रूप से काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, अधिकारी, काव्य-हेतुक, काव्य की आत्मा तथा काव्य के रूप आदि का और विशेष रूप से रीति, गुण—शब्द-गुण तथा अर्थ गुण, अलंकार, दोष और शब्द-प्रयोग आदि का सूक्ष्म विवेचन किया है। काव्य के प्रसिद्ध दशांग में से उन्होंने रस और शब्द-शक्ति की समीक्षा नहीं की; ध्वनि का तो उस समय प्रश्न ही नहीं था। नायिका-भेद का सम्बन्ध रस और रूपक से ही अधिक है, इसलिए वामन की योजना में उसको भी कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ, वैसे भी गम्भीर रुचि के आचार्यों ने उसकी उपेक्षा ही की है। इस प्रकार वामन ने काव्य के बहिरंग को ही प्रमुख रूप से अपना विवेच्य माना है और उसीकी सांगोपांग तथा सूक्ष्म-गहन व्याख्या की है। काव्य के आन्तरिक तत्त्वों में उन्होंने गुणों को ही ग्रहण किया है—रस का गुण के ही एक तत्त्व-रूप में उल्लेख किया गया है।

काव्य की परिभाषा और स्वरूप

वामन ने यद्यपि काव्य की परिभाषा पृथक् रूप से नहीं दी, फिर भी आरम्भ में ही उन्होंने काव्य के लक्षण और स्वरूप का निर्देश किया है : काव्य-शब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते—अर्थात् गुणों और अलंकारों से संस्कृत (भूषित) शब्द और अर्थ के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग होता है। इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है :—काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है।[1] अलंकार का अर्थ है सौन्दर्य और सौन्दर्य का समावेश दोषों के बहिष्कार और गुण तथा अलंकार के आदान से होता है। गुण नित्य धर्म हैं, अलंकार अनित्य—केवल गुण सौन्दर्य की सृष्टि कर सकते हैं परन्तु केवल अलंकार नहीं, अर्थात् गुण की स्थिति अनिवार्य है, अलंकार की वैकल्पिक। इस प्रकार वामन के अनुसार गुणों से अनिवार्यतः और अलंकारों से साधारणतः युक्त तथा दोष से रहित शब्द-अर्थ का नाम काव्य है। वामन की इसी परिभाषा को ध्वनिवादी मम्मट ने यथावत् स्वीकार करते हुए काव्य का लक्षण किया है :तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि—काव्य उस शब्दार्थ का नाम है जो दोषों से रहित गुणों से युक्त हो—साधारणतः अलंकृत भी हो, परन्तु यदि कहीं अलंकार न भी हो तो कोई हानि नहीं। अर्थात् दोषों से रहित तथा गुणों से अनिवार्यतः एवं अलंकारों से साधारणतः युक्त शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं। मम्मट ने वामन का सिद्धान्त-रूप से घोर विरोध किया है, परन्तु काव्य-लक्षण उन्होंने वामन का ही ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर दिया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र में वामन के पूर्व भरत, भामह और दण्डी के काव्य-लक्षण मिलते हैं। भरत का वामन से मौलिक मतभेद है; भरत

---

1. काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ॥१॥ सौन्दर्यमलंकारः ॥२॥ स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम् ॥३॥ (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : १,१)

अन्तर्तत्त्व-रस-को प्रधानता देते हैं, वामन बाह्य तत्त्व-रीति को। भामह और दण्डी भी देह-वादियों में ही आते हैं, अतएव इस प्रसंग में उन्हींके लक्षणों का तुलनात्मक विवेचन अधिक सार्थक होगा।

भामह का लक्षण इस प्रकार है : शब्दार्थौ साहितौ काव्यं। सहित अर्थात् सामञ्जस्यपूर्ण शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं। भामह ने शब्द और अर्थ के सामञ्जस्य को काव्य की संज्ञा दी है। इसी प्रकार दण्डी ने काव्य को 'इष्टार्थव्यवच्छिन्नापदावली'। अर्थात् अभिलषित अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली माना है। उपर्युक्त दोनों लक्षणों में केवल शब्दावली का भेद है। इष्टार्थ को अभिव्यक्त करने वाला शब्द और शब्द-अर्थ का साहित्य या सामञ्जस्य एक ही बात है, क्योंकि शब्द इष्ट-अर्थ की अभिव्यक्ति तभी कर सकता है जब शब्द और अर्थ में पूर्ण सामञ्जस्य एवं सह-भाव हो। आगे चलकर भामह और दण्डी के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य ही काव्य-सौन्दर्य है और वह अलंकार से अभिन्न है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य निसर्गतः अलंकारयुक्त होता है। भामह और दण्डी ने वास्तव में गुण और अलंकार में भेद नहीं किया—दोनों ही अलंकार हैं। देहवादी आचार्यों में कुन्तक का स्थान अन्यतम है। उनका मत है कि वक्रोक्तियुक्त बन्ध (पद-रचना) में सहभाव से व्यवस्थित शब्द-अर्थ ही काव्य है—शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम्...।

यहाँ भी मूल तथ्य वही है—वचन-भंगिमा भिन्न है। 'गुण और अलंकार से युक्त' के स्थान पर कुन्तक ने केवल एक शब्द 'वक्रकविव्यापारशाली' प्रयुक्त किया है। वास्तव में भामह तथा दण्डी के अलंकार और वामन के गुण तथा अलंकार को कुन्तक ने वक्रोक्ति में अन्तर्भूत कर लिया है, और वे उसी के प्रसार-मात्र बन गए हैं।

इनके विपरीत दूसरा वर्ग साहित्यिक आत्मवादियों का है, जिसके अन्तर्गत भरत, आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्य आते हैं। भरत ने रसमयी, सुखबोध्य मृदु-ललित पदावली को काव्य माना है। आगे के आचार्यों ने इसीमें संशोधन करते हुए उसे रसात्मक वाक्य अथवा रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द कहा है। इन आचार्यों ने स्पष्टतया आन्तरिक तत्त्व अर्थ-सम्पदा पर अधिक बल दिया है, जब कि उपर्युक्त साहित्यिक देहवादियों ने बाह्य रूपाकार पर।

इस पृष्ठभूमि में वामन के लक्षण का विवेचन करने पर निम्न लिखित तथ्य सामने आते हैं—

(१) वामन शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्त्व देते हैं—सहित शब्द का प्रयोग न करते हुए भी वे दोनों के साहित्य को ही काव्य का मूल अंग मानते हैं।

(२) दोष को वे काव्य के लिए असह्य मानते हैं : इसीलिए सौन्दर्य का समावेश करने के लिए दोष का बहिष्कार पहला प्रतिबन्ध है।

(३) गुण काव्य का नित्य धर्म है—अर्थात् उसकी स्थिति काव्य के लिए अनिवार्य है।

(४) अलंकार काव्य का अनित्य धर्म है—उसकी स्थिति वांछनीय है, अनिवार्य नहीं।

यह तो स्पष्ट ही है कि वामन का लक्षण निर्दोष नहीं है। लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से मुक्त होना चाहिए। उसकी शब्दावली सर्वथा स्पष्ट किन्तु सन्तुलित होनी चाहिए—उसमें कोई शब्द अनावश्यक नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से, पहले तो वामन का और वामन

के अनुकरण पर मम्मट का दोष के अभाव को लक्षण में स्थान देना अधिक संगत नहीं है। दोष की स्थिति एक तो सापेक्षिक है, दूसरे, दोष काव्य में बाधक तो हो सकता है, परन्तु उसके अस्तित्व का सर्वथा निषेध नहीं कर सकता। काणत्व अथवा क्लीबत्व मनुष्य में व्यक्तित्व की हानि करता है, मनुष्यता का निषेध नहीं करता। इसलिए दोषाभाव को काव्य-लक्षण में स्थान देना अनावश्यक ही है। इसके अतिरिक्त अलंकरण की वांछनीयता भी लक्षण का अंग नहीं हो सकती। मनुष्य के लिए अलंकार वाञ्छनीय तो हो सकता है, किन्तु वह मनुष्यता का अनिवार्य गुण नहीं हो सकता। वास्तव में, लक्षण के अन्तर्गत वांछनीय तथा वैकल्पिक के लिए स्थान ही नहीं है। लक्षण में मूल पार्थक्यकारी विशेषता रहनी चाहिए: भावात्मक अथवा अभावात्मक सहायक गुणों की सूची नहीं। इस दृष्टि से भामह का लक्षण "शब्द-अर्थ का साहित्य" कहीं अधिक तत्त्वगत तथा मौलिक है। जहाँ शब्द हमारे अर्थ का अनिवार्य माध्यम बन जाता है वहीं वाणी की सफलता है। यही अभिव्यञ्जनावाद का मूल सिद्धान्त है। क्रोचे ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसीका स्थापन और विवेचन किया है। आत्माभिव्यञ्जन का सिद्धान्त भी यही है। मौलिक और व्यापक दृष्टि से भामह का लक्षण अत्यन्त शुद्ध और मान्य है: परन्तु इस पर अतिव्याप्ति का आरोप किया जा सकता है, और परवर्ती आचार्यों ने किया भी है। आरोप यह है कि यह तो अभिव्यञ्जना का लक्षण हुआ—काव्य का नहीं। शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य उक्ति की सफलता है—अभिव्यञ्जना की सफलता है। परन्तु क्या केवल सफल उक्ति अथवा सफल अभिव्यञ्जना ही काव्य है? हमारे आचार्यों ने—भरत से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक ने—इसका निषेध किया है। उधर विदेश में भी अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स तक सभी ने इसका प्रतिवाद किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में इसीलिए विश्वनाथ को 'रसात्मक' शब्द का प्रयोग करना पड़ा और पण्डितराज जगन्नाथ को 'रमणीयार्थप्रतिपादक' विशेषण लगाना पड़ा। शुक्लजी ने भी इसीलिए रमणीय और रागात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। इन आचार्यों के अनुसार प्रत्येक अर्थ और शब्द का सामञ्जस्य काव्य नहीं है—रमणीय अर्थ और शब्द का सामञ्जस्य ही काव्य है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक (सफल) उक्ति काव्य नहीं है, सरस या रमणीय (रमणीय अर्थ को व्यक्त करने वाली) उक्ति ही काव्य है। अरस्तू ने भी भाव-वैभव पर इसी दृष्टि से अधिक बल दिया है और आधुनिक मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्स भी, जो कि काव्य को मूलतः एक अनुभव मानते हैं, इस अनुभव के लिए-प्रकार की दृष्टि से नहीं—प्रभाव आदि की दृष्टि से, कतिपय गुणों की स्थिति अनिवार्य मानते हैं। स्थूल शब्दों में प्रत्येक अनुभव काव्य नहीं है—समृद्ध अनुभव[1] ही काव्य है।

परन्तु इस तर्क के विरुद्ध भामह के लक्षण के समर्थन में भी युक्ति दी जा सकती है, और वह यह कि शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य अपने-आपमें ही रमणीय होता है, उसके लिए रमणीय विशेषण की आवश्यकता नहीं। क्रोचे का यही मत है कि सफल उक्ति स्वयं सौन्दर्य है—उसके अतिरिक्त सौन्दर्य कोई बाह्य तत्त्व नहीं है। "सफल अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य है—या यों कहिये कि अभिव्यञ्जना ही सौन्दर्य है, क्योंकि असफल अभिव्यञ्जना तो अभिव्यञ्जना ही नहीं होती।" (क्रोचे)। भारतीय काव्य-शास्त्र में कुन्तक की सूक्ष्म दृष्टि इस तथ्य तक पहुँची है और उन्होंने इस विरोधाभास को दूर करने का प्रयत्न किया है। एक स्थान पर उन्होंने साहित्य अर्थात्

1. रिच एक्सपीरियन्स

शब्द और अर्थ के सहभाव का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शब्द और अर्थ का यह सहभाव केवल वाच्य-वाचक-सम्बन्ध-रूप नहीं होना चाहिए; उसमें तो वक्रता-वैचित्र्य गुणालंकार-सम्पदा की मानो परस्पर स्पर्धा रहनी चाहिए।[1] अन्यथा केवल वाच्य-वाचक-सम्बन्ध होने से तो वह आह्लादकारी नहीं होगा।[2] परन्तु अन्यत्र अपने आशय को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि शब्द-अर्थ के साहित्य का अभिप्राय है अन्यून-अनतिरिक्त प्रयोग के कारण इन दोनों की मनोहारिणी अवस्थिति। इससे स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि शब्द-अर्थ का अन्यून-अनतिरिक्त प्रयोग और तज्जन्यपूर्ण सामञ्जस्य अथवा साहित्य (सहभाव) स्वयं ही मनोहारी होता है।[3]

वामन का काव्य-लक्षण उपर्युक्त लक्षणों की अपेक्षा स्थूल है—'गुण और अलंकार से युक्त' तथा 'दोष से रहित' शब्दावली तत्त्व को शब्दबद्ध नहीं करती—केवल गुणों का वर्णन करती है। वैसे यह लक्षण अशुद्ध नहीं है, क्योंकि गुण और अलंकार के अन्तर्गत वामन ने काव्य-गत सौन्दर्य के विभिन्न रूपों को अन्तर्भूत करके उन्हें एक प्रकार से सौन्दर्य के पर्याय-रूप में ही प्रयुक्त किया है : सौन्दर्यमलंकारः। अतएव वामन के लक्षण का संक्षिप्त रूप यह हुआ : "सुन्दर (सौन्दर्यमय) शब्दार्थ काव्य है।" और, यह लक्षण बुरा नहीं है। परन्तु वामन ने कदाचित् गुण और अलंकार का जान-बूझकर प्रयोग इसलिए किया है कि उनका रीति-सिद्धान्त मूलतः गुण और सामान्यतः अलंकार पर ही आश्रित है, अतएव अपने वैशिष्ट्य को व्यक्त करने के लिए उनका प्रयोग वामन के लिए अनिवार्य हो गया है।

फिर भी, कारण चाहे कुछ भी रहा हो, यह लक्षण तात्त्विक न रहकर वर्णनात्मक हो गया है। अतएव लक्षण की दृष्टि से वह सर्वथा श्लाघ्य नहीं है।

काव्य की आत्मा :

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है : रीतिरात्मा काव्यस्य। जो सम्बन्ध शरीर का आत्मा के साथ है, वही शब्द-अर्थ रूप काव्य-शरीर का रीति के साथ है। रीति का अर्थ है विशिष्ट पद-रचनाः—विशिष्टा पद रचना रीतिः। विशिष्ट का अर्थ है गुणयुक्त : विशेषो गुणात्मा। इस प्रकार 'रीति' का अर्थ हुआ गुण-सम्पन्न पद-रचना और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का अर्थ हुआ : गुणसम्पन्न पद-रचना काव्य की आत्मा है।

रीति के स्वरूप को और स्पष्ट करते हुए वामन ने लिखा है कि इन तीन रीतियों के भीतर काव्य इस प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र।[4] इन तीन रीतियों (वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली) में से वैदर्भी ही ग्राह्य है।[5] इसमें ही अर्थ-गुण-सम्पदा का पूर्णतया आस्वादन किया जा सकता है। उसके उपधान (आश्रय) से थोड़ा-सा अर्थ-गुण भी

---

१. वक्रता विचित्र गुणालंकार सम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः।
२. अन्यथा तद्विदाह्लादका रित्वहानिः।
३. साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काऽप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥
४. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति। तासां पूर्वा ग्राह्या ॥१४॥
५. तस्यामर्थगुणसम्पदास्वाद्या भवति ॥२०॥ तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि ॥२१॥
तदुपधानतः खल्वर्थलेशोऽपि स्वदते।

आस्वाद्य (चमत्कार पूर्ण) हो जाता है। सम्पन्न अर्थ-गुण का तो कहना ही क्या ![1]

उपर्युक्त विवेचन से कतिपय स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं। काव्य मूलतः पद-रचना है—अर्थात् वामन ने वस्तु और रीति (शैली) में रीति (शैली) को ही प्रधानता दी है। रीति का स्वरूप बहुत-कुछ बाह्य ही है : चित्र में जो रेखा का स्थान है वही काव्य में रीति का। पर, काव्य उसीमें निहित रहता है। वस्तु, जिसके लिए वामन ने अर्थ-गुण-सम्पदा शब्द का प्रयोग किया है, उसीके आश्रित है। रीति के उपधान से ही उसका सौन्दर्य निखरता है। इस प्रकार वामन वस्तु को रीति के आश्रित मानते हैं, परन्तु वे वस्तु-तत्त्व का निषेध नहीं करते। उसका पृथक् अस्तित्व वे निस्सन्देह स्वीकार करते हैं; उन्होंने इसीलिए अर्थ-गुण-सम्पदा और अर्थलेप इन दो परिमाण-सूचक शब्दों का प्रयोग किया है।

वस्तु और रीति के सापेक्षिक महत्त्व के विषय में साधारणतः चार सिद्धान्त हैं—

(१) एक सिद्धान्त तो यह है कि काव्य का मूल तत्त्व वस्तु (भाव तथा विचार तत्त्व) ही है : रीति सर्वथा उसीके आश्रित है। रीति केवल वाहन अथवा माध्यम है जो वस्तु की पूर्णतया अनुवर्तिनी है। महान् काव्य-वस्तु अनिवार्यतः महान् शैली की अपेक्षा करती है। क्षुद्र वस्तु का माध्यम क्षुद्र ही होगा। स्वदेश-विदेश के प्राचीन आचार्यों का प्रायः यही मत रहा है। प्राचीन समृद्ध काव्य इस सिद्धान्त का उदाहरण है। यूनान के प्रसिद्ध नाट्यकार एस्काइलस ने अत्यन्त प्रबल शब्दों में इसकी घोषणा की थी :

"ह्वेन द सब्जैक्ट इज़ ग्रेट..., देन ऑफ़ निसैसिटी ग्रेट ग्रोज द वर्ड।"—काव्य-वस्तु के महान् होने से शैली अनिवार्यतः महान् हो जाती है। अरस्तू, लोंजाइनस, इधर मैथ्यू आर्नल्ड आदि का यही अभिमत था। मैथ्यू आर्नल्ड ने वस्तु-गौरव पर बहुत बल दिया है।[1]

"प्राचीन कवियों की अभिव्यंजना इतनी उत्कृष्ट इसलिए है कि वह अपनी शक्ति सीधे उस वस्तु-तत्त्व के अर्थ-गौरव से ग्रहण करती है।"[2] हमारे यहाँ आधुनिक युग में इसकी सबसे प्रबल उद्घोषणा शुक्ल जी नें की है।

(२) दूसरा सिद्धान्त इससे ईषत्-भिन्न व्यक्तिवादियों का है जो काव्य को मूलतः आत्माभिव्यंजन मानते हैं और वस्तु तथा रीति दोनों को ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते हैं।

(३) तीसरा सिद्धान्त आधुनिक अभिव्यंजनावादियों का है जिसके अनुसार केवल रीति अथवा अभिव्यंजना की ही सत्ता है। वस्तु का उससे स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं है। यह दूसरे सिद्धान्त से बहुत दूर नहीं है।

(४) चौथा सिद्धान्त वस्तु और रीति दोनों के समन्वय पर बल देता है, उसके अनुसार अर्थ और शब्द दोनों का समान अस्तित्व है। विदेश में भी पेटर, रैले आदि परवर्ती आलोचकों ने विषय और शैली दोनों को समान गौरव प्रदान किया है।

वामन की स्थिति इन चारों से भिन्न है। वामन का दृष्टिकोण सर्वथा अभिव्यक्तिगत है, अतएव व्यक्तित्व की तो वे उपेक्षा ही कर गए हैं। उधर वस्तुवादियों की भाँति रीति को वस्तु की आश्रिता मानने का भी उनके लिए प्रश्न नहीं उठता। परन्तु अभिव्यंजनावादियों की भाँति वे वस्तु-तत्त्व का निषेध भी नहीं करते। साथ ही वे दोनों का समान महत्त्व भी नहीं मानते।

---

१. किमंग पुनरर्थगुणसंपत्। 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' (प्रथम अधिकरण)।

२. प्रिफ़ेस : एसेज़ इन क्रिटिसिज़्म

उन्होंने पद-रचना को ही काव्य माना है किन्तु उसके लिए गुण-सम्पन्नता अनिवार्य मानी है। गुण के अर्थ-गुण और शब्द-गुण ये दो भेद करके और कान्ति में रस की दीप्ति मानते हुए वामन ने अर्थ अथवा वस्तु की सत्ता तथा महत्त्व दोनों ही अंगीकार किये हैं; फिर भी सब मिलाकर सापेक्षिक महत्त्व रीति का ही है—जिसके बिना अर्थ-गुण-सम्पदा का उत्कर्ष सिद्ध ही नहीं हो सकता। इस प्रकार उनकी स्थिति वास्तव में अभिव्यंजनावादियों और समन्वयवादियों की मध्यवर्तिनी है। वस्तु-तत्त्व की सत्ता स्वीकार करके अभिव्यंजनावादियों (विशेषकर परवर्ती अभिव्यंजनावादियों) से पृथक् हो जाते हैं और वस्तु-तत्त्व को रीति के आश्रित मानकर वे समन्वयवादियों की कोटि से बाहर पड़ जाते हैं। वामन का सिद्धान्त (मैथ्यू आर्नल्ड और शुक्ल जी-जैसे) उन आलोचकों के सिद्धान्त के विपरीत है जो रीति को वस्तु की आश्रिता मानते हैं। साहित्य के क्षेत्र में उनको देहवादी ही मानना पड़ेगा—किन्तु वे ऐसे देहवादी हैं जो आत्मा की सत्ता का निषेध तो नहीं करते पर उसे मानते हैं पंचभूत का ही विलास !

डॉक्टर रांगेय राघव

रस-तत्त्व और मार्क्सीय कसौटी

पाश्चात्य आलोचना के सिद्धान्तों ने हिन्दी-साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला है। जहाँ एक ओर आदर्शवाद और यथार्थवाद, अतियथार्थवाद और प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद तथा इसी प्रकार के अन्य वादों के दृष्टिकोण से विवेचन हुआ है, वहाँ दूसरी ओर फ्रायडवाद और मार्क्सवाद से प्रभावित समीक्षा-प्रणाली का भी प्राबल्य रहा है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने साहित्य में वैचित्र्य-वाद के सिद्धान्त को शक्ति दी। यौन-व्याख्या ने अन्य प्रभाव प्रकट किये। अधुनातन प्रवृत्तियों में प्रगतिशील आलोचना-सिद्धान्त के नाम पर मार्क्सवाद ने ही ऐसे सार्वभौम मानदण्डों को भूत, वर्तमान और भविष्य के व्यापक सन्तुलन के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जिसमें अतीत की समस्त परम्पराओं के प्रति स्वस्थ, निष्पक्ष और ग्राह्य दृष्टिकोण हो, जो न केवल अतीत के प्रति अजायबघर की दृष्टि से हो, वरन् वर्तमान की जटिल परिस्थितियों में समस्याओं का हल बनता हुआ उस भविष्य का निर्माता और निर्णायक हो, जिसमें मनुष्य के विकास की धरती पहले से कहीं अधिक उपजाऊ हो जाय, बौद्धिक विकास के लिए मनुष्य-कृत शोषण का अन्त करके विज्ञान के द्वारा एक सुखी समाज बनाने में सफल हो, जहाँ अनुमान से ही 'प्रभा' का अनुसन्धान व्याख्या में रूढ़िबद्ध न हो जाय, किन्तु निरन्तर सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए वैज्ञानिक प्रणाली को अपना कार्य-वाहन बनाया जाय इसलिए मार्क्सवादी समीक्षकों ने वर्ग-संघर्ष का आधार लेकर दर्शन, इतिहास तथा धर्म और इसी प्रकार साहित्य का भी विवेचन किया है। कॉडवेल ने यथार्थ का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सामन्तीय और पूँजीवादी मरणोन्मुखी संस्कृतियों की व्याख्या की है। साहित्य क्या है—इस पर रूस के विभिन्न विद्वानों ने अनेक वाद-विवाद किये हैं और अपनी भूलों को बार-बार स्वीकार किया है। हावर्डफास्ट ने जनता को ही साहित्य का आधार माना है। विभिन्न यूरोपीय लेखकों की पुस्तकें पढ़ने पर मार्क्सवादी दृष्टि-कोण से साहित्य के विषय में निम्न लिखित तथ्य निकलते हैं—

(१) साहित्य क्या है : साहित्य आत्मा का निर्माण करने वाला भावनात्मक चिन्तन है।

(२) साहित्य का जन्म समाज के विकास के बाद हुआ।

(३) साहित्य का मूलाधार भाषा है, जो समूह से जन्म लेती है।

(४) समाज के विकास के साथ साहित्य का विकास अन्योन्याश्रित ढंग से सम्बद्ध है।

(५) साहित्य का हेतु समाज का कल्याण है और समाज वर्गगत होने के कारण कभी भी साहित्य वर्ग-चेतना का प्रकट या अप्रकट रूप से प्रदर्शन किये बिना नहीं रहता।

(६) हमें अतीत के साहित्य से उन परम्पराओं को लेना है जो वर्गहीन समाज के निर्माण में सहायक हो सकें।

(७) वर्तमान साहित्य में हमें ऐसे साहित्य का निर्माण करना है जो उन परिस्थितियों के

लिए बौद्धिक आधार तैयार कर दे जिनमें सर्वहारा अर्थात् मजदूर-वर्ग अपना अधिनायकत्व करके विकास के दौर में एक सुखी वर्गहीन समाज बना सके।

(८) मनोविज्ञान की वे उलझनें, जो व्यक्तिवाद को जन्म दें, त्याग दी जायँ।

(९) वही साहित्य श्रेष्ठ है जिसने अतीत में प्रकट या अप्रकट रूप से समाज की विषमताओं को प्रदर्शित करके शोषित वर्गों की हिमायत की है, जो आज की परिस्थितियों में वर्गहीन समाज के लिए ही विकास-क्रम की सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ता हुआ मनुष्य को उठाने वाला है।

इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचकों के पाश्चात्य प्रभाव को हिन्दी में ग्रहण किया गया है। वस्तुतः इनमें से प्रायः सभी बातें ऐसी हैं, जो न प्राच्य हैं न पाश्चात्य; वरन् सार्वभौमिक हैं। किन्तु हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में तथाकथित कुत्सित समाज-शास्त्री मार्क्सवादियों ने मार्क्सवाद के विकास को मार्क्स के लेखों, रूसी और चीनी परिस्थितियों में फिट होने वाले विचारों को ज्यों-का-त्यों रूढ़िवादी ढंग से अपनाकर, अपनी मध्यवर्गीय टुटपूँजिया मनोवृत्ति, अवसरवाद तथा क्रान्ति के नेतृत्व के मुग़ालते में अर्थ का अनर्थ किया है। उनको समझकर मार्क्सवाद को रूढ़ि ही नहीं वरन् एक वैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली के रूप में नहीं लिया और भारतीय दर्शन, इतिहास साहित्य और आलोचनों के क्षेत्रों में इनका ही विकास देखकर सिद्धान्तों का निष्कर्ष नहीं निकाला वरन् ऊपर से 'मजबूरिए-लीडरी' की तरह थोपने की चेष्टा की। इस प्रकार मार्क्सवाद ने यहाँ विदेशी चिन्तन का रूप धारण किया, वह भारत की धरती में से अभी तक फूटकर नहीं निकला। जबकि यदि जड़ता से काम न॰ लिया जाता तो ऐसा कभी का हो चुका होता। जब अर्ध-शिक्षित नेतृत्व होता है तब ऐसा हो जाना असम्भव नहीं।

हिन्दी-साहित्य का विद्यार्थी अपने सामने संस्कृत-आलोचना-साहित्य की लम्बी परम्परा को देखता है और अपनी इस विरासत की वैज्ञानिक व्याख्या और मूल्यांकन चाहता है। वह भरत से पण्डितराज जगन्नाथ तक के विभिन्न मतों को रखता है और कहता है कि मार्क्सवाद जितने तथ्य बताता है रस-सम्प्रदाय उनमें से किसी से भी कटता नहीं।

यह आवश्यक नहीं है कि धीरोदात्त नायक हो ही तभी रस की निष्पत्ति हो। रस-निष्पत्ति तो 'गोदान' के होरी और धनिया से भी पूर्णरूपेण हो सकती है, क्योंकि सम्प्रदाय और दर्शन तथा सामाजिक व्यवस्था, ये सब बदलती रहने वाली वस्तुएँ हैं। रस-सिद्धान्त के बाह्यावरणों के ही रूप में इन्हें स्वीकार किया जा सकता है। मूलतः मनुष्य के स्थायी और संचारी भाव वही थे और हैं। इसलिए जो साहित्य केवल प्रचार को आधार बनाता है, वह यदि भावों का उद्रेक नहीं कर सकता तो वह पत्रकारिता के समान सामयिक है और उसकी सूचनात्मक उपादेयता है अवश्य, परन्तु वह आनन्द नहीं दे सकता।

रस-सिद्धान्ती इस तर्क को देकर 'कला कला के लिए है', 'कला निष्प्रयोजनवाद है,' 'कला शाश्वत सौन्दर्यवाद है' आदि निष्कर्ष निकालते हैं और कला के लिए युगनिरपेक्षिता को स्वीकार करते हैं। वे यह नहीं मानते कि परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। वे व्यक्ति की मेधा पर अधिक विश्वास करते हैं। वस्तुतः यह दूसरी ओर की जड़ता है। जब हम जड़ता शब्द का प्रयोग करते हैं तब हमारा तात्पर्य उस रूढ़िवादी मनोवृत्ति से है, जो अपने तर्कों को अकाट्य समझती है और वैज्ञानिक विवेचन नहीं करती। हमें दोनों पक्षों का विवेचन सम्यक् रूप से करना चाहिए। रस-सिद्धान्ती कला कला के लिए पर तब बल देता है जब रूढ़िगत मार्क्सवादी कम्युनिस्ट-पार्टी के दस्तावेज लिखने को कला

कहता है। रस-सिद्धान्ती निष्प्रयोजनवाद का प्रसार तब करता है जब मार्क्सवादी प्राचीन और अर्वाचीन युगों की सामाजिक वास्तविकता को न समझकर रूसी परिस्थितियों को ही सामने रखता है। इसी प्रकार शाश्वत सौन्दर्यवाद पार्टियों की बदलती नीतियों के साथ बदलते कार्यक्रमों और मानदण्डों के विरोध में प्रकट किया जाता है।

प्रगतिशील साहित्य-सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले बहुत-से लोग कुत्सित समाज-शास्त्रियों की व्याख्या से मतभेद रखते हैं। अतः विवेच्य वास्तव में इतना दुरूह और जटिल नहीं है, जितना लोग समझते हैं।

मार्क्सवाद साहित्य को मनोवैज्ञानिक उलझनों से हटाकर उसे सहज समझ में आने योग्य बनाना चाहता है। भारतीय काव्य-सिद्धान्त इसी प्रकार पहले से ही व्यक्ति-वैचित्र्यवाद के स्थान पर साधारणीकरण का उस समय से प्रतिपादन करता आ रहा है, जब यूरोप में कला को जीवन की नकल-मात्र कहकर अरस्तू जैसे विद्वान् ने स्वीकार किया था। साधारणीकरण काव्य साहित्य का मानवीय मूल्यांकन है। साधारणीकरण की समान भूमि मनुष्य के भावों की सहज समानता मानी गई है। एक विशेष परिस्थिति में मनुष्य पर एक ही-सा प्रभाव पड़ता है। इसलिए कह सकते हैं कि अमुक अवस्था में अमुक परिणाम निकलते हैं। प्रेम, ईर्ष्या, घृणा, भय आदि मनुष्य में थे, और हैं, और सम्भवतः बने रहेंगे। जो इन भावों को जीत लेता है, संसार से विरक्त सन्त हो जाता है। उसके लिए रस-सिद्धान्त नहीं है। अश्वल जनक, गीता के संन्यासी या बौद्ध भिक्षु के लिए करुण और शान्त-रस की सीमाएँ हैं। बर्नार्डशा ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'बैक टू मैथू सेलाह' के अन्त में ऐसे बौद्धिक रूप से जागरूक समाज का चित्रण किया है जिसमें काव्य, कला और साहित्य को बचपन के खेल के समान ही छोड़ दिया गया है। यदि मार्क्सवाद यह स्वीकार करता है कि मनुष्य के ये भाव शाश्वत रहेंगे तब रस-सिद्धान्त का यह भाव का आनन्दपक्ष ठीक बैठता है। यदि मार्क्सवाद विकास की अनवरत गति में इन भावों का समग्ररूपेण नाश मानता है, जिसमें मानव बौद्धिक चिन्तन-प्राधान्य को प्राप्त होगा तो रस-सिद्धान्त को कोई विवाद करने की गुञ्जाइश नहीं है, क्योंकि रस-सिद्धान्त तो सहृदय के लिए ही है। कर्म और पुनर्जन्म मानने वाला व्यक्ति माया के मोह में किसी की मृत्यु पर रोता है और मार्क्सवादी मृत्यु को अनवरत विकास, शारीरिक क्रिया का क्षीण होकर बन्द हो जाना, और गुणात्मक परिवर्तन मानकर शोक, क्रोध और मोह आदि करता है जैसा कि स्वयं मार्क्स ने अपने पुत्र की मृत्यु पर किया था। जहाँ तक भाव होने का सवाल है रस-सिद्धान्त निश्चय ही अखण्ड है, क्योंकि अहंकार, जुगुप्सा आदि सब ही अभी तक मनुष्य में विद्यमान हैं। इनकी अभिव्यक्ति से तादात्म्य होने पर रस-सिद्धान्ती ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द पाता है, बौद्ध और जैन प्राचीन काल में भी ब्रह्म का आनन्द नहीं जानते थे, क्योंकि ब्रह्म को मानते नहीं थे। किन्तु काव्यानन्द लेते थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि काव्यानन्द की ब्राह्मणवादी व्याख्या में वह ब्रह्मानन्द है और अन्य व्याख्या में वह निकृष्ट आनन्द नहीं है बल्कि महान् आनन्द है।

भाव का सम्बन्ध हृदय से माना जाता है जो मन के माध्यम से आत्मा को सुख देता है। आत्मा को न मानने वाले बौद्ध के लिए वह हृदय को आनन्द देता है। मार्क्सवादी के शब्दों में हृदय बौद्धिक चेतना का ही एक पक्ष है। इस प्रकार बुद्धि-पक्ष और हृदय-पक्ष यहाँ एक हो जाता है, क्योंकि वैज्ञानिक अनुसंधानानुसार हृदय का धक् से रह जाना इत्यादि क्रियाएँ चिन्तन

का शरीर पर प्रभाव हैं। बुद्धि ही के कारण भाव को समझा जा सकता है। बुद्धि और भाव मस्तिष्क के गुणात्मक परिवर्तन हैं। इस प्रकार अभी तक जो एक खाई समझी जाती थी वह भ्रम-मात्र था। पागल व्यक्ति का भाव उसके बौद्धिक विकास के अनुसार ही होता है। भाव का मस्तिष्क में चित्र-रूप से उदय होना, कल्पना की सहायता से बढ़ना और अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होना उस क्रिया के समान है जैसे दीप-शिखा में से निकलता हुआ आलोक।

भाव बुद्धि पर निर्भर है। किसी के भाव-पक्ष का प्रबल होना उसके चिन्तन के उस पक्ष का प्रबल होना है जिसमें कल्पना ग्राह्य-शक्ति, संवेदनशीलता और आत्मसात् कर लेने की शक्ति है।

भाव यद्यपि सार्वभौम है किन्तु उसको बाह्य पक्ष अर्थात् दर्शन, संस्कार, सामाजिक व्यवस्था, आचार-व्यवहार, राजनीति और इतिहास इत्यादि सदैव प्रभावित करते रहे और इसीलिए एक ही विषय से दो युगों में दो प्रकार के भावों का उदय हो सकता है। जैसे राम द्वारा शम्बूक-वध प्राचीन काल में वीर-भाव को जन्म देता था। आज क्योंकि वह राम का श्रेष्ठ कार्य नहीं समझा जा सकता इसलिए वहाँ भाव बदल जाता है। एकलव्य का अँगूठा कटवाना जहाँ पहले गुरु-भक्ति का भाव जगाता था वहाँ अब गुरु का अत्याचार दिखाई देता है। इसी प्रकार किसी युग के भाग-विशेष को तत्कालीन युग-सन्दर्भ से हटा देने पर भाव का प्रभाव भी बदल जायगा, जैसे लक्ष्मण के सामने सुन्दरी बनकर आने वाली शूर्पणखा 'रामायण' की कथा को पहले से जानने वाले पाठक के सामने शृङ्गार को जन्म नहीं देगी बल्कि पूर्वाग्रह उसे घृणा की दृष्टि से दिखाने लगता है। जो व्यक्ति पन्नादाई की कथा में माँ को बध के लिए पुत्र की ओर उँगली उठाते देखकर कहेगा कि यह वात्सल्य-विरोधी भाव है और उस महान् त्याग को नहीं देखेगा तो उसमें वही भाव उत्पन्न नहीं होगा जो पन्नादाई की वीरता पर मुग्ध कर दे। इस प्रकार हम देखते हैं कि रस-सिद्धान्त भाव के होते हुए साधारणीकरण के द्वारा मार्क्सवाद से भी पुराना और साहित्य-सिद्धान्त के क्षेत्र में एक वैज्ञानिक व्याख्या है। किन्तु उसके बाह्यावरण तथा आवश्यकताएँ सदैव बदलती रही हैं और आज भी बदल रही हैं। धीरोदात्त नायक की कल्पना सामन्तीय व्यवस्था का आदर्श थी। किन्तु वर्गहीन समाज की व्यवस्था समाज-शोषित को नायकत्व प्रदान करना चाहती है। अतः वह रस-सिद्धान्त के सामन्तीय और पूँजीवादी बाह्यावरणों को तोड़ना चाहती है किन्तु रस-सिद्धान्त के मूल को नहीं बदल सकती, क्योंकि मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति को काम में ला सकता है, उसके अनजाने प्रयोगों को समझ सकता है लेकिन बदल नहीं सकता। वह एक ही पदार्थ के हो सकने वाले समस्त गुणात्मक परिवर्तनों को अपने काम में ला सकता है, जैसे बादल बना सकता है, वर्षा कर सकता है, भाप बना सकता है, बर्फ बना सकता है, जलाणु को तोड़कर उसकी शक्ति निकाल सकता है किन्तु जल का जलत्व नहीं बदल सकता।

रस का वर्णन 'रसो वै सः' करके उपनिषद् में आया है जो भरत से प्राचीन है। वास्तव में इस रस शब्द का अर्थ केवल आनन्द है जो जल आदि तरल के पर्याय-स्वरूप प्रयुक्त हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि उपनिषदों के समय में दास-प्रथा टूट रही थी और ब्रह्म इतना दुरूह और व्यापक हो गया था कि उसका आनन्द भी ज्ञान के ही माध्यम से अवाक् और चमत्कृत हो गया था। यही रस जब अपना विकास करके सामन्त-काल

के प्रारम्भ में आया अर्थात् लिच्छवि आदि गणों की टूटती दास-प्रथा के खण्डहरों पर अजातशत्रु, विडूदभ, उदयन आदि के सामन्तीय राज्य सर्फ प्रथा को लेकर समाज के विकास में प्रगति के चिह्न बनकर आए, तब बर्बरयुगीन अर्थात् दास-प्रथा वाले समाज के भाग्यवाद पर षट्दर्शनों के रूप में विकास करने वाले चिन्तन ने उस समय के आस्तिक और नास्तिक दुःखवाद पर पुरुषार्थ की जय-ध्वनि की और दास-प्रथा के टूटने पर एक वर्ग के प्रारम्भिक स्वातन्त्र्य का जो सहज उच्छ्वास लिया, उस समय आचार्यों ने मानवतावाद के आधार पर रस और साधारणीकरण के सार्वभौम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और उच्च वर्णों तथा वर्गों में रहने वाली कविता एक महान् रक्षक लोकनायक के रूप में करुणा के माध्यम से जनसमुदाय तक मानवीय भावों का आश्रय लेकर पहुँच गई।

कालान्तर में सामन्तवाद ने जब अपना प्रगतिशील कार्य समाप्त कर दिया और शोषण के नये रूपों में सुदृढ़ हो गया तब रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि बाह्यावरणों ने रस के मूल-सिद्धान्त को ढक लेने का प्रयत्न किया, किन्तु की हुई प्रगति को झुठलाना या मिटा देना इनके लिए असम्भव प्रमाणित हुआ।

मार्क्सवादी साहित्य के मानदण्ड ऐसे देशों से आये हैं जहाँ सभ्यताएँ तुलनात्मक रूप से नई हैं और जहाँ इतने मानवीय सिद्धान्त का इतने वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन हुआ ही नहीं था। मार्क्स ने जब भारत के बारे में अध्ययन किया था उस समय यूरोप में भारत के विषय में जानकारी नहीं के बराबर थी। अतः उसका इस विषय में अज्ञान सहज और स्वाभाविक है। रूसी सिद्धान्त-शास्त्रियों ने मार्क्सवाद को अपने देश पर अपनी परिस्थितियों के अनुसार लागू किया। यही चीनियों ने भी अपने देशानुसार अपने देश में किया। भारतीय मार्क्सवादियों ने पुरातन का अध्ययन करने में सदैव पुनरुत्थानवाद का भय देखा या श्रीपाद अमृत डाँगे की तरह अर्थ का अनर्थ किया अथवा विन्सेण्ट स्मिथ के आधार पर मार्क्सवाद को अनिश्चित रूप से विकृत किया और वे वास्तव को समझने में असमर्थ रहे।

रस-सिद्धान्तियों का कहना है कि मार्क्सवादी लेखक केवल वर्ग-संघर्ष ढूँढ़ते हैं। वे साहित्य के सौन्दर्य को नहीं देखते वरन् उसकी राजनीतिक चेतना को देखते रह जाते हैं। यह सत्य है। आधुनिक रूसी उपन्यासकार इसी राजनीति से इतने पराभूत हो गए हैं। 'नो आर्डिनरी समर,' 'फार फ्रॉम मास्को' आदि उपन्यासों में ऐसे वाक्य तक मिल जाते हैं जैसे Will of Stalin is the will of People. जबकि मार्क्सवाद के अनुसार लिखना चाहिए था Will of the People is Stalin's will. अर्थात् पहली जगह है स्तालिन की इच्छा जनता की इच्छा है, जबकि होना चाहिए था जनता की इच्छा स्तालिन की इच्छा है। रूस ने महान् क्रान्ति की है, किंतु उसने क्रांति के पहले के महान् लेखकों-जैसे हिला देने वाले लेखक पैदा नहीं किये। शोलोखोव अवश्य प्रतिभाशाली लेखक है। एलेक्सी तालस्ताय भी उसी श्रेणी में आता है। जिस देश में अभूतपूर्व सामाजिक क्रान्ति हुई है वहाँ महान् कला का अभाव देखकर आश्चर्य होता है। कह सकते हैं कि निर्माण-काल में ऐसा होता है। हिन्दी में यह सम्भव है, क्योंकि यहाँ सिद्धान्त-प्रतिपादन का युग है। अतः उसमें अभाव रह जाना आश्चर्यजनक नहीं। किसी भी आधुनिक रूसी उपन्यास में लदी हुई देश-भक्ति के अतिरिक्त और कोई विशेषता नहीं मिलती। समस्त साहित्य में यह एकाङ्गिता है, इसका कारण है। मार्क्सवाद केवल वर्ग-संघर्ष की व्याख्या नहीं है, वह मानव-

जीवन के समस्त अङ्गों का व्यापक अध्ययन है, जो सम्पूर्ण मनुष्य को छूने की सामर्थ्य रखता है। प्रत्येक युग में जो भी विचार-धारा रही है उसने मनुष्य को, उसकी संस्कृति को समर्थ बनाया है। उसके चिन्तन को उकसाया है जब कि सिद्धान्त-प्रतिपादन के आवेश में मार्क्सवादी लेखकों ने अपने को अधिकांशतः एकाङ्गी कर लिया है। गहराई उन महान् कलाकारों में ही हो सकती है जो मनुष्य की असीम मेधा को आँककर उसे उसके सामाजिक सापेक्ष रूप में देख सकें। यही प्रश्न पूछा जाता है कि सूर में जो बाल-वर्णन है उसे किस वर्ग-संघर्ष की कसौटी पर आँका जा सकता है। एक कुत्सित समाज-शास्त्री ने इसका उत्तर दिया था—सामन्त-काल में बच्चों से प्रेम करना वर्जित था, अतः सूर ने बाल-लीला का वर्णन करके सामन्तवाद की जड़ें हिला दीं। ऐसे लोग ही कबीर और तुलसी को एक ही मानदण्ड से आँकते हैं। कालिदास के मदान्ध यक्ष की अमर विरह-गाथा में वर्ग-संघर्ष ढूँढ़ने में असमर्थ होकर वे उसे हीनयानी बौद्धों की भाँति कामुक साहित्य कह देते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जब लेखक वर्णन करता है तब वह सर्वाङ्गीण मनुष्य को देखता है जिसका वर्ग-संघर्ष आधार है अवश्य, किन्तु सब-कुछ वही नहीं है। एङ्गिल्स ने स्वयं इसे स्वीकार किया था कि वर्ग-संघर्ष के अतिरिक्त भी प्रभाव डालने वाले कुछ तथ्य हैं। साहित्य इसी सम्पूर्ण मानव का अध्ययन और चित्रण है। साहित्य सौन्दर्य का स्रष्टा है। सौन्दर्य सापेक्ष होता है तभी वह सामाजिक आधार लेता है। साधारणीकरण के आधार सामाजिक और आर्थिक आधार हैं जो वर्गवाद का विरोध करते हैं और इसलिए रस-सिद्धान्त भी जहाँ तक मनुष्य के भाव-चित्रण का प्रश्न है, वर्गवाद का विरोध करता है। कितनी ही सुन्दर रचना क्यों न लिखी जाय किन्तु यदि वह युग सत्य का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती तो वह चमत्कारवाद है, जिसे अधम काव्य या ऐसे ही साहित्य की कोटि में गिना जायगा। अथवा वह अतीत की नक़ल होगी जिसमें समस्त भौतिक तत्त्वों के होते हुए भी उनके गुणात्मक परिवर्तन के स्वरूप में चेतना नहीं होगी। जो साहित्य युग-सत्य पर आधारित होता है वह अपने काल में अपनी उस नवीनता, उपादेयता और भाव के सफल चित्रण के कारण अपनी महत्ता रखता है; किन्तु वही साहित्य अतीत का हो जाने पर इसलिए अपना मूल्य रखता है कि उसमें गत युग के मानव के भाव-चित्रण की सफलता, मानवीयता और उसकी भव्य जय-यात्रा का ज्वलन्त गौरव प्रतिध्वनित है। इसीलिए जिस साहित्य में केवल प्रचार होता है या चमत्कारिक प्रयोगवाद होता है, जो भाव को जाग्रत नहीं कर सकता अर्थात् मानवीय स्वभाव का सफल चित्रीकरण नहीं कर सकता, वह इतिहास बनकर रह जाता है। उसे साहित्य की गणना में नहीं लिया जा सकता। मध्यकालीन वीर-काव्य में भी यही एकाङ्गिता थी जिसके कारण वह आज वाल्मीकि का-सा प्रभाव नहीं डाल पाता। आज बेन जॉन्सन के स्थान पर शेक्सपियर ही अधिक पसन्द किया जाता है। शेक्सपियर के पात्र अपने सफल चित्रण के कारण ही, अपनी मानवीयता के कारण ही, अपना महत्त्व रखते हैं। किसी सिद्धान्त को प्रचारित करने वाला साहित्य यदि केवल रूखा प्रचार है तो उसको पत्रकारिता की सीमा में ही रखा जा सकता है।

यहाँ शाश्वतवादी काव्य के निष्प्रयोजनवाद को लेकर कहीं प्रश्न न हो उठें, क्योंकि निष्प्रयोजन वस्तु निष्प्रयोजन है। साहित्य अपने युग में भी बिना मानवीय भाव-चित्रण के प्रभाव नहीं डाल सकता। मनुष्य के विचार बदलते हैं; समाज, राजनीति भी बदलते हैं। इसी प्रकार साहित्य और कला भी बदलते हैं। मनुष्य के विचार जब परिवर्तित होते हैं तब मनुष्य के भाव

भी बदलते हैं। अतः भाव विचार से सापेक्ष है। स्थायी भाव भी अपना रूप बदलते हैं। भूख और प्यास की तरह जो मनुष्य के कुछ भाव हैं (जैसे वीर, प्रेम, आदि) वे मनुष्य में रहते आए हैं और हैं, किन्तु उनके सामाजिक आधार मानदण्ड और मूल्याङ्कन बदल चुके हैं।

रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन नाट्य-शास्त्र के साथ अपना विकास कर सका था। नाटक और काव्य में भेद है। काव्य से अधिक नाटक को सीधे जन-समाज से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा था। उसमें प्रयोगवाद की दुरूहता की गुञ्जायश नहीं थी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि रस-सिद्धान्त जन-समाज के लिए ही पैदा हुआ था।

रस-सिद्धान्त की दूसरी विशाल हृदयता है कि जब आवश्यकता हुई है, उसमें नई बातों का समावेश भी हुआ है। वात्सल्य को एक पूर्ण रस के रूप में स्वीकार किया गया है, जब कि प्रारम्भ में वह नहीं माना गया था।

यहाँ भाव और विचार का भेद और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। हमने कहा है कि विचार से भाव नियन्त्रित होता है। भाव बुद्धि से ही निस्सृत होता है। किन्तु विचार भी कई प्रकार के होते हैं। एक विचार ऐसे होते हैं जो बुद्धि को उलझाते हैं। रस सुलझाने वाले विचारों से प्राप्त होता है। मनुष्य की कुछ चेतन प्राकृतिक वृत्तियों को जगाने की सामर्थ्य विचार में आ जाती है तब सहज आनन्द होता है। अपने विचार के भावनात्मक रूप से जब लेखक पाठक के भावनात्मक विचार को मिला देता है उस समय एक तादात्म्य का जन्म होता है। इस प्रक्रिया का माध्यम साधारणीकरण है। प्राचीन काव्य-शास्त्री स्थायी वृत्तियों को जाग्रत करने की उन परिस्थितियों से काव्य-रस का जन्म मानते हैं, जो सांसारिक नहीं हैं, वरन् काव्य-रूप धारण करती हैं। सांसारिक का अर्थ उनका भौतिक के स्थूल रूप से है। चेतन, जिसे हम बता चुके हैं, उनको भाव जाग्रत करने वाला प्रतीत होता है। चेतना का चित्रमय चिन्तन भाव ही हो जाता है। भरत ने केवल यही कहा था कि वे परिस्थितियाँ, जो भावों को जगाती हैं, विभाव हैं। भाव आलम्बन द्वारा जाग्रत तथा उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त होते हैं। अन्य भाव, जो सहायक होते हैं वे सञ्चारी भाव हैं। विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। इस प्रकार रस की निष्पत्ति होती है।

मार्क्स से पूर्व भी इतिहास प्रगतिशील था। मार्क्स ने केवल वैज्ञानिक विश्लेषण से उस नियम को समझा था। मार्क्सवाद मार्क्स की रचनाओं में समाप्त नहीं हो जाता, वह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है। जब तक विज्ञान की उन्नति ही से नये तथ्य प्रकट नहीं होते, जो उनके वैज्ञानिक सिद्धान्तों को काट दें, तब तक वह सिद्धान्त लागू रहेगा। किन्तु मार्क्स के सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं कि वह अपरिवर्तनशील रूप से उसीके अक्षरशः सब पर लागू हो जाय। पेड़ दूसरी तरह से बढ़ता है, नदी दूसरी तरह से। गत्यात्मकता मूल नियम है। इसी प्रकार प्रत्येक देश की विभिन्न सामाजिक परिस्थिति होती है। प्रत्येक देश के साहित्य में विभिन्न विशेषताएँ होती हैं। उन विशेषताओं के भेद के रहते हुए भी एक सार्वभौम मानवीयता उनके भीतर रहती है, जो शताब्दियों को भेद जाती है। तभी यूनान का होमर हजारों वर्ष के उपरान्त भी आज आनन्द देता है। उसमें जो 'वह' है जो 'आनन्द' देती है वह उसकी 'मानवीयता' है, जो हमारे 'भावों' को रमाती है, जगाती है, और वह भव्य आनन्द ही 'रस' है।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

हिन्दी में रस-मीमांसा

संस्कृत में रस-मीमांसा बहुत प्राचीन कल्प से होती आ रही है। प्राकृत और अपभ्रंश में रस-मीमांसा के ग्रन्थ नहीं मिलते। देशी भाषाओं में जेठी होने के कारण हिन्दी की दृष्टि रस-मीमांसा की ओर सबसे पहले गई। यह दूसरी बात है कि रस-मीमांसा संस्कृत की भाँति उसमें न हो। प्राकृत वालों को रस-मीमांसा की अपेक्षा नहीं हुई। भाषा के लिए व्याकरण की आवश्यकता उन्हें थी, शब्दों के लिए कोश अपेक्षित था, पर काव्य के लिए न छन्द की विशेष आवश्यकता थी और न उसके शास्त्र के लिए रस-मीमांसा की। संस्कृत की सामग्री से ही उनका अधिकतर काम चल गया, पर अपभ्रंश ने अपना पथ बदला। उसे छन्दों की आवश्यकता थी, उनके विचार-विमर्श की आवश्यकता थी। अतः व्याकरण के साथ ही पिंगल के ग्रन्थ भी उसमें बने। संस्कृत प्राकृत में बहुत वर्ण-वृत्त चलते थे। अपभ्रंश में मात्रा-वृत्तों का बाहुल्य हुआ। वर्ण-वृत्तों में नियमित वर्ण-योजना से नाद-सौंदर्य की पूर्ति बहुत-कुछ हो जाती है, पर मात्रा-वृत्त में नियमित वर्ण-योजना न होने से नाद-सौंदर्य में न्यूनता आती थी, उसकी पूर्ति तुकान्त से की गई। इस प्रस्थान-भेद ने छन्द-शास्त्र के ग्रन्थों के निर्माण का मार्ग उद्घाटित किया। शब्दादि भी भिन्न होते थे, कुछ कोश भी बने, पर रस-मीमांसा का उन्मेष अपभ्रंश में नहीं हुआ। प्राकृत का काम संस्कृत की रस-मीमांसा से ही चल गया, अपभ्रंश का भी। कोई नूतन विचार करना हो तभी उसकी ओर प्रवृत्ति भी हो।

प्राकृत कदाचित् संस्कृत भाषा की परुषता से ऊबकर कोमल-सुकुमार सर्जना में प्रवृत्त हुई और अपभ्रंश वर्ण-वृत्तों की कठोर कारा से मुक्त होने लगी। हिन्दी तक आते-आते परुषता और कठोरता का प्रश्न ही नहीं रह गया। अतः रस-मीमांसा की ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक था। हिन्दी संस्कृत से दूर हो गई थी, पर परम्परा वही थी। प्राकृत अपभ्रंश में काव्य-परम्परा की स्वीकृति नहीं बदली थी, हिन्दी में भी नहीं। पर प्राकृत अपभ्रंश में साहित्य-निर्माण करने वाले संस्कृत के निकट थे, अतः काव्य-परम्परा को उसी भाषा में देख-सुन लेते थे। हिन्दी तक आते-आते अपनी परम्परा का ज्ञान दूर पड़ने लगा। दूसरा कारण राजनीतिक उपस्थित हुआ। हिन्दी के उत्थान के समय तक भारत के उत्तरापथ में मुसलमानों का प्रसार हो चुका था। उनके साथ फ़ारसी भाषा और साहित्य का माहात्म्य हो चला था। फ़ारसी-साहित्य में प्रेम-काव्य प्रचुर परिमाण में था। कवियों के आश्रयदाता मुसलमानी या देशी राजाओं के दरबार थे। दरबार में मुक्तक रचना से चमत्कार दिखाने का चलन उस समय क्या, उससे पूर्व से था। मुक्तक रचना शृङ्गार या प्रेम के क्षेत्र में फ़ारसी के जोड़-तोड़ में नायिका-भेद में चमत्कारक हो सकती थी। अलंकारों के चमत्कार में भी शृङ्गार का मेल रहता था। अतः हिन्दी में रस-मीमांसा की आवश्यकता काव्य-दंगलों में हाथ दिखाने के लिए रचे जाने वाले लक्ष्यों के लक्षणों के लिए पड़ी। शृङ्गार

के ही अधिकतर लक्ष्य क्यों निर्मित हुए, शृङ्गार के ही लक्षण-ग्रन्थ अधिक क्यों बने, अलंकारों के लक्षण-ग्रन्थ भी शृङ्गार से ही बहुधा ओत-प्रोत क्यों हैं, मुक्तक का ही लक्षण-ग्रन्थों में प्रायः विचार क्यों हुआ, प्रबन्ध के लक्षण क्यों नहीं मिलते आदि का समाधान तात्कालिक माँग के हेतु से हो जाता है।

'भाखा' में निर्माण की आवश्यकता का अनुभव तुलसीदास ने किया सो तो किया ही, वे जनकवि थे पर केशवदास जी ने भी किया, जिनके कुल के दास भी 'भाखा' बोलना नहीं जानते थे (संस्कृत ही बोलते थे) और जो दरबारी कवि थे। पर तुलसीदास जी को न लक्षण-ग्रंथ लिखने की अपेक्षा हुई और न उनके ग्रंथ में काव्य-लक्षण का आग्रह ही है। हिन्दी के मध्य-काल में रस-मीमांसा की ओर प्रवृत्ति दरबारों में पाण्डित्य और काव्य-कौशल दिखाने के लिए हुई है अतः लक्षण-ग्रंथ लिखने-वाले आरम्भ में तो दरबारी कवि, पण्डित या विदग्ध थे और आगे चलकर जो लोग इस प्रकार के ग्रंथ लिखते थे वे भी दरबार या आश्रयदाताओं की खोज में रहते थे। संस्कृत में लक्षण-ग्रंथों या रस-मीमांसा का आरम्भ दरबारों से नहीं हुआ। हाँ, आगे चलकर दरबारों के पण्डितों ने उसमें योग दिया, यह सत्य है। फिर भी वहाँ जो विवेचन पहले हो चुका था उसका विकास दरबारों में आकर नहीं हुआ। जो हुआ भी उसका अनुगमन नहीं हुआ। भोजराज के 'शृङ्गार-प्रकाश' में शृङ्गार को ही 'एको रसः' कहा गया है और रस से स्थायी भाव के पोषण की नूतन उद्भावना की गई, पर उनका ग्राहक कोई दिखाई नहीं पड़ा। हाँ, हिन्दी के दरबारी पण्डित केशवदास जी ने अपनी 'रसिकप्रिया' में उनके ग्रंथ से अवश्य सहायता ली है।

हिन्दी के मध्यकालिक लक्षण-ग्रंथ, शास्त्र-चिंतन के गाम्भीर्य के अनुरोध से बने ही नहीं। संस्कृत में शास्त्र-विमर्श के लिए दूसरों के पहले से बने ही लक्ष्य लिये जाते थे। कहीं-कहीं 'यथा ममापि' से अपनी कृति की भी योजना कर दी जाती थी। यही ठीक है। पर हिन्दी में उदाहरण स्वयं अपने गढ़कर दिये जाने लगे। 'काव्य-सरोज' में और वह भी दोष-प्रकरण में केशवदास जी के उदाहरण दिये गए हैं। अन्यथा सर्वत्र प्रायः एक ही व्यवस्था है। यही इसका पक्का प्रमाण है कि लक्षण-ग्रंथ वस्तुतः लक्ष्य बनाने के लिए सहारे का काम करते थे। विवेचन से उनका कोई सम्बन्ध ही न था। वार्ता या वचनिका में कहीं-कहीं गद्य में जो विवेचन मिलता है वह भी निर्माताओं के स्वतन्त्र चिंतन से सम्बद्ध नहीं। पुराने विषय को ही, वहीं विवेचित प्रणाली के आधार पर, ज्यों-का-त्यों रखा गया है। रस-निष्पत्ति के विभिन्न मतों, निष्पत्ति और संयोग का विचार, ध्वनि-स्थापना के हेतु आदि विषयों का स्पर्श भी हिन्दी के मध्यकालिक 'रस-मीमांसकों' ने नहीं किया। यदि हिन्दी में मुक्तकों के लिए काव्य-विषय सुनिश्चित होता तो कदाचित् इन ग्रंथों के निर्माण की भी अपेक्षा न होती। 'राजसभा में बड़प्पन' पाने के लिए ये सारे सम्भार हुए। किन्तु यह भी साथ ही ध्यान में रखना होगा कि स्वकीय परम्परा की रक्षा हो और हिन्दी के कवियों द्वारा उसका पालन हो यह बुद्धि भी इसमें निहित थी। लिखने को तो लक्षण-ग्रंथ केशवदास जी के पहले भी लिखे गए पर उसे व्यवस्थित करने वाले वे ही हैं, यह सर्ववादिसम्मत है। उन्होंने पहले 'रसिकप्रिया' लिखी और उसके पश्चात् ही 'कविप्रिया' का निर्माण किया। 'कविप्रिया' का निर्माण उक्त बुद्धि का प्रमाण है। उसमें भारतीय काव्य-परम्परा हिन्दी में स्थापित की गई है, यद्यपि उसके आधार-ग्रंथ संस्कृत के हैं, पर उसकी व्यवस्था यह अवश्य सूचित करती है। केशवदास ने 'अलंकार' शब्द का व्यापक अर्थ लिया है। फिर उसके दो भेद किये हैं—सामान्य

और विशिष्ट। सामान्य के चार भेद किये गए हैं—वर्ण, वर्ण्य, भूमिश्री और राज्यश्री। इनमें वर्ण का अर्थ रंग, वर्ण्य का आकारादि गुण है। भूमिश्री में देश, नगर आदि के वर्णन की शैली बताई गई है और राज्यश्री में यह बतलाया गया है कि राज्य का वर्णन करने में राजा, रानी आदि किन-किनका वर्णन अपेक्षित है। यह भेद ही बतलाता है कि केशवदास जी दरबारी प्रवृत्ति से प्रेरित हैं। कवि-शिक्षा में राज्यश्री का महत्त्व तात्कालिक है।

यह सब कहने का तात्पर्य यह नहीं कि उस समय परिष्कार, सुधार, संस्कार की ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती थी और प्रत्यक्ष रूप से सभी राजसभा की उत्कट आवश्यकता से ही निर्माण करते थे। सुधार की प्रवृत्ति होती थी इसका प्रमाण यही है कि सूरति मिश्र के संचालकत्व में आगरा में कवियों का एक सम्मेलन हुआ था और उसमें नव-निर्माण की बात सोची गई थी। पर वह नव-निर्माण साधारण था और प्रभावकारी नहीं हुआ। इसी प्रकार यदि किसी ने काव्य, साहित्य, रस आदि का लक्षण-ग्रन्थ आरम्भ में लिखा तो संस्कृत-ग्रंथों की देखा-देखी संक्षेप में लिखकर ही काम चलाया। संस्कृत के ग्रंथों की-सी न पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष की विस्तृत योजना की और न कोई नूतन विचार-सरणि ही प्रस्तुत की। जिस युग में प्रभूत ग्रंथ-राशि एकत्र हुई और शास्त्र-पक्ष की ओट में हुई उस युग में भाषा के व्याकरण के ग्रंथ भी क्यों नहीं बने? इसीसे कि उनके बनाने में काव्य-कौशल-प्रदर्शन का अवसर न मिलता। केवल शास्त्र का विवेचन किसी का लक्ष्य न था। पिछले काँटे भिखारीदास जी भाषा का विचार या निर्णय करने बैठे तो उन्होंने यह कहकर छुट्टी ली कि ब्रजभाषा का ज्ञान ब्रज-वास से ही प्रकट नहीं होता, 'एते-एते कबिन की बानी हू सों जानिए'। ब्रजभाषा का ज्ञान उसके प्रयोग आदि का बोध कवियों की वाणी से ही लोग करते आ रहे थे और करते रहे। बहुत पीछे एक मुसलमान ने ब्रजभाषा का व्याकरण अवश्य प्रस्तुत किया।

आधुनिक युग में हिन्दी-साहित्य फिर विदेशी साहित्य से टकराया। अतः काव्य-मीमांसा तथा रस-मीमांसा की प्रवृत्ति फिर जगी। यहाँ भी अपनी परम्परा का ज्ञान कराना और उसका यथोचित रक्षण ही प्रयोजन है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटकों का निर्माण किया, संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी से कुछ रूपकों का अनुवाद किया और 'नाटक' नाम की छोटी-सी पोथी भी लिखी—इसीसे कि भारतीय परम्परा का ज्ञान हो। उन्होंने इसमें स्पष्ट कहा कि भारतीय रस-पद्धति के साथ विदेशी चरित्र-वैशिष्ट्य-पद्धति का समन्वय होना चाहिए। रस पर उनकी दृष्टि अधिक थी। इसीसे उनके नाटकों में रस-व्यञ्जना स्पष्ट है। पर आगे चलकर यह बात नहीं रह गई। रस का विचार करते हुए हरिश्चन्द्र जी ने भक्ति-सम्प्रदाय के दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर के साथ 'आनन्द' को जोड़कर रसों की संख्या १४ कर दी। विस्तृत विवेचन या मीमांसा इनकी नहीं की।

फिर तो हिन्दी में रस-चर्चा चल पड़ी। अनेक ग्रन्थ लिखे गए। पर इन ग्रन्थों में भी 'मीमांसा' नहीं है। संस्कृत में जो विचार हो चुका है वही समझाया गया है। समझाने में भ्रान्तियाँ भी हुई हैं। पर मध्यकालिक स्वकीय उदाहरण रखने की प्रवृत्ति इनमें नहीं है। संस्कृत-ग्रन्थों के उदाहरणों का कहीं अनुवाद है या जहाँ सम्भव हुआ है हिन्दी से उदाहरण खोजे गए हैं। उस युग के प्रतिनिधि जब निर्माण करते हैं तो उदाहरण अपना भी अवश्य देते हैं। श्री अर्जुन-दास केडिया के 'भारती भूषण' से यह सिद्ध है। आज भी जिसे रस-मीमांसा कहते हैं वह हिन्दी

में नहीं हो रही है। अब रस-मीमांसा को मनोवैज्ञानिक आधार पर देखने का प्रयास हो रहा है। नवीन मनोविज्ञान के आधार पर अब भी उसका विचार नहीं हुआ है। साम्प्रतिक युग में हिन्दी में यदि किसी ने रस की स्वच्छन्द मीमांसा की है तो वह थोड़ी-बहुत स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में ही दिखाई देती है। मनोविज्ञान के आधार पर विचार तो और लोगों ने भी किया है, संधान के साथ अनुसन्धान भी हुए हैं। पर भारतीय रस की मीमांसा के लिए प्राचीन ग्रन्थों में से उसकी मान्यताओं और स्वीकृतियों को ठीक-ठीक हृदयंगम कर सकना श्रम-साध्य हो गया है। इसी-से बहुत चलती आलोचना-भर हो सकी है और वह भी भ्रान्तिपूर्ण। हमारे साहित्यिकों की दृष्टि निर्माण और शास्त्र दोनों के लिए विदेशी साहित्य या साहित्यों को ही देखने में लगी है। पढ़ाई में भी विदेशी साहित्य की शिक्षा का माहात्म्य होने से और देशी साहित्यों में भी विदेशी कसौटियों की जाँच की महत्ता बढ़ने से रस-मीमांसा की ओर एक तो कोई प्रवृत्त ही नहीं होता, यदि होता भी है तो उसके सामने संस्कृत-ग्रन्थों में प्रवेश पाने की कठिनाई आ जाती है। यों उनकी कठिनाई न होती, पर रस-मीमांसा में विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार विवेचन होने कारण, उनके खण्डन-मण्डन की तार्किक शैली के प्रयोग के कारण, कठिनाई बढ़ गई है। दर्शन और न्याय या तर्क ने साहित्य-शास्त्र को पुष्ट किया, पर उसे कठिन भी बना दिया। इसीसे हिन्दी के बहुत-से आचार्यमन्य शास्त्र-चर्चा से भड़कते हैं।

हिन्दी में कैसी रस-मीमांसा हुई है इसे उदाहरणस्वरूप उद्धृत करके विस्तार करना अनावश्यक है। पर इन ग्रन्थों में रस-भाव के उदाहरणों में जो त्रुटि है उस पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। स्थायी भाव के उदाहरणों में भावत्व नहीं है। इस प्रकार के दोष आधुनिक युग तक चले आए हैं। तर्क द्वारा प्रत्येक भाव की व्यञ्जना का निरूपण और विवेचन न होने से सांकर्य भी बहुत हुआ है। मध्यकाल में केवल श्रव्य-काव्य की ही विवेचना हुई नाट्य की नहीं। उसकी आवश्यकता ही नहीं थी। नाटक न होते थे, न लिखे जाते थे। श्रव्य में ही नाट्य भी प्रविष्ट हो रहा था। संवादों के लिखने का चलन बहुत था। केशवदास जी के सभी प्रबन्ध-काव्य संवादों से भरे हैं, बहुत से कवियों ने 'वाद' या 'चर्चा' नाम से संवाद लिखे हैं आदि-आदि। वर्तमान युग में भी नाट्य-शास्त्र की मीमांसा नहीं है यद्यपि नाटक की प्रवृत्ति बहुत है पर यह प्रवृत्ति भिन्न आदर्श पर है, अतः उसके भारतीय स्वरूप के चिन्तन में कौन प्रवृत्त हो ? अनुवाद उल्था ही हुआ है। पर रस मीमांसा का गहरा सम्बन्ध 'नाट्य' या दृश्य-काव्य से है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराकाल में श्रव्य और दृश्य अथवा काव्य और नाटक की भिन्न-भिन्न परम्पराएँ थीं। उनके शास्त्रों का विचार भी भिन्न-भिन्न दृष्टियों से होता था। श्रव्य-काव्य की ही परम्परा में अलंकार, गुण, रीति और वक्रोक्ति का शास्त्रीय विवेचन हुआ, इस परम्परा में कर्तृपक्ष से विचार होता था। रस आदि का सम्बन्ध नाट्य से था और उसमें औचित्य का माहात्म्य था। श्रव्य-काव्य में और उसकी मुक्तक रचना में सामाजिक अनौचित्य रह सकता था, 'रसाभास' हो सकता था। पर दृश्य-काव्य में ऐसा नहीं। आगे चलकर दोनों का सम्मिश्रण हो गया। रस प्रधान और 'अलंकार्य' हुआ और अलंकार, रीति, गुण आदि अप्रधान और 'अलंकार' या शैली। रीतिकाल या शृङ्गार-काल में 'अलंकार' पर, शैली पर, चमत्कार-योजना पर विशेष ध्यान दिया गया और नाट्य के औचित्य का विचार न रखकर जो शृङ्गार में कुछ अश्लील कही जाने वाली रचनाएँ हुईं उनका हेतु यही है कि वे रस और अलंकार को अलग-अलग जानते हुए भी कर्तृपक्ष से उसे देखते थे, ग्रहीता पक्ष से,

सामाजिक की दृष्टि से नहीं। ग्रहीता जनता न होकर विशेष प्रकार का सहृदय-वर्ग था। औचित्य का एक ही मार्ग निकाल लिया गया कि शृङ्गार-रस-सम्बन्धी रचनाओं के आलम्बन राधा-कृष्ण कह दिये गए।

राधा-कृष्ण को आलम्बन देखकर कुछ लोग रीतिकाल को भक्ति-काव्य या उसका अंग कहना चाहते हैं। रस-मीमांसा की विचार-परम्परा यदि चलती होती तो ऐसी अविचारित बातें न कही जातीं। यदि ऐसा मान लिया जायगा तो काव्य में भेदोपभेद का मार्ग ही रुक जायगा। भक्ति-काव्य से रीति-काव्य अवश्य प्रभावित हुआ। वर्ण्य, आलम्बन तो उसने कृष्ण-भक्ति वालों का लेकर उसे सामाजिक औचित्य के भीतर रखा, अन्यथा परकीया की उक्तियाँ बाजारू हो जातीं और काव्य का सामाजिक महत्त्व नष्ट हो जाता। परकीया की उक्तियाँ उन्हें क्यों कहनी पड़ीं यह पहले ही कहा जा चुका है, फ़ारसी काव्य के जोड़-तोड़ में; राज-सभा में बड़प्पन के लिए। भाषा का आदर्श मिला-जुला हुआ। ब्रज-अवधी का, पूरबी-पछाहीं का मेल करना पड़ा। अधिकतर कवि पिछले काँटे अवध में हुए थे। पर शैली उन्हें चमत्कार की, श्रव्य-काव्य की, भारतीय परम्परा की ही रखनी पड़ी। प्रमुख कवियों को ध्यान में रखकर कहें तो कहना पड़ेगा कि सूरदास, तुलसीदास और केशवदास तीनों से कुछ-न-कुछ लेकर रीति-काव्य का प्रसार हुआ। अतः 'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास' कहने में कुछ रहस्य है। यह कहना ठीक नहीं कि केशवदास का प्रभाव रीति-काव्य पर नहीं पड़ा। उन्होंने जो परम्परा प्रतिष्ठित की थी उसका अनुगमन बिहारी, देव, भूषण, मतिराम सभीमें है। बिना केशवदास जी के ग्रन्थों—'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' को पढ़े कोई हिन्दी में प्रतिष्ठा ही नहीं पाता था। यह दूसरी बात है कि हिन्दी के नायिका-भेद के उत्तरवर्ती सब ग्रन्थ 'रसिकप्रिया' का अनुगमन नहीं करते, पर उसकी भी एक अखण्ड परम्परा है और वह रीतिकाल के अन्त तक चली गई है। 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' की सीधी प्रणाली सरल थी, इसलिए आगे अनुगमन-अनुकथन उसीका विशेष हुआ।

उत्तरवर्ती मध्यकाल में चमत्कार की प्रधानता का कारण अलंकार का वह अर्थ लेना है जो संस्कृत में व्यापक अर्थ में लिया गया और जो श्रव्य-काव्य की कर्तृपक्ष-दर्शनी परम्परा को ग्रहण करता है। अतः रस की दृष्टि से रीतिकाल को जैसे शृङ्गार-काल कहा जा सकता है वैसे ही शैली और प्रवृत्ति की दृष्टि से 'अलंकार-काल' भी। पर शृङ्गार की प्रवृत्ति इससे अधिक व्यापक थी। अर्थात् उस युग में कुछ ऐसे कवि भी थे जो शृङ्गार की रचना तो अवश्य करते थे, पर रीति या अलंकार-चमत्कार या काव्य की बाहरी तड़क-भड़क से अपना विशेष सरोकार नहीं रखते थे। उनका उत्थान भिन्न आदर्श पर था। वे फ़ारसी की विदेशी परम्परा को हिन्दी में प्रवर्तित करना चाहते थे, उसकी अन्तर्वृत्ति के स्वरूप के कारण। पर उसे रखना वे भारतीय ढंग से ही चाहते थे। उनमें चमत्कार-भेद के स्थान पर भावना-भेद पर अधिक दृष्टि थी और उनका सौन्दर्य-भेद भी चमत्कार-भेद से भिन्न था। यदि अँग्रेजी-साहित्य की भाँति फ़ारसी-साहित्य में भी शास्त्रीय विवेचन का पुष्ट प्रवाह होता तो भारतीय और फ़ारसी साहित्य के विवेचन का समन्वय करके उसके शास्त्रीय विवेचन के कुछ ग्रन्थ भी कदाचित् बनते। पर फ़ारसी में इसका विस्तार न पाकर कुछ भी न हो सका। कहीं-कहीं प्रेम के निरूपण की प्रवृत्ति अवश्य दिखाई पड़ी है जिसमें भारतीय प्रेम-साधना और सूफ़ी प्रेम-साधना के सिद्धान्तों का मेल करने का आभास-मात्र है, जैसे रसखानि की 'प्रेम वाटिका' में। पर उसे साहित्य का शास्त्रीय ढंग का विवेचन कहने में

अत्यन्त संकोच होता है। व्यवस्थित ढंग से भी निरूपण नहीं हुआ है। भक्ति-सम्प्रदाय के आचार्यों ने जैसा भक्ति-साहित्य के मेल से विस्तृत विवेचन किया, यथा 'उज्ज्वल नीलमणि' में, उसकी सम्भावना भी साहित्य-क्षेत्र में न हो सकी।

आधुनिक युग में समन्वित विवेचन होने के पूर्व भारतीय रस-मीमांसा और पश्चिमी 'कला-मीमांसा' का पृथक्-पृथक् ऐतिहासिक विवेचन तटस्थ और विदग्ध बुद्धि से हिन्दी में होना चाहिए। फिर दोनों की परस्पर तुलना और युगानुरूप ग्राह्यता का विचार होना चाहिए। यों ही उड़न-छू उक्तियों-सूक्तियों से काम न चलेगा। 'रस' की विशिष्ट प्रक्रिया है। वह प्रक्रिया देश-काल-बद्ध नहीं है। जो रस का अर्थ शुद्ध आनन्द समझते हों और उसका कुछ भी सामाजिक या लौकिक पक्ष न मानते हों उन्हें पुनः-पुनः साहित्य-शास्त्र में 'औचित्य' की पुकार का मनन करना चाहिए। यह औचित्य अलौकिक तत्त्व नहीं, समाज या लोक और सामाजिक या लौकिक को ध्यान में रखकर ही इसका उद्घोष किया गया है। जो 'रस' को देश-काल-परिविच्छिन्न मानकर उसका विचार-विमर्श या उसके प्राचीन विवेचन का संग्रह उसी दृष्टि से करना चाहते हों जिस दृष्टि से कोई पुरातत्त्ववेत्ता शुङ्ग, गुप्त आदि युगों के ईंट-पत्थर का संग्रह और उसका विचार-विवेचन करता है उसे प्राचीन साहित्याचार्यों के द्वारा रस के लिए कहे गए 'चिन्मय' शब्द को भी ध्यान में लाना चाहिए। रस-मीमांसा अभी हो भी सकती है और काम भी आ सकती है यही मेरी धारणा है। अधिक अध्ययन-सापेक्ष, श्रम-साध्य और विचारित-सुस्थ वह अवश्य है।

डॉक्टर भगीरथ मिश्र

हिन्दी-रीति-शास्त्र

हिन्दी-रीति-शास्त्र,[1] संस्कृत के अलंकार-शास्त्र से प्रेरित और अनुप्राणित ही नहीं, वरन् प्रमुखतः उसी पर आधारित है। केशवदास से लेकर पद्माकर, प्रतापसाहि और लछिराम तक जो ग्रन्थ काव्य-शास्त्र पर लिखे गए, वे हिन्दी रीति-शास्त्र के रूप में परिगणित किये जा सकते हैं और इन ग्रन्थों के लिए एक बड़ी व्यापक, सुदृढ़, पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि संस्कृत अलंकार-शास्त्र की मौजूद थी। इतना ही नहीं, हिन्दी-रीति-शास्त्र के समकालीन भी संस्कृत-अलंकार-शास्त्र की परम्परा बहुत समय तक चलती रही, जिसने रीति-सम्बन्धी ग्रन्थों के सृजन के लिए हिन्दी-लेखकों को बल दिया। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संस्कृत के अलंकार-शास्त्र के अन्तर्गत भी उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के समस्त ग्रन्थ उल्लिखित किये जाते हैं जिस प्रकार रीति-शास्त्र के अन्तर्गत हिन्दी-काव्य-शास्त्र के समस्त ग्रन्थ। वास्तव में, आज का काव्य-शास्त्र ही संस्कृत का अलंकार-शास्त्र और रीति-काल का रीति-शास्त्र है। इस हिन्दी-रीति-शास्त्र की पृष्ठभूमि-स्वरूप संस्कृत-अलंकार-शास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है।

संस्कृत के समस्त अलंकार-शास्त्र को छः सम्प्रदायों में बाँटा जा सकता है, जो हैं, रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय और औचित्य-सम्प्रदाय। ऐसी बात नहीं कि संस्कृत के सभी काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ, निश्चित रूप से इनमें से किसी एक ही सम्प्रदाय के अनुयायी हों, फिर भी अधिकांश महत्त्वपूर्ण लेखक इन सम्प्रदायों में से किसी एक सम्प्रदाय की बातों की पुष्टि तथा दूसरे सम्प्रदाय की बातों का खण्डन अथवा अपने सम्प्रदाय के सम्बन्ध में उठाये गए आक्षेपों का समाधान करते रहे। इस प्रकार विभिन्न आचार्यों-द्वारा संस्कृत-काव्य-शास्त्र के इन छः सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन सम्प्रदायों में से औचित्य-सम्प्रदाय का हिन्दी में उल्लेख भी नहीं मिलता। वक्रोक्ति को भी अलंकार रूप में स्वीकार किया गया, सम्प्रदाय रूप में नहीं। रीति-सम्प्रदाय का भी विशेष प्रभाव नहीं रहा, किन्तु रस, अलंकार और ध्वनि-सम्बन्धी सिद्धान्तों ने हिन्दी-रीति-शास्त्र को विशेष रूप से प्रभावित किया है। हिन्दी-रीति-शास्त्र के रस-नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों में प्रमुखतया 'नाट्य-शास्त्र', 'शृङ्गार-प्रकाश', 'रस-मंजरी' और 'रस-तरंगिणी का आधार ग्रहण किया गया है। अलंकारों का हिन्दी-रीति-शास्त्र में निरूपण प्रायः 'काव्यादर्श', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्य दर्पण' और उससे भी अधिक 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर किया गया। ध्वनि-सिद्धान्त का प्रभाव हिन्दी-रीति-शास्त्र पर व्यापक रीति से पड़ा। रीतिकालीन अनेक आचार्यों—जैसे, कुलपति, देव, सूरति, कुमारमणि,

१. रीति-शास्त्र का तात्पर्य, 'रीति-काल' में लिखा गया हिन्दी-काव्य-शास्त्र लिया गया है।

२. 'काव्य-मीमांसा', १ अध्याय।

श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रताप साहि, लछिराम आदि ने अपने ग्रन्थों में ध्वनि-सिद्धान्त का वर्णन किया है। इस सिद्धान्त ने आचार्यत्व को अधिक प्रेरित किया, कवित्व को उतना नहीं, कतिपय ग्रन्थ (जैसे 'व्यंग्यार्थ कौमुदी', 'व्यंग्यार्थ-चन्द्रिका' आदि) ही इससे प्रेरित होकर लिखे गए, जिनके काव्य में व्यंग्य की दृष्टि है।

उपर्युक्त संस्कृत-काव्य-सिद्धान्तों और ग्रन्थों की पृष्ठभूमि में हिन्दी-रीति-शास्त्र का निर्माण हुआ, जिससे आधुनिक हिन्दी-काव्य चाहे प्रत्यक्षतः प्रभावित न हुआ हो, परन्तु प्राचीन हिन्दी-काव्य अवश्य प्रभावित हुआ। रीतिकालीन हिन्दी-काव्य उससे प्रभावित था इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु भक्तिकालीन काव्य पर भी इसका प्रभाव था, यह विद्यापति, सूर, तुलसी, रहीम, नन्ददास, केशव, सेनापति आदि कवियों के काव्यादर्शों से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। विद्यापति का वर्णन रस, नायिका-भेद को दृष्टि में रखकर है। सूर तथा कृष्ण-काव्य पर प्रत्यक्षतः रस-सिद्धान्त का प्रभाव है और यही प्रभाव रहीम, नन्ददास पर भी है। तुलसी भी काव्य-शास्त्र से प्रभावित न हों ऐसा नहीं, जैसा कि उनकी 'मानस' की भूमिका-सम्बन्धी पंक्तियों से स्पष्ट है :

राम सीय जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम।
अरथ अनूप सुभाव सुभाषा। सोइ पराग मकरन्द सुबासा।
धुनि अवरेब कबित गुनजाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती।[1]

सेनापति ने भी अपने 'कवित्त-रत्नाकर' में लिखा है :

बिन ही सिखाये, सब सीखि हैं सुमति जो पै,
सरस अनूप-रस-रूप यामैं धुनि हैं।[2]

अतः रस, अलंकार और ध्वनि का पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्य में व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। हाँ वक्रोक्ति, रीति और औचित्य आदि सिद्धान्तों की चर्चा हिन्दी-रीति-शास्त्र में भी नहीं हुई और न उसने काव्य को ही प्रभावित किया। अतएव इन्हीं सिद्धान्तों के रूप में विकसित 'हिन्दी-रीति-शास्त्र' का परिचय आगे दिया जायगा।

अलंकार-सम्प्रदाय और हिन्दी-रीति-शास्त्र

संस्कृत-काव्य-शास्त्र के भीतर अलंकार-सम्प्रदाय का विकास हुआ और हिन्दी-रीति-शास्त्र के अन्तर्गत भी अलंकार-शास्त्र में आचार्यों ने डटकर योग दिया। यों तो अलंकारों पर लिखे संस्कृत के ग्रन्थ हिन्दी आलंकारिकों के लिए पृष्ठभूमि के रूप में थे ही; पर हिन्दी के आचार्यों ने इसमें अपने निजी विकास को भी प्रस्तुत किया है। अलंकार के सम्बन्ध में केवल लक्षण-उदाहरण देने वाले आलंकारिकों को छोड़कर जिन लोगों ने भी इस क्षेत्र में कुछ नवीनता प्रदान की है या जिनके अलंकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण कुछ महत्त्व रखते हैं हम उन्हींके आधार पर यहाँ हिन्दी-रीति-शास्त्र की अलंकार के क्षेत्र में देन को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

यों तो अलंकार-शास्त्र का प्रारम्भ पहले से भी हो गया था, पर इस क्षेत्र में सबसे प्रथम महत्त्वपूर्ण कार्य आचार्य केशवदास का है और वे आलंकारिक थे। अलंकार को ही वे काव्य में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे। अपनी 'कविप्रिया' में केशवदास ने लिखा है :

१. बालकांड, ३७ दोहा
२. 'कवित्त-रत्नाकर' १, ७

यद्यपि जाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥[1]

उनकी दृष्टि से सब-कुछ होने पर भी अलंकार से हीन होने पर कविता शोभा नहीं पाती है। हाँ दोषों का निवारण केशव की दृष्टि से सबसे पहले आवश्यक है :

राजत रंच न दोषयुत, कविता बनिता मित्त
बूँदक हाला होत ज्यों गंगाजल अपवित्त॥

केशवदास समस्त काव्य को अलंकारयुक्त ही मानते हैं और उनकी दृष्टि से वह काव्य के लिए अनिवार्य हैं। इसीलिए उन्होंने साधारण वर्णनों को भी सामान्यालंकार के भीतर रख दिया है। तात्पर्य यह है कि औचित्य और परम्परापूर्ण वर्णन-मात्र साधारण अलंकार हैं और शेष अलंकार विशिष्टालंकार हैं, जिसमें कि वर्णन चमत्कारपूर्ण है। केशव के इस वर्णन में अलंकार की एक बड़ी ही व्यापक धारणा प्रकट हुई है जिसमें स्वाभाविक वर्णन और उक्ति-वैचित्र्य दोनों को ही अलंकार कहा गया है, यद्यपि सामान्यालंकार के उदाहरणों में दोष यह है कि उनके भीतर विशिष्टालंकार भी आ गए हैं। हम केवल यह कह सकते हैं कि इन वर्णनों में कवि की दृष्टि प्रमुखतया सामान्यालंकार की ओर है अर्थात् वर्णन का औचित्य प्रधान है, शैली की विशेषता प्रधान नहीं। सामान्यालंकार के भीतर कवि-प्रसिद्धि या रूढ़ि का महत्त्व है, परन्तु विशिष्टालंकार के भीतर भी यथातथ्य चित्रण को केशवदास ने जाति-स्वभाव अलंकार के भीतर रखा है। अनेक वर्गों और भेदों की कल्पना में केशवदास की मौलिकता प्रकट होती है। त्रुटि यह है कि इन्होंने ऐसे वर्गों या भेदों की व्याख्या करते हुए कुछ भी नहीं लिखा जिसके कारण इनकी नवीन चिन्तना पूर्णतया प्रकट नहीं हो पाई। हेतु के इन्होंने अभाव हेतु, सभाव हेतु भेद माने हैं, अर्थात् हेतु किसी वस्तु के अभाव का या सभाव का कारण-रूप वर्णित होकर आता है। ऐसे ही केशव ने आक्षेप के नौ भेद किये हैं, प्रेम, अधैर्य, धैर्य, संशय, मरण, आशिष, धर्म, आक्षेप, उपाय, शिक्षा। शिक्षा-आक्षेप के भीतर केशव ने सुख की शिक्षा द्वारा दुःख का निषेध करते रहने में, बारहमासा का वर्णन किया है जिसमें प्रिय के प्रवास का, प्रत्येक मास में उसे कष्ट-कारी बताकर निषेध किया गया है। इसी प्रकार माला-दीपक, गणना, श्लेषभेद, युक्ति और उसके भेद, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, अद्भुत रूपक, उपमाभेद आदि प्रसंगों में केशव की सूझ प्रकट होती है और वे हमें इस दिशा की ओर प्रेरित करते हैं। सामान्यालंकार की सामग्री, जो कि वास्तव में कवि-शिक्षा के अन्तर्गत है, केशव ने अलंकार के अन्तर्गत रखकर अलंकार की व्यापक धारणा स्पष्ट की है। विशेषालंकारों में केशव ने दण्डी के 'काव्यादर्श' और रुय्यक के 'अलंकार-सूत्र' का आधार लिया है, फिर भी अनेक स्थलों पर उन्होंने अपनी मौलिकता भी प्रदर्शित की है।[2]

अलंकार के क्षेत्र में केशव की परम्परा से प्रभावित आचार्य देव हैं। यों देव अलंकारवादी नहीं हैं, वे रस और ध्वनि के सिद्धान्त को मानने वाले हैं और उन्होंने काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों का विवेचन किया है, पर ये अलंकार के क्षेत्र में दण्डी, भामह और केशव की राह में चलने वाले कवि हैं। देव ने मुख्य उनतालीस अलंकार माने हैं जिनका उल्लेख 'भाव विलास' में

१. कविप्रिया ५, १
२. विशेष विवरण के लिए देखिये डॉ० हीरालाल दीक्षित-कृत 'केशवदास', अध्याय ६।

हुआ है और उनका विचार है कि इन्हींके भेद रूप में आधुनिक आचार्य अन्य अनेक अलंकार भी सम्मिलित कर लेते हैं। केशव की परम्परा मानते हुए देव ने भी अर्थहीन शब्दालंकार को 'मृतक या प्रेतकाव्य' माना है :

'मृतक काव्य बिनु अर्थ के, कठिन अर्थ को प्रेत'। फिर भी वे रस को काव्य में महत्त्व देते हैं जैसा कि उनके 'शब्द रसायन' के नीचे लिखे दोहे से स्पष्ट है :

सरस वाक्य पद अरथ तजि, शब्द चित्र समुहात।
दधि, घृत, मधु, पायस तजत, वायस चाम चबात॥

केशव के विपरीत देव 'स्वाभावोक्ति' और 'उपमा' को ही प्रमुख अलंकार मानते हैं, क्योंकि इनमें स्वाभाविक सरसता रही है, क्लिष्ट चमत्कार-प्रदर्शन नहीं। "अलंकार में मुख्य हैं उपमा और स्वभाव" केशव चमत्कारवादी थे इसमें सन्देह नहीं, अतः देव, केशव की परिपाटी पर, अलंकारों के क्षेत्र में चलकर भी उनसे भिन्न धारणाएँ रखते हैं।

इन कुछ कवियों को छोड़कर हिन्दी का शेष अलंकार-शास्त्र 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का मार्ग अपनाये हुए हैं। इनमें प्रमुखतया उल्लेखनीय जसवन्तसिंह का 'भाषा भूषण', मतिराम का 'ललितललाम', भूषण का 'शिवराज-भूषण', रसिक सुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय', दूलह का 'कविकुल कण्ठाभरण', बैरीसाल का 'भाषाभरण', पद्माकर का 'पद्माभरण', आदि ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में लक्षण-उदाहरण की परिपाटी में थोड़ी-बहुत ही भिन्नता मिलती है। प्रायः इनकी शैली, दोहों में लक्षण तथा दोहों, कवित्त, सवैयों में उदाहरण देने की रही। कुछ लोगों, जैसे जसवन्त-सिंह, दूलह आदि ने आधे छन्द में लक्षण और आधे में उदाहरण दिए। पर इनको भी आधार और प्रेरणा 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' से ही प्राप्त हुई।

रस-सम्प्रदाय और हिन्दी-रीति-शास्त्र

रस-सम्प्रदाय का शास्त्रीय विकास और विवेचन हिन्दी-रीति-शास्त्र के ग्रन्थों में अधिक देखने को नहीं मिलता। इसका वर्णन करने वाले हिन्दी-रीति-शास्त्र के अन्तर्गत दो प्रकार के ग्रन्थ हैं, एक तो वे जो रस का स्वतन्त्र वर्णन करते हैं और दूसरे वे जो ध्वनि-काव्य के एक रूप, रस-ध्वनि का विवेचन करते हैं। ध्वनि का वर्णन करने वाले आचार्य भी बहुत-से ऐसे हैं जिन्होंने ध्वनि का तो संक्षेप में वर्णन करके उसे चलता किया और रस के वर्णन को अधिक विस्तार प्रदान किया है।

केशवदास ने ध्वनि का उल्लेख किये बिना ही रस का वर्णन अपने ग्रन्थ 'रसिकप्रिया' में किया है। यह रस-वर्णन अनेक ग्रन्थों का आधार लिये हुए है, जैसे भारत का 'नाट्यशास्त्र' भानुभट्ट की 'रसमंजरी', भोज का 'शृङ्गार प्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्य दर्पण' आदि हैं। परन्तु उनका वर्णन इनसे किसी एक ही ग्रन्थ का आधार लेकर नहीं किया गया। ध्वनि के प्रसंग के बिना रस का उल्लेख करने वाले हिन्दी रीति-शास्त्र के ग्रन्थ अधिक शास्त्रीय महत्त्व के नहीं। 'रसिक-प्रिया' के अतिरिक्त सुन्दर का 'सुन्दर शृङ्गार', तोष का 'सुधानिधि', चिन्तामणि की 'शृङ्गारमंजरी', मति-राम का 'रसराज', सुखदेव का 'रसार्णव', देव का 'रसविलास', 'भाव-विलास' और 'भवानी विलास', दास का 'शृङ्गार निर्णय', उजियारे कवि की 'रामचन्द्रिका', यशवन्तसिंह का 'शृङ्गार शिरोमणि', रामसिंह का 'रसनिवास', पद्माकर का 'जगत्‌विनोद', वेनी प्रवीन का 'नवरस तरंग' प्रभृति ग्रन्थ प्रमुख हैं। इन सभी ग्रन्थों में सिद्धान्त-विवेचन अधिक नहीं है। लक्षण प्रायः संक्षेप में हैं और कहीं-कहीं विषय का केवल नामोल्लेख करके ही उदाहरण दिये गए हैं। इन उदाहरणों में निस्सन्देह

सरस और ललित काव्य के नमूने मिलते हैं। इन ग्रन्थों के विषय की रूप-रेखा प्रायः रसभेद, श्रृङ्गारभेद, नायिकाभेद, नायक भेद आदि कहकर उनके उदाहरण जुटाना है। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से ये रस-सम्बन्धी रीति-शास्त्र के अधिकांश ग्रन्थ कोई महत्त्वपूर्ण विकास प्रस्तुत नहीं करते। इन ग्रन्थों की टीका, व्याख्या और वचनिकाओं में कहीं-कहीं अवश्य इस बात का विवेचन हुआ है कि अमुक उदाहरण में कौन रस, कौन नायिका हैं, इनका उद्देश्य प्रमुखतः काव्य रस को सर्वसुलभ बनाना था, सैद्धान्तिक विकास प्रस्तुत करना नहीं।

ये समस्त ग्रन्थ अपने विषय-वर्णन के क्रम और लक्षणों की दृष्टि से एक-से नहीं हैं, वरन् अपने आधारभूत संस्कृत अथवा हिन्दी के ग्रन्थों के अनुरूप अपने लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इनके अन्तर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में आने वाली बातों का उल्लेख हम आगे करेंगे। परन्तु यहाँ पर यह भी कह देना आवश्यक है कि प्रायः संस्कृत के रस, श्रृङ्गार और नायिका-भेद के बहुसंख्यक ग्रन्थ भी ठीक इसी प्रकार के हैं जिनमें किसी भी प्रकार का सैद्धान्तिक विवेचन प्राप्त नहीं होता, वरन् कहीं-कहीं रस या नायक-नायिकाओं के नामोल्लेख-मात्र ही हैं और उदाहरण स्वरचित छन्दों में दिये गए हैं। अतएव हिन्दी-रीति-शास्त्र के रसग्रन्थों में यदि उसी का परिपालन दिखाई पड़े, तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। भानुभट्ट का 'रस-मंजरी' का बड़ा प्रभाव हिन्दी के रस-ग्रन्थों पर पड़ा है, पर उसमें नायिका-भेदों का वर्णन है और लक्षण अति संक्षेप में गद्य में दिये गए हैं। पर जहाँ पर प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण संस्कृत-ग्रन्थों की टीका या व्याख्या करके विद्वानों ने उसके भीतर निहित महत्त्व को स्पष्ट किया और सैद्धान्तिक विकास के साथ उसे जोड़ दिया है, वहाँ हिन्दी के इन ग्रन्थों की व्याख्या नहीं की गई, जिससे उनके संक्षिप्त लक्षण पूर्ण स्पष्ट हो पाते। आगे हम कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का उल्लेख करेंगे।

'रस-विवेचन' के प्रसंग में केशव ने अपनी 'रसिकप्रिया' के भीतर अनेक विषयों का प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो रूपों में वर्णन किया है। जैसा कि अधिकांश आधारभूत संस्कृत-ग्रन्थों में नहीं है। इसका आधार, भोजराज के 'श्रृङ्गार प्रकाश' में आये,[1] अनुराग के दो भेद प्रच्छन्न और प्रकाश से लिया जान पड़ता है। पर, जहाँ भोज ने केवल इसी प्रसंग में उनका प्रयोग किया है, केशव ने अनेक प्रसंगों में इसका प्रयोग किया है। नायिका-भेद में इन्होंने अन्य काव्य-शास्त्र-ग्रन्थों के साथ 'अनंग-रंग' का आधार भी ग्रहण किया है। केशव ने वचन, मुख और नेत्रों से मन की बात प्रकट होने को भाव कहा और ऐसा ही चिन्तामणि ने भी, परन्तु मतिराम ने भाव-प्रकाशन के उपकरणों को बढ़ा दिया। उनका कथन है :

लोचन वचन प्रसाद मृदु हास वास चित मोद।
इनते परगट जानिये, बरनत सुकवि विनोद॥

इसमें शारीर चेष्टाएँ, वेश-भूषा और मुख-मुद्रा भी भाव प्रकाशित करने वाले हैं, यह स्पष्ट कह दिया गया है।

देव का रस-विवेचन अधिक रोचक, स्पष्ट और पूर्ण है। इनके विवेचन का आधार प्रायः 'नाट्य-शास्त्र' और 'रस-तरंगिणी' हैं फिर भी देव ने अपने ढंग से उसे प्रकट किया है। उनके 'भवानी-विलास', 'भाव-विलास', 'रसविलास' और 'प्रेम-चन्द्रिका' में उनके रस और नायिका-भेद सम्बन्धी

---

१. 'शृंगार प्रकाश', २२वाँ प्रकाश।

विचार प्रकट हुए हैं। देव प्रमुख रस तीन शृङ्गार, वीर और शान्त मानते हैं। ये ही महाकाव्य के प्रधान रस भी हैं और इनमें भी प्रमुख रस शृङ्गार है। जिसे देव ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल भूल सिंगार।
तेहि उछाह निर्वेद लै, वीर, शान्त, संचार॥
तीनि मुख्य नौ हू रसनि द्वै-द्वै प्रथम विलीन।
प्रथम मुख्य तिन तीनहूँ दोऊ तेहि आधीन॥[1]

देव ने अपने विवेचन में समस्त वस्तुओं का प्रेरक काम बतलाया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड' के सिद्धान्त का तत्त्व हमें देव के इस विवेचन में दृष्टिगत होता है। 'रस-विलास' में देव ने स्पष्ट लिखा है :

युक्ति सराही, मुक्तिहित, मुक्ति भुक्ति को धाम।
युक्ति मुक्ति औ भुक्ति को, मूल सुकहियें काम॥
बिना काम पूरन भये, लगै परम पद छुद्र।
रमनी राका ससिमुखी, पूरे काम समुद्र॥[2]

देव के विचार से मानव ही नहीं देवता, राक्षस, यक्ष, कोल, किरात, पशु, पक्षी सभी काम से ही प्रेरित होकर जीवन में आगे बढ़ रहे हैं। देव का यह उदात्त, 'काम' भाव, वासना का पर्याय नहीं, वरन् प्रेम का द्योतक है, यह बात उनके ग्रन्थ 'प्रेमचन्द्रिका' में स्पष्ट हुई है।

देव ने स्पष्टतया संयोग-वर्णन के भीतर ही रूप-वर्णन को माना है। दूसरा अंग संयोग का है, मिलन। रूप-वर्णन, संयोग का सूक्ष्म और मिलन, स्थूल रूप है। रूप की परिभाषा देव के शब्दों में यह है :

देखत ही जो मन हरै, सुख अँखियन को देइ।
रूप बखाने ताहि जो जग चेरी करि लेइ॥[3]

इस प्रकार रस के सम्बन्ध में देव की धारणा बड़ी ही विशद और यथार्थ है और इस क्षेत्र में देव ने अपने आचार्यत्व का परिचय दिया है।[4]

देव का नायिका-भेद भी अधिक वैज्ञानिक और पूर्ण है जिसका वर्णन देव ने आठ आधारों-जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वय, प्रकृति, सत्व पर किया है और इन प्रसंगों में अपनी मौलिक उद्भावना भी दिखाई है। केशव ने भाव के पाँच भेद माने हैं, पर देव ने स्थायी, विभाव, अनुभाव, सात्विक, संचारी और हाव ये छः भाव कहे हैं। भारत के चार भावों में केशव ने सात्विक और देव ने हाव जोड़कर संख्या में वृद्धि की। परन्तु वास्तव में इन्हें आचार्यों ने अनुभाव के भीतर ही माना है।

रस के देव ने दो प्रकार कहे हैं, एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। लौकिक रस शृङ्गार आदि तथा अलौकिक स्वापनिक, मानोरथ और औपनायक हैं। इस प्रकार व्यापक धारणा द्वारा

१. भाव विलास।
२. रस-विलास।
३. वही।
४. विशेष विवरण के लिए देखिये—डॉ० नगेन्द्र-कृत 'देव और उनकी कविता', पृष्ठ ७८।

देव ने आध्यात्मिक साधना-प्रसूत, आनन्दानुभूति को रस के अन्तर्गत रख दिया है। 'भाव विलास' में उन्होंने लिखा है :

नयनादिक इन्द्रियन के जोगहिं लौकिक ज्ञान।
आतम मन संयोग ते होय अलौकिक ज्ञान॥

इसी प्रकार देव ने शान्त रस के प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति, शुद्ध प्रेम और शुद्ध शान्त भेद किये हैं। देव की इस धारणा के भीतर शान्त, वात्सल्य तथा भक्ति-रस के (दास्य और माधुर्य भेदों के साथ) बीज देखने को मिलते हैं। ऐसे ही अन्य प्रसंग देव के विशद और मौलिक विवेचन के परिचायक हैं। देव का-सा महत्त्वपूर्ण रस-वर्णन, रस-सम्प्रदाय के अन्य हिन्दी आचार्यों में उपलब्ध नहीं होता।

उजियारे कवि ने अपने ग्रन्थ 'रस चन्द्रिका' में देव के समान ३४वाँ संचारी 'छल' माना है। परन्तु लक्षण जँचता नहीं। इसमें शंका उठाकर उसका उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु स्पष्ट विवेचन अथवा नवीनता नहीं। जसवन्तसिंह के 'शृङ्गार शिरोमणि' ग्रन्थ में दो नवीन बातें मिलती हैं, एक तो उन्होंने रति के दो भेद, श्रवण रति और दर्शन रति किये हैं। दूसरे नायक के सहायक धर्म सचिव आदि के व्याकरणी, नैयायिक, मीमांसक, वेदान्ती, योगशास्त्री, ज्योतिषी, वैष्णव, शैव, आरण्य, पौराणिक, आदि हैं, जो अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुकुल प्रेम की शिक्षा देते हैं। ये साधारण विस्तार हैं, कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं।

हिन्दी-रीति-शास्त्र के रस-सम्प्रदाय के अन्तर्गत एक और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है—नरवरगढ़-नरेश महाराज रामसिंह का 'रस-निवास'। यह स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करता है और लेखक के मौलिक चिन्तन से भी सम्पन्न है। मनोविकारों और भावों का भेद बताते हुए उन्होंने लिखा है :

रसअनुकूल विकार भाव कहि, होइ आन विधि सो विकार लहि।

इस प्रकार रसानुकूल जो मनोविकार हैं, वही भाव हो सकते हैं सभी नहीं। दूसरी, विशेषता इनकी हास्य-रस के प्रसंग में देखने को मिलती है। रामसिंह ने हास्य के दो भेद किये हैं—स्वनिष्ठ और परनिष्ठ। स्वनिष्ठ में अपने में अनुभव होता है और परनिष्ठ में दूसरे में हास का अनुभव होता है। यह 'हँसना' ६ प्रकार का होता है, मुसुकानि, हँसनि, विहँसनि, उपहसनि, अपहसनि और अतिहसनि। इनमें प्रथम दो उत्तम, बीच के दो मध्यम और अन्त के दो अधम हैं। इन सबके विशेष लक्षण देकर उन्होंने अपने इस विभाजन को पुष्ट किया है। तीसरी विशेषता, इनकी शान्त रस के समकक्ष, माया रस की कल्पना है। जिसका तर्क यह है कि यदि लोक के प्रति विरक्ति पर आधारित एक रस हो सकता है तो उसके प्रति प्रबल आकर्षण भी एक रस हो सकता है। इस 'मायारस' का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है :

पूरन मिथ्या ज्ञान जु है सो मायारस पहचानौ।
भलै समुझिबो मिथ्या ज्ञान सु थाई भाव बखानौ॥
जगत भोग उपजावन जानो धर्म अधर्म विभावै।
सुत दारा जय राज आदि ये कहियत हैं अनुभावै॥

इसे शान्त-रस के समकक्ष रखा गया। विरक्ति से अधिक लोकासक्ति का भाव भी हमारे संस्कारों से है, पर यह मायारस, किसी एक निश्चित आलम्बन को लेकर भाव नहीं बनाता जिसे मिथ्या ज्ञान कहा गया है, वह कोई स्थायी भाव नहीं हो सकता। 'आसक्ति' स्थायी हो सकती है पर वह

स्त्री, पुरुष, पुत्र, धन आदि के प्रति अलग-अलग रूप में है और शृङ्गार, वात्सल्य आदि के रूप में अन्य रसों के अन्तर्गत प्रकट हुई है। अतः 'मायारस' का कोई निश्चित रूप नहीं बन पाता। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं कि यह लेखक की मौलिक सूझ हमारे विचारों को प्रेरित करती है। इसी प्रकार अन्य बातें भी इन्होंने रखी हैं जिनमें इनकी मौलिकता देखने को मिलती है।[1] इनमें से हम यहाँ केवल एक बात की ओर और संकेत करेंगे और वह है रस-सिद्धान्त के आधार पर इनका काव्य का वर्गीकरण।

'रस-निवास' में इस प्रसंग में इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के समान ही 'रस-सिद्धान्त' की व्यापक कल्पना की है। जिस प्रकार ध्वनि में, ध्वनि अर्थात् व्यंग्य-प्रधान, गुणीभूत व्यंग्य और अवर अर्थात् ध्वनिहीन काव्यों के भीतर समस्त काव्य का विभाजन किया गया है उसी प्रकार इन्होंने अपनी व्यापक कल्पना द्वारा रस-सिद्धान्त के आधार पर समस्त काव्य का विभाजन किया है। दोनों दृष्टियों में थोड़ा ही अन्तर है। रामसिंह के विचार से रस निरूपण तीन रूपों में होता है, एक अभिमुख, दूसरा विमुख और तीसरा परमुख जहाँ पर भावानुभाव से पुष्ट होकर स्थायी है वहाँ रसाभिमुख काव्य होता है। जहाँ पर ये अनुपस्थित हों वहाँ विमुख तथा जहाँ पर अलंकार भाव या वस्तु-वर्णन की मुख्यता रहती है वहाँ पर परमुख होता है। यह परमुख, अलंकार-मुख, भाव-मुख आदि हो सकता है। अभिमुख में रस प्रधान है, परमुख में रस, गुणीभूत है और विमुख में रस-हीनता मानी जा सकती है। मेरी दृष्टि से यह विवेचन रस-सिद्धान्त को एक नवीन आधार पर खड़ा करता है और महाराज रामसिंह की इस मौलिक उद्भावना और विशद विवेचना को हिन्दी-रस-सम्प्रदाय के भीतर पूर्ण गौरव मिलना चाहिए।

आगे के आचार्यों में रस की संख्या-वृद्धि के प्रसंग को छोड़कर (और वह भी निश्चित रूप से भारतेन्दु के साथ प्रारम्भ होती है) अन्य किसी प्रसंग में महत्त्वपूर्ण विकास देखने को नहीं मिलता। उदाहरणों और वर्गीकरण में ही इनकी नवीन उद्भावनाएँ सीमित रहीं, फिर भी रस-सिद्धान्त के क्षेत्र में हिन्दी-रीति-शास्त्र का योग, नगण्य नहीं समझा जाता।

ध्वनि-सम्प्रदाय और हिन्दी-रीति-शास्त्र

हिन्दी-रीति-शास्त्र में ध्वनि का विवेचन काफी बाद में आया। केशव, चिन्तामणि, तोष, मतिराम, भूषण आदि ने ध्वनि की चर्चा तक नहीं की। सबसे पहले ध्वनि का विवरण देने वाले आचार्य कुलपति मिश्र हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'रस-रहस्य' में मम्मट के काव्य-प्रकाश का आधार ग्रहण करके भाषा में इसकी चर्चा की। उन्होंने स्वयं कहा :

जिते साज हैं कवित के मम्मट कहे बखान।
ते सब भाषा में कहे, रस रहस्य में आन॥

इन्होंने काव्य-लक्षण मम्मट के आधार पर भी दिया है, पर अपना निजी लक्षण भी दिया है। जो यह है :

जग ते अद्भुत सुखसदन शब्द[1] रु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैंने कियो, समुझि ग्रन्थ बहु चित्त॥

लोकोत्तर आनन्द देने वाले शब्दार्थ को ही आचार्य कुलपति काव्य मानते हैं। 'रस-

---

१. विशेष विवरण के लिए 'देखिए हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास', पृष्ठ १६१, १६२, १६३

रहस्य' में शेष ध्वनि-सम्बन्धी विवेचन 'काव्य-प्रकाश' का अनुवाद-सा ही है। लक्षण दोहों में देकर 'गद्य वचनिका' में उसे स्पष्ट किया है। 'रस-रहस्य' रीति-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पर कोई नवीनता इसमें नहीं मिलती। विवेचन स्पष्ट और पूर्ण है। कुलपति के बाद ध्वनि का विवेचन देव ने किया है। इनके ग्रन्थ 'काव्य रसायन' में ध्वनि-सिद्धान्त का वर्णन है। प्रथम दो प्रकाशों में शब्द-शक्ति और ध्वनि का उल्लेख है। यह वर्णन 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है। पर यह 'रस-रहस्य' की भाँति अनुवाद-सा नहीं लगता। उदाहरण बड़े मार्मिक हैं। पर देव प्रमुखतया रसवादी हैं जैसा कि अन्य ग्रन्थों तथा 'काव्य-रसायन' के भी अन्य प्रकाशों में आए विवेचनों से प्रकट हुआ है। 'रस-रहस्य' की भाँति ही सूरति मिश्र का 'काव्य-सिद्धान्त' ग्रन्थ है, जिसके अन्तर्गत 'काव्य प्रकाश' का आधार ग्रहण किया गया। पर ध्वनि का अधिक विस्तार से वर्णन नहीं। 'काव्य प्रकाश' का-सा विवेचन हमें श्रीपति के 'काव्य-सरोज' में भी मिलता है। जिसमें प्रथम तीन दलों में ध्वनि का विवरण है। यह विवरण न केवल विस्तृत ही है, वरन् स्पष्ट और बोधगम्य भी है। कोई मौलिकता नहीं है। 'काव्य सरोज' की विशेषता 'दोष-वर्णन' में है, जिसमें इन्होंने पूर्ववर्ती प्रसिद्ध आचार्यों के उदाहरण लेकर उसमें दोष दिखाए हैं। केशव, ब्रह्म, सेनापति आदि की रचनाओं में आए दोषों के उल्लेख बड़े रोचक हैं। श्रीपति की विवेचन-प्रणाली अत्यन्त सुलझी हुई है, इसमें सन्देह नहीं। सोमनाथ के ग्रन्थ 'रसपीयूषनिधि' में ध्वनि-विवेचन का आधार 'काव्य-प्रकाश' और 'ध्वन्यालोक' दोनों ही हैं। इस ग्रन्थ में रोचक भाग इसमें आई गद्य-व्याख्या है। 'रसपीयूषनिधि' ग्रन्थ की १० तरंगों में ध्वनि-सिद्धान्त का बड़ा विशद विवेचन हुआ है, जिसमें भरत, अभिनव गुप्त और मम्मट के मतों का स्पष्टीकरण किया गया है। विवेचन में प्रमुख प्रवृत्ति स्पष्टीकरण की है, सैद्धान्तिक विकास या मत-वैषम्य को स्पष्ट करने की नहीं। उसमें आचार्यों के लक्षण अलग देकर तब उदाहरण दिये गए हैं। ध्वनि-सिद्धान्त का यह एक विशद ग्रन्थ है।

इसके पश्चात् प्रसिद्ध ध्वनिवादी आचार्य भिखारीदास हैं और इनका 'काव्य-निर्णय' ग्रन्थ बड़ा ही प्रसिद्ध है। 'काव्य-निर्णय' में मम्मट के मत का स्पष्टीकरण हुआ है, पर वह लगता है दास जी का निजी मत जैसा; क्योंकि लक्षण और उदाहरण दोनों ही स्पष्ट और रोचक हैं। इनका विवेचन प्रौढ़ है। 'काव्य-निर्णय' के दूसरे उल्लास में 'शब्द-शक्ति' का तथा छठे उल्लास में 'ध्वनि' का वर्णन किया गया है। सातवें में 'गुणीभूत-व्यंग्य' है जिसके लक्षण 'काव्य प्रकाश' के आधार पर हैं और उदाहरण दास जी की निजी रचनाएँ हैं। दास का ध्वनिवादी दृष्टिकोण इनके अष्टम उल्लास से प्रकट होता है, जहाँ ये अलंकार-विवेचन में अपना मत प्रकट करते हैं। दास जी का विचार है कि जहाँ पर केवल अलंकार है, वह अवर काव्य होता है, किन्तु जहाँ पर अलंकारयुक्त कविता के साथ-साथ गुण भी मिलते हैं, पर व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं होता, वहाँ मध्यम काव्य होता है। जहाँ पर गुण रस-व्यंग्य का चमत्कार होता है और अलंकार भी, वहाँ पर उत्तम काव्य होता है।

बचनारथ रचना जहाँ, व्यंग्य न नेकु लखाइ।
सरल जानि तेहि काव्य को, अवर कहैं कविराइ॥[1]
अवर हेतु नहि केवलै, अलंकार निरवाहु।
कवि पंडित गनि लेत हैं, अवर काव्य में ताहु॥

१. काव्य निर्णय ७वाँ उल्लास।

अलंकार रस बात गुन, ये तीनों दृढ़ जाहिं।
अवर व्यंग कछु नाहिं तौ, मध्यम कविता आहि ॥
रुचिर हेतु रस को बहुरि, अलंकार जुत होइ।
चमत्कार गुन युक्त जो, उतम कविता सोइ ॥[१]

ध्वनि में रस को व्यंग्य ही माना है, वाच्य नहीं। अतः रस की स्थिति पर, जो दास ने मध्यम काव्य में भी मानी है, शंका हो सकती है। पर दास जी का तात्पर्य यह है कि वह व्यंग्य होते हुए प्रधान नहीं, गौण हैं। उत्तम काव्य में व्यंग्य या रस प्रधान होता है। इससे दास जी का यह मत प्रकट होता है कि अलंकार काव्य की कोटि-निर्धारण में कोई भी सहायता नहीं करते, वे तो सभी कोटियों के काव्य में परिव्याप्त हो सकते हैं। इस प्रकार दास जी ने 'काव्य-निर्णय' में अपने प्रौढ़ विचार प्रकट किये हैं और उन्हें पुष्ट करने वाले उदाहरण भी बड़े रोचक और कवित्वपूर्ण हैं। दास जी में एक आचार्य की-सी विद्वता और एक कवि की-सी प्रतिमा एक साथ देखने को मिलती है।

ध्वनि का उल्लेख करने वाले अन्य रीतिकालीन ग्रन्थों में जनराज-कृत 'कवितारस विनोद' जगतसिंह का 'साहित्य-सुधा-निधि', रणधीरसिंह का 'काव्य-रत्नाकर' तथा प्रतापसाहि की 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' मुख्य हैं। 'कविता रसविनोद' में 'काव्य प्रकाश' के आधार पर ही वर्णन है, जिसमें शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य का प्रसंग है और अलंकारों का अधम काव्य में वर्णन है। समस्त अर्थालंकारों को अधम काव्य के अन्तर्गत रखना समीचीन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहुत से अर्थालंकारों में तो लक्षणा और व्यंजना निश्चित रूप से रहती है। अलंकारों का वर्णन 'कुवलयानन्द' के आधार पर है। 'साहित्य-सुधा-निधि' ग्रन्थ 'नाट्य-शास्त्र', 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य दर्पण', 'शृङ्गार प्रकाश', 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'रसमंजरी', 'रसतरंगिणी' आदि के अध्ययन के बाद लिखा गया है। इसमें लक्षणा के लिए 'कुटिला वृत्ति' तथा अभिधा के लिए 'सरला वृत्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। विवेचन, कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। अनेक लक्षण अस्पष्ट हैं। साहित्य-विवेचन के विभिन्न प्रसंग अलग आधारों पर हैं, जैसे रस, भोज और भानुभट्ट के आधार पर, अलंकार, 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर और ध्वनि 'काव्य प्रकाश' के आधार पर हैं। इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता रीति-वर्णन है। इसमें अत्यन्त संक्षेप में पांचाली, लाटी, गौड़ी, और वैदर्भी रीतियों का वर्णन हुआ है।[२] दोषों का निरूपण, 'चन्द्रालोक' और 'काव्य प्रकाश' के आधार पर हैं और ग्रन्थ में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। यह समस्त ग्रन्थ बरवै छन्द में लिखा गया है।

'काव्य रत्नाकर' में रणधीरसिंह ने 'काव्यप्रकाश' का सूत्र उद्धृत करके उस पर वार्ता लिखी है और भाषा में विषय को स्पष्ट किया गया है। भाषा पण्डिताऊ व्रजभाषा है। प्रायः पहले

---

१. काव्य निर्णय ८वाँ उल्लास।

२. पंच षष्ठ नग वसु करि जहाँ समास।
पांचाली लाटी क्रम गौड़ी भास ॥२४॥
बिन समास जहँ कीजै पद निर्वाह।
वैदर्भी सो जानी कविन सराहि ॥२५॥

—'साहित्य सुधानिधि' ६वीं तरंग।

इन्होंने अपने लक्षण दिये हैं फिर 'काव्य-प्रकाश' के लक्षणों से तुलना करके वार्ता में उन्हें पूर्ण स्पष्ट किया है। वार्ता इस ग्रन्थ की विशेषता है। अलंकारों का आधार 'चन्द्रालोक' और शेष विवेचन का आधार 'काव्य प्रकाश' है। विवेचन में कोई सैद्धान्तिक विकास या नवीन विचार नहीं प्रस्तुत किये गए हैं। प्रताप साहि की 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' भी यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से 'काव्य प्रकाश' का आधार लिये हुए है, जैसा कवि ने स्वयं कहा है :

विंग अर्थ अतिसय कविन को कहि पावै पार।
मम्मट मति कछु समुझिके कीन्हों मति अनुसार।

फिर भी इनकी वर्णन-शैली बड़ी रोचक और नवीन है। इसमें काव्य की आत्मा ध्वनि है, यह बात भली भाँति स्पष्ट की गई है। उत्तम काव्य में व्यंग्य ही प्रधान है। उन्होंने लिखा है :

विंग जीव है कवित में शब्द अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम काव्य है बरने विंग प्रसंग॥

'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में तीन बातें एक साथ चलती हैं, नायिका-भेद, व्यंग्यार्थ और अलंकार। प्रमुखतया नायिका-भेद का उद्देश्य लिया गया है। व्यञ्जना के विषय में प्रतापसाहि का मत है कि जहाँ पर वाच्यार्थ के प्रत्यक्ष रहने पर भीतर चमत्कारपूर्ण अर्थ प्रकट होता है अथवा स्त्री के कटाक्षों की भाँति अधिक-अधिक अर्थ जान पड़ते हैं वहाँ व्यञ्जना होती है। अपने लक्षणों को इन्होंने व्याख्या द्वारा स्पष्ट भी किया है :

जहाँ शब्द के अर्थ बहु अधिक-अधिक दरसाई।
तिय कटाच्छ ज्यों विंजना कहत सकल कविराई॥

की व्याख्या है, 'जैसे तिय के कटाक्ष के बहुत भाव प्रकट होते हैं तैसे शब्द से बहुत अर्थ प्रकट होय सो विंजना ताके द्वै भेद एक तौ शब्दगति व्यञ्जना, एक अर्थगति व्यञ्जना। ये शब्दगत और अर्थगत व्यञ्जना, शाब्दी और आर्थी व्यञ्जनाएँ, क्रमशः हैं। इस प्रकार 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' में ध्वनि का महत्त्व प्रकट हुआ है। उदाहरणों में नायिका-भेद के उदाहरणों के भीतर ही शब्द-शक्ति और प्रमुख अलंकारों के उदाहरण स्पष्ट किये गए हैं। अतः ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य उदाहरण-चमत्कार ही है, सैद्धान्तिक विवेचन नहीं।

हिन्दी-रीति-शास्त्र के अन्तर्गत उपर्युक्त सिद्धान्तों का यह विवेचन आधुनिक युग के पूव हुआ। उसका यह संक्षिप्त परिचय-मात्र है। आधुनिक काल में भी इस परम्परा के ग्रन्थों के कोई विशेष महत्त्व का सैद्धान्तिक विकास देखने को नहीं मिलता। और इस परम्परा से इतर दूसरी आलोचना की परम्परा में जो आधुनिक ग्रन्थ लिखे गए उनमें अधिकांश आधार पाश्चात्य काव्य या आलोचना-शास्त्र का है। पं० रामचन्द्र शुक्ल और लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के ग्रन्थों के कुछ मौलिक चिन्तन का विकास देखने को मिलता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी के बृहद् काव्य-भण्डार का विवेचन और व्याख्या के मंथन द्वारा कोई अधिक आधुनिक काव्य-सिद्धान्त निर्माण किया जाय, जो हिन्दी-काव्य के आधार पर हो और उसका पथ-प्रदर्शन भी कर सके।

डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी

गौड़ीय वैष्णव रस-सिद्धान्त[1]

गौड़ीय वैष्णवों के रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में (संक्षेप में) मेरा मत इस प्रकार है। वस्तुतः जिसे लौकिक रस कहते हैं वह गौड़ीय वैष्णवों की दृष्टि में रसाभास-मात्र है। जो रति जड़ोन्मुख होती है वह मोह है, प्रेम नहीं; वह बन्धन का कारण होती है। जो रति चिन्मुख होती है उसीको केन्द्र करके सच्चा प्रेम प्रकट होता है। मनुष्य जब जड़-शरीर की ओर आसक्ति दिखलाता है तो वस्तुतः वह मोह का शिकार बना रहता है। उसकी इस जड़ विषयक आसक्ति को 'काम' कहा जाता है, 'प्रेमा' नहीं। 'प्रेम' (प्रेमन् शब्द का पुल्लिंग रूप) भगवद्विषयक प्रेम को कहा जाता है। अवश्य ही व्रजरामाओं के 'काम' और 'प्रेमा' में कोई अन्तर नहीं था, क्योंकि यद्यपि उन्होंने श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में वैसी ही प्रीति दिखाई थी जैसी प्राकृत स्त्री प्राकृत पुरुष के सम्बन्ध में दिखाती है परन्तु श्रीकृष्ण प्राकृत पुरुष थे नहीं, उनका शरीर चैतन्य की घनीभूत मूर्ति—चिद्घन विग्रह—था। इसीलिए रूप गोस्वामिपाद ने कह दिया है कि व्रजरामाओं का 'प्रेमा' ही लोक में 'काम' कहा गया था—'प्रेमैव व्रजरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्!' गौड़ीय वैष्णवों ने मुक्तकण्ठ से घोषित किया था कि यह 'प्रेमा' ही परम पुरुषार्थ है, मोक्ष या कैवल्य या अपवर्ग आदि नहीं—'प्रेमा पुमर्थो महान्।'

हमारे देश में—जहाँ तक मुझे मालूम है—रस-विषयक दो ही सिद्धान्त ऐसे हैं जो स्पष्ट रूप में 'दर्शन' (फिलासफ़ी नहीं) पर आधारित हैं। एक तो काश्मीर-शैवों के अद्वैतवाद पर और दूसरा गौड़ीय वैष्णवों के 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' पर। अन्य वैष्णव आचार्यों ने भी 'रस' को आध्यात्मिक रूप दिया है, पर रस-शास्त्र का वैसा विवेचन किया गया है या नहीं जैसा कि 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु' और 'उज्ज्वल नील मणि' में हुआ है, वह मुझे नहीं मालूम। भक्ति और साहित्य का जैसा अद्भुत मिश्रण श्री वल्लभ और हित हरिवंश के सम्प्रदाय में हुआ है उसे देखते हुए लगता है कि वहाँ भी कोई अध्यात्मवादी रस-सिद्धान्त अवश्य होगा। नन्ददास की 'रस मंजरी', 'भक्ति रसामृत-सिन्धु' या 'उज्ज्वल नीलमणि' के उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती। गलता की गद्दी पर एक मधुर-रस के अच्छे प्रवक्ता राममक्त मधुराचार्य आसीन हुए थे। उन्होंने 'वाल्मीकि रामायण' का मधुर रस-परक अर्थ किया था। बाद में वे गलता की गद्दी पर टिक नहीं सके। वे कालिदास की शिष्य-परम्परा की छठी पीढ़ी में बताए जाते हैं। उनकी 'वाल्मीकि रामायण' की

---

1. प्रस्तुत विषय पर विस्तार से द्विवेदी जी ने अगले किसी लेख में विचार करने का आश्वासन दिया है। अस्वास्थ्य के कारण इस समय अपने विचारों को संक्षेप रूप में 'आलोचना' के लिए प्रस्तुत करके इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर उन्होंने विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है।

व्याख्या देखकर मुझे ऐसा लगा था कि राम-भक्तों में भी कोई 'उज्ज्वल नीलमणि' की जाति का ग्रन्थ होगा अवश्य, परन्तु अभी तक मैंने ऐसा कोई ग्रन्थ देखा नहीं है। जो हो, मेरा विश्वास है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अयोध्या के राम-भक्तों में ऐसा कोई रस-सिद्धान्त स्वीकृत अवश्य हुआ था। परन्तु प्रेरणा देने वाले ग्रन्थ तो 'उज्ज्वल-नीलमणि' और 'भक्ति रसामृत-सिन्धु' ही रहे होंगे।

रस के प्रसंग में इन ग्रन्थों का नाम इसलिए लिया जाता है कि यद्यपि इनका लक्ष्य भगवद्भक्ति है तथापि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती अलंकार-ग्रन्थों और काम-शास्त्रीय ग्रन्थों में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार किया है। जितने अनुभाव, विभाव, संचारी भाव, विविध नायिका-नायक पूर्ववर्ती ग्रन्थों में आए हैं उन्हें स्वीकार करके यह माना गया है कि श्रेष्ठ नायक श्रीकृष्ण हैं और श्रेष्ठ नायिका राधिका हैं। इनका जैसा विस्तार 'उज्ज्वल नीलमणि' में है वैसा किसी साहित्यिक रस-ग्रन्थ में नहीं है। क्योंकि यह सम्पूर्ण रस-विवेचन निश्चित और स्पष्ट आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित है। इसका उद्देश्य भक्ति प्राप्त करना है। भगवान् की अनन्त शक्तियाँ हैं, जो अचिन्त्य हैं। उनमें से तीन प्रधान हैं–(१) स्वरूप शक्ति, (२) जीव शक्ति और (३) माया शक्ति। इनमें पहली अप्राकृत या अलौकिक है, दूसरी और तीसरी प्राकृत। भगवान् की जो अलौकिक स्वरूप शक्ति है उसे ह्लादिनी शक्ति कहते हैं। राधा उसी ह्लादिनी शक्ति का सारभूत विग्रह या मूर्ति हैं। इन्हीं श्री राधा के साथ नित्य वृन्दावन-धाम में भगवान् की नित्य लीला चलती है। श्री राधा का विस्तार जीवकोटि से भगवत् कोटि तक। जीव की ओर वे प्रेमभक्ति की प्रेरणा देती हैं और भगवान् की ओर वे रस-रूप में वर्तमान रहती हैं। जिस प्रकार वे भगवान् की प्रेम-विधायिनी आह्लादिका शक्ति हैं उसी प्रकार वे जीव के प्रति कृपा-परायणा, भक्ति-रसोद्बोधिनी और प्रेरणादात्री हैं। जीव को श्रीकृष्ण-प्रेम द्वारा अनुग्रहीत करने वाली शक्ति राधा ही हैं। इस प्रकार राधिका की कृपा से ही जीव भगवत्प्रेम का आनन्द प्राप्त करता है।

स्पष्ट ही यह रस-विवेचन सामान्य साहित्य नायक-नायिका-भेद से अत्यन्त भिन्न कोटि का है। राधा भाव की श्रेष्ठता बताने के लिए जिस विस्तारित विवेचन का आश्रय लिया गया है, उसे संक्षेप में बताना भी यहाँ सम्भव नहीं है। कभी विस्तार पूर्वक इसकी चर्चा करूँगा। यहाँ केवल इतना कह रखना उचित समझता हूँ कि वृन्दावन के गोस्वामियों ने (रूप, सनातन, जीव) इस तत्त्व की जैसी व्याख्या की है वैसी किसी अन्य साहित्यिक रस-विवेचक ने नहीं की। यह एक ओर बौद्धिक है और दूसरी ओर प्रेमप्लुत। मनुष्य के भीतर के देवता को जगाने का यह प्रयत्न बहुत ही श्लाघ्य है।

शिवनाथ

आधुनिक आलोचना का उदय और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

: १ :

हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के पदार्पण करने के पूर्व उसका रूप आधुनिकता की दृष्टि से भिन्न था, जिसे सामान्य कहा जा सकता है। 'सामान्य' इसलिए कह रहा हूँ कि जब हिन्दी में समीक्षा का आरम्भ हुआ तब वह कोई अपना विशेष रूप लेकर न चला, संस्कृत-साहित्यगत समीक्षा की परम्परा ही उसका ध्येय था। यहाँ तात्पर्य विशेषतः रीतिकाल में निर्मित समीक्षा से है। रस (इसके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद भी आ जायगा) और अलंकार की विवेचना निश्चय ही समीक्षा है—सैद्धान्तिक समीक्षा। और टीकाओं में समीक्षा के सभी व्यावहारिक रूपों के बीज प्राप्त हैं। समीक्षा का यह रूप जैसे पिछले काँठे के संस्कृत-साहित्य में है वैसे ही रीतिकालीन साहित्य में भी; अथवा यों कहें ब्रजभाषा के साहित्य में भी। पिछले खेवे का संस्कृत-साहित्य भी अनेक अंशों में उन्मुक्त वातावरण में न पनपा। यह सामाजिक परिस्थितियोंवश वैयक्तिक स्वार्थों, आर्थिक आसूदगी के वैभव-विलास-शृङ्गार, दून की हाँकने वाले दरबारों में पनपा-पला। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य को संस्कृत-साहित्य की यही सीधी परम्परा मिली। अतः इसी पर वह प्रायः एकनिष्ठ होकर चला। उपर्युक्त स्थिति में संस्कृत में समीक्षा का जो साहित्य निर्मित हुआ उसमें शृङ्गारी रस और चमत्कारी अलंकारों पर विशेष जोर दिया गया, क्योंकि इन्हींके आश्रित साहित्य की उस समय वाहवाही थी। ऐसे समीक्षकों ने समीक्षा के सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक क्षेत्रों में नवीन उद्भावनाएँ न करके पूर्व-उद्भावित सिद्धान्तों वा व्यवहारों की अनुगतिकता ही की है। भक्ति-रस में आकण्ठ मग्न कुछ साहित्यकारों ने रस के विवेचन में कुछ नवीन उद्भावनाएँ अवश्य कीं, जैसे रूप गोस्वामी ने 'भक्ति रसामृत-सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' में। परन्तु विशुद्ध साहित्यिक वैसे ही रहे जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है। रीतिकाल के कुछ साहित्याचार्यों—जैसे केशवदास, महाराज जसवन्तसिंह, भिखारीदास—ने जो नवीन उद्भावनाएँ की हैं वे मात्र जुगनू के प्रकाश की भाँति हैं।

आधुनिक काल के भारतेन्दु-युग में नवीन पद्धति की समीक्षा नवीन विचारों के साथ आरम्भ-मात्र हुई, मगर उसकी परम्परा चल नहीं पाई और न इस क्षेत्र में विशेष कार्य ही हुआ। भारतेन्दु-युग प्रधानतः पूरबी-पश्चिमी, स्वदेशी-विदेशी के समन्वय का विवेकी युग था। ऐसे युग में यदि समीक्षा के क्षेत्र में प्रभूत कार्य होता और इसकी परम्परा की मोटी धारा कुछ काल तक बही होती तो आचार्य शुक्ल को समीक्षा की एक व्यापक पृष्ठ-भूमि मिलती; मगर ऐसा हुआ नहीं एक नये ढंग का कार्य आरम्भ ही हुआ था कि परिस्थिति बदल गई। बालकृष्ण भट्ट की समीक्षा में नवीन तत्त्वों के आभास मिलते हैं, वे विचारों से उदार और समन्वयी व्यक्ति थे भी।

द्विवेदी-युग प्राचीनता का पुनरुत्थानवादी युग था। 'प्राचीनता की ओर लौट चलो'—प्रत्यक्षतः अथव परोक्षतः उसका यही नारा था। आर्यसमाज, सनातनधर्म, ब्रह्म-समाज, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि सांस्कृतिक संस्थाओं और नेताओं का मूल मन्त्र प्राचीन भारतीयता के पुनःस्थापन का ही था। इस मन्त्र का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। द्विवेदी-युग में संस्कृत-साहित्य का अध्ययन-मनन हुआ, उसके सम्बन्ध में लिखा भी गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्वयं संस्कृत-कवियों के सम्बन्ध में छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं; जैसे—'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' और 'कालिदास की निरंकुशता'। उनकी 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' में तो भाषागत दोषों का विचार ही अधिक है। वर्णवृत्तों में रचना का जोर इस युग में खूब था, यह संस्कृत-साहित्य का ही प्रभाव है।

द्विवेदी-युग में जो सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा का साहित्य प्राप्त है उसको देखने से ज्ञात होता है कि उसमें हिन्दी-समीक्षा का मान वही है जो संस्कृत-समीक्षा का मान था। उसमें संस्कृत के समीक्षकों की उद्धरणी ही बार-बार मिलती है।

ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट है कि रीतिकाल में समीक्षा की प्रेरणा संस्कृत-साहित्य से मिली; और द्विवेदी-युग में भी ऐसा ही हुआ। दोनों युग एक ही साहित्य से प्रेरित हुए। किन्तु द्विवेदी-युग में समीक्षा के क्षेत्र में रीतिकालीन समीक्षा से प्रेरणा नहीं ली गई, संस्कृत-समीक्षा से ही सीधे प्रेरणा ग्रहण की गई।

द्विवेदी-युग में भक्ति और रीतिकालीन कुछ प्रसिद्ध कवियों के ग्रन्थों की टीकाओं तथा उनकी रचनाओं के संग्रहों की भूमिकाओं के रूप में कुछ समीक्षा का कार्य हुआ, जो नीर-क्षीर-विवेकी कम और परिचयात्मक अधिक है। रीतिकालीन कवियों के सम्बन्ध में की गई समीक्षाओं में तुलनात्मकता के आधार पर प्रिय-दर्शन ही विशेष है। ऐसी समीक्षाओं में समीक्ष्य कवि को ही सबसे बड़ा-चढ़ा दिखाने के नानाविध प्रयत्न की प्रवृत्ति ही प्रधान है—प्रिय-दर्शन के आधार पर।

: २ :

हिन्दी-समीक्षा की इसी पृष्ठभूमि में आचार्य शुक्ल ने अपना समीक्षा-कार्य आरम्भ किया। आचार्य शुक्ल की समीक्षा के स्पष्टतः दो क्षेत्र हैं—एक साहित्य की धाराओं का क्षेत्र और दूसरा प्रसिद्ध-प्रसिद्ध रचनाकारों का क्षेत्र। प्रथम में प्रधानतः उनका 'इतिहास' आता है और द्वितीय में प्रधानतः तुलसी, सूर तथा जायसी के सम्बन्ध में लिखी गई समीक्षाएँ आती हैं। व्यावहारिक समीक्षा के इन्हीं क्षेत्रों में विभिन्न प्रसंगों में सैद्धान्तिक समीक्षाएँ उन्होंने लिखी हैं, परन्तु प्रायः बहुत कम ही।

आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' की चर्चा जब की जाती है तब इसका स्मरण रखना आवश्यक है कि उसमें 'इतिहासत्व' की अपेक्षा समीक्षा के तत्त्व अधिक हैं। उनका समीक्षक रूप ही उसमें प्रधान है। जब यह ग्रन्थ लिखा गया तब हिन्दी-साहित्य की खोज निश्चित रूप से भली-भाँति नहीं हो पाई थी, परन्तु उसका संशोधित-परिवर्धित संस्करण तैयार करते समय तक काफी नवीन सामग्री खोजी-ढूँढ़ी जा चुकी थी। इसे पूर्ण अर्थों में 'इतिहास' बनाने के लिए उन सामग्रियों का उपयोग किया जा सकता था। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य की उभरी हुई

प्रवृत्तियों और उसके प्रधान व्यक्तियों पर ही अधिक दृष्टि रखी है, उसके इतिहास पर कम। इधर हिन्दी-साहित्य के किन्हीं कालों, अंगों, और प्रवृत्तियों को लेकर अच्छा काम हुआ है। अब आवश्यकता तो इस बात की है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास बड़ी-बड़ी दस जिल्दों में प्रकाशित किया जाय। हमें आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' का ढाँचा आर्थर काम्टन रिकेट-कृत 'हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर' का-सा लगता है। उसमें समीक्षागत गहराई वैसी ही है जैसी लीग्वीज और सेजामियाँ के 'हिस्ट्री आव इंग्लिश लिटरेचर' में है। यह अपनी बात कही जा रही है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि इन ग्रन्थों पर थी अथवा नहीं, इसका कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है।

आचार्य शुक्ल के पूर्व हिन्दी-समीक्षा के स्वरूप के दर्शन हमने किये हैं। आचार्य शुक्ल द्वारा निर्मित समीक्षाओं और उनसे पूर्व की समीक्षाओं में काफी अन्तर दिखाई पड़ता है। उनकी समीक्षाओं की कोटि आधुनिक काल में निर्मित सत्समीक्षाओं की है—चाहे वे स्वदेश में निर्मित हुई हों अथवा विदेशों में। उनकी समीक्षाओं में आधुनिकता के पूरे पुट हैं। आचार्य शुक्ल की पूर्व रचित समीक्षाओं के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने हिन्दी में समीक्षा की आधुनिक परम्परा चलाई, समीक्षा की पदावलियों का निर्माण किया। आचार्य शुक्ल के पश्चात् निर्मित हिन्दी-समीक्षा में प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उनकी समीक्षा-शैली का प्रभाव अवश्य मिलता है। हिन्दी-समीक्षा को एक नवीन मार्ग पर ला खड़ा करने के कारण ही हमने उनकी समीक्षा को हिन्दी-समीक्षा में प्रकाश-स्तम्भ की भाँति कहा है। यदि आचार्य शुक्ल को हिन्दी में नवीन वा आधुनिक समीक्षा का प्रवर्तक कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा-शैली का जो ढाँचा हमारे सम्मुख है उसे देखने से ज्ञात होता है कि यद्यपि उसके प्राणों में शुक्लजी का अपनापन है—हास्य-व्यंग्य-विनोद; पैनी दृष्टि द्वारा गहराई तक पैठ; निर्णय की क्षमता; विवेचना-प्रतिपादन की शक्ति; आदि की दृष्टियों से—तथापि उस पर आधुनिक विदेशी समीक्षा की शैली का कुछ रंग अवश्य है। विदेशी समीक्षा के क्षेत्र में जो सुष्ठु कार्य हो चुका था, अथवा हो रहा था, उससे अछूता रहना उनके लिए सम्भव भी नहीं था; और जान-बूझकर अछूता रहने से कोई लाभ भी नहीं था; यदि वे अछूते रहते तो जो युग-प्रवर्तक कार्य वे कर पाए उसे कर भी नहीं पाते। मगर वे समन्वयी वृत्ति वाले होकर ऐसा करते भी क्यों!

आचार्य शुक्ल की समीक्षा-शैली का तो यह स्वरूप है, मगर इसके माध्यम से जो विचार वा सिद्धान्त उन्होंने व्यक्त किये हैं वे पचे-पचाए हुए उनके अपने हैं। स्मरण यह रखना है कि आचार्य शुक्ल बहुत बड़े साहित्यिक विचारक थे, किसी वस्तु को बिना विचारे—बिना मीमांसा किये—ग्रहण कर लेना उनके लिए सम्भव नहीं था, इसी कारण उनकी 'आचार्य' की पदवी है, उन्होंने स्वदेशी वा विदेशी साहित्य-सिद्धान्तों की मीमांसा करके ही किसी के सम्बन्ध में भला-बुरा कहा है। कहीं उन्होंने 'उड़ती सम्मति' नहीं दी है। यह उनकी समीक्षा की और उनकी भी गम्भीरता है।

: ३ :

आचार्य शुक्ल ने कई स्थानों पर विदेशी समीक्षकों और साहित्यकारों की उद्धरणी की है। ऐसा उन्होंने प्रायः अपने मत के समर्थन के लिए किया है, अर्थात् अपने समान

मत वाले समीक्षकों का उल्लेख करके अथवा उनकी रचनाओं से उद्धरण देकर वह यह दिखाना चाहते थे कि विदेशी समीक्षकों के विचार भी उनके विचारों के समान ही हैं। विदेशी समीक्षकों की उद्धरणी करके उस समय हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में कुछ लोग अनुचित स्वच्छन्दता की दुहाई देते थे। आचार्य शुक्ल विदेशी समीक्षकों के अपने उद्धरणों द्वारा यह दिखाना चाहते थे कि यहाँ जिनका समर्थन किया जाता है वहाँ भी उनका विरोध हो रहा है, मात्र मैं ही विरोध नहीं कर रहा हूँ। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने अनेक जगहों पर आई० ए० रिचर्ड्स का उल्लेखन उद्धरण किया है। रिचर्ड्स उनके बहुत ही प्रिय आलोचक थे। प्रभाववादी समीक्षा का विरोध करते हुए 'मरदानी' समीक्षा के समर्थक स्पिंगर्न का उल्लेख उन्होंने किया है। क्रोचे-ब्रैडले का उल्लेखन-उद्धरण उन्होंने प्रायः विरोध के लिए ही किया है, जो विलायती 'अभिव्यंजनावाद' और 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त के प्रवर्त्तक एवं समर्थक थे। अन्य समीक्षकों और साहित्यकारों का उल्लेख भी उन्होंने कई स्थानों पर किया है, जिनमें से कुछ ये हैं—प्लेटो, अरिस्टाटल, जी० डब्ल्यू० मकेल, ए० टी० स्ट्रांग, राबर्ट ग्रेव्ज, लारा राइडिंग, गिडिंग, पेटर आदि।

रिचर्ड्स के प्रति आचार्य शुक्ल की प्रियता की चर्चा हमने की है, जिसका उल्लेख उन्होंने अपने मत के समर्थन में बराबर किया है। कुछ समीक्षक और विचारक ऐसे हैं जिनकी प्रेरणा की छाप आचार्य शुक्ल पर कुछ स्पष्ट जान पड़ती है। 'रस-मीमांसा' में भावों वा मनोविकारों पर विचार करते समय वह शैंड के 'फाउण्डेशन ऑव् कैरेक्टर' से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं, यद्यपि विवेचना की शैली और भावों का व्यावहारिक निरीक्षण आचार्य शुक्ल का मौलिक है। 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' नामक निबन्ध में उन्होंने आनन्द की जो दो अवस्थाएँ—सिद्धावस्था और साधनावस्था—मानी हैं उनकी प्रेरणा का बीज भी हमें थियोडोर वैट्स-डंटन के 'शक्ति-काव्य' (पोयट्री एज एन एनर्जी) और 'कला-काव्य' (पोयट्री एज एन आर्ट) में मिलता है, वैसे इस सम्बन्ध में भी उनकी मीमांसा में मौलिकता है। अभिव्यंजना के सम्बन्ध में भी उनकी मीमांसा में मौलिकता है। अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के वे ही विचार हैं जो आर० ए० स्कॉट-जेम्स ने अपने 'दि मेकिंग ऑव् लिटरेचर' के 'एक्सप्रेशनिज़्म' नामक निबन्ध में व्यक्त किये हैं।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के सम्बन्ध में विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है कि इनकी दृष्टि साहित्य वा काव्य के मात्र शिल्प वा कला (फॉर्म) पर है। परन्तु बात ऐसी नहीं। क्रोचे ने विषय (कंटेण्ट) पर भी काफी जोर दिया है। उनका कहना है : "कलाकार का जीवन, कार्य-कलाप (मूवमेंट), भाव की सचाई (वार्म्थ), उसकी अनुभूति द्वारा आनन्द मिलता है; कला में इन्हें होना चाहिए; ये हृदय को प्रभावित करते हैं; ये कलाकार की प्रशंसा की प्रसन्न अभिव्यक्ति श्रोता, पाठक वा दर्शक से कराते हैं। असली और नकली कला-कृति में भेद-स्थापन के ये ही प्रधान मान हैं; इन्हींके द्वारा कलाकार की पैठ, पकड़ अथवा असफलता जानी जा सकती है। कला-कृति में भाव और अनुभूति होने पर अन्य वस्तुओं के अभाव में भी कलाकार को क्षम्य माना जा सकता है। परन्तु इनके अभाव की पूर्ति कोई भी वस्तु नहीं कर सकती।"[1]

---

१. क्रोचे 'एस्थेटिक्स' परिशिष्ट।

इससे स्पष्ट है कि क्रोचे की दृष्टि कला-कृति के रूप पर ही नहीं वरन् उसके विषय पर भी है।

: ४ :

आचार्य शुक्ल द्वारा उद्धृत साहित्यिक तथा सामाजिक विचारकों का नामोल्लेख ऊपर किया गया है। जिनसे उनका मत विशेष प्रकार से मिलता है वे प्रायः ईसा की १९वीं शती के अंत और बीसवीं शती के आरम्भ के विचारक हैं। ये प्रायः मध्यवर्गीय और यत्र-तत्र मध्यकालीन संस्कृति के हिमायती हैं। आचार्य शुक्ल की रूचि भी ऐसी ही संस्कृति पर है, यथार्थ विवेचना यह कहने से न हिचकेगी। ऐसी संस्कृति में आस्था रखने वाले विचारक लोक-मंगल, समाज में समता की स्थापना, अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक उपकार आदि बातें तो अवश्य करते हैं परन्तु अपने वर्गीय संस्कारों के कारण ये मध्यवर्ग और उसकी संस्कृति से ही जड़ित रहना चाहते हैं। इनके सिद्धान्त और व्यवहार में प्रायः अन्तर देखा गया है। लोक-मंगल, समाज-हित, समाज-समता, 'अधिकस्य अधिकं फलम्' की विचार-स्थापना करके भी इन्हें कार्य-रूप में परिणत करने के ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आधारों—वर्ग-संघर्ष, मध्यवर्गीय संस्कारोच्छेदन आदि—के प्रति ये वितृष्ण रहते हैं। ये सिद्धान्ती अधिक होते हैं, व्यवहारी कम।

ऐसे साहित्यिक वा विचारक साहित्य वा संस्कृति के समस्त तत्त्वों के जनक समाज को दृष्टि-पथ में रखकर कम विवेचना करते हैं, अथवा इस (समाज) को एकदम छोड़कर। यदि समाज पर इन्होंने कभी दृष्टि रखी भी तो सीधे-सरल 'इतिहास' (हिस्ट्री) को पकड़ लेते हैं। ये धर्म और दर्शन को भी अलग-अलग अथवा विच्छिन्न रूप से पकड़ते हैं— अपने वर्गीय संस्कारों के कारण। विवेचना करते समय राजनीति, समाज-नीति, अर्थ-नीति आदि पर इनकी दृष्टि नहीं रहती। इन्हें ये संस्कृति से एकदम बाहर की और हेय वस्तुएँ समझते हैं, जैसे समाज के चलने-चलाने में इनका कोई हाथ ही नहीं होता। परन्तु तथ्य तो यह नहीं है। समाज तो इन सभीका समाहार करके चलता है। साहित्य अथवा संस्कृति के निर्माण में ये सभी तत्त्व अपना-अपना कार्य करते हैं—प्रत्यक्षतः और परोक्षतः भी—और, तब कोई कला-कृति निर्मित होती है। ऐसी स्थिति में साहित्य की मीमांसा में समाज के उक्त सभी तत्त्वों का समान रूप से विवेचित आधार लेना पड़ेगा। मध्यवर्गीय संस्कृति और संस्कारों के समीक्षक असली रीति से ऐसा करते हुए नहीं देखे जाते। यदि ऐसे समीक्षकों का परम्परित इतिहास और कार्य देखा जाय तो हमारा विचार झूठा न उतरेगा। संस्कृति के सभी पेड़-पौधे, घास-पात, नदी-नाले, सागर समाज की मिट्टी पर ही होते हैं, इस धारणा को लेकर ये नहीं चलते; इसलिए समाज का वैज्ञानिक विवेचन ये छोड़ देते हैं।

इस वर्ग के समीक्षक साहित्य के विशुद्धवाद और शाश्वतवाद का पक्ष लेते हैं। ये साहित्य की प्रायः एकदम निराली वा अलग सत्ता (इक्सक्लूसिव एंटिटी) मानते हैं। ऐसी स्थिति में इनकी साहित्य-मीमांसा के प्रधान आधार मनोविकार वा भाव होते हैं। भावों की विवेचना में ये साहित्य के समान की समाज के विभिन्न तत्त्वों का आधार कभी नहीं लेते। भावों के हृदय में उदय के सामान्यतः सामाजिक कारण क्या हैं; काल वा युग विशेष में भाव विशेष के प्राधान्य का सामाजिक आधार क्या है; ऐसे विषयों पर इनकी दृष्टि नहीं जाती। प्राचीन काल में

विदेशों में और भारत में भी भावों को लेकर साहित्य की मीमांसा का स्वरूप ऐसे ही समाजाधार पर विच्छिन्न रहा है। इधर समीक्षा में समाज-दृष्टि प्रधान होती जा रही है।

: ५ :

आचार्य शुक्ल भी अपनी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षाओं में भावों वा मनोविकारों और उनकी चरम परिणति रसों को ही परम साध्य मानकर चले हैं। आचार्य शुक्ल की भावों और रसों की मीमांसा का प्रस्थान नवीन और अपना है, अतः उनके निष्कर्ष भी अपने हैं। उन्होंने भारतीय रस-मीमांसा को दृष्टि-पथ में रखा अवश्य है परंतु उनकी अपनी रस-मीमांसा में उनकी अपनी अनुभूति और उनका अपना निरीक्षण मिला हुआ है। स्वानुभूति और स्वनिरीक्षण के आधार पर उन्होंने भारतीय और यत्र-तत्र विदेशी साहित्याचार्यों की भी टीका करते हुए अपनी नई स्थापना की है। इस प्रकार की मीमांसा में आचार्य शुक्ल की दृष्टि भावों के नित्यप्रति के व्यावहारिक रूपों पर बराबर रही है। उनके द्वारा भावों और रसों की इस प्रकार की मीमांसा को देखने से अनुभव होता है कि हिन्दी में ऐसी भाव-रस-मीमांसा बहुत दिनों के बाद हुई; शायद पहली बार हुई। हम देख चुके हैं कि इस क्षेत्र में संस्कृत की गतानुगतिकता ही चल रही थी। ऐसी परिस्थिति में कहा जा सकता है कि आचार्य शुक्ल संस्कृत-साहित्य के आचार्यों की कोटि में आते हैं।

आचार्य शुक्ल ने रस-दशा को हृदय की मुक्तावस्था माना है, जिसमें श्रोता, पाठक वा दर्शक साहित्य की किसी रचना के श्रवण, पठन और दर्शन में इतना लीन हो जाता है कि उसे अपने चारों ओर के जगत् एवं वातावरण की सुध-बुध नहीं रहती, वह कला-कृति की रसात्मकता के प्रभाव से अपने में ही खो जाता है। निश्चय ही हृदय की यह मुक्तावस्था कियत्क्षण-व्यापी ही होती है। मैंने निवेदन किया है कि आचार्य शुक्ल की भाव-रस-मीमांसा व्यावहारिक स्वानुभूति और निरीक्षण के आधार पर स्थित है। रस-दशा में अपनी सुध-बुध भूल जाना; अपने में ही खो जाना कहना व्यावहारिक अनुभूति और निरीक्षण का ही परिणाम है।

रस-दशा की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि श्रोता, पाठक, और दर्शक का साहित्य में वर्णित आश्रय के साथ तादात्म्य हो और रचनाकार आलम्बन को इस रूप में वर्णित करे कि वह उन (श्रोता, पाठक, दर्शक) के लिए साधारण (कॉमन) हो जाय, अर्थात् रसानुभूति के लिए आलम्बन का 'साधारणीकरण' होना आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने संक्षेप में, यही कहा है कि आश्रय के तादात्म्य और आलंबन का साधारणीकरण रस की अनुभूति के लिए जरूरी है।

इसी प्रसंग में आचार्य शुक्ल ने व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की चर्चा की है। इस वाद का सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के शील-निरूपण से उद्भूत विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों से है। ये अनुभूतियाँ प्रधानतः तीन प्रकार की होती हैं—१. आश्चर्यपूर्ण प्रसादन की, २. आश्चर्यपूर्ण अवसादन की, ३. कुतूहल-मात्र की। शील के चरम उत्कर्ष के दर्शन से आश्चर्यपूर्ण प्रसादन; तथा इसके अत्यन्त पतन के दर्शन से आश्चर्यपूर्ण अवसादन होता है। कुछ ऐसे अलौकिक व्यक्ति मिलते हैं जिनके शील के दर्शन पर इन दोनों अनुभूतियों के अतिरिक्त एक प्रकार का कुतूहल-मात्र होता है। ऐसे शील वाले उक्त दोनों कोटियों में से किसी में भी नहीं रखे जा सकते हैं, इनके दर्शन से थोड़ा-थोड़ा प्रसादन, अवसादन दोनों होता है। संकुल (कॉम्प्लैक्स) चरित्र वाले ऐसे ही होते हैं।

विदेशों में व्यक्ति-वैचित्र्यवाद की काफी चर्चा की गई है। डंटन ने भी इसकी विवेचना की है।

साधु पात्र द्वारा खल पात्र के प्रति यथायोग्य न्याय्य व्यवहार से श्रोता, पाठक और दर्शक को एक प्रकार की 'भावतुष्टि' होती है। यथा : राम द्वारा रावण के प्रति व्यवहार से। ऐसी स्थिति में भी आचार्य शुक्ल ने एक मध्यम कोटि की रसात्मकता मानी है। यहीं इसकी भी चर्चा कर दूँ कि चमत्कारवाद में वे निम्न कोटि की रसात्मकता मानते हैं।

आचार्य शुक्ल ने निम्न लिखित स्थितियों में भी रस की वास्तविक अनुभूति मानी है— स्मृत और प्रत्यक्ष रूप-विधान; प्रत्यक्ष वा 'वास्तविक अनुभूति; स्मृत, प्रत्यभिज्ञान; स्मृत्याभास कल्पना; इतिहासाधृत स्मृत्याभास कल्पना, प्रत्यभिज्ञानाधृत स्मृत्याभास कल्पना; शुद्ध अनुमानाश्रित स्मृत्याभास कल्पना; प्रत्यक्ष प्रकृति-दर्शन; काव्यगत यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण।

उक्त स्थितियों में रसानुभूति के सम्बन्ध में किसी की सहमति नहीं हो सकती। नई बात होने से किसी के मन के चमकने की भी पूरी सम्भावना है। परन्तु आचार्य शुक्ल की इस प्रकार की स्थापना में कोई सार-तत्त्व नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। रसानुभूति की इन स्थितियों में यह मानकर चलना पड़ेगा कि साहित्य का श्रोता, पाठक वा दर्शक, अथवा प्रकृति आदि के प्रसंग में प्रत्यक्ष दर्शक साहित्य वा काव्य-ग्रहण के लिए सभी सुपात्रिता से समन्वित है, वह सच्चा 'सहृदय' है, सच्चा 'भावुक' है। निश्चय ही आचार्य शुक्ल ने सच्चे सहृदय और भावुक को दृष्टि-पथ में रखकर श्रोता, पाठक वा दर्शक; अथवा प्रकृति आदि के प्रत्यक्ष दर्शक को सच्चा सहृदय और भावुक मानकर इस प्रकार की स्थापना की है।

आचार्य शुक्ल ने और भारतीय साहित्य-शास्त्र के अन्य प्राचीन पण्डितों ने भी साहित्य और काव्य के सम्बन्ध में तो प्रभूत विवेचना की है, मगर साहित्य के सुपात्र, सहृदय, तथा भावुक के सम्बन्ध में उनकी विवेचना अपेक्षाकृत अत्यन्त कम है। ऐसी स्थिति में साहित्य वा काव्य के सम्बन्ध की विवेचना में भी यत्र-तत्र शंका करने की गुञ्जाइश आ पड़ती है।

भारतीय आचार्यों ने सुख-दुःखात्मक सभी भावों की चरम परिणति रस की अनुभूति को आनन्दस्वरूप, ब्रह्मानन्द-सहोदर आनन्द के समान माना है। आचार्य शुक्ल ने इसे कोरा 'अर्थ-वाद' बतलाते हुए कहा है कि रस की स्थिति में इन द्विधात्मक भावों की अनुभूति सुख-दुःख के रूप में ही होती है, करुणादि की रस-दशा में इन भावों के बाह्य लक्षणों—आँसू आदि का आना इसका प्रमाण है। रस-दशा क्योंकि हृदय की मुक्तावस्था है, अतः ऐसे दुःखात्मक भावों की अनु-भूति आनन्दस्वरूप जान पड़ती है; यद्यपि बात ऐसी है नहीं। यह आचार्य शुक्ल का मत है। उन्होंने रस का जो स्वरूप निर्धारित किया है, उसे परिप्रेक्षित में रखकर यह स्थापना की है जो उनकी दृष्टि से विचार करने पर सही जान पड़ेगी। रस का सम्बन्ध आत्मा से है, हृदय, मन, बुद्धि आदि सभी उसीसे सम्बद्ध हैं। यह आत्मा सत्, चित्, आनन्द-स्वरूप है। उसके सत् वा चित् का स्वरूप तो एकदम स्पष्ट है ही, परन्तु आत्मा के आनन्द का स्वरूप उसके सांसारिकता वा माया में लीन रहने के कारण दबा रहता है। साहित्य वा काव्य भावों का परिष्कार करता है, उसमें लिपटी माया को छुड़ाता है, उसे अपने आनन्द की परिस्थिति में लाता है। काव्य की इस माया के परिष्कार की प्रक्रिया के कारण आत्मा निर्मल होकर अपने रूप में—आनन्दरूप में स्थित होती है और तब आनन्द का अनुभव करती है। इस विवेचना के अनुसार साहित्य अपनी परिष्कार-

प्रक्रिया के कारण आनन्दानुभूति का साधन होकर आत्मा को अपने निर्मल और आनन्द स्वरूप में लाता है। आनन्द 'आनन्द' ही है, वह सुख-दुःख से परे है, अतः भावों की दुःखात्मक अनुभूति का प्रसंग यहाँ नहीं उठता।

आचार्य शुक्ल की रस की स्थापना मीमांसक भट्टनायक से मिलती है। ये दोनों साहित्याचार्य रस को बाहर मानते हैं—श्रोता, पाठक, दर्शक के सम्मुख श्रव्य, पठ्य और दृश्य काव्य-कृति में मानते हैं। भट्टनायक का रसवाद 'भुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। ये मानते हैं कि रस का भोग होता है। अभिनव गुप्त पादाचार्य रस को श्रोता, पाठक, दर्शक में ही वासना वा बीज रूप से स्थित मानते हैं, जो काव्य-कृति सुनने, पढ़ने और देखने से विकसित वा 'अभिव्यक्त' होता है। अभिनव गुप्त के रसवाद का नाम 'अभिव्यक्तिवाद' है। इस प्रकार भट्टनायक का भुक्तिवाद बाह्यात्मक (ऑब्जेक्टिव) है और अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद अन्तरात्मक (सब्जेक्टिव)। मुझे इन दोनों की मीमांसा में प्रस्थान-भेद ही जान पड़ता है, दोनों का निष्कर्ष तो एक ही है। भट्टनायक का श्रोता, पाठक, दर्शन भी तो भावसम्पन्न होगा ही, जैसा कि अभिनव गुप्त का है; और अभिनव गुप्त की रसानुभूतिकारी काव्य-कृति में भी रस-बोधन की शक्ति वा वृत्ति तो होगी ही। इस प्रकार श्रोता, पाठक, दर्शक का भाव-सम्पन्न मन और कला-कृति की रसोद्‌बोधन-शक्ति निश्चय ही अन्योन्याश्रित है, दोनों के गुणों और दोनों की शक्तियों के अन्योन्याश्रय से ही रस की अनुभूति सम्भव है।

आचार्य शुक्ल वाच्यार्थ में काव्य मानते हैं और प्राचीन आचार्य लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में। वाच्यार्थ के पक्ष को आचार्य शुक्ल ने बहुत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि काव्य का सारा सौन्दर्य तो वाच्यार्थ में ही होता है; लक्ष्यार्थ-व्यंग्यार्थ में तो अभीष्ट कथन का सीधा-सादा रूप ही सम्मुख आता है। उन्होंने वाच्यार्थ में काव्य-सौन्दर्य की पूरी प्रक्रिया की विवेचना की है।

: ६ :

आचार्य शुक्ल ने सर्वत्र साहित्य के सरल, सुबोध और स्वाभाविक पक्ष का ग्रहण किया है। कला-पक्ष की सरलता, सुबोधता और स्वाभाविकता पर उनकी दृष्टि बराबर रही है; और जिन रचनाकारों में स्वाभाविक 'कलाकारिता' के स्थान पर उन्हें 'कारीगरी' मिली है उनकी रचनाओं को चमत्कारवादी ठहराकर उनकी कोटि मध्यम अथवा निम्न मानी है। इस प्रकार की विवेचना के अन्तर्गत उन्होंने भाषा और अभिव्यक्ति के प्रसाद गुण पर बराबर दृष्टि रखी है। यह आचार्य शुक्ल की समीक्षा के प्रमुख मानों में से एक है। आधुनिक काव्य में उनकी दृष्टि से इस प्रसाद-गुण के न होने के कारण वे इससे बहुत दिनों तक खिंचे रहे, टीका करते रहे। आधुनिक काव्य की प्रतिष्ठा के पश्चात् इसके प्रति उनकी दृष्टि बदली। तब भी वे सरलता, सुबोधता की बात कहते ही रहे।

संस्कृत के साहित्याचार्यों ने भी काव्य में प्रसाद-गुण का पक्ष प्रायः लिया है; परन्तु साथ ही काव्य में काव्यत्व पर भी सभीकी दृष्टि रही है। संस्कृत के बड़े-बड़े आरम्भिक काव्य प्रसाद-गुणान्वित ही हैं। आचार्य शुक्ल की दृष्टि भी ऐसी ही रही है। वे इस पक्ष को लेकर चले हैं कि प्रसाद-गुण-सम्पन्न अभिव्यक्ति द्वारा भी वस्तु और भाव की व्यंजना हो सकती है।

काव्यगत सरलता का पक्ष तुलसीदास का भी है। यह इसी कारण कि इससे सुरसरि के समान सबका हित हो—'सुरसरि सम सब कर हित होई।' काव्य वा साहित्य द्वारा सबका हित हो, यह आचार्य शुक्ल भी मानते हैं और बार-बार इस पर जोर देते हैं। सबका हित करने के लिए काव्य में अनेक गुण होने चाहिएँ। तुलसीदास के काव्य में आचार्य शुक्ल को ये गुण विकसित रूप से मिले थे; और उन्होंने उनकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।

आचार्य शुक्ल के लिए गीति-कवि की अपेक्षा प्रबन्ध-कवि का महत्त्व अधिक है, इन्हीं-की ओर इनकी रुचि विशेष रही है। आधुनिक गीति-कवियों को उन्होंने कम महत्त्व दिया है। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से दो मत हैं। गीति-कवि का भी कम महत्त्व नहीं है, कुछ समीक्षक ऐसा स्वीकार करते हैं। रवीन्द्रनाथ इसी पक्ष के थे। भ्रम यह फैला हुआ है कि प्रबन्ध-काव्य की अपेक्षा गीति-काव्य की विशेषता कम है। परन्तु यह भ्रम-मात्र है। ऐसे मुक्तक अथवा गीति-काव्य मिलते हैं जो इस कोटि के होते हुए भी उनमें प्रबन्ध-काव्य (इपिक पोइट्री) की भव्यता मिलती है। रवीन्द्रनाथ, निराला, सुमित्रानन्दन पन्त आदि की इस प्रकार की रचनाएँ अनेक हैं।

स्वदेशी और विदेशी साहित्य और समीक्षा की परम्परा के परिप्रेक्षित में हमने आचार्य शुक्ल की समीक्षा के दर्शन संक्षेप में किये हैं। इससे विदित होगा कि आचार्य शुक्ल स्वदेशी-विदेशी; प्राचीन-नवीन सबका समन्वय करके चलते रहे हैं। समन्वय करते वक्त उनकी दृष्टि नीर-क्षीर-विवेक पर अवश्य रही है, और यही संयम उनकी विशेषता है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि नवीन साहित्य के प्रति उनके विचार विशेष सहानुभूतिपूर्ण नहीं हैं। आरम्भ में हिन्दी में उन्होंने इसकी काफी टीका की थी; परन्तु अपने गुणों के कारण इसकी प्रतिष्ठा हो जाने पर इसके सम्बन्ध में उनकी दृष्टि कुछ उदार अवश्य हुई।

आज हिन्दी-समीक्षा के शुक्ल-निकाय के अन्तर्गत आने वाले समीक्षक बहुत कम हैं। एकदम इसी निकाय को पकड़कर चलने वाले समीक्षकों का मूल्य आज नहीं के बराबर है। जो सुधी हैं उन्होंने अपना दूसरा मार्ग भी निकाला है। इसका भी कारण है। वह यह कि आज समीक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि साहित्य को संस्कृति के सभी अंगों की विवेचना के परिप्रेक्षित में देखा जाय। आज साहित्य के क्षेत्र में कोई 'विशुद्धवाद' और 'शाश्वत-वाद' को लेकर नहीं चलना चाहता। ऐसी स्थिति में आज की समीक्षा समष्टिवादी आधार पर शुक्ल-निकाय की समीक्षा से परिस्थितिवश आगे बढ़ चुकी है।

डॉक्टर जगदीश गुप्त

शुक्लोत्तर समीक्षा

शुक्ल जी ने अपने पूर्ववर्ती आलोचकों की निन्दा-स्तुति-पूर्ण तथा गम्भीर तत्त्व-चिन्तन से हीन रूढ़िवादी काव्य-शास्त्रीय शब्दावली से बोझिल, उथली समीक्षा-प्रणाली से ऊपर उठकर हिन्दी-समीक्षा को पहली बार गहन एवं मौलिक तात्त्विक विवेचन से युक्त तथा रसग्राहिता से समन्वित व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया—यह तथ्य प्रायः सर्वमान्य है। उनके गौरवपूर्ण कृतित्व की छाया उनके बाद विकसित होने वाली नई समीक्षा-प्रणालियों पर भी पड़ी है और उनके अपने उत्तराधिकारियों के समक्ष तो वह अब भी आलोक-स्तम्भ तथा प्रेरणा-स्रोत दोनों का कार्य कर रही है। किन्तु यह भी सत्य है कि शुक्ल जी के जीवन-काल में ही उनके समीक्षादर्श की सीमाएँ दिखाई देने लगी थीं। उनके परवर्ती समालोचकों ने उनके दृष्टिकोण में निहित आदर्शनिष्ठ नीतिवाद, वैयक्तिक अभिरुचि का अतिशय आग्रह, प्रगीत रचनाओं की तुलना में प्रबन्ध-काव्य के प्रति पक्षपात, निर्गुण-मार्गी कवियों की अपेक्षा सगुण-मार्गी कवियों के प्रति विशेष मोह, नवीन प्रतिभाओं के वैशिष्ट्य को परखने में संकोच तथा युगानुरूप परिवर्तनशील काव्य-प्रवृत्तियों के वास्तविक मूल्यांकन की अक्षमता को स्पष्टतया परिलक्षित किया। इन न्यूनताओं की पूर्ति के प्रयास में तथा साहित्य के बहुमुखी अबाधित विकास के साथ-साथ नवीन विचारों और समस्याओं को सहेजती हुई हिन्दी-समीक्षा काफी आगे बढ़ आई है। यहाँ तक कि शुक्ल जी को 'आउट आव डेट' कहने का साहस भी उसमें उत्पन्न हो गया है।[1] यही नहीं उनमें तर्क-शून्यता, दुराग्रह, अनपेक्षित पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा पिष्टपेषण का आरोप भी किया गया है।[2] यह स्थिति विचारगत प्रगति और अहं के विकास की परिचायक है।

जिस समय शुक्ल जी सूर, तुलसी और जायसी के काव्य को अपनी समीक्षा का प्रधान विषय बनाकर मध्यकालीन तथा प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों की अभिनव व्याख्या में तल्लीन थे, छायावादी काव्य-धारा बड़े वेग से समस्त साहित्य-क्षेत्र को आपूरित किये जा रही थी। छायावादी कवियों को जहाँ एक ओर सामान्य लोक-चेतना से असहानुभूति मिली वहाँ शुक्ल जी-जैसे प्रबुद्ध प्रज्ञाशाली समीक्षक से भी न्याय न मिला। उनकी आलोचना-दृष्टि सतह को छूकर ही रह गई और उन्होंने रसज्ञ होते हुए भी व्यक्तिगत संस्कारों के कारण अनुभूति-पक्ष को बिना आत्मसात् किये छायावाद को एक विशिष्ट अभिव्यंजना-शैली-मात्र स्वीकार किया। अतएव उनके समय से ही छायावादी कवियों को साहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष की व्याख्या स्वयं करनी पड़ी, जिसके मूल में स्वरचित काव्य की गुरुता को प्रतिष्ठापित करने का भाव निहित था। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी तथा रामकुमार आदि सभी प्रमुख कवियों ने साहित्य, विशेष रूप से काव्य

---

1. डॉक्टर नगेन्द्र—'विचार और अनुभूति', पृष्ठ ९२।
2. श्री शिवदानसिंह चौहान—'साहित्य की परख'।

से सम्बन्ध रखने वाली मौलिक समस्याओं पर गम्भीर रूप से विचार किया है। प्रसाद ने विशुद्ध भारतीय चिन्तन-प्रणाली से अनुभूति और अभिव्यक्ति की समस्या पर विचार किया। कला और कविता के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ अनुपेक्षणीय हैं। पन्त ने अपनी भूमिकाओं में युग-चेतना तथा सहज सौन्दर्य-बोध की शक्ति को केन्द्र में रखकर पाश्चात्य तथा भारतीय दोनों दृष्टि-कोणों का समन्वय प्रस्तुत किया। निराला के निबन्धों में ओजस्वी शब्दों में काव्य के नवीन एवं विद्रोही स्वर और मुक्त स्वरूप को सम्मान मिला। महादेवी का स्थान कवि-समीक्षकों के इस वर्ग में सर्वप्रमुख है, क्योंकि उन्होंने छायावादी काव्य के अनुभूति-पक्ष को उपनिषदों और वेदों की आध्यात्मिक साधना तथा अतीन्द्रिय सौन्दर्य को व्यक्त करने वाली वाणी से सम्बद्ध कर दिया। आदर्श और यथार्थ, कल्पना तथा सौन्दर्य आदि के सम्बन्ध में उन्होंने एक गम्भीर चिन्तक के रूप में अपने विचार व्यक्त किये हैं, जिनमें मौलिकता के साथ दृढ़ता भी है। रामकुमार ने छायावादी काव्य में निहित रहस्य-भावना की विशेष व्याख्या की, यहाँ तक कि उनकी आलोचना में भी रहस्यात्मकता आ गई। इस वर्ग में एक नया व्यक्तित्व दिनकर का है। उनके सामने साहित्य के कई नये प्रश्न आये, जो उनके पूर्ववर्ती कवियों के सामने उस रूप में नहीं थे। कतिपय अन्त-र्विरोधों को छोड़कर उनकी धारणाएँ सुस्पष्ट हैं। सामाजिक दायित्व और व्यक्तिगत भावनाओं के अन्तर्संघर्ष के विषय में उनका मत विचारणीय है, क्योंकि उस पर कवि की स्वानुभूति की छाया है। अपनी स्थिति को स्पष्ट करने का जैसा दायित्व छायावादी कवियों पर पड़ा था ठीक वैसा ही प्रयोगवाद के सामने भी है। फलतः अज्ञेय को स्वतः प्रयोगशील कविता के गौरव-संस्थापन के निमित्त आलोचक का कर्तव्य निबाहना पड़ रहा है। इन कवि-समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत की गई समीक्षा की सबसे बड़ी सीमा यह है कि वह अन्ततः उस तटस्थता की रक्षा नहीं कर पाई है जो तात्विक चिन्तन के लिए परमावश्यक है। आत्म-विश्लेषण के साथ-साथ स्वस्थापन की सूक्ष्म भावना से संयुक्त होने के कारण इनके निष्कर्ष बहुधा आग्रहग्रस्त तथा निर्मुक्त हैं। किन्तु इसीलिए विशेष महत्त्व भी रखते हैं कि उनमें साहित्य-स्रष्टा के स्वगत दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। हिन्दी-समीक्षा के विकास में इस वर्ग द्वारा व्यक्त विचारों का पर्याप्त हाथ है, क्योंकि वे अनेक समीक्षकों के लिए एक प्रमुख प्रेरक-शक्ति के रूप में सामने आये। सर्वथा निर्भ्रान्त न होने पर भी कभी-कभी उन्होंने भ्रान्त आलोचकों के पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है।

शुक्लोत्तर समीक्षा में ऐतिहासिक एवं समाज-शास्त्रीय समालोचना-पद्धति का आविर्भाव सबसे अधिक महत्त्व की घटना है। किन्तु इसमें सबसे विवादग्रस्त पद्धति वह है जिसमें वर्ग-संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों को साहित्य पर ज्यों-का-त्यों लागू करने का प्रयास किया जाता रहा है।

डॉ॰ रामविलास शर्मा मार्क्सवादी साहित्यिक सिद्धान्तों को सबसे अधिक समझने और बिलकुल सही-घटित करने के सबसे बड़े दावेदार हैं, परन्तु जितनी राग-द्वेष-निरपेक्ष दृष्टि वस्तुवादी समीक्षा में अनिवार्य रूप से आवश्यक है वही उनमें नहीं दीखती। साहित्यिक प्रगति को प्रशासित रखने तथा नवीन प्रतिभाओं को सत्पथ से भटकने न देने के उनके दायित्व ने उनसे क्या-क्या नहीं लिखवाया। फिर भी भारतेन्दु-युग और निराला के सम्बन्ध में जो विचार उन्होंने व्यवस्थित रूप में व्यक्त किये हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। यह सत्य है कि जहाँ तक प्रगतिवादी मान्यताओं का प्रश्न है उनका विवेचन खरा और स्पष्ट है। उनकी धारणा है कि साहित्य की प्रगतिशीलता का प्रश्न

वास्तव में समाज पर साहित्य के शुभ और अशुभ प्रभाव का प्रश्न है; प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है तथा श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है।[1] ऊपर से यह धारणाएँ जितनी व्यापक हैं शर्मा जी ने उतनी ही संकीर्णता से उनका प्रयोग अपनी समीक्षाओं में किया है। शिवदानसिंह चौहान इस वर्ग के सबसे अधिक उदारमना व्यापक समीक्षा-दृष्टि-सम्पन्न आलोचक हैं, फलतः उनका अपने वर्ग के समालोचकों से ही मतभेद बना रहा। 'साहित्य की परख' तथा 'प्रगतिवाद' के रचयिता के रूप में वे सदा स्मरणीय रहेंगे। प्रकाशचन्द्र गुप्त की समीक्षा-वृत्ति स्थिर, निस्तर्क किन्तु सतत जागरूक एवं प्रयत्नशील रही है। यों तो उन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्य की सभी प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात किया है परन्तु इधर उनका तुलसी, कबीर आदि मध्यकालीन कवियों का विश्लेषण विचित्र सतही और आरोपित लगता है। अमृतराय ने 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' के अन्तर्गत जिस मोर्चा-बुद्धि का परिचय दिया है वह किसी भी समीक्षादर्श के प्रतिकूल है। रामविलास शर्मा की प्रत्यालोचना और आत्म-विश्लेषण के रूप में जो विचार उन्होंने उपस्थित किये हैं उनमें अस्थिरता, अन्तर्विरोध तथा क्षुब्धता स्पष्ट झलकती है। आप्त वाक्यों के प्रति अत्यधिक आस्था स्वतन्त्र विवेक-शक्ति की न्यूनता को व्यक्त करती है। उनकी 'नई समीक्षा' इन दोषों से प्रायः मुक्त है। उसके अधिकांश निबन्धों में विषय-वस्तु को अपेक्षाकृत अधिक तर्क-संगत एवं स्वतन्त्र दृष्टि से देखने का प्रयास है। इस समीक्षा-पद्धति ने अभी तक उद्बुद्ध भारतीय साहित्यिक चेतना से संस्कारगत सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाया है। जिसके कई कारण हैं, जिनमें समीक्षकों का भौतिकवादी जीवन-दर्शन के प्रति पक्षपात, भारतीय मनीषियों की स्थापनाओं के प्रति अनावश्यक उपेक्षा-भाव, अभारतीय चिन्तकों के प्रति अतिशय आस्था, राजनीतिक-साम्प्रदायिक उद्देश्य के आगे साहित्यिक मूल्यों का बलिदान, रसानुभूति की कमी तथा उद्भावना-शक्ति को कुण्ठित करने वाली नियामक मनोवृत्ति प्रधान हैं। इन दोषों का श्रेय मार्क्सवादी विचार-धारा को नहीं है वरन् उसके व्याख्याता उक्त समीक्षक ही इसके उत्तरदायी हैं; क्योंकि यूरोप में इस पद्धति से आलोचना ने पर्याप्त समृद्धि पाई है और साहित्यिक तत्त्व-चिंतन को गहरी शक्ति मिली है।

त्रुटियों के बावजूद भी समाज-शास्त्रीय आलोचना ने साहित्य के मौलिक प्रश्नों के सम्बन्ध में नवीन जिज्ञासा को जन्म दिया और वस्तुवादी दृष्टिकोण से सामाजिक यथार्थ को सम्मुख रखकर जो समाधान प्रस्तुत किये उनके द्वारा सामान्य विचार-स्तर उन्नत एवं समृद्ध हुआ। शुक्ल जी के 'लोक-मंगल' के आदर्श को सर्वथा भिन्न दृष्टि से प्रस्थापित किया गया। समाजवादी चिन्ता-धारा में लोक और उसके मंगल की भावना दोनों ही एक निश्चित वैज्ञानिक अर्थ की द्योतक हैं, जिसमें आध्यात्मिक अभ्युत्थान और आनन्दवाद को कोई स्थान नहीं है। उसका अभिप्रेत भौतिक एवं आर्थिक अभ्युदय है।

इसी वर्ग के समानान्तर स्वतन्त्र समीक्षकों के एक अन्य वर्ग का विकास हुआ जिसने हिन्दी-समीक्षा के धरातल को विशेष रूप में समुन्नत किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतीय चिन्ता-धारा के साथ हिन्दी-साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति को संयुक्त करके व्यापक एवं उदार दृष्टिकोण से उसके गौरव की सम्यक् प्रतिष्ठा की तथा साहित्य और कला के वास्तविक मर्म

---

1. 'प्रगति और परम्परा', पृष्ठ ४९-५०।

को समझाने का स्तुत्य प्रयास किया। गुलाबराय ने शास्त्रीय अनुचिन्तन को आगे बढ़ाया और अनेक नवीन आलोचकों को प्रेरणा देकर एक समीक्षा-निकाय का सूत्रपात किया। इसी प्रकार नन्ददुलारे वाजपेयी ने यथासम्भव निरपेक्ष दृष्टि से बीसवीं सदी के हिन्दी-साहित्य की विभिन्न धाराओं तथा विभिन्न व्यक्तियों का मूल्यांकन प्रस्तुत किया। अपने लेखों के संग्रह 'आधुनिक-साहित्य' में भी उन्होंने साहित्य की लगभग उन्हीं दिशाओं का समालोचनात्मक परिचय प्रस्तुत किया है। शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा उनका झुकाव व्यावहारिक पक्ष की ओर विशेष है, इसीलिए कदाचित् साहित्य की मौलिक समस्याओं का सम्यक् विश्लेषण उन्होंने नहीं किया। छायावादी काव्य और कवियों, विशेषकर 'प्रसाद' के सम्बन्ध में उनका अध्ययन अधिक सूक्ष्म है। छायावाद के साथ सहानुभूति रखते हुए छायावादी शैली में उसकी व्याख्या करने वाले 'युग और साहित्य' से लेकर 'ज्योति-विहग' तक अनेक ग्रन्थों के रचयिता शान्तिप्रिय द्विवेदी का अपना स्वतन्त्र स्थान है। विश्वम्भर 'मानव' की समीक्षा-वस्तु भी प्रायः यही रही है। उनकी आलोचना भी कवि-सुलभ भावुकता को छिपाए रहती है। नये समीक्षकों में सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्तित्व डॉ० नगेन्द्र और डॉ० देवराज का है। डॉ० नगेन्द्र में पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों समीक्षा-दृष्टियों को गम्भीरता से समझने और मूल तक पहुँच जाने की क्षमता है तथा दोनों दृष्टियों के समन्वय से वास्तविक तत्त्व को ग्रहण करने की पर्याप्त शक्ति भी। साधारणीकरण किस वस्तु का होता है इसके उत्तर में शुक्ल जी द्वारा मान्य आलम्बन का तर्कपूर्ण ढंग से खण्डन करके कवि की अनुभूति को मान्यता प्रदान करना अन्तर्दृष्टि का परिचायक है। ध्वनि-सिद्धान्त के साथ पाश्चात्य काव्य-मतों का सन्तुलन करके उन्होंने गम्भीर तुलनात्मक तात्त्विक विवेचन को विकास प्रदान किया है, जो शुक्ल जी की तुलनाओं से अधिक संयत और निष्पक्ष है। प्रयोगवादी काव्य के सम्बन्ध में शास्त्रीय आधार पर उन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं उनकी उपेक्षा करना सहज नहीं है। इसी प्रकार डॉ० देवराज में साहित्य के मौलिक प्रश्नों को नये रूप में तर्कपूर्ण ढंग से उठाने की अपूर्व क्षमता है। दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर होने के नाते उनमें चिन्तन की प्रधानता और वादों की सीमा से ऊपर उठकर निरपेक्ष दृष्टि से तत्त्व-चिन्तन करने की स्वाभाविक वृत्ति है। 'छायावाद का पतन' में छायावाद के सम्बन्ध में उनके मौलिक विचार महत्त्वपूर्ण हैं। मूल्यांकन की समस्या को नये सिरे से उठाने का प्रयत्न उन्होंने किया है और उनकी कुछ स्थापनाएँ विचारोत्तेजक होते हुए भी विचित्र कही जा सकती हैं। अपने प्रिय विचारक ल्यूकॉक्स की तरह उन्होंने भी शेक्सपियर, कालिदास, सूर और रवीन्द्र को श्रेणीबद्ध करके निर्णयात्मकता की ओर विशेष आग्रह प्रदर्शित किया है; जागरूक समीक्षक के लिए क्लैसिक्स के गम्भीर परिचय तथा रसानुभूति की विकसित क्षमता को अनिवार्य माना है; छायावाद की तरह ही प्रगतिशील साहित्य एवं समीक्षा के सम्बन्ध में निश्चित विचार व्यक्त किये हैं और प्रगतिवादी समीक्षकों के दृष्टिकोण की एकदेशीयता, अनुदारता तथा 'रिलीजियो-फिलोसाफिक' वृत्ति की उपेक्षा के प्रति गहरा असन्तोष व्यक्त किया है तथा सतर्क प्रतिवाद भी किया है। 'साहित्य-चिन्ता' के चिन्तनपूर्ण निबन्धों में उन्होंने अन्य अनेक समस्याओं को उठाया है। काव्य के अभिव्यंजना-पक्ष को लेकर तात्त्विक विवेचन करने वाले समीक्षक 'सुधांशु' का अपना स्वतन्त्र स्थान है। उनकी दोनों कृतियाँ 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' सैद्धान्तिक समीक्षा का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। बिहार के एक अन्य आलोचक नलिनविलोचन शर्मा का

पाश्चात्य साहित्य से समीप का परिचय है। उनका 'दृष्टिकोण' व्यापक किन्तु निश्चित है, किन्तु उनके निष्कर्ष कभी-कभी विचित्र होते हैं। हिन्दी के दस श्रेष्ठ उपन्यासों की जो सूची उन्होंने प्रस्तुत की वह इसका ज्वलन्त प्रमाण है। ललिताप्रसाद 'सुकुल' की 'साहित्य-जिज्ञासा' वास्तविक अर्थ में एक जिज्ञासु की दृष्टि को व्यक्त करती है। साथ ही उससे यह भी सिद्ध होता है कि हिन्दी-समीक्षा विचार के क्षेत्र में ही नहीं भौगोलिक क्षेत्र में भी विस्तारों को नाप रही है। स्वतन्त्र वर्ग के नगेन्द्र आदि कई समीक्षकों ने साहित्य के वैयक्तिक पक्ष का विश्लेषण मनोविज्ञान के आधार पर विशेषतया फ्रायड, युङ्ग और एडलर के सिद्धान्तों के अनुरूप किया है। इस दिशा में इलाचन्द्र जोशी का महत्त्व सर्वोपरि है, क्योंकि उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही 'विवेचना' प्रस्तुत की है। यद्यपि उनके विवेचन में कुछ उलझन अवश्य रहती है परन्तु उसका कारण कदाचित् विषय की सूक्ष्मता एवं गहनता ही है। जैनेन्द्र के विचार गांधीवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित किन्तु ओजस्वी तथा तर्कपूर्ण रूप में व्यक्त हुए हैं। उन्होंने मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र आदि सभी का आश्रय ग्रहण किया है। जोशी तथा जैनेन्द्र में समीक्षक की अपेक्षा साहित्यकार का व्यक्तित्व ही अधिक प्रधान है। इसी वर्ग में कुछ अन्य ऐसे आलोचक भी आते हैं जिन्होंने शास्त्रीय दृष्टि को ही प्रधान रखा है। रामदहिन मिश्र तथा कन्हैयालाल पोद्दार की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं, जिनमें मौलिक चिन्तन की अपेक्षा काव्य-शास्त्र के निश्चित सिद्धान्तों की व्याख्या का प्रयत्न ही अधिक है।

शुक्लोत्तर-काल में समीक्षा ने एक अन्य नई दिशा में पर्याप्त प्रगति की है, और वह दिशा है शोध की। यद्यपि यह निश्चित है कि अधिकांश शोध-कार्य विशुद्ध 'खोज' है और समीक्षा से उसका सम्बन्ध नहीं है तथापि प्राचीन और नवीन साहित्य के विभिन्न पक्षों के सम्बन्ध में आलोचनात्मक प्रबन्ध भी प्रस्तुत किये गए हैं, जिनसे समीक्षा-क्षेत्र भी समृद्ध हुआ है। सैद्धान्तिक दिशा में शोध-कार्य अभी एक प्रकार से नहीं हुआ है।

आधुनिक हिन्दी-समीक्षा के पर्यालोचन में उन लोगों का उल्लेख करना भी आवश्यक है जो किसी साहित्यिक विशेष या वाद विशेष पर अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रगतिवाद के अध्येताओं में सर्वश्री शिवदानसिंह चौहान, शिवचन्द शर्मा, धर्मवीर भारती, विजयशंकर मल्ल आदि तथा छायावाद के अध्येताओं में देवराज तथा शम्भूनाथसिंह आदि का नाम स्मरणीय है। शम्भूनाथसिंह ने 'छायावाद युग' नाम से जो अध्ययन प्रस्तुत किया है वह विशेष अध्ययन के क्षेत्रों में एक महत्त्वपूर्ण संस्थान है। हिन्दी में समाजवादी दृष्टिकोण से लिखी गई यह कदाचित् पहली कृति है जो परिस्थितियों के परिवेश में किसी साहित्यिक वाद का सूक्ष्म एवं गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करती है। सूर, मीराँ, कबीर, तुलसी तथा प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि पर विशेष अध्ययन हो रहे हैं, किन्तु प्रायः इनके पीछे समीक्षक की विशुद्ध भावना न होकर उपयोगिता का दृष्टिकोण प्रधान रहता है। विद्यार्थियों के लिए प्रचुर समीक्षा-साहित्य प्रस्तुत करने वाले व्यक्तित्वों में डॉ० रामरतन भटनागर का नाम सर्वप्रमुख है। निश्चय ही इस प्रकार की कृतियों में समीक्षक के दायित्व का निर्वाह नहीं हो पाता है और परिणामतः उनका स्तर सामान्य से बहुत कम और कभी ही ऊँचा उठ पाता है।

स्वयं समीक्षा के सम्बन्ध में समीक्षा प्रस्तुत करने के प्रयास-स्वरूप साहित्यालोचन की परिपाटी में अनेक प्रयत्न हो रहे हैं। प्रभाकर माचवे, रामलाल सिंह, डॉ० सत्येन्द्र आदि अनेक

व्यक्तियों ने इस दिशा में कार्य किया है। डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र ने एक प्रबन्ध 'हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास' शीर्षक से प्रस्तुत किया है, जिसमें हिन्दी-आलोचना के सम्पूर्ण स्वरूप का परिचय दिया गया है। पाश्चात्य समालोचना-सिद्धान्तों से सम्बन्धित डॉ० एस० पी० खत्री तथा लीलाधर गुप्त के ग्रन्थ 'आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त' तथा 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त' प्रकाशित हो चुके हैं। संक्षेप में शुक्ल जी के बाद हिन्दी-समीक्षा का विकास बहुमुखी तथा विशद है। समीक्षा-दृष्टि का विस्तार हुआ है और प्रत्यालोचना की प्रवृत्ति का, जो आलोचना के जीवन्त विकास की परिचायक होती है, तत्त्व-चिंतन के रूप में परिचय मिलने लगा है। नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन कि 'हिन्दी-आलोचना में भी कुछ अंशों तक लक्ष्य-हीनता और दिग्भ्रम के चिह्न दिखाई देते हैं'[1] आंशिक रूप से ही सही है अन्यथा विकास और परिपक्वता के लक्षण स्पष्ट हैं।

---

१. 'आलोचना', अंक २, पृष्ठ १८०।

विजयेन्द्र स्नातक

श्री गुलाबराय की समीक्षा-पद्धति : एक मूल्याङ्कन

शुक्लोत्तर काल में हिन्दी-समीक्षा-क्षेत्र में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। एक ओर समीक्षा में वैज्ञानिकता की पुकार मची, दूसरी ओर सौन्दर्य-बोध का जय-घोष करते हुए छायावादी आलोचक समीक्षा-क्षेत्र में उतरे। (शुक्ल जी के समय में ही इनका उदय होना प्रारम्भ हो गया था और शुक्ल जी ने उनकी स्वच्छन्द शैली को मर्यादित करने की ओर अपने इन्दौर वाले भाषण में इंगित किया था।) छायावादी आलोचकों के अतिरिक्त इसी युग में मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तत्त्वों को समालोचना-शास्त्र में स्थान मिलना प्रारम्भ हुआ। मार्क्स, लेनिन, फ्रायड, एडलर, युङ्ग आदि पाश्चात्य विचारकों की तत्त्व-चिन्तन-सरणि हिन्दी-आलोचना में प्रतिष्ठित हुई। बाबू गुलाबराय जी ऐसे युग में आलोचना लिखने में प्रवृत्त हुए जब वादों का घटाटोप छाया हुआ था, किन्तु उन्होंने न तो किसी वाद विशेष के प्रति आग्रह दिखाया और न किसी से विरोध रखकर ही कुछ लिखा। प्रारम्भ में भारतीय काव्य-शास्त्र की स्थूल परिभाषाओं तक ही वे सीमित रहे—बाद में पाश्चात्य सिद्धान्तों की परख करते हुए उनका भी प्रयोग प्रारम्भ किया।

शुक्ल जी की पद्धति से बाबू जी की शैली में जो वैषम्य है उसकी ओर संकेत करना हम आवश्यक समझते हैं। शुक्ल जी केवल विशिष्ट रसानुभूति को लेकर सुन्दर चिन्तन करने में अद्भुत क्षमता रखते हैं तो बाबू जी साहित्य-मात्र के सम्बन्ध में बिना किसी पूर्वग्रह या वैर-विरोध के विचार अभिव्यक्त करते चले जाते हैं और उनमें लीन होने की प्रक्रिया में व्याघात नहीं आने देते। व्यंग्य और वचन-वक्रता का आश्रय वे उसी प्रकार लेते हैं जिस प्रकार शुक्ल जी। अन्तर केवल इतना है कि आपके व्यंग्य में दंश और तीक्ष्णता की मात्रा शुक्ल जी से न्यून होती है। मुग्ध हास्य तक ही सीमित रहना आपका गुण है। शुक्ल जी ने मनोविज्ञान और समाज-शास्त्र को अपनी आलोचनाओं में स्थान नहीं दिया, किन्तु बाबू जी ने इन तत्त्वों की उपेक्षा नहीं की और यथास्थान आलोच्य कृति या कलाकार की परिस्थितियों के विश्लेषण में इनका उपयोग किया है। शुक्ल जी ने अपनी उपज्ञात प्रतिभा और पाण्डित्य से साहित्यालोचन को इतना प्रखर तथा गम्भीर बना दिया था कि सामान्य पाठक उससे प्रभावित ही नहीं—अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता। अपनी आलोचना के द्वारा शुक्ल जी पाठक पर छा जाते हैं। भले ही पाठक उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं से सहमत न हो, किन्तु उनका आतंक उसे मानना पड़ता है। बाबूजी की स्वभावगत सादगी और समन्वय-भावना ऐसी है कि उसमें आतंक के लिए स्थान नहीं। सरलता और सुबोधता पर मुग्ध होने पर भी अभिभूत करने की उसमें क्षमता नहीं होती। संक्षेप में, बाबू जी की शैली में न तो प्रखरता है और न विलक्षणता। गाम्भीर्य में शुक्ल जी की समता वे नहीं करते; परिधि-विस्तार में भी उनकी अपनी सीमाएँ हैं; और समीक्षा-गगन की ऊँचाइयों तक

पहुँचने की उनकी स्पृहा भी शायद नहीं है। समतल भूमि पर विचरण करते हुए ऋजुता और परिमार्जन को ही उन्होंने अपनाया है।

शुक्लोत्तर समीक्षा और श्री गुलाबराय

शुक्लोत्तर-हिन्दी-समीक्षा का विकास प्रमुख रूप से तीन धाराओं में हुआ। पहली धारा तो उन आलोचकों की थी जो शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति का अनुगमन करके प्राचीन और नवीन कवियों या काव्य-कृतियों की व्याख्यात्मक आलोचना लिखने में प्रवृत्त हुए। इन्होंने आलोचना के प्रयोग-पक्ष को ही पल्लवित किया। इनमें सर्वश्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर-शुक्ल, लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु', जनार्दन मिश्र 'पंकज' आदि का नाम लिया जा सकता है। इन आलोचकों को हम शुक्ल-सम्प्रदाय (स्कूल) के आलोचक कह सकते हैं। दूसरी धारा में हम उन छायावादी आलोचकों को रखते हैं जिन्होंने आत्मपरक (सब्जेक्टिव)-शैली से काव्य-मीमांसा का बीड़ा उठाया और आलोचना के प्रभाववादी ढंग को प्रचलित किया। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' आदि कतिपय आलोचक इस कोटि में आते हैं। काव्य के सौन्दर्य-पक्ष को इन लोगों ने काव्यमयी भाषा में इस शैली से अभिव्यक्त किया कि अभिव्यंजना के चमत्कार ने अभिव्यंग्य को ढक लिया और पाठक की चेतना विस्मय-विमुग्ध होकर रह गई। तीसरी धारा में वे प्रगतिशील आलोचक हैं जो मार्क्सवाद के आधार पर सामाजिक तथा आर्थिक मूल्यों की तुला पर साहित्य को तौलने में समीक्षा की उपादेयता स्वीकार करते हैं। भौतिक जीवन-दर्शन को साहित्य के जीवन-दर्शन से मिलाकर देखने की अभिनव दृष्टि इन आलोचकों से मिली। रूढ़ सिद्धान्तों से पीछा छुड़ाने का भी इस कोटि की समीक्षा में आग्रह रहा है। श्री रामविलास शर्मा, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री शिवदानसिंह चौहान प्रभृति लेखकों को इसका उन्नायक कहा जाता है।

इन तीन धाराओं के साथ ही, किन्तु इन सबसे अधिक प्राणवान, कुछ स्वतन्त्र कोटि के विचारक भी समीक्षा-क्षेत्र में अवतरित हुए। यथार्थ में शुक्लोतर समीक्षा को इन्हीं आलोचकों ने आगे बढ़ाया। युग की संवेदनाओं को ग्रहण करके तथा रचयिता की मनःस्थिति की वैज्ञानिक ऊहापोह द्वारा इन समीक्षकों ने आलोचना में नवीन चेतना का संचार किया। इनमें श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, बाबू गुलाबराय, पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', डॉ० नगेन्द्र, डॉ० सत्येन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय है। इन आलोचकों की विशेषता यही है कि इन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र की आधारभूत मान्यताओं को पृष्ट-भूमि में रखकर वस्तु-परक विवेचन किये। अपनी अभिरुचि या पूर्वग्रह इनकी दृष्टि का निरोध नहीं कर सके और वैयक्तिक आदर्शों को भी सार्वभौम सिद्धान्त बनाने का आग्रह प्रकट नहीं किया गया। आचार्य शुक्ल ने अपनी मीमांसा में पूर्वग्रह और अभिरुचि को सर्वथा तिरस्कृत नहीं किया था और न उन पर उचित अंकुश ही वे रख पाए थे। कदाचित् इसी कारण सूरदास के काव्य-विवेचन में तथा छायावादी कवियों के कृतित्व की परख में वे तटस्थ रहकर निष्कर्ष न निकाल सके थे। कहना न होगा कि शुक्लोत्तर समीक्षा में इस त्रुटि का परिहार हुआ और विशिष्ट आलोचकों ने अपनी-अपनी प्रतिभा के उत्कर्ष के लिए उपयुक्त क्षेत्र खोज निकाला। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गहन अध्ययन, पांडित्य और शोध के बल पर अपनी कृतियों में विद्वत्तापूर्ण नूतन उद्भावनाएँ तथा सन्धानपूर्ण सूचनाएँ प्रस्तुत कीं। अन्धकाराच्छन्न हिन्दी के आदि काल को आलोकित करना उनकी प्रतिमा

का निदर्शन है। भक्ति-युग के सम्बन्ध में परम्परा और शृङ्खला का तारतम्य स्थापित करना भी आपके ही अध्यवसाय का फल है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने आधुनिक साहित्य की गति-विधि का मूल्याङ्कन तथा वस्तुनिष्ठ आकलन करने में अपनी सूझ-बूझ और व्यापक मानदण्डों का उपयोग किया। रूढ़ आलोचना के परिहार का यह प्रयत्न हिन्दी-समीक्षा को नूतन मार्ग की ओर उन्मुख कर सका। बाबू गुलाबराय ने सिद्धान्त और प्रयोग का समाहार करके समीक्षा को सुगम, सुबोध और सुस्पष्ट बनाकर सर्वजन-सुलभ बनाने में अमित योग दिया। शुक्लोत्तर समीक्षा के सभी उपादेय अंगों का समवेत रूप बाबू जी की आलोचना में देखा जा सकता है। डॉ० नगेन्द्र ने पाश्चात्य तथा पौरस्त्य काव्य-सिद्धान्तों के सन्तुलित प्रयोग द्वारा समीक्षा में मनोवैज्ञानिक तथ्यों के समावेश के साथ वैयक्तिक कुण्टाओं को खोजकर उनके द्वारा कवि के कृतित्व का मूल्याङ्कन किया। एकदेशीय निर्णय से बचे रहने की सतर्कता जैसी बाबू जी में है वैसी औरों में नहीं पाई जाती। फिर भी, इस युग में निर्णयात्मक आलोचना को न तो सौ फी सदी स्वीकार किया गया और न सर्वथा तिरस्कृत ही। डॉ० सत्येन्द्र ने मनन और चिन्तन के आधार पर गुप्त, हरिऔध, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि कलाकारों की कृतियों के प्रामाणिक एवं तर्कसम्मत अध्ययन प्रस्तुत किये। फलतः शुक्लोत्तर समीक्षा को अनुप्राणित करने में इन्हीं लेखकों का प्रधान योग रहा। शुक्ल-सम्प्रदाय में दीक्षित न होकर भी अपनी योग्यता, क्षमता और देन के बल पर इन्होंने शुक्ल जी की परिपाटी को किसी-न-किसी रूप में आगे बढ़ाया और व्यक्तिगत प्रतिमा से अपने लिए भी समीक्षा-क्षेत्र में उपयुक्त स्थान बना लिया।

श्री गुलाबराय की समीक्षा-शैली के विधायक तत्त्व

बाबू गुलाबराय की आलोचना-पद्धति को अब तक आलोचकों ने 'अध्ययनात्मक'[1], 'व्याख्यात्मक'[2], 'समन्वयात्मक'[3] और 'व्यावहारिक' आदि कई नाम दिये हैं। नाम-भेद के बावजूद चारों शैलियों का पारस्परिक शाश्वत विरोध नहीं हो सकता। व्याख्या के मूल में अध्ययन रहता है और समन्वय के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों की सुस्पष्ट व्याख्या अनिवार्य है। आलोचना को व्यावहारिक बनाने के लिए सिद्धान्त और प्रयोग दोनों का समाहार अपेक्षित है। इस प्रकार ऊपर से नाम में भिन्न दीखने वाले ये चारों प्रकार प्रायः एक-दूसरे के पूरक या समान ही हैं। फलतः सभी शैलियों का एक बिन्दु पर मिल जाना सहज है। इसलिए बाबू जी की शैली को हम "समन्वय-परक व्याख्यात्मक शैली" के अन्तर्गत ही रखेंगे और यह देखेंगे कि समन्वय और व्याख्या के लिए उन्होंने किन-किन उपकरणों का उपयोग अपनी समीक्षा में किया।

बाबू गुलाबराय का आलोचना-साहित्य सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनों प्रकार का है। 'हिन्दी-नाट्य विमर्श', 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' उनकी प्रमुख सैद्धान्तिक कृतियाँ हैं। 'प्रबन्ध प्रभाकर', 'हिन्दी-काव्य-विमर्श', 'प्रसाद की कला' और 'हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास' आदि कृतियाँ प्रयोगात्मक समीक्षा में आती हैं। जिन सिद्धान्तों की स्थापना और पुष्टि बाबू जी ने अपनी सैद्धान्तिक पुस्तकों में की है उन्हींका प्रयोग व्यावहारिक लेखों में किया गया है। जितना उत्कर्ष साहित्य के सिद्धान्तों का निरूपण करने में उन्हें प्राप्त हुआ उतना

१. 'आ० हि० सा० में आलोचना', —डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृष्ठ ४८।

२. 'समीक्षा की समीक्षा'—माचवे, पृष्ठ ८२।

३. वही, पृष्ठ ९० तथा 'साहित्य-विवेचन'—सुमन तथा मल्लिक, पृष्ठ २३४।

ही उन सिद्धान्तों के व्यावहारिक प्रयोग करने में भी वे प्राप्त कर सकें।

बाबू जी साहित्य-शास्त्र के सफल अध्यापक हैं, आचार्य नहीं। अध्यापक की सफलता इसमें है कि वह पक्ष-विपक्ष के विभिन्न मत-मतान्तरों को एकत्र करके इस चातुर्य से अध्येता के समक्ष प्रस्तुत करे कि उसकी ज्ञान-वृद्धि के साथ जिज्ञासा शान्त हो सके और वह दुरूह और क्लिष्ट प्रसंगों को सुगमता पूर्वक हृदयंगम कर सके। इस कला में बाबू जी को अद्भुत सफलता मिली है। निस्सन्देह आचार्य शुक्ल और डॉ० श्यामसुन्दरदास के बाद पुस्तकों और लेखों द्वारा अध्यापक का कार्य सबसे अधिक आपने ही किया है। कितने ही हिन्दी-प्रेमीजन, जिन्हें विश्वविद्यालयों और कालिजों में जाकर गुरु-मुख से पढ़ने का सौभाग्य नहीं मिलता, वे आपकी कृतियों से ही शास्त्र का ज्ञान उपलब्ध करते हैं। अध्यापक का गुण समन्वय पूर्वक विवेचन, विश्लेषण और व्याख्या ही है। वह विषय को सुबोध और सटीक बनाता है।

आपकी समीक्षा का दूसरा गुण है उसमें नैतिक मूल्यों का समावेश। आप काव्य को शुद्ध कला तक सीमित नहीं रखना चाहते। सौन्दर्य-बोध पर बल देते हुए भी काव्य को 'लोक-हिताय' मानने के कारण उसकी व्याख्या भी कल्याणाभिनिवेशी करते हैं। तुलसी के 'स्वान्तः सुखाय' पद पर विचार करते हुए आपने लिखा है :

"स्वान्तः सुखाय से केवल उनका यही अभिप्राय है कि उनको राम गुण-गान से अलौकिक सन्तोष मिलता था। वे धन और यश के प्रलोभनों से परे थे।

वास्तव में सत्काव्य स्वान्तः सुखाय ही लिखा जाता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह श्रोताओं के लिए नहीं होता। काव्य के कहने और सुनने में सुख मिलता है, लेकिन आत्माभिव्यक्ति का सुख अभिव्यक्त कर देने-मात्र से समाप्त नहीं हो जाता। कवि अरण्य-रोदन करना नहीं चाहता। वह अपने समानधर्मियों तक अपनी बात पहुँचाना चाहता है। भवभूति तो अनन्त काल तक ठहरने और सारी पृथ्वी में खोजने के लिए तैयार थे। × × × गोस्वामी तुलसीदास जी यद्यपि स्वातःसुखाय लिखते हैं फिर भी उनको बुधजनों के आदर की चिन्ता रहती है। काव्य के प्रयोजन में यदि सामाजिकता को भी स्थान दिया जाय तो अनुचित न होगा।"[1]

'काव्य-मीमांसा' के प्रणेता राजशेखर ने भावक की चार कोटियाँ निर्धारित की हैं। उनमें एक कोटि 'तत्त्वाभिनिवेशी' भावक की है, जो शब्द योजना के गुण अवगुण को देखता है, दोषों का सुधार करता है और रस का आस्वाद करता है। इन गुणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि बाबूजी की समीक्षा-पद्धति बहुत-कुछ तत्त्वाभिनिवेशी भावक की है, जिसमें केवल दोष-दर्शन की प्रवृत्ति का अभाव है। दोष-परिहार के लिए दोषों की ओर मात्सर्य-हीन भाव से इंगित करना बुरा नहीं कहा जा सकता, किन्तु बाबूजी की दृष्टि दोषों पर कम जाती है। वे लिखते हैं :

"व्यावहारिक आलोचना में मेरी दृष्टि गुण-दोष-दर्शन की कम रही है। दोष मेरी दृष्टि में कम ही आते हैं; जो आते हैं उन पर कभी-कभी व्यंग्य भी कर देता हूँ।"

बाबू जी की समीक्षा-पद्धति की चौथी विशेषता है उसका शास्त्र-सम्मत होना। सिद्धान्त और प्रयोग दोनों स्थानों पर आप शास्त्र मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते और पद-पद पर भारतीय काव्य-शास्त्र या पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के उद्धरण देते चलते हैं।

१. 'सिद्धान्त और अध्ययन', पृष्ठ ४१।

बाबू जी की समीक्षा में अभिव्यक्ति की दृष्टि से चार गुण दृष्टिगत होते हैं—स्पष्टता (पारस्पिक्विटी), सरलता (सब्लिमिटी), स्वच्छता (क्लीयरेन्स) और प्रसंग-सम्बद्धता (हार्मनी)। दूसरे शब्दों में, प्रसाद गुण आपकी कृतियों में ओत-प्रोत रहता है। आलोचना-जैसे शुष्क और दुरूह विषय को आपने जितना सरल तथा सुबोध बनाया उतना आपके पूर्ववर्ती आलोचक नहीं बना सके। आह्लादक व्यंग्य और हास आपके निबन्धों का जीवन है। वही समीक्षा में भी कहीं-कहीं आ जाता है। व्यावहारिक आलोचना में तो उसके लिए अनेक प्रसंग निकल भी आते हैं। 'हिन्दी-काव्य-विमर्श' पुस्तक में ऐसे बीसियों स्थल पठनीय हैं, जिनमें बाबू जी की विशुद्ध साहित्यिक शैली का निखरा हुआ रूप दृष्टिगत होता है।

बाबू जी की समालोचना में उनकी रसग्राहिता का भी 'पुट' रहता है। कुछ आलोचकों ने आपको 'रस ग्रहण की अपार क्षमता' वाला कहा है। उनका स्वयं कथन है कि : "मैं पुस्तक की असली देन को खोजना चाहता हूँ। पुस्तक की सार-वस्तु अच्छी तरह निकालने का प्रयत्न करता हूँ और उसको पाठकों के समक्ष अच्छे-से-अच्छे शब्दों में रख देता हूँ। आलोचना को मैं शुष्क नहीं बनाना चाहता। अपने निबन्धों की शैली का समावेश आलोचना में भी करता हूँ। उसको भी मैं कला-कृति मानता हूँ।" इन शब्दों से भी उनकी प्रवृत्ति तत्त्व-शोध की ओर ही दृष्टिगत होती है; रस-ग्रहण की ओर नहीं। फिर भी रस-ग्रहण की क्षमता आपमें है और उसका आपने समीक्षा में उपयोग भी किया, यह तो मानना ही होगा।

समन्वयात्मक समीक्षा का मूल्यांकन

जैसा कि हमने पहले भी लिखा है कि बाबू जी की समीक्षा में समन्वय-भावना का प्राधान्य रहता है और समन्वय के लिए वे सिद्धान्तों का उभयपक्षीय विश्लेषण करने की ओर झुके रहते हैं। यह समन्वय समीक्षा में कहाँ तक युक्ति-संगत और स्वीकार्य हो सकता है इस प्रश्न पर विचार करना हम आवश्यक समझते हैं। यदि समन्वय के सभी पहलुओं को दृष्टि में रखकर बाबू जी की समीक्षा-पद्धति का अनुशीलन तथा पर्यालोचन किया जाय तो वही सही मानों में उनकी समीक्षा का मूल्यांकन होगा। हम समन्वय-भावना के सम्बन्ध में पहले बाबू जी का अपना अभिमत प्रस्तुत करके तदनन्तर उसकी विवेचना करेंगे। बाबू जी ने अपने इण्टरव्यू में अपनी आलोचना के सम्बन्ध में कहा है कि : "मेरा दृष्टिकोण सर्वत्र और इसीलिए आलोचना में भी—समन्वयवादी है। काव्य-कला और साहित्यांगों के विवेचन में मैंने इसी पद्धति को अपनाया है। 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' में परिभाषाएँ देने में मैंने देशी-विदेशी विद्वानों के मतों का समन्वय करके ही अपनी परिभाषाएँ दी हैं।"[१]

"हमारे प्राचीन साहित्य में धर्म के आध्यात्मिक मूल्यों, अर्थ के भौतिक मूल्यों और काम के सौन्दर्य-सम्बन्धी मूल्यों (Aesthetic Values) का समन्वय जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। × × × साहित्यिक का कार्य समन्वय और एकत्रीकरण है, विभाजन नहीं। आर्यों का आदर्श भी यही है।"[२]

समन्वय शब्द का प्रयोग ऊपर की पंक्तियों में सिद्धान्तों के समीकरण, विभिन्न मत-वादों में अभिन्नत्व या अनेकत्व में एकत्व-स्थापन अथवा साहित्य के विभिन्न प्रेरणा-केन्द्रों का अध्ययन मनन

---

१. 'मैं इनसे मिला' (पहली किस्त), पृष्ठ ६।

२. 'सिद्धान्त और अध्ययन', पृष्ठ २७१।

करके उनमें समानता ढूँढ़ निकालना है। दो विरोधी सिद्धान्तों का समीकरण सम्भव है, किन्तु उनका सौ फी सदी समन्वय सम्भव नहीं। इसी प्रकार अनेकत्व में एकत्व का सन्धान बौद्धिक प्रखरता से हो सकता है, किन्तु अनेकत्व या भिन्नत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता। फलतः समन्वय की प्रवृत्ति लोकहिताय होने पर भी शास्त्रीय तुला पर बावन तोले पाव रत्ती सही नहीं उतरती। दूसरी त्रुटि समन्वयवाद की यह है कि इस शैली को स्वीकार करने से समीक्षक का दृष्टिकोण नीर-क्षीर-विवेकपूर्ण एवं तत्त्वाभिनिवेशी न होकर समझौते का हो जाता है, जो भले-बुरे दोनों का मेल कराकर संघर्ष को टालने में रहता है। यह समन्वय कभी-कभी 'रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' की कोटि में पहुँचकर यथार्थ को समझौते के अवगुण्ठन से छिपा लेता है। ऋत और अनऋत का एक साथ जय-जयकार करने का अनर्थ भी इसमें सम्भावित रहता है। तीसरा दोष यह है कि दो एकान्त-विरोधी मन्तव्यों या तथ्यों का समन्वय करने के मोह में समीक्षक ज्वलन्त विरोध को नजर-अन्दाज कर जाते हैं और वे गवेषणात्मक कोटि के भावक नहीं रहते। समन्वयवाद का चौथा दूषण यह है कि कटुता और स्पष्टवादिता को बचाने के प्रयत्न में समीक्षक नीर-क्षीर-विवेक का अपेक्षाकृत कम ध्यान रखता है। औदार्य और सहानुभूति-तत्त्व की प्रधानता के कारण पानी-मिला दूध भी शुद्ध समझ लिया जाता है। अब देखना यह है कि क्या बाबू जी ने इस प्रकार के अनर्थ और असंगतियों से बचकर समन्वयवाद को स्वीकार किया है अथवा वे इनमें उलझ गए हैं।

बाबूजी की समीक्षा-कृतियों का अनुशीलन इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सिद्धान्त-पक्ष का प्रतिपादन करने वाले उनके ग्रन्थों का समन्वय उपर्युक्त त्रुटियों से प्रायः बचा रहा है। दर्शन-शास्त्र के अध्ययन और उसके यथास्थान प्रयोग ने उन्हें इन दोषों से बचाने में बहुत योग दिया है। उदाहरणार्थ हम उनकी प्रमुख कृति 'सिद्धान्त और अध्ययन' के ऐसे कई स्थलों का निर्देश कर सकते हैं, जहाँ समन्वयात्मक रूप से लिखने पर भी तथ्यों और विरोधों का अनौचित्यपूर्वक समझौता (Compromise) नहीं किया गया है। 'काव्य और कला' शीर्षक अध्याय में लेखक ने असत्य से समझौता न करके अपना दृष्टिकोण सर्वथा स्पष्ट और स्वच्छ रखा है। 'अभिव्यंजनावाद और कलावाद' में तो बाबू जी ने समन्वय का कोई सरल तरीका स्वीकार नहीं किया। आचार्य शुक्ल से अपना मत-विरोध स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है और अन्त में समन्वय के लिए भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। क्रोचे के सम्बन्ध में सम्मति प्रकट करने में बड़ी निर्भीकता का परिचय दिया गया है। संक्षेप में, सैद्धान्तिक पक्ष में उनका समन्वय सराहनीय और ग्राह्य है।

किन्तु प्रयोगात्मक या व्यावहारिक समीक्षा में बाबू जी की समन्वय-भावना दृढ़ भूमि पर अवस्थित नहीं है, और न उनकी स्थापनाओं में बल है। व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षा-पद्धतियों का समन्वय तो उनकी शैली है, किन्तु काव्य के भाव-पक्ष का उद्घाटन करते समय जहाँ तथ्यों को समन्वय के नाम पर तोड़ा-मरोड़ा गया है, वह आसानी से गले के नीचे नहीं उतारा जा सकता। उदाहरण के लिए 'हिन्दी-काव्य-विमर्श' से हम तीन-चार समीक्षाओं की ओर संकेत करना चाहते हैं। 'विद्यापति का काव्य में स्थान' बताते हुए अन्त में उनके भक्त या शृङ्गारी कवि होने का बड़ा विचित्र समन्वय हुआ है, जो पाठक को कुछ भी निर्णय करने की क्षमता नहीं देता, "वे रसिक भक्तों में से थे, कभी भक्ति-भावना प्रबल हो जाती थी और कभी रसिकता का पल्ला भारी हो जाता था।" आलोचक ने समन्वय तो खूब किया, किन्तु यह कहने का दायित्व अपने ऊपर नहीं लिया कि मूलतः वे क्या थे! इसी प्रकार 'आचार्य कवि-केशव' पर लिखने के उपरान्त

जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें केशव की 'हृदय-हीनता' के आक्षेप पर कुछ नहीं कहा। उनकी प्रमुख विशेषताओं में उनके भाव-पक्ष की आलोचना की उपेक्षा इसीलिए की है कि समन्वयात्मक दृष्टिकोण के लिए उसमें न्यून अवकाश था। सूर और तुलसी की तुलना की भी समन्वयवादी भावना सफल नहीं हो सकी है। यह ठीक है कि सत्साहित्य में एकता की भावना रहती है, किन्तु व्यक्तिगत रुचि, शैली, अभिव्यक्ति और मान्यताएँ तो सदा रही हैं और रहेंगी, उनमें समन्वय खोजने की प्रवृत्ति मंगलमयी अवश्य है किन्तु न तो वह एकान्त सत्य है और न स्वस्थ प्रवृत्ति ही है।

समन्वयवादी के सामने एकता और अभिन्नता का ध्येय रहता है किन्तु उसे यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वह समन्वय के मोह में कहीं राम और रावण का समन्वय तो नहीं कर रहा है। भारतीय संस्कृति समन्वयपरक है, गौतम बुद्ध समन्वयवादी थे, लोकनायक तुलसी भी समन्वयवादी थे और गीता भी भक्ति, ज्ञान और कर्म की समन्वय-चेष्टा से पूर्ण है, किन्तु गौतम बुद्ध को 'ब्राह्मण-धर्म' से प्रत्यक्ष विरोध करके समन्वय को ठुकराना पड़ा। तुलसी को 'रामचरितमानस' में राम-महिमा में ही सब-कुछ दीखा और 'गीता' में तात्कालिक रूप से कर्म को ही प्रधानता देकर कृतकृत्य हुई।

संक्षेप में, हम बाबू जी को अपने युग का एक सफल अध्यापक-आलोचक मानते हैं, आचार्य समालोचक नहीं। वे अपनी समीक्षा से युग को गति दे सके हैं, युग-विधान की शक्ति उनमें नहीं। तत्त्वाभिनिवेश की योग्यता उनमें भरपूर है, तलस्पर्शी समीक्षक की दिव्य दृष्टि का अभाव खटकता है। प्रतिपाद्य वस्तु का विशद विवेचन, सटीक वर्णन और सोदाहरण अङ्कन वे कर सकते हैं, किन्तु मौलिक चिन्तन का गाम्भीर्य हमें उनमें नहीं मिलता। स्वच्छता, सुबोधता और स्पष्टता उनकी अभिव्यंजना के विधायक तत्त्व हैं; किन्तु दीप्ति, कान्ति, प्रखरता और प्रभावोत्पादकता उसमें नहीं आती। अपने युग में उन्होंने आलोचना को क्लिष्ट और दुरूहता के क्षेत्र से बाहर निकालकर सरल और सुलभ बनाया। आलोचना के मानदण्डों में परिवर्तन की दिशा का संकेत न करने पर भी बाबूजी ने अपनी 'व्यावहारिक आलोचना को मौलिक कृति की भाँति सार-सँभालकर एक कला-कृति बनाने का प्रयत्न किया।' सच्ची हार्दिकता और ईमानदारी के साथ आलोचना लिखने वाले अपने युग के समीक्षकों में बाबू जी का स्थान बहुत ऊँचा है। अपनी शक्ति-सीमाओं को समझना और स्वीकार करना बड़े उदारमना व्यक्तियों का काम है। कहना न होगा बाबू जी ने मिथ्याभिमान, दम्भ, दर्प सबको बड़ी सावधानी से दूर रखकर लिखा है, यह आपके साहित्यिक संयम और हार्दिक सौजन्य का द्योतक है।

डॉक्टर भगवतस्वरूप मिश्र

वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति

काव्य की धाराएँ और समीक्षा-पद्धतियाँ समानान्तर होते हुए भी एक-दूसरे से आदान-प्रदान करती हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार उनका विकास होता रहता है और कभी-कभी दोनों मिलकर एक नवीन तीसरी धारा में परिणत हो जाती हैं। हिन्दी-समीक्षा का इतिहास भी यही है। द्विवेदीजी, मिश्रबन्धु आदि की प्रणालियों का उपयोग शुक्ल जी ने किया तथा एक नवीन, प्रौढ़ और शास्त्रीय प्रणाली को जन्म दिया। पहले भाषा-सम्बन्धी निर्णयात्मक, तुलनात्मक तथा नीतिवादी आदि पद्धतियाँ एक-दूसरे के कुछ समानान्तर चलीं, लेकिन शुक्ल जी में इन सबने मिलकर एक नवीन पद्धति का रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार प्रसाद जी आदि में जिस स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा का विकास हो रहा था, उसने शुक्ल जी की समीक्षा-पद्धति से आदान-प्रदान किया। भारतीय रस-पद्धति को स्वीकार किया। इससे कलाकार और कला-कृति में सम्बन्ध स्थापित करने वाली विश्लेषणात्मक भावना नवीन समीक्षा-पद्धति के रूप में विकसित हो गई। इस प्रकारइस पद्धति ने शुक्ल जी की पद्धति का पूरा उपयोग किया। उनकी शैलियों को अपने अनुरूप बनाकर अपना लिया। वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति में इस सामंजस्य की अवस्था के दर्शन होते हैं। उन्होंने शुक्ल जी की विश्लेषणात्मक पद्धति को कुछ आगे बढ़ाकर पूर्णतः निगमनात्मक कर दिया है। उनके वर्ण-व्यवस्था वाले नीतिवादी दृष्टिकोण को मानकर कल्याण और लोक मंगल में बदल दिया। साहित्य को वैयक्तिक चारित्रिक निर्माण के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर सांस्कृतिक चेतना प्रदान करने वाला मानकर एक विस्तीर्ण और व्यापक क्षेत्र में प्रतिष्ठित कर दिया। भारतीय रस-सिद्धान्त का पाश्चात्य संवेदनीयता से सामंजस्य स्थापित करके उसे एक व्यापक सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया। रस की यह व्यापकता प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित थी। वाजपेयी जी की उपज्ञता तो उसके ग्रहण करने में ही है। वाजपेयी जी शुक्ल जी की अमूल्य निधि को लेकर, जिस पर उनका पूर्ण अधिकार है, आगे बढ़ते हैं और हिन्दी-साहित्य में नवीन अध्याय प्रारम्भ करते हैं। इस अध्याय का उपक्रम प्रसाद जी में कुछ पहले ही हो चुका था। पन्त जी, निराला जी, इलाचन्द्र जोशी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, गंगाप्रसाद पाण्डेय आदि अनेक व्यक्तियों ने इसके विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। पर इसका पूर्ण विकास वाजपेयी जी में ही मिलता है। आज फिर हिन्दी-साहित्य में समन्वयवादी प्रवृत्ति प्रबल हो रही है। ऐतिहासिक, प्रगतिवादी, फ्रायडवादी, स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी आदि सभी शैलियाँ कुछ दूर तक सामान्यतः पृथक् और स्वतन्त्र रूप से विकसित होकर मिल रही हैं। इस प्रकार एक नवीन पद्धति विकसित हो रही है जिसे समन्वयवादी नाम दिया जा सकता है। यही प्रगति का लक्षण है। अन्य पद्धतियों की तरह शुक्ल-सम्प्रदाय और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा-पद्धति का भी सम्मिलन और विकास हुआ है, इस समन्वय का बहुत अधिक श्रेय वाजपेयी जी को ही है। इस प्रकार वाजपेयी जी की

आलोचना समय की दृष्टि से समकालीन होते हुए भी प्रगति की दृष्टि से विकास के आगे की अवस्था मानी जा सकती है।

वाजपेयी जी ने काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का विवेचन बहुत कम किया है। प्रयोगात्मक आलोचना में प्रासंगिक रूप से जितने विवेचन की आवश्यकता हुई है, उतने के आधार पर ही उनकी काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी मान्यताओं का परीक्षण करना पड़ता है। उन्हें भारतीय रसवाद का सिद्धान्त मान्य है। पर पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रभाव होने के कारण उन्होंने उसकी व्याख्या शास्त्र के शब्दों में नहीं की है। वस्तुतः वे काव्य में हृदय-स्पर्शिता और आह्लाद को ही प्रधान मानते हैं। रस को काव्य की मूलभूत वस्तु मानते हुए भी वे उसके ब्रह्मानन्दसहोदरत्व अथवा अलौकिकता से सहमत नहीं प्रतीत होते। उन्होंने कहा है कि रसानुभूति-सम्बन्धी अलौकिकता के पाखण्ड से काव्य का अनिष्ट ही हुआ है।[1] उससे वैयक्तिकता की वृद्धि हुई और सांस्कृतिक ह्रास हुआ है। उनकी यह भी मान्यता है कि रस-सिद्धान्त को इतना विशद और व्यापक रूप प्रदान किया जा सकता है कि वह सारी साहित्य-समीक्षा का मूल आधार बन सके। इसके लिए उसमें पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त और प्रणालियों के आकलन की अत्यधिक आवश्यकता है। इस प्रकार से वह साहित्य-मात्र की समीक्षा का मानदण्ड हो सकता है। इस सबका तात्पर्य केवल रस को वेद्यान्तर-संस्पर्शशून्यत्व और ब्रह्मानन्दसहोदरत्व आदि विशेषणों द्वारा प्राप्त सीमित अर्थ से युक्त करके उसे केवल आह्लादकता का सूचक मानकर भाव, रसाभास, भावाभास, अलंकार, ध्वनि, वस्तु-ध्वनि आदि सबके आनन्द का प्रतीक मानना और कला-मात्र के आनन्द को रस नाम से अभिहित करना है। रस की अलौकिकता की बाढ़ में बहुत-से असांस्कृतिक चित्र उपस्थित किये गए हैं तथा रस की परिधि को इन विशेषणों से संकुचित करके बहुत-सा सत्साहित्य भी उपेक्षित हुआ है। इसलिए रस के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की नितान्त आवश्यकता है। रस के सम्बन्ध में वाजपेयी जी का यही दृष्टिकोण है। वाजपेयी जी के रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजनावादी नहीं हैं। वे काव्य में अनुभूति की तीव्रता को ही प्रधान मानते हैं। वे अभिव्यंजनाओं को निम्न स्तर की वस्तु मानते हैं। **"काव्य अथवा कला का सम्पूर्ण सौन्दर्य अभिव्यंजना का ही सौन्दर्य नहीं है। अभिव्यंजना काव्य नहीं है। काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्त्व है। उसका सीधा सम्बन्ध मानव-जगत् और मानस-वृत्तियों से है, जब कि अभिव्यंजना का सम्बन्ध केवल सौन्दर्यपूर्ण प्रकाशन से है।"**[2] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे अभिव्यंजना के अनावश्यक महत्त्व का ही विरोध करते हैं। अनुभूति की तीव्रता और हृदयस्पर्शिता से सामंजस्य रखने वाली अभिव्यक्ति उन्हें मान्य है। उनकी यह मान्यता उनके अलंकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण से और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। वे अलंकारों को रस-सिद्धि का साधक-मात्र मानते हैं। उनका यह मत भारतीय और सर्वमान्य है। अलंकार शब्द से उनका तात्पर्य उसके बँधे हुए प्रकारों से ही प्रतीत होता है, शब्द की भंगिमा से नहीं; जो काव्य की भाषा का अनिवार्य तत्त्व है। वाजपेयी जी का कथन है कि कविता अपने उच्चतम स्तर को पहुँचकर अलंकार-विहीन हो जाती है। कविता जिस स्तर पर पहुँचकर अलंकार-विहीन हो जाती है

१. 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ ६७।
२. वही, पृष्ठ ४६।

वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार, ध्वनि तथा वक्रोक्ति आदि न जाने कहाँ बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।[१] वाजपेयी जी तो यहाँ तक कहते हैं कि इस प्रकार की उत्कृष्ट कविता में अलंकार वही कार्य करते हैं जो दूध में पानी।[२] अलंकार-शास्त्र ने काव्य-तत्त्वों और कवि-कार्म की जो बँधी हुई प्रणाली बताई है, उसके सम्बन्ध में यह धारणा सर्वथा समीचीन है। पर अभिनव गुप्त आदि ने इन्हें जिस व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है, वहाँ इनका पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जाता। वहाँ अलंकार कवि-प्रयत्न-सापेक्ष न होकर अभिव्यक्ति के स्वाभाविक और सहज अंश हो जाते हैं। आलोचक भी इनमें आह्लाद की वृद्धि की क्षमता ही देखता है। वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण पूर्णतः सौष्ठववादी है, जिसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति का सामंजस्य-मात्र है। उनके अलंकार-सम्बन्धी दृष्टिकोण का अभिनव गुप्त आदि के मतों से पूर्ण सामंजस्य है।

वाजपेयी जी को काव्य की स्थूल उपयोगिता मान्य नहीं है। वे काव्य में जीवन की प्रेरणा सांस्कृतिक चेतना और भावनाओं के परिष्कार की क्षमता मानते हैं। काव्य से नीति का बहिष्कार करना तो उनको अभिप्रेत नहीं है, पर वे काव्य पर नैतिक सिद्धान्त का नियन्त्रण परोक्ष ही मानते हैं। उच्च आदर्शों की दुहाई और प्रगतिशील विचार-धारा का साहित्य की उत्कृष्टता से नित्य और अनिवार्य सम्बन्ध उन्हें बिलकुल मान्य नहीं है। फिर भी, वे काव्य के सम्बन्ध में उठाये गए श्लील, अश्लील के प्रश्न की नितान्त अवहेलना नहीं करते। उनकी निश्चित धारणा है कि उत्कृष्ट काव्य कभी अश्लील नहीं हो सकता। पर उनकी श्लील और अश्लील-सम्बन्धी धारणाएँ रूढ़ नहीं हैं। वे उच्च मानवता की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हैं, धर्म-शास्त्र की सीमित परिभाषाओं के आधार पर नहीं। मेरी समझ में इसका सीधा उत्तर यह है कि महान् कला कभी अश्लील नहीं हो सकती। उसके बाहरी स्वरूप में यदा-कदा श्लीलता-अश्लीलता सम्बन्धी रूढ़ आदर्शों का व्यतिक्रम भले ही हो और क्रान्ति-काल में ऐसा हो भी जाता है। पर वास्तविक अश्लीलता, अमर्यादा या मानसिक स्खलन उसमें नहीं हो सकता। साहित्य सदैव सबल सृष्टि का ही हिमायती होता है।[३] जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वाजपेयी जी साहित्य की निरुद्देश्यता के समर्थक नहीं है। वे विकासोन्मुख जीवन का प्रेरक होना साहित्य-कार की श्रेष्ठता का प्रमाण मानते हैं। साहित्य में निर्बल भावनाओं का चित्रण केवल अपर पक्ष के लिए ग्रहण करना चाहिए। उसीको आदर्श मान लेना साहित्य के उच्च और महान् उद्देश्य से च्युत हो जाना है। वाजपेयी जी उपदेश-वृत्ति को भी साहित्य नहीं मानते। उनकी दृष्टि में जीवन-संदेश के साथ ही उदात्त भाव और ललित कल्पनाएँ भी साहित्य के आवश्यक तत्त्व हैं।[४] काव्य-शास्त्र के तत्त्वों से ऊपर उठकर सौन्दर्य का उद्घाटन ही उनकी दृष्टि से आलोचक का प्रधान कार्य है।[५] "इसमें तो भावना का उद्रेक, उच्छ्वास, परिष्कृति और प्रेरकता ही मुख्य

१. 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ ६८।
२. वही, पृष्ठ ६६।
३. वही, भूमिका-भाग—पृष्ठ २३।
४. 'जयशंकर प्रसाद', पृष्ठ २४-२५।
५. 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृष्ठ ७४।

मापदण्ड होंगे।"[1]

सौष्ठववादी समालोचक भावों के उदात्त, सार्वजनिक स्वरूप और उनकी साहित्यिक मार्मिकता के दर्शन कर लेता है। इस प्रकार का चित्रण उसकी प्रौढ़ क्षमता और भाव-पारदर्शिता का परिचायक है। जब आलोचक कवि के भाव-सौन्दर्य की वास्तविकता और उदात्त मार्मिकता का उद्घाटन करता है, तब वह स्वयं तो असीम, अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव करता ही है, साथ ही पाठक को भी अपने साथ उस भाव-भूमि में ले जाता है। यही आलोचक की पूर्ण सफलता है। हिन्दी-साहित्य में इतनी गहराई तक बहुत कम समालोचक जाने का प्रयत्न करते हैं। कवि के भाव-सौन्दर्य के मार्मिक उद्घाटन में कवि का व्यक्तित्व भी उद्घाटित हो जाता है। साथ ही भावों की मार्मिकता की अनुभूति और चित्रण में आलोचक को विचित्र तल्लीनता और आह्लाद का अनुभव होता है। उसीका थोड़ा आभास नीचे की पंक्तियों से मिलता है। लेखक की इन पंक्तियों में पाठक के हृदय में अनुभूति जाग्रत करने की क्षमता है। पाठक को भी उस भाव-सौष्ठव का अनुभव कराने का सफल प्रयास है: "रास की वर्णना में सूरदास जी का काव्य परिपूर्ण आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँच गया है। केवल श्रीमद्भागवत की परम्परागत अनुकृति कवि ने नहीं की है, वरन् वास्तव में वे अनुपम आध्यात्मिक रास से विमोहित होकर रचना करने बैठे हैं। उन्होंने रास की जो पृष्ठभूमि बनाई है, जिस प्रशान्त और समुज्ज्वल वातावरण का निर्माण किया है, पुनः रास की जो सज्जा, गोपियों का जैसा संगठन और कृष्ण की ओर सबकी दृष्टि का केन्द्रीकरण कराया है और रास की वर्णना में संगीत की तल्लीनता और नृत्य की बँधी गति के साथ एक जागरूक आध्यात्मिक मूर्च्छना, अपूर्व प्रसन्नता के साथ प्रशान्ति और दृश्य के चटकीलेपन के साथ भावना की तन्मयता के जो प्रभाव उत्पन्न किये गए हैं, वे कवि की कला-कुशलता और गहन अन्तर्दृष्टि के द्योतक हैं।"

वाजपेयी जी में हिन्दी-समीक्षा की सौष्ठववादी धारा की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है। उनकी आलोचना पूर्णतः निगमनात्मक और इंगित-शैली की कही जा सकती है। उन्होंने भारतीय अलंकार-शास्त्र से तथा पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र से बहुत-कुछ ग्रहण किया है, उन दोनों के सम्मिलित तथा समन्वित रूप को आत्मसात् कर लिया है। हिन्दी की सौष्ठववादी आलोचना-पद्धति भी रस-सिद्धान्त के व्यापक और विशद स्वरूप को अपनाकर चली है, इसलिए वह पश्चिम के स्वच्छन्दतावादी (Romantic) की तरह पूर्ण स्वच्छन्दतावादी नहीं कही जा सकती। उसका अविकल अनुकरण तो किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए मैंने इसे सौष्ठववादी कहना अधिक समीचीन समझा है। रस की जो प्रतिष्ठा अभिनव गुप्त, पण्डितराज आदि द्वारा हुई है, वह सौष्ठववादी समीक्षा की ही समर्थक है, यह हम पहले कह चुके हैं। वाजपेयी जी में इसीके प्रयोगात्मक रूप के दर्शन होते हैं। इस पद्धति का हिन्दी में पूर्ण विकास हो गया है, यह नहीं माना जा सकता। वाजपेयी जी में इसके विकसित और प्रौढ़ रूप के दर्शन अवश्य होते हैं। उनमें भी विकास हुआ है। वे पहले कलाकार के व्यक्तित्व के परिचायक थे और धीरे-धीरे काव्य-सौष्ठव के परीक्षक बने हैं। अभी इस समन्वय में विकास की क्षमता है। वाजपेयी जी में इसके तत्त्व विद्यमान हैं। इस समीक्षा-पद्धति के सभी आलोचक जीवित हैं, इसलिए अभी यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसका इत्थंभूत रूप यही है। अभी यह विकासशील है,

१. 'जयशंकर प्रसाद', पृष्ठ ११-१२।

स्थिर नहीं हुई है। वाजपेयी जी की आलोचना का एक विशेष व्यक्तित्व तो बन गया है, पर अभी विकासशील है। प्रगतिवादी और मनोविश्लेषणात्मक आलोचना की ओर भी उनका ध्यान गया है, पर उन शैलियों में उनके सत्य का आंशिक रूप ही दिखाई पड़ता है। इनमें काव्य के सार्वजनिक और सर्वकालिक भाव-संवेदन की दृष्टि से आलोचना का अभाव है। इस प्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वाजपेयी जी प्रगति का तात्पर्य भावों की सार्वजनिकता तथा जीवन-सन्देश की सर्वव्यापकता से लेते हैं। पर उनका यह रूप अभी पूर्णतः स्पष्ट नहीं है।

शम्भूनाथसिंह

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा की मानवतावादी भूमि

: १ :

हिन्दी-साहित्य के रंगमंच पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जिस समय अपनी ऐतिहासिक 'भूमिका' लेकर प्रवेश किया उस समय साहित्य के इतिहास और समीक्षा के क्षेत्र में दो प्रकार की विचार-धाराएँ एक-दूसरे से टक्कर ले रही थीं। पहली विचार-धारा का प्रतिनिधित्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कर रहे थे, जो साहित्य को युग-सापेक्ष्य मानते हुए भी संस्कारगत वैष्णव नैतिकता के मानदण्ड से ही सब प्रकार के साहित्य का मूल्यांकन करने में विश्वास रखते थे; दूसरी ओर वे नये आलोचक थे जो छायावादी काव्य-धारा के मूल स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करते तथा नवीन मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र का दृष्टिकोण अपनाकर समीक्षा लिखते थे। इस विचार-धारा का प्रतिनिधित्व आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र आदि कर रहे थे। गांधी-युग से बहुत-कुछ प्रभाव ग्रहण करते हुए भी आचार्य शुक्ल ने मूलतः सामन्ती आदर्शवाद अथवा सुधारवादी नैतिक दृष्टिकोण को ही अपनी समीक्षा और मूल्यांकन का मानदण्ड स्वीकार किया था। इसके विपरीत दूसरी विचार-धारा के समीक्षकों पर पूँजीवाद-जनित व्यक्तिवादी जीवन-मूल्यों और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की प्रेरणा से उद्भूत सौन्दर्य-भावना और जीवनादर्शों का पूरा प्रभाव था। इन दोनों ही मतवादों में यद्यपि काफी गहराई और व्यापकता थी, किन्तु दोनों की एक बहुत बड़ी कमी यह थी कि उसके पास इतिहास की गति-विधि को पहचानने और साहित्य के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ने का कोई वैज्ञानिक साधन नहीं था। इसी कारण दोनों ही अपने-अपने ढंग से आत्मपरक (Subjective) समीक्षा में लगे रहे। एक में 'लोक-मंगल की भावना' हिन्दू राष्ट्रीयता और पुनरुत्थानवाद बनकर रह गई थी तो दूसरे में वैयक्तिक सौन्दर्य-चेतना ही 'कला-कला के लिए' के सिद्धान्त की सीमा तक पहुँच गई थी। पहला मतवाद महत्तावादी दृष्टिकोण (Classical outlook) से अनुप्राणित था तो दूसरा रोमानी और प्रभाववादी दृष्टिकोण (Romantic and impressionist outlook) से। किन्तु यह तनाव अधिक दिन नहीं रह सकता था। यह वह काल (१९३०-४०) था जब देश में राष्ट्रीयता नवीन अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से शक्ति ग्रहण करके नया बल और नई प्रेरणा लेकर नव-जीवन धारण कर रही थी और पूँजीवादी तथा सामन्तवादी भ्रम का कुहरा फट रहा था। अतः उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों की सीमाएँ भी स्पष्ट होने लगीं। इसी समय हिन्दी-साहित्य के इतिहास और समीक्षा के क्षेत्र में दो नये दृष्टिकोण सामने आए। पहला ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण अथवा मानवतावादी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण था और दूसरा था मार्क्सवादी समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण। पहले का प्रारम्भ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने किया और दूसरे का डॉ० रामविलास शर्मा तथा शिवदानसिंह

चौहान आदि ने।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी-साहित्य को सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को एक नई, उदार और वैज्ञानिक दृष्टि दी है। इनके पूर्व डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल-जैसे खोजियों ने इस दिशा में कार्यारम्भ अवश्य किया था, किन्तु उनके पास वह मानवतावादी उदार दृष्टिकोण नहीं था जो परम्परा और शास्त्र की विवेचना और निष्कर्षों को वर्तमान जीवन में संयोजित करता और इस प्रकार आलोचक को साहित्य का ही नहीं मानव समाज का भी पथ-प्रदर्शक बनाता है। द्विवेदी जी के पास वह दृष्टिकोण है जो उन्हें उनके विशाल भारतीय वाङ्मय के अध्ययन-मन्थन, वर्तमान विश्व-समाज की समस्याओं और प्रश्नों के चिन्तन-मनन तथा शान्ति-निकेतन के वातावरण और रवि बाबू तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन-जैसे उदार व्यक्तित्व वाले मनीषियों के सम्पर्क से निर्मित हुआ है। वस्तुतः द्विवेदी जी हिन्दी के क्षेत्र से भारतीय वाङ्मय के क्षेत्र की ओर नहीं गए हैं, बल्कि भारतीय वाङ्मय के भीतर से गुजरते हुए हिन्दी के क्षेत्र में आ पहुँचे हैं और उसमें अपने विशाल ज्ञान की सुविधाओं के साथ उन्होंने अपना एक सुनिश्चित स्थान बना लिया है। यही कारण है कि पूर्ववर्ती आलोचकों से उनकी दृष्टि भिन्न है। द्विवेदी जी ने उस ऐतिहासिक और सामाज-शास्त्रीय समीक्षा-पद्धति की नींव डाली है जो साहित्य को अपने-आप में स्वतन्त्र मानकर नहीं चलती बल्कि उसे संस्कृति की जीवन-धारा का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानती है। संस्कृति को वे शाश्वत या एकदेशीय वस्तु नहीं मानते; उनके अनुसार वह प्रगतिशील, परिवर्तनशील और परम्परा-नैरन्तर्य से युक्त है। इस तरह अनिवार्यतः साहित्य भी, संस्कृति का अंग होने के कारण, परिवर्तनशील किन्तु प्रगतिशील है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि "मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है। वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है।.......देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब-कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।"[१]

: २ :

इस तरह तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति में सांस्कृतिक गति-विधि, लोक-जीवन, राजनीतिक हलचल आदि के बीच रखकर ही साहित्य का परीक्षण करना साहित्य-समीक्षा की समाज-शास्त्रीय पद्धति है। कहना नहीं होगा कि हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में इस दिशा में पहला कदम उठाने वाले आचार्य द्विवेदी जी हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के इतिहास और आलोचना के सम्बन्ध में जो मानदण्ड स्थिर किया था, उससे द्विवेदी जी का मानदण्ड बिलकुल भिन्न है; वस्तुतः ये दोनों आचार्य साहित्य को दो दिशाओं और दो भिन्न दृष्टियों से देखते हैं। शुक्ल जी ने अपनी तर्क-शैली की निपुणता, विचारों की अन्विति और दृढ़ता तथा सूक्ष्म साहित्यिक दृष्टि के बावजूद उन तमाम स्रोतों और प्रभावों की उपेक्षा की है जिनका सम्यक् उद्घाटन और विवेचन द्विवेदी जी ने किया है। शुक्ल जी ने यदि हिन्दी-साहित्य को उसका इतिहास दिया है तो द्विवेदी जी ने सचमुच उस साहित्य की भूमिका प्रस्तुत की है और इस तरह उनके अधूरे कार्य को पूरा किया है। वस्तुतः ये दोनों व्यक्तित्व एक-दूसरे के पूरक हैं, प्रतिद्वन्द्वी नहीं।

१. 'अशोक के फूल', पृष्ठ ८।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने की एक बात यह है कि शुक्ल जी ने अपने इतिहास में सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक और अन्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों को अपेक्षाकृत कम महत्त्व तो दिया ही है, विभिन्न कालों के साहित्य के मूल्यांकन में उन्होंने तटस्थता भी नहीं बरती है। उदाहरणार्थ भक्ति-काल में उन्होंने सगुण-मार्ग की राम-भक्ति-शाखा और निर्गुण मार्ग की प्रेमाश्रयी शाखा के विवेचन में जितना रस लिया और उनकी जितनी विशद विवेचना की है, उतनी ज्ञानश्रयी शाखा और कृष्ण-भक्ति-शाखा की नहीं। इसका कारण उनका वह वैष्णव संस्कार और दार्शनिक विचार-धारा है जिसकी अभिव्यक्ति उनके विभिन्न ग्रन्थों और निबन्धों में हुई है। साथ ही वे लोक-मंगलवादी और रसवादी आलोचक भी थे। इन दोनों कारणों से साहित्य के प्रति उनकी विशेष धारणा थी जिसका आदर्श रूप उन्हें तुलसी में प्राप्त हुआ था। इसी पूर्वग्रह के साथ उन्होंने प्रत्येक कवि और प्रत्येक युग के साहित्य पर विचार किया है। अतः यह निश्चित था कि वे कबीर आदि सन्त कवियों के प्रति तटस्थ और उदार दृष्टि नहीं अपना सकते थे। अपभ्रंश के कवियों के सम्बन्ध में भी उनकी यही धारणा थी। उनके अनुसार निर्गुण सन्त और सिद्ध कवि साम्प्रदायिक और धर्मचालित अधिक थे, उनमें सामाजिक सद्भावना और सहृदयता की कमी थी और उनकी "बानी में लोक-धर्म की अवहेलना छिपी हुई थी।" साहित्य के इतिहासकार और समीक्षक के लिए जिस तटस्थता और उदारता की आवश्यकता होती है और जिसकी शुक्ल जी में अपेक्षाकृत कमी है, वह द्विवेदी जी में पूर्ण रूप से दिखलाई पड़ती है। द्विवेदी जी के समूचे साहित्य में पूर्वग्रह-जैसी चीज कहीं नहीं दिखलाई पड़ती। 'सूर-साहित्य' और 'मध्यकालीन धर्म-साधना' में कृष्ण-भक्ति शाखा के सम्बन्ध में उन्होंने उसी विशदता और तन्मयता से विचार किया है जिस तरह 'कबीर' और 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में सन्तों की निर्गुण-धारा पर। इसी प्रकार रीति-काल के सम्बन्ध में भी उन्होंने अपनी पद्धति से सम्यक् विचार किया है और उसे प्राचीन भारतीय साहित्य की परम्परा के मेल में रखकर देखा है।

शुक्ल जी ने मध्य काल के जिस लोक-धर्म की बात कही है, वस्तुतः वह लोक-धर्म नहीं, हिन्दू-समाज के सवर्ण वर्ग के विशिष्ट लोगों का धर्म था। वस्तुतः लोक-धर्म तो उस विशाल जन-समुदाय का वह आचार-विचार और विश्वास था, जो शिक्षित और विशिष्ट हिन्दू-जनता के धर्म-आचार से बहुत-कुछ भिन्न था। दूसरे शब्दों में पहला समुदाय ब्राह्मण-संस्कृति से प्रभावित था और दूसरा विशाल बहुजन-समाज समग्र संस्कृति की परम्पराओं से आबद्ध था। अतः अपभ्रंश के सिद्ध-कवियों, जैन-कवियों और बाद के सन्तों ने जिस धर्म-विश्वास की अभिव्यक्ति की है वही तत्कालीन लोक-धर्म और लोक-विश्वासों का सच्चा रूप है। इस दृष्टि में तत्कालीन संस्कृति के स्वरूप, उस काल की सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों का पता लगाने के लिए निर्गुण धारा के कवियों पर विशेष रूप से विचार होना चाहिए था। यह काम द्विवेदी जी ने अत्यन्त सफलता पूर्वक किया है। जिस कविता को शुक्ल जी ने 'जैन-धर्म के उपदेश-विषयक' या 'लोक-धर्म-विरोधी' या 'साम्प्रदायिक' और शुष्क ज्ञानोपदेश कहा है; उसीके सम्बन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं; "इनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं, किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखने का पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कवि को केवल प्रेरणा दे रहा है।......इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखलाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्ल जी के मत को भी इस सम्बन्ध में उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं

मालूम देती। धार्मिक-प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।''''''धार्मिक साहित्य होने-मात्र से कोई रचना साहित्य की कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का 'रामचरित मानस' भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।"[१] सच बात तो यह है अगर केवल शुक्ल जी के रसवाद की दृष्टि से ही साहित्य को देखा जायगा तो साहित्य की सीमा बहुत संकीर्ण हो जायगी।

द्विवेदी जी की जीवन-दृष्टि उनके समीक्षा-साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सर्वत्र अभिव्यक्त हुई है। वे साहित्य को सामान्य जनता के जीवन से विच्छिन्न कोई अलग वस्तु नहीं मानते। मनुष्य को जीवन के केन्द्र में प्रतिष्ठित करके ही उन्होंने समूचे साहित्य को देखने का प्रयत्न किया है। यह मनुष्य समग्र और मुक्त, एक इकाई के रूप में, है; विभिन्न वर्णों-वर्गों, धर्मों-सम्प्रदायों, जातियों-राष्ट्रों आदि की सीमाओं में बँटा और बँधा मनुष्य नहीं। उन्होंने प्रमाणों और उदाहरणों द्वारा बराबर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विभिन्न जातियों और देशों के बीच आदि काल से सांस्कृतिक तत्त्वों का आदान-प्रदान होता आया है, क्योंकि सत्य एकदेशीय या एकजातीय नहीं होता। साहित्य और कला भी ऐसे ही सत्य हैं जिनके सम्बन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं: "मनुष्य के सभी विराट् प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं, परन्तु जब वे उस संस्कारजन्य प्रयोजन की सीमा अतिक्रम कर जाते हैं तो उसमें मनुष्य की विराट् एकता और अपार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है। फिर वह किसी समूह में आबद्ध न होकर मनुष्य-मात्र की सम्पत्ति हो जाता है।"[२] इस कथन से यह स्पष्ट है कि वे मानव-मात्र की एकता में विश्वास करते हैं और पाश्चात्य संस्कृति तथा पौर्वात्य या भारतीय संस्कृति के भेद को कृत्रिम मानते हैं। कुछ प्रतिक्रियावादी आलोचक संकीर्ण राष्ट्रीयता के जोश में यहाँ तक कहने लगते हैं कि संसार का सब ज्ञान-विज्ञान भारत से ही बाहर गया है, अतः हमें भारतीय संस्कृति को दृढ़ता पूर्वक पकड़े रहना चाहिए; ऐसे लोगों के सम्बन्ध में द्विवेदी जी कहते हैं कि "इस प्रतिक्रिया के कारण इस देश में उन अत्यन्त उत्साह-परायण समालोचकों का आविर्भाव हुआ है जो सब समस्याओं का समाधान एक ही कसौटी पर कसकर करने लगे हैं, 'हमारे यहाँ' ऐसा माना है या 'हमारे यहाँ' ऐसा नहीं माना है। 'हमारे यहाँ' उनका अमोघ ब्रह्मास्त्र है, जिससे किसी को भी धराशायी बनाया जा सकता है। 'पाश्चात्य विचार का प्रभाव' उनका ऐसा बहुधा विघोषित निन्दा-वाक्य है कि जिस किसी विचार को परास्त करने के लिए यह एक वाक्यांश बहुत काफी समझा जा सकता है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी जी का संकेत शुक्ल जी तथा उनके-जैसे इतर विचारकों की ओर है।

मनुष्यता या मनुष्य की एकता के सम्बन्ध में 'साहित्य का मर्म' शीर्षक अपने भाषण में द्विवेदी जी ने बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से विचार किया है। मानवतावाद निश्चय ही एक आदर्शवाद है, जिसका प्रतिपादन आदि काल से बड़े-बड़े महात्मा और महापुरुष करते आये हैं। किन्तु द्विवेदी जी का मानवतावाद यथार्थोन्मुख मानवतावाद है, जो इतिहास और विज्ञान से मुँह मोड़-

१. 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल', पृष्ठ ११।

२. 'साहित्य का मर्म', पृष्ठ ३१।

कर चलने वाला नहीं है। इस मानवतावाद की अभिव्यक्ति उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' और 'कबीर' में इतिहास का आश्रय लेकर की है तो 'साहित्य का मर्म' में वह अभिव्यक्ति ज्ञान और विज्ञान के विविध स्वरूपों के उद्‌घाटन के माध्यम से हुई है। इसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "काव्य और विज्ञान एक ही मानवीय चेतना के दो किनारों की उपज हैं; वे परस्पर विच्छिन्न नहीं हैं, परस्पर विरुद्ध तो नहीं ही हैं। सौन्दर्य-शास्त्र का आलोचक इसी परस्पर असम्बद्ध और विच्छिन्न-सी लगने वाली रस-प्रेरणा के स्रोतों में सामञ्जस्य खोजता है।" अर्थात् साहित्य के आलोचक को विज्ञान और राजनीति-अर्थनीति आदि शास्त्रों से सहायता लेनी ही पड़ेगी अन्यथा वह साहित्य के मर्म तक नहीं पहुँच सकता है। द्विवेदी जी ने आलोचना के क्षेत्र में साहसपूर्ण कदम उठाकर इतिहास, धर्म विज्ञान, पुराण-विज्ञान, प्राच्य विद्या, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, प्रजनन-शास्त्र, नृतत्त्व-शास्त्र, पुरातत्त्व-विज्ञान, नीति-शास्त्र, कानून, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि सबसे भरपूर लाभ उठाया है। भारत के लिए यह कोई नई बात नहीं है। यहाँ काव्य-शास्त्र को वेदान्त, मीमांसा, न्याय, धर्म-शास्त्र, काम-शास्त्र आदि ने किस सीमा तक प्रभावित किया है यह साहित्य के साधकों से छिपा नहीं है। अतः आज के युग में ज्ञान-विज्ञान के उन अंगों का, जो पश्चिम से आये हैं, समीक्षा के क्षेत्र में उपयोग करने में क्या बुराई है ? उन्होंने जीव-विज्ञान के अध्ययन का निष्कर्ष और साहित्य के लिए उसकी उपयोगिता की चर्चा करते हुए मनुष्यता की परिभाषा इस प्रकार की है : "जो जैसा है उसे वैसा ही मान लेना मनुष्य-पूर्व जीवों का लक्षण था, पर जो जैसा है वैसा नहीं, बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करने का प्रयत्न मनुष्य की अपनी विशेषता है। इसमें प्रयत्न की आवश्यकता होती है, प्रयत्न करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है···लोभ सहजात मनोवृत्ति है, वह पशु और मनुष्य में समान है। पर औदार्य, पर-दुःख-संवेदन उसमें नहीं होते, यह मनुष्य की अपनी विशेषता है······इसी प्रकार आहार, निद्रा आदि पशु-सामान्य धरातल से जो ऊपर की चीज है, जो संयम से, तप से, औदार्य से और त्याग से प्राप्त होती है वह मनुष्य की अपनी विशेषता है; यही मनुष्य की मनुष्यता है। फिर मनुष्य प्रकृति के नियमों का विश्लेषण करता है और इस प्रकार उनका उपयोग करता है कि जिससे वह नई सृष्टि कर सके। विवेक, कल्पना, औदार्य और संयम मनुष्यता है और इसके विरुद्ध जाने वाले मनोभाव मनुष्यता नहीं हैं।"[१]

मनुष्य-मात्र की मंगल-भावना और जीवन के प्रति सुप्रतिष्ठित दृष्टि से द्विवेदी जी का तात्पर्य यह है कि साहित्यकार का लक्ष्य मनुष्य का हित-साधन करना है और उसे कला कला के लिए के निरुद्देश्य और कल्पनाश्रित सिद्धान्त से प्रेरणा नहीं ग्रहण करनी चाहिए। स्पष्ट ही यह दृष्टि-कोण उदार और सहिष्णुतापूर्ण होते हुए भी सर्वोदयवादी नहीं है। द्विवेदी जी की सामाजिक चेतना विद्रोह पर आधारित है। पर यह विद्रोह मानव-मात्र का, उसके अथक प्रयत्नों के रूप में, सहज विद्रोह है, जिसका विधाता स्वयं 'इतिहास देवता' है। अतः द्विवेदी जी ने राजनीतिक नहीं बल्कि सामाजिक क्रान्ति की इतिहास-सम्मत विचार-धारा को विशेष रूप से वाणी दी है। यह क्रान्ति, मनुष्य अपने परिवेश के अनुरूप विभिन्न प्रकार से करता आ रहा है; भक्ति और सन्त-साहित्य उसी क्रान्ति की वाणी हैं। रवीन्द्र और छायावादी कवियों के साहित्य में भी उसी विद्रोह

१. 'साहित्य का मर्म', पृष्ठ ६८।

का स्वर फूटा है और द्विवेदी जी ने उन स्वरों को सुनकर युग की आवश्यकता के अनुरूप उनका मूल्यांकन किया है। किन्तु वे अन्ध क्रान्ति की बात नहीं करते, वे सहज क्रान्ति चाहते हैं। क्रान्ति का अर्थ वे अतीत की परम्परा से वर्तमान को तोड़ लेना नहीं मानते और न यही मानते हैं कि राष्ट्रों और जातियों की अपनी विशेषताएँ कभी नष्ट हो जायँगी और सब एक साँचे में ढल जायँगे; यह तो आदर्शवादी या काल्पनिक क्रान्ति है। इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत है : "मेरी अल्प बुद्धि में तो यही सूझता है कि समाज के नाना स्तरों के लिए अलग-अलग ढंग की भाषा होगी, नाना उद्देश्यों की सिद्धि के लिए नाना भाँति के प्रयत्न करने होंगे। सारे प्रतीयमान विरोधों का सामञ्जस्य एक ही बात से होगा, मनुष्य का हित।..........हमारे समस्त प्रयत्नों का लक्ष्य एक-मात्र वही मनुष्य है। उसको वर्तमान दुर्गति से बचाकर मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण की ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है, यही सत्य है, यही धर्म है; सत्य वह नहीं जो मुख से बोलते हैं, सत्य वह है जो मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण के लिए किया जाता है।"[1] इस प्रकार द्विवेदी जी की विचार-धारा क्रान्तिकारी होते हुए भी उदार, सहिष्णु और सामंजस्यपूर्ण है। वे मनुष्य के चरम हित की कामना करते हुए भी उसे मनुष्य रूप में में ही देखना चाहते हैं, अतिमानव या देवता के रूप में नहीं। इसीलिए उन्होंने विज्ञान के बढ़ते हुए कुप्रभावों, युद्धों और राजनीतिक हठवादिता का भी जगह-जगह विरोध किया है।

पहले कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी का दृष्टिकोण ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय है। उनकी इतिहास-सम्बन्धी मान्यता साहित्य के पूर्ववर्ती इतिहासकारों अथवा इतिहासशास्त्र के अध्यापकों की मान्यता से बिलकुल भिन्न है। इतिहास को वे गड़ा मुर्दा या विगत तथ्यों का ब्यौरा नहीं मानते, बल्कि उसे एक जीवन्त शक्ति मानते हैं जिसे वे इतिहास-विधाता या इतिहास देवता कहते हैं। अतः उनके अनुसार मनुष्य ही इतिहास को नहीं बनाता बल्कि इतिहास भी मनुष्य को बनाता है। इस प्रकार इतिहास सामाजिक जीवन-धारा का प्रवाह है, जो एक ओर तो अपने परिवेश से संघर्ष करके आगे बढ़ता है और दूसरी ओर व्यक्ति को समष्टि में डुबोता रहता है। दूसरे शब्दों में इतिहास केवल व्यक्ति मनुष्य का नहीं बल्कि समाज और उसके परिवेश का होता है अथवा किसी युग-विशेष के मानव-समाज और उसके परिवेश के संघर्ष का नाम ही इतिहास है अर्थात् मानव-प्रयत्नों और परिवेश की प्रतिक्रियाओं की अटूट परम्परा ही इतिहास है। वह एक अखण्ड-धारा के समान है जिसके प्रवाह में कालान्तर में संस्कृतियों के अनावश्यक मृत तत्त्व नष्ट होते रहते और आवश्यक, उपयोगी और जीवन-तत्त्व प्रवाहित होते रहते हैं। इस प्रकार इतिहास ने द्विवेदी जी को सांस्कृतिक नैरन्तर्य का वह अमोघ अस्त्र प्रदान किया है जिसके कारण आदिकालीन और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में उनका प्रवेश सहज और सुकर हो सका है। साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि वह ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के उद्भव और विलय की कहानी है : "वह काल-स्रोत में बह आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राण-धारा की ओर सिर्फ इशारा ही करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है वह प्राण-धारा, जो नाना परिस्थितियों से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने-आपको प्रकाशित कर रही है। साहित्य के इतिहास में हम अपने-आपको ही पढ़ने का सूत्र

1. 'अशोक के फूल', साहित्यकारों का दायित्व।

पाते हैं।"[१] इस दृष्टि से द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास के पुनर्निर्माण का कार्य सफलतापूर्वक किया है। शुक्ल जी के इतिहास की सीमाओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। द्विवेदी जी ने शुक्ल जी द्वारा उपेक्षित युगों और कवियों के सम्बन्ध में जो कार्य किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', 'नाथ-संप्रदाय', 'मध्यकालीन धर्मसाधना' और 'सूर-साहित्य' द्वारा उन्होंने अपनी इतिहास-सम्बन्धी मान्यता को रूप प्रदान किया है। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल अर्थात् अपभ्रंश और वीरगाथा काल की शुक्ल जी ने अपने इतिहास में जो उपेक्षा की थी उसके सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने लिखा है : "खेद की बात है उस दृष्टि की प्रतिष्ठा, जो शुष्क घटनाओं और तिथियों को ही इतिहास समझती है, इसीका यह परिणाम हुआ है कि देश की अन्य महत्त्वपूर्ण परिस्थितियाँ उपेक्षित रह गई हैं। यदि इतिहास का अर्थ मनुष्य-जीवन के अखण्ड प्रवाह का अध्ययन हो तो हिन्दी-साहित्य के आदिकाल का इतिहास एकदम उपेक्षणीय नहीं है, पर दुर्भाग्यवश वह सचमुच ही उपेक्षित रह गया है।"[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहास के प्रति द्विवेदी जी का दृष्टिकोण आत्मगत नहीं वस्तुगत है, इतिहास और समाज-शास्त्र की यही वैज्ञानिक दृष्टि है। द्विवेदी जी ने अपने समूचे साहित्य में इसका पूर्ण उपयोग किया है।

: ३ :

द्विवेदी जी का आलोचनात्मक साहित्य मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है १—इतिहास-सम्बन्धी, २—समीक्षा-सम्बन्धी। साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में उनकी जो दृष्टि है उसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। उस दृष्टि से उन्होंने हिन्दी-साहित्य के आदि और मध्य काल का मूल्यांकन और पुनर्विवेचन किया है। इन कालों में उन्होंने ऐसी अनेक विचार-धाराओं और कवियों की विशेषताओं का उद्घाटन किया है जो या तो हाल की शोधों का परिणाम हैं या जिनकी परम्परा के मूल स्रोतों का, वैदिक साहित्य से लेकर अपभ्रंश-साहित्य तक का आलोड़न करके, लेखक ने स्वयं पता लगाया है और इस तरह हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए विपुल सामग्री प्रस्तुत की है। 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' और 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' उनके साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इनमें उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का विशद विवेचन किया है; जिनमें उस काल के अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी का साहित्य विकसित हुआ था। हिन्दी के भक्ति-साहित्य के सम्बन्ध में आपका मत है कि वह एक हतदर्प पराजित हिन्दू-जाति की सम्पत्ति नहीं है और न एक निरन्तर पतनशील जाति की चिन्ताओं का मूर्त प्रतीक है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि "अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का रूप बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" अपने मत की पुष्टि के लिए द्विवेदी जी ने ईसा की पहली शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक की सांस्कृतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है और यह सिद्ध किया है कि "सन् ई० के हज़ार वर्ष बाद यहाँ के सभी सम्प्रदाय, शास्त्र और मत धीरे-धीरे लोक-मत में घुल-मिलकर लुप्त हो गए जिसकी स्वाभाविक परिस्थिति का मूर्त प्रतीक हिन्दी-साहित्य है।" इस प्रकार

१. 'कल्पलता', पृष्ठ १७९।
२. 'वही पृष्ठ', १६४।

द्विवेदी जी हिन्दी के आदिकाल और भक्तिकाल के साहित्य को मुसलमानी आक्रमण की प्रतिक्रिया नहीं मानते और न वे मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिन्ताओं के मानदण्ड से लोक-चिन्ता की माप ही करना चाहते हैं। इसके विपरीत वे लोक-चिन्ता की अपेक्षा में उन्हें देखने की सिफारिश करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "भारतीय पाण्डित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार-विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियों में भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लाम का प्रमुख विस्तार—न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी, उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था।"[१] इस प्रकार द्विवेदी जी ने हिन्दी-साहित्य को भारतीय साहित्य-परम्परा का स्वाभाविक विकास और लोक-चेतना का प्रतीक माना है। यह मत पूर्ववर्ती इतिहासकारों के मत से सर्वथा भिन्न है।

इस दृष्टि से देखने पर हिन्दी-साहित्य के अध्येता के लिए उन तमामों स्रोतों का अध्ययन करना भी आवश्यक हो जाता है जिनके द्वारा पिछले हजार वर्षों में हिन्दी-भाषा-भाषी जनता की चेतना का निर्माण और विकास हुआ। द्विवेदी जी ने अपने विशाल अध्ययन के द्वारा यह कार्य आसान कर दिया है। उन्होंने भारतीय समाज में विभिन्न कालों में आकर घुल मिल जाने वाली विभिन्न जातियों और उनके धर्म, साहित्य, रीति-नीति आदि का समाज-शास्त्रीय विश्लेषण किया है और इस तरह तत्सम्बन्धी पूर्वप्रचलित अनेक भ्रमों का निवारण किया है। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों, धर्मों और शास्त्रों के ऐसे तत्त्वों का भी विश्लेषण किया है जिनकी अमिट छाप लोक-चेतना के माध्यम से हिन्दी-साहित्य पर पड़ी है। उनकी 'कबीर', 'नाथ सम्प्रदाय', 'मध्यकालीन धर्म-साधना' और 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' नामक पुस्तकों में अनेक इस प्रकार के शोध और अध्ययन-सम्बन्धी कार्यों की विवृत्ति दिखलाई पड़ती है। इतिहास-सम्बन्धी उनका यह कार्य उनकी इस प्रस्तावना के बिलकुल अनुरूप है: "मेरा अनुमान है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने के पहले निम्न लिखित साहित्यों की जाँच कर लेना बड़ा उपयोगी होगा, जिनकी अच्छी जानकारी के बिना हम न तो भक्ति-काल के साहित्य को समझ सकेंगे और न वीर-गाथा या रीति-काल को। १—जैन और बौद्ध अपभ्रंश का साहित्य, २—काश्मीर के शैवों और दक्षिण तथा पूर्व के तान्त्रिकों का साहित्य, ३—उत्तर और उत्तर-पश्चिम के नाथों का साहित्य, ४—वैष्णव आगम, ५—पुराण, ६—निबन्ध-ग्रन्थ, ७—पूर्व के प्रच्छन्न बौद्ध वैष्णवों का साहित्य, ८—विविध लौकिक कथाओं का साहित्य।"[२] कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी दिशाओं में द्विवेदी जी की गति है, जिसका प्रमाण उनका समूचा साहित्य है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी की चिन्ता-धारा और सोचने-विचारने की शैली पूर्ववर्ती तथा समकालीन इतिहासकारों और समीक्षकों से बिलकुल भिन्न है। उनका इतिहासकार और समीक्षक-रूप परस्पर इतना घुल-मिल गया है कि दोनों को अलग-अलग करके देखना असम्भव-जैसा है। वस्तुतः वे प्राच्यविद्याविशारद पाश्चात्य विद्वानों—मैक्समूलर, वेबर,

१. 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', पृष्ठ १५।
२. 'अशोक के फूल', पृष्ठ ८१।

मेकडानल्ड, कीथ, पिशेल, विण्टरनित्स, ब्लूम फील्ड आदि—की दिशा में काम करने वाले हिन्दी के प्रथम विद्वान् हैं, उनकी पैनी दृष्टि जितनी शोध-कार्य में रमती है उतनी अमूर्त समीक्षा के क्षेत्र में नहीं। 'साहित्य का मर्म' और 'साहित्य का साथी' में उनके विशुद्ध आलोचनात्मक विचार अभिव्यक्त हुए हैं, जिन्हें देखकर निस्संकोच कहा जा सकता है द्विवेदी जी की तात्त्विक आलोचना की दृष्टि उनके इतिहासकार की दृष्टि से कम सूक्ष्म और तल-प्रवेशिनी नहीं है; हाँ, इस दिशा में अधिक कार्य करने का अवकाश उन्हें नहीं मिल सका है, क्योंकि उनकी सारी शक्ति हिन्दी-साहित्य के इतिहास के उपेक्षित अंगों के उद्घाटन की ओर ही लगी रही है। फिर भी, अपने इतिहास-ग्रन्थों और फुटकल निबन्धों में उन्होंने आलोचना की दिशा में भी नये ढंग से विचार किया है। हिन्दी के काव्य-रूपों के विकास की ओर और किसी आलोचक ने ध्यान नहीं दिया था। 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' में उन्होंने हिन्दी-काव्य-रूपों का सूत्र प्राकृत और अपभ्रंश के काव्य-रूपों में खोजा है, साथ ही विभिन्न प्रान्तों के साहित्य का हिन्दी-साहित्य के साथ सम्बन्ध जोड़कर काव्यरूपों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। काव्य-रूढ़ियों और कथानक-रूढ़ियों या अभिप्रायों के सम्बन्ध में उन्होंने जो विचार किया है उससे हिन्दी के काव्य-रूपों के अध्ययन के क्षेत्र में एक नई दिशा ही खुल गई है। लोक-कथाओं, प्राचीन निजन्धरी कथाओं और लोक-गीतों के मेल में रखकर हिन्दी-साहित्य को देखने की यह बिलकुल नई किन्तु अत्यधिक सम्भावनाओं से भरी दिशा है। ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य-रचना करने की प्रथा के सम्बन्ध में भी उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य का आदि काल' में नये ढंग से विचार किया है जिससे 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता के उलझन-भरे प्रश्न का बहुत-कुछ समाधान हो जाता है। आदि और मध्यकालीन हिन्दी-कविता में प्रयुक्त छन्दों और उनकी परम्परा के सम्बन्ध में भी इस ग्रन्थ में विशद विवेचन किया गया है।

: ४ :

पहले कहा जा चुका है कि द्विवेदी जी की विचार-धारा आत्मगत और पूर्वग्रहयुक्त नहीं है। उन्होंने जो-कुछ लिखा है, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक आधार पर उसे प्रमाणों और उदाहरणों से पुष्ट किया है। अतः उनकी आलोचना में उनका सन्तुलित दृष्टिकोण सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में उनका मत है कि "सन्तुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओं के बीच एक मध्यमार्ग खोजती फिरती है बल्कि वह है जो अतिवादियों की आवेगतरल विचार-धारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढ़ा है। उनके विचार से सन्तुलित दृष्टि सत्यान्वेषी दृष्टि है, जो एक ओर यदि सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास करती है तो वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करते रहने को प्रस्तुत रहती है, वह सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है।" कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी जी की यह सन्तुलित विचार-धारा ही सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक समाज-शास्त्रीय विचार-धारा है और यही हिन्दी-साहित्य को उनकी सबसे बड़ी देन है। वैज्ञानिक समाज-शास्त्रीय दृष्टि का अर्थ कुछ लोग यह लगाते हैं कि वह मार्क्सवाद के सिद्धान्त के साँचे में ढली हो, उससे

भी आगे जाकर कुछ लोग कम्युनिस्ट-पार्टी के अनिश्चित राजनीतिक सिद्धान्तों और कार्य-क्रमों के अनुसार साहित्य की रचना और व्याख्या करने को ही वैज्ञानिक समाज-शास्त्रीय आलोचना कहते हैं। ऐसे ही लोग द्विवेदी जी को कभी पुनरावर्तनवादी और कभी जातीयतावादी (racialist) तक कह देते हैं। ऐसे संकीर्ण मतवादी आलोचक यह भूल जाते हैं कि पुनरुत्थान-वाद और जातीयतावाद का जितना विरोध द्विवेदी जी के साहित्य में मिलता है उतना अन्यत्र एक साथ शायद ही मिले। स्वयं ऐसे लोगों की समीक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का कहना है कि "प्रगतिशील लेखकों में दो श्रेणी के लेखक हैं। एक तो वे, जो कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्धित हैं और पार्टी की निर्धारित नीति और अंगुलि-निर्देश पर साहित्य लिखते हैं; दूसरे वे, जो पार्टी से सम्बन्धित नहीं हैं पर इन (मार्क्सवादी) विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं...कम्युनिस्ट-पार्टी से जिन साहित्यकारों का सम्बन्ध है उनको पार्टी के निर्देश पर चलना पड़ता है। पार्टी का इस प्रकार स्वतन्त्र चिन्तन के मार्ग में आना हितकर नहीं हो सकता।...भविष्य में या तो पार्टी को अपना अंकुश उठा लेना पड़ेगा या प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों से वंचित रहना पड़ेगा।"[1] निस्सन्देह ये पंक्तियाँ पूर्वग्रही और उग्र हठवादी आलोचकों की संकीर्ण राजनीतिक विचार-धारा से क्षुब्ध होकर लिखी गई हैं जिसके कारण हिन्दी-आलोचना का अपने स्वाभाविक मार्ग पर विकास नहीं हो रहा है और जिसमें पिछले प्रचार और मार्क्सवाद की मनमानी व्याख्या के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। द्विवेदी जी ने आलोचना के जिस विद्वत्तापूर्ण किन्तु सहज; वैज्ञानिक तथा तटस्थ किन्तु सोद्देश्य मार्ग की ओर अंगुलि-निर्देश किया है वह सर्वथा नवीन होते हुए भी कठिन है; उस पर चलने के लिए पाण्डित्य और शक्ति की आवश्यकता है। उसे पार करना किसी एक व्यक्ति के बूते का भी काम नहीं है। अनेकानेक खोजियों के सम्मिलित प्रयत्न, उनकी शक्ति, योग्यता और ईमानदारी पर द्विवेदी जी द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति निर्भर करती है।

१. 'हिन्दी-साहित्य', पृष्ठ ४६४।

नलिन विलोचन शर्मा

वर्तमान हिन्दी-आलोचना : उपलब्धि और अभाव

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू गुलाबराय के द्वारा स्थापित दो ध्रुवांतों के बीच हिन्दी आलोचना के विस्तार की लम्बाई-चौड़ाई विस्मयजनक है। इयत्तया ही नहीं, ईदृक्तया भी इसकी समता किसी भी भारतीय भाषा का आलोचना-साहित्य नहीं कर सकता। फिर भी, यह सत्य है कि परिमाण की तुलना में प्रकार हीनतर है; शुक्ल जी की 'मीमांसा' की ओर अग्रसर होने के बदले बाबू गुलाबराय के 'संदेश' की ओर निम्नाभिमुख होने की ही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

उक्त ध्रुवान्तों के बीच हिन्दी-आलोचना के लिए मुझ-जैसे 'खतरे' हैं,[1] विश्वविद्यालय की उपाधियों के लिए प्रस्तुत महा निबन्धों के बोझ हैं, परीक्षाओं के 'ओपेन सीसेम', ऐसे इतिहासकार हैं जो युग-विशेष के साहित्य पर साधिकार लिख चुके हैं, पर तीन पग में साहित्य के त्रिलोक को नाप लेने को भी उद्यत हैं और ऐसे विद्वान् भी हैं जिनके बारे में दूसरे विद्वानों का अभियोग है कि उन्हें 'नञ्' तत्पुरुष का भी इल्म नहीं है और आस्फालन करते हैं रस और अभिव्यंजना पर![2]

कदाचित् अतिशय विस्तार के बीच ऐसी जिह्मताएँ, अवरोध, खतरे, साधारणताएँ, अनधिकार चेष्टाएँ, चर्वित-चर्वण अनिवार्य हैं, उत्कर्ष के लिए आधारस्वरूप हैं। कभी-कभी इन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधियों के बीच मनोरञ्जक ही नहीं, ज्ञानवर्धक भी, शास्त्रार्थ छिड़ते हैं[3] और कृति की आलोचना का व्यक्तिगत आक्षेप से उत्तर दिया जाता है। किन्तु इनकी चिन्ता व्यर्थ है। इसी प्रकार यह प्रस्ताव करना कि कोई ऐसी चीज, जिसे हम हिन्दी-आलोचना का नाम देंगे, बननी चाहिए और इस-इस तरह बन सकती है।[4] तनिक आकर्षक होने पर भी कुछ ऐसी ही बात है जैसे हम कहें कि भारतीय पदार्थ-विज्ञान या रसायन-शास्त्र की उद्भावना का प्रयत्न करना चाहिए—यह दूसरी बात है, जैसा डॉ॰ अमरनाथ झा ने एक बार कहा था, कि पाश्चात्य साहित्य की समीक्षा के लिए हम प्राचीन भारतीय आलोचना के रसालंकारादि के निकष का व्यवहार कर सकते हैं।[5] वस्तुतः हिन्दी का यही तो सौभाग्य है कि उसमें समस्त भारतीय तथा

---

१. डॉ॰ देवराज का निबन्ध : 'आलोचना', सातवाँ अंक।

२. श्री जानकीवल्लभ शास्त्री का निबन्ध : 'कल्पना और वास्तविकता' 'अवंतिका', ग्यारहवाँ अंक।

३. उदाहरणार्थ, डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त के समर्थकों और पं॰ चन्द्रबली पाण्डेय का; डॉ॰ गुप्त को यह श्रेय है कि वे स्वयं इस शास्त्रार्थ से विरत हैं।

४. प्रयाग-विश्वविद्यालय की पत्रिका के किसी अंक में प्रकाशित निबन्ध।

५. डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा का निबन्ध—'हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र' : 'आलोचना', आठवाँ अंक।

पाश्चात्य साहित्यालोचन समाविष्ट हो गए हैं और अब इसकी आशा की जा सकती है कि जैसे इस समन्वय के फलस्वरूप शुक्ल जी-जैसा आलोचक सम्भव हो सका था वैसे बहुसंख्यक आलोचक मिल सकेंगे। आज यदि भाषाधार राष्ट्रीयता के पूरोत्पीड़ में बँगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तैलुगु आदि के भी हिन्दी-आलोचना के प्रस्तावित सिद्धान्तों की तरह ही अपने-अपने साहित्य-शास्त्र बन जायँ, तो वे, प्रादेशिक संस्कृतियों का जो आन्दोलन चल रहा है, उसके तार्किक परिणाम होंगे, किन्तु क्या वे साम्प्रतिक भारतीय राजनीति की तरह ही आवृत्ति और पुनरावृत्ति की शृङ्खला के अतिरिक्त और कुछ भी होंगे?

हिन्दी के आलोचक ने, जिसके पीछे संस्कृत-साहित्य का वैभव है और सामने पाश्चात्य साहित्य की नवनवोन्मेषशालिता, बड़ी उदारता के साथ अपने साहित्य के इतिहास का तीन चौथाई अंश सिद्धों, भक्तों के लिए सुरक्षित कर दिया है; अब यदि उसके सामने यह प्रस्ताव रखा जाय कि वह इनकी वाणियों पर अपने स्वतन्त्र शास्त्र का निर्माण करे, तो यह एक ऐसी बात होगी जिसे वह गम्भीरता के साथ लेने को तैयार नहीं हो सकता।

फिर भी यह ठीक है कि नवीन आलोचना को, वह हिन्दी में हो या अंग्रेजी में, आगे बढ़ते चलना है और अवश्य। जहाँ तक पहली का प्रश्न है, गति अतिशय मंद है। इसका उपाय यह नहीं है कि संस्कृत के आलवाल से जीवन-रस ग्रहण करने वाली और पाश्चात्य आलोचना के मुक्ताकाश में साँस लेती हुई हिन्दी आलोचना अपने में ही सिमटकर रह जय। हिन्दी के नवीन आलोचक की सबसे बड़ी उपलब्धि यह होगी कि वह अंग्रेजी या फ्रेञ्च-साहित्य का इतिहास रसालंकार के दृष्टिकोण से लिखे, जैसे कभी अपने दृष्टिकोण से मैकडानेल, कीथ या विंटरनिज ने संस्कृत-साहित्य के इतिहास लिखे थे। जैसे फ्रांसीसी लुगोई और कजामियां के इतिहास से बढ़िया, उस आकार-प्रकार का, किसी अंग्रेज लेखक का अंग्रेजी-साहित्य का इतिहास नहीं है, जैसे पाश्चात्यों के लिखे संस्कृत-साहित्य के इतिहासों से स्वयं भारतीयों के नहीं हैं, उसी तरह कौन जानता है कि हिन्दी के किसी आलोचक के द्वारा लिखित पाश्चात्य साहित्यों का इतिहास उनका अभिनव मूल्यांकन करने में समर्थ नहीं होगा। हिन्दी में लिखने वाले कम-से-कम एक दर्जन ऐसे आलोचक हैं जो यह कर सकते हैं, किन्तु जो आलोचना को ऐसी मौलिक कलात्मकता के स्तर पर उठाने के महत्त्वपूर्ण कार्य से विरत बने हुए हैं।

सच तो यही है कि हिन्दी में शुक्ल जी के पाए के आलोचक उनके बाद दुर्लभ ही बने रहे—वैसे आलोचक, जिनकी विद्वत्ता, चिन्तन और शैली के वैशिष्ट्य के कारण कला के धरातल पर उन्नति हो जाती है और जिनके विवरण तो पुराने पड़ सकते हैं किन्तु सिद्धान्त महार्घ बने रहते हैं। आज जब बीसवीं शताब्दी के मध्य में यह कहा जा रहा है कि केवल तुलसी और सूर की कृतियों के आधार पर हिन्दी-आलोचना के सिद्धान्त निर्णीत और स्थिर किये जायँ तो यह स्मरण करके आश्चर्य होता है कि हिन्दी-आलोचना के प्रारम्भ में ही शुक्ल जी, तुलसी और क्युमिंग्ज के कुलावे मिलाते हैं। (क्युमिंग्ज उस समय तो नितान्त ही और अब भी प्रायः हिन्दी के विद्वानों के लिए अपरिचित ही होंगे और हैं) मम्मट और रिचार्ड्स और क्रोचे पर समान अधिकार से अपने विचार व्यक्त करते हैं और जब हिन्दी के विद्वान् इसके लिए उनकी आलोचना करते हैं—आज की बात होती तो शायद उन्हें 'खतरा' भी साबित किया जाता—तो वे संयत क्षोभ से

उनकी मंडूकता पर हँसकर रह जाते हैं।[1]

किन्तु यह विस्तृत ज्ञान शुक्ल जी की वास्तविक विशेषता नहीं है। तुलसी के 'मानस' को काव्य की कसौटी मानने वाला विद्वान् क्युमिंग्ज का उल्लेख करता है तो अवश्य यह कम बड़ी बात नहीं है, किन्तु यह शुक्ल जी की एक-मात्र या सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धि नहीं है। अनियन्त्रित रूप से पनपने और विकसित होते आने वाले सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य को आपने 'इतिहास' में स्थापत्य प्रदान करने वाला, 'चिन्तामणि' में मनोवैज्ञानिक विषयों को साहित्य के धरातल पर रख सकने वाला और जिस 'रस' का संस्कृत में भी पिष्ट-पेषण-मात्र होता चला आ रहा था उसे 'रस-मीमांसा' में नव्य-प्रतिपादनक्षम बनाने वाला आलोचक शास्त्रज्ञ विद्वान् नहीं, बल्कि एक महान् कलाकार था। इसी दृष्टि से शुक्ल जी की आलोचना गहनीय है।

शुक्ल जी की कारयित्री प्रतिभा उनके पद्यों में अभिव्यक्ति नहीं पा सकी; साहित्य का यह रूप उनकी प्रतिभा के अनुरूप नहीं था। आलोचना ही वह साहित्यिक रूप था जिसमें उनकी भावयित्री और कारयित्री प्रतिमाएँ विलक्षण समन्वय घटित करती हुई, विद्वत्ता को क्रान्त-दर्शिता से प्रेरित कला के स्तर पर उठाती हुई, अभिव्यंजना पा सकीं। हिन्दी में संप्रति ऐसी ही आलोचना का अभाव है, जिसके लिए कविता, नाटक या अन्य कलात्मक साहित्यिक रूपों की समकक्षता का दावा किया जा सके।

एक वह भी युग था जब आलोचक साहित्य के प्रभुत्व-सम्पन्न नियामक हुआ करते थे। तब पितृव्य मम्मट भ्रातुष्पुत्र हर्ष से—जिनका 'नैषधीयचरित' पद-लालित्य के लिए सदैव समादृत रहा है—अवज्ञा के साथ कह सकते थे, "यदि तुम अपना महाकाव्य, 'काव्यप्रकाश' की रचना के पूर्व लाए होते तो दोष-प्रकरण के उदाहरण ढूँढने में मुझे इतनी कठिनता न होती!"

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं० पद्मसिंह शर्मा और निकट अतीत में, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने—जिन्होंने 'निराला' के 'वर्तमान धर्म' को 'साहित्यिक सन्निपात' और 'उग्र' की अभिनव यथार्थवादिता को 'घासलेटी साहित्य' घोषित किया और इसीसे सन्तुष्ट न होकर, साहित्य के महारथियों की सहायता से इनके विरुद्ध व्यूह-रचना की थी[2]—ऐसे ही निरंकुश अधिनायकत्व की परम्परा हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में कायम रखी, यद्यपि इनमें मम्मट या रामचन्द्र शुक्ल का वह उत्कर्ष नहीं था जिसके कारण निर्ममता भी महत्ता बन जाती है।

ऐसे निरंकुश आलोचकों के निर्घृण लौह-शासन के विरुद्ध साहित्य ने सफल विद्रोह किया और आज आलोचना की यह दशा है कि वह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए नतमस्तक होकर, बड़ी विनम्रता के साथ, अपने को उपयोगी बनाए रखने की कदर्य चेष्टा कर रही है। आज उसका एक-मात्र उद्देश्य यह रह गया है कि वह साहित्य के अपने से भिन्न रूपों की व्याख्या करके उन्हें विद्यार्थियों और साधारण पाठकों के लिए ग्राह्य बनाती रहे। हिन्दी-साहित्य के नवीनतम इतिहास में, जिससे यह आशा की जाती थी कि वह आधुनिकतम शोध-तथ्यों का संकलन और लेखकों और कृतियों की अपूर्ण नामावली-मात्र न होकर, हिन्दी-साहित्य की सर्वांगीण आलोचना का, शुक्ल जी के इतिहास के बाद, दूसरा पथ-चिह्न होगा, 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः' इस निषेधात्मक सिद्धान्त का विधेयात्मक परिवर्तित रूप अपनाया गया है 'जीवितकवेराशंसा

१. 'रस-मीमांसा'।

२. चतुर्वेदी जी के 'विशाल-भारत' के सम्पादकत्व-काल में।

कार्या।[1] हिन्दी-आलोचना कितनी निष्प्रभ हो गई है, इसका यह ग्रन्थ एक-मात्र प्रमाण नहीं है।

वास्तविकता यह है कि आज हिन्दी-आलोचना में 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः' और 'जीवितकवेराशंसा कार्या' इन्हीं दोनों सिद्धान्तों का पालन, कुछ अपवादों को छोड़कर,[2] किया जा रहा है और वस्तुतः दोनों में अन्तर कुछ विशेष नहीं है। 'त्रिशंकु'-जैसी उत्कृष्ट सैद्धान्तिक आलोचना-पुस्तक के लेखक और हिन्दी के दो उत्कृष्टतम पत्रों के सम्पादक 'अज्ञेय' ने समसामयिक लेखकों और कृतियों के विषय में अपने विचारों को जिस तरह अव्यक्त रखने में सफलता पाई है, वह प्रथम सिद्धान्त के पालन का मनोरंजक उदाहरण है। प्रभूत विवरण देकर भी कुछ न कह सकने वाली आलोचना के शैली-विशेष के उदाहरण हैं वे उपाधि-ग्रन्थ,[3] जो वास्तविक आलोचना की परिधि में आते तो नहीं हैं, किन्तु जिन्होंने हिन्दी-आलोचना को उस तरह आच्छादित कर रखा है जिस तरह शायद ही किसी अन्य भाषा में हुआ या हो रहा है।

मैंने ऊपर तनिक विस्तार से जो कुछ कहना चाहा है वह उबलकर इतना-भर है कि समसामायिक हिन्दी-आलोचना में उन तत्त्वों का नितान्त अभाव है जिनके रहने पर ही वह कला के स्तर पर ऊर्ध्वपातित होती है, 'कला का शेषांश' बनती है।

---

१. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास।

२. ऐसे अपवादों में साम्यवादी आलोचकों को नहीं रखा जा सकता; माचवे, केसरी, नरेश, शिवचन्द्र उल्लेख्य हैं।

३. इनकी सार-शून्यता के सम्बन्ध में रामविलास शर्मा और प्रभाकर माचवे-जैसे विद्वानों ने दो टूक बातें कही हैं; मैंने भी अन्यत्र इनके प्रकाशन की विचारणीयता के विषय में लिखा है।

स० ही० वात्स्यायन

समालोचना और नैतिक मान

आलोचना कई प्रकार की होती है—क्योंकि वह कई उद्देश्यों से की जा सकती है। सब आलोचना मूल्यांकन नहीं होती : उसका उद्देश्य प्रभाव उत्पन्न करना या व्याख्या करना भी हो सकता है। लेकिन अन्ततोगत्वा समालोचना को कहीं-न-कहीं मूल्यों का विचार भी करना ही पड़ता है—कृति का मूल्यांकन वह न भी करे तो भी स्वयं उसके रसास्वादन की प्रक्रिया में उसके स्वीकृत मूल्यों या प्रतिमानों का महत्त्व होता है। समालोचक क्या पाता है, यह अनिवार्यतया इस पर निर्भर करता है कि वह क्या लेकर चलता है।

और मूल्यांकन—प्रत्यक्ष या परोक्ष—बिना मूल्यों या प्रतिमानों के नहीं हो सकता—मानदण्ड के बिना माप कैसे हो सकती है? यहाँ पर हम समालोचना के बुनियादी प्रश्न के सामने आ खड़े होते हैं।

मूल्य किसे कहते हैं? व्यापक प्रश्न को छोड़ भी दें, तो भी प्रश्न रहता है, समालोचना के क्षेत्र में मूल्य क्या है? प्रतिमान क्या होते हैं?

मैं आचार्य नहीं हूँ। न उस दिशा में मेरी कोई आकांक्षाएँ हैं। मैं सुपठित, शास्त्र-निष्णात आलोचक भी नहीं हूँ। साहित्य पढ़ने वाला हूँ, और कुछ थोड़ा-बहुत लिखने वाला हूँ। इस नाते मैं जो कहता हूँ उसका महत्त्व शास्त्र-रूप में कुछ नहीं है—शास्त्रज्ञों के आगे मेरी बात भी उतनी ही हेय है जितना मैं स्वयं। पर मैं अध्यवसायी पाठक हूँ, इसीलिए यह भी आशा होती है कि मेरी बात शायद दूसरे निरे पाठकों—कम या अधिक अध्यवसायी पाठकों—के कुछ काम की हो।

मैं मानता हूँ कि सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है। वही उसे सद-सद् का ज्ञान देता है—फिर उस सत् और असत् का क्षेत्र चाहे जो हो। यहाँ तक तो शायद मुझसे बहुत-अधिक लोगों का मतभेद न हो। लेकिन दूसरी प्रतिज्ञा मेरी सौन्दर्य के विषय में है—और मैं जानता हूँ कि वहाँ कदाचित् बहुत-से लोग मुझसे असहमत होंगे, यहाँ तक कि कुछ बुद्धिवादी भी, जिनसे यों मैं समर्थन की आशा कर सकता। मैं यह कहना चाहता हूँ कि सौन्दर्य-बोध मूलतः बुद्धि का व्यापार है। सौन्दर्य क्या है, हम नहीं जानते; सौन्दर्य की परिभाषा बड़े-बड़े मर्मज्ञ नहीं कर सके और मैं 'गहि-गहि गरब गरूर' इस कंटकाकीर्ण पथ पर चलने वाला नहीं हूँ। लेकिन सौन्दर्य क्या है, यह न बता पाकर भी हम जानते हैं कि सुन्दर क्या है, बता सकते हैं कि क्या सुन्दर होता है और सुन्दर क्या है, यह बता सकने का मतलब यह है कि हम कुछ ऐसे गुणों को पृथक् कर सकते हैं जिनके कारण सुन्दर सुन्दर होता है—जिनकी उप-स्थिति की पड़ताल करके हम कहते हैं कि वह सुन्दर है। ये तत्त्व क्या हैं? यहाँ मैं अपनी बात फिर साग्रह दुहरा दूँ : सौन्दर्य-बोध बुद्धि का व्यापार है—यानी हम इन तत्त्वों को बुद्धि द्वारा

ही पहचानते हैं—मानव का अनुभव ही उन तत्त्वों की कसौटी है। यह स्थापना विवादास्पद तो हो ही सकती है और इसकी पुष्टि में बहुत समय लगेगा; दो एक छोटे-छोटे उदाहरण दे दूँ: हम कहते हैं लय या 'रिद्म': शैशव-काल से ही हम जानते हैं कि हृदय का लययुक्त सम स्पन्दन, आरोग्य और सहजावस्था की निशानी है—स्वस्थ होने की निशानी है और असम स्पन्दन या लय-भंग उद्वेग, परेशानी, असुख के चिह्न है। तब, अगर हम मानते हैं कि लयमयता कला का या सुन्दर का एक मूल गुण है, तो क्या यह अपने अनुभूत सत्य का निरूपण ही नहीं है? इसी प्रकार हम मानते हैं कि सीधी रेखा सुन्दर नहीं होती, वक्र रेखाएँ सुन्दर होती हैं—यहाँ क्या फिर हम अपना अनुभव नहीं दुहरा रहे हैं? हमारे अंगों का कोई भी सहज प्रक्षेपण वक्र या गोलाई लिये होता है—अबोध शिशु भी जब हाथ-पैर पटकता है तो मंडलाकार गति से—सहज गति सीधी रेखा में होती ही नहीं और सीधी रेखा में अंग-संचालन अत्यन्त क्लेश-साध्य होता है। अतः वक्रता को कला-गुण या सौन्दर्य-तत्त्व मानने में हम फिर अपना अनुभव दुहरा रहे हैं—गोचर अनुभव का कार्य-कारण-ज्ञान के सहारे, बुद्धि द्वारा प्राप्त किया हुआ निचोड़ ही हमारे सौन्दर्य-बोध का आधार है और चित्र या मूर्ति-कला में जो रेखा की वक्रता है, यानी जो दृश्य स्पृश्य या स्थूल है, वही अगर काव्य में आकर उक्ति की वक्रता का परम सूक्ष्म रूप ले लेती है, तो क्या हमारी बुद्धि उसे नहीं पकड़ सकती—गोचर अनुभव से पाया हुआ सूक्ष्म बोध क्या वहाँ हमारा सहायक नहीं होता?

तो मैं मानता हूँ कि सुन्दरता के तत्त्व बुद्धि पर आधारित हैं और सुन्दर का आस्वादन बुद्धि का व्यापार है। इससे और परिणाम निकलते हैं। बुद्धि अनुभव के सहारे चलती है—अनुभव व्यक्तिगत, समाजगत, जातिगत—युग-युगान्त संचित; और अनुभव कोई स्थिर और जड़-पिंड नहीं है, वह निरन्तर विकासशील है। अतः बुद्धि भी विकासशील है और इसलिए हमारे मूल सौन्दर्य-तत्त्व—यानी मूल्य भी विकासशील हैं। इस अर्थ में शाश्वत मूल्यों की बात अनुचित है। किन्तु विकास का सही अर्थ समझना चाहिए: बुद्धि का नये अनुभवों के आधार पर क्रमशः नया स्फुरण और प्रस्फुटन होता है और नया अनुभव पुराने अनुभव को मिटा नहीं देता, उसमें जुड़कर उसे नई परिपक्वता देता है। अनुभव के गणित में जोड़-ही-जोड़ है, बाकी नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में हम परम्परा की चर्चा इसी अर्थ में करते हैं—तरतमता उसमें अनिवार्य है। तो मूल्य शब्दार्थ की दृष्टि से शाश्वत भले ही न हों, वे स्थायी अवश्य होते हैं और उनमें जो परिष्कार या नया संस्कार—परिवर्तन मैं जान-बूझकर नहीं कह रहा—होता है उसमें भी सदियाँ और युग लग जाते हैं। कला-मूल्य उतने ही शाश्वत हैं जितना कि बुद्धि-सम्पन्न मानव शाश्वत है—यों वह बन्दर का या बन्दर के किसी सजातीय का वंशज है! यह ठीक है कि दूसरे भी मूल्य हैं सामाजिक मूल्य, जो सामाजिक परिवर्तनों के साथ अपेक्षया अधिक तेजी के साथ बदलते हैं, लेकिन यहाँ हम उनकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, उनसे अधिक गहरे मूल्यों की बात कर रहे हैं।

यहाँ तक तो ठीक। अब प्रश्न यह उठता है कि सुन्दर के प्रतिमान और नैतिक के प्रतिमान में क्या सम्बन्ध है? क्या दोनों एक हैं? क्या समालोचना में एक के विचार में ही दूसरे का विचार निहित होता है और एक का स्वीकार स्वतः दूसरे का भी स्वीकार हो जाता है? या कि दोनों अलग-अलग हैं? और अलग-अलग हैं, तो क्या समालोचना के मूल्यांकन में दोनों का

विचार होना चाहिए या केवल एक का !

मैं नहीं कहूँगा कि प्रश्न सरल हैं, या कि उत्तर असन्दिग्ध। लेकिन लेखक हूँ, इसलिए यह भी कहूँगा कि प्रश्न अनिवार्य हैं और उत्तर, कुछ-न-कुछ उत्तर, चाहे अस्थायी और कामचलाऊ उत्तर, अवश्यं दातव्य। लेकिन कोरी सिद्धान्त-चर्चा में न रहकर उदाहरण लेकर चलना कुछ सुविधाजनक होगा। पुराना आख्यान-साहित्य ले लीजिए, प्रबन्ध-काव्य ले लीजिए, गाथाएँ ले लीजिए। कथाकार कथा कहता था, घटनाओं का परात्पर घटित होना ही वहाँ सबसे अधिक महत्त्व रखता था। यह नहीं कि कथाकार में नैतिक बोध नहीं होता था, या कि वह अपनी नैतिक मान्यताओं को प्रकट नहीं करता था, अपने स्वीकृत नैतिक मूल्यों का इंगित नहीं देता था। बल्कि वह पहले से ही कुछ अच्छे और कुछ बुरे पात्र लेकर चलता था—नैतिक मान्यताएँ बिलकुल स्पष्ट करके—और कभी-कभी अन्त में निष्कर्ष के रूप में किसी नैतिक मूल्य को साग्रह दोहरा भी देता था। 'पंचतन्त्र' आदि में पग-पग पर नैतिक मूल्य का आग्रह है : कहानी बल्कि उन्हें वहन करने का माध्यम-भर है।

अब जरा इधर के आख्यान-साहित्य पर विचार कीजिए। घटना उसमें बिलकुल न हो, ऐसा तो नहीं है। पर उसका घटित कभी-कभी बिलकुल आभ्यन्तर भी रहता है—स्थूल जगत् में कोई घटना घटे बिना भी उसमें संघर्षों के तूफान उठते और लय हो जाते हैं। आज का लेखक किसी भी घटना में कर्त्ताओं के उद्देश्यों को देखता है। 'अमुक हुआ' उसके लिए काफी नहीं है, 'अमुक किया गया' वह कहता है और 'क्यों किया गया' पर ही उसकी समूची जिज्ञासा केन्द्रित हो जाती है। यह परिवर्तन साधारण या ऊपरी नहीं है, घटना से घटना-हेतु की ओर जाना साहित्यकार की बौद्धिक प्रवृत्ति की एक बहुत बड़ी क्रान्ति का सूचक है।

कुछ लोग हैं जो कहते हैं कि बुद्धि के बढ़ते वैभव के साथ मानव का नैतिक ह्रास हुआ है। मैं ऐसा नहीं मानता हूँ—नहीं मान सकता—मेरी प्रतिज्ञा ही इस परिणाम को असम्भव बना देती है, क्योंकि मेरे निकट नीति-ज्ञान, विवेक, स्वयं बुद्धि का वैभव है। मैं यही कहूँगा कि साहित्य की यह नई प्रवृत्ति नैतिक शिथिलता या नैतिक मूल्यों के ह्रास की नहीं, नैतिक बोध की परिपक्वता की सूचक है। ईसा ने जब कहा था : "जज नॉट, लेस्ट यी बी जज्ड—तब इसलिए नहीं कि वह नैतिक प्रतिमानों को तिलांजलि दे रहे थे, बल्कि इसलिए कि वह आभ्यन्तर के घटित को उचित महत्त्व दे रहे थे—कोई नैतिक निर्णय बाह्य कर्म के आधार पर नहीं हो सकता, आभ्यन्तर उद्देश्यों का विचार होना चाहिए, यही उनके उपदेश का हेतु था। या कम-से-कम हेतु, क्योंकि दूसरा तो यह था ही कि जो अपराधी है उसे दण्ड न दो, समवेदना दो—मानवी समवेदना तो सबसे बड़ा नैतिक मूल्य है ही।

आख्यान-साहित्य का तो मैंने उदाहरण लिया, क्योंकि जो परिवर्तन मैं दिखाना चाहता था वह उसमें सबसे आसानी से देखा जा सकता है। वैसे सारे साहित्य की यह प्रवृत्ति रही है—कि कर्म के हेतु को पहचानो, निर्णय देने या दण्ड-व्यवस्था करने मत दौड़ो और हेतु को पहचानकर भी रुको मत, आगे बढ़कर समवेदना भी दो। हाँ, समवेदना देने के लिए बहुत बड़ा जिगरा चाहिए, वह सबके पास नहीं भी हो सकता है, इसलिए समवेदना न भी दे पाओ तो कम-से-कम निर्णय की जल्दी तो न करो।

मैं कह तो गया कि यह सारे साहित्य की प्रवृत्ति रही है। लेकिन सोचता हूँ कि इस बात

में अतिव्याप्ति दोष है, इसे मर्यादित करना चाहिए। तो कहूँ कि सारे मानववादी साहित्य की, क्योंकि इधर एक ऐसी प्रवृत्ति भी है जो इस हेतु परीक्षण को अस्वीकार करती है, मानवी समवेदना के इस व्यापक प्रदान को अपव्यय मानती है। नैतिक मानदण्ड उसके पास नहीं है यह तो नहीं कहा जा सकता, पर एक तो उसका नीति-निरूपण द्वन्द्वात्मक और अवसरसेवी है; दूसरे वह फिर से बँधी-बँधाई नैतिक लीकें लेकर उसमें मानव को डालने का उपक्रम कर रही है : मानव मानो छोटे-बड़े कई आकारों के कंकड़ हैं, जिन्हें वह अपनी मोटी और बारीक चलनियों में से छानकर या तो गिट्टी बनाकर अपनी किसी इमारत की नींव में दबा देगी या रोड़ी बनाकर अपनी सड़क पर बिछा देगी। इस नई नैतिक संकीर्णता की चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं है—वह एक अलग लेख का विषय है।

मैं जानता हूँ कि प्रश्न वहीं-का-वहीं रहा। मैंने उसे हल नहीं किया है, केवल एक उदाहरण से उसे स्पष्ट किया है। कहना यह चाहता हूँ कि कला-कृति में नैतिक मूल्यों का विचार न होता हो ऐसा नहीं है और इसलिए समालोचना भी उनके विचार के बिना चल सके, ऐसा सम्भव नहीं है—यानी वह समालोचना, जो मूल्यांकन में प्रवृत्त है। पर प्रश्न यह है कि क्या यह विचार, सौन्दर्य-मूल्यों के विचार से अलग है, उसका समानान्तर है, या उसीमें निहित है ?

लोग कहते हैं कि जो सुन्दर है, वह शिवेतर हो ही नहीं सकता इसे मैं मानता हूँ, पर यह भी समझता हूँ कि इससे यह ध्वनि होती है कि दोनों पर्यायवाची, यानी परस्पराश्रित हैं। ऐसा मैं नहीं कहता और जो यह मानते हैं कि जो सुन्दर है वह शिव भी होता ही है, वे भी कदाचित् अलग से ऐसा दावा नहीं करेंगे। हमारे आचार्यों ने भी 'शिवेतर-क्षय' की एक अलग उद्देश्य के रूप में चर्चा की है।

नैतिक मूल्य, यानी शिवत्व के मूल्य और सौन्दर्य के मूल्य, हैं तो अलग-अलग और अलग-अलग विचार माँगते हैं। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में मानना होगा कि ऐसा हो सकता है कि कोई कला-कृति सुन्दर हो और अशिव हो या कम-से-कम शिव न हो। यह मानकर भी मैं पहली बात कैसे मान सका, उसका कारण यही है कि उच्च कोटि का नैतिक बोध और उच्चकोटि का सौन्दर्य-बोध, कम से-कम कृतिकार में प्रायः साथ चलते हैं। क्यों ? इसलिए कि दोनों बोध, मूलतः बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है और दोनों के प्रतिमानों या मानदण्डों का आधार। विवेकशील मानव की—विशेषकर उस विवेकशील मानव की, जिसमें सृजनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी है—ग्राहकता दोनों को ही पहचानती है।

बुद्धि—और जिस पर वह आधारित है वह अनुभव—निरन्तर विकासशील और संस्कारशील है। निरन्तर सूक्ष्मतर होती हुई समवेदना एकांगी भी हो तो सकती है, पर जहाँ सृजनात्मक शक्ति है वहाँ एकांगिता की सम्भावना कम है और पुष्ट सौन्दर्य-बोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध भी होता ही है। जिस तरह कृतिकार सुन्दर का स्रष्टा होकर असुन्दर के चेष्टा पूर्वक परित्याग के द्वारा सुन्दर की उपलब्धि नहीं करता, उसी तरह वह नैतिक द्रष्टा होकर सायास अनैतिक के विरोध द्वारा नैतिक को नहीं पाता, उसकी परिपुष्ट समवेदना सहज भाव से दोनों को पाती है इसीलिए कला हमें आनन्द भी देती है। आज का समालोचक इस बात को नाना वादों के आवरण में छिपा चाहे सकता है, इसे अमान्य नहीं कर सकता।

●

डॉक्टर जयकान्त मिश्र

पाश्चात्य समीक्षा की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

पाश्चात्य विचार-धारा में देश, काल और पात्र के अनुसार कला अथवा साहित्य की समीक्षा होती रही है। कोई भी कला कैसी है, उसके तत्त्व कैसे हैं और वह किन आधारों पर रचित है इसका समुचित ज्ञान तभी प्राप्त किया जा सकता है जब हम यह जानें कि वह किस देश में, किस समाज में, किस जाति में और किस युग में उत्पन्न तथा विकसित हुई थी। आधुनिक मनोविज्ञान और इतिहास की खोजों से यह अब अधिक सम्भव हो चला है कि हम कला-कृति को उसके युग की सामाजिक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि में, तथा कलाकार की जीवनानुभूतियों की पृष्ठभूमि में समझें और तब उसकी सफलता या सौन्दर्य की समीक्षा कर सकें।

प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय समीक्षा-पद्धतियों में न तो इस विचार-धारा का स्वरूप या स्रोत मिलता है और न प्राचीन युग की कला-कृतियों में ही पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से भी ये सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं। लेखक या कलाकार कला-कृति में अपने-आपको ऐसा मिटा देते थे कि विरले ही स्थानों में यह सम्भव हो पाता है कि वह किसी युग-विशेष का या किसी लेखक-विशेष या कलाकार-विशेष की देन है। भारतीय कलाकार यह विश्वास करता था कि कला-कृति, जो वह सृजन करता है उसका परिचय, उसका ज्ञान, जीवन से, देश से और काल से सीमित न हो। वह शाश्वत कला-कृति का निर्माण करता था और आशा करता था कि देश और काल उसकी सफलता या सौन्दर्य को आँकने में सहायक नहीं हो सकते हैं। कलाकार का कला-कृति से भिन्न कोई पृथक् अस्तित्व या व्यक्तित्व ही नहीं था। वह अपने को कला-कृति में ही लीन कर देता था।

अंग्रेजी साहित्य के महान् इतिहासकार टेन (Taine) ने सबसे पहले इस सिद्धान्त का जाति (Race), युग (Milieu) और तात्कालिक प्रभाव Moment (Time) के रूप में प्रतिपादन किया। वर्तमान युग में मार्क्सवाद ने इस दृष्टिकोण को मनोविज्ञान और इतिहास के सहारे आगे बढ़ाया है और हमें जीवन की यथार्थ अनुभूतियों का साहित्य पर कैसा प्रभाव पड़ सकता है यह मनन करने का अच्छा अवसर दिया है। किन्तु यह दृष्टिकोण सर्वथा दोषहीन नहीं कहा जा सकता है। केवल इसी दृष्टिकोण से हम साहित्य या कला को पूर्णतया परखने में सफल नहीं हो सकते। यदि ऐसा होता तो कोई साहित्य या कला अनेक युगों में समान रूप से लोकप्रिय न रह सकती जैसा कि भारतीय दृष्टि से ज्ञात होता है। तथापि इस सिद्धान्त का आंशिक उपयोग समीक्षा में किया जा सकता है।

कला या साहित्य का सम्बन्ध नैतिकता से, जीवन के परम लक्ष्य से, धर्म से कहाँ तक है, इस सम्बन्ध में भी पाश्चात्य समीक्षकों ने एक प्रकार से नवीन राय कायम की है। पहले यह दृष्टिकोण प्रचलित था कि कला केवल कला के हेतु है, वह केवल स्वान्तः सुखाय ही होनी

चाहिए। "चाहे जैसा विषय हो—असत्य हो, अनैतिक हो, हानिकारक हो, यदि कलाकार विषय को ऐसा रूप देने में समर्थ होता है कि उसमें निर्मायक प्रेरणा की तुष्टि की, अर्थात् सौन्दर्य की अनुभूति होती है, तो वह कला का उत्पादन करता है। कला रचना-कौशल से ही सिद्ध होती है, उसकी सिद्धि किसी बाहर के उद्देश्य तक नहीं जाती, उपकरणों को कौशल से रूप देना ही कला का प्रयोजन है।"[1] यह सिद्धान्त आजकल पूर्णतः मान्य नहीं है। इसकी भ्रान्ति स्पष्ट है। कहीं-न-कहीं किसी स्तर पर कला और जीवन का सम्बन्ध होगा ही; वह एकदम से जीवन के उद्देश्य को भूल नहीं सकता है। हाँ, कला साक्षात् शिक्षात्मक या धार्मिक नहीं होनी चाहिए। कलाकार को बड़ी सावधानी से बड़ी सफाई से जीवन का उद्देश्य प्रकट करना चाहिए अन्यथा वह कलाकार होकर उपदेशक या प्रचारक हो जायगा। भारतीय सिद्धान्तों ने रमणीय को साहित्य कहा है और कठोर सत्य को शास्त्र। वे कठोर सत्य को, कुरूप सत्य को, साहित्य या कला के अन्तर्गत स्थान नहीं देते हैं। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि करुण को, शृङ्गार को, बीभत्स को, भयानक को, या रौद्र को वह स्थान ही नहीं देते हैं। उनके लिए यदि कलाकार किसी भी विषय के प्रतिपादन के द्वारा रस और सौन्दर्य का उत्पादन कर सकता है तो वह साहित्य और कला के उपयुक्त होगा तथा यदि उसका प्रतिपादन सत्य के अनुसन्धान के निमित्त होगा तो उसे शास्त्र कहेंगे। अश्लीलता, गन्दगी और हीन विषयों का साहित्य में केवल विषय के कारण ही स्थान न होना चाहिए, ऐसा विचार भारतीय वाङ्मय के सिद्धान्तों में नहीं था। इसी कारण जब यथार्थवाद के नाम पर या स्वान्तःसुखाय के नाम पर कला या साहित्य के विषय कैसे हों इस विषय पर यूरोप के समीक्षा-सिद्धान्त परिवर्तित और परिवर्द्धित हुए तो उनका विशेष प्रभाव हमारे साहित्य पर नहीं पड़ा। हाँ, स्वान्तःसुखाय की धारणा एक नवीन धारणा थी और साहित्य के समीक्षकों की अपेक्षा साहित्य के सृजन-कर्त्ताओं ने एक विशेष युग में इस सिद्धान्त को अपनाया था।

तीसरी महत्त्वपूर्ण धारा पाश्चात्य समीक्षा की तुलनात्मक प्रणाली रही है। तुलनात्मक दृष्टिकोण का जितना अधिक उपयोग आधुनिक पाश्चात्य-शास्त्र-विशारदों ने किया है उतना प्रायः संसार के इतिहास में पूर्व कभी नहीं था। तुलनात्मक आलोचना-शैली का बोल-बाला आजकल लोक-साहित्य और भाषा-विज्ञान सभी जगहों में है, किन्तु प्रायः सबसे अधिक इसकी मान्यता साहित्य-क्षेत्र में रही है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आर्नल्ड ने अपनी पुस्तक 'एसेज इन-क्रिटिसिज़्म' नामक ग्रन्थ में विशद रूप से किया है। वे कहते हैं कि प्रसिद्ध साहित्यकारों या कलाकारों की सफल कृतियों को ध्यान में रखकर आलोच्य कृति की आलोचना होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में नवीन कला-कृतियों को प्राचीन, प्रसिद्ध महान् कला-कृतियों की कसौटी पर कसकर समीक्षा करें। इस प्रणाली में सबसे बड़ा भय यह है कि यदि नवीन कला-कृति प्राचीनों की धारा या परम्परा से एकदम विपरीत या विरुद्ध हो तो सम्भव है कि तुलनात्मक रीति से आलोचना करना उसके प्रति अन्याय होगा। इस दोष को सावधानी से दूर रखते हुए यदि प्राचीन परम्परागत प्रसिद्ध और सफल कृतियों की श्रेणी या कोटि की महानता का एक रूप-मात्र मानकर तुलनात्मक समीक्षा की जाय तो हमें सन्देह नहीं है कि हम काफी हद तक सफल रहेंगे। लोञ्जाइनस भी इस सिद्धान्त को मानता था और हमारी भारतीय परम्परा भी इसकी पोषक है।

इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं समझना चाहिए कि भिन्न रुचि की वजह से ही कोई

१. द्रष्टव्य प्रो० लीलाधर गुप्त-कृत 'पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त,' पृष्ठ २३१।

काव्य अच्छा या बुरा हो सकता है। जो निर्णायक मानदण्ड होंगे वे ऐसे कलाकार होंगे जो प्रसिद्ध हों और सबों की दृष्टि में मान्य हों, तभी उनको कसौटी (Touchstones) मानकर कला-कृति की समीक्षा करनी होगी। इस सिद्धान्त की दुरवस्था से आदर्श कृतियों का अन्धानुकरण करने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार की धारणा निओ-क्लैसिकल (neo-classical) युग की विचार-धारा में प्रस्फुटित हुई थी। इससे होने वाली हानि स्पष्ट है। साहित्य निकम्मा, नकलची और निष्प्राण रचा जायगा। इसी हेतु अठारहवीं शताब्दी का अधिकांश साहित्य, जो 'निओ क्लासिकल' सिद्धान्तों के अनुसार रचा गया था, विफल रहा।

आधुनिक काल में सर्वाधिक मान्यता उस समीक्षा-सिद्धान्त को मिली है जिसके अनुसार यह देखना आवश्यक है कि कलाकार ने सौन्दर्यात्मक तीव्रानुभूति (Aesthetic experience) की है या नहीं और उस अनुभूति को अपने पाठकवर्ग तक सफलता पूर्वक पहुँचा (Communicate) सकता है या नहीं। यदि सौन्दर्यानुभूति पर्याप्त मात्रा में नहीं है, यदि जिस विषय या जिस परिस्थिति का प्रतिपादन लेखक, कवि या कलाकार करता है, वह पर्याप्त सौन्दर्ययुक्त अनुभूति नहीं है तो श्रेष्ठ कला या साहित्य का वहाँ पर विकास ही सम्भव नहीं है। कुछ समीक्षकों (उदाहरणतः क्रोचे) के मतानुसार कला की सफलता या विफलता का परिचय इतने से ही हो जाता है, किन्तु इस विचार की अब मान्यता नहीं है। सफल कला या साहित्य के लिए यह भी आवश्यक है कि कलाकार अपनी कला से, अपने माध्यम द्वारा उस सौन्दर्यानुभूति को अपने पाठकवर्ग तक पहुँचा सके, उसे इस प्रकार व्यक्त करने में सफल हो कि पाठक को कलाकार की सौन्दर्यानुभूति का साक्षात्कार हो जाय। ऐसी दशा में ही कला-कृति सफल कही जा सकती है। पाठक या समीक्षक कला-कृति के सौन्दर्य का कारण और उसका मूल स्रोत न बता सकें तो कोई विशेष क्षति नहीं है, किन्तु यह आवश्यक है कि वह स्वतः कलाकार की अनुभूति का कुछ अनुभव कर सकें। उस अनुभव कराने में कलाकार रचना-कौशल द्वारा कितना सहायक होता है इसको जानने की बड़ी आवश्यकता होती है। इसी कारण अन्त में कला-कृति की रचना-कुशलता, शैली, शब्द-विन्यास प्रभृति भी विचारणीय और समीक्षा की वस्तु हो जाते हैं। इसी सिद्धान्त को 'रस' का अनुभव और उसका उचित रूप से व्यक्तीकरण, रचना-कौशल द्वारा परिपक्व रूप से प्रकट करना भारतीय समीक्षा की पराकाष्ठा रही है। यह 'एस्थेटिक' मानदण्ड आधुनिक समीक्षा का सबसे बड़ा मानदण्ड है। एबरक्रोम्बी, आइ० ए० रिचर्ड्स प्रभृति इसीको समीक्षा का श्रेष्ठतम सिद्धान्त मानते हैं।

लोञ्जाइनस ने एक और समीक्षा का सिद्धान्त बताया था जो आज भी सत्य जान पड़ता है। वह यह कि जो कला-कृति बारम्बार पढ़ने पर भी पुनः अच्छी लगे, सुन्दर लगे, वह अवश्य श्रेष्ठ होगी। अर्थात् युग-युग में जो कला-कृति अधिक-से-अधिक लोगों को सफल और पुनः-पुनः नित्य नवीन-जैसा अनुभव देने वाली हो वह श्रेष्ठ कला-कृति है। माघ कवि का कथन—"क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है। इसी सिद्धान्त को समय का निर्णय भी कहा जा सकता है। अर्थात् साहित्य या कला की महत्ता का निर्णय भविष्य पर छोड़ देना चाहिए। जो कला-कृति वास्तव में श्रेष्ठ है उसको समय के व्यवधान पर भी लोग श्रेष्ठ ही न कहेंगे और यदि किसी समय लोग न भी कहेंगे तो कभी-न-कभी ऐसा समय अवश्य आयगा जब उसका श्रेष्ठत्व सभ्यों द्वारा मान्य हो जायगा। इस सिद्धान्त में बहुत दूर तक तथ्य

है। दोष इतना ही है कि इसमें यह ध्यान नहीं रहता कि प्रत्येक युग की अपनी एक परम्परा होती है, अपनी रुचि होती है। ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि हम उसकी शाश्वत मान्यता का विश्वास करें। इस सम्बन्ध में मेरा इतना ही निवेदन है कि कोई भी समालोचना-पद्धति, कोई भी अच्छा या बुरा कहाने वाली विचार-धारा, कभी हमेशा के लिए किसी वस्तु को अच्छा या बुरा, सफल या असफल नहीं कह सकती है। जिसे परम शिव (Absolute Good) या (Absolute Beauty) परमसुन्दर कहा जाता है वह इस त्रुटिपूर्ण, अपूर्ण और असार संसार में मिलने वाली वस्तु नहीं हो सकती है। सभी प्रकार की समालोचनाएँ सापेक्ष ही हैं और वह युग-युग में परिवर्तित ही होंगी।

एक बात और। कोई कला-कृति श्रेष्ठ समझी जाय इस निमित्त समाज के शिष्ट व्यक्तियों द्वारा ही उसे श्रेष्ठ समझा जाना आवश्यक है। यह कभी सम्भव नहीं है कि सभी व्यक्ति, सभी प्रकार के विचार वाले उसको एक स्वर से श्रेष्ठ कहें और न यही आवश्यक है कि समस्त जनता बैठकर उस कला-कृति का अध्ययन करे और निश्चय करे कि वे श्रेष्ठ कलाकार हैं या नहीं। केवल इतना ही पर्याप्त होगा कि साधारणतः सुधी समाज, शिष्ट समाज, शिक्षित समाज किसी कृति को श्रेष्ठ कहे और रचनाओं का उचित मूल्यांकन करके अपनी निरवच्छिन्न स्वीकृति दे।

इसी विचार-धारा से उत्पन्न एक दूसरे आधुनिक सिद्धान्त को पाश्चात्य समीक्षकगण व्यवहार में बरतते हैं। वे कला-कृति से प्रभावित होकर, उसके किसी एक ही अंग से प्रभावित होकर जैसी उनकी प्रतिक्रिया होती है उसको वैसा ही व्यक्त करते हैं। इस प्रणाली को प्रभाववादी (impressionistic) आलोचना-प्रणाली कहते हैं। इसके अनुसार आलोचक कला-कृति की सम्पूर्ण आत्मा समझ सकने की या समझकर समीक्षा करने की कोशिश नहीं करता है। वह केवल किसी अंश से ही प्रभावित होता है। यद्यपि यह एक प्रकार से अपूर्ण सिद्धान्त है एवं इससे निर्णयों की मान्यता में अन्तर आ सकता है, तथापि यह प्रणाली कला-कृति के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करने का अत्यन्त उपादेय कार्य करती है। इस प्रणाली से आलोचक एक प्रकार की कला का स्वयं सृजन करता है, जिसका मूल-स्रोत या आधार किसी कलाकार की कला-कृति होती है। इस प्रणाली की सफलता इसी बात पर निर्भर है कि आलोचक कितनी सौन्दर्यानुभूति को समझने के लिए शिक्षा पा चुका है अथवा क्षमता रखता है। दूसरे इस प्रणाली को बरतने वालों में कलात्मक रूप से कुछ सृजन करने की क्षमता रहना भी आवश्यक है। इन दोनों गुणों के अभाव में प्रभाववादी प्रणाली बहुत उच्चकोटि की प्रणाली नहीं कही जा सकती है।

अन्त में एक ऐसे सिद्धान्त की ओर मैं ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जिसके अनुसार अन्ततोगत्वा किसी कला-कृति का श्रेष्ठतम महत्त्व समझा जाता है। यह सिद्धान्त बड़ा अस्पष्ट और गूढ़ है। इसको जानने के लिए बहुत ध्यान पूर्वक कला-कृति का निरीक्षण और पर्यालोचन करना पड़ता है। सभी गुणों के होते हुए भी, सभी वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से समझ जाने पर भी एक अस्पष्ट भाव रह जाता है जिसके रहने और न रहने पर कला-कृति संसार की श्रेष्ठतम रचनाओं में परिगणित होने के लायक हो सकती है। यह गुण है Universality, इसका अभिप्राय है वे तत्त्व, जिनकी वजह से कोई कला-कृति हमें छोटे-छोटे कर्म-क्षेत्रों से बाहर करके एक दूसरी दुनिया में, विस्तृत और महान् स्तर पर पहुँचा देती है। यह भाव कई प्रकार से

जाँचा जा सकता है। इस गुण की खोज करना पाश्चात्य समीक्षक परम आवश्यक समझते हैं।

पाश्चात्य समीक्षा के अनुसार आलोचक का काम नीर-क्षीर-विवेक-मात्र नहीं है। वह कई प्रकार से साहित्य की आलोचना कर सकता है। वह चाहे तो केवल द्रष्टा-मात्र रह सकता है; कला-कृति को देखे और उसका शान्तिपूर्वक रसास्वादन करता रहे। वह चाहे तो उसके आगे बढ़कर कला-कृति की व्याख्या कर सकता है; वह चाहे तो इतिहास और मनोविज्ञान के आधार पर कला-कृति का विश्लेषण कर सकता है; विशेषतः फ्रायड प्रभृति आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर अथवा मार्क्सवाद के सिद्धान्तों के आधार पर विवेचना कर सकता है। वह चाहे तो केवल कला-कृति को समझने का कार्य करके न रहे, वह उसकी कुछ विशेषताओं से प्रभावित होकर प्रभाववादी समालोचना लिख सकता है—जो एक प्रकार से स्वतः भी एक कला-कृति हो जायगी और जो प्रणाली इस कारण रचनात्मक आलोचना भी कही जाती है। किन्तु इतनी ही दूर तक नहीं, वह चाहे तो कलाकार के सौन्दर्यानुभव की तीव्रता का अनुभव कर सकता है, उस सौन्दर्यानुभव के प्रकटीकरण की सामग्री के औचित्य और उपयुक्तता का विचार कर सकता है और कलाकार कला-कृति के द्वारा अपने पाठकवर्ग को अपनी सौन्दर्यानुभूति का साक्षात्कार कराने में सफल हुआ है अथवा नहीं और यदि सफल हुआ है तो कितनी दूर तक इन सब बातों पर भी विचार-विमर्श कर सकता है। वह चाहे तो इसके आगे भी जा सकता है और निर्णय कर सकता है कि तुलना करने से कला-कृति किन अन्य महान् कला-कृतियों के सन्निकट है या आगे बढ़ी-चढ़ी है, क्या वह कला-कृति बारम्बार अनुभव करने पर भी नीरस नहीं लगती है अर्थात् वह सर्वदा श्रेष्ठ और रमणीक लगती है, तथा क्या वह कला-कृति केवल स्वान्तःसुखाय-मात्र रची गई है अथवा उसमें कोई ऊपर उठाने वाली जीवन-मीमांसा का सत्य भी सन्निहित है? इस अन्तिम पद्धति को निर्णयात्मक समालोचना कहते हैं और इसके आधार पर यद्यपि कभी-कभी भ्रमात्मक, बँधे हुए, गुण-दोष-निर्णय करने के लिए नियम-सारणि का प्रचार हुआ है किन्तु आधुनिक काल में किसी बँधी हुई नियम-सारणि के अनुसार विचार करना आवश्यक नहीं है। कला-कृति कोई उपदेश या सुधार या समाजोपकार[1] के लिए नियमतः नहीं बनती है किन्तु वह कलाकार की सौन्दर्यानुभूति की तीव्रता के कारण विवश होकर स्थापत्य पाने के लिए और अधिक-से-अधिक लोगों को प्रभावित करने के लिए बनती है—कला-कृति का निर्माण मनुष्य की कला-सृजनात्मक प्रवृत्ति (Creative impulse) की तुष्टि के लिए होता है। "कला हमारे समाज का, हमारे जीवन का प्रतिबिम्ब है और वह उसकी मीमांसा करता है;" यह ठीक है—लेकिन उसका प्रचार या उपदेश साक्षात् रूप से करना कलाकार के लिए उचित नहीं है। श्रेष्ठ कला-कृति सत्य और नैतिकता को तो अनायास स्थान देगी, क्योंकि जो सुन्दर है वह सत्य औरशिव होकर रहेगा। जो सत्य और शिव के बारे में कहा है वह सुन्दर के बारे में भी लागू है। भारतीय परम्परा ने भी काव्य का मुख्य लक्षण माना है—सहृदय-संवेद्य रसानुभूति। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"। आलोचक का कर्तव्य निरा छिद्रान्वेषण या प्रशंसा करना नहीं है। उसका कर्तव्य है कि कलाकार की सौन्दर्यानुभूति को समझे और तब देखे कि उसको वह सफलतापूर्वक प्रकट करके पाठक तक पहुँचा सका है अथवा नहीं।

१. उदाहरणार्थ जैसे एरिस्टॉटिल का कैथार्सिस (catharsis) का सिद्धान्त था।

डॉक्टर रवीन्द्रसहाय वर्मा

हीगेल का कला-सिद्धान्त

आधुनिक हिन्दी-समालोचना में हीगेल द्वारा ललित कलाओं का विवेचन तथा विभाजन वाद-विवाद का विषय रहा है। इस विवाद का मूल कारण हीगेल की समालोचना-पद्धति के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। सच तो यह है कि हिन्दी में अभी तक हीगेल के साहित्य-दर्शन का सर्वांगीण विवेचन देखने में नहीं आया है और समालोचकों ने इसके एकांगी पहलुओं को लेकर त्रुटिपूर्ण भाष्य-भर किया है।

हीगेल की समीक्षा-पद्धति समझने के लिए उसके समस्त दर्शन की झाँकी हमारे लिए अनिवार्य हो जाती है। हीगेलीय-दर्शन की पद्धति 'द्वन्द्ववादी प्रक्रिया' (डायलेक्टीकल प्रोसेस) पर अवलम्बित है जिसके अनुसार प्रगति के लिए परस्पर-विरोधी तत्त्वों का मिलन अनिवार्य है। भाव (आयडिया) जो कि विकास की प्रक्रिया का आधार है, अपने को तीन अवस्थाओं (मोमेंट्स) —स्थापना (थीसिस), प्रतिस्थापना (एण्टीथीसिस) और समन्वय (सिन्थेसिस) में प्रकट करता है। हीगेल भाव के व्यक्तीकरण की इन तीन अवस्थाओं के अनुसार ही अपने दर्शन का विभाजन तर्क (लॉजिक), प्रकृति (नेचर) और मन (माइंड) के वर्गों में करता है। इस प्रकार आयडिया की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम तर्क में होती है जो कि सूक्ष्म विशुद्ध विचार-भर है। पर विचार अपनी आन्तरिक आवश्यकता से अपने ही विरोध की ओर बढ़ता है और अपनी बहिर्मुखी दशा में अनेक वस्तुओं में खण्डित होकर प्रकृति के रूप में अभिव्यक्त होता है। पर प्रकृति भी आयडिया की अधूरी ही अभिव्यक्ति है और वह अपनी बहुदशा का विरोध करके जड़ प्रकृति, जीव और अन्त में मानव, जहाँ मन स्थूल से पूर्णतया छुटकारा पा जाता है—व्यक्त होती है। हीगेल मन के विकास में भी तीन अवस्थाएँ मानता है—भाव-प्रधान (सबजेक्टिव), वस्तु-प्रधान (ऑब्जेक्टिव) और परम (एबसोलूट)। भाव-प्रधान अवस्था में मन विकास की प्रक्रिया को पार करता हुआ अन्त में स्वतन्त्र मन (फ्री माइंड) की गति को प्राप्त होता है। यही स्वतन्त्र मन जब बाह्य जगत् में अभि-व्यक्त होता है तो नैतिक प्रगति का रूप धारण कर लेता है और राष्ट्रीय नियम, नैतिक नियम एवं सामाजिक नियमों में अभिव्यक्त होता है। विकास के अन्तिम चरण में, जो कि मन की परम (एबसोलूट) अवस्था है, मन अपने को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने में सफल होता है और कला, धर्म और दर्शन के अन्तिम चरण पार करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हीगेल कला को, परम मन के विकास में जिसमें आयडिया अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है एक चरण मानकर, उसे उच्च स्थान देता है। कला इस प्रकार आधिभौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम है। कला-कृतियाँ 'आयडिया' (परम भाव) की अपने से बाहर विकास की द्योतक हैं, जब तक कि वह अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति धर्म और फिर दर्शन के रूप में नहीं कर लेता।

हीगेल कला का विभाजन आयडिया के विकास की अवस्थाओं के अनुसार प्रतीकवादी (सिम्बोलिक), शास्त्रीय (क्लासिकल) रोमानी (रोमांटिक) वर्गों में करता है। (अ) अपने प्रतीकवादी रूप में आयडिया भौतिक आकृतियों में अभिव्यक्त होने के लिए असफल संघर्ष करता है। हिन्दू तथा और धर्मों में देवी और देवताओं की मूर्तियाँ इसका उदाहरण हैं। यहाँ आयडिया और आकृति की विषमता रहती है जिसके फलस्वरूप भौतिक आकृतियों में आयडिया का व्यक्तीकरण भद्दा और बेडौल रहता है। (ब) शास्त्रीय कला में आयडिया और आकृति की विषमता दूर हो जाती है और बाह्य आकृति एवं अन्तर्वस्तु में सामंजस्य हो जाता है। क्योंकि मानव-आकृति मन को सबसे अच्छी तरह प्रकट करती है, अतएव मानवीकरण कला के शास्त्रीय रूप की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यूनानी देवताओं की मूर्तियाँ शास्त्रीय कला की उदाहरणस्वरूप हैं। (स) पर मन जो कि आयडिया का भाव-प्रधान (सब्जेक्टिव) रूप है, किसी भी शारीरिक आकृति में अपनी निर्बन्ध अभिव्यक्ति नहीं पा सकता और इस प्रकार शास्त्रीय कला के विरोध में रोमानी-कला की सृष्टि होती है जिसमें आयडिया का आधार भौतिक वस्तु न होकर स्वयं चेतन भाव-प्रधान बुद्धि बन जाती है।

हीगेल उसके पश्चात् ललित कलाओं का विभाजन (१) वास्तु-कला (२) मूर्ति-कला और (३) चित्र-कला, संगीत और काव्य में करता है। (१) वास्तु-कला का निर्माण स्थूल पदार्थ (मैटर) से होता है, जिसमें आयडिया अपने को अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहता है। पर वास्तु-कला स्थूल वस्तु को विवेक के अनुसार सुडौल आकृति देने का प्रयत्न करती और प्रकृति की उग्रता से बचाने का साधन बनती है। इस प्रकार ईश्वर के मन्दिर का निर्माण हो जाता है, जहाँ भक्तजन एकत्रित हो सकते हैं। (२) मूर्ति-कला, हीगेल के अनुसार, शास्त्रीय कला का मुख्य नमूना है। यहाँ स्थूल वस्तु को चेतन मन (स्पिरिट) के अनुरूप मानव-आकृति में ढाला जाता है। इस प्रकार आयडिया और ऐन्द्रिक आकृति में सामंजस्य हो जाता है। (३) चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य, हीगेल के अनुसार, रोमानी कला के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ कला-कृति का आधार स्थूल पदार्थ न होकर भाव (सब्जेक्टिविटी) अपनी गतिशील अवस्था में होता है। इसमें मूर्ति में अभिव्यक्त आयडिया की एकता अनेक व्यक्तियों के अन्तर्जीवन में विभक्त हो जाती है, जो कि रंग, संगीत और शब्दों के माध्यम द्वारा चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला में व्यक्त होती है।

इस प्रकार मूर्ति-कला के पश्चात् हीगेल चित्र-कला को स्थान देता है। चित्र-कला का आधार रंगों में प्रस्फुटित दृश्य-जगत् है। मूर्ति-कला से चित्र-कला का यह आधार अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि वह भार (मास) और दिशा (स्पेस) से स्वतन्त्र एक स्तर (प्लेन)-मात्र है। चित्र-कला में वे सब विचार और भावनाएँ जो मानव-मन में उठती हैं, व्यक्त की जाती हैं।

चित्र-कला के बाद रोमानी कला के अन्तर्गत संगीत-कला का स्थान आता है। यह चित्र-कला से उच्चतर रोमानी कला है, क्योंकि इसका आधार, जो कि ध्वनि है, वह पदार्थ से पूर्णतया मुक्त केवल स्मृति में रहने वाला सूक्ष्म तथ्य है। अन्त में काव्य का आधार, जो कि कलात्मक कल्पना है, अपने को पदार्थ से पूर्णतया मुक्त कर लेता है। काव्य का जगत् विचारों और भावनाओं का अन्तर्जगत् है। इस प्रकार काव्य रोमानी कला की अन्तिम परिणति है। चूँकि कल्पना सब कलाओं में आवश्यक है। अतएव काव्य को हम समस्त कलाओं के ऊपर विस्तृत कला भी कह

सकते हैं।

संक्षेप में, यही हीगेल का ललित-कला-विषयक दर्शन है। हिन्दी-समालोचना में ललित-कला के इस हीगेलीय दर्शन की सम्भवतः अभी तक पूर्ण रूप से विवेचना नहीं हुई है। पर हीगेल द्वारा ललित-कलाओं का विभाजन और उनकी परिभाषा पर कुछ समालोचकों ने अपने विचार अवश्य प्रकट किये हैं और कभी-कभी उन्हें अपनाया भी है। इस प्रकार 'साहित्यालोचन' में डॉ० श्यामसुन्दरदास ललित-कलाओं का क्रमशः वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला में विभाजन हीगेलीय समीक्षा-दर्शन पर आधारित है। उन्होंने हीगेल के अनुरूप ही काव्य-कला को उसके आधार के सूक्ष्मतम रूप के कारण कलाओं में सब से ऊँचा स्थान दिया है। पर उन्होंने ललित-कलाओं का प्रतीकात्मक, शास्त्रीय और रोमानी वर्गों में विभाजन नहीं किया है।

जयशंकर प्रसाद ने अपने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में हीगेल द्वारा ललित-कलाओं के विभाजन पर विवेचना की है और काव्य को ललित कलाओं के वर्गीकरण में स्थान देने की आधुनिक प्रवृत्ति की निन्दा की है। अपने विद्वत्तापूर्ण विवेचन में उन्होंने हीगेल के विभाजन को अशुद्ध दिखाकर भारतीय परम्परा की, जो काव्य की गणना विद्या में और कलाओं की उपविद्या में करती है, पुष्टि की है। वे कहते हैं कि काव्य का कलाओं के अन्तर्गत वर्गीकरण करने से हीगेल को कला के ऊपर धर्म-शास्त्र और उसे भी ऊपर दर्शन-शास्त्र को स्थान देना पड़ा। पर भारत में काव्य का स्थान धर्म अथवा दर्शन किसी से भी नीचा नहीं समझा गया। इसके पश्चात् जयशंकर प्रसाद काव्य और अन्य कलाओं के भेद को स्पष्ट करते हैं। काव्य के लिए वे कहते हैं कि वह "आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्ष प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।"[1] दूसरी ओर उनके अनुसार "कला को उपविद्या मानने से वह विज्ञान से अधिक निकट सम्बन्ध रखती है।"[2]

रामचन्द्र शुक्ल ने भी काव्य का कलाओं में वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति की तीव्र आलोचना की है। वे कहते हैं कि वात्स्यायन-कृत 'काम-सूत्र' में दी हुई चौंसठ कलाओं में काव्य की गणना नहीं की गई है यद्यपि हीगेल द्वारा वर्णित और सब कलाओं जैसे वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला और संगीत-कला का वहाँ उल्लेख है। शुक्ल के अनुसार काव्य अथवा साहित्य का कोई भी सम्बन्ध कला और सौन्दर्य-शास्त्र से नहीं हो सकता। वे कहते हैं: "सौन्दर्य-शास्त्र में जिस प्रकार चित्र-कला, मूर्ति-कला आदि शिल्पों का विचार होने लगा उस प्रकार काव्य का भी, सबसे बेढंगी बात तो यही हुई।"[3] शुक्ल के अनुसार आधुनिक हिन्दी-समीक्षा में अभिव्यंजनावाद, सौन्दर्यवाद और रहस्यवाद आदि की वार्ता का मुख्य कारण यही भ्रांति है।

गुलाबराय ने काव्य और कला पर अपनी पुस्तक 'सिद्धान्त और अध्ययन' में विचार प्रकट

१. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (तीसरा संस्करण), पृष्ठ ३८।
२. वही, पृष्ठ ३१।
३. 'चिंतामणि', भाग २, पृष्ठ १७७-१७८।

किये हैं। वे प्रसाद और शुक्ल के मत को न मानकर इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि काव्य की विवेचना चित्र-कला, संगीत-कला इत्यादि ललित-कलाओं से विभिन्न नहीं की जा सकती है। यह सब कलाएँ न केवल एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, वरन् वे एक-दूसरे पर प्रभाव भी डालती हैं। इस प्रकार यूरोप में प्रभाववादी चित्र-कला (इम्प्रेशनिस्टिक पेंटिंग) ने काव्य में एक नई प्रवृत्ति, जिसे प्रभाववादी काव्य (इम्प्रेशनिस्टिक पोइट्री)कहते हैं, जन्म दिया है। गुलाबराय इस प्रकार हीगेल और श्यामसुन्दर दास की भाँति काव्य की गणना ललित कलाओं में करते हैं।

स्पष्ट है कि हीगेल के ललित-कला-विषयक दर्शन का हिन्दी-समीक्षा में सही विवेचन नहीं हो सका है। हिन्दी-समालोचकों का हीगेल द्वारा वर्णित ललित कलाओं के विभाजन का विरोध बहुत-कुछ इसी कारण है कि जब वे काव्य की गणना तो विद्या में करते हैं तो अन्य कलाओं की अविद्या में। यह कठिनाई हीगेल के सामने न थी, क्योंकि वह समस्त कला को आयडिया का माध्यम मानता था। इस प्रकार हीगेल के कला-विषयक विचार भारतीय कला विषयक विचारों से नितान्त भिन्न हैं। हीगेल काव्य का स्थान नीचे नहीं गिराता है, वरन् अन्य ललित कलाओं का—जैसे वास्तु, चित्र, संगीत आदि का स्तर काव्य तक उठाने का प्रयत्न करता है। यदि हम काव्य की गणना वात्स्यायन द्वारा 'काम-सूत्र' में वर्णित चौसठ कलाओं में नहीं कर सकते, तो वात्स्यायन की कलाओं की गणना भी हीगेल द्वारा वर्णित ललित कलाओं में नहीं कर सकते। पर यदि हीगेलीय परिभाषा के अनुसार ललित कला को हम आयडिया की अभिव्यक्ति का साधन समझते हैं, तो हमें काव्य की गणना ललित कलाओं के साथ करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

विजयदेवनारायण साही

मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति

मार्क्स और एंगेल्स मूलतः आर्थिक-राजनीतिक विचारक हैं। मार्क्स और एंगेल्स की साहित्य में गहरी दिलचस्पी थी और कहा जाता है कि मार्क्स ने बालजक की विस्तृत समीक्षा लिखने का विचार भी किया था, परन्तु राजनीतिक व्यस्तताओं के कारण यह संकल्प पूरा न हो सका। यदि यह संकल्प पूरा होता तो बहुत शुभ होता, क्योंकि तब हमें मार्क्स की प्रणाली का विस्तृत रूप समझने को मिलता। मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की पद्धति में कला, विशेषतः साहित्य का क्या स्थान है, इसे जानने के लिए आज हमारे पास मार्क्स की साधारण विचार-धारा, सामाजिक-आर्थिक ग्रन्थों में आये हुए कला अथवा साहित्य-सम्बन्धी छुट-पुट उल्लेख, तथा पत्रों और सामयिक समीक्षाओं में साहित्यिक कृतियों अथवा साहित्यकारों पर प्रकट किये हुए संक्षिप्त विचार, इतनी सामग्री ही उपलब्ध है। स्पष्ट है कि साहित्य और सौन्दर्य-जैसे विशिष्ट विषय की समीक्षा के लिए, जिसमें मात्रा एवं आग्रह-मात्र के भेद से पद्धति और विश्लेषण में भारी अन्तर पड़ जाने की सम्भावना रहती है, इतनी सामग्री पर्याप्त नहीं है। इसलिए मान्यताओं की स्थापना में थोड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

सबसे पहले मार्क्स की मानव-चेतना-सम्बन्धी साधारण विचार-धारा को ही लें। इस सम्बन्ध में उनके आधार (Basis) और प्रासाद (Superstitions) वाले रूपक से सभी परिचित हैं। आजकल अधिकतर कम्युनिस्ट समालोचना में इस उदाहरण की ही बाढ़ दिखलाई पड़ती है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त को 'क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल एकानामी' में व्यक्त किया है :

"उत्पादन-सम्बन्धों के कुल जोड़ से समाज का आर्थिक ढाँचा बनता है, जो असली आधार है और उसीके ऊपर कानूनी और राजनीतिक प्रासाद खड़ा होता है, जिसके अनु-रूप सामाजिक चेतना के निश्चित स्वरूप बनते हैं। भौतिक जीवन से उत्पादन की प्रणाली ही सामान्यतः सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाओं का नियमन (Determine) करती है। लोगों की चेतना उनकी अवस्था का नियमन नहीं करती, बल्कि उनकी सामाजिक अवस्था ही उनकी चेतना का नियमन करती है।" लेकिन यह 'नियमन' करने की क्रिया मार्क्सीय पद्धति में उतनी आसान और सीधी नहीं है जैसा कि साधारणतः समझा जाता है। साधारण ढंग से हम यों कह सकते हैं : राजनीति, विधान, धर्म, दर्शन, साहित्य और कला आदि उच्च मानसिक क्षेत्रों में हम समाज के नक्शे की छाप देख सकते हैं। यह छाप कहीं सीधी है तो कहीं इतनी धुँधली और अपरिचित कि पहचानना कठिन हो जाता है। फिर ये बौद्धिक या मानसिक प्रक्रियाएँ बराबर अपनी सामाजिक जड़ों से दूर होती जातीं हैं, अपना

अलग वर्ग स्थापित करती हैं, अपने स्वतः विकासमान नियम बनाती हैं और स्वयं सामाजिक आधार को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार सामाजिक संगठन की छाप में भारी अन्तर पड़ जाता है। ऐसी दशा में मार्क्स का विशेष आग्रह इस बात पर है कि हर बौद्धिक प्रवाह या प्रक्रिया की गति को 'हर दृष्टान्त में अलग-अलग व्यावहारिक और प्रयोगशील अनुशीलन के आधार पर, बिना किसी रहस्यात्मकता या दिमाग़ी उड़ान के, समझा और देखा जाय।

चेतना-प्रक्रिया के कुछ स्वरूप आधार के अधिक निकट होते हैं और कुछ दूर। "जिस क्षेत्र का हम अनुशीलन कर रहे हैं, वह आर्थिक जगत् से जितनी ही दूर और शुद्ध कल्पनात्मक विचार-धारा के जितना ही निकट होगा, उतना ही उसके विकास में हमें आकस्मिक घटनाओं का आधिक्य दिखलाई पड़ेगा, उतने ही उसकी रेखा में हमें घुमाव-फिराव नज़र आयँगे।"[1] इस प्रकार सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से बौद्धिक प्रक्रिया के स्वरूपों के एक सोपान की कल्पना की गई है। इस बात का याद रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, मार्क्सवाद के उत्तराधिकारियों ने धीरे-धीरे इन सोपानों के अंजर-पंजर ढीले कर दिए और प्रगतिवाद तथा सामाजिक यथार्थ के नाम पर ऊँची उड़ानों को ज़मीन पर रेंगने के लिए विवश कर दिया।

'लुडविग फायर बाख' में एंगेल्स की यह सोपानमूलक कल्पना स्पष्ट है। इसके अनुसार विधान और राजनीति-शास्त्र के क्षेत्र 'आधार' के सबसे निकट है। इन से भी "ऊँची उड़ने वाली विचार-धाराएँ, अर्थात् वे जो आर्थिक आधार से और भी दूर हैं, धर्म और दर्शन का रूप ग्रहण करती हैं।" अथवा "धर्म भौतिक जीवन से सबसे अधिक दूर है और उससे सबसे अधिक अलग मालूम पड़ता है।"[2] धर्म की विवेचना में एंगेल्स ने दो मार्के की बातें कही हैं। जहाँ तक "विचार-धारा के उन स्वरूपों का सम्बन्ध है जो हवा में और ऊँची उड़ान मारते हैं, जैसे धर्म, दर्शन आदि, इनके पीछे एक प्रागैतिहासिक पूँजी होती है, जिसे हम आज निरर्थक कल्पना ही कह सकते हैं और यह पूँजी ऐतिहासिक युग में भी चालू रहती है। ...इस तमाम आदिकालीन ऊल-जलूल के लिए आर्थिक कारण खोजना या उसमें सिर खपाना निस्सन्देह पांडित्य-प्रदर्शन की सीमा होगी।"[3] दूसरी बात यह कि "इसलिए : एक बार जब धर्म बन जाता है तो उसमें हमेशा रूढ़िगत तत्त्व उपस्थित रहते हैं, जिस तरह सभी चेतना-क्षेत्रों में रूढ़ि एक ज़बरदस्त परम्परावादी (Conservative) शक्ति का काम करती है।"[4] साहित्य और कला के इतिहास में 'धर्म और दर्शन' तथा रूढ़ियों की 'परम्परावादी (Conservative) शक्ति' का कितना हाथ है, यह 'व्यावहारिक और प्रयोगशील अनुशीलन' का विषय है, 'दिमागी उड़ान' का नहीं।

इस सोपान में कला और साहित्य का स्थान कहाँ है? ग्रीक कला का विवेचन करते हुए मार्क्स ने कहा है : "ग्रीक कला, ग्रीक पुराण (Mythology) को पहले मानकर ही चलती है (Presupposes)....यह तथ्य सर्वविदित है कि ग्रीक पुराण (Mythology) न केवल

१. फ्रेडरिक एंगेल्स : हान्ज़ स्टार्केन बर्ग के नाम पत्र, २५ जनवरी १८९४।

२. एंगेल्स : लुडविग फायरबाख।

३. एंगेल्स : कानराड स्मिट, को पत्र, २७ अक्तूबर १८९०।

४. एंगेल्स : लुडविग फायरबाख।

ग्रीक-कला का कोष था बल्कि वह धरती थी जिससे वह निकली और फली-फूली ।"[1] यह याद रखने की बात है कि यह धर्म अथवा पुराण वही 'ऊल-जलूल' है जिसकी हर सूरत के लिए 'आर्थिक कारण' नहीं खोजा जा सकता और जो आर्थिक आधार से बहुत दूर क्या 'सबसे अधिक दूर' है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता धर्म से भी एक सीढ़ी ऊपर है। प्लेखानाव और काडवेल ने भी इसको माना है, यद्यपि उनके रास्ते अलग-अलग हैं। यहाँ काडवेल के विश्लेषण के एक पहलू का ज़िक्र करना दिलचस्प होगा। काडवेल ने पुराण (mythology) के दो युग माने हैं। एक भेदहीन आदिकालीन साम्यवादी समाज का युग; इसमें पुराण जीवित रहता है अर्थात् हर नये अनुभव के साथ उसमें नये देवी-देवता, नई अलौकिक लीलाएँ जुड़ती चलती हैं। काडवेल के अनुसार वहाँ पुराण और काव्य एक-दूसरे से एकात्म होते हैं। दूसरा युग वह है जब समाज वर्गों में बट जाता है। यहाँ पुराण जड़ (Ossified) हो जाता है। नये देवी-देवता अब उसमें नहीं जुड़ सकते और पुराने देवताओं या लीलाओं के लिए भी एक सचेत-प्रक्रिया विश्वास (faith) की आवश्यकता हो जाती है। जिसका आधार शासकवर्ग की शक्ति होती है। यहाँ से कविता और पुराण के रास्ते अलग हो जाते हैं। भारतीय समाज का इतिहास यूरोप के तथाकथित मार्क्सवादियों को किस प्रकार पग-पग पर अकुलाता है इसका यह एक अच्छा उदाहरण है। क़ाडवेल ने शायद यह कभी सुना भी न होगा कि भारत नाम के इस विचित्र देश में अठारह पुराणों का जन्म वर्ग-समाज के अन्दर हुआ, तैंतीस करोड़ देवता बने (और एक से एक काव्यमय), गौतम बुद्ध ईश्वर के अवतार हो गए, जब चन्द, विद्यापति और सूरदास-जैसे कवियों ने मिलकर राधा नाम की एक नई देवी की स्थापना कर दी, तुलसीदास ने 'मानस' में एक नया ही पुराण बनाकर खड़ा दिया। और न जाने कितनी और ऐसी रंग-बिरंगी कल्पनाएँ उभरीं, चमकीं और जनता के गले का हार बन गई—और इस सबके लिए न तो किसी शासकवर्ग की आवश्यकता पड़ी, न किसी केन्द्रित चर्च-संगठन की, न ऊपर से लादे हुए विश्वास की।

भारत के पूरे इतिहास में अंग्रेजों के जड़ जमाने के पहले जीवन्त पौराणिक आख्यानों के निर्माण का काम कभी बन्द नहीं हुआ। साथ ही, आदिम जातियों के समाज की तरह पुराण और काव्य में पूरा एकात्म भी नहीं रहा। दोनों काव्यमय हैं, जीवन्त हैं। घुल-मिल भी जाते हैं। साथ ही अलग-अलग भी प्रवाहित होते हैं। परन्तु शुद्ध काव्य और पुराण में कालान्तर नहीं है।

इस्लाम के अभ्युदय और मध्यकालीन फ़ारसी काव्य में इन दोनों से अलग एक दूसरा ही दृश्य दिखलाई पड़ता है। यहाँ एक सिरे से पौराणिकता है ही नहीं, या है भी तो केवल स्वाद चखने-भर को। फिरदौसी ने शाहनामे में कुछ मिलती-जुलती चीज खड़ी भी की, जो नमूना बनकर रह गई।

यह कहना कि साहित्य समाज पर आधारित है एक बात है, कि साहित्य समाज की अनुकृति है, दूसरी बात है और साहित्य सामाजिक यथार्थवाद है, तीसरी और बिलकुल भिन्न बात है। पहला निष्कर्ष यह है कि मार्क्स और एंगेल्स के विचार से साहित्य समाज पर आधारित है; उसे हम उसकी छाया भी कह सकते हैं, लेकिन यह बहुत ही बिगड़ी हुई (distorted),

१. मार्क्स : क्रिटिक ऑफ़ पोलिटिकल इकानोमी।

शायद चेतना के अन्य स्तरों की अपेक्षा सबसे अधिक बिगड़ी हुई छाया है और आर्थिक विकास से उसकी समानान्तरता उतनी ही स्पष्ट होगी "जितना लम्बा युग और जितना चौड़ा क्षेत्र हम अध्ययन के लिए लें।"[1]

साहित्यिक प्रतिच्छाया में यह परिवर्तन, विकृति या बिगाड़ क्यों पैदा होता है ? साहित्य ही क्यों, चेतना के अन्य स्वरूपों में भी यह विकृति क्यों उत्पन्न होती है ? मार्क्स और एंगेल्स का उत्तर स्पष्ट है। इसलिए कि चेतना के विकास की दिशा का निरूपण उसके विकास के नियम भी करते हैं। जितने वेग और स्वच्छन्दता के साथ ये नियम काम करते हैं उतना ही छाया में अन्तर पड़ता जाता है और जितना ही चेतना का स्वरूप 'ऊँची उड़ानें' लेगा, उतनी ही इन नियमों की क्रियाशीलता बढ़ती जायगी। विधान के क्षेत्र में भी, जो एंगेल्स के अनुसार सामाजिक आधार के सर्वाधिक निकट है, यह विकृति पैदा होती है। "आधुनिक राज्य में विधान को न केवल सामान्य आर्थिक अवस्था का अनुसरण और उसमें अभिव्यक्ति करनी पड़ती है, बल्कि उसे एक ऐसी अभिव्यक्ति भी होना पड़ता है जो 'अपने में तर्क संगत' (consistent in itself) (ज़ोर एंगेल्स का) हो और जो अपने अन्तर्विरोधों के कारण स्पष्टतः असंगत न मालूम पड़े और इस संगति को प्राप्त करने के लिए आर्थिक स्थितियों की प्रतिच्छाया में अधिक-से-अधिक काँट-छाँट हो तो जाती है।"[2] 'यह अपने में तर्कसंगत' अगर स्वतः-सिद्ध नियम नहीं है तो क्या है ?

आर्थिक विकास के अतिरिक्त, उसके बावजूद, और उसके साथ साहित्य में काम करने वाले ये अन्य नियम क्या हैं ? यहीं पर इसका खयाल आता है कि अगर मार्क्स बालज़ाक पर पुस्तक लिखने का संकल्प पूरा करता तो बड़ा ही शुभ होता। क्योंकि यह अध्ययन और अनुशीलन का एक अलग ही क्षेत्र है। लेकिन फिर भी मार्क्स-एंगेल्स का दृष्टिकोण उस सम्बन्ध में स्पष्ट है। स्वयं आर्थिक-उत्पादन के क्षेत्र में मार्क्स का कहना है : "जानवर सिर्फ़ अपनी जाति (species) की माप और आवश्यकता के अनुसार निर्माण करते हैं, जब कि आदमी हर जाति (species) की माप के अनुसार निर्माण करता है और हर जगह तद्विषयक अन्तर्वर्ती (inherent) माप प्रस्तुत कर सकता है। इसलिए आदमी सौन्दर्य के नियमों के अनुसार भी निर्माण करता है।"[3] ये सौन्दर्य के नियम जो आर्थिक क्षेत्र में भी दिखलाई पड़ रहे हैं, हज़ारगुने वेग से साहित्य के क्षेत्र में काम करते हैं। मार्क्सवादी आलोचक का यह महान् उत्तरदायित्व है कि उनका अध्ययन और अनुशीलन करे और उनके आधार पर साहित्य के इतिहास को समझे और आज तथा भविष्य में साहित्य की दिशा तथा उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में मत व्यक्त करे; क्योंकि ये नियम ही साहित्य को साहित्यिकता प्रदान करते हैं; उसे अन्य मानसिक अभिव्यक्तियों से विशिष्टता प्रदान करते हैं—ये ही नियम, जिनका सारा ज़ोर सामाजिक प्रतिच्छाया को बिगाड़कर बदल देने ही में लगता है।

साहित्य में प्रवृत्ति (tendenciousness) के सम्बन्ध में एंगेल्स का मत छाया के परिवर्तन के महत्त्व को और भी स्पष्ट कर देता है। 'प्रवृत्ति' अपने शुद्ध रूप में वह सामाजिक

१. एंगेल्स : स्टार्केनबर्ग को पत्र, २५ जनवरी १८९४।

२. एंगेल्स : कानराड श्मिट को पत्र, २७ अक्तूबर १८९०।

३. मार्क्स : एकानामिक फ़िलसाफ़िक मेनुस्क्रिप्ट।

सत्य की सीधी छाया ही है, जो कम्युनिस्ट आलोचकों को बहुत प्यारी है। एंगेल्स की साफ़ राय है कि 'प्रवृत्ति' की स्पष्टता साहित्य के लिए अहितकर है। "तुम्हारे उपन्यास के दोष की जड़, उसी उपन्यास में ही है। साफ़ लगता है कि तुम्हें लोगों के बीच अपने सिद्धान्तों की घोषणा करने की आवश्यकता महसूस हो रही है।...मैं प्रवृत्तिमूलक काव्य का विरोध नहीं कर रहा हूँ...लेकिन मेरी समझ में यह प्रवृत्ति अपने-आप परिस्थितियों और घटनाओं से प्रवाहित होनी चाहिए। बिना किसी विशिष्ट संकेत के ; और लेखक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि चित्रित सामाजिक संघर्षों के भावी ऐतिहासिक समाधानों को भी पाठक के ऊपर लाद दे।"[1]

एंगेल्स ने यहाँ एक साधारण सिद्धान्त और आलोचनात्मक दृष्टिकोण की व्याख्या की है। प्रवृत्तिवाद का 'विरोध न करना' एक बात है और प्रवृत्तिवाद को ही साहित्यिक आलोचना का आधार और निर्णयात्मक मानदण्ड मानना बिलकुल दूसरी बात है। यह प्रवृत्तिवाद, प्रगतिवाद का नक़ाब लगाये, या 'सामाजिक यथार्थ' का जामा पहने, जब भी साहित्य के अपने नियमों के विरुद्ध सीधी प्रतिच्छाया का आग्रह करेगा, साहित्य की शक्ति और श्रेष्ठता को आघात ही पहुँचायगा। यह वर्तुल अथवा वक्र रेखा को जबरदस्ती साँचे में कसकर सीधी रेखा बनाने का प्रयास है। वर्तुल रेखा, जो साहित्यकार का सत्य है, सीधी रेखा के, जो तथाकथित क्रान्तिकारी के दिमाग़ में उपजती है, इस दबाव के विरुद्ध विद्रोह करती है। साहित्यकार चिल्लाकर पुकारता है : " 'साहित्य' को प्रचार मत बनाओ !" कमिसार सर्द शब्दों में उत्तर देता है : "मेरी सीधी रेखा इतिहास की अनिवार्यता है; इस अनिवार्यता को पहचानो, यही सबसे बड़ी स्वतन्त्रता है।" और ताकि साहित्यकार अनिवार्यता के महत्त्व को भली भाँति समझ जाय। कमिसार से 'सर', जेल और यातना की ओर एक इशारा कर देता है। साहित्यकार अगर अक्लमन्द हुआ तो उसके लिए यह काफी होता है।

छाया का यह परिवर्तन, साहित्य के लिए मूलभूत प्रश्न है—वह प्रश्न जो साहित्य की साहित्यिकता का प्राण है—इस तथ्य की स्वीकृति मार्क्स के दृष्टिकोण का अविभाज्य अंग है। यह परिवर्तन विषय-वस्तु (content) और रूप-विधान (form) का मात्र यांत्रिक सम्बन्ध नहीं है, जिसके अनुसार रूप-विधान विषय-वस्तु का दास बनाकर रख दिया गया है। अपने आगे आने वाले उत्तराधिकारियों के लिए चेतावनी की तरह मार्क्स पूछता है :

"कठिनाई इसे समझने में नहीं है कि ग्रीक-कला और काव्य सामाजिक विकास के कुछ स्वरूपों से सम्बद्ध हैं। जानने की बात यह है कि आज भी हमारे लिए वह कुछ सूरतों में सौन्दर्यात्मक आनन्द के स्रोत, तथा असाध्य आदर्श और नमूने क्यों बने हुए हैं ?"

मार्क्स के उत्तराधिकारियों में से किसी ने—शायद जैक लिण्डसे के अतिरिक्त इस अर्थपूर्ण और गागर में सागर भरने वाले प्रश्न का उत्तर तो नहीं ही दिया, कभी इतनी ईमानदारी और आग्रह के साथ इस प्रश्न को दुहराया भी नहीं। मार्क्स साहित्य की एक सार्वभौमिकता (Universality) की कल्पना करता है जो वर्ग हित ही नहीं, सामाजिक युग को भी पार करके एक नये आनन्द की सृष्टि करता है। यह विशेषाधिकार अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, दर्शन आदि चेतना के अन्य स्तरों को नहीं दिया गया है। किसलिए साहित्य को यह युग-युग-व्यापी शक्ति

१. एंगेल्स : मीना काउट्स्की को पत्र, २६ नवम्बर १८८१।

मिलती है ? क्या केवल इसलिए कि साहित्य शासकवर्ग का हथियार है, या तत्कालीन समाज की अनुकृति है या इसलिए कि वह इसके अतिरिक्त, इसके बावजूद कुछ और है ? उत्तर स्पष्ट है। साथ ही साहित्य के आलोचक के लिए दूसरा सवाल भी स्पष्ट है। वह 'कुछ और' क्या है ?

यह सार्वभौमिकता और सौन्दर्य अथवा अनुभूति की गहराई, केवल विषय-वस्तु को पाठक तक पहुँचाने का स्वरूप (Form) या माध्यम नहीं है। वह साहित्यिक या कलात्मक उपलब्धि का चरम आदर्श है, उसकी अनिवार्य शर्तें हैं। इसलिए वे आलोचक के अनुशीलन का क्षेत्र हैं, कृतिकार का प्राप्य हैं। साहित्य की सफलता उसकी उत्तेजक शक्ति तक सीमित नहीं है। आलोचक चाहे सामाजिक विकास के नियम से कितनी ही अच्छी तरह परिचित क्यों न हो, सिर्फ़ इतना ही उसके लिए काफी नहीं है। लासाल के नाटक 'सिक्किंगेन' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए एंगेल्स कहता है : "तुम्हारे राष्ट्रीय जर्मन-नाटक को पहली और दूसरी बार पढ़ने के बाद, मैं विषय-वस्तु तथा उसके उपयोग दोनों के विचार से, कुछ इस जोर के साथ प्रभावित हुआ कि विवश होकर मुझे उसे कुछ देर के लिए उठाकर अलग रख देना पड़ा; विशेषतः इसलिए और भी कि इन दिनों की साहित्यिक निर्धनता ने मेरी रुचि को कुछ इस तरह भदेस बना दिया है। (शर्म की बात है, लेकिन मानूँगा अवश्य) कि दो कौड़ी की चीजें भी पहली बार पढ़ने पर मुझे प्रभावित कर देती हैं। इसलिए एक बिलकुल तटस्थ, पूर्णतः 'समीक्षात्मक' दृष्टि प्राप्त करने के लिए मैंने सिक्किंगेन को अलग कर दिया।" काश पोलित ब्यूरो के सदस्यगण इससे आधी भी विनम्रता का प्रदर्शन करते ! मार्क्स ने स्पष्टतः कहा है : "कला का आनन्द उठाने के लिए आवश्यक है कि आदमी कलात्मक रूप से सुसंस्कृत हो।"[1]

अब हम अपने पहले निष्कर्ष में आवश्यक बातें जोड़ लें : जिन कारणों से साहित्यिक प्रतिच्छाया में विकृति उत्पन्न होती है, उनके पीछे साहित्य और सौन्दर्य के अपने नियम हैं जो सामाजिक आवश्यकता के बावजूद काम करते हैं। इन नियमों की क्रियाशीलता के कारण ही साहित्य ऊँची उड़ानें भरता है और उसमें सार्वभौमिकता एवं श्रेष्ठता उत्पन्न होती है। आलोचना के सामने असली सवाल सामाजिक यथार्थ का नहीं है, बल्कि उस यथार्थ की विकृतियों के अध्ययन का है। इसीलिए आलोचक के लिए आवश्यक है कि वह कलात्मक रूप से सुसंस्कृत हो और छाया में इस परिवर्तन का आनन्द ले सके।

साहित्य में सामाजिक सत्य के पहले मसीहा प्लेटो का सिर भी इस अनिवार्य विकृति की दीवार से जा टकराया था और उसने झुँझलाकर कहा था : "ये सारे कवि केवल ऐन्द्रजालिक और झूठे हैं, इनको कान पकड़कर निकाल बाहर कर दो।" इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्लेटो उन लोगों से अधिक ईमानदार है जो बेचारे कवि को मानव-आत्मा का शिल्पी कहते हैं, लेकिन काम वही करते हैं।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में हीगेल के अद्वैतात्मक नियतिवाद का अंश काफ़ी हद तक मौजूद है, विशेषतः उन स्थानों पर जहाँ मार्क्स आँकड़ों से न जूझकर शुद्ध दार्शनिक खंडन-मंडन में व्यस्त हो जाता है। भेद आग्रह का है परन्तु

१. मार्क्स : एकानामिक फ़िलसाफिक मेनुस्क्रिप्ट, १८४४।

नियतिवाद और प्रयोगात्मक प्रयास, दोनों की शाखाएँ फूटती हुई दिखलाई पड़ती हैं। परवर्ती मार्क्सवादियों में इस आग्रह-भेद से परस्पर विरोधी विचार-धाराओं और राजनीतियों की टकराहट इतिहास-विदित है। लेकिन यह हठ कि साहित्यिक कृतिकार राजनीतिक भूमिका भी ग्रहण करे, राजनीतिक क्रियाशीलता की तुलना में कला-कृतियों को हेच समझा जाय, मार्क्सवादी साहित्यिक दृष्टि की मौलिक अथवा अनिवार्य स्थापना नहीं है। यह घटना बाद में घटी है। प्रवृत्ति की अनिवार्यता की सूझ जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड की मार्क्सवादी त्रिवेणी में रूस की एक नई धारा के सम्मिश्रण का परिणाम है और यहाँ हम प्लेखानाव की छाया-तले पहुँच जाते हैं। मार्क्सवादी समीक्षा की दूसरी मंजिल आरम्भ होती है।

पुश्किन और चेखव से लेकर रूसी क्रान्ति तक हम यह देखते हैं कि हर साहित्यिक कृति में एक गूढ़ प्रवृत्तिमूलक राजनीतिक संकेत छिपा हुआ है। ज़ार के निरंकुश, एकछत्र और जन-तन्त्रहीन राज्य में अनिवार्य था कि हर सामाजिक आलोचना एक राजनीतिक स्वरूप ग्रहण कर ले। जितनी तीव्रता से ज़ार का सेंसर काम करता था, उतनी ही राजनीतिक प्रवृत्ति की यह कला मँजती जाती थी। रूसी साहित्य की यह विशेषता मार्क्सवाद के आगमन के पूर्व ही वहाँ काम कर रही थी। जिस प्रकार तालस्तॉय ने अपने लेख 'कला क्या है' में अपने नैतिक आग्रह के कारण शेक्सपीयर को, यहाँ तक कि स्वयं अपने लिखे हुए बहुत-से उपन्यासों को उठाकर फेंक दिया, वह सब जानते हैं। लेकिन तालस्तॉय का यह साहसिक कार्य कोई नया जादू नहीं था जो सिर चढ़कर बोला। इसका आवाहन शताब्दी के प्रारम्भ में बेलिन्स्की और शर्नीशेव्स्की के समय से ही हो रहा था।

यह उत्तराधिकार प्लेखानाव को मिला। मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में 'प्रगतिशील' शब्द का सबसे पहले प्रयोग शायद प्लेखानाव ने ही किया।[1] प्लेखानाव ने साहित्य को वर्गों की, विशेषतः शासक-वर्ग की, अभिव्यक्ति कहकर एक कड़ी और जोड़ी। इस आलोचनात्मक दृष्टि ने मार्क्स की साधारण विचार-धारा का फन्दा साहित्य के ऊपर डाला और सोपान-मूलक कल्पना पर पहला आघात किया। प्लेखानाव कहता है :

"हुईमाँ का दृष्टान्त एक बार फिर यह सिद्ध करता है कि कला का काम सैद्धान्तिक विषय-वस्तु (Ideological content) के बिना नहीं चल सकता। लेकिन जब कलाकार अपने समय की सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रवृत्तियों की ओर से आँखें मूँद लेता है, उसकी कृतियों में व्यक्त किये गए विचारों का मूल्य काफ़ी घट जाता है। परिणाम यह होता है कि स्वयं कृतियों को क्षति पहुँचती है। यह तथ्य कला और साहित्य के इतिहास के लिए इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसका निरीक्षण हर पहलू से होना चाहिए।"[2]

इसकी तुलना एंगेल्स से कीजिए :

"अन्तिम दो अंकों से यह स्पष्ट है कि तुम बिना कठिनाई के कथोपकथन को सजीव और प्रवाहयुक्त बना सकते हो और चूँकि यह बात प्रथम तीन अंकों में भी पैदा की जा सकती है, कुछ दृश्यों के अतिरिक्त (जो हर नाटक में होते हैं), अतः मुझे इसमें सन्देह

१. इस सम्बन्ध में मैं पूरे विश्वास के साथ नहीं कह सकता। यदि कोई सज्जन इस पर प्रकाश डाल सकें तो मैं कृतज्ञ हूँगा। —लेखक

२. प्लेखानाव : 'कला और सामाजिक जीवन'।

नहीं है कि अपने नाटक को रंगमंच के लिए प्रस्तुत करते समय तुम इसका ध्यान रखोगे। निस्सन्देह इससे सैद्धान्तिक विषय-वस्तु को क्षति पहुँचेगी, पर यह अनिवार्य है।...मेरी राय में सैद्धान्तिक तत्वों के लिए सजीव यथार्थ को नहीं छोड़ना चाहिए। शिलर के लिए शेक्सपीयर को भूलना नहीं चाहिए।"[१]

प्लेखानाव बड़ी दृढ़ता के साथ घोषित करता है :

"जिस प्रकार सेब के पेड़ से सेब ही पैदा होगा और नाशपाती के पेड़ से नाशपाती ही, उसी प्रकार जो भी कलाकार मध्यमवर्गीय दृष्टिकोण ग्रहण करेगा, अनिवार्यतः श्रमिक आन्दोलन के विरुद्ध हो जायगा।

"ह्रास के युगों में कला अनिवार्यतः ह्रासोन्मुख ही होगी।"[२]

फिर भी मार्क्सवाद का अनुभव है :

"यह सर्वविदित है कि कला के सर्वोच्च विकास के कुछ युगों का कोई भी स्पष्ट सम्बन्ध न तो समाज के साधारण विकास के साथ और न भौतिक आधार अथवा उसकी व्यवस्था के ढाँचे के साथ ही मालूम पड़ता है। आज के राष्ट्रों या शेक्सपीयर की भी तुलना में ग्रीक-कला का दृष्टान्त इसका साक्षी है।"[३]

इसी तरह अन्य कई उद्धरण दिये जा सकते हैं। प्लेखानाव का आग्रह मार्क्स से भिन्न है यह स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है। साहित्य-सम्बन्धी मार्क्सीय सिद्धान्तों में कौन-सा परिवर्तन आ गया है ? आग्रह का यह भेद साहित्य-दर्शन में किस अन्तर का द्योतक है ?

प्लेखानाव ने समाज के आर्थिक आधार और कला में कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित किया। वह पूछता है : "क्या यह सम्भव है और किन स्तरों पर, कि स्थिति (being) और चेतना (Consciousness) के बीच, एक ओर समाज की अर्थनीति और टेकनीक तथा दूसरी ओर उसकी कला के बीच कार्य-कारण-सम्बन्ध का निरीक्षण किया जा सके ?"[४] उसका उत्तर है : "कला का विकास उत्पादक-शक्तियों के साथ कार्य-कारण सम्बन्ध है, चाहे यह सम्बन्ध सदा सीधा (direct) हो।"[५] आदिम साम्यवाद से समाज के वर्ग-विभाजन-युग में पदार्पण करने के पश्चात् इस कार्य-कारण-सम्बन्ध में मध्यन्तर-मात्र पड़ जाता है : "कलात्मक-सृजन अनिवार्यता द्वारा सभ्य समाज में आदिम समाज से किसी दशा में कम बाधित नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि सभ्य समाज में उत्पादन-प्रणाली और टैकनीक पर कला की सीधी निर्भरता समाप्त हो जाती है।"[६]

मार्क्स-एंगेल्स समाज और साहित्य के इस सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए दूसरे शब्दों —प्रभावित, नियमित, (Determined) आबद्ध, (Bound up) आदि का प्रयोग करते हैं।

१. एंगेल्स : लासाल को पत्र, १८ मई १८५६।
२. प्लेखानाव : कला और सामाजिक जीवन।
३. मार्क्स : क्रिटीक आफ़ पोलिटिकल इकानामी की भूमिका।
४. प्लेखानाव : समाज-शास्त्रीय दृष्टि से अठारहवीं शताब्दी का फ्रेन्च साहित्य और चित्र-कला।
५. प्लेखानाव : कला और उपयोगिता।
६. प्लेखानाव : ऐतिहासिक भौतिकवाद और कला।

उनके लिए समाज सीमाएँ निर्धारित करता है, परन्तु साहित्य की हर गति का कारण नहीं बनता। "जो तथ्य", मार्क्स लिखता; "इन लेखकों को निम्न मध्यमवर्ग का प्रतिनिधि बनाता है वह यह है कि अपने मस्तिष्क में वे उन सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाते, जिनका अतिक्रमण निम्न-मध्यमवर्ग अपने जीवन में नहीं कर पाता; कि बराबर वे सैद्धान्तिक रूप से उन्हीं प्रश्नों और समाधानों की ओर दौड़ते हैं जिस ओर व्यावहारिक रूप से भौतिक स्वार्थ और सामाजिक मर्यादा उस वर्ग को ढकेलती है। साधारणतः किसी वर्ग के राजनीतिक और साहित्यिक प्रतिनिधियों और मूल वर्ग के बीच यही सम्बन्ध रहता है।"[1]

रूपक की भाषा में हम यों कह सकते हैं कि मार्क्स के अनुसार पतंग भूमि से डोर द्वारा बँधी हुई है। उसकी ऊँचाई की सीमा का निर्धारण डोर की लम्बाई करेगी। लेकिन आकाश में वह किस वेग से उड़ेगी, कैसे-कैसे चक्कर खायगी, कौन-सी अदाएँ दिखलायगी। यह सब आकाश के ऊपर हवा की गति से नियन्त्रित होगा। प्लेखानाव के अनुसार हवा के वेग द्वारा केवल इतना ही तय होगा कि पतंग की पूँछ ऊपर रहेगी या उसकी नोक। उड़ने का कारण तो डोर ही है।

इसके अतिरिक्त प्लेखानाव-मात्र इस उड़ाने वाली डोर से ही सन्तुष्ट नहीं है। उस भूमि को भी वह स्पष्टतः बता देना चाहता है, जो डोर को नियन्त्रण करती है। अतः प्लेखानाव का दावा है :

"यदि यह सही भी हो कि कला, साहित्य की भाँति, जीवन की प्रतिछाया है, तो भी यह वक्तव्य बड़ा अस्पष्ट है। यह जानने के लिए कि कला किस प्रकार जीवन को प्रतिबिम्बित करती है, जीवन की मशीनरी को समझना पड़ेगा।[2] सभ्य-समाजों में इस मशीनरी का मुख्य यन्त्र वर्ग-संघर्ष है और यदि हम केवल इस मुख्य यन्त्र की परीक्षा करें, वर्ग-संघर्ष का लेखा-जोखा रखें और उसके विभिन्न बहुमुखी पहलुओं का निरीक्षण करें, तो ही हम किसी भी प्रकार सन्तोषप्रद रूप में सभ्य-समाज के 'आध्यात्मिक' इतिहास की गुत्थी सुलझाने में समर्थ हो सकते हैं। विचारों का 'अभियान' वर्गों के इतिहास और उनके पारस्परिक संघर्षों का प्रतिबिम्ब है।"[3]

क्या मनोरम द्वन्द्वन्याय है। इसमें बस इतना और जोड़ दीजिए : जिस तरह सेब-से-सेब, नाशपाती-से-नाशपाती···आदि···उसी तरह हर साहित्यकार एक वर्ग और केवल एक वर्ग का 'हथियार' होता है। आलोचना का उत्तरदायित्व समाप्त हो गया। दूध-का-दूध और पानी-का-पानी कर दिया गया।

प्लेखानाव ने आलोचनात्मक दृष्टिकोण के वे दो भ्रामक और प्रसिद्ध विभाजन किये जो आज कम्युनिस्ट-आलोचना का अन्त बनकर रह गए हैं। 'कला-कला के लिए' अथवा 'कला समाज के लिए' लेकिन प्लेखानाव के पक्ष में इतना कहना पड़ेगा कि इस प्रश्न को एक तथाकथित समाधानहीन विरोधाभास के रूप में रखने के साथ ही उसे यह अनुभव भी हो रहा था कि यह

---

१. मार्क्स—एटीन्थ ब्रूमेट आव लूई बोनापार्ट।

२. यहाँ ध्यान देने की बात है कि इसके लिए कला की मशीनरी को समझने की आवश्यकता समझी ही नहीं गई है। यहीं से कम्युनिस्ट-आलोचना की नई शाख फूटती है।—लेखक

३. प्लेखानाव—अठारहवीं शताब्दी में फ्रेंच-साहित्य और चित्र-कला।

विरोधाभास उतना अबाधित (Categorical) नहीं है, जैसा समझा जा सकता है। इसीलिए उसने एक ओर यह कहा कि 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त कुछ अवस्थाओं में सामाजिक सड़ाँध से कवि को उबारने और इसके विरुद्ध विद्रोह करने में सहायक भी हो सकता है। दूसरी ओर उसने यह भी कहा कि हर विचार जो समाज के लिए शुभ है कला में अभिव्यक्त नहीं हो सकता। लेकिन प्लेखानाव का यह अनुभव क्षीण ही है। बाद की कम्युनिस्ट-आलोचना में प्रवृत्ति-वाद के प्रवेग ने इन कमजोर खपच्चियों को तिनकों की तरह बहा दिया; यह प्रश्न तोते की तरह रटा जाने लगा; विरोधाभास की कल्पना अधिक से-अधिक अबाधित होती गई। रेनेसांस की परम्परा की अन्तिम बूँदें भी—जो राफ़इल, शेक्सपीयर और गेटे के बीच से प्रवाहित होती आई थीं, इस मरुस्थल में आकर सूख गईं। हंगरी के विश्वविद्यालय में सौन्दर्य-शास्त्र के आचार्य लूकाक्स की कलम से निकल गया। "विशुद्ध कला का पूँजीवादी समाज की कुरूपता और चरित्रहीनता के विरुद्ध विद्रोह कभी प्रगतिशील हो सकता है, कभी प्रतिक्रियावादी, यह इस पर निर्भर करता है कि वह किसके विरुद्ध और कितनी तीव्रता के साथ व्यक्त किया गया है।"[1] इस पर कमिसार जोजेफ रेवाई ने डाटते हुए कहा : "'विशुद्ध कला' की यह 'समझ' मार्क्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र के दृष्टिकोण से प्रमाण है और 'लेखक के समाज के ऊपर खड़े होने की भ्रामक प्रवंचना' के विरुद्ध लूकाक्स के अन्य कथनों को व्यवहारतः निरर्थक बना डालती है। नहीं, यह 'हाथी दाँत के मीनारों वाला जीवन-दर्शन न कभी प्रगतिशील था और न हो सकता है। आवश्यकता इसको 'समझने' या इसके लिए बहाने खोजने की नहीं है, इसके विरुद्ध युद्ध करने की है।[2]

इस तथाकथित विरोधाभास के अबाधित बना देने में जो अहितकार दबाव वर्तमान है उसे देखते हुए ही प्लेखानाव ने गोर्की की 'माँ' की आलोचना की। उसने गोर्की का यह कहकर विरोध किया कि वह 'मार्क्सवादी विचारों का प्रचारक'-मात्र बन गया है।' उसने गोर्की को सलाह दी, "मुख्यतः संगत तर्क की भाषा में बात करना कृतिकार के लिए ठीक नहीं है, उस कृतिकार के लिए जो मुख्यतः चित्रों की भाषा में बात करता है।" प्लेखानाव का कहना था कि 'तर्क की भाषा' का स्थान आलोचना में है जिसे 'भौतिक विज्ञान की भाँति वस्तुपरक' होना चाहिए। आलोचक का कार्य-मात्र यह नहीं है कि उन लेखकों की प्रशंसा करे जो उसकी रुचि की सामाजिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति करें और उनकी निन्दा करें जो उसकी रुचि के विरुद्ध हों।

सैद्धान्तिक रूप से लेनिन और प्लेखानाव की साहित्यिक दृष्टि में बहुत अन्तर नहीं है। परन्तु धारा को जिस ओर प्लेखानाव ने मोड़ा था उसका उसी दिशा में बढ़ता हुआ प्रवाह अवश्य दिखलाई पड़ता है। लेनिन के साहित्य-सम्बन्धी कुछ थोड़े-से वक्तव्यों और लेखों में हम 'प्रति-च्छाया' वाले सिद्धान्त की सीधी अभिव्यक्ति पाते हैं। वस्तुतः प्रवृत्तिवाद के मूर्त स्वरूप का आग्रह लेनिन में है, परन्तु उसके मन में कला के साधारण, 'सार्वभौमिक' महत्त्व का आदर कम नहीं है। कमिसार जोजेफ रेवाई का कहना है : "लेनिन का 'पार्टी-साहित्य' वही वस्तु नहीं है जो एंगेल्स का 'प्रवृत्तिवादी साहित्य' है। लेनिन का कहना है कि 'साहित्यिक कार्य पूर्णत मज़दूर-कार्य का अंश बन जाना चाहिए। उसे एक बृहत् एवं समवेत सोशल डिमोक्रेटिक मशीन का पुरजा बन जाना चाहिए जिसका परिचालन समस्त मज़दूर-वर्ग का जागरूक हरा-

१. २. जोज़ेफ़ रेवाई : लूकाक्स और समाजवादी यथार्थवाद।

वल करे'···यह स्पष्ट है कि पार्टी साहित्य-सम्बन्धी लेनिन के विचार एंगेल्स के दृष्टि बिन्दु से कई क़दम आगे है।"[1]

लेकिन कमिसार रेवाई (Revai) अपने इस विद्वत्तापूर्ण लेख में इसका ज़िक्र नहीं करते कि उसी लेख[2] में लेनिन यह भी कहता है कि इस मशीन और पुरज़े की तुलना को बहुत शाब्दिक अर्थ नहीं दिया जाना चाहिए। वह तुरन्त स्पष्टीकरण करता है : "इसमें तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता कि इस विषय में अपेक्षाकृत अधिक व्यक्तिगत साहस (individual initiative) व्यक्तिगत रुचि, विचार-क्षेत्र और कल्पना, रूप-विधान और विषय-वस्तु की स्वतन्त्रता की गारन्टी अत्यन्त ही आवश्यक है।"[3] लेनिन के अनुसार सोशलिस्टों का काम मध्यवर्गीय (Bourgeois) साहित्य के विरुद्ध एक ऐसा साहित्य प्रस्तुत करना है जो 'श्रमिक वर्ग से स्पष्टतः जुड़ा हुआ' हो तथा जिसका आधार 'श्रमिकों के प्रति सहानुभूति' हो। वह आगे कहता है : हमारा यह तात्पर्य बिलकुल ही नहीं है कि किसी प्रकार की एक रूप-व्यवस्था, या समस्या का समाधान ऊपरी आदेशों द्वारा लादा जाय।"

लेकिन यह १९०५ की बात है। १९४६ में सोवियत रूस की कम्युनिस्ट-पार्टी की केन्द्रीय समिति के इस आज्ञा-पत्र पर विचार कीजिए, और दाँतों तले उँगली दबाइये :

"चूँकि जनता की कम्युनिस्ट शिक्षा के माध्यम के रूप में रंगमंच का अत्यधिक महत्त्व है इसलिए केन्द्रीय समिति कला-समिति तथा सोवियत लेखक-संघ की परिषद् को आदेश देती है कि समकालीन सोवियत-जीवन पर नाटक-रचना की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करे।"[4]

शिकायत की वजह यह थी कि सोवियत लेखकगण ऐतिहासिक नाटक बहुत लिखने लग गए थे।

स्पष्ट है कि लेनिन की कल्पना में साहित्य अभी वर्ग से पूरी तरह तादात्म्य स्थापित नहीं कर सका है, यद्यपि दोनों की दूरी बहुत-कुछ कम हो गई है। लेनिन कला की श्रेष्ठता का क़ायल था, यद्यपि उसे अपने वर्ग-हित से छुट्टी कम मिलती थी। गोर्की एक घटना का ज़िक्र करता है। लेनिन बीथोफेन का कोई संगीत सुनकर बोला : "जी तो करता है इसे प्रतिदिन सुनूँ; क्या चमत्कारपूर्ण मानवोपरि (super human) संगीत है—सोच-सोचकर गर्व से भर जाता हूँ···आदमी क्या-क्या कमाल कर सकता है।" फिर आँखें ज़रा खिंच गईं, एक उदास मुस्कराहट के साथ उसने आगे कहा : "लेकिन मैं अक्सर संगीत नहीं सुन सकता। इससे मन पर प्रभाव पड़ता है। जी चाहता है कि भोली, मीठी बातें करूँ और उन लोगों की पीठ ठोकूँ, जिन्होंने इस नरक में रहते हुए भी इतना सौन्दर्य उपजाया है। और भाई, आजकल किसी की पीठ नहीं ठोंकना चाहिए—खतरा है कि लोग कहीं तुम्हारा हाथ ही न काट खाएँ!"[5]

१. जोजेफ रेवाई : लूकाक्स और समाजवादी यथार्थवाद।
२. लेनिन—पार्टी-संगठन और पार्टी-साहित्य।
३. वही।
४. सोवियत् नाटक पर केन्द्रीय समिति का प्रस्ताव; २६ अगस्त, १९४६।
५. एडमण्ड विल्सन : मार्क्सवाद और साहित्य।

लेनिन की दृष्टि में अभी साहित्य और कला ने 'हथियार' का रूप धारण नहीं किया है। कम्युनिस्ट-पार्टी भी अभी पूरे जोर के साथ मैदान में नहीं आई है। परन्तु तात्कालिकता का आग्रह, जो बाद में चलकर कम्युनिस्ट-आलोचना का अपरिहार्य अंग हो गया, दिखलाई पड़ता है। स्पष्ट है कि लेनिन के संकेत के पश्चात् इस प्रश्न का अपने पूरे वेग से उठना अनिवार्य था। १६१७ की रूसी-क्रान्ति के पश्चात् आलोचना के क्षेत्र में इन नये सवालों की बाढ़ दिखलाई पड़ती है। मायाकोव्स्की ने जो मजदूर-संस्कृति का जबरदस्त हल्ला बोला, चारों तरफ़ छाती पीट-पीटकर क्रान्ति का रुख देखने वाली जो भीड़ उठी, उसने मार्क्सवादी आलोचना के सामने कम्युनिस्ट-पार्टी को बड़ा भारी प्रश्न-चिह्न बनाकर खड़ा कर दिया।

१६२५ में जिस व्यक्ति ने इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा की, वह ट्राट्स्की था। वह उस समय क्रान्तिकारी रूस में युद्ध-मन्त्री था। रिले के अन्तिम दौड़ने वाले की तरह हाँफता हुआ ट्राट्स्की कहता है :

"मार्क्सवादी पद्धति नई कला के विकास का मूल्यांकन करने का अवसर उपस्थित करती है, उसके समस्त स्रोतों को खोजती है, आलोचनात्मक प्रकाश द्वारा पथ को उजागर करके सर्वाधिक प्रगतिशील प्रवृत्तियों को सहायता पहुँचाती है, लेकिन इससे अधिक कुछ भी नहीं करती। कला को अपने माध्यमों द्वारा ही अपनी राह बनानी पड़ेगी। मार्क्सवादी-प्रणाली और कलात्मक प्रणाली एक ही वस्तु नहीं है। पार्टी श्रमिकवर्ग का नेतृत्व करती है, इतिहास की विशाल गति का नहीं। कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें पार्टी स्पष्टतः और आदेशात्मक ढंग से नेतृत्व करती है। कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें वह सहायता करती है और कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें वह केवल अपना नया विन्यास करती है (orientates itself)। कला का क्षेत्र वह नहीं है जिसमें पार्टी को आदेश देने की आवश्यकता हो। कला की रक्षा करना और सहायता करना पार्टी का काम है, परन्तु नेतृत्व केवल अव्यक्त रूप से ही हो सकता है।"[1]

ट्राट्स्की ने क्रान्तिकारी साहित्य को दो भागों में बाँटा। एक वह; जो स्पष्टतः क्रान्ति के विषय में, उसके आग्रह पूर्वक समर्थन में हो। दूसरा वह; जो क्रान्ति के विषय में न होकर 'क्रान्ति का साहित्य हो' अर्थात् उस व्यक्ति की साधारण भावनाओं का साहित्य हो जो; क्रान्ति के बीच से निकला है, क्रान्ति का पुत्र है। दोनों ही संक्रमण कालीन हैं। परन्तु पहला अनिवार्य रूप से 'मजदूरवर्ग की तानाशाही' का परिणाम है और उसके साथ समाप्त हो जायगा। दूसरे में ही भविष्य के बीज छिपे हुए हैं। यही आगे चलकर 'समाजवादी साहित्य' का आधार बनेगा। यह साहित्य संकुचित अर्थों में उपयोगितावादी नहीं है, यह मानवीय भावनाओं का सहज साहित्य है जो एक विशिष्ट अर्थ में गहरी, सार्थक और सम्पूर्ण हो गई हैं। मगन होकर ट्राट्स्की समाजवादी-साहित्य का सपना देखता है :

"यह नई समाजवादी कला कामेडी को जीवित करेगी, क्योंकि भावी मानव हँसना चाहेगा। वह उपन्यास को नया जीवन देगी। वह गीतों को सम्पूर्ण अधिकार प्रदान करेगी, क्योंकि नया आदमी पुराने लोगों से बेहतर और अधिक शक्तिशाली ढंग से प्यार करेगा, वह जीवन और मृत्यु के प्रश्नों पर विचार करेगा। नई कला असमस्त पुराने स्वरूपों को

१. ट्राट्स्की : 'साहित्य और क्रान्ति'।

पुनर्जीवित करेगी, जो सृजनात्मक आत्मा के विकास में प्रतिफलित हुए। उन स्वरूपों का ह्रास और पतन आत्यन्तिक नहीं है, अर्थात् यह नहीं समझना चाहिए कि वे स्वरूप नये युग की आत्मा से बिलकुल ही मेल नहीं खा सकते। नये युग के कवि के लिए कुल इतना आवश्यक है कि वह मानव-जाति के विचारों को फिर से विचारे, उसकी अनुभूतियों का फिर से अनुभव करे !"[१]

स्पष्ट प्रवृत्तिवाद और साधारण मानवीय भावना के बीच कम्युनिस्ट-आलोचना का विरोधाभास अपने क्लासिकल रूप में ट्राट्स्की के सामने आया। ट्राट्स्की थोड़ी देर हिचकिचाया, पर अन्त में उसने अपना वोट साधारण भावना के डिब्बे में छोड़ दिया; लेकिन वह उस बस में वोट डालने वाला अन्तिम व्यक्ति था।

समाजवादी यथार्थवाद के आगमन के साथ मार्क्सवादी आलोचना का तीसरा अर्थात् कम्युनिस्ट-युग प्रारम्भ होता है; जिसके फ़िक़रों, ध्वनियों, शब्दावली और गद्य से हम पूरी तरह परिचित हैं। लेनिन, ट्राट्स्की, लूनाकार्स्की और गोर्की के बाद की कम्युनिस्ट-आलोचना के इतिहास साहित्य में कम्युनिस्ट-पार्टी के अभ्युदय और सम्पूर्ण प्रभुत्व की एकस्वर कहानी है। साहित्य अब पूरे तौर से हथियार हो गया है और साहित्यकार समाज का प्रतिबिम्ब न होकर अब 'मानव आत्मा का शिल्पी' हो गया है। यह मानव आत्मा के ऊपर पच्चीकारी क्योंकर होती है ? 'समाजवादी' साहित्य के बीच से खड़े होकर साथी ज़्दानोव ट्राट्स्की की क़ब्र पर फ़ातिहा पढ़ते हैं : "सोवियत लेखकों की बड़ी भारी पाँत सोवियत शक्ति और पार्टी से घुल-मिलकर एकाकार हो गई है और उसे पार्टी-नेतृत्व, केन्द्रीय समिति की दैनन्दिन देख-रेख और सहायता तथा साथी स्तालिन का अथक सहयोग प्राप्त हो गया है।"..."कलात्मक बिम्ब की सत्यता और यथार्थता सैद्धान्तिक परिशोधन, (ideological transformation) श्रमिक जनता को समाजवाद की मनोवृत्ति में दीक्षित करने, के काम से जुड़ जानी चाहिए। इसी पद्धति को हम उपन्यास एवं साहित्यिक आलोचना में समाजवादी यथार्थवाद कहते हैं।"..."इसी कारण ऐसा है कि अपने को दीक्षित करने और अपने सैद्धान्तिक हथियारों को समाजवादी मनोवृत्ति के अनुसार समुन्नत करने का अथक परिश्रम वे अपरिहार्य शर्तें हैं जिनके बिना सोवियत लेखकगण अपने पाठकों के दिमाग को बदल नहीं सकते और इस प्रकार मानव-आत्मा के शिल्पी नहीं हो सकते।"[२]

इस सैद्धान्तिक परिशोधन का निचोड़ कमिसार रेवाई के शब्दों में यह है : "जीवन को प्रतिबिम्बित करने और श्रेष्ठ साहित्य के सम्बन्ध में कम्युनिस्ट विश्व-दर्शन, जिसके अनुसार लेखक का काम यह है कि जोश के साथ उठ खड़ा हो और हंगेरी के जीवन में कम्युनिस्ट-पार्टी के नेतृत्व में जो महान् परिवर्तन हो रहा है उसके लिए पुकारकर कहे, 'वाह ! वाह ! बहुत ठीक।' "[३]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रगतिवादियों के विषय में कहते हैं कि इनके सिद्धान्त और उद्देश्य बहुत सुन्दर हैं, लेकिन ये लोग कम्युनिस्ट-पार्टी के साथ जुड़े हुए हैं, यही जरा खटकता है।

---

१. ट्राट्स्की : 'साहित्य और क्रान्ति'।

२. ज्दानोव अखिल रूसी लेखक संघ में भाषण, १९३४।

३. जोज़ेफ रेवाई : 'लूकाक्स और समाजवादी यथार्थवाद', १९५०।

अगर ये लोग दल द्वारा परिचालित होना छोड़ दें तो सब ठीक हो जाय। निस्सन्देह अपने इस आग्रह में द्विवेदी जी व्यापक लोक-मंगल की भावना और उदार मानवतावाद से प्रेरित हैं, परन्तु हम विनम्रता पूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि वे असम्भव की माँग कर रहे हैं। कम्युनिस्ट-पार्टी ही तो प्रगतिवाद का सम्पूर्ण सिद्धान्त और उद्देश्य है। रूस की पार्टी की केन्द्रीय समिति का प्रस्ताव है : "सोवियत साहित्य की, जो संसार का सबसे प्रगतिशील साहित्य है, प्राण-शक्ति इसी-में है कि उसके लिए जनता और राज्य के हितों के अतिरिक्त न कोई उद्देश्य है और न हो सकता है।"[1] 'राज्य' का अर्थ तो स्पष्ट है। इस 'जनता' का अर्थ समझने में कोई भ्रम न हो जाय इसलिए एक बार फिर कमिसार रेवाई का स्पष्टीकरण प्रस्तुत है : "पार्टी के नेतृत्व के द्वारा ही यह सम्भव है कि जनता की माँगें, आवश्यकताएँ और आलोचनाएँ लेखकों के पास पहुँचाई जायँ; श्रमिक जनता के जीवन के अनुसार साहित्य को सज्जित कर दिया जाय, जिससे वह शताब्दियों के प्रवाह में अलग हो गया था और साहित्य को समाजवादी निर्माण और सामाजिक दीक्षा का सेवक बना दिया जाय।"[2]

एक ओर धीरे-धीरे साहित्य को प्रतिबिम्ब, फिर वर्ग का प्रतिबिम्ब, फिर मजदूरवर्ग का प्रतिबिम्ब बनाया गया; दूसरी ओर जनता को समेटकर मजदूरवर्ग, फिर मजदूरवर्ग को कम्युनिस्ट-पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी को भी पार्टी-नेतृत्व में केन्द्रित कर दिया गया। इस अप्रत्यक्ष परन्तु निश्चित परिणति को इसलिए गति और भी मिली कि इससे आलोचना का कार्य अत्यधिक सरल और लचीला हो गया, जो एक 'हथियार' के लिए आवश्यक है।

सम्भवतः इसी कारण समकालीन कम्युनिस्ट आलोचकगण प्रगतिशील साहित्य के सार्थक अन्वेषण के लिए साहित्य के विशाल इतिहास में डुबकी लगाने की आवश्यकता नहीं समझते। एक थका देने वाली एकरसता के साथ कम्युनिस्ट आलोचक लेखक के सम्मुख केवल इतना प्रश्न रखना ही पर्याप्त समझते हैं : कला कला के लिए है अथवा समाज के लिए। यह विरोधाभास कितना भ्रामक है, इसका संकेत हम पहले कर चुके हैं। लेखक स्पष्टतः यह मानता है कि कला समाज के लिए है। इसके पश्चात् आलोचना का पूरा कर्तव्य इतना ही सिद्ध करना रह जाता है कि समाज का सच्चा हित, कम्युनिस्ट-पार्टी की विजय, उसके राज्य की स्थापना और उसके आदर्शों का पालन करने में ही है। साहित्यालोचन से अधिक इन तर्कों का क्षेत्र राजनीति और राजनीति से भी अधिक अन्ध श्रद्धा और अन्ध-विश्वास के बीच है। अमरीका के कम्युनिस्ट-लेखक होवर्ड फ़ास्ट एक धार्मिक विश्वास के रूप में दुहराते हैं :

"मार्क्सवादियों का विश्वास है कि समस्त लिखित इतिहास सभ्यता के प्रभात से आज तक-वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। यह वर्ग-संघर्ष दास-सभ्यता, सामन्तवाद और पूँजीवाद की मञ्जिलों से गुज़र चुका है। अब पूँजीवाद के विरुद्ध श्रमिकों का संघर्ष समाज-वाद की स्थापना करेगा''''शोषण का अन्त हो जायगा''''मार्क्सवादियों का विश्वास है कि इस अन्तिम परिवर्तन, एंगेल्स के शब्दों में 'मानवपूर्व इतिहास की यह समाप्ति संसार के प्रत्येक देश में कम्युनिस्ट-पार्टी, मज़दूरों की पार्टी, के नेतृत्व में होगी।"[3] टोटो के अनुभव

---

१. केन्द्रीय समिति का प्रस्ताव, १४ अगस्त १९४६।

२. जोज़ेफ़ रेवाई : लूकाक्स और समाजवादी यथार्थवाद, १९५०।

३. 'साहित्य और यथार्थ' १९५०।

के पश्चात् इसमें इतना ही जोड़ना और बाकी है, "और कम्युनिस्ट-पार्टी भी वह, जिसे सोवियत यूनियन मान्यता प्रदान करे।"

पार्टी की कार्य-प्रणाली के अनुसार आलोचक पार्टी के सांस्कृतिक मोर्चे का सक्रिय कार्यकर्त्ता भी होता है। उसका कार्य है बुद्धिजीवियों में पार्टी का प्रचार। अतः कौशल (Tact) की वेदी पर उसे साहित्यिक दृष्टि का बलिदान भी करना पड़ता है। लेखक का साहित्य कुछ भी हो, किन्तु यदि वह सोवियत यूनियन का बौद्धिक अनुशासन स्वीकार करता है तो....उसे 'मित्र' लेखकों में शामिल कर लिया जायगा। यदि यह बात उसके गले नहीं उतरी तो उसे 'शत्रु' लेखक मान लिया जायगा; और जो कुछ ढुल-मुल दिखलाई पड़ा तो उसे 'सहयात्री' या 'सम्भावित सहयात्री' की कोटि में रख दिया जायगा। अब इसके बाद आलोचक का काम इतना ही है कि समझाकर, फुसलाकर, लालच देकर, धमकाकर और गाली देकर इन ढुल-मुल सहयात्रियों को गोल में शामिल करने योग्य बनाकर 'पक्का' कर दिया जाय। अगर सहयात्री-लेखक 'मार्क्सवाद' या 'पार्टी नेतृत्व' के नाम से घबराता है तो अमरीकी लेखक अलबर्ट माल्ट्ज के शब्दों में लेखक के मौलिक अधिकारों की घोषणा कीजिए "मैं गलत रास्ते पर कायम रहने का अधिकार चाहता हूँ। मैं स्पष्टतः कहता हूँ कि मैंने ऐसी कहानियाँ लिखी हैं जिनके कारण मैं कलापक्ष के विचार से और ऐसे लेख जिनके लिए मैं सैद्धान्तिक रूप से लज्जित हूँ। परन्तु उनके ऊपर यह निर्णय मेरा है और मैं यह बरदाश्त करने के लिए तैयार नहीं हूँ कि उन्हें छापने या न छापने का अधिकार किसी ऐसे दलाल के हाथ में सौंप दिया जाय जो किसी केन्द्रीय समिति का अध्यक्ष बन बैठा हो। मैं यह समझने के लिए उससे अपने को बिलकुल बराबर मानता हूँ कि मुझे किस उम्मीदवार को वोट देना चाहिए, किस संगठन का सदस्य बनना चाहिए और क्या लिखना चाहिए!"[1]

आप भ्रम से श्री अल्बर्ट माल्ट्ज को एक 'टटपुँजिया निम्न मध्यमवर्गीय बुद्धि-विलासी' न समझ बैठें। श्री अलबर्ट माल्ट्ज अमरीका के 'कम्युनिस्ट-लेखक' हैं, जिनकी कहानियाँ सोवियत यूनियन के कहानी-संग्रह में छप चुकी हैं।

साहित्य तो 'हथियार' बना ही, आलोचना तो हथियार बनी ही, अब मार्क्सवाद भी एक 'हथियार' बन गया है, जिसे अवसर देखकर निकालिए; यदि अवसर ठीक न हो तो अलग रख दीजिए और दूसरे हथियारों से काम लीजिए। उद्देश्य एक-मात्र है, 'सहयात्रियों' की तलाश और उनकी मालिश और पालिश!"

इस आपा-धापी में 'सहयात्रियों' की दशा सबसे दयनीय है। वे एक विचित्र विरोधाभास के शिकार हैं। अपनी पूरी ईमानदारी के साथ वे अपने कुछ बचे हुए विश्वासों को, जो मुख्यतः साहित्यिक विश्वास हैं, पकड़े रहते हैं और मन में कहते हैं : "मैं कम्युनिस्टों से भिन्न हूँ। मुझे अपने विश्वास प्यारे हैं, लेकिन कम्युनिस्ट-पार्टी में उदार लोगों की कमी नहीं है। ईश्वर करे इनकी शक्ति बढ़े। ये लोग मेरे प्यारे विश्वासों को मुझसे नहीं छीनेंगे मैं इसी तरह बना रहूँगा।" लेकिन वास्तविकता कुछ और ही है। सत्ता प्राप्त करने के बाद, कमिसार रेवाई की घोषणा है : "जो लोग ज़माने के साथ कदम मिलाकर नहीं चल सकते, उन्हें अपने को ही दोष देना चाहिए। हम पर यह आरोप कोई नहीं लगा सकता कि इन समस्त लम्बे वर्षों में हमने उन

१. नागरिक लेखक।

लोगों के लिए अपनी परिधि को विस्तृत नहीं किया जिन्हें हमने समझाने का प्रयास किया, अक्सर फुसलाया भी, ताकि वे अपने अतीत को भूल जायँ और 'जनता के जनतन्त्र' में शामिल हो जायँ। यह हमारा दोष नहीं है कि कोई लोगों ने ऐसा नहीं किया'''सहयोगी या सहयात्री लेखकों को खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सहयोगी या सहयात्री होना केवल एक संक्रमणकालीन स्थिति है, एक ऐसा स्थान है जहाँ वे कायम नहीं रह सकते।"

कुछ लेखक ऐसे भी हैं जिन्हें इस नये शब्द 'जनता के जनतन्त्र' के सम्बन्ध में भ्रम हो जाता है कि यह कोई नई वस्तु है। लूकाक्स को भी यही भ्रम हो गया था। इसलिए कमिसार रेवाई स्पष्ट करता है : हमारे 'जनता के जनतन्त्र' के श्रमिक वर्ग की तानाशाही में परिणत हो जाने पर आवश्यक हो गया है कि सैद्धान्तिक दृष्टि में सुधार कर लिए जायँ और कुछ पुराने और अस्पष्टविचारों का संशोधन अथवा त्याग कर दिया जाय; उदाहरणतः वे विचार अथवा प्रवृत्तियाँ जिनकी सम्मति में अपने प्रथम उल्लास में भी जनता का जनतन्त्र पूँजी-वाद और समाजवाद के बीच कोई विशेष अथवा तीसरा रास्ता है।"[1] और स्तालिन के अनुसार श्रमिकवर्ग की तानाशाही की परिभाषा यह है : "श्रमिकवर्ग की तानाशाही तभी सम्पूर्ण होती है जब वह केवल एक पार्टी, कम्युनिस्ट-पार्टी, द्वारा परिचालित हो, जो नेतृत्व में किसी दूसरी पार्टी के साथ बँटवारा न करती है और न उसे करना ही चाहिए।"[2]

तात्कालिकता के इस विशाल अभियान के बीच कुछेक ऐसे भी सिरफिरे आलोचक होते हैं जो कभी-कभी भटककर पुराने साहित्य और इतिहास की वाटिका में चले जाते हैं। यदि उसका प्रभाव उन पर पड़ गया तो फौरन 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' की छाप उन पर लग जाती है। इस 'कुत्सित समाज-शास्त्रीयता' का क्या अर्थ होता है इसे समझने के लिए ऐञ्जोल फ्लोरेस द्वारा सम्पादित 'साहित्य और मार्क्सवाद : एक सोवियत साहित्यिक वाद-विवाद' बड़ी रोचक पुस्तक है। इसमें तीन-चार प्रकार के आलोचक हैं। सभी एक-दूसरे को कुत्सित समाज-शास्त्रीय कहते हैं। प्रश्न है : 'पुराने महान् साहित्यकारों की महानता का क्या रहस्य है।' साहित्य को 'वर्ग-स्वार्थ का प्रतिबिम्ब' से लेकर 'पीड़ित मानवता की युग-युग की पुकार' तक कहा गया है। इसमें सबसे उदार 'पीड़ित मानवता की पुकार'-वादी श्री माइखेल लीफशित्स हैं और इस पुस्तक में छपे उनके चार लेखों के पश्चात् उनका निष्कर्ष यह है : "श्रमिकवर्ग की तानाशाही की तैयारी जनता के लम्बे और हठी संघर्ष द्वारा हुई है, उस संघर्ष द्वारा जिसका प्रारम्भ समाज में असमानता के द्वारा हुआ और जो समस्त इतिहास के वर्ग-संघर्ष की प्रमुख स्थापना है।"[3] साहित्य युग-युग से इसी तैयारी का प्रतिबिम्ब है। अब सारी गुत्थी सुलझ गई। अफसोस इसी बात का है कि बेचारे होमर, शेक्सपीयर, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास को अपने इस सौभाग्य की जानकारी नहीं हो सकी कि इतने मनोयोग से वे इस बीसवीं शताब्दी में कम्युनिस्ट-पार्टी के एकछत्र राज्य की तैयारी कर रहे थे।

समकालीन कम्युनिस्ट-आलोचना की एक पकड़ इसी बात में है कि वह साहस के साथ मानवता के महान् अतीत साहित्य की ओर नहीं ताक सकती। छोटे-छोटे लेख ही उसका अन्त

१. जोज़ेफ रेवाई : 'लूकाक्स और सामाजिक यथार्थवाद'।
२. वही।
३. माइखेल लीफशित्स : 'साहित्य और वर्ग-संघर्ष'।

हैं। एक भी कम्युनिस्ट-आलोचक ऐसा नहीं है जो साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास लिखने का साहस कर सके और अन्त में काडवेल और लूकाक्स की भाँति 'असंगतियों का भाण्डार', 'विरोधाभासों का कोष' अथवा 'कुत्सित समाजशास्त्रीय' बनकर न निकले। इतनी एकांगी कसौटी को लेकर सारे साहित्य को कसने के लिए दौड़ पड़ने वाले सचमुच प्रतिभाशाली समीक्षक काडवेल और लूकाक्स के आँसू पोंछने के लिए हम केवल इतना ही कह सकते हैं, "क्या करोगे भाई, दोष तुम्हारा नहीं है। दोष उस साहित्य का ही है जिससे तुम अनायास ही उलझ पड़े।"

हर्षनारायण

इतिहास की मार्क्सोत्तर व्याख्याएँ और साहित्य-दर्शन

इतिहास की प्रगति में अन्तर्लीन तत्त्वों को जीवन-दर्शन के परिप्रेक्षित में देखने का प्रथम व्यापक, गम्भीर एवं व्यवस्थित प्रयास हीगेल ने किया है। हीगेलीय इतिहास-दर्शन की विचारोत्तेजकता आज भी कम नहीं हुई है। ह्वाइटहेड ने एक बार कहा था कि यूरोप की समूची दार्शनिक परम्परा अफ़लातून पर लिखी पाद-टिप्पणियों की तालिका-मात्र है। इसी प्रकार यदि हम कहें कि यूरोप एवं अमरीका, अतः विश्व—अन्यत्र इतिहास-दर्शन है ही कहाँ!—, का समस्त इतिहास-दर्शन हीगेल पर लिखे भाष्यों की शृङ्खला-मात्र है, तो विशेष अत्युक्ति न होगी। इसके कुछ निदर्शन आगे आयँगे।

वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मार्क्सीय इतिहास-दर्शन का मूल मन्त्र समझा जाता है। अफ़लातून के निम्नांकित वाक्य में इसका बीज स्पष्ट है : "प्रत्येक सामान्य नगर, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, दो नगरों में विभक्त होता है, प्रथम निर्धनों का नगर, द्वितीय धनिकों का, जिनमें परस्पर संग्राम चलता रहता है।"

कहा जाता है कि प्राचीन रोमन लेखकों को भी वर्ग-संघर्ष का पता था, यहाँ तक कि रोम में सर्वहारा विचार-धारा के अनुरूप अनेक विचार-धाराएँ उत्पन्न हो गई थीं जिनके उद्घोष (नारे) भी वर्तमान साम्यवादियों के उद्घोषों के समान थे। सोरोकिन के अनुसार "मार्क्स-एंगेल्स के कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो का प्रसिद्ध वाक्यांश भी, कि वर्ग-युद्ध में सर्वहारा को अपनी बेड़ियों के सिवाय कुछ नहीं खोना है, एम० ऐग्रिपा और सैलस्ट की उक्तियों की आवृत्ति-मात्र है।"[1]

यूरोप के मध्य युग के उत्तरार्द्ध में, विशेषतया नवजागरण (रिनेसाँ) एवं धर्म-सुधार (रिफ़ॉर्मेशन) के समय भी यही अवस्था थी। एम्० कोवलेव्स्की के अनुसार "इस युग के किसी ऐसे लेखक को ढूँढ निकालना कठिन है, जो राजनीतिक अवस्थाओं के परिवर्तन की समस्या का निरूपण करते समय, इसका साहचर्य आर्थिक अवस्थान्तर्गत परिवर्तनों एवं एक नये आर्थिक वर्ग के प्रादुर्भाव के साथ, जिसके हित में राजनीतिक संस्था में हेर-फेर करना पड़ा हो, न प्रदर्शित करते चलता हो।"[2] अठारहवीं शताब्दी एवं उन्नीसवीं के प्रारम्भ में तो वर्गवाद के उद्भावकों की एक बाढ़-सी आ गई थी। अनेक फ्रेञ्च इतिहासकारों ने इस युग में फ्रांस का इतिहास वर्गवाद के आधार पर लिखना आरम्भ कर दिया था। सेंट साइमन-जैसे 'स्वप्नदर्शी' समाजवादियों ने साम्पत्तिक सम्बन्धों की क़ानून एवं नैतिकता पर प्रभाव की चर्चा की

---

१. सोरोकिन, कण्टेम्पोरेरी सोशियालॉजिकल थियरीज़, पृष्ठ ५१८, पाद-टिप्पणी।

२. वही, पृष्ठ ५१८।

है। उसके शिष्य बैजार्ड को बहुत कम लोग जानते हैं। उसके एवं मार्क्स के अनेक मौलिक सिद्धान्तों में अद्भुत साम्य दीख पड़ता है। बैजार्ड वर्ग-संघर्ष का पक्का हिमायती है। डीट्ज-गेन नामक जर्मन-चर्मकार (टैनर) ने तो, स्वयं एंगेल्स के कथनानुसार, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आविष्कार मार्क्स से पहले एवं हीगेल को पढ़े बिना ही कर लिया था। वस्तुतः जिस युग में मार्क्स का जन्म हुआ था वह औद्योगिक क्रान्ति का युग था, जिसमें वर्गों का पारस्परिक, सनातन संघर्ष विकराल रूप में प्रकट हुआ था। इस घोर वर्ग-संघर्ष-युक्त वास्तविकता के गर्भ से वर्गवाद का जन्म अवश्यम्भावी था। इसी वर्गवाद की पराकाष्ठा हमें मार्क्स के इतिहास-दर्शन में मिलती है। वेडीमेयर को लिखे एक पत्र में मार्क्स मुक्त कण्ठ से स्वीकार करता है कि "आधुनिक समाज में वर्गों की सत्ता एवं उनके पारस्परिक संघर्ष के आविष्कार का श्रेय मुझे नहीं है। मुझसे बहुत पहले बुर्जुआ इतिहासकारों ने वर्गों के इस युद्ध के ऐतिहासिक विकास का वर्णन किया था और बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों ने वर्गों की आर्थिक शरीर-रचना का। मैंने जो नई बात की है वह यह है कि मैंने सिद्ध किया है : (१) कि वर्गों की सत्ता उत्पादन के विकास के अन्तर्गत, विशिष्ट ऐतिहासिक सोपानों के साथ सहचरित है; (२) कि वर्ग-युद्ध अनिवार्यतः सर्वहारा की अभिनायकता की ओर ले जाता है; (३) कि यह अभिनायकता स्वयं सभी वर्गों के उन्मूलन एवं वर्ग-विहीन समाज की ओर संक्रमण की अवस्था-मात्र है.....।"

मार्क्स सबसे अधिक हीगेल का ऋणी है। हीगेल के निम्नांकित सिद्धान्त मार्क्स ने पूरी तौर पर अपनाये और उन्हें नया रूप दिया :

(१) द्वन्द्ववाद—यह कि प्रत्येक प्रकार का विकास परस्पर-विरोधी तत्त्वों के संघर्ष द्वारा निष्पन्न होता है। हीगेल के द्वन्द्ववाद का प्रयोग मार्क्स ने समाज एवं इतिहास की व्याख्या में बड़ी योग्यता से किया है।

(२) ऐतिहासिक सापेक्षवाद—यह कि क़ानून, नीति-नियम, धर्म-नियम, राज-नियम आदि विविध सांस्कृतिक संस्थाएँ एवं प्रवृत्तियाँ नित्य नहीं अपितु युगानुसारी होती हैं। वे भिन्न आर्थिक-युगों में भिन्न हो जाया करती हैं।

(३) प्रगति की धारणा—यह कि मानव-समाज का प्रत्येक युग पिछले युग की अपेक्षा प्रायः प्रगतिशील हुआ करता है। स्मरण रहे कि मार्क्स का प्रगतिवाद, हीगेल के प्रगतिवाद के प्रतिकूल, किसी प्रकार के रहस्यवाद पर आधारित नहीं है। जब कि हीगेल प्रगति का मूल एक वैकल्पिक तत्त्व में—जिसे वह विश्वात्मा, ब्रह्म, निरपेक्ष प्रत्यय आदि नामों से अभिहित करता है—ढूँढ़ता है, मार्क्स के अनुसार वह (प्रगति का मूल) मनुष्य की महत्तर, श्रेष्टतर, के प्रति उद्दाम वासना-जैसी मनोविज्ञान-सम्मत वास्तविकता में निहित है। इस तथ्य को न समझकर अनेक योग्य आलोचक भी मार्क्सीय प्रगतिवाद को हीगेलीय प्रगतिवाद के समान भाग्यवाद का प्रकार-विशेष मानने की भूल कर बैठते हैं।

(४) मानव-समाज की प्रगति आवश्यकता, परवशता, पराधीनता अथवा परतन्त्रता से निरपेक्षता, आत्मवशता, स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता की ओर होती है।

(५) मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न विभाग एवं संस्थाएँ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र नहीं, अपितु एक विशाल सम्बन्ध-सूत्र में पिरोई हुई हैं। सभ्यता इन संस्थाओं का संकलन-मात्र न होकर एक एकात्मक समष्टि है। अतः समाज-विशेष की धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षिक,

साहित्यिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि प्रवृत्तियों को समझने के लिए इन सबकी अन्तरक्रिया, प्रभाव-विनिमय-प्रक्रिया से परिचित होना परमावश्यक है। केवल-मात्र एक की जानकारी पर्याप्त नहीं है।

लेनिन के शब्दों में "मार्क्स की प्रतिभा ने उन्नीसवीं शताब्दी की मुख्य विचार-धाराओं में योग दिया एवं उन्हें पूर्ण किया। वे विचार-धाराएँ मानव-जाति के तीन समुन्नततम देशों से सम्बन्ध रखती हैं; क्लासिकल जर्मन-दर्शन, क्लासिकल अंग्रेज़ी अर्थ-शास्त्र तथा फ्रेञ्च क्रान्ति-सिद्धान्त-समन्वित फ्रेञ्च समाजवाद।"

साहित्य-दर्शन की दृष्टि से मार्क्सीय इतिहास-दर्शन के तीन सिद्धान्त बड़े महत्त्व के हैं। वे हैं—(१) सभ्यता एक समष्टि है, जिसकी अंगभूत आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक, शैक्षिक, साहित्यिक, धार्मिक आदि प्रवृत्तियों की भेद-दृष्टि समझना असम्भव है। ये सारी प्रवृत्तियाँ एक सूत्र में आबद्ध होती हैं। इसे हम सभ्यता का सर्वात्मक या समष्टिमूलक दृष्टिकोण कह सकते हैं। (२) अर्थ-व्यवस्था इस समष्टि की आधार-शिला अथवा नींव (सबस्ट्रक्चर) तथा संस्कृति—राजनीति, नीति, कला, साहित्य आदि—ऊपरी ढाँचा (सुपरस्ट्रक्चर)-मात्र है। स्पष्ट है कि नींव में परिवर्तन आने से ऊपरी ढाँचा स्वयमेव परिवर्तित हो जायगा। अतः अर्थव्यवस्थान्तर्गत परिवर्तन संस्कृति, साहित्य, कला को बरबस परिवर्तित कर देंगे। (३) वर्गवाद। इतिहास का अर्थ है एक अविच्छिन्न सामाजिक प्रवाह, जिसमें प्रायः सदा ही, वर्ग-विशेष का प्रभुत्व होता है। समाज में आर्थिक शक्ति, अतएव राजनीतिक शक्ति भी, कभी इस वर्ग के तो कभी उस वर्ग के हाथ में रहती है। इन शासक एवं शासक-वर्गों में सदा प्रत्यक्ष या परोक्ष संग्राम चलता रहता है।

उपर्युक्त सिद्धान्त-त्रय के आधार पर मार्क्स का साहित्य-दर्शन निर्मित हुआ है। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार साहित्य एवं साहित्यकार को समाज की अन्य संस्थाओं, विशेषतः अर्थ-व्यवस्था, से विच्छिन्न करके नहीं समझा जा सकता। साहित्य-सम्बन्धी यह समाजमूलक दृष्टिकोण मार्क्सवादियों के बीच भी बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त करता जा रहा है। आज समाज-शास्त्रीय आलोचना-पद्धति का महत्त्व किसी से छिपा नहीं है। कम्युनिस्ट घोषणापत्र (१८४८) के प्रकाशन के लगभग १५ वर्ष बाद एम० टेन का हिस्ट्री आफ़ इंग्लिश लिटरेचर (१८६४) प्रकाशित हुआ, जिसमें लेखक ने समाज-संस्थान से साहित्य किस प्रकार निःसृत होता है, इसका विशद विवेचन किया है। उसकी विचार-शैली का नमूना देखिए: "प्रत्येक जाति एक शरीर है।" आगे चलिए: "पुण्य और पाप को (समाज की) उपज समझना चाहिए, जैसे चीनी और तेजाब।" "मनुष्य को एक उच्च जाति का पशु समझना चाहिए, जो कविता की रचना बहुत-कुछ उसी प्रकार करता है जिस प्रकार रेशम के कीड़े रेशम के कोये का और मधुमक्खियाँ अपने छत्ते का निर्माण करती हैं।" इसके अतिरिक्त स्टीफ़ेन का 'इंग्लिश लिटरेचर एंड सोसायटी इन द एठीन्थ सेंचुरी', कोर्टहोप का 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश पोइट्री' और केर का 'फ़ार्म एंड स्टाइल इन पोइट्री' भी साहित्य को समाज की अभिव्यक्ति मानकर चलने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

यहाँ स्मरण रहे कि हीगेल और मार्क्स के समष्टिवाद में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। हीगेल की सभ्यता-समष्टि की जड़ जहाँ आत्म-सत्ता, चेतना में है वहाँ मार्क्स की सभ्यता-समष्टि की जड़ भौतिक सत्ता, जड़ अर्थ-व्यवस्था में है। इस प्रकार हीगेलीय अश्वत्थ 'ऊर्ध्वमूल' है, जबकि मार्क्सीय

अश्वत्थ 'अधोमूले'। अतः आज के समष्टिवादी साहित्य पर हीगेल का नहीं अपितु मार्क्स का ही प्रभाव समझना चाहिए। यह बात मार्क्स के उपर्युक्त द्वितीय सिद्धान्त पर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है।

आलोच्य द्वितीय सिद्धान्त के आधार पर मार्क्सवाद साहित्य को अर्थ-व्यवस्था एवं तज्जनित सामाजिक सम्बन्धों की अन्यतम अभिव्यक्ति मानता है। साहित्य अर्थ-समाज-व्यवस्था का दर्पण है, किन्तु मार्क्स इस दर्पणवाद से सन्तुष्ट नहीं है। मार्क्स के अनुसार ज्ञान निष्क्रिय नहीं बल्कि एक सक्रिय व्यापार है। ज्ञान ज्ञेय को बदल डालता है। अतः साहित्य समाज का दर्पण अथवा प्रतिबिम्ब ही नहीं अपितु उसे बदलने का एक साधन भी है।

तृतीय सिद्धान्त के अनुसार साहित्य वर्ग के हाथ में एक हथियार है। शोषकवर्ग इसका प्रयोग सदा शोषण एवं प्रतिक्रिया के हित में करता है और शोषित तथा क्रान्तिकारीवर्ग क्रान्ति एवं प्रगति के हित में। अतः साहित्य वर्ग-संघर्ष की भी अभिव्यक्ति करता है।

सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक मोर्चे पर जो वर्ग-युद्ध चलता रहता है वह सदा बोधपूर्वक या जान-बूझकर नहीं चलाया जाता। प्रायः वर्ग अनजाने प्रति-वर्ग के साथ युद्ध-रत रहते हैं। शासकवर्ग के सामान्य व्यक्तियों का सार कार्य-कलाप होता तो है उनके वर्ग के हित में, किन्तु वे प्रायः समझते रहते हैं कि वे सम्पूर्ण मानवता के हित में कार्यशील हैं। शासकवर्ग का हित साधने वाले क़ानून, रीति, नीति प्रभृति को जाने या अनजाने मानव-मात्र के लिए कल्याणकारी मान लिया जाता है। साहित्यकार इस पक्षपात को प्रायः अपनी रचनाओं में प्रतिफलित करते देखे जाते हैं। जिस प्रक्रिया से वर्ग-हित को मानव-हित होने का भ्रम उत्पन्न किया जाता है, उसे मार्क्स ने विचाराभास-परम्परा (आइडियॉलोजी) कहकर पुकारा है, जो फ्रायड के 'रैशनलाइज़ेशन' का पूर्वाभास प्रतीत होता है। इस प्रकार की भ्रान्ति यदि शासकवर्ग को होती है तो शासितवर्ग को क्यों नहीं होगी? मार्क्स इस तथ्य से इन्कार नहीं करता, किन्तु 'आइडियालोजी' के लिए वह शासकवर्ग को ही कोसता है। आज के युग में कार्ल मैनहाइम ने शासित वर्गों की 'आइडियालोजी' पर भी विशद विचार किया है। उसके अनुसार शासकवर्ग यदि 'आइडियालोजी' द्वारा वास्तविकता पर परदा डालता है तो शासितवर्ग भी स्वप्न-परम्परा (यूटोपिया) द्वारा वास्तविकता को विकृत रूप में उपस्थित करता है। सत्य वस्तुतः विचाराभास-परम्परा (आइडियॉलोजी) एवं स्वप्न-परम्परा (यूटोपिया) के बीच में निहित है।

जिस प्रकार मार्क्स का इतिहास-दर्शन उद्घाटनात्मक अथवा सूचनात्मक (पॉज़िटिव) ही नहीं वरन् विधानात्मक अथवा आदेशात्मक (नार्मेटिव) भी है—वह केवल यही नहीं बतलाता कि इतिहास किस प्रकार आगे बढ़ता है वरन् यह भी कि उसे किस प्रकार आगे बढ़ाना चाहिए या बढ़ाया जा सकता है—उसी प्रकार उसका साहित्य-दर्शन केवल यही नहीं बतलाता कि साहित्य क्या करता है, वरन् यह भी कि उसे क्या करना चाहिए। इतिहास एवं साहित्य-विषयक यह दृष्टिकोण मार्क्सवाद की अपनी विशेषता है।

बीसवीं शताब्दी के इतिहास-दर्शनों में सांस्कृतिक चक्रवाद (साइक्लिसिज़्म) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। सांस्कृतिक चक्रवाद के प्रथम दर्शन हमें मार्क्स के समकालीन निकोलाई दैनिलेव्स्की में होते हैं। स्पेंग्लर, ट्वायनबी, शुबार्ट, बरदयाईव, नारथ्रॉप क्रोएबर, श्वेज़र तथा सोरोकिन ने इस पर अनेक बृहत्काय ग्रन्थ लिखे हैं। चक्रवाद अपने मूल रूप में एक बहुत पुरानी विचार-

धारा है। प्राचीन संस्कृतियों, विशेषतः चीन, मिस्र तथा बेबिलोनिया में, यह खूब प्रचलित था। हिन्दू-धर्म में यह सिद्धान्त युगों की कल्पना के रूप में अब भी जीवित है। अफलातून, अरस्तू, इब्न खल्दून तथा वाइको में भी इसके बीज मिल जाते हैं।

चक्रवाद के अनुसार मानव-जाति एक महाजाति है, जो संस्कृतियों अथवा सभ्यताओं रूपी उपजातियों में विभक्त है। यह विभाग दैशिक तथा कालिक द्विविध है। अर्थात् सभ्यताओं में सहस्थिति तथा पूर्वापर-क्रम दोनों प्रकार के सम्बन्ध देखने को मिलते हैं। प्रत्येक सभ्यता एक सजीव प्राणी के समान जन्म लेती, संवर्द्धित होती, परिपक्व होती एवं मृत्यु को प्राप्त होती है। मानव-जाति का कोई एक अन्त अथवा गन्तव्य नहीं जिसे प्राप्त करने के हेतु समूची जाति सक्रिय है। चक्रवाद ने रेखाकार प्रगतिवाद का डटकर विरोध किया है। रेखाकार-प्रगतिवाद का अर्थ है एक निश्चित गन्तव्य स्थान की प्राप्ति की चेष्टा में उत्तरोत्तर सफलता की कल्पना। आधुनिक चक्रवाद के पूर्व, सत्रहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक, रेखाकार प्रगतिवाद का ही बोल-बाला था। कुछ विचारकों ने प्रगति को सरल-रेखाकार, तो कुछ ने वक्र-रेखाकार, और अन्यों ने प्रगति के मार्ग को चक्करदार कल्पित किया था। इन सबके अनुसार विकास-प्रक्रिया एक निश्चित गन्तव्य की ओर अग्रसर हो रही है। हर्डर और काण्ट के अनुसार विकास की गति हिंसा से शान्ति की ओर, हेगेल के अनुसार परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर, काण्ट (Counte) के अनुसार पौराणिकता से विज्ञान की ओर, हर्बर्ट स्पेंसर के अनुसार सरलता से जटिलता की ओर तथा बकिल के अनुसार भौतिकता से मानसिकता की ओर, होती है। कार्लमार्क्स भी तत्त्वतः रेखाकार प्रगतिवादी ही है। उसके अनुसार मानव-जाति-मात्र का विकास आदिम साम्यवाद से वर्ग-विहीन एवं राज्य-विहीन वैज्ञानिक साम्यवाद की ओर होता है।

जहाँ मार्क्सवाद एवं अन्य रेखाकार-प्रगतिवादी मानव-समाज-मात्र को एक (यूनिटी) मानकर इतिहास की व्याख्या करते हैं वहाँ चक्रवादी विश्व-इतिहास, मानव-समाज का इतिहास-जैसी कल्पना को क्लिष्ट कल्पना-मात्र समझते हैं। उदाहरणार्थ ट्वायनबी का कहना है कि इतिहास की इकाई राष्ट्र या युग नहीं अपितु विभिन्न 'समाज' या 'सभ्यताएँ' हैं। सार्वभौम सभ्यता-जैसी कोई चीज नहीं। हमें 'सभ्यता' का इतिहास नहीं बल्कि 'सभ्यताओं' का इतिहास लिखना चाहिए। मार्क्स ने 'मनुष्य' की निरपेक्ष कल्पना की खिल्ली उड़ाई थी। उसके अनुसार वर्गात्मक-समाज का मनुष्य वर्ग-मनुष्य होकर रह गया है। स्पेंगलर भी इसी भाँति 'मानव-जाति'-जैसी कल्पना को भ्रान्त मानता है। वह लिखता है : "'मानव-जाति' का कोई उद्देश्य नहीं, कोई विचार नहीं, कोई योजना नहीं....'मानव-जाति' एक पशु-भेद-विद्या-सम्बन्धी पद है, अथवा एक अर्थशून्य शब्द।....यहाँ संस्कृतियाँ, राष्ट्र, भाषाएँ, सिद्धान्त, देवता हैं....परन्तु मानवता....नहीं।"

सभी सांस्कृतिक चक्रवादी इस बात पर सहमत हैं कि अब यूरोपीय सभ्यता का अन्त हो रहा है और एक नई एवं सर्वथा भिन्न सभ्यता का उदय होने जा रहा है। देनिलेव्स्की, स्पेंगलर, ट्वायनबी, शुबार्ट, बरदमाईव तथा सोरोकिन का मत है कि आगामी सभ्यता मुख्यतया धर्म एवं अध्यात्म पर आधारित होगी। देनीलेव्स्की, स्पेंग्लर, एवं शुबार्ट के अनुसार इस नई सभ्यता का प्रादुर्भाव यूरेशिया तथा रूस में, स्लाव जातियों के बीच, तथा सोरोकिन के अनुसार प्रशान्त-सागरीय प्रदेश में होगा। सोरोकिन की यह भी धारणा है कि इस बार अमरीका, भारत, चीन, जापान तथा रूस इस सभ्यता के वाहन होंगे।

सभी चक्रवादी मानते हैं—और मार्क्स का भी बहुत-कुछ यही मत है—कि प्रत्येक समाज अथवा सभ्यता अपने विनाश का बीज अपने भीतर रखती है !

क्रोएबर एवं सोरोकिन ने बड़ी योग्यता से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि समाज में सृजन-शक्ति का स्फुरण सर्वप्रथम धर्म में, तब राजनीति एवं साहित्य-जैसे अभौतिक स्तर पर, बहुत बाद में विज्ञान एवं उत्पादन के साधनों में, तथा और भी बाद में व्यापार में, होता है। यह सिद्धान्त मार्क्स एवं ऑगबर्न के सिद्धान्तों के, कि सृजन-शक्ति की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम आर्थिक-भौतिक तल पर होती है, सर्वथा विपरीत है।

हमारा प्रतिपाद्य विषय साहित्य है। अतः हमें चक्रवाद की ऐतिहासिक, सामाजिक एवं दार्शनिक गहराइयों में उतरने का अवकाश नहीं है। हम चक्रवादियों के केवल साहित्य एवं साहित्य-दर्शन-सम्बन्धी विचारों तक ही अपनी समीक्षा को सीमित रखेंगे।

हीगेल के अनुसार प्रत्येक युग की एक आत्मा होती है जो तत्कालीन संस्कृति के प्रत्येक विभाग में अभिव्यक्त एवं प्रतिफलित होती है। वह कहता है कि राष्ट्र का धर्म, उसका शासन-तन्त्र, उसका नीति-शास्त्र, उसका क़ानून, विज्ञान, कला तथा उसका उद्योग—सभीमें राष्ट्र की आत्मा का दर्शन किया जा सकता है। इस तत्त्व-ज्ञान के महत्त्व को मार्क्स ने पहचाना एवं उसे अधिक बुद्धिसंगत रूप में प्रस्तुत किया। चक्रवादियों को भी यह सिद्धान्त मान्य है। उनका कथन है कि प्रत्येक संस्कृति अथवा सांस्कृतिक संस्थान का दर्शन, विज्ञान, कला तथा साहित्य अपना होता है। स्पेंग्लर कहता है: "सत्य एक विशिष्ट मानवता की अपेक्षा से ही सत्य हुआ करता है।" स्पेंग्लर यह भी कहता है कि गणित, कला, धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान-सम्बन्धी धारणा एक नहीं, बल्कि जितनी संस्कृतियाँ हैं उतनी। यही हाल साहित्य का भी है। यदि मार्क्स के अनुसार प्रत्येक साहित्य वर्ग-साहित्य है तो स्पेंग्लर के अनुसार प्रत्येक साहित्य संस्कृति-विशेष का साहित्य है। यह है साहित्यिक सापेक्षवाद। सर्वसम्मत गणित, सर्वसम्मत विज्ञान, सर्वसम्मत साहित्य-शास्त्र, सभी कल्पना-मात्र हैं।

स्पेंग्लर की 'संस्कृति' जीर्ण एवं प्रस्तरीभूत होकर 'सभ्यता' बन जाती है। 'सभ्यता' का मनुष्य, जो अपनी जीवनी-शक्ति वस्तुतः खो चुका होता है, जीने की लालसा छोड़कर माता के गर्भ अथवा क़ब्र के अन्धकार में लुप्त हो जाने की आकांक्षा से प्रेरित दिखाई देता है। यही आकांक्षा कभी-कभी विविध प्रकार के रहस्यवादों एवं यौगिक साधनाओं के रूप में प्रस्फुटित होती है। रोम-साम्राज्य के पतन-काल में ऐसा ही हुआ था। इस रहस्यवादी लहर को स्पेंग्लर 'द्वितीय धार्मिकता का जादू' कहकर पुकारता है। अतः रहस्यवादी एवं वैराग्यवादी साहित्य की बाढ़ संस्कृति के मरणासन्न होने का लक्षण है। भारत में बौद्ध-संस्कृति के विनाश के समय सिद्धों, तान्त्रिकों, मायावादियों एवं वैरागियों की जो बाढ़ आ गई थी वह कुछ इसी प्रकार का लक्षण प्रतीत होती है। हमारा सन्त-साहित्य भी तो किसी समुन्नत एवं सशक्त समाज में नहीं उत्पन्न हुआ।

स्पेंग्लर कहता है कि मरणोन्मुख संस्कृति अथवा सभ्यता की कलाएँ परिमाणात्मक, पारिभाषिक, अनुकरणात्मक, आवृत्त्यात्म एवं प्रस्तरीभूत हो जाती हैं। पाश्चात्य ललित कला का आज यही हाल है। स्पेंग्लर लिखता है : "हम सभी प्रदर्शिनियों, संगीत-समाजों एवं नाटक-मंडलियों में जाते हैं और पाते हैं केवल मेहनती मोची एवं हुल्लड़बाज़ जाहिल, जो बाज़ार

के लिए कुछ भी तैयार करके गद्‌गद हो जाते हैं।" साहित्य के किसी भी अंग को ले लीजिये। यूरोपीय कविता नीरस, शुष्क एव बोझिल होती जा रही है। टी० एस० इलियट की वेस्ट लैंड पर टीकाओं की संख्या के साथ-साथ उसके अर्थ के विषय में मत-भेद भी बढ़ता जा रहा है। उसमें लगभग छः विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है और सारी कविता प्रत्यक्ष एवं परोक्ष उद्धरणों एवं संकेतों के भार से दबी जा रही है। उसमें वह भावात्मक अकृत्रिमता कहाँ है जो हमें बरबस तन्मय करके छोड़ दे ?

भिन्न संस्कृतियों के साहित्य भिन्न कैसे हो जाते हैं, इसका निदर्शन कराते हुए स्पेंग्लर यूनानी नाटक एवं अंग्रेजी नाटक की तुलना करता है और कहता है: "पश्चिम का नाटक चरित्र-नाटक है। यूनानियों का······परिस्थिति-नाटक···। इतिहासातीत आत्मा की वासना क्षण-विशेष पर केन्द्रित क्लासिकल ट्रैजेडी की उद्‌भावना करती है और अति-ऐतिहासिक आत्मा हमारे समक्ष पाश्चात्य ट्रैजेडी लाती है जिसका विषय होता है, सम्पूर्ण जीवन का विकास।" स्पेंग्लर यूनानी संस्कृति की आत्मा को इतिहासातीत एवं यूरोपीय संस्कृति की आत्मा को अति-ऐतिहासिक मानता है। जब कि क्लासिकल (यूनानी) ट्रेजेडी का प्रतिपाद्य विषय सत्ता (बीइंग) है, पाश्चात्य (यूरोपीय) ट्रेजेडी का विषम है प्रवाह (बिकमिंग), क्योंकि यूनानी संस्कृति की आत्मा सत्ता अथवा स्थिति-मूलक है और यूरोपीय संस्कृति प्रवाह अथवा गति-मूलक। किंग-लियर का जीवन भीतर-ही-भीतर एक भयानक विपत्ति की ओर क्रमशः अग्रसर होता है, किन्तु यूनानी ओडियस अकस्मात् ठोकर खा जाता है, जिसका हमें पहले से कोई संकेत नहीं था। कहने का तात्पर्य यह कि यूरोपीय संस्कृति में विकास की धारणा मुख्य वस्तु है और इस धारणा का यूनानी संस्कृति में प्रायः अभाव है। यही धारणा दोनों संस्कृतियों के नाटकों को भिन्न करती है। यूरोपीय ट्रेजेडी इसी कारण चरितात्मक (बायोग्राफ़िकल) है और यूनानी ट्रेजेडी घटनात्मक (ऐनिकडोटल)। अर्थात् प्रथम सम्पूर्ण जीवन की समीक्षा करती है जब कि द्वितीय क्षण-भर की घटना अथवा घटनाओं की। प्रथम द्वारा वर्णित घटनाएँ जहाँ एक विकासमान जीवन की अभिव्यक्ति करती हैं वहाँ द्वितीय द्वारा वर्णित-घटनाएँ अपने में पूर्ण होती हैं।

स्पेंग्लर का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह दैव (डेस्टिनी), आत्मा-जैसी रहस्यात्मक सत्ताओं के आधार पर ही संस्कृतियों के उद्‌भव, विकास, परिपाक एवं अन्त की व्याख्या करता है। उसकी योजना में पुरुषार्थ के लिए प्रायः कोई स्थान नहीं है। यह आक्षेप क्रोएबर और सोरोकिन के अतिरिक्त थोड़ा-बहुत सभी चक्रवादियों पर लागू होता है। चक्रवाद क्रान्ति की धारणा से सर्वथा शून्य है। अतएव साहित्य द्वारा हम समाज में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने की बात नहीं सोच सकते। समाज की युवावस्था का साहित्य प्रौढ़ एवं जरावस्था का जीर्ण होने को बाध्य है। हाँ, ट्वायनबी ने इस दोष का निवारण करने की कुछ चेष्टा की है। उसके अनुसार नई संस्कृतियों की प्राण-प्रतिष्ठा का श्रेय 'सृजनात्मक अल्पसंख्यक समुदाय' (क्रिएटिव माइनॉरिटी) को है। अतः उसकी योजना में साहित्य द्वारा नवसंस्कृति के निर्माण की कुछ गुंजायश है। जो हो, उसने इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने की चेष्टा नहीं की है। स्पेंग्लर ने भी महापुरुषों एवं उनके महान् कार्यों का उल्लेख किया है। किन्तु उसके महापुरुष दैव के हाथ में एक हथियार-मात्र हैं। मार्क्स ने तो महापुरुषों की उत्पत्ति में आकस्मिकता को स्थान भी दिया है, अर्थात् उसके महापुरुष समाज एवं वर्ग से कभी-कभी अप्रभावित अथवा भिन्न-प्रकृति

वाले भी होते हैं; किन्तु स्पेंग्लर के महापुरुष अपनी संस्कृति के साँचे में अच्छी तरह ढले हुए होते हैं; संस्कृत की आत्मा के विरुद्ध नहीं जा सकते।

स्पेंग्लर एवं अन्य चक्रवादियों का दूसरा बड़ा दोष यह है कि वे संस्कृति को जीवित प्राणी मानकर चलते हैं। संस्कृति की तुलना शरीर से अवश्य की जा सकती है, किन्तु दोनों में एक बहुत बड़ा भेद है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मनुष्य का शरीर चेतना द्वारा नियन्त्रित एवं संचालित होता है, किन्तु समाज-शरीर में कोई केन्द्रीय चेतना है ही नहीं। समाज की प्रत्येक इकाई (व्यक्ति) में तो चेतना है और समाज के संचालन में उन चेतनाओं का बहुत बड़ा हाथ होता है, किन्तु वे व्यक्तिगत चेतनाएँ किसी महाचेतना के शासन में नहीं हैं। सिडनी हुक ने इस आधार पर समाज-शरीर की तुलना वनस्पति-शरीर से की है, जो अधिक समीचीन प्रतीत होती है। वनस्पति में भी अनेक जीवाणु होते हैं, किन्तु किसी केन्द्रीय चेतना का पता नहीं। इस प्रकार चक्रवादियों ने जो समाज के विकास, पतन एवं अन्त के अपौरुषेय होने का दावा किया है भ्रम-मात्र है।

स्पेंग्लर के अनुसार बुद्धिवाद, सुखवाद, उद्योगवाद, विश्लेषणात्मक दर्शन, ग्राम्यत्व सर्वसाधारण में विश्वास आदि संस्कृति के पतन के द्योतक हैं। किन्तु गुप्त-युग में इनमें से कई लक्षण वर्तमान थे, तथापि वह युग भारतीय संस्कृति का स्वर्ण-युग माना जाता है।

कला एवं साहित्य-दर्शन की दृष्टि से इतिहास की सौन्दर्यवादी व्याख्याएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। सौन्दर्यवादी इतिहास-दर्शन की परम्परा मार्क्स के भी पहले से चली आती है; और उसका महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है। वह चक्रवादी-परम्परा की ही एक शाखा प्रतीत होती है। सौन्दर्यवादी व्याख्याकारों में लिजेटी अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह कहता है कि संस्कृति की बाल्यावस्था में वास्तु-कला, परिपक्वावस्था में मूर्ति-कला एवं जीर्णावस्था में चित्र-कला का बोल-बाला होता है। कलाओं का यह क्रम निरपवाद है। अतएव यूरोप के मध्यकाल में वास्तु-कला, नवजागरण-काल में मूर्ति-कला तथा आधुनिक काल में चित्र-कला का प्राधान्य देखने को मिलता है। इसी प्रकार अत्यन्त प्राचीन संस्कृतियाँ (जैसे मिस्र) वास्तु-कला-प्रधान, बाद की संस्कृतियाँ (जैसे यूनान और रोम) मूर्ति-कला-प्रधान तथा आधुनिक संस्कृतियाँ (जैसे यूरोप) चित्र-कला-प्रधान होती हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक संस्कृति में सौ सवा सौ वर्ष की अवधि के ऐसे युग भी देखने को मिलते हैं जिनमें कलाओं का चक्र उपर्युक्त क्रम से चलता पाया जाता है। लिजेटी के अनुसार पाश्चात्य संस्कृति में ऐसे सात युग आ चुके हैं।

योग्य आलोचकों का कहना है कि लिजेटी द्वारा प्रदर्शित क्रम इतिहास से पुष्ट नहीं होता। मिस्र, भारत, चीन, जापान, इटली, इंग्लैंड और रोम में साहित्य का उद्भव एवं विकास सारी कलाओं, यहाँ तक कि वास्तु-कला से भी पहले हो गया था। यूनान में भी संगीत एवं साहित्य का स्थान प्रथम है। इसी प्रकार क्रम-भंग के और भी अनेक निदर्शन दिये गए हैं।

सौन्दर्यवादियों पर हीगेल के सौन्दर्य-सिद्धान्त की बड़ी गहरी छाप प्रतीत होती है। हीगेल कला के विकास को महाप्रत्यय अथवा विश्वात्मा की अभिव्यक्ति का प्रकार-विशेष मानता है। इस अभिव्यक्ति-प्रक्रिया के तीन सोपान हैं : प्रतीकात्मक, क्लासिकल और रोमानी। प्रतीकात्मक अवस्था में प्रत्यय, चित्, पर जड़-तत्त्व, प्रकृति का आधिपत्य होता है और प्रत्यय को सम्यक्‌रूपेण इन्द्रियगोचर होने का कोई मार्ग नहीं सूझता। क्लासिकल अवस्था में प्रत्यय जड़-तत्त्व में एक

प्रकार का सन्तुलन होता है : किसी एक का दूसरे पर अधिकार नहीं होता और रोमानी अवस्था में जड़माध्यम पर प्रत्यय की पूर्ण विजय हो जाती है। हीगेल कहता है कि प्रतीकात्मक सोपान का प्रतिनिधित्व करती है वास्तु-कला, क्लासिकल सोपान का मूर्ति-कला और रोमानी सोपान का चित्र-कला, संगीत और काव्य। हीगेल के अनुसार पौरस्त्य-कला प्रायः प्रतीकात्मक है, यूनान और रोम की कला प्रायः क्लासिकल और केवल आधुनिक यूरोप की कला रोमानी सोपान पर है। पाठक देखेंगे कि हीगेल यहाँ कोरी कल्पना से काम ले रहा है। प्रागैतिहासिक भारत की काव्य-परम्परा की व्याख्या करने में हीगेल का सिद्धान्त अकिंचित्कर प्रमाणित होता है।

लिजेटी ने बड़े विस्तार से यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि कला एवं संस्कृति के अन्य पक्षों के बीच अन्योन्य सम्बन्ध (कोरिलेशन) है। उसके अनुसार कला तथा संस्कृति का बैरोमीटर (वायु-भारमापक यन्त्र) है। उदाहरणार्थ वह कहता है कि वास्तु-कलात्मक अवस्था में संस्कृति में एक प्रकार की ताजगी रहती है। सामूहिकता की ओर झुकाव इस अवस्था की विशेषता है। चित्रकलात्मक अवस्था में संस्कृति पतनोन्मुख होती है। इसमें स्त्रैणता, व्यक्तिवादिता एवं इन्द्रियपरायणता आ जाती है। इसी प्रकार प्रथम अवस्था में कर्मठता, आदर्शवादिता, श्रद्धा-वादिता, धार्मिकता, कृषि, हस्त-कला, आध्यात्मिकता आदि लक्षण पाए जाते हैं; जब कि द्वितीय अवस्था में भोगवादिता, उपयोगितावादिता, बुद्धिवादिता, वैज्ञानिकता, वाणिज्य, मशीन, एवं भौतिकता का साम्राज्य हो जाता है। मूर्तिकलात्मक अवस्था में इन द्विविध प्रवृत्तियों का समन्वय देखने को मिलता है।

विक्टर ह्यूगो अपने 'क्रामनेल' के आमुख में कहता है कि प्रत्येक जाति का साहित्य तीन क्रमिक अवस्थाओं से गुजरता है : प्रगीतात्मक, वीरगाथात्मक एवं नाटकीय।

"कविता की तीन अवस्थाएँ होती हैं और प्रत्येक अवस्था समाज के एक नियत युग के अनुरूप होती है। आदिम युग प्रगीतात्मक होते हैं, प्राचीन युग वीरगाथात्मक, जब कि आधुनिक युग नाटकीय है। ओड अनन्तता का गान करती है, वीर-काव्य इतिहास का समारोह करता है, नाटक जीवन का चित्र खींचता है......।"

ह्यूगो के अनुसार बाइबिल प्रगीतात्मक है, होमर वीरगाथात्मक और शेक्सपीयर नाटकीय।

सोरोकिन के इतिहास-दर्शन में सौन्दर्यवादी व्याख्या का बहुत बड़ा स्थान है। सोरोकिन का मत है कि समस्त कलाएँ चार वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—(१) प्रत्यक्षवादी (सेंसेट) कला, जो प्रत्यक्ष, इन्द्रियगोचर, विषयों का चयन करती है, जैसे युद्ध आलिंगन, चुम्बन इत्यादि। इसकी शैली-प्रकृतवादी या यथार्थवादी होती है और इसका प्रयोजन है ऐंद्रिक आनन्द प्राप्त कराना। (२) परोक्षवादी अथवा परलोकवादी (आइडियेशनल) कला, जो अतीन्द्रिय एवं विज्ञाना-तीत सत्ताओं को विषय बनाती है, जैसे ईश्वर-राज्य, देवता, मोक्ष आदि। इसकी शैली प्रतीका-त्मक होती है और इसका प्रयोजन होता है मनुष्य को परोक्ष सत्ताओं का साक्षात्कार कराना। (३) अध्यात्मवादी (आइडियलिस्टिक) कला, जो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष के बीच की अवस्था से सम्बन्ध रखती है। यह लोक से विमुख न होकर लोक में ही परलोक की अवतारणा करके लोक को पूर्ण करने की चेष्टा करती है। जीवन का उन्नयन, उदात्तीकरण एवं रूपान्तरण ही इसका लक्ष्य है। (४) समाहारात्मक (एक्लेक्टिक) अनेकीकृत (अनिटीग्रेटेड) कला—यह उपर्युक्त त्रिविध कलाओं की खिचड़ी है।

हिन्दू-प्राचीन मिस्री अथवा चीनी कला परोक्ष-परलोक-प्रधान और क्रीट-मिनोआ और क्रीट-मिसीनिया की कलाएँ प्रत्यक्ष-प्रधान रही हैं। इसी प्रकार यूनान में नवीं से छठी शताब्दी ई० पू० के बीच की कला परोक्ष-प्रधान रही, किन्तु पाँचवीं और चौथी शताब्दी ई० पू० की कला अध्यात्म-प्रधान हो गई। इसी प्रकार पाँचवीं से बारहवीं शताब्दी ई० तक यूरोप में परोक्ष-वादी कला फलती-फूलती रही; तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में उसका रूप अध्यात्मवादी हो गया और १५वीं से २०वीं शताब्दी ई० के बीच प्रत्यक्षवादी कला का जोर हुआ। अब इस प्रत्यक्षवादी कला का अन्त हो रहा है और आज यूरोपीय कला समाहारात्मक हुई जा रही है। आधुनिकतावाद, भविष्यवाद, अति-यथार्थवाद (सुर्रियलिज़्म) आदि इसके उदाहरण हैं।

इन चार कोटि की कलाओं के अनुरूप चार प्रकार के व्यक्तित्व, चार प्रकार के समाज एवं चार प्रकार की संस्कृतियाँ होती हैं। प्रत्यक्षवादी कला का विकास एवं परिपाक प्रत्यक्षवादी संस्कृति में ही सम्भव है, परोक्षवादी कला का परोक्षवादी एवं अध्यात्मवादी कला का अध्यात्म-वादी संस्कृति में। कलागत परिवर्तन सदा सांस्कृतिक परिवर्तन के अनुगामी होते हैं। प्रत्येक प्रकार की कला का उद्भव, विकास, परिवर्तन एवं पतन उसकी आधारभूत संस्कृति, समाज एवं व्यक्तित्व के उद्भव, विकास, परिवर्तन एवं पतन का अनुसरण करता है।

मार्क्सोत्तर इतिहास-दर्शनों की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वे संस्कृतियों के परिवर्तन की कोई युक्तिसंगत व्याख्या नहीं दे पाते। 'आत्मा' इत्यादि की बात करना तो सरल है किन्तु उसे सिद्ध करना कठिन। और परिवर्तन की व्याख्या ही वस्तुतः इतिहास की व्याख्या है। चक्रवादी भूल जाते हैं कि संस्कृतियों एवं सांस्कृतिक-प्रवृत्तियों का वर्गीकरण कर देने-मात्र से उनकी व्याख्या नहीं हो जाती। इतिहास की प्रगति में कला एवं साहित्य की भूमिका का भी निरूपण करने में चक्रवादी प्रायः मार्क्स से पिछड़े जान पड़ते हैं। उसका भी कारण यही है कि जहाँ मार्क्सवाद परिवर्तनों की व्याख्या एवं उन्हें मनुष्य के नियन्त्रण में लाने की चेष्टा करता है वहाँ चक्रवादी अपनी सारी प्रतिभा रहस्यवादी ऊहापोह एवं वर्गीकरण के नये-नये सूत्र गढ़ने में व्यय कर देते हैं। अंतः मार्क्स जहाँ साहित्य से हथियार का काम लेने की योजना बनाता है वहाँ चक्रवादी इसे सांस्कृतिक प्रगति का निष्क्रिय माप-मात्र समझकर बस कर देते हैं।

हमने उपर्युक्त विवरण में मैक्स वेबर, क्रोचे और बर्ट्रेंड रसेल-जैसे इतिहास के व्याख्या-कारों का उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि साहित्य की दृष्टि से उनके सिद्धान्तों का विशेष मूल्य नहीं।

राजनारायण बिसारिया

प्रतीकवाद की स्थापना

: १ :

'प्रतीकवाद' फ्रेञ्च-कविता-धारा की वह लहर है जो १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में फ्रांस में प्रवहमान हुई और वहाँ के तत्कालीन साहित्य के सभी अंगों-उपांगों एवं कला के सभी क्षेत्रों को आप्लावित करती हुई यूरोप के अन्य देशों तथा अमरीका तक अपना प्रभाव छोड़ गई। प्रतीकवादी फ्रेञ्च कवियों[1] ने इसे 'वाद' के रूप में उठाया था परन्तु जर्मन रिल्के, रूसी ब्लोक, आयरिश यीट्स, अमरीकन हृत्थार्न तथा ह्विटमैन और इंग्लैण्ड के इलियट आदि ने इसे प्रभाव के रूप में ग्रहण किया। इनमें यीट्स तो पूरा प्रतीकवादी बना, परन्तु वह भी अपने कवितागत सिद्धान्तों में वैभिन्न्य ले आया। शेष ने प्रतीकवाद की विभिन्न प्रवृत्तियों को विविध रूपों में अपनाया। इस वैविध्य के कारण ही इनको 'प्रतीकवादोत्तर निकायों' (Post-symbolist schools) का कवि माना गया, प्रतीकवादी धारा का नहीं।

पिछले दिनों 'प्रतीकवाद' की विशेष चर्चा हिन्दी में भी हुई है। हिन्दी की नई कविता के सम्बन्ध में यदि 'प्रतीकवाद', 'बिम्बवाद' आदि से इन्हीं अर्थों में केवल प्रभाव ग्रहण करने की बात कही गई होती तो सम्भव है वह कथन कुछ हद तक ठीक भी होता, परन्तु बात इतनी ही नहीं है। बहुधा खुले शब्दों में यह आरोप लगाया गया है कि अस्वास्थ्यकर तथा पतनोन्मुख प्रतीकवादी विचार-धारा को हिन्दी-साहित्य में स्थापित करने की चेष्टा की जा रही है :

"प्रयोगशीलता की ओट में 'अज्ञेय' 'प्रतीकवादी' विचार-धारा को साहित्य में प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करते रहे हैं।...उनकी कविता प्रतीकवादी है।...यद्यपि वादों से ऊपर सिद्ध करने के लिए वह अपने को 'प्रयोगशील', किसी मंजिल तक पहुँचे हुए, या किसी राह के राही नहीं बल्कि 'राहों के अन्वेषी' ही घोषित करते हैं, जिससे प्रतीकवाद 'प्रयोग-शीलता' के छद्म वेश में तरुण प्रतिभाओं को आकर्षक और ग्राह्य लगे। इसलिए अज्ञेय के हाथ में पड़कर 'प्रयोग' सत्य को अभिव्यक्ति देने या 'जानने' (?) का साधन नहीं रहा, बल्कि उसे छैरवाद कहने का साधन बनता गया है और उनकी देखा-देखी या उनसे प्रभावित होकर प्रतीकवाद की शैली को अपनाने वाले अन्य तरुण तथा प्रगतिशील चेतना के कवियों के लिए भी वह पाठकों तक पहुँचने के मार्ग में एक बाधा बन गया है।"[2]

---

१. कुछ प्रसिद्ध कवि बोदलेयर (Baudelaire), वर्लेन (Verlaine), मलार्मे (Mellarme), रिम्बोद (Rimbaud), एरी द रेन्ये (Henri de Regnier), वर्हेरेन (Verhaeren), गस्ताव कान (Gustave kahn), क्लोदल (Claudel), प्रूस्त (Proust), और वालेरी (Valery)।

२. 'आलोचना' अंक २ : सम्पादकीय।

हिन्दी-कविता पर फ्रेञ्च प्रतीकवाद का प्रभाव पड़ा है या नहीं? यह प्रस्तुत समस्या हमारे सामने नहीं है, किन्तु इस सन्दर्भ में प्रतीकवादी साहित्य-सिद्धान्त का अध्ययन अनिवार्य है।

: २ :

प्रतीकवाद की विषय-वस्तु, सौन्दर्य-बोध एवं काव्यगत मान्यताओं को समझने के लिए हम उनके क्रम-विकासपूर्ण इतिहास की ओर नहीं वरन् उनकी भाव-भूमियों एवं सिद्धान्त-धारणाओं की ओर विशेष ध्यान देंगे। भाव-भूमियों पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि तत्सामयिक सामाजिक चेतना के स्तरों को परख लिया जाय।

सामाजिक पृष्ठभूमि

फ्रांस में सन् १८७० में, कतिपय दुर्घटनाओं के बीच, 'तीसरे रिपब्लिक' की स्थापना के साथ सच्ची प्रजातन्त्रात्मक पद्धति की अवतारणा हुई और फलस्वरूप शिक्षा का व्यापक तथा निःशुल्क प्रसार हुआ।

परन्तु जर्मनी के आक्रमण और नेपोलियन तृतीय की कायरता के कारण जो नैराश्य और दुश्चिन्ताएँ पहले से फैली हुई थीं, यह नवीन जागरण उन्हें जड़ से न हटा सका। इस काल में समाज स्पष्टतया दो वर्गों में बँट गया था। एक ओर तो वह अभिजातवर्ग था, जो अपने हितों के लिए धर्म की अफ़ीम का जादू चलाना चाहता था और दूसरी ओर था वह विस्तृत जन-समाज, जो कि नये जागरण के आलोक में पुरोहितवाद (Clericalism) एवं उसकी विकृतियों को पहचानने लगा था। नये जनतन्त्र ने जो स्कूल खुलवाये थे उनके अध्यापक और अध्येता दोनों ही बुर्जुआ-वर्ग और पौरोहित्य के विरुद्ध सचेत हो रहे थे। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अभिजात-वर्ग ने अपने बच्चों के लिए अलग से उच्च स्तर के धार्मिक स्कूल (Lcoles libres) खुलवाए। परिणाम यह हुआ कि इन धार्मिक स्कूलों के छात्रों और जनतन्त्रवादी अध्यापकों द्वारा शिक्षित छात्रों में विशेष अन्तर आ गया। धार्मिक स्कूलों के छात्र अपने प्रभावों से फ्रांसीसी सेना के उच्च पदों पर नियुक्त तो हो गए, परन्तु सामान्य सैनिकों एवं जन-समाज के विश्वास-पात्र न बन सके। इसका दुष्परिणाम तत्कालीन जर्मन-आक्रमणों में स्पष्ट हुआ। आपसी वैमनस्य की यह भावना प्रथम महायुद्ध में कुछ दबी-दबी-सी थी। तब न्याय पर लोगों को विश्वास था। परन्तु 'स्ताविस्की-कुकृत्यों' (Stavisky scandals) के बाद यह विश्वास भी उठ गया और द्वितीय महायुद्ध में यह आन्तरिक द्वेष और भी स्पष्ट रूप में सामने आया।

इस प्रकार अनेक आन्तरिक कलुषों में निमज्जित फ्रांस की जन-चेतना आलोच्य-काल में दोराहे पर खड़ी थी—एक ओर था जनतन्त्रवाद, दूसरी ओर पुरोहितवाद। राजनीति के जनतन्त्र-वाद और पुरोहितवाद साहित्यिक साँचे में ढलते-ढलते 'प्रकृतवाद' और 'प्रतीकवाद' में रूपान्तरित हुए; रूपान्तरकार थे—ज़ोला तथा मलार्मे। ज़ोला ने साहित्य में भौतिक विज्ञान को ढाला और मलार्मे ने सौन्दर्य-शास्त्र की प्रतिष्ठा की। एक ओर स्थूल, यथार्थवादी, प्रकृतवादी प्रवृत्तियां सचेष्ट हुईं और दूसरी ओर सूक्ष्मतापरक, आदर्शवादी, प्रकृतवाद-विरोधी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ।

भाव-भूमि

प्रकृतवाद और प्रतीकवाद एक-दूसरे के विरोध में तो उठे ही, परन्तु एक विशिष्ट अन्तर

इन दोनों के उद्भव में रहा। अपने जन्म के लिए प्रकृतवाद अपनी ही मिट्टी का ऋणी है। वह आगस्त क्रॉम्त (August Comte), लित्रे (Littre), तेन (Taine) और रनें (Renan) जैसे लेखकों-आलोचकों का स्वाभाविक विकास है। इतना ही नहीं, तत्कालीन शरीर-विज्ञान तथा मनोविश्लेषण-सम्बन्धी नये अनुसन्धानों, विकासवाद के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापनाओं, भौतिक विज्ञान के नव-नव अन्वेषणों और कुछ अंशतः कतिपय इतिहासकारों की नवीन शोधों ने प्रकृतवाद की प्रवृत्ति के पोषण में यथेष्ट योग भी दिया। परन्तु प्रतीकवाद ने स्वरूप-निर्माण के बहुत-कुछ उपकरण फ्रांस के बाहर से बटोरे। इस धारा की भाव-भूमि को १९वीं सदी के प्रथम चरण के जर्मनी के आदर्शोन्मुख दर्शन ने मुख्यतया अनुप्राणित किया। प्रेरणा के मूल-स्रोत थे—कान्त, फिश्ते, शेलिंग, हीगेल और शापेनहावर।

फ्रांस में जर्मनी के आध्यात्मिक दर्शन का सर्वप्रथम प्रवेश विक्टर कज़िन (Victor Cousin) के लेखों (१८१६-१९) और उसके (Fragmens Philosophiques) नामक ग्रन्थ से हुआ। उसके बाद कान्त से लेकर हीगेल तक की चिन्तन-धाराओं का रुचि के साथ पठन-पाठन आरम्भ हुआ। जर्मन आदर्शवाद में कुछ ऐसा जादू था कि वह केवल दर्शन के छात्रों तक ही सीमित न रहकर जन-मन पर भी छा गया। वैग्नर और शापेनहावर मुख्य विषय बने। तत्कालीन नैराश्यपूर्ण संशयों ने शापेनहावर की इच्छा-शक्ति (Will)-सम्बन्धी चिन्तन को आत्मसात् कर लिया।

प्रतीकवाद को उसके यथार्थवाद-विरोधी आन्दोलन में जो सबसे बड़ा सहायक मिला वह था 'रहस्यवाद'। रहस्यवाद का सम्बन्ध आध्यात्मिक तथा पारलौकिक चिन्तन से है, अतः वह अबौद्धिक ही नहीं बौद्धिकता-विरोधी भी होता है। प्रकृतवाद ने यथानुरूप निदर्शन को ही मुख्य विषय बनाने के कारण; कवियों और कलाकारों की व्यक्तिगत संवेदनाओं को उभरने तथा विकसित होने का कोई अवसर नहीं दिया। व्यक्तिपरक कवियों के मनस कक्ष में सजने-सँवरने वाली अद्भुत कल्पनाओं के लिए प्रकृतवाद में कोई स्थान न था। प्रकृतवाद की इस कमजोरी ने रहस्य-वृत्ति को अपने विरोध में सहज ही ला खड़ा किया। रहस्य-वृत्ति की सार्थकता सिद्ध करने के लिए ऑरलियाक (Orliac) ने उसकी एक लम्बी परम्परा फ्रेन्च-साहित्य में गिनाई और शाताब्रियाँ (Chateaubriand) तथा लामेर्तीन (Lamartine) से लेकर बाल्ज़ाक (Balzak) तक को इसमें सम्मिलित कर लिया।[1] प्रसिद्ध आलोचक वाइज़वा (Teodor de Wy zewa) ने एक पत्रिका में ऐसी रचनाओं की सूची प्रकाशित की जो रहस्योन्मुख थीं और इस प्रकार रहस्यवाद की बढ़ती हुई सफलता सिद्ध की।[2]

यद्यपि प्रतीकवाद ने अपने स्वरूप-निर्माण के लिए यथेष्ट बाह्य प्रभावों को ग्रहण किया, परन्तु तत्कालीन 'पारनेशनिज्म' (Parnassianism) तथा यथार्थवाद (Realism) के प्रति प्रतिक्रिया ही उसके उद्गम का मूल कारण थी। 'पारनेशन' धारा के गातिया, लेकांत, तथा हेरदिया केवल ऐतिहासिक वृत्त और प्रकृत रूपों को यथावत् व्यक्त करने में प्रवृत्त थे। कविता की ये प्रवृत्तियाँ वस्तुपरक, नैराश्यपूर्ण, संशयात्मक तथा कल्पना-विरोधी थीं। इस सम्बन्ध में मलार्मे का कथन है कि : "पारनेशन कवि विषय-वस्तु को उसके यथार्थ रूप में ग्रहण करते

१. रहस्य-वृत्ति-प्रधान अन्य फ्रेन्च कवि।
२. पत्रिका।

हैं और उसी रूप में हमारे सामने प्रस्तुत कर देते हैं। इस प्रकार उनमें रहस्य-वृत्ति का अभाव रहता है। रहस्य के कारण विषय-वस्तु को समझने के प्रयत्न में धीरे-धीरे विश्वास करने का जो सम्मोहक आनन्द हमें प्राप्त होता, उससे हमारा मस्तिष्क वंचित रह जाता है। कविता का आनन्द तभी मिलता है जब कि हमें सन्तोष हो कि हम उसकी वस्तु का थोड़ा-थोड़ा करके अनुमान लगा रहे हैं, परन्तु स्पष्टतया कथन कर देने से कविता का तीन चौथाई आनन्द नष्ट हो जाता है। हमारी मनस्-चेतना को वही प्रिय है जो संकेत करता हो, सचेत करता हो।"

और प्रतीकवादी वस्तुतः संकेत करते थे, अभिव्यक्त नहीं; जिज्ञासाओं को सचेत करते थे, शान्त नहीं।

अंग्रेज़ी प्रभाव

बाद के रूप में फ्रेञ्च प्रतीकवाद का उद्भव बोदलेयर से माना जाता है, परन्तु शैली के रूप में इसके प्रथम दर्शन हमें वीये (Villiers de l' Isle Adam) की 'Axel' नामक कृति में होते हैं। बोदलेयर ने पो (Edgar Allan Poe) को खोज लिया था; यह प्रतीकवादी धारा के प्रारम्भिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। १८४७ में ही वह पो का अध्ययन कर चुका था और १८५२ में उसने पो की कहानियों का अनुवाद भी किया था। वर्लैं इंग्लैंड में रहा था। इंग्लिश अच्छी तरह जानता था। मलार्मे फ्रेञ्च स्कूलों में अंग्रेजी का अध्यापक था। इस प्रकार प्रतीकवाद के प्रवर्त्तकों ने किसी-न-किसी रूप में अंग्रेजी-प्रभाव भी ग्रहण किये। १८६२-६४ में मलार्मे स्वयं केवल पो की भाषा को समझ सकने के लिए लन्दन गया था। प्रतीकवाद पर पो के 'सौन्दर्यवाद' का प्रभाव स्पष्ट है!

यद्यपि सैंत ब्युव (Sainte Beuve) के समान असाधारण व्यक्तित्व वाला कोई सत्-समालोचक प्रतीकवाद को नहीं मिला, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रतीकवादियों ने अपने सिद्धान्तों की अवतारणाओं और उनके प्रचार में कोई कमी उठा रखी हो। प्रतीकवादी साहित्य का सर्वाधिक सृजन १८८५ तथा १८९२ के बीच के ७ वर्षों के अल्प काल में हुआ। इस काल में लगभग १०० पत्र-पत्रिकाएँ पेरिस से प्रकाशित होती थीं। दुजार्दें (Edourd Dugardin) वाइज़वा (Teodor de Wy zwa), गूर्मों (Remy de Gourmont) आदि आलोचकों के अतिरिक्त; बोदलेयर तथा मलार्मे-जैसे कवि काव्य मूल्यों के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं की नियोजना करते थे। परन्तु प्रतीकवादी धारा की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसके कवियों ने जो लिखा है वह उससे भिन्न है जो कि वह लिखना चाहते थे अथवा जिसके कि सिद्धान्तों का वे प्रचार किया करते थे। इस धारा के कवियों के बीच यदि कोई जोड़ने वाली कड़ी है तो वह बस यही कि वे अपनी कविताओं में प्रतीकों की योजना पर बल देते थे। पर इस प्रतीक-योजना की विविध शैलियाँ कवियों ने अपनाईं और अपनी शैली के समर्थन में विभिन्न धारणाएँ स्थापित कीं।

इस प्रकार इनके सिद्धान्त आन्तरिक वैभिन्न्य और अन्तर्विरोधों से भरे हुए हैं। फिर भी महत्त्वपूर्ण सामान्य प्रवृत्तियों की विवेचना के लिए हमें इन बे-मेल तथा परस्पर-विरोधी धारणाओं को एक ही लड़ी में अनुस्यूत करना होगा।

काव्यगत सिद्धान्त और समीक्षा की मान्यताएँ

कुछ प्रतीकवादियों के अनुसार ऐसे सभी भाव, जो हमारे हृदय में उठते हैं, प्रत्येक अनुभव,

जो कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के माध्यम से हमें मिलते हैं; और प्रत्येक क्षण, जो कि हमारी मनस-चेतना को एक विशिष्ट तरंग में झंकृत कर जाते हैं, एक-दूसरे से सटे रहकर भी इतने विलग, इतने अछूते, इतने गतिशील और इतने अग्राह्य होते हैं कि न तो हमारी अभिव्यक्ति उन्हें यथावत् पकड़ पाती है और न स्मरण-शक्ति ही उनके वास्तविक स्वरूप को सहेजकर रख पाती है। प्रत्येक कलाकार अपने इन अनुभवों को अपने दृष्टिकोण की विशिष्टता से देखता है और अपनी रुझान के अनुरूप अभिव्यक्ति में रङ्ग-प्रकाश की नियोजना करता है।

परन्तु बोदलेयर के मत से अभिव्यक्ति की यह क्रिया इतनी त्वरित होती है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति दो क्रियाएँ न होकर एक ही प्रक्रिया के दो रूप बन जाते हैं यह प्रक्रिया स्वयं में इतनी अखण्ड है कि काव्य के अन्तर्गत विषय-वस्तु और रूप-तत्त्व-जैसे विभेद किये ही नहीं जा सकते।

व्यक्ति के वैभिन्न्य के साथ ही अनुभूतियों, संवेदनाओं और अनुभवों में अन्तर होता है और इसीलिए अभिव्यक्ति-कौशल की कोटियों में भी एक सामान्य भाषा इतनी विभिन्नताओं का भार कैसे वहन कर सकती है? अतः स्वभावतया प्रत्येक कवि को अपने विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यंजना के लिए नये मार्गों का अनुसन्धान, नये शैली-शिल्प की अवतारणा, नये बिम्बों की योजना और नये प्रतीकों का विधान करना पड़ता है। परन्तु अनुभूत-विषय फिर भी इतने अग्राह्य, अनुपम और अकथनीय होते हैं कि उनका संकेत-मात्र किया जा सकता है, स्पष्टतया कथन नहीं किया जा सकता; केवल वे व्यंजित हो सकते हैं, अभिव्यक्त नहीं। प्रतीकवादी कवियों ने भाषा की इस असमर्थता को समझा और उसे शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए एक दूसरा मार्ग खोज निकाला। जिस प्रकार लय, गति और ताल की सूक्ष्म लहरों पर संगीत तैरता है उसी प्रकार उन्होंने ध्वनि-संकेत तथा बिम्ब-संकेत के सहारे अपनी अभिव्यक्ति को अनुभूत संवेदना के सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर रोमांचों (Sensation) का वाहक बना दिया। मलार्मे की समस्त कल्पना-सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु था 'रोमांच', और इसे वह सर्वोपरि मानता था। बोदलेयर ने जिस प्रकार 'अनुविधायकत्व' (Correspondences) को महत्त्वपूर्ण ठहराया था उसी प्रकार मलार्मे तथा प्रूस्त ने 'रोमांच' के आगे बाह्य एवं अन्तर्जगत् के बोध (Perception), बौद्धिकता (Intellect) तथा भावना (Feeling) का पूर्ण बहिष्कार किया। प्रतीकवादी कवियों ने 'ध्वनि' (Sound) और 'सुगन्धि' (Perfume) की अजीब-अजीब धारणाएँ प्रवर्तित कीं। अन्तर्मन की यादगारें, ध्वनियाँ-प्रतिध्वनियाँ, सूक्ष्मतम तरंगें (vibrations) और रहस्यपूर्ण संकेत ही कविता की विषय-वस्तु बने। फ्रेञ्च प्रतीकवाद ने इस प्रकार अन्धकार और प्रकाश की मध्यस्थ साँझ की तरह 'अर्द्ध-प्रकाश' (Half-Lights) की धारा बहाई और तत्कालीन आलोचकों ने अस्पष्टता को काव्य का एक गुण मान लिया।

सृष्टि के सम्बन्ध में प्रतीकवादियों के विचार अद्भुत थे। वे यह मानते थे कि गोचर-जगत् वास्तविक सृष्टि नहीं है, उसका मिथ्या-रूप (Distortion) है। वास्तविक सृष्टि अलौकिक और शाश्वत है। यदि अलौकिक सृष्टि के गीत गाये जायँ तो अभिव्यक्ति को अनिवार्यतः रहस्यमय होना चाहिए और यदि गोचर-जगत् का कथन करना हो तो हम केवल उसके मिथ्या रूप को ही अभिव्यक्त कर सकते हैं। अतः वस्तु-जगत् से अनुप्रेरित रचनाओं में केवल दुर्बलताओं, नैराश्यपूर्ण विभ्रमों, गुनाहों तथा कुत्सित चेष्टाओं का वर्णन ही प्रतीकवादियों ने अधिक किया।

वस्तु-जगत् की कमियों और दरारों को इन कवियों ने अलौकिक सृष्टि के प्रवेश-द्वार के रूप में देखा। प्रकृतवादी भी दरारें देखते थे, परन्तु वे इनको भर देना चाहते थे, किसी दूरस्थ लोक का सोपान नहीं बनाना चाहते थे।

वैग्नर से प्रभाव ग्रहण करके प्रतीकवादियों ने संगीत पर बल दिया परन्तु कविता को उससे अधिक उत्कृष्ट ठहराया। संगीत में ध्वनि प्रधान होती है, कविता में शब्द; ध्वनि निरर्थक होती है, शब्द सार्थक। कविता सार्थक शब्द-योजना द्वारा हमारी समस्त "इन्द्रिय-चेतना' को जगाती है। हम उसे केवल पढ़ते (रूप) अथवा सुनते (शब्द) ही नहीं वरन् उसके सुरुचिपूर्ण सौन्दर्य-बोध (रस) से, भाव-वीथियों को सुरभित कर देने वाली सूक्ष्म उद्भावनाओं (गन्ध) से, और अन्तर्मन के तार-तार झंकृत कर देने वाली प्रेषणीयता (स्पर्श) से निरन्तर स्पन्दित होते रहते हैं। ऐसी कविता में और भी निखार ले आने के लिए प्रतीकवादियों ने मुक्त-वृत में रचना करने के बावजूद भी उसे संगीतात्मकता से अभिषिक्त किया।

मलार्मे प्रतीकवादी धारा का एक अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि था। कविता के सम्बन्ध में उसकी निजी मान्यताएँ थीं। यह बात दूसरी है कि वह जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता था उन्हें स्वयं चरितार्थ न करता था, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने समकालीन एवं पश्चात्वर्ती कवियों पर इतना गहरा और व्यापक प्रभाव शायद ही संसार के किसी अन्य साहित्यकार ने डाला हो। प्रतीकवाद का आकलन इस रहस्यमय कवि तथा चिन्तक के सिद्धान्तों की चर्चा किये बिना अधूरा ही रह जायगा।

मंगलवार की हर शाम को पेरिस के 'रोम-मार्ग' में अपने कक्ष के शान्त तथा धार्मिक-जैसे वातावरण में मलार्मे धीमी और संगीतमय आवाज में प्रश्न रूप में प्रतीकवादी सिद्धान्तों का उपदेश देता था। तत्कालीन साहित्यिक प्रतिभाओं में शायद ही कोई ऐसा अभागा हो जो उस गोष्ठी में सम्मिलित न होता हो। अपने और संसार के बीच में व्यवधान बनाए रखने के लिए वह सिगरेट का धुआँ उड़ाया करता था, उसकी पत्नी विनाई करती थी और बेटी अतिथियों की अगवानी। गोष्ठी में आये सभी अतिथि मन्त्र-मुग्ध होकर मलार्मे के रहस्यमय कथनों की गहराई तक उतरने का प्रयास किया करते थे। विशेषता यह थी कि यद्यपि वे मलार्मे द्वारा पढ़ाये गए पाठों को भूल जाते थे परन्तु उस वातावरण के अजीब-से अनुभवों को याद रखते थे और यही उनकी अन्तर्प्रेरणा के लिए पर्याप्त था।

मलार्मे न तो 'क्लासिकल' कविता से ही किसी प्रकार प्रभावित था और न 'रोमांटिक' से। इसीलिए उसने क्लासिकल कविता की 'बौद्धिकता' और रोमांटिक कविता की 'भावना' दोनों का तिरस्कार करके इन्द्रिय-चेतना पर बल दिया और 'रोमांच' को ही सर्वोपरि ठहराया। उसने सिद्ध किया कि कविता में प्रयुक्त 'शब्द' 'रोमांच' के प्रतीक हैं। ये रोमांच उस अकथनीय सत्य के प्रतीक हैं जिसका कि हम अनुभव-मात्र कर सकते हैं।

प्रतीक की व्याख्या करते हुए मलार्मे कहा करता था कि जो बोधगम्य हो वह और चाहे जो-कुछ हो 'प्रतीक' नहीं है। सम्भवतः इसीलिए मलार्मे की अधिकांश रचनाएँ दुर्बोध हैं, अगम्य हैं। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या दुरूहता जान-बूझकर प्रतीकवादियों द्वारा लाई जाती थीं अथवा स्वतः उद्भूत होती थी। मलार्मे में इसका उत्तर हमें यही मिलता है कि इस दुरूहता का कुछ भाग तो अवश्य ही जान-बूझकर लाया जाता था। वह कविता में

रहस्य एवं अन्य विशिष्ट वृत्तियों के साथ दुर्बोधता को भी निश्चित 'पैटर्न' में बुन दिया करता था। रहस्यात्मकता और दुरूहता का साथ सदैव रहा करता है। मलार्मे रहस्य-वृत्ति का उपयोग साधन के रूप में करता था।

प्रतीकवादी आलोचक मोरेआज ने सर्वप्रथम १८ सितम्बर, १८८६ को 'फिगरो' नामक पत्र में प्रतीकवादी धारा के उदय की घोषणा की थी। वह इस ओर भी प्रयत्नशील रहा कि 'डिकेडेण्ट' और प्रतीकवाद साहित्य में पार्थक्य बना रहे। अनातोल बुज के पत्र ने, जो वर्लें की छाया में चल रहा था, यह भेद बनाए रखा। परन्तु यह भेद अधिक दिनों तक नहीं रहा। छन्द और प्रतीक-विधान में वैविध्य होने पर भी विषय-वस्तु में दोनों धाराएँ एक हो गईं और दोनों ही स्वप्न तथा संगीत की पार्श्व-भूमि पर प्रवाहित हुईं। मोरेआज प्रतीकवादी धारा के साथ सदैव नहीं रहा। अन्तिम क्षणों में वह क्लासिकल धारा की ओर लौट गया और छन्द-शास्त्र के पुराने रूपों को अपनाया।

व्यक्ति-दर्शन

प्रतीकवाद के सिद्धान्त तथा उसकी धारणाओं पर दृष्टि-निक्षेप कर लेने के बाद यह संगत होगा कि हम संक्षेप में कुछ प्रतीकवादी कवियों के व्यक्तित्व को भी परख लें।

वर्लें अपने वस्तु-तत्त्व में अप्राकृतिक, अधार्मिक, स्वप्निल, अस्वास्थ्यकर एवं अति-वैयक्तिक प्रवृत्तियों को लाकर भी धार्मिक था और धार्मिक होने के बावजूद भी अनैतिक, कुत्सित, एवं घृणास्पद व्यक्तित्व का भार ढोता था। उसकी जिन्दगी के वृत्त में केवल इतनी चीजें थीं—शराब, कविता, धर्म, दुष्टता, जेल और अस्पताल। रिम्बॉद ने वर्लें द्वारा दिये गए पूर्व आघातों का प्रतिकार करने के लिए उसे बड़ी निर्दयता से मार-पीटकर एक गड्ढे में छोड़ दिया था। चोर और डाकुओं के सरदार कवि फ्रेंको विलों की चरित्र-गाथा यहाँ आकर धुँधली पड़ गई थी। प्रतीकवादी कवियों के व्यक्ति का एक छोर यह हुआ और दूसरे छोर में मलार्मे-जैसे साधक, चिन्तक और अंशतः धार्मिक कवि आते हैं। धर्म की प्रवृत्ति अधिकतर कवियों में हमें मिलती है। पॉल क्लदेल १८८६ में केथोलिक हुआ, वर्लें १८७४ में जेल में, और पेगुई तथा ल्यों ब्लॉय बाद में केथोलिक हुए। प्रूस्त और वेलेरी पर धर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु बर्गसाँ मलार्मे का हमराही था, उसने नये धर्म का भी प्रवर्त्तन किया।

प्रतीकवाद की देन

(१) शैली तथा व्यंजना-सम्बन्धी नवीन प्रयोग करके कविता को रूढ़ि ग्रस्त प्रकारों से उन्मुक्त किया।

(२) परम्पराबद्ध छन्द 'अलेक्जेन्द्रा', जो कि क्लासिकल दुःखान्त काव्य में विशेष रूप से अपनाया गया था, अपनी निश्चित मात्राओं के कारण नवीन उद्‌भावनाओं को अभिव्यक्ति देने में अशक्त था। सबसे पहले प्रतीकवादियों ने ही उसकी निश्चित मात्रा की रूढ़ि को समाप्त किया।

(३) अतुकान्त तथा मुक्त छन्द की अवतारणा की।

(४) कविता और संगीत में सामंजस्य स्थापित किया।

(५) साहित्य को राजनीति द्वारा ग्रसित होने से बचाये रखा।

(६) सौन्दर्यवाद की प्रतिष्ठा की।

प्रतीकवाद के प्रभाव का क्षितिज अत्यन्त व्यापक है उसके अन्तर्गत यीट्स, जेम्स, जेम्स ज्वायस, गर्ट्रून स्टीन, प्रूस्त, वेलेरी, रिल्के, ह्विटमैन, अलेग्जेण्डर ब्लोक, सैंडबर्ग और इलियट-जैसी विविध निकायों की प्रतिमाएँ आ जाती हैं।

: ३ :

प्रतीकवाद का उदय यथार्थवाद एवं प्रकृतिवाद के विरोध में हुआ, उसने हीगेल तथा शापेनहावर का जीवन-दर्शन ग्रहण किया और रहस्य-वृत्ति एवं अस्पष्टता को कविता का अनिवार्य गुण माना। बोदलेयर ने विषय-वस्तु और रूप-तत्त्व में विभेद न रखकर उसे एक अखण्ड क्रिया माना। मलार्मे ने शब्द-संकेत पर बल देकर अभिव्यक्ति-पक्ष की महत्ता प्रतिपादित की। बुद्धि (Intellect) और भावना (Feeling) का बहिष्कार करके 'रोमांच' (Sensation) को सब-कुछ माना गया और 'ध्वनि' (Sound) तथा 'सुगन्धि' (Perfume) की सूक्ष्मतम गहराइयों को मापा गया। छन्द के नियम भंग हुए, मुक्त-वृत्त लाये गए और संगीत को अपनाया गया। यद्यपि प्रतीकवाद के 'प्रतिपादक' कवियों ने रहस्यमय, न्यूरोटिक, अस्वास्थ्यकर एवं अति-वैयक्तिक प्रवृत्ति को अपनाया, परन्तु प्रतीकवाद से 'प्रभावित' कवियों ने प्रतीकों की नई शैली अपनाकर अपनी स्वस्थ रचनाओं को नये आलोकों में दीप्तिमान किया। संक्षेप में प्रतीकवाद के यही आयाम (Dimensions) हैं।

अब हम विचार करेंगे कि हिन्दी के नये कवियों पर प्रतीकवाद के अस्वस्थ तथा रोगी-पक्ष को अपनी कविता में पुनरुज्जीवित करने का जो आरोप लगाया गया है वह कहाँ तक समीचीन है।

शिवदानसिंह चौहान द्वारा लिखित 'आलोचना' के पूर्वोद्धृत सम्पादकीय में स्पष्टतः दो आरोप हैं—

(क) 'अज्ञेय' की कविता प्रतीकवादी है।

(ख) प्रतीकवाद 'प्रयोगवाद' के छद्म वेश में आ रहा है।

(क) मनोविज्ञान में 'स्वप्न-प्रतीक' (Dream-symbol) का जो फ्रायडियन सिद्धान्त है उससे साहित्य की प्रतीकवादी धारा का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। 'स्वप्न-प्रतीक' के सिद्धान्तों के सहारे हम किसी भी कवि के अवचेतन मन के स्तरों को खोल सकते हैं और उसकी मानसिक ग्रन्थियों की निधि को उसकी रचनाओं में यत्र-तत्र खोज सकते हैं। जो कवि या कला-कार यौन कुण्ठाओं से आक्रान्त होता है उसके छवि-संकेतों एवं प्रतीक-विधान में वैसी आहट मिल जाया करती है। परन्तु इन प्रतीकों के आधार पर हम उस कवि अथवा कलाकार को साहित्य की विशिष्ट प्रतीकवादी धारा का कवि या कलाकार मानने-जैसी भूल कदापि नहीं कर सकते। दुर्भाग्यवश अज्ञेय के साथ यही हुआ है। 'तार सप्तक : प्रथम भाग' में उन्होंने अपने निम्न सिद्धान्त व्यक्त किये हैं :

"...आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन-प्रतीकार्थ रखते हैं।"[1]

१. पृष्ठ ७६।

निश्चय ही उनके इन सिद्धान्तों में फ्रायड का स्वर है। अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में उन्होंने अपनी 'सावन-मेघ'-शीर्षक कविता का उदाहरण दिया है, जो यौन-प्रतीकों से परिपूर्ण है।

अपने सिद्धान्तों में, अपनी 'सावन-मेघ' रचना में और वैसी ही अन्य रचनाओं में अज्ञेय स्पष्टतया फ्रायडवादी हैं। जिन यौन-प्रतीकों की चर्चा और अवतारणा उन्होंने की है, वे मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं, प्रतीकवादी धारा से नहीं। 'स्वप्न-प्रतीक' और प्रतीकवादी धारा के अन्तर को न समझकर अज्ञेय की कविता को फ्रायडवादी न कहकर प्रतीकवादी कहने की जो भूल की गई है वह शिवदानसिंह चौहान-जैसे जागरूक समीक्षक से अपेक्षित न थी।

इन यौन-प्रतीक-प्रधान रचनाओं के अतिरिक्त अज्ञेय की जो अन्य रचनाएँ हमारे सामने आती हैं वे भी प्रतीकवादी नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि विषय-वस्तु के दृष्टिकोण से अज्ञेय टी० एस० इलियट के अधिक निकट हैं, बोद्लेयर या मलार्मे के नहीं। फ्रेञ्च कवियों-जैसी रहस्य-वृत्ति, धार्मिकता, संगीतात्मकता, 'रोमांच' का मोह और अलौकिक सौन्दर्य-सृष्टि का आग्रह अज्ञेय में नहीं है। बोद्लेयर और मलार्मे दोनों ने ही बुद्धि (Intellect) का तिरस्कार किया था, इसके विपरीत इलियट के बिम्ब-विधान (Imagery) में बौद्धिकता का स्वर प्रमुख है और यही बात अज्ञेय के साथ भी है।

प्रतीकवादी कवियों और अज्ञेय में यदि कोई सम्बन्ध है तो वह यह कि दोनों ने नये प्रतीकों की योजना पर बल दिया है, नये उपमान ढूँढ़ने की बात कही है। परन्तु फ्रेञ्च कवियों के प्रतीक-सम्बन्धी सिद्धान्त रहस्यों, अन्तर्विरोधों और अस्पष्टताओं से भरे थे, 'अज्ञेय' में यह बात नहीं है। नये उपमानों के बारे में उनकी दलील इस प्रकार है :

"अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद् के भोर की नीहार न्हायी कुँई,
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गए हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है
.........अगर मैं यह कहूँ—
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा में कलगी छरहरे बाजरे की ?
(क्यों तुम नहीं पहचान पाओगी)" (अज्ञेय)

और निश्चय ही 'बिछली घास' तथा 'छरहरी कलगी'-जैसे प्रतीक अज्ञेय को उनकी कविताओं की शुष्कता, बौद्धिकता, लय-गति-हीनता और कहीं-कहीं यौन-विकारों की प्रमुखता के

बावजूद भी कविता के नये प्रयोगों का दिशा-निर्देशक बना देते हैं।

(ख) रूप-साहित्य की जिस प्रवृत्ति को प्रतीकवाद नाम दिया गया था उसमें प्रतीक-विधान रूप-शिल्प का एक उपकरण अवश्य था, परन्तु वह अन्य अनेकानेक प्रमुखतर वृत्तियों के आगे महत्त्वपूर्ण न था। अतः प्रतीकवादी धारा से प्रतीक-विधान का आशय कम, सौन्दर्यवाद, आदर्शवाद, स्वप्निल अस्पष्टवाद और अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की अखण्ड प्रक्रिया सम्बन्धी मान्यताओं का तात्पर्य अधिक लिया जाता है। इसीलिए अंग्रेजी आलोचक न तो ब्लेक-जैसे प्रतीक-विधाता को प्रतीकवादी धारा का कवि मानते हैं और न प्रतीकवाद की प्रतीक-योजना से प्रभावित बिम्बवादी (Imagist) इलियट को ही प्रतीकवादी कहते हैं। परन्तु हिन्दी के समीक्षकों का यह दुराग्रह है कि प्रतीक-योजना पर बल देने वाले हर कवि को वे प्रतीकवादी मानने लगते हैं।

प्रेषणीयता को काव्य का अनिवार्य गुण माना जाना चाहिए। प्रतीक-विधान के आगे प्रेषणीयता प्रश्नचिह्न-सी जुड़ी रहती हैं, क्योंकि भाव-संकेतों और प्रतीक-विधानों के नयेपन को परखने से पहले हमें यह देखना पड़ता है कि इनकी नियोजना स्वाभाविक रूप में हुई है या बोझ रूप में: दूसरे शब्दों में इन नये प्रयोगों ने प्रेषणीयता को अपनाया है या ठुकराया है? फ्रेञ्च प्रतीकवाद और प्रतीकवादोत्तर यूरोपीय साहित्य में हमें प्रेषणीयता की कमी स्पष्ट लक्षित होती है। हिन्दी-कविता की इस अमांगलिक संक्रमण से रक्षा होनी चाहिए। परन्तु इस दलील की ओट में न तो हमें नई प्रवृत्ति और नये मोड़ों का बहिष्कार ही करना चाहिए और न सरलतम अभिव्यक्ति का बहाना बनाकर कविता में राजनीति के वाक्यों को ही दुहराना चाहिए।

रामस्वरूप चतुर्वेदी

अतियथार्थवाद

: १ :

अतियथार्थवाद अथवा सुररियलिज्म का जन्म, अन्य बहुत-से कला-अन्दोलनों के समान होते ही, सर्व प्रथम फ्रांस में हुआ था। आगे चलकर सबसे अधिक प्रश्रय भी उसे वहीं के कलाकारों ने दिया। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के अवसर पर, राजनीतिक तथा सामाजिक उथल-पुथल के बाद ही, अतियथार्थवाद फ्रांसीसी साहित्य के लगभग ७० वर्षों से चले आने वाले उस विद्रोह को अपनी चरम सीमा तक पहुँचा देता है, जो एक साथ ही रोमांटिक लेखकों के पलायनवाद तथा प्राकृतवाद (Naturalism) के बाध्य यथार्थ से सम्बद्ध होने के प्रति परिचालित किया गया था। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक एफ० एल० लूकस के शब्दों में, दो महायुद्धों में से प्रथम महायुद्ध के समय (१६१६ ई०) 'डाडाइज्म' का जन्म हुआ और इसके बाद (१६२२ ई०) 'अतियथार्थवाद' आया।

अतियथार्थवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि हमें हीगेल के चिन्तन में मिलती है। भूत-विज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि न केवल हमारी पृथ्वी, वरन् समस्त ब्रह्माण्ड एक-एक क्षण में परिवर्तित हो रहा है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त (dialectics)-मात्र इस बात का कारण बताता है कि यह परिवर्तन किस प्रकार घटित होता है। विकास-क्रम के एक रूप, तथा उसके आगे आने वाले रूप के बीच में कोई जीवित सिद्धान्त अवश्य होना चाहिए और हीगेल के अनुसार यह सिद्धान्त पारस्परिक विरोध तथा पारस्परिक प्रभाव का है। इस द्वन्द्वात्मक तर्क को हीगेल ने अपने आदर्शात्मक तत्त्वों के लिए ग्रहण किया। रीड के अनुसार इस द्वन्द्वात्मक तर्क को ही कला के क्षेत्र में लागू करना अतियथार्थवाद है। द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के सहारे हम अतीत में कला के विकास को समझ सकते हैं और वर्तमान विद्रोहिणी कला को युक्तिसंगत भी ठहरा सकते हैं।

अतियथार्थवाद के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट है कि कला-जगत् का यह आन्दोलन अतीत के सौन्दर्य-शास्त्र की सारी मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन करना चाहता है। यह किसी भी शास्त्रीय परम्परा का आदर नहीं कर सकता और पिछले ४०० वर्षों की शिष्ट तथा पूँजीवादी परम्परा का तो किसी भी प्रकार नहीं। वह यह मानता है कि इस युग में बड़े-बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति भी अपनी शिक्षा-सम्बन्धी रूढ़ियों तथा अपने सामाजिक वातावरण के सम्मुख झुक गए हैं, परन्तु अतियथार्थवाद कला को एकांत रूप से बौद्धिक बना देने का विरोध करता है। वह निश्चित रूप से काल्पनिक तत्त्वों को अधिक महत्त्व देता है। इसीलिए अतियथार्थवाद प्रारम्भ से ही कलाकार को उन्मुक्त बनाता है, उसकी चिन्तन-धारा एवं शिल्प पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

जैसा हमने ऊपर कहा, अतियथार्थवाद की जन्म-भूमि फ्रांस है। अतियथार्थवादियों के अनुसार इस अभियान का नेतृत्व चार्ल्स बौदेलेयर ने किया। उसकी 'वैयेज' की अन्तिम दो

पंक्तियों में इसका स्पष्ट निर्देश है। उसमें युग की वास्तविकता का रूढ़ अर्थ एक निश्चित प्रकार की प्रकृति समझा जाता था। परन्तु फिर भी इस धारणा के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। अब वास्तविकता का अर्थ, सर्वमान्य भौतिक एवं मानव-प्रकृति-सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिकूल, जान-बूझकर जीवन की विकृतियों में खोजा जाने लगा। इस प्रकृति के सर्वप्रथम उल्लेखनीय उदाहरण १८७० ई० के लगभग लॉंगीमान, रिम्बौ तथा मैलार्मे के ग्रन्थों में मिलते हैं। यहीं से उस रहस्यात्मक अनीश्वरवाद का प्रारम्भ होता है, जिसने आगे चलकर अति यथार्थवाद को जन्म दिया।

प्रकृति के सम्बन्ध में मान्य धारणाओं के प्रति यह विद्रोह प्रथम महायुद्ध के समय अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया। कुख्यात 'डाडा' मत के अनुयायी उस विद्रोह को आगे बढ़ा रहे थे। परन्तु शीघ्र ही कुछ व्यक्तियों ने 'डाडा' की सीमा का अतिक्रमण करके १९२० ई० के लगभग अपने मत की अलग स्थापना की, जिसे उन्होंने 'अतियथार्थवाद' कहा। उन्होंने अतियथार्थवाद का यह प्रयोग अपौलेनियर के अनुकरण पर किया, जो अतियथार्थवाद का प्रयोग किसी ऐसी वस्तु के अर्थ में कर चुका था, जो मन्त्र एवं दृश्यमान वास्तविकता के परे हो। आन्द्रे ब्रेतन इस आन्दोलन का जन्मदाता था और विभिन्न समयों पर इस क्षेत्र में उसके विभिन्न सहकारी रहे, जिनमें से फिलिप सूपौल, लुई, आरागों, जॉर्जी ह्यूने, रेने कैकल, ई० मेसेन्स तथा पॉल उलुआर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों के प्रमुख पग थे—'लितरे स्योर', अति यथार्थवाद की स्थापना के एक वर्ष पूर्व १९१९ ई० में संगठित तथा 'रिवोल्यूशन सुररियलिस्त' (१९२४-१९३०) जो सन् १९३० में 'सुररियलिज़्म और सर्विस देला रिवाल्यूशन' में परिणत हो गया था। अति-यथार्थवादियों के उद्देश्य तथा सिद्धान्त १९२४ ई० तथा १९३० ई० के दो घोषणा-पत्रों में आन्द्रे ब्रेतन द्वारा प्रकाशित किये गए थे। अतियथार्थवादी, अनुभव, जिन्हें साहित्य में चतुर्थ आयाम (fourth dimension) कहकर भी पुकारा जा सकता है, मुख्यतः अपनी प्रकृति में मानसिक विकृतियों से सम्बद्ध थे। १९२८ ई० में अति यथार्थवादी लेखकों ने जॉं मार्तिन चारकोत के उन्माद-सम्बन्धी अध्ययन के प्रकाशन की ५० वीं जयन्ती मनाई और उसे अपने गण्यमान्य नेताओं में स्थान दिया। जो भी हो, यह निश्चित है कि आधुनिक फ्रांसीसी कविता को उसके वर्तमान रूप देने में अतियथार्थवादी प्रवृत्तियों का बड़ा हाथ है। आज वे सभी प्रसिद्ध फ्रांसीसी कवि किसी-न-किसी रूप में इस आन्दोलन से सम्बद्ध रहे हैं।

अतियथार्थवादी प्रवृत्तियाँ यदि एक ओर फ्रांसीसी कविता में अभिव्यक्त हुईं, तो दूसरी ओर उन्होंने फ्रांसीसी कला को भी अछूता नहीं छोड़ा। मुख्यतः चित्र-कला और कहीं-कहीं शिल्प-कला में भी उन प्रवृत्तियों ने स्थान पाया। ऐना बलाकिअन के शब्दों में: "चित्रकारों का एक बड़ा दल भी इसके (अतियथार्थवादी कवियों के) साथ हो लिया और अतियथार्थ तत्त्व के साथ उनके व्यवस्थित किन्तु अर्द्धवैज्ञानिक प्रयोगों में साथ देने लगा।" कवियों के साथ-साथ चित्रकारों द्वारा अतियथार्थवादी प्रवृत्तियों का ग्रहण नितान्त स्वाभाविक था। उन मानसिक भाव-चित्रों को चित्रकार बहुत ही सरलता के साथ अंकित कर सकता है, जो उसके मन में असंगत कल्पनाओं, स्वप्नों, दिवा-स्वप्नों तथा फैंटेसी आदि के रूप में प्रायः आया करते हैं। सच तो यह है कि इन विचित्र आत्मिक अनुभवों को पूर्णतः अभिव्यक्त करने में उसके हृदय का भार बहुत-कुछ कम हो जाता है। इसके साथ ही साथ इन मानसिक अवरोधों का चित्रण अपेक्षाकृत बहुत आसान है,

क्योंकि उस समय चित्रकार की तूलिका स्वतःचलित-सी कार्य करती है।

वैसे तो फ्रांस को केन्द्र-स्थल बनाकर अतियथार्थवादी आन्दोलन विश्व-व्यापी हो उठा है, अंग्रेज, अमरीकन, जर्मन तथा स्पेनिश कवियों और चित्रकारों ने कला की इस प्रवृत्ति से प्रभावित होकर बहुत-कुछ सृजन किया है, फिर भी विदेशों में इस आन्दोलन ने जितना अधिक इंग्लैंड के कलाकारों से सहयोग प्राप्त किया, उतना अधिक सहयोग उसे किसी भी अन्य देश में कदाचित् नहीं मिला। परन्तु यह भी सच है कि इंग्लैंड में अतियथार्थवादी आन्दोलन को जितना सहयोग मिला, उससे भी अधिक विरोध का सामना उसे करना पड़ा। १६३६ ई० के जून में लन्दन में अतियथार्थवादी कला की प्रदर्शनी उद्घाटित हुई। स्वयं हर्बर्ट रीड ने, जो इस आन्दोलन के इंग्लैंड में प्रमुख समर्थक रहे हैं, इस प्रदर्शिनी का परिचय-पत्र प्रस्तुत किया था। उन्हीं के शब्दों में, 'इतनी अधिक अपरिचित विशेषताओं से युक्त आन्दोलन का महत्त्व समझने में असमर्थ समाचार-पत्रों ने मज़ाक, घृणा तथा अपमान की सेना लेकर इसका सामना किया।" परन्तु जैसे-जैसे लोगों ने अतियथार्थवादी आन्दोलन का उद्देश्य समझना प्रारम्भ किया, वैसे-वैसे यह विरोध कुछ कम होता गया। सुररियलिज़्म की प्रारम्भिक अवस्था में उसका सबसे तीखा विरोध इंग्लैंड में कदाचित् प्रीस्टले ने किया था।

अंग्रेजी के कुछ आलोचक अपने साहित्य के अतियथार्थवाद को फ्रांसीसी प्रभाव के रूप में ग्रहण नहीं करते हैं। उनके मतानुसार अतियथार्थवाद की उत्पत्ति ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप इंग्लैंड में हुई है। १६वीं शती का स्वच्छन्दतावाद (romanticism) ही आगे चल कर २०वीं शती में युग की आवश्यकताओं के अनुकूल ढलकर अतियथार्थवाद के रूप में परिणत हो गया, ऐसा उनका विश्वास है। इस मत के मानने में ह्यू साइम्स डेवीज प्रमुख हैं। अपने निबन्ध 'सुररियलिज़्म एट दिस टाइम एण्ड प्लेस' में वे एक स्थल पर लिखते हैं: "अतियथार्थवाद किसी देवी के कान से नहीं उत्पन्न हुआ है; ब्रेतन, एलुअर तथा अन्य किसी देवता से प्रेरित नहीं हुए हैं और हम इंग्लैंड के अतियथार्थवादियों ने अग्नि के बादलों में फ्रांस से कोई सन्देश नहीं सुना है। अतियथार्थवाद ऐतिहासिक शक्तियों द्वारा स्वभावतः एवं अपरिहार्य रूप में उत्पन्न हुआ है। यह प्रेरित नहीं हुआ, किया गया है; यह सहसा किसी दैवी प्रकाश से उद्भूत नहीं हुआ, वरन् अन्य सभी मूल्यवान आन्दोलनों की भाँति, समस्याओं के एक निश्चित स्पष्टीकरण द्वारा उत्पन्न हुआ है, जो हमें ऐतिहासिक क्रम से उस संस्कृति द्वारा प्राप्त हुई है, जिस संस्कृति में हम जन्मे हैं।"

: २ :

यहाँ हमने अतियथार्थवादी आन्दोलन की सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का परिचय देकर उसके विकास की एक संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत की। अब हम उसके साहित्यिक सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

यह कहना पर्याप्त रूप से संगत होगा कि अतियथार्थवादी कृतित्व का सम्बन्ध मुख्य रूप से स्वप्नों तथा व्यक्ति की अर्द्धजाग्रत अवस्थाओं से है। स्वप्न की व्याख्या करती हुई फ्रीडा-फोर्डहम अपनी पुस्तक 'एन इण्ट्रोडक्शन टु युंग्स साइकालोजी' में कहती हैं: स्वप्न व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा के बावजूद स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुई एक मानसिक अवस्था है। वह

प्रकृति की एक आवाज़ है।" इस व्याख्या के अनुसार स्वप्न की अपरिहार्यता उसका सबसे प्रधान गुण है। दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें साधारण रूप के मान्य समय-स्थान तथा अनुपात की कोई योजना नहीं रहती।

पिछले दशकों की मनोवैज्ञानिक खोज के उपरान्त अब यह मान लिया गया है कि व्यक्ति के दैनिक जीवन में उसके स्वप्नों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वप्न वस्तुतः व्यक्ति की अन्तरात्मा में छिपे हुए गूढ़ भावों पर प्रकाश डालते हैं। युग के अनुसार स्वप्न मानसिक क्रिया की अभिव्यक्ति हैं। उसके शब्दों में स्वप्न को "अत्यन्त गम्भीरता पूर्वक इस प्रकार समझने का प्रयत्न होना चाहिए मानो वह वस्तुतः घटित हो चुका है; जाग्रत अवस्था के दृष्टिकोण को बनाने में स्वप्न का महत्त्वपूर्ण स्थान मानना चाहिए।" अपने अनुभव के आधार पर वह यह भी कहता है कि "यदि एक स्वप्न पर हम बहुत देर तक और अच्छी तरह विचार करें—यदि हम उसे सदैव अपने साथ रखें और बार-बार उसे उलटें-पलटें—तो उसमें से कुछ-कुछ प्रायः सदैव ही घटित हो जाता है।" इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्वप्नों को कितना अधिक वास्तविक तथा महत्त्वपूर्ण मानने लगे हैं।

स्वप्न और कविता के घनिष्ठ सम्बन्ध पर कुछ आलोचकगण आवश्यकता से अधिक जोर देते हैं। ऐसे विद्वानों में हर्बर्ट रीड का नाम प्रमुख है। उनके अनुसार कविता और स्वप्न में तुलना करना बहुत ही आकर्षक है। इसके अतिरिक्त समग्र कला और स्वप्न में अन्तर स्पष्ट करना तो बहुत ही कठिन है। कला का इतिहास बताता है कि अधिकाधिक समय तक रहने वाली कला-कृतियाँ अपनी प्रकृति में प्रायः असम्बद्ध-स्वप्नों के समान होती हैं। यही नहीं, रीड महोदय तो अपने निबन्ध 'मिथ, ड्रीम एण्ड पोएम' में एक स्थल पर स्पष्ट कहते हैं : "यदि हम अपने स्वप्नों को दूसरों को बता सकें, तो हम अनवरत रूप से बोलकर कविता लिखा सकते हैं।" अपने इस मत की पुष्टि में वे कुछ अपनी ऐसी कविताओं का उदाहरण देते हैं जो मूलतः कवि के देखे हुए स्वप्नों पर आधारित हैं। परन्तु इसके साथ-ही-साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "जैसा मेरे अपने प्रयोगों से सिद्ध होता है, स्वप्न को उसी दम तदनुकूल शब्दों में अभिव्यक्त कर देने से अधिक कठिन और कोई काम नहीं है।" और इस प्रकार रीड महोदय यह प्रतिपादित करते हैं कि श्रेष्ठ काव्य की रचना के लिए तन्द्रा (trana) से अधिक उपयुक्त और कोई मानसिक अवस्था नहीं है। उनका कहना है कि उनकी वे कविताएँ, जिन्हें वे अब तक विशुद्ध कविता मानते आ रहे हैं, अत्यन्त स्वाभाविक रूप से तन्द्रा की अवस्था में लिखी गई थीं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किस प्रकार हर्बर्ट रीड-जैसे आलोचक कविता का स्वप्न से अत्यधिक निकट का सम्बन्ध मानते हैं। यह सम्भव है कि उनकी इस सम्बन्ध स्थापना में अतिशयोक्ति का एक बड़ा अंश हो और इसके फलस्वरूप यह एकदम आवश्यक न हो कि प्रत्येक अच्छी कविता की मूल अनुभूति कवि को किसी स्वप्न से ही प्राप्त हुई हो। परन्तु फिर भी यह अवश्य सच है कि बहुत-सी श्रेष्ठ कविताओं की प्रेरणा कवियों को अपने स्वप्न-लोक से प्राप्त हुई है। कोलरिज की 'कुबला खाँ' शीर्षक कविता इस वर्ग की कविताओं का अच्छा उदाहरण है। मेरी समझ से इस प्रकार की तन्द्रा (trana) के अन्तर्गत काव्य-रचना करना कवि विशेष के वैयक्तिक मानसिक संस्थान पर अधिक निर्भर करता है। अतः कोई सी श्रेष्ठ या सफल कविता केवल इसीलिए बुरी नहीं हो जाती, क्योंकि उसकी रचना किसी स्वप्न से प्रेरित नहीं हुई है,

अथवा उसका सृजन कवि की तन्द्रा में नहीं हुआ है।

इस प्रकार कविता के उद्गम के सम्बन्ध में उपर्युक्त स्वप्न-सिद्धान्त आधुनिक आलोचना में सर्वाधिक प्रचलित एवं गृहीत है। अतियथार्थवाद के समर्थकों ने तो उसका स्वप्न से अपरिहार्य सम्बन्ध माना है। इस सम्बन्ध में जार्जी ह्यूने का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हर्बर्ट रीड द्वारा सम्पादित 'सुररियलिज्म' नामक निबन्ध संग्रह के अपने भाग में वह एक स्थल पर कहता है : "हम जानते हैं कि अतियथार्थवादी कृतित्व सम्पूर्णतः विचारों के स्वतः चालन पर आश्रित है और आत्मा स्वयं अपने अवचेतन की आवाज़ सुनती है, तथा कवि इसे बिना तर्क का आघात लगे हुए ज्यों-का-त्यों उतार लेता है।" अतियथार्थवाद में स्वतः-चालित लेखन का विशेष महत्त्व है। इस स्वतः चालित लेखन (automatic writing) के आधार पर ही लॉत्रीमॉन ने कहा था कि काव्य-रचना सिद्धान्त के रूप में होनी चाहिए, अपवाद के रूप में नहीं।

स्वतः चालित लेखन को लेकर लोगों के मन में बहुत-सी भ्रान्तियाँ हैं। इन भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए अपने निबन्ध 'मिथ, ड्रीम एण्ड पोएम' में रीड महोदय कहते हैं : "स्वतः चालित लेखन के सम्बन्ध में अभी अन्वेषण होना चाहिए, परन्तु इस शब्द को उचित परिभाषा दे देना मेरे लिए अच्छा होगा। कुछ व्यक्तियों को इससे दैवी प्रक्रियाओं का भान होता है, जो 'प्लन्चेट' आदि यन्त्रों का प्रयोग करती हैं, अथवा किसी ऐसे संदेश का आभास मिलता है जो सम्मोहन की अवस्था में प्राप्त किया गया हो। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में स्वतःचालित लेखन से हमारा तात्पर्य मन की उस अवस्था से है जिसमें अभि-व्यक्ति तत्काल एवं नैसर्गिक रूप में होती है—जहाँ कि भाव-चित्र और उसकी शाब्दिक प्रतिकृति में समय का बिलकुल अन्तर नहीं पड़ता।" कदाचित् रीड महोदय द्वारा दी गई स्वतःचालित लेखन की यह व्याख्या ही अन्य अतियथार्थवादी कलाकारों एवं आलोचकों को भी स्वीकृत हुई। अतियथार्थवादी आन्दोलन का घोषणा-पत्र प्रस्तुत करने वाले प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक आन्द्रे ब्रेतन ने भी अतियथार्थवादी कृतित्व में स्वतःचालित लेखन को सर्वाधिक प्रधानता दी है। 'सुररियलिज्म' नामक ग्रन्थ के अपने भाग में अतियथार्थवाद के आवश्यक तत्त्वों की विवे-चना करते हुए वे कहते हैं : "अतः, ऊपर बताये हुए निरीक्षण के उन विभिन्न प्रकारों में हमें एक ऐसी शृङ्खला की खोज करनी है जो सबमें समान भाव से अवस्थित हो, जिसमें से अति-यथार्थवाद आगे बढ़ता है और जिसका वह सामूहिक योग-फल है। हम यह दिखाने के लिए उत्सुक रहे हैं कि ऐसी एक शृङ्खला का अस्तित्व है : यह शृङ्खला—यह परिस्थिति या मूल उद्देश्य स्वतः चालित लेखन है।" इस स्वतः चालित लेखन को ही कलात्मक सृजन का प्रमुख सिद्धान्त मानकर प्रायः समस्त अतियथार्थवादी कृतित्व की रचना हुई है। इस स्वतः चालित लेखन अथवा अपनी आदिम प्रकृति के वशीभूत होकर, बिना सजग हुए लिखने के फलस्वरूप ऐसी साहित्यिक तथा कलात्मक रचनाएँ हमारे सामने आईं, जिनमें किसी भी प्रकार का अनुपात या व्याख्या नहीं थी। वस्तुतः अतियथार्थवादी कलाकार स्वयं ही अपने कृतित्व में किसी भी प्रकार की व्याख्या नहीं रखना चाहता। प्रकृति तथा समाज—दोनों की ही व्यवस्थाओं से उसका मन ऊब चुका है और अब वह एक ऐसे लोक का निर्माण करना चाहता है, जहाँ कि साधारणतः सर्वमान्य व्यवस्थाओं का एकदम अभाव हो।

कुछ तो स्वतः चालित लेखन का सहारा लेने के फलस्वरूप और कुछ लोक-कथाओं तथा अवदानों (myths) का समावेश करने के कारण, अतियथार्थवादी कला का अपने स्वरूप में अव्यवस्थित होना स्वाभाविक ही था और जब स्वयं अतियथार्थवादी कलाकार तथा समीक्षक ने व्यवस्था से ऊबकर शास्त्रीय स्तर पर अव्यवस्था को प्रश्रय दिया तो समस्त अतियथार्थवादी कृतित्व में एक प्रकार से अराजकता का प्रवेश हो गया। ब्रे तन, आरागों, क्रे वल तथा एलुआर जैसे लेखकों की रचनाओं में व्यवस्था के भाव का अत्यन्त सशक्त ढंग से तिरस्कार किया गया है। उनके अनुसार व्यवस्था का भाव मनुष्य की उस अन्वेषण-वृत्ति में बाधा पहुँचाता है जिसके सहारे वह इस अनन्त पृथ्वी के अनन्त रहस्यों का उद्घाटन करना चाहता है। समस्त मानवता किसी पूर्वायोजित व्यवस्था के भाव पर अपने प्रकृति-सम्बन्धी तमाम मूल्यांकनों को आधारित करती रही है, ऐसा उनका कहना है। मनुष्य द्वारा कल्पित इस व्यवस्था का श्रेय सदैव से किसी आश्चर्य-जनक एवं महा शक्ति को दिया जाता रहा है। इस प्रकार, अव्यवस्था ही अभी तक अकल्पित रही है। बिना किसी योजना पर आधारित सृष्टि की बात लोग प्रायः नहीं सोचते और अब नियति (जिसका अभिप्राय रहस्यात्मक व्यवस्था की अभिव्यक्ति से समझा जाता रहा है) के स्थान पर साहस और अवसर (जिसका अर्थ अकल्पित परन्तु स्थित अव्यवस्था की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति है) को अवसर मिलना चाहिए। किसी अतिप्राकृतिक शक्ति की उपासना न करके व्यक्ति को स्वयं अपनी शक्ति और अन्वेषण-वृत्ति पर विश्वास रखना चाहिए, ऐसा मत अतियथार्थवादी चिन्तकों का रहा है। अव्यवस्था के ऊपर अतियथार्थवादी समीक्षकों का इतना अधिक जोर देने का प्रधान कारण यह है कि अतियथार्थवाद की मुख्य आधार-शिला अनीश्वरवाद है। ईश्वर की कल्पना के साथ ही किसी पूर्वायोजित व्यवस्था की बात हमारे मन में आती है। परन्तु सृष्टि को नितान्त प्राकृतिक यथा स्वयंभू मानने वाले विद्वानों को व्यवस्था की अपेक्षा अव्यवस्था ही अधिक स्वाभाविक जान पड़ती है। इसीलिए अनीश्वरवाद की शिला पर अवस्थित अतियथार्थवाद अपने जीवन-दर्शन तथा कलात्मक सृजन में अव्यवस्था की भावना को ही शत-प्रतिशत प्रश्रय देता आ रहा है। यही कारण है कि अतियथार्थवादी कृतित्व के साथ पाठक या दर्शक का आसानी से साधारणीकरण नहीं हो पाता और इस परम्परा का अनुसरण करने वाले चित्रों अथवा कविताओं का स्वरूप एक साधारण रसिक के लिए बहुत दुरूह सिद्ध होता है।

ठोस वस्तुओं में इस अतियथार्थवादी अव्यवस्था का वर्णन करते हुए एक अमरीकन आलोचक कहता है : "बहुत दिनों से खामोश पड़ी हुई इस 'दिव्य' अव्यवस्था को खींच-कर बाहर लाने पर, अतियथार्थवादी चिन्तकों का विश्वास है कि वे अनन्त की ठोस सतह को देख सकेंगे। इस नये दर्शन की बाइबिल 'ले पैयसाँ दे पेरिस' में आरागों ने कहा है कि 'अव्यवस्था का ठोस रूप ही मस्तिष्क का बाह्य सीमान्त है।' यदि मस्तिष्क साधारण तर्क से अपने-आपको बहुत-कुछ मुक्त करके इस अव्यवस्था को ग्रहण करने की स्थिति में आ जाता है तो वह प्रकृति के नियमों पर विजय प्राप्त करके, क्रे वेल के शब्दों में 'साधारण वास्तविकता' से ऊपर उठ सकता है : गुरुत्वाकर्षण-शक्ति लुप्त हो सकती है, फल और फूल नए रंग धारण कर सकते हैं, रात दिन से स्थान-परिवर्तन कर सकती है, जीवित और मृत हाथ पकड़कर खड़े हो सकते हैं और अस्तित्व का समस्त आन्दोलन एक शाश्वत उत्सुकता में स्थिर हो सकता है।" इस लम्बे उद्धरण से स्पष्ट है कि अव्यवस्था की शक्ति में अतियथार्थ-

वादी कितना अधिक विश्वास रखते हैं। सच तो यह है कि अतियथार्थवाद एक प्रकार से मानव-विचार-धारा के क्षेत्र में व्यवस्था के प्रति, क्रमबद्धता के प्रति विद्रोह करता है तथा उसके स्थान पर अव्यवस्था को प्रतिष्ठित करने के लिए आन्दोलन करता है। जो-कुछ प्राचीन है, जो-कुछ परम्परागत है तथा जो-कुछ रूढ़ियों एवं व्यवस्थाओं में बँधा हुआ है, उस सब को आमूल नष्ट कर देना ही अतियथार्थवादी आन्दोलन का मुख्य ध्येय रहा है।

: ३ :

जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, हर्बर्ट रीड तथा ह्यू साइक्स डेवीज़-जैसे प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक अंग्रेजी साहित्य में मिलने वाली अतियथार्थवादी प्रवृत्तियों का सम्बन्ध १९वीं शती के रोमाण्टिक आन्दोलन से जोड़ना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में डेवीज महोदय ने रीड द्वारा सम्पादित 'सुररियलिज़्म' शीर्षक ग्रन्थ के अपने भाग में एक विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है। इस विवेचन का सूत्र-वाक्य हमें रीड की भूमिका में मिलता है, जहाँ वह अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहता है; "अतियथार्थवाद साधारणतः कला के क्षेत्र में रोमाण्टिक सिद्धान्त है।" डेवीज ने अपने भूमिका-कार की इस स्थापना का अत्यन्त प्रबल तथा दृढ़ तर्कों के साथ समर्थन किया है। उसका मत है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पद्धति अपनाने के कारण प्रत्येक अतियथार्थवादी कलाकार को अपने इतिहास का भली भाँति अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी इतिहास की अनवरत तथा क्रमबद्ध प्रगति पर बहुत ज़ोर देते हैं। उसके शब्दों में, "हमारा सबसे प्रथम आलोचनात्मक कार्य होना चाहिए १९वीं शती का गहरा अध्ययन, उसके उस प्रधान रोमाण्टिक आन्दोलन के साथ, जिसकी हम एक झुकी हुई शाखा हैं, परन्तु एक शक्तिशाली विकास के रूप में, उस पश्चभाग के रूप में, जो कि शक्ति-संप्रसरण के लिए अत्यन्त आवश्यक है।" अपने इन्हीं तर्कों के आधार पर डेवीज यह स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं होता कि इंग्लैंड में, अतियथार्थवाद फ्रान्स से आया है। उसका दृढ़ विश्वास है कि अंग्रेजी में अतियथार्थवाद १९वीं शती के रोमांटिक आन्दोलन का ही एक विकसित रूप है।

जहाँ तक अतियथार्थवादी चिन्तन एवं सृजन का प्रश्न है, उसमें कल्पना का अत्यधिक प्रयोग कदाचित् रोमांटिक परम्पराओं से ही आया है। 'वर्ड-सवर्थ की अवदान-माला (mythology) के समान ही अतियथार्थवाद में भी दृश्य एवं श्रव्य भाव-चित्रों तथा रूपकों का ढेर लग गया है, जो मानवीय भावनाओं का बाह्य पदार्थों के साथ संश्लेषण तथा एकीकरण करते हैं। निश्चय ही यहाँ अतियथार्थवाद १९वीं शती के कार्य को आगे बढ़ाता है, केवल इस बड़े अन्तर के साथ कि यह कोलरिज की आदर्शवादी द्वन्द्वात्मक-पद्धति के स्थान पर यथार्थवादी द्वन्द्वात्मक पद्धति को अपनाता है। जहाँ वह रहस्यमय धर्म के क्षेत्र में चला गया है, वहाँ अतियथार्थवाद प्रमाण तथा प्रयोग का सहारा लेता है; जहाँ वह कविता को सूक्ष्म ज्ञान के रूप में मानता है, वहाँ अतियथार्थवाद उसे वस्तुतः जीवित रहने के साधन के रूप में देखता है। परन्तु इतना निश्चित है कि क्लैसिक परम्पराओं के विद्रोह में रोमाण्टिक आन्दोलन ने जिस प्रकार अपने सृजन में कल्पना की शक्ति को अत्यधिक महत्ता दी थी; उसी कल्पना की शक्ति को कुछ और अधिक गहरे रूप में अतियथार्थवादियों ने ही स्वीकार किया है। इस दृष्टिकोण से अतियथार्थवाद को रोमांटिक आन्दोलन का ऋण निश्चित रूप से स्वीकार करना होगा।

रोमांटिक आन्दोलन के एक और तत्त्व को अतियथार्थवाद ने ग्रहण किया है। जिस पूँजीवादी एवं सामन्ती व्यवस्था का विरोध रोमाण्टिक आन्दोलन ने किया था। उस व्यवस्था का विरोध अतियथार्थवाद ने भी किया है। डेवीज के शब्दों में : "इसकी (अतियथार्थवाद की) जड़ें पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध में सब मोर्चे पर, उसके द्वारा श्रमिकों के प्रति किये जाने वाले निर्दयतापूर्ण तथा पाशविक व्यवहार में और उसके द्वारा उन्हें निम्नतम स्तर के वेश्या गमन—बूर्ज़ुवा-विवाह के समर्थक बना देने में फैली हुई हैं; और इसके (अतियथार्थवाद के) अस्त्र अब भी काव्य तथा प्रत्यक्ष राजनीतिक क्रियाएँ हैं। जो कि एक साध्य के लिए दो मार्ग नहीं, वरन् एक ही मार्ग है।" अतियथार्थवाद की यह पूँजीवाद-विरोधी प्रकृति इस बात से और भी स्पष्ट होती है कि लुई आरागों तथा पॉल एलुआर-जैसे कवि पहले अतियथार्थवादी होने के बाद फिर कम्युनिस्ट हो गए। वस्तुतः साम्यवाद पूँजीवाद का विरोध भौतिक स्तर पर अधिक करता है, जब कि अतियथार्थवाद उसका विरोध मानसिक स्तर पर अधिक करता है।

उपर्युक्त तुलनाओं की मीमांसा करने पर यह धारणा काफी सच जान पड़ती है कि अंग्रेजी-साहित्य में अतियथार्थवाद १६वीं शती के रोमांटिक आन्दोलन की परम्परा में ही है। यह कहना तो परन्तु फिर भी बहुत संगत न होगा कि फ्रांस के प्रभावों ने अंग्रेजी अतियथार्थवाद को वह रूप नहीं दिया है, जिस रूप में हम आज उसे देखते हैं। वरन् यह कहना कदाचित् अधिक उचित होगा कि इंग्लैण्ड में अतियथार्थवाद बहुत-से अंशों में आया तो फ्रांस से ही है, परन्तु यहाँ उसे भली भाँति विकसित होने में कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि यहाँ उसे रोमाण्टिसिज़्म की परम्परा में शीघ्र ही स्थान मिल गया। अंग्रेजी-साहित्य में यह आन्दोलन फ्रांस से आया, इस बात का एक प्रमाण यह भी है कि अंग्रेजी जनता ने इस आन्दोलन का फ्रांसीसी नाम 'सुररियलिज़्म' ही रहने दिया और उसके स्थान पर अंग्रेजी शब्द 'सुपररियलिज़्म' को स्वीकार नहीं किया, यद्यपि अतियथार्थवाद की प्रवृत्तियाँ इस दूसरे नाम से ही अधिक व्यक्त होती हैं। अतः यह निश्चित है कि डेवीज महोदय की स्थापना को हम कुछ अंशों में ही स्वीकार कर सकते हैं, पूर्णतः नहीं। उनका यह कथन है कि रोमांटिसिज़्म के सभी पहलुओं में अतियथार्थवाद अपने पूर्वगत आन्दोलन को ही आगे बढ़ाता है। कदाचित् इन दोनों में सबसे सामान्य अन्तर यह है कि जहाँ रोमांटिसिज़्म अपनी प्रारम्भिक अवस्था, अव्यवस्था तथा प्रातिभ ज्ञान के लिए कुख्यात था, वहाँ अतियथार्थवाद संगठित, व्यवस्थित तथा सजग है। उसके सिद्धान्त में यह व्यवस्था दो कारणों से है, एक तो उसके भौतिक द्वन्द्वात्मक प्रकृति के प्रति अत्यधिक ऋणी होने के कारण और उससे भी अधिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के प्रति ऋणी होने के कारण अपने शाब्दिक रूप में उतना सच नहीं है, जितना कि ध्वनि की दृष्टि से।

अतियथार्थवाद की शास्त्रीय रूपरेखा के सम्बन्ध में पॉल एलुआर का मत कदाचित् अपने सहयोगियों से कुछ भिन्न है। दूसरी बात यह भी है कि उसने इस जीवित आन्दोलन को शास्त्रीय दृष्टिकोण से बहुत अधिक मर्यादित न करके, उसे एकदम जड़ ही नहीं बना दिया। अतियथार्थवाद के सम्बन्ध में उसके सिद्धान्त बहुत कम हैं और जो भी हैं, वे भी बहुत अधिक साफ-सुथरे और सरल हैं। वह इसे मस्तिष्क की एक स्थिति के रूप में मानता है। अतियथार्थवाद के विचारात्मक पहलू पर बल देते हुए वह कहता है : "अतियथार्थवाद, जो कि ज्ञान का एक साधन है और इसलिए विजय और रक्षा का भी साधन है, मनुष्य की गम्भीर चेतना को

प्रकाश में लाने का यत्न करता है। अतियथार्थवाद में वह यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि विचार-शक्ति सब में समान भाव से स्थित है और वह व्यक्ति के पारस्परिक भेद-भावों को भी कम करने की चेष्टा करता है और इसी बात को ध्यान में रखते हुए वह एक ऐसी व्यवस्था की सेवा करना अस्वीकार कर देता है, जो असमानता, वंचना तथा कायरता पर आधारित है।" पॉल एलुआर के इस दृष्टिकोण की यही विशेषता है कि वह पाठकों के मन में बहुत जटिलता तथा भ्रम नहीं उत्पन्न करता।

अतियथार्थवादी आन्दोलन की एक विशेषता यह रही है कि वह अपनी प्रकृति में राष्ट्रीय न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय रहा है। इस क्षेत्र में उसकी तुलना कम्युनिस्ट-आन्दोलन से की जा सकती है, यद्यपि कम्युनिज़्म से उसके मौलिक मतभेद हैं। ऐतिहासिक परिस्थितियों को देखते हुए अति-यथार्थवाद एक विशिष्ट वर्ग के लेखकों में बहुत आसानी के साथ प्रश्रय पा गया। इस वर्ग के लेखक मुख्यतः अपने अतीत की प्रायः सभी परम्पराओं से मुक्त होना चाहते थे। अतियथार्थवादी आन्दोलन की विवेचना करते हुए हेनरी पियरे ने एक स्थल पर लिखा है: "यह आन्दोलन अपनी प्रकृति में अन्तर्राष्ट्रीय हो गया: अंग्रेजी, अमरीकन, जर्मन तथा स्पेनिश चित्रकारों एवं कवियों ने इसके सिद्धान्तों को मौलिकता के साथ क्रियात्मक रूप दिया तथा विकसित किया।" अतियथार्थवादी आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय होने का एक प्रधान कारण यह भी है कि इसकी जन्मभूमि फ्रांस है और मध्य युग तथा बहुत-कुछ आधुनिक युग में भी फ्रांसीसी काव्य तथा कला-प्रवृत्तियाँ इतरदेशीय, विशेषतः यूरोपीय साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित करती रही हैं। प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, प्राकृतवाद तथा अत्याधुनिक अस्तित्ववाद, इन सबका पोषण तथा प्रचार सबसे अधिक फ्रांस में ही हुआ है। अतियथार्थवाद की विशेषता यह रही है कि वह अपने जन्म के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुँच गया। हर्बर्ट रीड का कहना है कि "अपने जन्म के क्षण से ही अतियथार्थवाद का रूप अन्तर्राष्ट्रीय था—बहुत-कुछ एक अन्तर्राष्ट्रीय तथा भ्रातृत्व भाव पर आधारित संस्था के नैसर्गिक उद्भव के समान, जो कि 'लीग ऑफ नेशन्स' जैसी कृत्रिम ढंग से बनाई गई सामूहिक संस्था के विपरीत है।" इस प्रकार इस अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन को विभिन्न देशों के साहित्यिकों ने अत्यन्त स्वाभाविक रूप से अपनाया। उसके इस प्रसार के मूल में एक बात यह भी है कि अतियथार्थवाद साम्यवाद की भाँति अपने सहयोगी कलाकारों को इसलिए विवश नहीं करता कि वे उसके प्रति अपने व्यक्तित्व को समर्पित कर दें। अतियथार्थवादी आन्दोलन ने इस बात पर अवश्य बल दिया कि विभिन्न देशों के कलाकारों की समस्याएँ लगभग एक-सी हैं, इसलिए उन्हें आगे बढ़ने के लिए परस्पर संगठित होना पड़ेगा। प्रथम अतिथयार्थवादी कला-प्रदर्शिनी की चर्चा करते हुए आन्द्रे ब्रेतन कहते हैं, "अतियथार्थवाद अब एक नाम के अन्तर्गत सभी देशों के रचनात्मक लेखकों एवं कलाकारों की आकांक्षाओं को एकत्रित करता है—वस्तुतः १४ विभिन्न देशों की कला-कृतियाँ प्रदर्शित हो रही थीं। यह एकीकरण शैली के एकीकरण से अधिक, जीवन की एक नवीन चेतना के रूप में अवस्थित होने की सूचना देता है।"

अतियथार्थवाद कला को अत्यधिक बौद्धिक बना देने का विरोध करता है। उसे जीवन का एकान्त काल्पनिक पक्ष ही अधिक प्रिय है। व्यक्तित्व के अन्तर्विरोधों का चित्रण करना उसका प्रमुख ध्येय है। उसका विश्वास है कि इन अंतर्विरोधों को प्रकाश में लाने से ही मानवता का

कल्याण हो सकता है। इस प्रसंग में रीड का कथन है : "व्यक्तित्व के अन्तर्विरोधों का समाहार कला में होता है : यह अतियथार्थवाद के प्रथम सिद्धान्त में से एक है।" इन अंतर्विरोधों के समाहार का अंकन कलाकार अपने काल्पनिक लोक में दिखाता है, जिसके निर्माण में उसे प्रचलित अवदानों (myths) का सहारा मिल जाता है। अतः अतियथार्थवादी आन्दोलन ने सृजन के कार्य में स्थानीय अवदान-माला का प्रचुरता से उपयोग किया है।

अतियथार्थवाद के मूल सिद्धान्त प्रचलित नैतिक मान्यताओं के एकदम विरुद्ध हैं। इस मत के अनुयायियों का दृढ़ विश्वास है कि आधुनिक नैतिकता अपनी प्रकृति में एकदम खोखली है। 'उसके अपने नैतिक मूल्य स्वतन्त्रता एवं प्रेम पर अवस्थित हैं।' अतियथार्थवादी इस बात को अनुचित समझते हैं कि व्यक्ति की प्राकृतिक आवश्यकताओं को किसी भी प्रकार पाप से सम्बद्ध माना जाय। वे यह भी मानते हैं कि यद्यपि मनुष्य अपनी प्रकृति में नितान्त अपूर्ण उत्पन्न हुआ है, परन्तु उसके समाज ने उसे अपूर्णतर बना दिया है। इसीलिए अतियथार्थवाद का यह एक मूल सिद्धान्त है कि व्यक्ति की आदिम एवं मौलिक प्रवृत्तियों पर कोई बन्धन न लगाए जायँ और उसके मनोभावों को पूर्णतः व्यक्त होने दिया जाय। इस प्रकार कानून जिन बुराइयों को नहीं रोक सका है, वे कुछ समय में स्वतः ही नष्ट हो जायँगी। अतियथार्थवादियों की यह धारणा बहुत-से मनोवैज्ञानिकों को मान्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जहाँ तक कला के विधान का प्रश्न है, अतियथार्थवादियों ने इस क्षेत्र में भी प्रचलित सिद्धान्तों के प्रति विद्रोह किया। वे कलाकार को अपनी अभिव्यक्ति में पूर्ण स्वच्छन्दता देने के पक्ष में थे। इस सम्बन्ध में जॉर्ज ह्यूने कहते हैं : "अतियथार्थवाद स्वभावतः अभिव्यक्ति की इस स्वतन्त्रता का पक्षपाती है और इसको अधिक करने का प्रयत्न करता है। परन्तु इसके प्रयत्न विधान-सम्बन्धी सुधारों की ओर उन्मुख नहीं हैं। अतियथार्थवाद कविता की प्रयोगात्मक शक्ति पर अधिक बल देता है। यह लेखन के किसी भी रूप को तब तक मानता है जब तक कि वह लेखक की आत्म-विवृति में सहायक हो।" इस प्रकार ह्यूने महोदय अतियथार्थवाद के क्षेत्र में अभिव्यक्ति के सभी माध्यमों को स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं। उनका विशिष्ट तर्क यह है कि क्योंकि अतियथार्थवाद स्वप्न तथा अवचेतन से प्रमुखतः सम्बद्ध है और क्योंकि स्वप्न तथा अन्य अवचेतन व्यापारों के कितने ही रूप हो सकते हैं, अतः अतियथार्थवादी कला में अभिव्यक्ति के ढंग भी उतने ही प्रकार के हो सकते हैं।

: ४ :

अभी तक हमने सामान्य दृष्टिकोण से अतियथार्थवाद की शास्त्रीय रूप-रेखा तथा उसके प्रमुख सिद्धान्तों का परीक्षण किया। अब हम अतियथार्थवाद के तीन प्रमुख विवेचकों के मतों का संक्षेप में अलग से विश्लेषण करेंगे। ये तीन विचारक हैं, आन्द्रे ब्रेतन, ज्याँ पॉल सार्त्र तथा महर्षि अरविन्द। इस सूची में हर्बर्ट रीड का नाम अनिवार्यतः जोड़ा जाना चाहिए, परन्तु पिछले पृष्ठों में उनके मत की इतनी अधिक विवेचना हो चुकी है कि अब उसे दुहराना अनावश्यक होगा।

आन्द्रे ब्रेतन को अतियथार्थवादी आन्दोलन का सूत्रधार माना जा सकता है। उसने अतियथार्थवाद की मौलिक मान्यताओं का अधिक विश्लेषण किया है। उसकी पद्धति के रूप में

भी उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को ही स्वीकार किया। अतियथार्थवाद के उसने दो मूल सिद्धान्त स्थिर किये हैं—

(१) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अनुसरण, जिसे अतियथार्थवादी अपने प्रत्येक क्षेत्र में स्वीकार करते हैं : विचार की अपेक्षा वस्तु का प्राधान्य; बाह्य जगत् तथा मानवीय विचारों के क्षेत्र में लागू होने वाले, आन्दोलन के सामान्य नियमों के विधान के रूप में हीगेल के द्वन्द्वात्मकवाद की स्वीकृति; इतिहास का भौतिकवादी दृष्टिकोण (Materialistic conception of history); सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता।

(२) यह मानना, जैसा कि मार्क्स और एंगेल्स ने सिद्ध किया है कि केवल आर्थिक कारण ही इतिहास में निर्णायक होते हैं, एकदम भ्रान्ति है, वस्तुतः निर्णायक तत्त्व होता है, 'अन्ततोगत्वा, स्वयं जीवन का उत्पादन एवं पुनरुत्पादन।'

ब्रेतन की इन दो मान्यताओं में से प्रथम तो एकदम मार्क्सीय साम्यवाद के सिद्धान्तों का अनुसरण करती है और दूसरी उनमें से कुछ सिद्धान्तों का विरोध करती है। इस प्रकार ब्रेतन को मार्क्सीय साम्यवाद का सुधरा एवं निखरा रूप ही ग्राह्य है। वैसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अपनाने का आग्रह डेवीज तथा ह्यूने-जैसे अन्य अतियथार्थवादी विचारकों ने भी किया है। अतियथार्थवादी आन्दोलन के सामाजिक तथा राजनीतिक पक्षों को उचित महत्ता देते हुए ह्यूने महोदय कहते हैं : "काव्य के अतिरिक्त, अतियथार्थवाद का सामाजिक कार्य, राजनीतिक कार्य, उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों का अनुसरण, उसकी क्रान्तिकारी स्थिति और उसका राष्ट्रीयता तथा बुर्जुआ के प्रति विद्रोह भी है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि अतियथार्थवाद का एक पूर्ण स्वरूप है, जिसमें से कोई एक भी अंश अलग नहीं किया जा सकता। अपने सारे तत्त्वों को मिलाकर यह एक है। उदाहरणार्थ, बिना लेखक के उद्देश्य को ध्यान में रखे हुए, अतियथार्थवादी कविता का आनन्द उठाना असम्भव ही है। अतियथार्थवाद के लिए मुक्ति और उसका वाङ्मय अभिन्न हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से अतियथार्थवाद मानव की मुक्ति चाहता है और इस कार्य के लिए वह अपने सभी साधनों का प्रयोग करता है।" वस्तुतः ब्रेतन तथा उसके अन्य सहयोगियों के मतों का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अतियथार्थवादी आन्दोलन के ये प्रवर्तक एक बड़ी हद तक कम्युनिज्म से प्रभावित थे, परन्तु उसको उसी रूप में स्वीकार करने को भी वे तैयार न थे। इसीलिए उन्होंने साहित्यिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर साम्यवाद का एक बहुत अधिक परिष्कृत तथा संशोधित संस्करण अतियथार्थवाद के रूप में प्रस्तुत किया।

अतियथार्थवाद तथा कम्युनिज्म के पारस्परिक सम्बन्ध का बहुत सुन्दर विवेचन फ्रांस के प्रसिद्ध अस्तित्ववादी चिन्तक ज्याँ पॉल सार्त्र ने अपनी पुस्तक 'ह्वाट इज लिट्रेचर' में किया है। अपनी उपर्युक्त पुस्तक के चौथे अध्याय में वह कहता है : "फिर भी, अतियथार्थवाद अपने-आपको क्रान्तिकारी घोषित करता है तथा अपना हाथ कम्युनिस्ट-पार्टी की ओर बढ़ाता है। 'रैस्टोरेशन' के उपरान्त ऐसा पहली बार हुआ है कि एक साहित्यिक निकाय स्पष्ट रूप से एक संगठित क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर रहा हो।" इस सम्बन्ध के स्थापित होने का प्रधान कारण यह है कि अतियथार्थवादी आन्दोलन के समर्थक नवयुवक लेखक प्रचलित व्यवस्था से एकदम असन्तुष्ट थे। तात्कालीन पारिवारिक भावना,

निर्धनताजन्य ईर्ष्या एवं भय, हाल ही में समाप्त हुआ युद्ध, सेंसर, सेना की नौकरी, कर तथा सैनिक व्यवस्थायुक्त शासन—इन सब ने मिलकर इन नये लेखकों के मन में स्वभावतः कम्युनिज़्म के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर दिया। दूसरी ओर कम्युनिस्ट-पार्टी ने अतियथार्थवाद को एक अस्थायी साधन के रूप में स्वीकार कर लिया, जिसको वह काम निकालने के बाद आसानी से छोड़ सकती थी। उसके लिए स्वतःचालित लेखन तथा आमन्त्रित निद्रा का मात्र यह मूल्य था कि इनके सहारे मध्यवर्ग विकेन्द्रित हो सकता था। इसीलिए कम्युनिज़्म तथा अतियथार्थवाद का सम्बन्ध केवल बौद्धिक स्तर पर ही सम्भव हो सका।

सार्त्र के अनुसार अतियथार्थवादी आन्दोलन की प्रमुख विशेषता थी उसकी नष्ट करने की प्रवृत्ति। अतियथार्थवादियों ने आत्मगत तथा वस्तुगत सभी प्रकार की सत्ताओं को नष्ट करने का प्रयास किया। वस्तुतः वे एक ऐसे स्थान पर पहुँचना चाहते थे, जहाँ कि जीवन और मृत्यु, सत्य और कल्पना, भूत और वर्तमान, प्रेषणीय और अप्रेषणीय, उच्च एवं नीच—ये सभी अपना विरोधी भाव त्याग सकें। इस अवस्था में ही मानवता के समस्त अन्तर्विरोधों का समाहार सम्भव हो सकता है। सार्त्र के शब्दों में : "एक अतियथार्थवादी शान्ति है। शान्ति एवं स्थायी अहिंसा; एक ही स्थिति के दो पूरक पहलू हैं।" वस्तुतः यही अतियथाथवादियों का ध्येय है—जो-कुछ है उसे पूर्णतः नष्ट करके, एक अभूतपूर्व शान्ति की ओर अग्रसर होना। इसी स्थान पर कम्युनिस्ट-पार्टी तथा अतियथार्थवाद की सैद्धान्तिक सन्धि होती है। परन्तु कम्युनिस्ट-पार्टी के लिए यह नकारात्मक व्यवस्था अस्थायी है, जिसके उपरान्त वह निर्माण-योजना में संलग्न होती है, जब कि अतियथार्थवादियों के लिए यह व्यवस्था प्रायः शाश्वत ही है। सच तो यह है अतियथार्थवादी अपने अतिरिक्त सभी को नष्ट करना चाहते हैं, जैसा कि उनकी बहुत-सी उक्तियों से स्पष्ट है।

अतियथार्थवादी कृतित्व का परीक्षण करने वाले भारतीय चिन्तकों में महर्षि अरविन्द का नाम सर्वप्रमुख है। श्री अरविन्द ने सन् १६३६ ई० में लिखे गए कुछ अपने पत्रों में अतियथार्थवाद की बहुत तटस्थ परन्तु सहानुभूतिपूर्ण विवेचना की है। इस विवेचना में उन्होंने अतियथार्थवादी कविता को ही मुख्यतः सम्मिलित किया है। अन्य आलोचकों के समान वे भी अतियथार्थवादी कविता को मुख्यतः 'स्वप्न-चेतना' से सम्बद्ध मानते हैं। परन्तु महर्षि अरविन्द का विश्वास है कि अतियथार्थवादी अपने प्रयत्नों के बावजूद चेतना के अन्य गहरे स्तरों तक नहीं पहुँच पाते। इसी कारण उनकी रचनाएँ इतनी अस्थिर एवं अव्यवस्थित रहती हैं। परन्तु अतियथार्थवादी रचनाओं में एक रहस्यमयता अवश्य रहती है, जो महर्षि अरविन्द के अनुसार साहित्य में सामान्यतः, एवं कविता में विशेषतः रहनी चाहिए।

श्री अरविन्द के योग-सम्बन्धी अन्वेषणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानवीय चेतना के बहुत-से स्तर होते हैं। पहले तो इन स्तरों तक पहुँचना ही बहुत कठिन है और यदि एक बार कोई वहाँ पहुँच भी जाय तो वहाँ के अनुभवों को स्मरण रखना, तथा उन्हें अंकित करना तो और भी कठिन है। इन अनुभवों को चित्रित करने के लिए या तो स्वप्न-शक्ति बहुत तीक्ष्ण होनी चाहिए अथवा स्वप्न-अवस्था बहुत उभरी होनी चाहिए। परन्तु अतियथार्थवादी सतही चेतना से बहुत नीचे नहीं जा सके हैं। अरविन्द का कहना है कि जो स्वप्न सतही चेतना के स्तर पर दिखाई देते हैं, वे प्रायः अस्पष्ट तथा धूमिल होते हैं; परन्तु जो स्वप्न चेतना के गहरे स्तरों पर

दिखाई देते हैं, वे अत्यन्त व्यवस्थित तथा सार्थक होते हैं। वस्तुतः अपने ध्येय में सफल होने के लिए अतियथार्थवादियों को चेतना के इन्हीं स्तरों में प्रवेश करके, उस रहस्यमय मनोलोक के अनुभवों को अपने पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना पड़ेगा। और इस सम्बन्ध में महर्षि अरविन्द से बढ़कर और किसकी साक्षी एवं निर्देशन उपयुक्त हो सकते हैं ? परन्तु एक बात यहाँ स्मरणीय यह है कि अतियथार्थवादी कलाकार केवल-मात्र स्वप्न देखकर ही कवि नहीं हो सकते, उसके लिए उन्हें प्रेरणा की सर्वाधिक आवश्यकता होगी।

जैसा कि प्रस्तुत के निबन्ध पूर्वार्द्ध में दिये हुए अतियथार्थवाद के इतिहास से स्पष्ट है, इस बात का अभी तक कोई स्वतन्त्र समीक्षा-शास्त्र विकसित नहीं हो सका है। इसका कारण यह है कि अभी अतियाथार्थवादी आन्दोलन के इतने वर्षों से चलने के बाद भी, विभिन्न चिन्तक एवं आलोचक इसकी प्रकृति के सम्बन्ध में एकमत नहीं हो सके हैं। इसके अतिरिक्त इस आन्दोलन को जितना कलाकारों से सहयोग प्राप्त हुआ है, कदाचित् उससे भी अधिक उसे विरोध सहना पड़ा है। इसी कारण से क्लैसिक समीक्षा-शास्त्र, रोमांटिक समीक्षा-शास्त्र के मार्क्सीय समीक्षा-शास्त्र एवं अत्याधुनिक अस्तित्ववादी समीक्षा-शास्त्र की तरह के अतियथार्थवाद ३० वर्षों से अधिक प्राचीन होने पर भी अभी तक कोई अतियथार्थवादी समीक्षा-शास्त्र अपने वास्तविक अर्थ में तैयार नहीं हो सका है। फिर भी अतियथार्थवाद की प्रायः सभी समस्याओं पर पर्याप्त रूप से विचार-विमर्श हो चुका है; उसके प्रत्येक पहलू की आलोचना-प्रत्यालोचना हो चुकी है। अतियथार्थवादी दृष्टिकोण से साहित्य के मूल्यांकन के सिद्धान्त इस आन्दोलन के बहुत-से सहयोगी आलोचकों ने स्थिर किये हैं, जिनमें से कुछ का परीक्षण हमने ऊपर किया है और अब समय आ गया है कि इनको मिला-जुलाकर, अतियथार्थवादी समीक्षा दृष्टि को और अधिक विकसित करके, एक स्वतन्त्र अतियथार्थवादी समीक्षा-शास्त्र की स्थापना की जाय।

सुरेशचन्द्र सेन गुप्त

बेलिन्स्की की मान्यताओं का विकास

: १ :

बेलिन्स्की १९वीं शताब्दी के प्रख्यात रूसी लेखक गोगल का समकालीन था। अपनी सशक्त शैली, तीव्र संवेदना और समकालीन प्रभाव के आधार पर वह निस्सन्देह १९वीं शती की उस महान् रूसी समीक्षा-परम्परा का जन्मदाता कहा जा सकता है जो हीगेल के द्वन्द्वात्मक भाववाद तथा फ्यूएरबाख के भौतिकवाद के मिश्रित प्रभावों से अनुप्रेरित थी।

बेलिन्स्की का महत्त्व इसलिए भी है कि स्वतः उसका व्यक्तित्व अत्यन्त विकासशील रहा है और वह भाववाद से निरन्तर भौतिकवादी आस्था की ओर बढ़ता गया है। वास्तव में वह रूसी जनता के संकट से इतना आक्रान्त था कि उसका दार्शनिक चिन्तन और साहित्य-समीक्षा दोनों ही अपने को जनता की समस्याओं की सापेक्षता में संशोधित करते गए। किन्तु यह विकास-रेखा भी सरल नहीं रही है।

बेलिन्स्की के सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक और सौन्दर्यगत चिन्तन को भाववाद से भौतिकवाद एवं आभिजात्य बुद्धिवाद से क्रान्तिकारी जनवाद की ओर विकसित होने के लिए एक अत्यन्त जटिल मार्ग अपनाना पड़ा है। क्रान्तिकारी सिद्धान्त के सच्चे रूप की खोज में उन्होंने यूरोप तथा अमरीका के नवीनतम सिद्धान्तों की भली भाँति परीक्षा की। वह पश्चिमी यूरोप के उन्हीं प्रगतिवादी विचारों से ही प्रभावित हुए जो वास्तव में बूर्जुआ-क्रान्ति-आन्दोलनों की ऐतिहासिक अनुभूति के द्योतक थे। फ्रांसीसी बौद्धिक आन्दोलन, फ्रांसीसी बूर्जुआ तथा तत्कालीन स्वप्नदर्शी साम्यवादियों के विचार, कैबेट, लुई ब्लेंक तथा ज्यार्ज सैण्ड की कृतियों फ़िक्टेवाद शीलिंग का भाववादी दर्शन, जर्मन भाववादी दार्शनिक हीगेल की द्वन्द्वात्मक शैली तथा फ्यूटरबाख का जड़वादी दर्शन—यह सभी इनके सूक्ष्म अनुसन्धान के अन्तर्गत आया। वे कभी किसी प्रणाली-विशेष से पूर्णतया प्रभावित नहीं हुए और न कभी उन्होंने किसी का अन्धानुसरण ही किया। यह सत्य है कि उन्होंने भी त्रुटियाँ कीं, परन्तु उनको स्वीकार करने तथा उन्हें सुधारने में भी वे कभी पीछे न रहे। इनके साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में रूस में कोई परम्परागत भौतिकवादी विचार-धारा नहीं थी। उनके समक्ष थे केवल लोमोनोसोव एवं रेडिशेव के प्रगतिवादी विचार तथा दिसम्बरवादियों की बौद्धिकता, जिन्होंने उनमें स्वाधीन-भावना का संचार, दासता का कट्टर विरोध और निरंकुश शासन के प्रति घृणा जगा दी थी और जन-साधारण में, वैज्ञानिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक जागरूकता के प्रसार के प्रति एक आग्रह उत्पन्न कर दिया था। उनके चिन्तन पर रूस के राष्ट्रीय कवि पुश्किन की कृतियों का विशेष प्रभाव पड़ा था। उसी से अनुप्रेरित होकर वे साहित्य में यथार्थवाद के प्रबल समर्थक हो गए थे। उनके पूर्व रूसी साहित्य में आलोचनात्मक समीक्षाएँ केवल कुछ पूर्व-स्थापित शास्त्रीय सिद्धान्तवादियों द्वारा निर्दे-

शित नियमों पर ही की जाती थीं। अर्थात् उस समय कविता के गुणों का निर्धारण उसकी सुमधुर शैली, अत्यन्त सुन्दर भाव तथा वर्ण-विन्यास की शुद्धता आदि के बल पर ही होता था। उस कविता में जीवन के यथार्थ तथा प्रकृति के वास्तविक रूप का चित्रण हुआ है अथवा नहीं, यह दृष्टिकोण उसके मूल्यांकन की कसौटी नहीं था। अतः कविता की इस प्रकार की विवेचना शव-परीक्षा की भाँति केवल एक कट्टर मान्यता के रूप में आडम्बरपूर्ण और निरर्थक होती थी। बेलिन्स्की के पूर्ववर्ती आलोचक अधिकतर प्रतिस्पर्धी तथा अशिष्ट थे या फिर नितान्त चापलूस। रूसी स्वच्छन्दतावाद के प्रमुख प्रवक्ताओं ने अठारहवीं (१८२०) शताब्दी में कला तथा कलागत यथार्थवाद के सामाजिक मूल्यांकन की ओर विशेष जोर दिया, किन्तु उन्हें असफलता ही मिली और कोई विशेष उन्नति दृष्टिगत नहीं हुई। आई० वी० किरेव्स्की ने इसे स्वयं अपने ही शब्दों में स्वीकार भी किया है : "अभी तक हम न तो जन-साधारण के बौद्धिक जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति कर सके हैं और न हमारे पास यथेष्ट साहित्य ही है।"

इस प्रकार मात्र बेलिन्स्की को ही हम रूसी 'साहित्यालोचन' का जन्मदाता मान सकते हैं। यद्यपि सोवियत साहित्य पुश्किन, गोगल तथा लरमैण्टव के अनवरत प्रयत्नों के फलस्वरूप कलात्मक यथार्थवाद की ओर अग्रसर हो चुका था किन्तु बेलिन्स्की ने उस साहित्य के आलोचक एवं प्रोत्साहनदाता के रूप में एक बृहद् कार्य सम्पन्न किया। उसने प्रकृतवादी निकाय को गोगल का निकाय माना और सदैव कहा कि साहित्य में जनता की राष्ट्रीय भावना का प्रतिफलन होना चाहिए। राष्ट्रीय साहित्य जनता के हृदय की सच्ची धड़कनों के शुद्ध रूप का एकमात्र प्रतीक हो और एक प्रगतिवादी मार्ग पर जनसाधारण के नेतृत्व में सहायक हो, जिससे उनका तथा उनके राष्ट्र का स्तर उच्च-से-उच्चतर हो सके। अपने एक प्रसिद्ध लेख Literary reveries में उन्होंने सर्वप्रथम कला की वास्तविकता पर प्रकाश डाला है। कदाचित् उस समय वे स्वयं शेलिंग और हीगेल के समान भाववादियों से अधिक प्रभावान्वित थे और तभी उन्होंने लिखा था : "यह अखंड, अनन्त सुन्दर एवं दिव्य विश्व और कुछ नहीं है केवल एक शाश्वत 'भाव' का श्वास-मात्र ही है; जो स्वयं को अगणित रूप में, अनन्त विभिन्नताओं के मध्य अविच्छिन्न, अद्वैत के रूप में प्रस्फुटित करता है। कला, विश्व की अपरिमित विभिन्नताओं एवं अगणित बाह्य रूपों में निहित एक महान् 'भाव' की अभिव्यक्ति है।" दार्शनिक भाववाद के उच्च शिखरों से उतरकर बेलिन्स्की ने रूसी साहित्य का लामान्साव के काल से अपने समय तक अवलोकन करते हुए हतोत्साहित होकर कहा: "हमारे साहित्यिक इतिहास के समस्त क्षेत्र में केवल चार ही ऐसे नाम हैं जो विशेषतः उल्लेखनीय हैं तथा हमारे समक्ष कोई साहित्य नहीं है और क्या केवल चार साहित्यिक ही हमारे सम्पूर्ण साहित्य का प्रतिनिधित्व कर सकेंगे।"

बेलिन्स्की ने पूर्वकालीन साहित्यिकों का न तो निरादर किया और न उनके महत्त्व को कम करने की चेष्टा ही की। उन्होंने केवल उनको 'जन-साधारण' का सच्चा कवि मानने से इन्कार किया। 'रूसी उपन्यास और गोगल (१८३५)' नामक अपने एक सुप्रसिद्ध लेख में दर्शन-शास्त्र तथा सौन्दर्य-शास्त्र में पाई जाने वाली यथार्थवादी प्रवृत्तियों की ओर बेलिन्स्की का अधिक झुकाव दीख पड़ता है। उन्होंने उच्चतम आदर्श तथा वास्तविक जीवन के ऐतिहासिक एवं सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में, उनके पारस्परिक अन्तरावलम्बन की व्याख्या करने की चेष्टा की थी। उन्होंने गोगल की रचनाओं पर प्रकाश डालते हुए कहा: "गोगल की रचनाओं में विशेषता

यह होती है कि वे वास्तविकता के बहुत समीप होती हैं। वह जीवन की सर्वथा नवीन रूप से परिकल्पना नहीं करतीं, वरन् वास्तविक जीवन का प्रतिफलन तथा पुनरुत्सर्जन करती हैं और एक नतोदर दर्पण की भाँति एक ही दृष्टिकोण से विभिन्न रूपात्मक सत्ताओं को प्रतिबिम्बित करती हैं किन्तु उनमें प्रमुखता उसीको मिलती है जिसकी एक सजीव एवं सम्पूर्ण चित्र बनाने के लिए विशेष आवश्यकता होती है।" अपने इस लेख में उन्होंने यथार्थवाद की मांगों को पूर्ण प्रश्रय दिया है, किन्तु अपने हृदय में अब भी। वे ज्ञानदीप्तिवादी (Enlightener) हैं और द्वन्द्वात्मक भाववाद के प्रति उनका आग्रह पूर्ववत् है।

कुछ समय तक तो बेलिन्स्की के निकट फिख्टेवाद की महत्ता बढ़ गई थी और उन्होंने सोचा था कि यही एक ऐसा कर्म-परक दर्शन है जो कि युक्तियुक्त न्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था का आधार बन सकता है। उन्होंने वास्तविक परिस्थिति की विवशताओं से समझौता कर लिया। विश्वविद्यालय में दिये गए कुछ भाषणों की समीक्षा करते हुए बेलिन्स्की ने जून १८३८ में कहा था कि : "परिवर्तन तथा सुधारों की आवश्यकता स्वयं परिस्थिति के अनुसार होनी चाहिए। सुधार के विषय में पैबन्द लगाने की प्रवृत्ति घातक सिद्ध होगी।" 'मेनजेल, गेटे का आलोचक' नामक अपने एक लेख में इन्होंने सामयिक सामाजिक एवं राजनीतिक प्रश्नों की ओर से विमुखता के लिए गेटे की अत्यन्त प्रशंसा की है और कला तथा जीवन की विच्छिन्नता के पक्ष में अपना मत दिया है।

बेलिन्स्की स्वयं भी अपनी विचार-धारा के इस रूप से सन्तुष्ट नहीं थे। उनको कम-से कम इसका पूर्ण भास था कि 'जीवन और कला' दोनों ही जार निकोलस प्रथम की सामाजिक पद्धति के विरुद्ध हैं। इस आस्था ने उनके विचारों तथा धारणाओं की नींव हिला दी जिसके फलस्वरूप इनमें एक आकस्मिक परिवर्तन हुआ और उन्होंने अपने एक परम मित्र बोतकिन को जून १८४० में लिखा : "बन्धु, सचमुच यह बहुत ही बुरा है। आखिर किसके लिए जीवित रहा जाय। मेरी आत्मा घोर निराशा से ग्रस्त है और मुझे विरक्ति तथा थकान का आभास होने लगा है।" कालान्तर में उनकी यह विरक्ति और हतोत्साह पराकाष्ठा को पहुँचा जिसके फलस्वरूप उन्होंने फिर अपने मित्र बोतकिन को अक्तूबर १८४० में लिखा : "मैं इस घृणित वास्तविकता के प्रति किये गए अपने इन निष्फल प्रयत्नों के लिए लज्जित हूँ।"

बेलिन्स्की अपनी त्रुटियों के लिए लज्जित थे। उनका सारा दृष्टिकोण अब बदल रहा था और उसकी रूप-रेखा अब अपने अन्तिम चरण में थी। वास्तव में वह हीगेल से बहुत ही क्रुद्ध थे और उसे वे स्वतन्त्रता तथा बौद्धिकता का घोर शत्रु कहा करते थे। एक बार फिर उन्होंने बोतकिन को लिखा : "हीगेल ने जीवन के यथार्थ को प्रेत-रूप में प्रस्तुत किया है जो अब भी अपने जर्जर अस्थि-पिंजर लिये श्मशान में नाचा करते हैं।" बेलिन्स्की ने यथार्थ के विषय में हीगेल के मत को अस्वीकृत कर दिया और अब वे अधिक तर्कपूर्ण द्वन्द्वात्मकवाद की ओर विकास करने लगे। लारेंस की एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा : "मनुष्य का गतिमार्ग न तो सीधी रेखाओं की भाँति सरल है और न वक्र ही है, वरन् उनकी गति क्रमिक रूप में है; जो सदा उच्च से उच्चतर होती जाती है।" बेलिन्स्की के सामाजिक-राजनीतिक विचार अब भी क्रान्तिकारी प्रजातन्त्रवाद तथा स्वप्नदर्शी समाजवाद के मिश्रण थे, किन्तु अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उन्हें विश्वास हो चला था कि स्वप्नीय सिद्धान्त केवल निराधार निर्मूल-स्वप्नों की भाँति

थे, जो जन-साधारण को उनके वास्तविक संघर्ष से दूर ले जाते थे। वह फ्यूएरबाख के मानव-शास्त्रीय भौतिकवाद से सहमत तो अवश्य थे परन्तु उन्होंने उसके सिद्धान्तों को पूर्णतया कभी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मार्क्स तथा एंगेल्स की प्रारम्भिक रचनाओं का अध्ययन तो किया परन्तु इतिहास के विषय में इनकी भौतिकवादी व्याख्या को समझने तथा स्वीकार करने में ये सर्वथा असमर्थ रहे और इसी प्रकार विभिन्न समस्याओं के निराकरण का अध्ययन करते-करते वे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के बहुत समीप पहुँच गए, किन्तु फिर भी इस सिद्धान्त को वे जीवन में नहीं ला सके। वैसे अपने अन्त काल तक वे समाजवाद के पक्षपाती और प्रबल क्रान्तिकारी प्रजातन्त्रवादी रहे। गोगल को लिखे गए एक प्रसिद्ध पत्र में उन्होंने लिखा था : "रूस की मुक्ति, न तो रहस्यवाद में है न तपस्या (विराग) में, और न धर्म में। केवल संस्कृति-प्रसार, शिक्षा-प्रसार तथा मानवतावादी मार्ग में ही उसे अपनी मुक्ति का एकमात्र पथ दीख सकता है। उसे इस समय न प्रवचनों की आवश्यकता है और न प्रार्थनाओं की ही, क्योंकि इस प्रकार की प्रार्थनाएँ हमारे देश में प्रायः अनेकों बार हो चुकी हैं। वास्तव में जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है वह है जन-साधारण में स्वयं मानवता के आत्मसम्मान की जागृति; जिसे वे अपनी गलीज़ परिस्थितियों में शताब्दियों से भूल चुके हैं। इस समय देश को ऐसे अधिकारों तथा नियमों की आवश्यकता नहीं है जो गिरजाघर के धार्मिक विचारों से बद्ध हों वरन् आवश्यकता है इसकी कि जन-साधारण में ज्ञान हो, न्याय हो तथा उनका पालन उचित एवं कड़े रूप से किया जाय।"

: २ :

अपने सामाजिक, राजनीतिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोण में परिवर्तन के साथ बेलिन्स्की के सौन्दर्य-शास्त्र की परिधि, दायित्व तथा प्रणाली-सम्बन्धी विचारों में भी एक भारी परिवर्तन आ गया था। कला के सिद्धान्तों में उन्होंने साहित्यालोचन के नवीन जनवादी सिद्धान्तों को अपनाया। उन्होंने रूसी साहित्य में प्रगतिवादी, भौतिकवादी तथा प्रजातन्त्रवादी विचारों का संचार किया और इस प्रकार वे दार्शनिक भौतिकवाद पर आधारित उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी सौन्दर्य-शास्त्र के जन्मदाता बन गए। बहुत पूर्व (१८४१) में जब इनके विचारों का पूर्ण विकास भी न हो पाया था इन्होंने (Idea of Art) ('कला-भावना') नामक अपने एक अपूर्ण लेख में कला की परिभाषा देते हुए लिखा : "कला सत्य की आशु अवधारणा है या एक चित्रात्मक अनुचिन्तन। इसी परिभाषा में कला की उपपत्ति, इसका मूल तत्त्व, वर्गीकरण तथा प्रत्येक वर्ग का सार एवं नियम, सभी निहित हैं।"

वास्तव में पाठकों को बेलिन्स्की की इस परिभाषा में सर्वप्रथम जो बात विशेषतः खटकेगी वह यह है कि उसने कला को 'अनुचिन्तन' कहा है। इस प्रकार उसने दो सर्वथा विरोधी एवं नितान्त असंगत धारणाओं को आबद्ध कर दिया है। 'भावमूलक' कला और 'बुद्धिमूलक' अनुचिन्तन! इस विषमता के परिहार-स्वरूप बेलिन्स्की स्वीकार करता है कि : "दर्शन का कविता से सदैव विरोध रहा है और स्वयं यूनान में, जो दर्शन और कविता का मूल क्षेत्र है, एक दार्शनिक ने अपने आदर्श प्रजातन्त्र से कवियों को निर्वासन का दण्ड दिया था, यद्यपि पहले उसने पहले कवियों को अत्यन्त सम्मान दिया है।" फिर वह कवि और दार्शनिक की सापेक्ष

स्थिति पर प्रकाश डालता है : "जन-साधारण के दृष्टिकोण से कवि, माता प्रकृति के उस मुँह-लगे शिशु के समान है जो बिगड़ा हुआ, शरारती, उच्छृङ्खल और कभी-कभी दुष्ट होने पर भी आकर्षक और प्रिय है। दार्शनिक उसी दृष्टिकोण से अनन्त सत्य और बुद्धिमता का दृढ़ संरक्षक है, सत्य का शब्दमय अवतार और गुणों की क्रियात्मक प्रतिमा है। अतः जन-साधारण कवि से एक प्रकार के अपनेपन से ममता-भाव से मिलता है और यदि कभी वह उसके ओछेपन से क्रुद्ध भी हो जाता है तो उसका प्रत्युत्तर रोष से व्यक्त कर देता है, यद्यपि वह रोष मीठी मुस्कान से शुरू होता है। किन्तु दार्शनिक को वह आदरयुक्त आतंक की दृष्टि से देखता है, जिसके पीछे उपेक्षा और उदासीनता है। किन्तु उसी सामान्य दृष्टिकोण अथवा संवेदना के अनुसार इस बात का भी संकेत मिलता है कि कला में और दर्शन में लक्ष्य की एकता है, तथा उसी एक लक्ष्य की प्राप्ति में दोनों के प्रयास भी समान हैं। वह लक्ष्य है—दिव्यता की ओर प्रगति। कविता में लोक-व्यापी धारणा के अनुसार एक अलौकिक शक्ति का अस्तित्व होता है जो सार्वभौम जीवन से उद्भूत सुन्दर भावचित्रों की उच्च संवेदनाओं से मानव आत्मा को दिव्यता की ओर उठाती है। सामान्य धारणा के अनुसार दर्शन मानव-आत्मा और दिव्य लोक में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। वास्तव में कला और अनुचिन्तन के इस पारस्परिक विरोध और उनके निकटतम साम्य में ही उनका मूल तत्त्व आश्रित है।"

अपनी इस व्याख्या में वे भाववाद का ही आश्रय लेते हैं, क्योंकि वे पुनः यह कहते हैं कि : "प्रत्येक वह वस्तु—जिसमें सत्ता है, प्रत्येक वह वस्तु—जिसको हम पदार्थ, आत्मा, प्रकृति, जीवन, मनुष्यत्व, इतिहास, संसार, ब्रह्माण्ड कहते हैं वह सब स्व-ज्ञेय अनुचिन्तन है। प्रत्येक वह वस्तु—जिसमें सत्ता है, सार्वभौम जीवन के तथ्यों और तत्वों की अगणित विविधता—केवल अनुचिन्तन के ही तथ्य तथा रूप हैं। अन्त में केवल अनुचिन्तन और अनुचिन्तन ही शेष रह जाता है। अनुचिन्तन ही क्रिया है और समस्त क्रिया में गति की पूर्व धारणा अनिवार्य है। अनुचिन्तन की गति द्वन्द्वात्मक होती है अर्थात् विचार विचारों के ही अन्दर से विकसित होते चलते हैं।

"विचार का उद्गम बिन्दु दिव्य 'परम' 'भाव' (Idea) है। उच्चतर अलौकिक न्याय (Logic) या तत्त्वज्ञान के नियमों के अनुसार यह 'भाव' स्वतः अपने अन्दर से विकसित होता चलता है। यही विचार या चिन्तन की प्रगति है। विचारों का इस प्रकार अपने अन्दर से विकसित होना उसके अपने गुणों का विकास है।

"भाव का इस प्रकार स्वयं से अथवा स्वयं में ही उद्भव, दार्शनिक भाषा में 'स्वाभाविक' कहलाता है। इस स्वाभाविक विकास की एक शर्त यह है कि अनुभव से प्राप्त प्रोत्साहनों तथा बाह्य सहायक स्थितियों का पूर्ण अभाव। भाव का मूल तत्त्व ही अपने में स्वाभाविक विकास की प्राण-शक्ति रखता है; जैसे अन्न के एक दाने में सम्पूर्ण पौधे को उत्पन्न करने की शक्ति होती है और जितना अधिक मूल तत्त्व उस अन्न के दाने में होता है उतना ही शक्तिवान उससे उत्पन्न पौधा भी होता है; जितना कम मूल तत्त्व उस बीज में होता है उतना ही शक्तिहीन पौधा होता है। शाहबलूत तथा देवदारू के छोटे-छोटे बीजों से शाहबलूत तथा देवदारू के गगनचुम्बी वृक्ष उत्पन्न होते हैं तो दूसरी ओर आलू के

एक बीज से जो शाहबलूत के बीज से पचास गुना तथा देवदारू के बीज से आकार में लगभग सहस्र गुना बड़ा होता है, एक छोटा सा पौधा उत्पन्न होता है, जो भूमि से कुछ ही इंच ऊपर उठने में समर्थ हो पाता है।"

जिस लेख ('कला-भावना') से मैं उद्धरण दे रहा हूँ। उसे लिखते समय तक वे पूर्णतया पदार्थवादी नहीं हो पाए थे इसीलिए वे पदार्थ को भी भावना की पुञ्जीभूत अभिव्यक्ति मानते थे : "विचार-प्रणाली अनिवार्यतः भावना के दो रूपों की अनुमिति करती है जिनका उसी-में अन्वय, एकात्म तथा समत्व सिद्ध हो जाता है। वे दोनों अनुमितियाँ हैं—अहम् (आध्या-त्मिक चेतना) तथा इदम् (बाह्य, ग्रहीत वस्तु, चिन्तन का जगत), इससे स्पष्ट है कि विचार-प्रणाली क्रियात्मक रूप में दो अनिवार्यतः प्रतिकूल बातों की पूर्वानुमिति करती है। अहम् (कर्ता) और इदम् (कर्म) और यह स्थिति किसी-तर्कशक्ति-युक्त प्राणी अर्थात् मनुष्य के बिना अकल्पनीय है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि भाववादी दर्शन अपनाते हुए भी बेलिन्स्की अपने सौन्दर्य-शास्त्र का केन्द्र-बिन्दु 'मानव' को ही मानता है। बेलिन्स्की का यह मानव अपने में स्वतन्त्र नहीं है। वह समय और युग से सम्बद्ध है।

"प्रकृति भावना का वह प्रारम्भिक रूप है जो सम्भावना से वास्तविकता की ओर अग्रसर होती है। किन्तु 'वास्तविक सत्ता' की ओर उसका प्रथम चरण यकायक ही नहीं अग्रसर हो गया, वरन् अगणित क्षणों से उसका निर्माण हुआ जिसके प्रत्येक क्षण में सृष्टि का एक विशेष अंश बना। इसी क्रम के अनुसार मनुष्य के जीवन का प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षण निश्चित समय पर ही होता है, कभी पहले या कभी पीछे नहीं होता। प्रत्येक महान् पुरुष अपने समय के कार्य को सम्पन्न करता है और समकालीन समस्याओं का निराकरण करता है। जिस समय में वह उत्पन्न होता है उसकी समस्त क्रियाओं में उसके समय की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति निहित रहती है।"

इस प्रकार प्रकृति की श्रेष्ठतम कृति मनुष्य—आदिम समुदाय के प्रथम सामाजिक सम्बन्ध से आज के अन्तिम ऐतिहासिक सत्य तक चली आने वाली एक ही अटूट शृङ्खला है जो पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य एक ही सोपान के रूप में है, जहाँ निम्न सीढ़ी पर चढ़े बिना कोई भी उच्च सीढ़ी तक नहीं पहुँच सकता। किन्तु इसके आगे वे कला की जो व्याख्या देते हैं वह उनके भाववादी दर्शन पर आधारित है और उसमें अधिकांश तत्त्व जर्मन भाववादी सौन्दर्य-शास्त्र से ही लिए गये हैं। किन्तु यहीं पर बेलिन्स्की के विकास-क्रम की इतिश्री नहीं हो जाती। कला के सामाजिक दायित्व के प्रति वे दिनोदिन अधिक जागरूक हो जाते हैं।

'A view of Russian literature' नामक लेखों के दूसरे क्रम में १८४७ में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है : "कला को जन-साधारण की सेवा करने का अधिकार न देने का अर्थ है कला को निराधार बना देना तथा उसको एक-मात्र जीवनदायिनी प्राण-शक्ति से वंचित कर देना।" इसी प्रकार बाद में उन्होंने हीगेल के सौन्दर्य-शास्त्र-विषयक उन भाववादी विचारों की तीव्र भर्त्सना की थी कि कला मानवीय जीवन-प्रक्रियाओं से सर्वथा स्वतन्त्र केवल 'सुन्दर' की परम भावना का ही अनुचिन्तन है। उन्होंने इसीलिए कला को 'सत्य' की आशु अवधारणा कहा है। वह चाहते थे कि कला का वास्तविक जीवन से, जन-साधारण के विचारों से अभिन्न रूप से सम्बन्ध रहे। उन्होंने इस सिद्धान्त का घोर विरोध किया कि कला तथा जीवन को अपना-अपना पृथक् मार्ग अपनाना

चाहिए। इतना ही नहीं उन्होंने उन लेखकों तथा कलाकारों की निन्दा भी की जो संसार की वास्तविकताओं की ओर ध्यान न देकर केवल अनुभवहीन स्वप्न देख रहे थे। उन्होंने एक लेख में लिखा कि "कवि केवल स्वप्नों के ही संसार में अधिक नहीं रह सकता वह समकालीन वास्तविकता के साम्राज्य में एक सामाजिक प्राणी भी है। समाज उसे केवल लोकरंजक रूप में देखना नहीं चाहता वरन् वह उसे आध्यात्मिक आदर्श जीवन के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में देखना चाहता है—एक ऐसे देवता के रूप में, जो जटिल-से-जटिल समस्याओं (प्रश्नों) का उत्तर दे सके''''एक ऐसे मसीहा के रूप में, जो सर्वसाधारण के दुःख एवं पीड़ा का भास उनमें करने से पूर्व अपने में कर सके और उनको कविता की रूप-रेखा प्रदान करके उसका निवारण कर सके।"

प्रस्तुत विवेचन तथा आंशिक उद्धरणों से इतना स्पष्ट हो गया कि द्वन्द्वात्मक भाववाद से भौतिक जनवाद तक बेलिन्स्की की प्रगति अत्यन्त जटिल रही है। वास्तव में यह नहीं कहा जा सकता कि अपनी अन्तिम कृतियों में भी वह मानव की आन्तरिक आध्यात्मिक मर्यादाओं से पूर्णतया उदासीन हो चुका था या उसने भौतिकवाद की यान्त्रिकता स्वीकार कर ली थी। जैसा पहले संकेत किया जा चुका है उसने मार्क्स और एंगेल्स की कुछ कृतियाँ अवश्य पढ़ी थीं किन्तु वे उसे प्रभावित न कर सकीं। उसकी चिन्तना की दार्शनिक आधारभूमि भी इस तरह बदलती गई है कि किसी एक अंश को कहीं भी प्रामाणिक अन्तिम धारणा के रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता। किन्तु फिर भी जहाँ तक जनता का संघर्ष, दुःख, विकास के प्रयास और साहित्य-सृजन के जीवनपरक अर्थों का सम्बन्ध है बेलिन्स्की मार्क्सवादी न होते हुए भी महान् रूसी मानवतावादी परम्परा के प्रथम उन्नायकों में से हैं। इसका ज्ञान कि वह मार्क्सवादी नहीं था इसलिए भी आवश्यक है कि मास्को से बेलिन्स्की की कुछ कृतियों के अंग्रेजी रूपान्तर वितरित होने के बाद भारतीय भाषाओं की कई आलोचनात्मक कृतियों में मार्क्सवाद का समर्थन करते हुए जाने-अनजाने बेलिन्स्की का प्रमाण प्रस्तुत किया जाने लगा है। यह अज्ञान का ही द्योतक है।

डॉक्टर रामअवध द्विवेदी

आई० ए० रिचर्ड्स के समीक्षा-सिद्धान्त

सन् १६३० ई० के लगभग प्रसिद्ध अंग्रेजी विचारक आई० ए० रिचर्ड्स तथा उनके सहयोगियों ने जिस नवीन समीक्षा-प्रणाली का आरम्भ किया उसका महत्त्व आज इंग्लैंड, अमरीका तथा संसार के अन्य देशों में समान रूप से स्वीकार किया जाता है। उनके सहयोगियों में एम्पसन, लीविस प्रभृति गम्भीर विचारक तथा प्रवीण शिक्षक उल्लेखनीय हैं। टी० एस० इलियट से इस समुदाय का विचार-साम्य है। अतएव इनकी भी गणना उसके साथ ही की जाती है। अमरीका में आई० ए० रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का प्रभाव विशेष रूप से लक्षित हुआ है। रैनसम, वारेन, केनेथ बर्क तथा नवीन आलोचना के अन्य प्रवर्त्तक आई० ए० रिचर्ड्स के अनुयायी हैं और उन्हींका नवीन सुझाव लेकर अग्रसर हुए हैं।

प्रायः अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यूरोपीय चिन्तन-प्रणाली पर प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्टे के विचारों की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। डेकार्टे ने विचारों (Ideas) की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए उनको जीवन के स्थूल तत्त्वों से एकदम भिन्न माना है। डेकार्टे का प्रभाव इतना व्यापक था कि यह भेद उसके उपरान्त बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक निरन्तर माना गया। जर्मन दार्शनिक काण्ट की धारणा भी डेकार्टे से मिलती-जुलती थी, अतएव उससे भी विचार और बाह्य उपकरणों में जो भेद डेकार्टे ने प्रतिपादित किया था उसका समर्थन हुआ। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में प्लेटो के अनुयायियों और समर्थकों द्वारा भी डेकार्टे के दार्शनिक विचारों का ही समर्थन हुआ। फलतः साहित्य में विचारों की सत्ता, भाषा तथा द्रव्य (Matter) से भिन्न मानी गई। काव्य में अलंकारों तथा छन्द के नाद-सौन्दर्य को केवल अलंकरण-मात्र समझा गया और उनका सम्बन्ध काव्य की आत्मा से किसी प्रकार भी नहीं माना गया। अर्थ यह है कि काव्य के अन्तर्गत विचार को ही प्रमुख स्थान दिया गया और यह समझ लिया गया कि विचारों तथा उनके प्रकाशन के माध्यम के बीच में कभी न भर सकने वाली गहरी खाई होती है। विचार और जीवन के वास्तविक अनुभव आशा-निराशा, दुःख-आह्लाद इत्यादि में भी कोई परस्पर सम्बन्ध है, ऐसी कल्पना न हो सकी। जब आई० ए० रिचर्ड्स ने अपना साहित्यिक चिन्तन तथा अनुसन्धान प्रारम्भ किया उस समय ऐसी ही परिस्थिति थी, जिस से असन्तुष्ट होकर उन्होंने नये ढंग से सोचने का प्रयत्न किया तथा अपनी प्रतिभा के बल से अनेक प्रचलित धारणाओं को अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया।

रिचर्ड्स महोदय ने समीक्षा का प्रधान उद्देश्य साहित्यिक मूल्यांकन बताया है। उनका उन लोगों से तात्त्विक मतभेद है जो कहते हैं, 'कला कला के लिए है।' उनका मत है कि कला और जीवन का घना और अभेद्य सम्बन्ध है अतएव कला जीवन को प्रभावित करती है। इस प्रभाव के स्वरूप पर भी पर्याप्त विचार किया गया है। साहित्यिक मूल्य (Value) क्या है

तथा किन मानसिक प्रवृत्तियों एवं अवस्थाओं से इसका सम्बन्ध है इन प्रश्नों का बड़ा ही स्पष्ट विवेचन रिचर्ड्स के लेखों में मिलता है। यह कहना कि कला हमारे मन की किसी सौन्दर्य-परक भावना को तृप्त करती है, भ्रामक है, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान ने स्पष्ट कर दिया है कि सौन्दर्य की भावना कोई अलग और विशिष्ट प्रकार की भावना नहीं है, अतएव उसके तृप्त करने का प्रश्न सामने नहीं आता। साथ-ही-साथ मूल्य की कल्पना हम किसी स्वतन्त्र दार्शनिक विचार या प्रत्यय (Concept) के रूप में नहीं कर सकते। क्योंकि वास्तव में ऐसे विचारों का अस्तित्व ही सन्दिग्ध है, जिनका विश्लेषण द्वारा वास्तविक जीवन से सम्बन्ध हम स्थिर नहीं कर सकते।

कुछ ऐसी धारणा चली आई है कि अच्छाई, सौन्दर्य इत्यादि का स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों की पहुँच से परे किसी निराधार चिन्तन के लोक में निर्धारित होता है और सम्भवतः साहित्यिक वैशिष्ट्य अथवा मूल्य के बारे में भी यही सत्य है। आधुनिक वैज्ञानिक तथा विशेषतया मनोवैज्ञानिक खोजों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि यह धारणा निर्मूल है। निराधार और पूर्ण रूप से स्वतन्त्र विचारों की कोई सत्ता नहीं है और इसलिए साहित्यिक मूल्यों का स्वभाव हम उनके सहारे नहीं समझ सकते।

आध्यात्मिक चिन्तन का सहारा छोड़कर रिचर्ड्स ने मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। स्नायु-मण्डल की क्रियाओं के अध्ययन से जो नवीन निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं उनसे रिचर्ड्स के विचार प्रभावित हुए हैं। मानव-मन में निरन्तर नवीन उद्वेग (Impulses) उठा करते हैं उन्हींके समुचित सन्तुलन और संगठन पर मानसिक सुख और शान्ति निर्भर रहती है। मन स्वभाव से ही उठने वाले उद्वेगों को एकत्र तथा व्यवस्थित करने में स्वतः संलग्न रहता है। उसकी प्रवृत्ति मानसिक उथल-पुथल और क्रान्ति के बीच सुव्यवस्था उत्पन्न करने की है। उद्वेगों को रिचर्ड्स ने दो श्रेणियों में बाँटा है, आकांक्षा और घृणा। अधिक-से-अधिक आकांक्षाओं को सुव्यवस्थित करने वाला तथ्य ही पूर्णरूपेण मूल्यवान माना जायगा। ऐसी आकांक्षाएँ वाञ्छनीय हैं, जो कम-से-कम अन्य आकांक्षाओं को बिना दलित और नष्ट किये हुए उद्वेगों में सम्यक् योजना उत्पन्न कर सकें। मानसिक व्यवस्था केवल अपनी इच्छा के द्वारा ही नहीं प्राप्त की जा सकती, बाह्य प्रभावों और विशेषकर दूसरों के विचारों द्वारा भी इस ध्येय की प्राप्ति होती है। साहित्य दूसरों की भावनाओं और विचारों का भण्डार है अतएव किसी भी सभ्य समाज में उसके द्वारा उद्वेगों और भावनाओं का सम्यक् संगठन सम्भव होता है। यही है साहित्य के मूल्य की मनोवैज्ञानिक सार्थकता।

रिचर्ड्स का मत है कि मूल्य (Value) तथा प्रेषणीयता (Communication) की प्रक्रिया, इन्हीं दोनों स्तम्भों पर आलोचना के भवन का निर्माण सम्भव है। मनुष्यों के विचारों और भावनाओं में प्रारम्भ से ही प्रकाशन अथवा प्रेषणीयता की सम्भावना निहित रहती है। युगों से मनुष्य इसलिए ही सोचता और अनुभव करता आता है कि वह अपने विचारों और अनुभूतियों को दूसरों के लिए व्यक्त कर सके। कला के निर्माण में भी यही प्रयोजन छिपा रहता है, अतएव प्रेषणीयता कला के धर्म में सन्निविष्ट हो गई है। प्रेषणीयता का वास्तविक अर्थ दूसरों के मन में समान अवस्था का उत्पन्न करना है। जब हम विचार अथवा किसी बात का अनुभव करते हैं तब अपने वातावरण से हमारा एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध स्थापित होता है। जब वैसा ही सम्बन्ध वातावरण और किसी अन्य व्यक्ति के बीच स्थापित होता है तब समान

मानसिक चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं। किसी सूचना-मात्र का वहन अत्यन्त सरल ढंग से हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तियों का दूसरे तक पहुँचाना अत्यन्त कठिन कार्य है, इसके लिए असाधारण माध्यम की आवश्यकता होती है। चुने हुए शब्द एक-दूसरे से मिलकर तथा सुचारु रूप से गुम्फित होकर ऐसा विशिष्ट माध्यम उपलब्ध करते हैं। इसी अर्थ में छन्दों में बँधी हुई काव्य की भाषा भाव-प्रकाशन में साधारण गद्य की अपेक्षा अधिक समर्थ मानी जाती है।

अर्थ से क्या तात्पर्य है, इस प्रश्न पर विस्तार के साथ विचार करते हुए रिचर्ड्‌स ने भाषा के स्वभाव और कार्य का गम्भीर विवेचन किया है। भाषा ही भाव-प्रकाशन का माध्यम है। भाषा ऐसे प्रतीकों का एक समूह है जो श्रोता अथवा पाठक के मन में ऐसी अवस्था उत्पन्न करते हैं जो वक्ता के मन की अवस्था के ही अनुरूप है। इस प्रकार भाषा का प्रतीकत्व वक्ता और श्रोता के बीच एक अखण्ड मानसिक व्यापार का सूत्रपात करता है। प्रतीकों में तथ्यों की सूचना के साथ-ही-साथ वक्ता की मानसिक प्रवृत्तियों का संकलन भी मिलता है। भाषा के प्रभाव के अनेक स्तर हैं। सबसे निम्न स्तर में श्रोता या पाठक केवल नाद से अवगत होता है और उसीका प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। ध्वनियों की परख और विभेद के साथ-ही-साथ श्रोता के मन में विविध प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। इसके उपरान्त शब्दों के पहचानने की अवस्था आती है। इन शब्दों की सहायता से अत्यन्त सरल विचारों तथा साधारण तथ्यों का ही बोध कराया जा सकता है। विचार और जीवन के अनुभव अधिकाधिक जटिल होते जाते हैं, अतएव इनके प्रकाशन और ग्रहण के लिए अधिक जटिल प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। अतः व्यक्तिवाचक संज्ञाओं तथा वर्णनात्मक वाक्यांशों इत्यादि से काम लिया जाता है। अभिप्राय समझने में व्याकरण सहायक होता है, किन्तु उससे भी अधिक सहारा मनोविज्ञान की जानकारी से मिल सकता है, क्योंकि मन में उत्पन्न तथा विलीन होने वाले विचारों के परस्पर सम्बन्ध भाषा में निरन्तर लक्षित हुआ करते हैं। कुछ और ऊपर उठकर भाषा का वह स्तर आता है जिसमें रूपकों का प्रयोग किया जाता है। रूपकों में कम-से-कम दो पक्षों का समावेश साथ-ही साथ होता है अतएव उनके द्वारा हम थोड़े ही में बहुत-कुछ व्यक्त कर सकते हैं। श्रोता और वक्ता दोनों ही भाषा के इन विभिन्न स्तरों से परिचित होते हैं, अन्तर केवल यह है कि कवि के मन में शब्द, वाक्य, रूपक इत्यादि उत्पन्न होते हैं। श्रोता अथवा पाठक इनका ग्रहण बाहर से करता है। जब हम शब्दों के प्रतीकत्व के सम्बन्ध में विचार करते हैं तब यह पता चलता है कि प्रत्येक प्रतीक में तथ्यों की सूचना के साथ-ही-साथ भाव, चेष्टाएँ, संकेत, अभिप्राय इत्यादि संचित रहते हैं। भाषा का कार्य पूर्णरूपेण तभी सफल माना जा सकता है जब शब्दों के प्रतीक इन सभी विशेषताओं को लक्षित करने में समर्थ हों। शब्दों का कार्य अन्य शब्दों के साहचर्य से ही सफल और सुचारु रूप से होता है, अतएव उनके परस्पर सम्बन्ध का विषय केवल रोचक ही नहीं वरन् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है और इसके बारे में रिचर्ड्‌स के विचार ध्यान देने योग्य हैं।

भाषा जीवन में सामान्य रूप से और साहित्य में विशेष रूप से अर्थ-वहन का कार्य करती है। अर्थ-ग्रहण द्वारा ही हम प्रभावित होते हैं, अतः अर्थ से क्या अभिप्राय है यह प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आता है। मोटे ढंग से रिचर्ड्‌स ने चार प्रकार के अर्थों का निर्देश किया है—

१. (Sense) वस्तु-स्थिति की परिचयात्मिका शब्द-शक्ति, २. (Feeling) भाव अर्थात् विषय के प्रति लेखक अथवा वक्ता की चेष्टा, ३. (Tone) ध्वनि अर्थात् श्रोता अथवा पाठक के प्रति लेखक की चेष्टा तथा ४.(Intention) लेखक अथवा वक्ता का अभिप्राय। इन चारों उपकरणों के मेल से ही भाषा का सम्पूर्ण अर्थ व्यक्त होता है, किसी एक ही अंग को लेकर चलने से भ्रम और अनर्थ की आशंका रहती है। प्रयोजन के अनुसार किसी विशेष प्रकार के अर्थ पर अधिक जोर दिया जाता है। उदाहरणार्थ एक वैज्ञानिक का सबसे अधिक आग्रह यथातथ्य उल्लेख नं० १ पर होगा। वह नं० २ को अलग रखने का प्रयत्न करेगा। नं० ३ के सम्बन्ध में वह अपने विचार ज्ञाताओं के विचारार्थ प्रेषित करेगा और उसका अभिप्राय होगा तथ्य का निरूपण। इसी भाँति जनता को प्रभावित करने की इच्छा से वशीभूत वक्ता नं० ३ और नं० २ को अधिक महत्त्व देगा, यद्यपि वह नं० १ को एकदम भुला नहीं सकता। साहित्य में साधारणतः नं० २ और ३ को अधिक महत्त्व दिया जाता है, यद्यपि इस सम्बन्ध में कोई कड़ा नियम नहीं बनाया जा सकता। आलोचक का कर्तव्य है कि वह शब्द की शक्तियों को पहचानकर सम्पूर्ण अर्थ तक पहुँचने का प्रयास करे। इस प्रधान उद्देश्य को भुलाने से अनेक वितर्क पैदा हो जाते हैं। अंग्रेजी कवि कीट्स का यह कथन कि सौन्दर्य ही सत्य और सत्य ही सौन्दर्य है, बहुत बड़े विवाद का विषय केवल इसलिए बन गया है कि यह बात भुला दी गई है कि यह सौन्दर्य के प्रति केवल कवि की चेष्टा का उल्लेख है; किसी तथ्य का निरूपण नहीं। जब गणितज्ञ पूछता है कि कविता से क्या सिद्ध होता है तब वह भ्रमवश नं० २ अर्थात् भाव के स्थान पर नं० १ अर्थात् तथ्य खोजता है।

उत्तम काव्य में इन चार प्रकार के अर्थों का विवेकपूर्ण समन्वय अथवा संगठन मिलता है। उदाहरणार्थ रिचर्ड्स, इलियट, लीविस, प्रभृति समालोचकों ने सत्रहवीं शताब्दी के अंग्रेजी अध्यात्मवादी कवियों की प्रशंसा मुख्यतः इसलिए की है कि उनके काव्य में बुद्धि, भाव, ध्वनि इत्यादि की सम्यक् व्यवस्था मिलती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार १६वीं शताब्दी के यूरोपीय रोमानी कवियों की कृतियों में बौद्धिक उपकरणों की अत्यधिक न्यूनता और भाव के प्रचुर बाहुल्य के कारण उचित व्यवस्था का विधान नहीं हो सका है, यही उनकी कमी है। अलंकारों और विशेषतः रूपकों की सार्थकता भी अर्थों के एकीकरण और संगठन में ही है। रूपकों में सूचना, भाव, संकेत इत्यादि घनीभूत होकर विद्यमान रहते हैं और इस भाँति अर्थ के कई स्तर और पक्ष उनमें बीज रूप से निहित रहते हैं जिनको हम काव्य की अस्पष्टताएँ (ambignities) कहते हैं उनका भी तात्पर्य कुछ ऐसा ही है। कोरे बौद्धिक सम्बन्ध तो तर्कगम्य होते हैं और उनके समझने में कठिनाई नहीं होती, किन्तु जब एक ही बिन्दु पर तथ्य, भाव, ध्वनि और नाना प्रकार के संकेत इत्यादि एकत्र हो जाते हैं तब शब्द-प्रतीकों के रूप में शीघ्र-लिपि या संकेत-लिपि के चिह्नों का काम करते हैं और थोड़ी बहुत अस्पष्टता स्वाभाविक हो जाती है। कविता के बाह्य स्वरूप के सम्बन्ध में भी रिचर्ड्स ने नवीन विचार प्रस्तुत किये हैं। परम्परागत नपे-तुले छन्दों में लिखी हुई कविता ढर्रे की होती है और नियमों के अनुशासन के कारण एक लकीर पकड़कर आगे बढ़ती है, अतएव उसमें वैविध्य और गम्भीरता की कमी होती है। लैटिन कविता छन्दों के कड़े अनुशासन के कारण ही उच्चतम महत्ता को प्राप्त करने से वंचित रही। कविता के लिए लय अनिवार्य रूप से वांछनीय है, किन्तु इस लय (rhythm) का स्वरूप स्वीकृत छन्दों में बँधकर इतना

कृत्रिम और छिछला हो जाता है कि वह केवल अल्पवयस्कों की रुचि को तृप्त कर सकता है। वास्तव में लय की स्थिति काव्य की गहराई में है और उसका पूरा स्वरूप शब्दों की ध्वनि और उनके अर्थ के परस्पर संयोग से पग-पग पर निर्धारित होता चलता है। इस प्रकार कविता के सम्पूर्ण अर्थ की कल्पना में लय और विविध प्रकार के अर्थों का सम्यक् योग नितान्त आवश्यक है।

रिचर्ड्स की समीक्षा-पद्धति मनोवैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक है और उसका व्यवहार पक्ष उसके सिद्धान्त पक्ष से भी अधिक पुष्ट है। उन्होंने प्रारम्भ में प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का सहारा लिया किन्तु धीरे-धीरे उसका परित्याग करते गए हैं। मनोविश्लेषण की मान्यताओं का जिक्र उनके लेखों में मिलता है किन्तु उनका विश्वास है कि आलोचना के लिए मनोविश्लेषण से विशेष सहायता नहीं मिल सकती। उन्होंने लिखा है कि 'लियोनार्डो दविन्सी' के सम्बन्ध में फ्रायड के लेख और गेटे के सम्बन्ध में युंग के लेख पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि मनोविश्लेषण के पण्डित साहित्यिक आलोचना में कितने कम कुशल होते हैं। रिचर्ड्स साधारण मनोविज्ञान और दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर ही अपनी नवीन पद्धति का निर्माण कर सके हैं। विश्लेषण की क्रिया में वे पारंगत हैं। उनकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने अपने युग को यह बताया कि शब्दों के अर्थ, अलंकार, ध्वनि, लय संकेत इत्यादि के सूक्ष्म अध्ययन से कविता के वास्तविक प्रभाव को हम किस तरह समझ सकते हैं।

कहा जाता है कि रिचर्ड्स की महत्ता तीन बातों में है—१. समस्या की तह तक जाना, २. ठीक-ठीक प्रश्न पूछना और ३. निष्कर्षों को समुचित ढंग से व्यक्त करना। एक सफल अध्यापक होने के नाते भाषा और साहित्य की शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने अनुसन्धान किया है और उनकी नवीन धारणाएँ गम्भीर तथा बहुमूल्य हैं।

रिचर्ड्स के शिष्यों और सहयोगियों में सर्वप्रथम एम्पसन का उल्लेख करना आवश्यक है। इन्होंने रिचर्ड्स के साथ रहकर साहित्य में अस्पष्टता के महत्त्वपूर्ण प्रश्न का अध्ययन किया। इनकी पुस्तक में सात प्रकार की अस्पष्टताओं का विस्तारपूर्वक और उदाहरणों के साथ विवेचन मिलता है। इनके मतानुसार अस्पष्टता का कार्य है, गद्य की साधारण भाषा को सूक्ष्म अर्थों तथा संकेतों से समन्वित करना। इसके पूर्व अस्पष्टता को लोग दोष मनाते आए थे, किन्तु इन विचारकों के नवीन सिद्धान्त के अनुसार अस्पष्टता भाषा का एक गुण है। सन् १६३६ ई० में रिचर्ड्स ने स्वयं अस्पष्टता को अपनी पुस्तक 'फ़िलासफ़ी आफ़ रिटोरिक' में भाषा की एक अनिवार्य और बुनियादी विशेषता माना है।

अस्पष्टता का अर्थ है किसी कथन से एक से अधिक अर्थ प्राप्त करने की सम्भावना। कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अध्यापक डॉ० एफ़० आर० लीविस भी किसी अंश में आई० ए० रिचर्ड्स के अनुयायी हैं। उनकी पुस्तकों में अनेक स्थलों पर रिचर्ड्स और इलियट की प्रणाली का अनुसरण किया गया है। नवीन और प्राचीन अंग्रेजी कविता का मूल्यांकन उन्होंने सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर किया है। वर्तमान कविता को वे प्राचीन कविता की पृष्ठभूमि में देखने का प्रयास करते और इस भाँति प्राचीन स्मृतियों तथा नवीन कविता के प्रभाव को अपनी आलोचना में संगठित रूप से उपलब्ध करते हैं। डॉ० लीविस भी काव्य में आन्तरिक व्यवस्था को आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में पोप, ड्राइडेन से अधिक सफल कवि था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसकी कविता की व्यवस्था कहीं अच्छी है। उनको शैली की 'वेस्टविण्ड'

वाली कविता आवश्यक संगठन के अभाव के कारण अच्छी नहीं जँचती है। टी० एस० इलियट रिचड्ˈस के मित्र और समर्थक हैं। मतभेद केवल एक बात में है—इलियट में धर्म के प्रति आस्था है, रिचड्ˈस का दृष्टिकोण पूर्णरूपेण दार्शनिक और वैज्ञानिक है। इलियट का कथन है कि कविता के लिए भावावेश ही पर्याप्त नहीं है, आन्तरिक संगठन भी उतना ही वांछनीय है। इलियट की कविता रिचड्ˈस के मानदण्ड से खरी उतरती है क्योंकि उसमें लय, ध्वनि और अर्थ का गम्भीर समन्वय है। इलियट परम्परावादी हैं, किन्तु उनके लिए परम्परा का अर्थ है रूढ़ियों से परे युग-युग से चली आने वाली संस्कृति का परिष्कृत और संचित प्रभाव। अतः उनके काव्य में अनेक युगों के विचार और सांस्कृतिक मूल्य आत्मसात् होकर निखर उठे हैं।

एक प्रकार से अमरीका में प्रचलित नवीन आलोचना के प्रवर्त्तक की उपाधि आई० ए० रिचड्ˈस को ही मिलनी चाहिए। उन्हींकी चिन्तन और आलोचना-पद्धति को लेकर मैक्लीश, रैन्सम, वारेन, केनिथ बर्क आदि विचारकों ने इस नवीन आन्दोलन को आगे बढ़ाया है। नवीन आलोचक विश्लेषण द्वारा भाषा के सूक्ष्मतर प्रभावों को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार ध्वनि, लय, रूपक, प्रतीक तथा मन की विविध चेष्टाओं के अध्ययन द्वारा काव्य के सम्पूर्ण अर्थ को प्राप्त किया जाता है। नवीन आलोचना की परिपाटी मनोविज्ञान की मान्यताओं तथा शब्द-शक्ति और अर्थ के स्वभाव-निरीक्षण के आधार पर निर्मित है। रिचड्ˈस और इलियट का प्रभाव आज इंग्लैंड से भी अधिक अमरीका में देखने को मिलता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने लेखों में रिचड्ˈस के सिद्धान्तों का समर्थन और उनकी सूक्ष्मदर्शिता की अनेक स्थलों पर प्रशंसा की है। शुक्ल जी मुख्यतः भारतीय काव्य-शास्त्र अथवा प्राचीन काव्य-परम्परा के हिमायती थे। नवीन वादों और मतों की उन्होंने कड़ी आलोचना तथा उनसे चमत्कृत न होने की हिदायत बार-बार की है। उनकी धारणा थी कि आधुनिक युग में अनेक यूरोपीय वादों एवं सिद्धान्तों का कुत्सित प्रभाव हमारे अपने साहित्य को विकृत कर रहा है। उदाहरण के लिए उन्होंने विशेष रूप से जिन मतों का उल्लेख किया है, वे हैं—१. कला-कला के लिए का सिद्धान्त, २. काव्य में अभिव्यञ्जनावाद, ३. प्रभाववाद तथा ४. रहस्यवाद। इन सभी मतों के खण्डन में उन्होंने आई० ए० रिचड्ˈस के नवीन विचारों तथा उनकी व्यावहारिक पद्धति का सहारा लिया है। इसीलिए उन्होंने अपनी पुस्तकों में कई जगह आधुनिक यूरोपीय आलोचना-शास्त्र से भ्रम और उलझन निर्मूल करने का श्रेय रिचड्ˈस को प्रदान किया है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि रिचड्ˈस ही ऐसे यूरोपीय विचारक हैं जिनके प्रति शुक्ल जी के मन में अश्रद्धा और अविश्वास नहीं है। रिचड्ˈस ने जीवन और कला में सीधा सम्बन्ध माना है और उन लोगों का घोर विरोध किया है जो समझते हैं कि कला एक ऐसी सौन्दर्य-भावना को तृप्त करती है जो शेष जीवन से असम्बद्ध और परे है। शुक्ल जी का अपना विश्वास भी ऐसा ही है। क्रोचे का अभिव्यञ्जनावाद शुक्ल जी को बिलकुल नहीं रुचता। क्रोचे ने सुस्पष्ट और बिखरे हुए सहज ज्ञान को ही अभिव्यञ्जना की संज्ञा देते हुए काव्य-शास्त्र के स्वीकृत तथा परम्परागत मानदण्डों का पूर्ण परित्याग कर दिया है। आचार्य शुक्ल की सम्मति में काव्य में रमणीयता और भावोन्मेष उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिए। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए काव्य के सभी अवयव और उपकरण अपेक्षित हैं। प्रभाववाद और रहस्यवाद दोनों ही बुद्धि की सत्ता को

नहीं मानते। प्रभाववाद तर्क और सिद्धान्त को छोड़कर मन पर पड़ने वाले तात्कालिक प्रभाव को ही सब-कुछ मानता है। ऐसी आलोचना किसी निश्चित आधार के अभाव में अविश्वसनीय होती है। रहस्यवाद शुक्ल जी की सम्मति में काव्य की वस्तु नहीं वरन् अध्यात्म की वस्तु है। जिस रहस्यवादी कविता में केवल तन्मयता, विह्वलता, प्रेम और भक्ति मिलती है किन्तु जिसमें बुद्धि के वैभव का पूर्ण अभाव रहता है, वह साहित्य के क्षेत्र में कदापि ऊँचा स्थान नहीं पा सकती। हम ऊपर बता आए हैं कि रिचर्ड्स ने १६वीं शताब्दी की रूमानी कविता को उच्च कोटि की कविता नहीं माना है, क्योंकि उसमें विचारों की न्यूनता है। आचार्य शुक्ल ने काव्य में बुद्धि के महत्त्व को इतने जोरदार शब्दों में अभिव्यक्त किया है कि कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह उस पर आवश्यकता से अधिक जोर दे रहे हैं। शुक्ल जी का दृष्टिकोण मुख्यतः क्लासिकल है। रिचर्ड्स और इलियट ने बुद्धि के आग्रह को स्वीकार करने पर भी भाव को ही अधिक महत्त्व दिया है।

रिचर्ड्स की आलोचना-पद्धति में विश्लेषण तथा शब्द-शक्ति के अध्ययन पर विशेष जोर दिया गया है। आचार्य शुक्ल ने भी शब्द शक्ति के विषय को गम्भीर और रोचक माना है। अर्थ के सूक्ष्म विवेचन पर उनका विशेष आग्रह है। उन्होंने 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' शीर्षक निबन्ध में रिचर्ड्स द्वारा किये हुए अर्थ-भेद की तुलना प्राचीन भारतीय आचार्यों द्वारा किये हुए भेद से की है। आधुनिक हिन्दी-काव्य को वह लक्षणा-प्रधान मानते हैं और इस मत की पुष्टि में उन्होंने रोचक ढंग से कुछ छन्दों के अध्ययन के नमूने भी पेश किये हैं। यह बड़े सन्तोष की बात है कि शुक्ल जी ने रिचर्ड्स के सिद्धान्तों के महत्त्व को समझकर उनमें प्रतिपादित आदर्शों को हिन्दी-पाठकों और साहित्य-निर्माताओं के सामने सफलता पूर्वक प्रस्तुत किया है।

इस भाँति हम देखते हैं कि अपने विचारों की नवीनता, गम्भीरता और व्यापकता के कारण आई० ए० रिचर्ड्स महोदय आज संसार के प्रमुख विचारकों की श्रेणी में स्थान पाने के अधिकारी हैं। उनके चिन्तन का प्रभाव रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य तथा भाषा और साहित्य-शिक्षण के क्षेत्रों में समान रूप से लक्षित हुआ है। उनकी पद्धति आज भी अपने विस्तार की अवस्था में है और संसार के अनेक देशों में उसके बहुसंख्यक अनुयायी हैं।

केशव आनन्द

टी० एस० इलियट के काव्य-सिद्धान्त

आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में टी० एस० इलियट का व्यक्तित्व जितना गौरवास्पद है, उतना ही प्रेरक भी। उसमें एक साथ ही समीक्षक, नाटककार और एक महान् युग-कवि का अन्यतम सम्मिलन हुआ है। उसके इन तीन रूपों में कौन अधिक सशक्त है, यह विवाद का विषय है। यहाँ हम संक्षेप में उसके द्वारा स्थापित काव्य-सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

टी० एस० इलियट के पूर्व की समीक्षा-प्रणाली अधिकतर उन्नीसवीं शताब्दी के रोमान्सवादी सौन्दर्य-शास्त्र से प्रेरित थी। धर्म की ओर साहित्यकारों की प्रवृत्ति जगी, किन्तु वह मूलतः भावावेशजन्य ही थी। और नीति का स्वर तीव्र हो उठा। अतः काव्य से एक निश्चित विचार-वस्तु का अभाव नहीं मिट सका, जिसके कारण अठारहवीं शताब्दी के रोमान्सवादी कवियों की घोर भर्त्सना की गई थी। इसीलिए उसने कहा है कि पेटर का 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त-स्वर एक विशुद्ध कलात्मक आन्दोलन के लिए उतना स्मरणीय नहीं। वास्तव में इसका अर्थापन फ्लॉबयर ने अधिक गम्भीरता पूर्वक किया। यों मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की समीक्षा बतलाते हुए उसकी सप्राणता के लिए लोक जीवन के स्वस्थ तत्त्वों की आवश्यकता प्रकट की, किन्तु उसकी दृष्टि में वह समन्वयात्मक विस्तार नहीं था कि दर्शन, कला, धर्म और संस्कृति को एक सूत्र में बाँध सके।[1] धर्म को संस्कृति की अपेक्षा उसने नीचा ठहराया। किन्तु वह भी रोमान्सवादी ही था। इसी कारण धर्म को भौतिकता से अलग करके वह उसे अधिक गम्भीर भूमि पर प्रतिष्ठित नहीं कर सका। इस युग की और आगे की भी समीक्षा वैयक्तिक अभिरुचियों, सैद्धान्तिक मतवादों से अलग होकर साहित्य का यथेष्ट कलात्मक विवेचन नहीं उपस्थित कर सकी। इलियट आर्नल्ड के बौद्धिक आनन्दवाद को, कला-क्षेत्र में, उतना ही हेय मानता है जितना वाल्टर के 'कला कला के लिए' के निरपेक्ष सौन्दर्य-शास्त्र को। दूसरे सिद्धान्त की समीक्षा करता हुआ वह कहता है कि भले ही यह कलाकार में अपने कर्तव्य के प्रति सद्भावना जगाए, किन्तु यह दर्शक तथा पाठक, सबके लिए कैसे समानतः मान्य हो सकता है।[2] अपने निबन्धों 'सफल समीक्षक' और 'असफल समीक्षक' में कॉलरिज, स्वीन बर्न, आर्नल्ड तथा अन्य अंग्रेजी साहित्य-समीक्षकों का विवेचन करते हुए उसने उनकी दुर्बलताओं का सम्यक् निदर्शन किया है।[3]

इनकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि ये बुद्धि और भावना के उस महत्त्व को नहीं समझ सके थे जिसके कारण विगत युगों में विराट् काव्य का सृजन सम्भव हो सका। इलियट ने इनके परस्पर-सम्बन्ध को सूक्ष्मता पूर्वक ग्रहण करके सन् १९१७ में सर्वप्रथम अपना सुविख्यात

१. देखिए—'Arnold and Pater'—P. 404 (Selected Essays).

२. देखिए—वही, पृष्ठ ४०४।

३. देखिए—'Sacred Wood'.

निबन्ध 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' प्रकाशित कराया। यह निबन्ध जैसे उसके समस्त साहित्य-सृजन की, चाहे वह रचनात्मक हो अथवा समीक्षात्मक, बुनियाद है। एक साहित्य-सम्बन्धी निबन्ध होते हुए, इसका साहित्येतर एक धार्मिक महत्त्व भी है। विचारों से कैथोलिक होने के कारण उसका अंग्रेजी धर्म उसका अन्तिम और सबसे मजबूत सम्बल है। इसीलिए, आधुनिक युग की निरन्तर विशृङ्खल होती हुई मनोचेतना को सुदृढ़ रखने के लिए, उसको परम्परा-रूढ़ि ही नहीं, वरन् वह चिरगतिशील सर्जनात्मक सम्भावनाओं की समष्टि भी है। उसके लिए अतीत की महा कृतियों में प्रवाहित संवेदनों द्वारा ही किसी युग में महा कृतियों का सृजन सम्भव है। अतीत-साहित्य के अध्ययन से जहाँ एक ओर परिष्कृत समीक्षात्मक सम्वेदन का जन्म होता है; वहीं आगे आने वाली पीढ़ियों की सर्जनात्मक प्रतिभा के लिए मूल्यवान प्रेरणाएँ भी मिलती हैं—ऐसा उसने स्पष्ट कहा है।[१]

आइ० ए० रिचर्ड्स ने समीक्षा के लिए मूल्य-निर्धारण की दृष्टि के उन्मेष पर जोर दिया है, किन्तु इसका आधार क्या होगा, यह उसने नहीं बतलाया। उसकी मूल्य भावना अन्तःकरण की कई कृतियों की एक साथ सन्तुष्टि का प्रयोजन रखकर चलती है।[२] इसमें हम अपने पूर्वानुभवों, स्मृतियों तथा विचारों को मिलाते हुए कृति का आनन्द-उपभोग करते हैं। इसे उसने अपनी शब्दावली में 'रेफरेन्स' कहा है। इलियट ने मूल्य-सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों से निकालकर इसकी अलग व्याख्या की है। उसके अनुसार मूल्य-दृष्टि का उपजीव्य आधार है समीक्षक की ऐतिहासिक जागरूकता। यह ऐतिहासिक जागरूकता देश-काल में सिकुड़े जीवन की न होकर जीवन-शाश्वत का पर्याय है। इसीके सहारे साहित्य-स्रष्टा भी समय के विशाल प्रवाह में अपनी स्थिति के दायित्व को समझता हुआ युग-संवेदन का उत्तरोत्तर विकास करता रहता है। अन्ध-विश्वास और रूढ़िग्रस्त गतानुगतिकता से मुक्त रचनाकार की यह अतीत-दृष्टि ही उसकी सृजन-शीलता के गाम्भीर्य का प्रतिमान है। उसकी प्रतिभा में निहित मौलिक क्षमताएँ ही अतीत और वर्तमान के बीच पार्थक्य निर्दिष्ट करती हैं। इसे वह अतीत की सचेतन जागरूकता कहता है।[३] संवेदनों का निरंतर संवर्द्धन करता हुआ कवि जब इस चेतना को पा लेता है तब वह अतीत के अतीतपन से ही नहीं वरन् अतीत के नयेपन को भी उद्घाटित कर पाने की योग्यता पा लेता है।[४] और यही मूल्य-दृष्टि उसकी कृति को कुछ ऐसी भंगिमाओं से स्पन्दित कर देती है कि वह अतीत से सम्पृक्त होकर भी उसके समकक्ष वर्तमान के जीवित क्षण में साँस लेता हुआ-सा दिखाई पड़ता है। यह न तो अन्धानुकरण है, न उसकी विवेचना का आधार अतीत के प्रचलित प्रतिमान ही हो सकते हैं।[५]

अतः यहाँ वर्तमान का अतीत में समा जाना ही सब-कुछ नहीं होता, उसके कलागत

---

१. No poet, nor artist of any art, has his complete meaning alone. His significance, his appreciation is the appreciation of his relation to the dead poets and artist. P. 15 (Selected Essays)

२. Principles of Literary Criticism, P. 47.

३. Conscious awareness of the past.

४. P. 14, (Selected Essays)

५. "It is a judgment, a comparison, in which two things are measured by each other."

महत्त्व के प्रतिपादन का आधार तो वह विशेष आवश्यकता है जिसके कारण वर्तमान-अतीत एक-दूसरे के अनुरूप हो जाते हैं। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे व्यक्तित्व-सम्पन्न कलाकार में वर्तमान-अतीत अर्द्ध वृत्तों की तरह एक-दूसरे को पूर्णता देते हुए दिखाई पड़ते हैं। दोनों का सम्बन्ध सापेक्ष और समतुल्य होता है। इलियट कलाकार के अनुभव-क्षेत्र के फैलाव पर विशेष बल देता है जिसमें सम्पूर्ण परम्परा तैरती रहती है। एलिजाबेथ-युग की नाट्य-कृतियों पर सेनेका का अविस्मरणीय प्रभाव पड़ा और उसे किसी प्रकार उस युग की विशेष मनोदृष्टि से वियुक्त नहीं किया जा सकता। महा कृतियों का प्रभाव ऐसा ही व्यापक और तलस्पर्शी होता है और सभी समर्थ कलाकार अपने पीछे कोई-न-कोई, ऐसी ही, प्रेरणा भूमि अवश्य रखते हैं।[1]

कलाकार के व्यक्तित्व का महत्त्व इसी अर्थ में लिया जाना चाहिए कि वह अपने अन्तर्जगत् के साथ अतीत की विचार-परम्परा को एक करके अपने 'आत्म' का सम्प्रसारण करता चलता है। इलियट मेडिल्टन मरे के उस व्यक्तिवादी सिद्धान्त का बराबर विरोध करता है जो अपने में पूर्ण अपने अन्तःस्वर को ही साहित्य का आदि कारण मानता है।[2]

इसीलिए हम किसी भी समय के कवि-कलाकारों में एक समान वस्तु-व्यंजना पाते हैं। हालाँकि यह क्रिया अचेतन ही होती है। इसी भूमि पर सभी कलाकारों का हृदय, एक अव्यक्त परिचिति के साथ एक-दूसरे से भेंटता हुआ जान पड़ता है। निम्न कोटि के कलाकारों में हम यह जाग्रत चेतना नहीं पाते। ये अपनी ही विशिष्टताओं के आधार पर अपनी स्वतन्त्र और विचित्र स्थिति को घोषित करना चाहते हैं। समय की निस्सीम गति में अपने को भुला देने वाले कलाकार इनसे कहीं श्रेष्ठ और इनके दायित्व भी अत्यन्त दुस्तर होते हैं। लेकिन, अतीत-वर्तमान की यह सम्बन्ध-भावना कैसे सन्तुलित की जा सकेगी—यह एक प्रश्न है। इलियट के अनुसार यह महत्त्वशील और हेय के बीच मूल्यानुचिंतन द्वारा प्राप्त होती है। इसमें कवि का हृदय अपनी आत्मनिष्ठ संकीर्णता तोड़कर लोक-जीवन की ओर बढ़ना चाहता है। यही कलागत व्यक्तित्व का आत्म-त्याग है जिसके सहारे उसका व्यक्तित्व निर्विशेष होता हुआ अतीत जीवन से परिवर्द्धित और विकसित होता चलता है।

इलियट की यह निर्वैयक्तिकता एक बिलकुल वैज्ञानिक प्रक्रिया है। वह काव्य में व्यक्तिगत संवेगों का महत्त्व उस रूप में नहीं स्वीकृत करता जिसमें रोमान्सवादी समीक्षक सोचा करते हैं। व्यक्तित्व के निर्वैयक्तीकरण का सिद्धान्त उसके पूर्व भी समीक्षा की विवेच्य वस्तु रहा

---

१. Seneca's influence upon the dramatic form, upon versification and language, upon sensibility, and upon thought, must in the end be all estimated together; they cannot be divided. P. 95 (Selected Essays).

Dante, for instance, had behind him an Acquins, and shakespeare behind him a seneca. P. 96 (Selected Essays).

२. "Literature.........not as a collection of the writings of individual, but as 'organic wholes', as a system in relation to which, and only in relation to which, individual work of literary art, and the work of individual artist, have their significance. The Function of criticism. P. 24 (Selected Essays).

है; किन्तु इलियट ने उसे जैसी तर्क-संगत व्यवस्था दी है, वह अवश्य ही स्तुत्य और अनोखी है। रिचर्ड्स की समीक्षा में तो निर्वैयक्तिकता एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व ही है जिसके दबाव में कला-कृति की सृजन-प्रक्रिया चलती रहती है। इसमें कवि तटस्थ होकर विचारों, अनुभवों, कल्पना-चित्रों तथा सहस्मृत्यात्मक झंकृतियों को एकतान करता है। उसने स्पष्टतः कहा है कि यह समझना कि कलाकार की कृति उसके व्यक्तित्व से सम्बन्ध नहीं रखती, सर्वथा अतिवाद होगा; क्योंकि कलाकार में 'आत्मा' की अभिव्यंजना की जितनी ही प्रबल आकांक्षा होगी, उसके लिए तटस्थता और निर्लिप्तता की आवश्यकता बढ़ती जायगी। रिचर्ड्स कला-सृजन की दो अवस्थाएँ मानता है—

(i) ढुलमुल संवेगों की अवस्था तथा

(ii) चित्तशान्ति की अवस्था।[1]

इनकी योजना भी दो प्रकार से सम्भव है—

(i) अपवर्जन द्वारा तथा

(ii) संहिति द्वारा।

उसने कहा है कि कलात्मक संघटन उत्प्रेरक वस्तु में नहीं, वरन् वह उस वस्तु के प्रति कवि की भावात्मक प्रतिक्रिया में होता है।[2] और यह तभी सम्भव है जब रचनाकार अपने संवेदनों से तटस्थ रहकर उनका सामञ्जस्यपूर्ण रूप विधान करता जाय। अन्यथा कृति से उद्भूत प्रभाव उतना मार्मिक नहीं होगा। टेनीसन के "ब्रेक-ब्रेक" में जहाँ संवेग व्यवस्थाहीन, बिना किसी केन्द्रीय अनुभूति के, बिखरे मिलते हैं, वहाँ 'ओड टू नाइटिंगेल' के भिन्नरूपात्मक होते हुए भी एक निश्चित अनुक्रम में विन्यस्त हैं। इसी कारण दूसरी रचना पहले की अपेक्षा अधिक रमणीय उतरी है। इलियट का सिद्धान्त भी, थोड़े अन्तर के साथ, इसी प्रकार का है। शेक्सपियर का महत्त्व इसीलिए अप्रतिम है कि उसने युग की तीव्रतम भाव-दशा को कलारूप (पैटर्न) दिया।[3] इलियट व्यक्तिगत संवेगों की अन्विति चाहता है। रिचर्ड्स के अनुसार कलाकार अपने क्षणिक, अजनबी और व्यक्तिगत संवेगों को दबाकर एक महत्तर व्यक्तित्व (जो निर्वैयक्तिक ही है) को पाने के लिए बढ़ता है।[4] और इलियट भी भाषान्तर से यही कहता है। कला-सृजन की

---

१. इलियट भी दो प्रकार के संवेग मानता है :
   (i) vague emotion,
   (ii) precise emotion.

२. "The balance is not in the stimulating object, it is in the response." Principles of Literary Criticism p. 248.

३. ......"and yet not be a great poet, unless we felt them united by one significant, consistent, and developing personality."
John Ford p. 203 (Selected Essays).

४. "When we find the artist struggling towards impersonality, towards a structure of his work which excludes his private, eccentric, momentary idiosyncracies, and using always as its basis those elements which are most uniform in their effect upon impulses." —Principles of Literary Criticism. P. 27

अवस्था एक विशेष महत्त्व रखती है जिसमें रचनाकार के संवेग-अभिभूत व्यक्तित्व के आत्म-समर्पण की अनिवार्य अपेक्षा होती है। कलाकार की प्रगति उसके निरन्तर आत्म-त्याग तथा व्यक्तित्व निलय में अन्तर्हित होती है।[१]

रिचर्ड्स ने 'कला कला के लिए' की आलोचना करते हुए कहा है कि यह किसी भी रूप में मान्य नहीं कि कला का विश्व-साधारण वास्तव जगत् से विच्छिन्न कोई असामान्य विशेषता रखता है। फिर भी दोनों ही यह मानते हैं कि कलागत प्रभाव बिलकुल वह ही नहीं जैसा हम साधारण जीवन में अनुभव करते हैं। इलियट ने कहा है कि कविता में आई अनुभूतियाँ, संवेग और भाव साधारण जीवन से कुछ विशिष्ट अर्थ रखते हैं।[२] वह काव्य में व्यक्तिगत संवेगों के सम्बन्ध में स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों का मत नहीं मानता, क्योंकि स्वयं काव्यानन्द हमें व्यक्तिगत सम्बन्धों के ऊपर एक अधिक व्यापक भाव-भूमि की ओर ले जाता है।[३] यहाँ कृतिकार के अपने संसर्गों का लवलेश नहीं के बराबर रह जाता है। जिस प्रकार प्लाटिनम का धातु विभिन्न रासायनिक परिस्थितियों से गुजरकर तथा स्वयं निर्लिप्त रहकर भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का आधार होता है; उसी तरह कवि भी अपने व्यक्तित्व में भाव और संवेग दोनों को मिलाकर एक तीसरे कला-रूप को जन्म देता है। कवि के व्यक्तित्व का इसीलिए महत्त्व है कि यह एक ऐसा ग्रहणशील 'माध्यम' है जिसमें अगणित संवेग, अनुभव तथा स्मृतियाँ तब तक संग्रथित होती रहती हैं, जब तक कि वे सब मिलकर एक नया सम्मिश्रण नहीं बना लेतीं। श्रेष्ठ कलाकार का व्यक्तित्व इसी कारण उल्लेख्य है कि वह अन्तरनुभूत तथ्यों के संघटन का एक अधिक प्राणवन्त माध्यम है जिसके कारण उसकी सृष्ट वस्तु भी अधिक प्रभावशाली होगी। उसने आगे चलकर यह भी स्पष्ट किया है कि महा कृतियों के लिए व्यक्तिगत संवेगों की आवश्यकता पड़ती ही नहीं। ये संवेग भावना में घुलकर तद्रूप हो जाते हैं। उसके कहने का आशय यह है कि काव्य में वर्णित संवेग रचनाकार के अन्तर से सीधे न आकर भाव में मिलकर स्थायी रूप ग्रहण करते रहते हैं। अतः इलियट ने अपने इस सिद्धान्त में कला और काव्य की प्रेषणगत संवेदनीयता की पूर्ण रक्षा की है। काव्यगत निर्वैयक्तिकता की इस धारणा के कारण ही पुराने कवियों के प्रति उसकी अतिशय आसक्ति है। स्वच्छन्दतावादी कवियों को वह इसीलिए कड़े शब्दों में याद करता है कि ये अपने व्यक्तित्व का उचित नियमन नहीं कर पाते जिससे उनकी अभिव्यक्ति भी संगतिहीन, धुँधली और असम्बद्ध हो जाती है। यही कारण है कि इनकी उपमाएँ, प्रतीक और कल्पना-चित्र हमारे हृदय में कोई स्पष्ट अर्थ-चित्र नहीं उतार पाते हैं। एक धूमिल-धूमिल झीनेपन का बोध-भर होता है।

---

१. What happens is a continuous surrender of himself as he is at the moment to something which is more valuable. The progress of an artist is a continual self-sacrifice, a continual extinction of personality. P. 17 (Selected Essays).

२. The effect of a work of art upon the person who enjoys it is an experience different in kind from any experience of art.
P. 18 (Selected Essays).

३. ......the feeling, or emotion, or vision resulting from poetry is something different from the feeling, or emotion, or vision in the mind of the poet. (Sacred Wood—Introduction).

इलियट ने अपने 'दाँते' नाम के निबन्ध में इसे दो उदाहरणों द्वारा सांगोपांग प्रस्तुत किया है। दाँते की 'डिवाइने कॉमेडी' का एक चित्र है—"हम लोगों की तरह उसकी आँखें सतेज हो गईं, भौंहें धुरच गईं। लगता था कि कोई बूढ़ा दरजी अपनी सुई की आँखों में देख रहा हो।"[1] इस चित्र की विशेषता इसकी बिम्ब-विधानगत चित्रमयता में है। दाँते की यह उपमा बिलकुल सीधी, स्पष्ट और मूर्त है। अब एक शेक्सपियर का उदाहरण ले लें—"वह नींद-सी प्रतीत होती थी, जैसे वह फिर किसी ऐनटोनी को अपने सौन्दर्य में फँसायगी।"[2]

उपर्युक्त दोनों चित्रों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि दाँते के कल्पना-चित्र, उपमाएँ और रूपक जितने ही बोधगम्य और सुसंयत होते हैं, शेक्सपियर के उतने ही धुँधले और दुर्बोध और यही कारण है कि शेक्सपियर कोई निश्चित जीवन-दर्शन भी नहीं दे पाता जिसको श्रेष्ठ काव्य के लिए इलियट प्राथमिक आवश्यकता मानता है इस विवेचन में हमें उन दो काव्य-प्रवृत्तियों का दिशा-निर्देश मिल जाता है, जिन्हें समीक्षक ने 'क्लासिसिज़्म' और 'रोमाण्टिसिज़्म' के नाम से अभिहित किया है। इलियट दूसरी काव्य-प्रवृत्ति की अतिशय भावुकता और व्यक्ति-निष्ठता को काव्य के लिए अमहत्त्वशील बतलाता है। उसके अनुसार श्रेष्ठ कवि अपने आन्तरिक संवेदनों से मुक्त होकर उन्हें बुद्धि द्वारा एक लय देता चलता है। फलतः इसकी प्रभाव-क्षमता इतनी सुतीव्र[3] हो जाती है कि उसका सीमित 'स्व' निर्मूल्य होकर व्यापक समष्टि में मिल जाता है। अतः वह काव्य में बुद्धि और भावना का सन्तुलित संयोग चाहता है जिसके कारण कलाकार अपने व्यक्तित्व को अपनी कृति में तिरोभूत कर सकने में समर्थ होता है।[4] १७वीं शताब्दी के तत्त्वचिंतक कवियों में इन दोनों का अद्भुत समन्वय घटित हुआ। इस कवियों ने विचार को ही भावना में परिणत कर डाला है।[5] इसलिए इनकी अभिव्यक्ति भी कृत्रिमता-शून्य, निश्छल और मार्मिक हुई है। इनके कल्पना-चित्रों में एक ही साथ सहस्मृतियों की कितनी ही धाराएँ चलती रहती हैं। इलियट के अनुसार, १६वीं शताब्दी के बाद भावना और बुद्धि की यह एकता निरन्तर खण्डित होती गई और १८ वीं शताब्दी के रोमांसवादी कवियों में केवल भावोच्छ्वास का कुहरा भर शेष रह गया। बुद्धि का अंकुश छूट गया। प्रत्येक कवि अपने-अपने व्यक्तिगत दर्शन की स्थापना करने लगा।[6] अतः उनकी कृति रूपहीन हो गई और उसमें भाव-तारतम्य

---

१. "And sharpened their vision (knitted their brows) as us, like an old tailor peering at the eye of his needle.

२. — She looks like sleep,
As she would catch another Antony
In her strong toil of grace.

३. "Intensity"

४. A thought to Donne was an experience; it modified his sensibility. P. 287 (Selected Essays).

५. "A direct sensuous apprehension of thought or a recreation of thought into feeling". P. 286 (Selected Essays).

६. Indulging in a philosophy of his own, and concentrated his attention upon the problems of the poet. P. 320 (William Blake) (Selected Essays)

नहीं मिलता। कविता कवि की आत्मा से तटस्थ न रह सकी वरन् उसके ही आवेशों में अन्तर्ग्रस्त होकर रहस्यपूर्ण और अस्पष्ट हो गई है।

इलियट के इस सिद्धान्त पर समग्रता पूर्वक विचार करने पर कई अर्थ ध्वनित होते हैं—

(१) श्रेष्ठ कलाकार की कृति में उसके 'अपनेपन' के तार नहीं बचते, अतः कविता संवेगों की अभिव्यक्ति न होकर संवेगों का पुनर्सृजन है। (संवेग ही भाव बन जाते हैं) यह आत्माभिव्यक्ति न होकर 'आत्म' की परिष्कृति है। दाँते की विराट्ता का यही कारण है कि वह १३वीं शताब्दी की सारी प्रवृत्तियों को स्वर दे सका और इसीलिए शेक्सपियर भी १६वीं शताब्दी का प्रतिनिधि कवि व्यक्तित्व हो सका। अतः इनका व्यक्तित्व साधारण व्यक्तित्व न होकर उस विशेष माध्यम का प्रतीक है जिसके द्वारा इन्होंने अपने युग के अरूप और उलझे संवेदनों को एक सविशेष रूप दिया। हिन्दी के कुछ समीक्षक उसके सिद्धान्त के इस स्वरूप को न समझकर एक निरर्थक तर्क प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं कि बिना आत्मगत संवेगों के कला-सृजन कैसे हो सकेगा। इलियट ने स्पष्ट कहा है कि पहले प्रत्येक कवि अपने ही संवेगों से सोचना शुरू करता है।[१] किन्तु काव्य-सृजन के क्षणों में वह इन्हें अपनी काव्यात्मक आवश्यकता के अनुकूल निर्वैयक्तिक करता हुआ, अपनी आसक्तियों से दूर करता हुआ उन्हें लोक-ग्राह्य रूप देने का प्रयत्न करता है। यह काव्य में संवेगों का महत्त्व भी नहीं घटाता। कविता उसके लिए न तो दर्शन है और न तत्त्व-चिन्तन। वह तो एक स्वतन्त्र रागात्मक प्रक्रिया है।[२] श्रेष्ठ कवि बुद्धि को ही अनुभूति के हाथों से पकड़ता है। दाँते ऐसा ही कवि था, जिसमें प्राथमिक (व्यक्तिगत) संवेग और विचार एवमेव हो गए हैं।[३] इलियट व्यक्तित्व अर्थात् कलागत 'आत्म' का जो आधारभूत महत्त्व है उससे पूर्णतः परिचित है। इसीलिए तो वह कहता है कि शेक्सपियर का व्यक्तित्व उसकी कृति के किसी एक स्थल पर नहीं आया वह तो समस्त कृतियों की जीवित सम्पूर्णता में अन्तर्व्याप्त है। उसकी सम्पूर्ण कृति 'एक' कविता है।[४] उसकी कृति में स्वयं उसके अन्तर के संघर्ष, द्वन्द्व और संवेगों की एक लम्बी कहानी है—ऐसी जिसे शायद ही कोई आत्म-कथा प्रकट कर सके।[५]

(२) इलियट ने संवेगों के दो प्रकार माने हैं—

(अ) संयत संवेग तथा

(ब) अनिश्चित संवेग

श्रेष्ठ काव्य में हम यही निश्चित संवेग पाते हैं। साधारण व्यक्तिगत संवेगों से इनकी पृथक् स्थिति होती है। ये न तो शुष्क विचार ही हैं, न चिन्तन-शून्य व्यक्तिगत राग द्वेष ही।

---

१. What every poet starts from is his own emotion. P. 137 (Selected Essays)

२. ...This function is not intellectual but emotional. P. 138 (S. E.)

३. "...A fusion took place between his emotional impulses and a theory, "for the purpose of making poetry." P. 138. (Selected Essays)

४. John Ford. P. 203 (Selected Essays).

५. "They give the pattern, or we may say the undertone, of the personal emotion, the personal drama and struggle, which no biography, however full and intimate, could give us". John Ford. (P. 203)

महान् कलाकार का व्यक्तित्व संयत संवेग को अभिव्यक्ति देने का एक माध्यम है जिसमें वह अपने 'स्व' को लोक-हृदय से जोड़ता चलता है। शेक्सपियर के संवेग केवल उसके न होकर समस्त मनुष्यता को उद्वेलित करने की क्षमता रखते हैं। उसका व्यक्तित्व शायद ही इन संवेगों में प्रत्यक्षतः पाया जाय।

(३) भाव-संवेदनों की इस चित्रात्मक अभिव्यंजना के कारण ही, इलियट एक विशेष कला-रूप को ग्रहण करना चाहता है। नाटक उसके विचार से निर्वैयक्तीकरण का सर्वश्रेष्ठ रूप है। इस रूप-विधान के माध्यम से उद्भूत संवेग साधारण जीवन से पृथक् एक विशेष मनःस्थिति का निर्माण करते हैं। इन्हें वह कलात्मक संवेग कहता है।[1] कला कृतियों से प्राप्त संवेग साधारण जीवन से कुछ भिन्न होते हैं; पर यह तभी सम्भव है जब कवि उन्हें, अधिक-से-अधिक, अपने से अलग करके सामाजिक भूमि पर रखकर परखे।

(४) व्यक्तित्व और व्यक्तिवाद के नाम पर ऐसी रचनाएँ हुई हैं जिनके भावों के साथ साधारण लोक-हृदय अपनी समानुभूति नहीं कर पाता। कवि का लक्ष्य सामान्य भावों का सृजन न करके; अपने विचित्र और अव्यवहारोचित दृष्टिकोणों के अंकन पर केन्द्रित हो जाता है।[2] फलतः कृति की जन-सामान्य को प्रीतिकर लगने वाली गरिमा चली जाती है—उसमें आए संवेग हमारे अंतस् में कोई सुख-दुःख की बात न कहकर वैचित्र्य बन जाते हैं। उदाहरण के लिए लोक की काव्य-रचनाओं—'दि सौंग ऑव इनोसेन्स' आदि—के नाम गिनाए जा सकते हैं। इसका कारण व्यक्तित्व के प्रति रचनाकार तथा समीक्षकों का वह भ्रमपूर्ण दुराग्रह ही है, जो 'व्यक्तित्व' को सृजन का एक माध्यम न मानकर स्वयं वर्ण्य-विषय मान बैठते हैं। अतः इलियट कविता के लिए साधारण जीवन के चिर परिचित संवेगों को ही अभिप्रेत मानता है। स्पष्ट है कि निर्वैयक्तीकरण की स्थापना काव्य-कृति के स्थायी कलात्मक सौन्दर्य और उसकी सहज प्रेषणीयता पर आधारित है।

(५) इस निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का एक कारण यह भी है कि इलियट साधारण व्यक्ति और कलाकारों में अन्तर मानता है। प्रकारान्तर से यही रिचर्ड्स भी कहता है। साधारण व्यक्ति, जब कि, अपने अनुभवों, संवेगों के वृत्त में घूमता रहता है अपने आन्तरिक स्पन्दनों का मूर्त अंकन नहीं कर पाता, वहाँ प्रतिभाशील कवि इन अनुभूत संवेगों को दूसरों के लिए भी उपभोग्य बनाता है। इसके लिए कलाकार की अभिव्यक्ति-सम्बन्धी पटुता की अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। यह व्यक्तित्व के निर्वैयक्तीकरण द्वारा ही सम्भव है। सच्चा कलाकार इन संवेगों को समन्वित करता हुआ, उन्हें सार्थक प्रतीकों और उपमा-रूपकों में समेटकर रखता है जिन्हें सुनते ही तत्क्षण वही भाव-दशा हममें उद्दीप्त हो उठती है जिसे कभी कवि ने आत्मसाक्षात् किया होगा।

(६) उसके इसी स्थापन का एक अंग है उसका काव्यगत विश्वास का सिद्धान्त। चूँकि काव्य-रचना में कवि का लक्ष्य व्यक्तित्व का फोटो लेना नहीं होता, इसलिए समर्थ कृति में,

---

१. 'art emotion' P. 20 (Selected Essays).

२. "The business of the poet is not to find new emotions, but to use the ordinary ones and, in working them up into poetry, to express feelings which are not in actual emotions at all." P. 21 (Seleted Essays).

कवि द्वारा, सन्निविष्ट विशेष मतों के बावजूद भी उसका आनन्द लिया जा सकता है। रिचर्ड्स के प्रतिकूल उसके विचार से कवि के व्यक्तिगत आग्रहों के बावजूद भी काव्यानुभूति उपलब्ध हो सकती है। उसकी सम्पूर्ण कलात्मक अन्तर्दृष्टि द्वारा निर्मित एक परिधि होती है, जिसमें कवि काम करता है, सोचता है। लेखक के लिए इसी अभ्यास में साधना-निरत रहना अभीष्ट है। बाह्यारोपित नीति, विचार और व्यक्तिगत धारणाएँ उसकी कला-सृष्टि में आक्षेप नहीं करतीं। यही कारण है कि दाँते और शेक्सपियर की कृतियों की रमणीयता आज भी वही है। दाँते के पीछे जहाँ थामसीय दर्शन की पृष्टभूमि थी, वहाँ शेक्सपियर के पीछे पुनर्जागरण-काल का अनिश्चित सन्देहवाद; किन्तु हम यह निःसंशय नहीं कह सकते कि ये ऐसी आस्था और विश्वास रखते थे या नहीं और इसी कारण वे आज भी उसी प्रकार पठनीय हैं, जैसे कभी पहले थे। इसका कारण है कि इनमें पूर्वाग्रहगत कोई हठवादिता नहीं थी।[१] दाँते और शेक्सपियर दोनों को कठोर अन्तर्संघर्ष सहना पड़ा था लेकिन इन्होंने व्यक्तित्व के सीमित हर्ष और अवसाद को व्यापकता देकर उन्हें देश-काल-निरपेक्ष बना दिया है।[२] श्रेष्ठ कृति की आनन्दानुभूति में पाठक इस प्रकार तन्मय रहता है कि वह कला-रूप के सिवाय अन्य किसी भी तीसरी वस्तु से बाधित नहीं होता। इस तल्लीनता की अवस्था को इलियट ने आग्रह-मुक्त निलम्बन की दशा (suspension) कहा है। यह तभी सम्भव है जब कवि अपनी कला-साधना में अपने को भुलाकर ऐसा व्यक्तित्व बना ले जिसमें साधारण कलाकारों की संकीर्णता नहीं होती। इलियट के इस व्यक्तित्व को हम न तो 'निर्वैयक्तिक' ही कह सकते हैं और न वैयक्तिक। इन दोनों के ऊपर हम इसे एक अति-व्यक्तित्व या निर्व्यक्तित्व कह सकते हैं।[३]

काव्यगत निर्वैयक्तिकता से ही सम्बन्ध उसकी 'वस्तुमूलक प्रतिरूपता' ('Objective correlative') का सिद्धान्त है। कहा जा चुका है कि कवि को अपने अस्त-व्यस्त भाव-स्फुरणों को निश्चित रूपाकार देने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने संवेदनों की एकता पर दृष्टि रखे। यह तभी सम्भव है जब लेखक अपनी अनुभूतियों को कुछ निश्चित संवेगों के प्रसंग में सँजोकर उन्हें मूर्त्त प्रतीकों और भाव-संकेतों द्वारा प्रकट करे। वस्तुमूलक समरूपता का सिद्धान्त व्यक्तिमूलक अकाव्योचित संवेगों को अधिक-से-अधिक मूर्त्त, प्रभावोत्पादक, प्रसंग-निर्भर तथा संवेदनीय बनाने की एक प्रणाली है। इसमें कवि बाह्य जगत् से चुनकर कुछ वस्तुओं को, कुछ ऐसी परिस्थिति और घटना-व्यापार की शृङ्खला में संघटित करता है जो हमारे अन्तर के विभिन्न संवेगों को व्यक्त करने का एक सूत्र बन जाती है।[४] हमारे सामने कवि द्वारा संयोजित

१. But you can hardly say that Dante believed, or did not believe, the thomist philosophy; you can hardly say that Shakespeare believed, or did not believe, the mixed muddled Scepticism of the Renaissance. P. 137 (S. E.)

२. "Which alone constitutes life for a poet—to transmute his personal and private agonies into something rich and strange, something universal and impersonal. P. 137 (S. E.)

३. de or super-personalized. P 204 (S. E.)

४. The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative'; in other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula

कुछ वस्तुएँ (facts) आती हैं; जिन्हें देखते या सुनते ही तत्कालत सम्बन्धी भाव जाग पड़ते हैं। उदाहरण के लिए लेडी मैकबेथ का स्वप्न-दृश्य (sleep walking scene) ले लें। यहाँ उसकी तत्कालीन मानस्थैतिक संवेदनों के एकीकरण द्वारा शेक्सपियर ने उसकी मानसिक दशा का अत्यन्त कलात्मक चित्र उपस्थित किया है। इस स्थल के प्रत्येक शब्द तथा कल्पना-चित्र उसके आवेशपूर्ण उद्विग्न अन्तर को खोलते हुए-से जान पड़ते हैं। इलियट के अनुसार कलाकार के सौष्ठव तथा शिल्प-सम्बन्धी कौशल का निर्धारण (Assessment) इसी आधार पर होगा कि वह कहाँ तक बाह्य जगत् से संचित कल्पना-चित्रों और अपने अन्तस् के संवेगों में संगति ला पाता है।

इलियट के इस सिद्धान्त के पीछे तीन आवश्यकताएँ निहित हैं—

१—आत्मगत संवेगों का अधिक-से-अधिक निस्संग, निर्लिप्त और वस्तुन्मुखी चित्रण हो सके। संवेगों का विवरण न देकर उनका चित्रण किया जाय जिससे पाठक की रसानुभूति पर कोई अकलात्मक दबाव नहीं पड़े। स्पष्ट है कि इलियट काव्य में अनुभूतियों के वर्णन की जगह उनके अभिनयात्मक चित्रांकन पर जोर देता है।

२—अनुभूतियों का सीधा कथन न करके उन्हें सुनिश्चित घटना-प्रसंगों और कार्य व्यापारों में लपेटकर रखा जाय। रोमान्सवादी कवि अपने आत्मानुभवों और संवेगों को अधिक महत्त्व देता है और उन्हीं की अभिव्यक्ति में अपनी क्रिया का चरम बिन्दु देखता है। इसीलिए उसके काव्य-रूपों में ऐसी दुर्बोधता तथा वैचित्र्य मिलते हैं जिनको पाठक सहज ही हृदयंगम नहीं कर पाता। ऐसे कवि अन्य महत्त्वपूर्ण संवेदनों को रूप नहीं दे पाते। किन्तु वस्तुमूलक प्रति-रूपों द्वारा विशिष्ट संवेगों की नाटकीय योजना करके कवि कितने ही संवेगों को गुम्फित करने में सक्षम हो सकेगा। इसे हम स्वयं कवि के संवेगों या उसके 'अहं' का नाटकीकरण (self-dramatization) अथवा आत्मोन्नयन कह सकते हैं।

३—इस माध्यम से कवि अनेक वैयक्तिक पूर्वाग्रहों के दोषों से बच जाता है। वह भावों का प्रत्यक्ष प्रतिपादन और निरूपण नहीं करता, वरन् अपनी वर्ण्य-सामग्री को तदनुकूल प्रसंग में नियोजित करता है। प्रभाव-ग्रहण का भार वह पाठकों पर ही छोड़ देता है। अपनी बौद्धिकता का बोझ लेकर उस पर हावी नहीं होता। अतः कृति की कलात्मक एकता में मत-आयोजन तथा असर्वमान्य विचार-सम्बन्धी कोई अंतर्विरोध नहीं उठता। कृतिकार की अपनी दृष्टि सर्वोपरि न होकर कृति की 'सम्पूर्णता' में घुल-मिलकर व्यंजित होगी। रिचर्ड्स ने भी कला-क्षेत्र के लिए स्वीकारोक्ति (assertion) को एक भारी दोष माना है।[1] इसीलिए वह कविता के अस्तित्व की

---

of that particular emotion; such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked. P. 145 (Selected Essays).

हर्बर्ट रीड का भी इससे मिलता-जुलता एक पद है 'वस्तुमूलक समरूप' (Objective equivalent) देखिए (Reason and Romanticism)

1. "Assertion involves suppressions...........whatsoever......the greatest poets, as poets, though frequently not as a critic, refrain from assertion." P. 276 (Poetry and Belief)

Principles of Literary Criticism.

रक्षा के लिए काव्य-नाटकों के सृजन की आवश्यकता प्रकट करता है। वह चाहता है कि कविता की भाषा अधिक-से-अधिक संवेद्य हो।[१] कृति में समाविष्ट उपमाएँ, रूपक, काव्य के कथन-प्रकारों, प्रतीकों तथा कल्पना-चित्रों के पीछे युग की जीवित[२] सामयिकता का आलोक हो। इसीलिए वह बॉदलेयर-जैसे आत्मनिष्ठ कवि की प्रशंसा करता है और प्राचीन तत्त्व-चिंतन कवियों की प्रशस्तियाँ लिखने से बाज नहीं आता।

कविता जब लोक-जीवन के समानान्तर चलती है, तो उसमें जीवन की वक्र स्थितियों, उलझी विषमताओं तथा अनेक बाह्य मूल्यों का प्रभाव भी जमता जाता है। भाषा एक चिर-गतिशील धारा है, जो इन सम्पूर्ण प्रभावों को बटोरती हुई समृद्ध और विकासमान होती है। इलियट के अनुसार यह कविता की जीवन्तता का लक्षण है। किन्तु इसका समुचित नियमन भी होना चाहिए, अन्यथा उसके 'गत्यात्मक पतन' (Progressive deterioration) का भी खतरा कम नहीं रहता। वह भाषा के स्थायी रूप-विन्यास के साथ उसके सतत परिष्करण की कामना करता है। कविता में अधिक-से-अधिक गद्य का अपनापन और व्यावहारिकता भरते हुए भी वह उसकी रागात्मक सुतीक्ष्णता को नहीं भुलाता। वह मानता है कि कविता ही वह केवल एक माध्यम है जिसके द्वारा भावों को शाश्वत बनाया जा सकता है।[३]

कुछ आलोचकों ने काव्य में अन्योक्ति-विधान को निम्न कोटि की क्रिया माना है। इलियट, चूँकि फ्रांस तथा प्राचीन साहित्य के प्रतीकवादी कवियों को अत्यन्त आदर से देखता है; अतः अन्योक्ति-विधान को कवि-कर्म का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण मानता है। उसके अनुसार अन्योक्ति का अर्थ है ज्वलन्त कल्पना-चित्रों की संयोजना। रचना की रमणीयता के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण विधेयात्मक माध्यम है। वह इस प्रक्रिया की अन्तर्हित अस्पष्टता और रहस्यमयता को अच्छी तरह जानता है कि इसमें कवि के रहस्यदर्शी हो जाने की पूरी सम्भावना है। फिर भी, जैसा वह कहता है, ऐसे कल्पना-चित्रों के सहारे अर्थबोध हो ही जायगा और अस्पष्टता नहीं रह जाती। दाँते की महाकृति के अमित सौन्दर्य का एक बहुत बड़ा अंश उसमें आई वैविध्यपूर्ण अन्योक्तियों की योजना में ही छिपा है।

इलियट की समीक्षक दृष्टि जितनी स्वतन्त्र और ग्रहणशील है उतनी ही स्पष्ट और सीधी भी, हालाँकि उसके पीछे सबको सन्तुष्ट न कर सकने वाली आधारभूत धार्मिक मान्यताएँ भी हैं। पर, मिडिलटन मरे आदि प्रभाववादी समीक्षकों के समान उसमें कहीं भी भाषागत कुहेलिका और कल्पनाशीलता नहीं है। इसीलिए इलियट का तीखा व्यंग्य उसके प्रति हमेशा तना रहता है। उसकी रचनात्मक कृतियों में उसके रचना के सारे सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में आ गए हैं। अपने प्राचीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत करके उसने, उसके उन महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट तत्त्वों की ओर संकेत किया है जिसकी प्रेरणा आज के साहित्य के लिए अवश्यम्भावी है। कॉलरिज और रिचर्ड्स की तरह उसने कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त-ग्रन्थ नहीं लिखा और यही उसकी सबसे बड़ी नवीनता है। उसके सारे काव्य-सिद्धान्त उसके द्वारा विशिष्ट साहित्यकारों—नाटक-

---

१. देखिए 'The Use of poetry and the Use of Criticism' की भूमिका।

२. "To seek even material refractory to transmute into poetry words and phrases which had not been used."

३. "If we want to get at the permanent and universal we tend to express in verse." (Selected Essays)

कारों, उपन्यासकारों, कवियों आदि पर लिखे गए निबन्धों में पाए जायँगे। उसकी समीक्षा का सौन्दर्य उसकी संगत, सीधी और सुलझी विश्लेषण-पद्धति में है स्वीनबर्न आदि अनेक तिरस्कृत कवियों के विवेचन में उसने, उनके काव्य के उन अनेक विलक्षण पहलुओं की व्याख्या की है जिनके प्रति समीक्षक अब तक या तो उदासीन या अपरिचित रहे हैं।

आज जब कि कविता के प्रति समीक्षकों और पाठकों का एक विशाल समुदाय संशयशील है इलियट कविता की अपनी मौलिक सम्भावनाओं का ऊँचे स्वर में समर्थन करता है। हाँ, कविता उसके लिए अवश्य ही एक गम्भीर प्रक्रिया है। वह कवि को देश और काल की सम्पूर्ण चेतना का प्रतीक मानता है। उनके विचार से महा कृतियों का सृजन तभी सम्भव है जब एक उन्नत सभ्यता हो, एक समृद्ध भाषा हो और स्वयं रचनाकार उन्नत और संवेदनशील हो।[२] महान् कलाकार वर्तमान का उपासक होता हुआ भी अतीत का ज्ञाता और भविष्य का स्वप्न-द्रष्टा होता है।[३] सिद्धान्तों की अपूर्णता स्वयं मानवीय बुद्धि की असमर्थता है।

यहाँ उपर्युक्त पंक्तियों में उसकी समीक्षा की मूल दिशा का संकेत-भर दिया गया है। उसके सिद्धान्तों में जो स्पष्ट दोष हैं उन पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। आज के अंग्रेजी साहित्य में इलियट का व्यक्तित्व एक महाकाव्यकार और सफल समीक्षक के रूप में समझा जा रहा है। लोगों ने उसे 'आधुनिक युग का सुकरात'-जैसे आदर-सूचक शब्दों में स्मरण किया है। यहाँ मेरा लक्ष्य उसकी समीक्षा-सम्बन्धी विशेषताओं का एक साधारण परिचय-भर देना रहा है।

---

१. देखिए—Shakespeare and Stoicism of Seneca—P. 137 (Selected Essays.)

२. देखिए—"What is Classic".

३. वही पुस्तक।

डॉक्टर इन्द्रसेन

श्री अरविन्द का साहित्य-दर्शन

: १ :

पिछले एक दशक में न केवल हिन्दी वरन् भारत के अन्य प्रादेशिक साहित्यों की नूतनतम प्रवृत्तियों को श्री अरविन्द की विचार-धारा ने संस्कार दिया है। उनके द्वारा प्रतिष्ठित नव-मानववादी मर्यादाओं ने सर्वश्री सुमित्रानन्दन पन्त, दिनकर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी-जैसे साहित्य-स्रष्टाओं को आकर्षित किया है। इसका एक कारण तो यह है ही कि आधुनिक सांस्कृतिक संकट में सामाजिक प्रगति की अदम्य कामना और साथ ही यान्त्रिक राजनीतिक अनुशासन से मुक्त होकर मानव के दैहिक और आध्यात्मिक अस्तित्व के पूर्णतया विकास की आशा-भूमि श्री अरविन्द ने प्रस्तुत की; किन्तु दूसरा कारण यह भी है कि अरविन्द राजनीतिक नेता अथवा योगी से भी अधिक कवि थे और स्वयं उन्होंने एक बार किसी प्रसंग में यह कहा था कि वे प्रथम तथा प्रधानतः कवि थे। कवि होने के नाते उनके समस्त दार्शनिक चिन्तन में अनुभूति का एक अद्भुत पुट है, किन्तु साथ ही वे योगी भी थे और काव्य-सृजन की मानसिक प्रक्रिया की तह में पैठकर वे जिन सत्यों को उद्घाटित कर गए हैं उनकी तुलना में अन्य मानदण्ड एकांगी और छिछले प्रतीत होते हैं।

उन्होंने मानवीय व्यक्तित्व को आन्तरिक गवेषणा से खूब जाना है और इसके विभिन्न स्तरों तथा विविध क्षेत्रों को निश्चयात्मक रूप में बतलाया है। प्रेरणा, सृजन, शब्द, लय आदि के अस्तित्व के मौलिक स्तरों को मानो देखकर उन्होंने निश्चित रूप से इनके रहस्यों को प्रकट किया है। अपना साहित्यिक विकास भी उन्होंने योग से साधित किया। एक पत्र में उन्होंने लिखा है : "काव्य तथा पूर्ण भाव-प्रकाशन पर अधिक महान् अधिकार मुझे इन पिछले दिनों अधिगत हुआ है—दूसरे लोग कैसे लिखते हैं उसे पढ़-समझ करके नहीं, वरन् अपनी चेतना को ऊँचा उठाकर और इस प्रकार एक महत्तर अन्तःप्रेरणा प्राप्त करके।"[१] चित्र-कला की वस्तुओं का अनुभव करने का सामर्थ्य उन्हें एक आकस्मिक उद्घाटन से प्राप्त हुआ। अपने दार्शनिक ज्ञान के बारे में वे लिखते हैं : "मुझे दार्शनिक माना जाता है, पर मैंने दर्शन का कभी अध्ययन नहीं किया—जो भी चीज मैंने लिखी है वह मुझे यौगिक अनुभव, ज्ञान तथा अन्तःप्रेरणा से प्राप्त हुई है।"[२]

श्री अरविन्द का यौगिक अनुभव, वास्तव में, साहित्य के लिए, जैसे कि अन्य क्षेत्रों के लिए भी, उनकी सबसे बड़ी देन है। इसीसे उन्होंने व्यक्तित्व के रहस्यों को जाना तथा प्रकट किया और साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों के मौलिक तत्त्व के विषय में अद्भुत ज्ञान दिया।

---

१. Letters of Sri Aurobindo, III Series, P. 286.
२. Ibid, P. 286.

श्री अरविन्द का मानवी व्यक्तित्व का ज्ञान उनके साहित्य-शास्त्र तथा दर्शन, और सामाजिक-राजनीतिक विकास का भी आधार है। इसके विभिन्न स्तरों तथा क्षेत्रों का ज्ञान उन्हें एक अपूर्व समन्वयात्मक व्यापकता का दृष्टिकोण दे देता है जिससे वे जीवन के विभिन्न अनुभवों को अपना-अपना स्थान देने में सफल हो जाते हैं। वस्तुतः जिस मौलिक दृष्टि को वे प्रस्तुत करते हैं वह इतनी विस्तारपूर्ण है कि उसमें सब वाद अपने सत्यांश के नाते उचित स्थान प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु वह दृष्टि अपने समग्र रूप में उन सबको अतिक्रान्त करती है।

: २ :

मानवी व्यक्तित्व अथवा चेतना के दो स्तरों से हमें आधुनिक मनोविज्ञान, विशेषकर मनोविश्लेषण ने, खूब परिचित कर दिया है। ये हैं चेतन और अवचेतन। फ्रायड के शब्दों में अवचेतन सम्पूर्ण चेतना का नौ बटा दस भाग है, ऊपरी स्तर की चेतना उसका दशांश ही है यह ठीक ही है। अवचेतना हमारे व्यक्तिगत तथा विकासात्मक अनुभवों का विस्तृत क्षेत्र है और तलीय चेतना इस क्षेत्र के ही अनुभव को प्रस्तुत करती है। फिर यह अवचेतना, जो इतनी बृहत् है, एक गत्यात्मक सत्य और तथ्य है, यह स्मृतियों और संस्कारों का निरा भण्डार ही नहीं। इसमें अनेक प्रवृत्तियाँ हैं जो प्रसुप्त रूप में यत्नशील रहती हैं और तलीय चेतना पर विभिन्न परिणाम प्रस्तुत करती हैं। साहित्यिक रचना किसी विशेष अवचेतन प्रवृत्ति का ही कार्य होती है। यही वस्तुतः आधुनिक मनोविज्ञान का काव्य-सृजन के सम्बन्ध में नया ज्ञान है। इसकी विशेषता यह है कि जहाँ पहले सृजन एक सर्वथा अज्ञात और अज्ञेय कर्म माना जाता था अब उसके लिए एक निश्चित मानसिक कारण दे दिया गया है। अवचेतना का एक तीसरा लक्षण भी है—वह यह कि इसकी प्रेरक शक्ति यौन-प्रवृत्ति है और क्योंकि हमारा चेतन व्यवहार सब अवचेतन से निर्धारित होता है, इस कारण सारा चेतन व्यवहार भी मौलिक प्रवृत्ति में यौन है।

इसके साथ ही फ्रायड कहते हैं कि अवचेतना में क्रम, नियम और मर्यादा नहीं, वह 'Chaotic' (मर्यादाहीन) है। वहाँ हर एक प्रवृत्ति अहम्-परक Egoistic है और संघर्ष, प्रतिस्पर्धा तथा अवदमन ही वहाँ के जीवन का नियम है।

युङ्ग (Jung) फ्रायड से अवचेतना के लक्षणों के बारे में जहाँ कई अंशों में मतभेद रखते हैं वहाँ इस अन्तिम लक्षण में उनसे एकमत हैं। अवचेतना उनके लिए भी 'Chaotic' है।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या साहित्य-रचना का समग्रतापूर्ण, सौन्दर्य-सम्पन्न तथा लय-तालमय अनुभव अवचेतना की उच्छृङ्खल तथा अहमात्मक प्रवृत्तियों की सृष्टि हो सकता है? खण्डात्मकता की व्यापक अवस्था अखण्ड भाव को जन्म दे सकती है? मानव-जीवन में जो सन्तुलन, समग्रता, पूर्णता, सौन्दर्य आदि के लिए इतना गम्भीर आकर्षण और प्रवाह है वह क्या अवचेतन मन की उच्छृङ्खल तथा अन्य प्रवृत्तियों से निर्धारित हो रहा है? इसका सन्तोषजनक उत्तर पाश्चात्य मनोविज्ञान के पास नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे धर्म, नीति तथा साहित्य में बहुत-कुछ ऐसा है जो अवचेतन से निर्धारित हो रहा है और जिसका प्रेरक-भाव यौन है, परन्तु उनका सारा स्वरूप अवचेतन-निर्धारित नहीं है।

पश्चिमी मनोविज्ञान तथा सम्पूर्ण विज्ञान एक विकास-क्रम को मानते हैं। इसका अर्थ

यह है कि प्रकृति तथा मानव अनेक अवस्थाओं में से गुजरते हुए किसी ओर अग्रसर हो रहे हैं। अब यदि हम विकास की बीती अवस्थाओं पर दृष्टिपात करें तो सहज ही यह अनुभव करेंगे कि अमीबा से मानव तक चेतना उत्तरोत्तर बलवती होती गई है, इसका विस्तार बढ़ा है, इसकी शक्ति अधिक हुई है, इसमें विभिन्न तत्त्वों को संगठित करने और एकीकृत करने की सामर्थ्य विकसित हुई है। प्रत्यक्ष ही मानव में चेतना अभी भी विभाजित है और विकासात्मक गति अपनी चरम सीमा को नहीं पहुँची है। विज्ञान और मनोविज्ञान के लिए क्या यह संगत प्रश्न नहीं है कि वे यह जानने की कोशिश करें कि मानव-चेतना अब आगे के लिए कैसे विकास का उपक्रम कर रही है? आगे की अवस्थाएँ निश्चय ही आज भी हममें सम्भावनाओं के रूप में उपस्थित होंगी और वे हमारे जीवन पर कुछ प्रभाव डाल रही होंगी। यदि हम इनको जान सकें तो हमें अपने जीवन का अवचेतन के अतिरिक्त एक और, विकासात्मक ही, प्रभाव का स्रोत मिल जायगा और हम अपने जीवन की गति-विधि को अधिक अच्छी तरह समझने में सफल हो सकेंगे। परन्तु पश्चिमी विज्ञान तथा मनोविज्ञान भी, पश्चात् वा भूत-मुखी हैं, उनके लिए 'कारण' पूर्वगामी घटना है, प्रयोजन भी 'कारण' हो सकता है, यह वे स्वीकार नहीं करते।

इधर भारत की योगविद्या प्रधानतः भविष्यत्मुखी रही है। मानव की सम्भावनाओं की खोज और सिद्धि ही इसका लक्ष्य रहा है। इसी दृष्टिकोण की सार्थकता ने श्री अरविन्द को गम्भीर रूप में प्रभावित किया। वस्तुतः इतना प्रभावित किया कि देश की स्वाधीनता के पवित्र काम को छोड़कर वे इसमें लग गए और अन्त में उन्होंने अपनी 'अतिमानस' की उपलब्धि के रूप में मानव-जीवन के मौलिक रूपान्तर का एक अपूर्व शक्तिशाली साधन खोज निकाला। पूर्णतर ज्ञान, महत्तर सौन्दर्य और आनन्द-अनुभूति तथा बलवत्तर चित्-शक्ति की अभीप्सा को जाग्रत करके और उसे उत्तरोत्तर गम्भीर, व्यापक और शक्तिशाली बनाते हुए जब व्यक्ति उच्चतर सम्भावनाओं को चरितार्थ करने का यत्न करता है तो उसकी पुरानी आसक्तियाँ उससे छूटने लगती हैं। इस क्रम में, शुरू में कभी-कभी, पीछे अधिक स्थायी रूप में, वह एक अद्भुत चेतना का अनुभव प्राप्त करता है। इसमें चैतन्य अधिक होता है तथा सरसता, सशक्तता, स्फूर्ति और प्रेरणा विशेष होती है।

यह चेतना, अवश्य ही, सामान्य मानवी चेतना के मुकाबले में उच्चतर होने के कारण अतिचेतना कही जायगी। यह सामान्य मानव में प्रसुप्त सम्भावना के रूप में ही उपस्थित है, परन्तु है यह अवचेतना की तरह गत्यात्मक और तलीय चेतना पर उसीकी तरह निरन्तर प्रभाव डालने वाली। परन्तु जहाँ अवचेतना (Chaotic) है यह समग्र-भावापन्न है, सम स्वर है, आनन्द और सौन्दर्य का साक्षात् स्वरूप है। मानवी व्यक्तित्व का यह स्तर मनोविज्ञान के लिए अनुमान द्वारा सर्वथा ज्ञेय है, परन्तु योग तो इसका सक्रिय अनुभव प्रस्तुत कर देता है। सौन्दर्य-सृजन के लिए प्रत्यक्ष ही, यह चेतना-स्तर विशेष महत्त्वपूर्ण है।

: ३ :

इसके अतिरिक्त, हमारे सामान्य व्यक्तित्व के भी तीन अंग हैं, शरीर, प्राण और मन। पश्चिमी मनोविज्ञान प्राण और मन में भेद न करके मनुष्य को शरीर और मन (Body & mind) का ही संगठन मानता है। परन्तु वस्तुतः जागतिक विकास के तीनों स्तर (matter, life &

mind) अन्न, प्राण और मन, मानव में उपस्थित हैं और इन तीनों के अपने-अपने चेतन और अवचेतन स्तर हैं। परन्तु यह तीनों केवल हमारे सामान्य बाह्य व्यक्तित्व को ही संगठित करते हैं। इनके अतिरिक्त एक क्षेत्र आन्तर शरीर, आन्तर प्राण और आन्तर मन का भी है जो सार्वभौम जड़, प्राण और मन से सम्बन्धित है। इनके ज्ञान और अनुभूति की शक्ति वैयक्तिक शरीर-प्राण-मन से बहुत विस्तृत है। अतिचेतना के भी अपने कई क्रमिक स्तर हैं जो उच्चतर जागतिक चेतनाओं से सम्बन्धित हैं। मानवी व्यक्तित्व का यह समृद्ध चित्र योग-विद्या अनुभव में प्रदान करती है और श्री अरविन्द इसे व्याख्या पूर्वक बतलाते और समझाते हैं। इसीसे वे जीवन और सृजन की गुत्थियों को समन्वयपूर्वक समझाने में सफल होते हैं।

सामान्य व्यवहार-रत मानव प्रधानतः अपनी बहिर्मुख चेतना में निवास करता है और इन्द्रिय-ज्ञान और उसका बौद्धिक नियमन और संगठन ही उसके जीवन का संचालन करते हैं। कवि में अन्तर्मुख भाव होता है। वह अपने संवेदनों और अनुभूतियों को प्रथम सत्य के रूप में जानता है और उनकी प्रेरणा को अनुभव करता है और उन्हें अभिव्यक्त करने का यत्न करता है। परन्तु इस अन्तर्मुख भाव में वह अपने व्यक्तित्व के किसी भी अंग की ओर अभिमुख हो सकता तथा उसमें निवास कर सकता है। यह अंग अवचेतना हो सकता है अथवा अतिचेतना तथा इनमें भी कोई स्थान-विशेष। फिर वह अंग सामान्य बहिर्मुख चेतना भी हो सकता है और वहाँ इसके शरीर, प्राण और मन-बुद्धि तथा आन्तर शरीर, आन्तर प्राण और आन्तर मन-बुद्धि भी हो सकते हैं। जिस चेतना-भाग में पैठकर कवि अपनी रचना करेगा, अपनी कृति में वह उसी का बल, ओज और आनन्द भरेगा। परन्तु यह सब अंग और स्तर परस्पर सम्बन्धित हैं, इस कारण ये सहज ही मिश्रित हो जाते हैं।

साधारणतः कवि इन अंगों और स्तरों के प्रति सजग नहीं होता। उसने इनकी खोज भी नहीं की होती और इस कारण वह इनके विभिन्न धर्मों और लक्षणों से परिचित नहीं होता। फ्रायड के साथ यूरोप में एक ऐसे सांस्कृतिक युग का जन्म हुआ जिसने अवचेतन में निवास करने का एक जातीय भाव पैदा कर दिया है और यह मनोविज्ञान, दर्शन, साहित्य, चित्र-कला आदि में साक्षात् प्रकट हो रहा है। परन्तु समीक्षक उसे अपने यथार्थ सांस्कृतिक प्रसंग और प्रकरण में न देखकर उसे एक निरपेक्ष-सा मूल्य दे रहा है और इससे एक अनावश्यक विवाद पैदा हो गया है।

श्री अरविन्द हमें अपने व्यक्तित्व से अधिकाधिक सचेत और सजग होने के लिए आहूत करते हैं और कहते हैं कि इससे हम विभिन्न प्रगतियों और कृतियों को उनके चेतना-स्रोत के आधार पर यथार्थ मूल्य दे सकेंगे।

श्री अरविन्द के मतानुसार विकास-क्रम द्वारा ही यह चेतना-विकास साधित हो रहा है, वर्तमान मानसिक चेतना अतिचेतना के स्तरों को अधिगत करने के लिए अग्रसर हो रही है और जैसे मानव का चेतना-स्तर उठेगा उसकी साहित्यिक रचना का स्वभाव भी बदलेगा। उसमें उच्चतर सौन्दर्य प्रतिलक्षित होगा और मुख्यतः एक नया भाव पैदा होगा जिसे वे (psychic quality) (आन्तरात्मिक रस वा भाव) कहते हैं। इसके मुख्य लक्षण समग्रता, पूर्णतर सौन्दर्य, गम्भीरतर प्रेरणा तथा अधिक सरसता होंगे। इसके साथ ही साहित्य के बाह्य रूप में भी उपयुक्त परिवर्तन होंगे जिससे आन्तरिक भाव उचित रूप में अभिव्यक्त हो सके।

: ४ :

प्रत्यक्ष ही श्री अरविन्द साहित्य को एक प्रगतिशील विकास की वस्तु मानते हैं। वे इसे समाज के साथ सम्बन्धित भी कहते हैं। सम्पूर्ण सत्ता के वे तीन प्रधान भाव बतलाते हैं, व्यष्टि, समष्टि और परात्परता। समष्टि व्यष्टियों की आधार-भूमि है। व्यष्टियाँ इससे पोषित होती हैं। परन्तु समष्टि व्यष्टियों द्वारा ही विकास-पथ पर अग्रसर होती है। परात्परता पूर्ण सत्ता का वह भाग है जो अभी विश्व-विकास में अचरितार्थ है। विकास में हम इसे ही अधिकाधिक उपलब्ध करते जा रहे हैं। यह वैश्व अतिचेतना है। प्रत्यक्ष ही कवि सामाजिक अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करेगा, वह उनकी उपज जो ठहरा, परन्तु विकास का नेता भी वह है और समाज के सामने नई अनुभूतियाँ भी वह प्रस्तुत कर सकता है।

इस प्रकार श्री अरविन्द के साहित्य-दर्शन में प्रगतिशील सामाजिक मूल्यों को एक सुनिश्चित स्थान मिल जाता है। आज मानव की चेतना में शोषित वर्ग की समस्याओं का एक विशिष्ट स्थान है। वे काव्य में जरूर स्थान पा सकती हैं और जब वे किसी उच्च प्रेरणा-स्तर से उद्भूत होंगी तब वे अवश्य ही महान् काव्य की सृष्टि करेंगी। परन्तु काव्य के क्षेत्र को वे परिसमाप्त नहीं कर सकतीं। काव्य एक असीम सौन्दर्य-जिज्ञासा है। सत्य-मात्र इसका क्षेत्र है, परन्तु सत्य को यह सौन्दर्य-पक्ष से खोजता है और उसी रूप में इसे अभिव्यक्त करता है। श्री अरविन्द कहते हैं: "The poet shows us truth in its power of beauty"[1] कवि सत्य को उसके सौन्दर्य के प्रभाव में प्रकट करता है। सौन्दर्य का आकर्षण महान् होता है, उसका आनन्द-दान महान् है और जीवन को बदलने का उसका बल भी महान् है। परन्तु अपने-आपमें वह अहैतुकी तथा निरपेक्ष वस्तु है। वस्तुतः इसी कारण उसका प्रभाव अधिक है। कवि प्रचारक नहीं होता परन्तु यह जीवन को सबसे ज्यादा बदलता है। न वह सत्य को जतलाता है और न उसे सिद्ध करने की कोशिश करता है, फिर भी वह उसका सबसे अधिक विस्तार करता है।

परन्तु सत्य एक-स्तरीय वस्तु नहीं। हमारे व्यक्तित्व के स्तरों के समकक्ष सत्ता के भी अनेक स्तर हैं और उनके अपने-अपने मानदण्ड हैं। जड़-जगत् के नियम, प्राणिक जीवन की वासनाएँ, मन-बुद्धि के विचार तथा आत्मा की समग्रता अपना-अपना स्वरूप रखते हैं। इनके सौन्दर्य अपने-अपने हैं। परन्तु ये एक-दूसरे से अलग नहीं, उच्चतर, निम्नतर को अंगीकार करता है और उसे सत्यतर रूप में प्रकट करता है और अन्त में उच्चतम अन्य सबको अपने यथार्थतम रूप में प्रकट करता है। इस प्रकार श्री अरविंद का अध्यात्मवाद जगत् का त्याग नहीं करता, यह वस्तुतः उसे अपने सत्यतम तथा सुन्दरतम रूप में देखने का आग्रह करता है।

आज का कवि मुख्यतः प्राणिक जगत् के आवेगों, तरंगों, आशाओं, निराशाओं, उल्लासों और आदर्शों की अनुभूति ही प्रस्तुत करता है। कभी-कभी ही उच्चतर आत्मिक अनुभूतियाँ प्रकाश पाती हैं। परन्तु श्री अरविन्द का भविष्य कवि आत्मिक दृष्टि से सब सौन्दर्यों को उनके उच्चतम रूप में देखना चाहेगा और उस अनुभूति को उपर्युक्त शैली से अभिव्यक्त करने का यत्न करेगा। यह विकास श्री अरविन्द के लिए अनिवार्य है, वैश्व विकास की दिशा ही स्पष्ट रूप से इसका संकेत दे रही है। बृहत्तर चेतना अखंड आत्मिक चेतना ही हो सकती है। फिर मानव संस्कृति का वर्तमान विषयी-निष्ठ बल भी इसी का उपयुक्त उपक्रम है। भावी कवि के लिए आज की भाषा

1. The Future Poetry, 1953, p. 43.

अनुपयुक्त ठहरेगी, क्योंकि यह और चेतना की उपज है। इस चेतना का वस्त्र उस नई चेतना को ठीक नहीं बैठेगा। उसके लिए भाषा का रूप ऐसा होगा जैसा वेदों के मन्त्रों का है। मन्त्रों की अभिव्यंजना-शक्ति वस्तुतः अपरिमित है और इस प्रकार की भाषा में, श्री अरविन्द बतलाते हैं : "शब्दों से सूचित निरे स्थूल अर्थ की अपेक्षा भाव अनन्तगुना निहित होता है, इसकी लय भाषा की अपेक्षा भी अधिक अर्थगर्भित होती है और वह अनन्त में से उद्भूत होती है तथा अनन्त में ही लीन हो जाती है। इसमें ऐसी शक्ति होती है कि वह जिस चीज का वर्णन करती है उसके कुछ मानसिक, प्राणिक या भौतिक अर्थों या संकेतों या मूल्यों का ही बोध नहीं कराती, अपितु इन सबके पीछे अवस्थित किसी मूल आदि चेतना में इनका जो मूल्य एवं आकार है उसका भी ज्ञान कराती है।"[१]

सामान्य मानव भी विकास-क्रम में तलीय संवेदनों की जगह अन्तस्थ दृष्टि से वस्तुओं को देखना सीखेगा। कवि तो निश्चय ही अनन्त की पूर्ण चेतना में बैठकर जन और जगत् की गति-विधियों को घनिष्ट आन्तरिकता के सम्बन्ध से अनुभव करेगा और उसे अभिव्यक्त करने के लिए उसकी भाषा में प्रत्यक्ष ही अनन्त की अभिव्यंजना-शक्ति होगी। साधारणतया कविता कल्पना की सृष्टि होती है। कल्पना की गाढ़ता ही कविता का बल होता है, परन्तु कल्पना है प्राण-मन की वस्तु। श्री अरविन्द उच्चतर आत्मिक दृष्टि के अनुभव की अपेक्षा करते हैं और इस सम्बन्ध में 'कल्पना' की जगह सत्य का सजीव साक्षात् दर्शन (vision) चाहते हैं। ऐसा दर्शन कवि के गम्भीर स्तरों से सम्बन्धित होता है और वैसे ही गम्भीर स्तरों को वह पाठक और श्रोता में स्पर्श कर सकेगा। भावी कवि का बल 'कल्पना' नहीं सत्य का साक्षात् दर्शन (vision) होगा।

लय के स्वरूप के बारे में भी श्री अरविन्द कहते हैं : "काव्य-लय में दो तत्त्व होते हैं, एक तो है काव्य-शिल्प (छन्द की मूल रचना को बिना बिगाड़े गति में तारतम्य, स्वरों और व्यंजनों की मैत्री और अमैत्री का उचित निर्वाह आदि), और दूसरे लय की एक गुह्य आत्मा होती है जो इन चीजों का प्रयोग करती किन्तु इन्हें पार कर जाती है।"[२] श्री अरविन्द छन्द के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि "मेरे विचार में यह समझना बड़ी भारी भूल है कि छन्द या तुक कृत्रिम तत्त्व हैं, केवल बाह्य और निस्सार साज-सामग्री हैं जो काव्यमय रूप की गतिधारा और सत्यता में बाधा डालती है।" वे इसे आन्तरिक भाव की अभिव्यक्ति का उचित और उपयुक्त माध्यम मानते हैं। परन्तु मुख्य वस्तु सदा ही आन्तरिक भाव और उसका प्रेरणा-स्रोत है। एक शिष्य को इन्होंने एक बार लिखा : "तुम्हें छन्द-शास्त्र का अध्ययन करके अपनी अन्तःप्रेरणा में बाधा बिलकुल नहीं डालनी चाहिए—तुम्हें जितने शास्त्रीय ज्ञान की जरूरत है वह सब तुम्हारे भीतर है।" श्री अरविन्द के लिए प्रत्यक्षतः आन्तरिक चेतना का विकास मुख्य वस्तु है। परन्तु वे छन्द के बाह्य रूप की उपयोगिता स्वीकार करते हैं और इसे उत्तरोत्तर पूर्णतर बनाने के पक्ष में हैं। उन्होंने स्वयं अंग्रेजी में quantitative metre पर मौलिक परीक्षण किये, जो अंग्रेजी साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण देन हैं।

ऊपर हमने अपने विवेचन विशेष रूप से काव्य के सम्बन्ध में ही दिये हैं। परन्तु ये

---

१. Letters of Sri Aurobindo, Series III, p. 97.

२. Letters of Sri Aurobindo, Series III, P. 161. ibid, P. 163, ibid P. 164.

सामान्यतया साहित्य के अन्य अंगों पर भी लागू होते हैं। काव्य और उपन्यास की तुलना के एक प्रसंग में श्री अरविन्द कहते हैं: "काव्य और उपन्यास को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करके उनमें कलह कराने की कोई आवश्यकता नहीं। आध्यात्मिक पारनासस (Parnassus) पर दोनों को प्रवेश प्राप्त हो सकता है—परन्तु सभी काव्यों और सभी उपन्यासों को नहीं। सब-कुछ उस चेतना पर निर्भर करता है जिससे कोई रचना लिखी जाती है। यदि वह आन्तरात्मिक या आध्यात्मिक चेतना से लिखी जाय और उस पर अपने उद्गम की छाप पड़ी हुई हो, तो बस इतना ही काफी है।"[1]

हम पहले कह चुके हैं कि सृजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में श्री अरविन्द की देन विशेष महत्त्वपूर्ण है। वे इस रहस्यमय क्रिया की वैज्ञानिक व्याख्या ही प्रस्तुत नहीं करते, बल्कि उसे विकसित करने का क्रियात्मक अभ्यास भी बतलाते हैं। इसे अब हम कुछ अधिक विस्तार से जानना-समझना चाहेंगे। काव्य-रचना के वे तीन मुख्य अंग मानते हैं—प्रेरणा, प्राण-शक्ति और बाह्य रूप। वास्तविक प्रेरणा सदा किसी सूक्ष्म स्तर से उठती है, व्यक्तित्व की प्राण-शक्ति उसे बाह्य रूप में चरितार्थता का बल और प्रवाह देती है और बाह्य मन उसे व्यक्त रूप में प्रस्तुत करता है। तीनों में स्वभावतः एक-प्रवाहता है और इन्हें एक-दूसरे से अलग करके देखना कठिन है। प्रेरणा मौलिक स्रोत है, प्राण-शक्ति सृजन-वेग है और बाह्य मन व्यक्त रूप का अन्तिम माध्यम है। प्राण-शक्ति और बाह्य मन में जब तक ग्रहणशीलता न हो वे प्रेरणा को शुद्ध रूप में चरितार्थ नहीं कर सकते। प्राण की चंचलता तथा बाह्य मन की जड़ता इसमें विशेष बाधक होती हैं। अतः क्रियात्मक रूप में मन और प्राण का समत्व भाव तथा प्रेरणा के स्रोतों की सजगता तथा उनसे सम्बन्ध स्थापित करने का सामर्थ्य सृजन-साधना के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। Allow your consciousness to grow, अपनी चेतना को विकसित होने दो, यही श्री अरविन्द शिष्य को निर्देश देते हैं। इससे जीवन के विभिन्न स्तरों से व्यक्ति परिचित होता जाता है और उसे प्रेरणा तथा सृजन-शक्ति उपलब्ध होने लगती है।

हम पहले कह चुके हैं कि प्रेरणा के स्रोत कई हो सकते हैं और भावी कवि उच्चतर आध्यात्मिक स्रोतों को अधिगत करने में सफल होगा। वर्तमान काव्य अधिकांश में प्राणिक स्रोत की वस्तु है, वह हममें प्राण को ही स्पर्श करता है, अन्य केन्द्रों को स्पर्श करने वाला वास्तविक काव्य बहुत कम है। श्री अरविन्द विभिन्न प्रेरणा-स्रोतों के काव्यों के लक्षण तथा दृष्टान्त देते हैं, जिन्हें इस लेख में देना सम्भव नहीं।

उनके साहित्य-विषयक मानदण्डों का विस्तार-विवेचन उनके समालोचना के प्रमुख ग्रन्थ The Future Poetry में उपलब्ध है। इसे ही पढ़कर कविवर दिनकर जी ने कहा था: "जहाँ तक मेरी पहुँच है, मैंने काव्यालोचना के इतने प्रकाशमान रूप और कहीं नहीं देखे और जब मैं यह कहता हूँ तब इस उक्ति के घेरे में उन अनेक आलोचकों के नाम आ जाते हैं जो प्राचीन तथा अर्वाचीन आलोचकों के निर्माता कहे जाते हैं तथा जिनके विचारों के प्रकाश में कविता नई राह पकड़ती आई है और आलोचना के मानदण्डों में परिवर्तन होता आया है।"[2]

१. Letters of Sri Aurobindo, Series III, P. 277.

२. श्री अरविन्द की साहित्य-साधना, 'अदिति' विशेषांक १९२१, पृ० १४९।

काव्यालोचना के मानदण्ड श्री अरविन्द के मानव-विकास के विस्तृत कार्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। साहित्य-स्रष्टा और कवि-सौन्दर्य के अपूर्व आकर्षण द्वारा मानव का विकास प्रेरित करते हैं और श्री अरविन्द कहते हैं कि मानव अब अपने मन-बुद्धि के विकास की ऐसी अवस्था में पहुँच चुका है कि आगे उसे अनिवार्य रूप में बृहत्तर आध्यात्मिक चेतना में पदार्पण करना चाहिए। इसके बिना उसके प्रश्नों का हल ही नहीं और भविष्य-वक्ता के रूप में अपने ग्रन्थ The Future Poetry को वे इन शब्दों से समाप्त करते हैं: "वे जातियाँ, जो इस दर्शन को अधिकाधिक आत्मसात् करेंगी, अपनी जीवन-प्रक्रिया और सांस्कृतिक चेतना को इसकी ज्योति से आलोकित करेंगी वे ही भावी युग की महा शक्तियाँ बन जायँगी और जिस किसी भी भाषा के कवि इस विराट् दर्शन को आन्तरिक दृगों से पूर्णतया ग्रहण कर सकेंगे और उसीसे अनुप्रेरित वाणी की साधना करेंगे वे ही भविष्यत् युग के अमर स्वरकार होंगे।"[1]

---

१. 'आलोचना', अंक ८, पृष्ठ ८०

वार्षिक रचना

आलोचना के सातवें अंक में हमने वार्षिक 'रचना' के नवीन आयोजन की जो घोषणा की थी उसका सर्वत्र स्वागत हुआ है। इधर कई क्षेत्रों से हमें इस विषय में पूछताछ के पत्र प्राप्त हुए हैं। इसलिए हम यहाँ एक बार फिर 'रचना' की सम्पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है पाठक अधिक-से-अधिक संख्या में अभी से पहले अंक के लिए अपना आर्डर बुक करा लेंगे।

◆ 'रचना' वर्ष-भर में प्रस्तुत श्रेष्ठ साहित्य (जो पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है, या पत्र-पत्रिकाओं में छपा है, या उच्च स्तर का होते हुए भी किसी सुविधा के अभाव में अप्रकाशित रह गया है) के अंशों को एक वार्षिक पत्रिका या पुस्तिका के रूप में संकलित करने का प्रयास करेगी।

◆ वार्षिक 'रचना' का सम्पादन 'आलोचना' की सम्पादन-समिति द्वारा ही किया जायगा।

◆ हिन्दी की गतिविधि के विकास में 'रचना' के वार्षिक अंक उन चिह्नों की भाँति होंगे जो उसकी निश्चित प्रगति को सूचित करेंगे और आलोचकों, इतिहासकारों और पाठकों की अभिरुचि के लिए उपयोगी होंगे।

◆ 'रचना' के अंकों में हिन्दी की पुरानी पीढ़ी के साहित्य-निर्माताओं की नवीनतम कृतियों का संकलन होगा, जो पिछली पीढ़ी के व्यक्तित्व और कृतित्व की नवीनतम दिशाओं की सूचना देगा।

◆ अपने सक्रिय कृतित्व से साहित्य को सम्पन्न बनाने वाली समकालीन पीढ़ी की वर्ष की श्रेष्ठतम रचनाओं का संकलन होगा, जो हिन्दी की वर्तमान कला-चेतना की जागरूकता का परिमाप बन सकता है।

◆ 'रचना' में उन प्रतिभाशाली नये और अपरिचित लेखकों की लेखनी का भी परिचय मिलेगा, जो इसी श्रेणी और इसी स्तर के पूर्ववर्ती कलाकारों की सूची में अपने हस्ताक्षर जोड़ेंगे।

◆ कविता, कहानी, एकांकी नाटक, उपन्यास, वैयक्तिक निबन्ध, यात्रा-विवरण, पत्र, डायरी तथा साहित्य के नये-से-नये रूपों में वर्ष-भर के सफल और प्राणवान प्रयोगों को एक व्यवस्था दी जायगी।

◆ खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रज, अवधी, भोजपुरी तथा अन्य जनपदी बोलियों में रचित गीतों, वार्ताओं, नाटकों तथा कथाओं का संकलन करके समकालीन गतिविधि में उनको उचित स्थान प्रदान किया जायगा।

◆ 'रचना' की सामग्री के संकलन में सम्पादकों का उद्देश्य किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति को प्रश्रय न देकर, यथासमय प्रत्येक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति का यथोचित प्रतिनिधित्व करना होगा। किसी भी समकालीन प्रवृत्ति का राजनीतिक, या सामाजिक पूर्वग्रह के आधार पर समर्थन या विरोध न करके प्रत्येक प्रवृत्ति से अनुप्रेरित रचनाओं के साहित्यिक महत्त्व को ही एकमात्र कसौटी मानना, साहित्य के लिए स्वस्थ तथा श्रेयस्कर है। यही 'रचना' की सम्पादन-नीति होगी।

◆ प्रतिवर्ष अप्रैल मास में 'रचना' का वार्षिक अंक प्रकाशित किया जायगा। डिमाई साइज में २०० से अधिक पृष्ठों के इस संकलन का मूल्य ५) वार्षिक (डाक खर्च अतिरिक्त) होगा। यह अंक आलोचना के स्थायी ग्राहकों को तीन चौथाई मूल्य में प्राप्य होगा।

—राजकमल प्रकाशन

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, १, फैज बाजार दिल्ली, के लिए श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

आलोचना

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ३ अंक २ पूर्णाङ्क १० जनवरी, १९५४

वार्षिक मूल्य १२) इस अंक का ३)

अनुक्रमणी

सम्पादकीय

हिन्दी-साहित्य का इतिहास : मध्ययुग

सामाजिक परम्परा के सन्दर्भ में सांस्कृतिक मूल्यांकन ही किसी कलाकृति की सौन्दर्य-शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक समीक्षा को वास्तविक आधार प्रदान करता है। किन्तु हिन्दी-साहित्य की समीक्षा में—चाहे वह सैद्धान्तिक हो अथवा व्याख्यात्मक—सबसे बड़ी त्रुटि यही रह गई है कि उसका याथातथ्य ऐतिहासिक मूल्यांकन नहीं हुआ। हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहास लिखे गए, उनमें मध्ययुग के कवियों और काव्य-धाराओं के ऐतिहासिक विवेचन की प्रवृत्ति भी विकसित हुई, तथापि मध्ययुग के हिन्दी-साहित्य का इतिहास जो यथार्थ में मध्ययुग के इतिहास का अभिन्न अंग कहा जा सके अब भी लिखा जाना शेष है। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक इतिहासकारों—तासी, सेंगर आदि—ने केवल संक्षिप्त विवरण और अधिक हुआ तो स्फुट उदाहरणों के साथ कवियों की सूचियाँ प्रस्तुत कर दी थीं। ग्रियर्सन, ग्रीव्स और के ने इतिहास का काल-विभाजन और उसके अन्तर्गत विविध प्रवृत्तियों का संकेत भी किया, किन्तु उनके पास साहित्य की सामग्री अधिक नहीं थी, इतिहास की सामग्री की ओर उनका ध्यान भी नहीं था और सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित और संकीर्ण था। साहित्य-सामग्री की दृष्टि से मिश्र-बन्धु का चार जिल्दों में विभाजित 'विनोद', अनेक नितान्त स्पष्ट चिन्त्य भूलों के बावजूद, पर्याप्त सम्पन्न था। उन्होंने इतिहास के काल-विभाजन में मौलिकता लाने की चेष्टा अवश्य की, किन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनमें साहित्य के समूहगत पर्यालोचन तथा किसी क्रम-व्यवस्था से उसके परीक्षण, विश्लेषण और वर्गीकरण कर सकने का यथेष्ट वैज्ञानिक विवेक नहीं था। सामाजिक इतिहास की उपलब्ध सामग्री को साहित्य के इतिहास में नियोजित करने की चेतना का उनमें सर्वथा अभाव था।

आचार्य शुक्ल का 'इतिहास' हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन का प्रथम सीमा-चिह्न है। साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर काल-विभाजन, विभिन्न कालों का आकर्षक

नामकरण, कवियों का वर्गीकरण और उनकी व्यक्तिगत समीक्षा में अन्तर्दृष्टि तथा साहित्यिक परम्पराओं के क्रम-विकास का निर्देश—इन अनेक नवीनताओं से समन्वित उनका ऐतिहासिक अध्ययन साहित्य-समीक्षकों के एक बड़े समूह का धर्म-शास्त्र रहा है। किन्तु जहाँ एक ओर शुक्लजी के इतिहास का व्यापक रूप में अनुकरण और अनुसरण हुआ, वहाँ दूसरी ओर यह अनुभव करने में भी देर न लगी कि इतिहास-लेखन की दृष्टि से यह अध्ययन निर्दोष नहीं है। व्यक्तिगत कवियों की सूक्ष्म और गम्भीर समीक्षा तथा उनकी रचनाओं से उत्तम उदाहरणों का संकलन अपने में उपयोगी और रोचक अवश्य है, किन्तु उनसे ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप में भारी बाधा पड़ती है। इतिहास-लेखन की यह शैली पुरानी थी। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने इस त्रुटि को तुरन्त समझ लिया और शुक्लजी के इतिहास-प्रकाशन के दूसरे ही वर्ष अपना 'हिन्दी भाषा और साहित्य' प्रस्तुत कर दिया जिसमें उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप को उपर्युक्त बाधा से मुक्त किया और साथ ही शुक्लजी द्वारा निर्णीत साहित्यिक धाराओं के विकास-क्रम निर्देश में आदि, मध्य और आधुनिक के ऐतिहासिक काल-विभाजन की सीमाओं तक को मिटा दिया। साहित्य के इतिहास में हिन्दी के भाषा-वैज्ञानिक इतिहास को जोड़ना आचार्य श्यामसुन्दरदास की एक ऐसी मौलिकता थी जिसका औचित्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि भाषा के इस इतिहास में हिन्दी के अभ्युदय की ऐतिहासिक-सामाजिक परिस्थितियों और कारणों का विवेचन होता, तब अवश्य साहित्य के इतिहास के साथ उसकी संगति मिल जाती। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में ललित कलाओं के इतिहास को भी सम्मिलित किया गया था। यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी, किन्तु इस इतिहास को साहित्य के इतिहास के साथ अविच्छिन्न और अविकल रूप से मिलाकर परखने की आवश्यकता थी। भाषा-शैली और समीक्षा-दृष्टि के महत्त्वपूर्ण अन्तरों के अतिरिक्त शेष बातों में शुक्लजी और श्यामसुन्दरदास जी के इतिहासों में कोई मौलिक अन्तर नहीं थे। किन्तु गम्भीरता और प्रतिभा-सम्पन्न अन्तर्दृष्टि से लिखे जाने के कारण आचार्य शुक्ल के ही 'इतिहास' के दोष भी अधिक देखे गए।

हिन्दी-साहित्य के और भी महत्त्वपूर्ण इतिहास प्रकाशित हुए। महाकवि हरिऔध के 'विकास', डाक्टर रामकुमार वर्मा के 'आलोचनात्मक इतिहास', डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री के 'विवेचनात्मक इतिहास' तथा कुछ अन्य ने भी अपनी-अपनी मौलिक विशेषताओं के लिए प्रसिद्धि और लोकप्रियता प्राप्त की। परन्तु इन सब में साहित्यिक सौन्दर्य के उद्घाटन की प्रवृत्ति इतनी प्रधान थी कि उनके ऐतिहासिक पुनर्संगठन की थोड़ी-बहुत मौलिकता अथवा नवीनता की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका। इस बीच हिन्दी-साहित्य में अनेक नवीन अनुसंधान हो चुके थे, नवीन सामग्री सम्मुख आई थी, पुरानी का परीक्षण-विश्लेषण हुआ था। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने इस नवीन कार्य का भरपूर उपयोग किया और प्रारम्भ में जो छोटी-मोटी-भ्रान्तियां रह गईं थीं उन्हें भी द्वितीय संस्करण में सुधार लिया। 'आलोचनात्मक इतिहास' साहित्य की प्रचुर सामग्री एक स्थान पर सँजोकर आलोचना और इतिहास दोनों क्षेत्रों के विद्यार्थी की सहायता करता रहा है। इस इतिहास में 'चारणकाल' के अंतर्गत महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा किये गए अनुसंधानों का प्रचुर प्रयोग किया गया था तथा अपभ्रंश के सिद्ध और जैन साहित्य को भी हिन्दी में शामिल कर लिया गया था। स्वयं राहुलजी ने अपनी 'काव्य धारा' में अपभ्रंश के कवियों की ऐतिहासिक समीक्षा में आर्थिक,

राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों को नियोजित करके एक व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप का परिचय दिया। उन्होंने भाषा-परिवर्तन के सामाजिक कारणों को भी उद्घाटन करने की चेष्टा की। परन्तु राहुलजी की ऐतिहासिक दृष्टि में निष्कर्ष और निर्णय तथ्य और वस्त्वाधार के पहले आ जाते हैं, अतः वे इतिहास और साहित्य की सामग्री का संकलन अपने उद्देश्य की ही दृष्टि से करते हैं। फलस्वरूप ऐतिहासिक दृष्टि-निक्षेप की व्यापकता उद्देश्य की संकीर्णता में विलीन हो जाती है।

आज से चौदह वर्ष पूर्व आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' लिखकर साहित्यिक इतिहास की एक नवीन दिशा का संकेत किया और उसमें इस आदर्श की पूर्ति का प्रयत्न किया कि 'प्रत्येक देश का साहित्य, समाज, संस्कृति और चिंतन, एक अविच्छिन्न विचार-परम्परा का और उसमें होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रतिविम्ब हुआ करता है जिसे गति देने में भौगोलिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, और वैयक्तिक कारण काफ़ी हिस्सा लेते हैं।' यह सही है कि 'भूमिका' इस आदर्श की आंशिक पूर्ति ही कर सकी; उसमें प्राचीन परंपरा का दिग्दर्शन ही अधिक हुआ, उसे गति देने वाले उपर्युक्त कारणों का पर्यवेक्षण और विश्लेषण कदाचित् काफ़ी न हो सका। इस महत्त्वपूर्ण कृति ने शुक्लजी के 'इतिहास' की उन त्रुटियों की ओर भी संकेत किया जिन्हें अन्य विद्वान् भी अनुभव करते आ रहे थे। 'भूमिका' के आधार पर हिन्दी-साहित्य के वास्तविक इतिहास की आशा बँधी थी। अब द्विवेदीजी के 'आदिकाल' तथा 'हिन्दी-साहित्य' के प्रकाशन से प्रतीक्षा की अवधि समाप्त हुई है। शुक्लजी के 'इतिहास' की अनेक त्रुटियों को द्विवेदीजी ने स्पष्ट रूप में इंगित किया है। काल-विभाजन, कालों के नामकरण, महान् कवियों और प्रवृत्तियों के मूल्यांकन तथा प्राचीन परम्पराओं एवं तत्कालीन सामाजिक और वैयक्तिक परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के इतिहास का विन्यास, अनेक बातों में द्विवेदीजी ने शुक्लजी से मतभेद प्रकट किया है तथा इतिहास-लेखन के आदर्श को आगे बढ़ाया है। उनके निष्कर्षों और तर्कों के पीछे नवीन सामग्री के अनुसंधान, पुरानी सामग्री के पुनर्मूल्यांकन तथा साहित्य-समीक्षा की अधिक व्यापक और उदार अंतर्दृष्टि है। साहित्य के इतिहास और समीक्षा के क्षेत्र में सम्भवतः आचार्य द्विवेदी का कार्य द्वितीय सीमा-चिह्न कहा जायगा। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'हिन्दी-साहित्य' में साहित्य-सामग्री के संकलन, वर्गीकरण और उसके आधार पर निष्कर्ष निकालने में वह सतर्कता और संतुलन नहीं दिखाई देता जिसकी आशा की जा सकती थी। राहुलजी की भाँति निर्णय देने में वह भी कभी-कभी जल्दबाजी कर सकते हैं और जिस प्रकार राहुलजी का निश्चित उद्देश्य उनसे तथ्य की उपेक्षा करा सकता है, उसी प्रकार द्विवेदीजी का उत्साह उनसे तर्क की भ्रांति। किन्तु 'हिन्दी-साहित्य' की आलोचना के लिए अभी बहुत समय बाकी है।

अस्तु, मन्तव्य यह है कि हिन्दी-साहित्य के जितने इतिहास लिखे गए, विभिन्न धाराओं और व्यक्तिगत कवियों के जो अध्ययन प्रस्तुत किये गए, उनके बावजूद यह एक अप्रिय और कठोर सत्य है कि हिन्दी के पुराने साहित्य की, जिसे हम मध्य-युग का साहित्य कहते हैं, यथा-तथ्य ऐतिहासिक व्याख्या नहीं हुई।

इसके लिए साहित्य और इतिहास के सम्मिलित अध्ययन की आवश्यकता है। जहाँ तक साहित्यिक अनुसंधान का सम्बन्ध है, कुछ कवियों और काव्य-धाराओं के एकात्मक, विश्लेषणात्मक और विशिष्ट अध्ययन अवश्य किये गए। किन्तु मध्य-युग के साहित्य की अपार सामग्री अब भी

अँधेरे और अज्ञात कोठों में पड़ी कीड़ों-मकौड़ों का शिकार बन रही है, थोड़ी-बहुत ज्ञात सामग्री संग्रहालयों और भण्डारों में बन्द उद्धार की प्रतीक्षा में है, और जो-कुछ प्रकाश में आई है, उसमें बहुत कम ऐसी है जिसका प्रामाणिक सम्पादन और पाठालोचन हुआ हो। इस स्थिति में साहित्य के इतिहासों में चन्द, कबीर, सूर, मीरां तथा अगणित अन्यान्य कवियों के सम्बन्ध में परम्परा से उन बातों को दुहराया जा रहा है जिनकी यथार्थता की परीक्षा हुई ही नहीं। और साहित्य के इतिहास को भौगोलिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में उपस्थित करने की चेष्टा तो और भी कम हुई। ऐतिहासिक समीक्षण तभी पूर्ण हो सकता है जब हम कवियों के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व के अधिकाधिक अनुसंधान, उनकी प्रामाणिकता की स्थापना तथा उनके वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता की अपेक्षा तत्कालीन समाज की सर्वांगीण परिस्थिति में अंगांगी रूप से साहित्य तथा अन्यान्य कलाकृतियों को विन्यस्त करने और इस प्रकार युग के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को पुनर्निर्मित करके उपस्थित करने की आवश्यकता का महत्त्व कम न समझें। निःसन्देह यह कठिन कार्य साहित्यिकों और इतिहासकारों के सम्मिलित उद्योग से ही हो सकता है। जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड में विगत शताब्दी से ही साहित्य के अध्ययन द्वारा इतिहास-लेखन में एक सर्वथा नई पद्धति अपनाई जाने लगी थी। किन्तु भारतीय मध्य-युग के इतिहासकारों ने हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों की प्रायः उपेक्षा ही की है।

भारतीय इतिहास के मध्ययुग (आठवीं से उन्नीसवीं शताब्दी) के लगभग बारह सौ वर्षों के दीर्घ काल-विस्तार में राजनीति, समाज, धर्म और संस्कृति में इतने महान् परिवर्तन और उत्थान-पतन हुए कि उन सब का एक साथ विचार कर सकना भी सम्भव नहीं है। आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के पूर्व मध्ययुग की विशृंखल सामंती व्यवस्था—अथवा अव्यवस्था—के काल में धर्म और समाज के क्षेत्र में भी विघटन, विभाजन, आंतरिक संघर्ष और असामाजिकता का क्रम तेजी से क्रियाशील हो रहा था। इस काल का सांस्कृतिक अधःपतन उन वामाचारपूर्ण गुह्य तान्त्रिक क्रियाओं में देखा जा सकता है जिन्होंने बौद्ध और वैदिक दोनों धर्मों को आच्छन्न कर लिया था। इन पाँच सौ वर्षों की लम्बी अवधि तक भारत बाह्य संसार से प्रायः पूर्णतया विच्छिन्न रहा। बाह्य संकटों से सुरक्षा की भावना ने निःसन्देह भारतीयों में कूप-मण्डूकता कलहशीलता, अहम्मन्यता और आत्म-तुष्टि की भावना को प्रोत्साहन दिया होगा, जैसा कि अलबेरूनी ने लिखा है कि भारतीयों को अपने देश के अलावा किसी दूसरे देश के अस्तित्व का ज्ञान नहीं है तथा वे अपने धर्म के समान किसी धर्म को नहीं मानते। किन्तु इस काल के इतिहास को जानने की सामग्री बहुत कम है। भारत में इतिहास-लेखन की प्रणाली सर्वथा भिन्न थी। इतिहासकारों ने उस सामग्री को जो पुराणों से प्राप्त हो सकती है समुचित उपयोग नहीं किया और न वे तत्कालीन साहित्य, संगीत, मूर्ति, स्थापत्य आदि कला-कृतियों का सामाजिक इतिहास के साथ संयुक्त करके समग्रीकृत अध्ययन ही संतोषजनक रूप में कर सके। यही वह काल है जिसमें संस्कृत भाषा और साहित्य—अपनी कृत्रिमता, आडम्बरप्रियता, पंडिताऊपन तथा पंडितों द्वारा एकाधिकृत हो जाने के कारण—संभवतः जन-समाज से पूर्णतया विच्छिन्न हो गए थे और वे परिस्थितियाँ पैदा हो गई थीं जिनमें जन-भाषा उत्तरोत्तर विकास करके संस्कृत का स्थान लेने की तैयारी कर रही थी। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए इस काल का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इसी समय उस सामाजिक

चेतना की तात्कालिक भूमिका तैयार हुई जिसका प्रतिफलन आगे भक्ति-आंदोलन में हुआ। किन्तु शुक्लजी ने केवल 'अपभ्रंश काल' के नाम से कुछ सिद्ध और जैन कवियों के नामों और स्फुट उदाहरणों के उल्लेख-मात्र कर दिए हैं। राहुल जी ने अपने दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर ही सामाजिक समीक्षा की है और इसे 'सिद्ध-सामन्त काल' का नाम दिया है। द्विवेदीजी ने भी यही नाम स्वीकार किया, परन्तु वे राहुलजी की एकांगी स्थापनाओं से कहाँ तक सहमत हो सकते हैं, यह स्पष्ट नहीं हो सका। द्विवेदीजी ने सिद्ध और नाथ साधनाओं का गहरा अध्ययन किया है, किन्तु उनके भी अपने मोह और अभिनिवेश हैं, जिनका संतुलित ऐतिहासिक विवेचन पर प्रभाव पड़ता है।

बारहवीं शताब्दी में ही लगभग समस्त उत्तर भारत मुस्लिम विजेताओं के अधिकार में आ गया था और पुनः केन्द्रीय सत्ता के भारत-व्यापी अधिकार-विस्तार के प्रयत्न प्रारम्भ हो गए थे। किन्तु इसके क्रम में कितना नरसंहार, कला और संस्कृति की अपार सामग्री का विध्वंस तथा धन-संपत्ति का भीषण विनाश हुआ इसका अनुमान कर सकना भी सम्भव नहीं है। पहले कठोर मुस्लिम सैनिक शासन और फिर शिष्ट प्रशासन-व्यवस्था में प्रयत्नशील मुग़ल साम्राज्य-शाही का यह मध्य-मध्ययुग अनेक राजनीतिक संघर्षों और उत्थान-पतन के साथ सत्रहवीं शताब्दी तक रहा। किन्तु भारत के राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंस का यह काल ही विलक्षण रूप से उस नवीन चेतना और सांस्कृतिक नवनिर्माण का काल है जिसमें भक्ति आन्दोलन ने समस्त उत्तर-भारत की आध्यात्मिक एकता, सामाजिक भावना और जीवन की सोद्देश्यता के नये मूल्य प्रदान किये थे। आगे चलकर जब चेतना की लहर मन्द पड़ गई तथा भावना रूढ़िग्रस्त और जड़ होने लगी, तब निर्माण की शक्तियाँ भी क्षीण हो गई। वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर-मध्य से ही पुनः राजनीतिक विघटन, सामाजिक अव्यवस्था और सांस्कृतिक ह्रास के उत्तर-मध्य युग का क्रम प्रारम्भ हो गया जो अठारहवीं शताब्दी तक चरम सीमा को पहुँच गया। इतिहासकारों ने इन दोनों मध्य मध्य और उत्तर-मध्य युगों के अध्ययन में सबसे अधिक उपयोग मुस्लिम इतिहासकारों का ही किया है, जो स्वयं अपने-अपने पूर्वग्रहों से ग्रस्त थे। भारतीय भाषाओं के साहित्यों की तो उपेक्षा की ही गई, फ़ारसी साहित्य का भी ऐतिहासिक अध्ययन नहीं हुआ। वस्तुतः समस्त कलाकृतियों के समग्र रूप में अध्ययन के द्वारा ही समाज और संस्कृति-सम्बन्धी उन अनेक असंगतियों और अन्तर्विरोधों को सुलझाया जा सकता था जो हमारे साहित्य के इतिहासकारों के लिए एक विचित्र पहेली बन गई हैं। इतिहास और संस्कृति की सामग्री के पूर्ण और समन्वित अध्ययन के अभाव में ही अपनी-अपनी रुचि और दृष्टिकोणों का आसानी से आरोप करके साहित्य के इतिहास को विकृत किया गया है। किस प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों में उस काल के मनुष्य का आदर्श साधक कवि के रूप में मूर्तिमान हुआ और उसने एक नई भाषा को जन-मुख से उठाकर नवीन जीवन्त भावना से अनुप्राणित कर दिया तथा सर्वथा नये प्रकार की साहित्य-सृष्टि कर डाली, इसकी जिज्ञासा अब भी ज्यों-की-त्यों बनी है।

निःसन्देह मध्ययुग के इतिहासकारों ने कला और साहित्य का इतिहास-निर्माण में समुचित उपयोग नहीं किया। परन्तु साहित्य के इतिहासकारों ने इतिहास की उपलब्ध सामग्री की ओर भी अधिक उपेक्षा की है। उन्होंने साहित्य को शीर्ष स्थान पर रखकर अपनी रुचि, योग्यता अथवा साहित्य-बाह्य

उद्देश्यों के अनुकूल सामाजिक निष्कर्ष निकाल कर, विच्छिन्न रूप से ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा उनकी पुष्टि कर दी और इसी को 'साहित्य का इतिहास' नाम से चलता कर दिया। एक ओर साहित्य को समाज का प्रतिबिंब कहा जाता है और दूसरी ओर साहित्य के इतिहास को समाज के रंगमंच का एक अभिनेता-मात्र कहकर इतिहास का केवल पृष्ठभूमि के रूप में और वह भी अपनी रुचि के अनुसार, उपयोग किया जाता है। परिणाम यह होता है कि ऐतिहासिक तिथियों, नामों और घटनाओं के साथ साहित्य-कृतियों का मनमाना सम्बन्ध जुड़ जाता है और दोनों में कारण और कार्य का नाता कल्पित कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए राजनीतिक इतिहास की पुस्तकों से यह जानकर कि बारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी और मुहम्मद ग़ोरी के नेतृत्व में मुसलमानों ने भारत पर अनेक आक्रमण किये थे, यह कल्पना कर ली जाती है कि ऐसे वातावरण में जनता वीरता की भावना से अनुप्राणित हो गई होगी और मुस्लिम संघर्ष के फलस्वरूप कवियों ने उत्साह-वर्धक वीर रसात्मक रचनाएँ की होंगी। प्रायः साहित्य के वास्तविक अध्ययन से पुष्ट किये बिना ही ऐसे प्रवाद व्यापक रूप में प्रचलित हो जाते हैं। इसी प्रकार आक्रमणकारी मुस्लिम विजेताओं के अत्याचारों के संयोग के आधार पर समस्त भक्ति-साहित्य को निराशाजन्य पलायनवादी साहित्य समझ लिया जाता है। अथवा भक्ति के परवर्ती शृङ्गारी साहित्य को मनःकल्पित विलासी वातावरण का परिणाम मान लिया जाता है। पृष्ठभूमि के रूप में इतिहास-प्रयोग के इन उदाहरणों में किंचित् अतिरंजना भले ही दिखाई दे, किन्तु ऐसी अतिरंजना आचार्यों के प्रामाणिक इतिहासों के सूत्र-रूप कथनों के आधार पर अनुचर इतिहास-कारों ने वास्तव में की है। दूसरी ओर, प्राचीन परम्परा के ज्ञान और अनुराग में अभिनिविष्ट इतिहासकार 'साहित्य की विविध' धाराओं की शृंखला दूरातिदूर अतीत तक ढूँढ़ने में इतने अधिक तन्मय हो जाते हैं कि उनके सम्मुख तत्कालीन इतिहास की ज्वलन्त घटनाओं का कोई मूल्य नहीं रहता। भक्ति-साहित्य के उद्गम-स्रोत 'भागवत', नारद और शांडिल्य के सूत्रों, ब्रह्मसूत्र की भक्तिपरक व्याख्याओं, पुराणों, 'भगवद्गीता', 'महाभारत' और वेदों तक तो ढूंढ़े जाते हैं, किन्तु जिन सामयिक परिस्थितियों में उस साहित्य की रचना हुई उनका अन्वेषण-अध्ययन थोड़े-से चलताऊ प्रवादों को दुहरा देने में ही सीमित रह जाता है।

साहित्यिक इतिहास के इन असत्य और अर्द्ध-सत्य निष्कर्षों और निर्णयों के उत्तर-दायित्व से साहित्य का इतिहासकार और समीक्षक बच नहीं सकता। ऐतिहासिक तथ्यों की खोज, उनके सम्यक् अनुशीलन तथा साहित्य और अन्य कला-कृतियों के साथ उन्हें सम्बद्ध करके तत्कालीन जीवन के पुनर्निर्माण के बिना न तो वास्तव में सामान्य इतिहास की रचना हो सकती है और न साहित्य के इतिहास की। साहित्य और इति-हास में अभिन्नता और अन्योन्य सम्बन्ध है। मनुष्य की समस्त कलाकृतियाँ सामान्य रूप में तथा साहित्य विशेष रूप में व्यक्ति और समाज का आन्तरिक इतिहास निर्मित करते हैं और आन्तरिक व्यक्ति और समाज की ही स्थूल अभिव्यक्ति उसकी विभिन्न सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संस्थाओं तथा सभ्यता के अन्य उपकरणों के रूप में होती है। मानव-जीवन के जिस इतिहास में युग-जीवन को पुनर्निर्मित करने की चेष्टा नहीं की जाती वह नामों, तिथियों और घटनाओं के समूह से अधिक और क्या है? और, ऐसे इतिहास को साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित करना तो और भी अनर्थ है।

निबन्ध

डॉक्टर राजबली पाण्डेय

हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय मध्य युग

: १ :

विश्व के इतिहास का मध्य युग सातवीं-आठवीं शती से प्रारम्भ होता है। भारतीय इतिहास में भी मध्य युग के लक्षण सातवीं शती के मध्य से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। इसलिए ऐतिहासिकों ने सुविधा के लिए ६५०—१२०० ई० के काल को पूर्व-मध्य युग और १२००—१७०० ई० के काल को उत्तर-मध्य युग माना है। परन्तु मध्य युग की कल्पना केवल तिथि-क्रम के ऊपर अवलम्बित नहीं है; उस युग की प्रमुख राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों के कारण उसे मध्य युग कहते हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में काल-विभाजन एक विचित्र प्रकार से किया जाता है। हिन्दी-जैसी लोक-भाषाओं का उदय स्वयं मध्य युग की एक प्रक्रिया है। भारत में मध्य युग सोलहवीं शती के बाद भी प्रलम्बित रूप से बना रहता है, क्योंकि भारत पर बर्बर आक्रमणों ने देश में अन्धयुगीन अवस्था उत्पन्न कर दी और वैज्ञानिक तथा सामाजिक क्रान्ति के अभाव में प्रायः १८५७ ई० तक मध्य युग का ही प्रभाव रहा। इस प्रकार हिन्दी का अपभ्रंश-काल, वीर-गाथा-काल, भक्ति-काल तथा रीति-काल सभी मध्य युग के अन्तर्गत आ जाते हैं और हिन्दी के मोटे तौर पर दो ही काल हो सकते हैं—मध्य युग और आधुनिक युग।

पुष्यभूति (वर्द्धन) साम्राज्य के पतन के बाद सम्पूर्ण उत्तर भारत प्रान्तीय और वंशगत राज्यों में बट गया था। बारहवीं शती तक ये राज्य बराबर आपस में लड़ते रहे। परस्पर ध्वंसकारी युद्धों में शूरता-प्रदर्शन ही इनका आदर्श था और एक-दूसरे की सम्पत्ति तथा कन्याओं का अपहरण ही राजाओं का पुरुषार्थ। जनता के राजनीतिक जीवन का आन्तरिक सन्तुलन भी नष्ट हो चुका था। प्राचीन भारत में राजतन्त्र और गणतन्त्र एक-दूसरे के ऊपर नियन्त्रण रखते थे, जिससे जनता में सार्वजनिक राजनीतिक चेतना बनी रहती थी और वह राज्य के उत्थान और पतन में उसके साथ समवेदना रखती थी। गुप्त-सम्राटों ने गणों का विनाश किया। उसके बाद राजतन्त्र क्रमशः अप्रतिबन्ध होते गए और पूर्व-मध्य काल में वे प्रायः बिलकुल निरंकुश हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अथवा व्यक्ति-सम्मान, देश-भक्ति और राजनीतिक जागरूकता के स्थान पर राज-भक्ति, आत्म-समर्पण और राजनीतिक उदासीनता ने जनता में घर कर लिया। प्रान्तीय और वंशगत राज्यों की संघटना भी सामन्तवादी थी। छोटे-छोटे राज्य कई छोटे-छोटे उपराज्यों में बटे हुए थे। जनता की भक्ति अपने मण्डल और स्थानीय सामन्त के प्रति होती थी।

सम्पूर्ण राज्य की उनके मन और भावना में कोई कल्पना नहीं थी। इस परिस्थिति में इस काल के प्रशस्तिकारों और कवियों के सामने कोई अखिलदेशीय और राष्ट्रीय कल्पना नहीं थी। वे स्थानीय राज्यों और राजाओं के गुण-गान करने में ही अपनी प्रतिभा की सफलता मानते थे अथवा सामन्ती ठाठ-बाट और विलासिता का चित्रण करने में आनन्द लेते थे। लगभग पाँच सौ वर्षों के लम्बे काल में केवल कान्य-कुब्ज के यशोवर्मन के राजकवि भवभूति ने और प्रतिहार-वंश के कुलगुरु राजशेखर ने 'रामायण' और 'महाभारत' के राजनीतिक आदर्शों का स्मरण अपने 'महावीर चरित' तथा 'उत्तर-रामचरित' और 'बाल भारत' तथा 'बाल रामायण' में दिलाया। अधिकांश कवि और लेखक अपने प्रश्रयदाता राजाओं के जीवन-चरित्र में उनके यश ही गाते रहे। इस मध्ययुगीन परम्परा को बाणभट्ट ने प्रारम्भ किया। बाणभट्ट का 'हर्षचरित', वाक्पतिराज का प्राकृत-काव्य 'गौडवहो', परिमल गुप्त का 'नवसाहसाङ्क चरित', बिल्हण का 'विक्रमाङ्क देव चरित', सन्ध्याकर नन्दी का 'रामचरित', हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित' तथा 'प्राकृत द्वयाश्रय काव्य', जयानक का 'पृथ्वीराज विजय', सोमेश्वर की 'कीर्ति-कौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्त्तन', जयसिंह का 'हम्मीरमद मर्दन', मेरुतुङ्ग का 'प्रबन्ध चिन्तामणि', नयचन्द्र सूरि का 'हम्मीर महाकाव्य', जयसिंह सूरि का 'वस्तुपाल चरित', आनन्द भट्ट का 'बल्लाल चरित' तथा गंगाधर पण्डित का 'मण्डलीक महाकाव्य' आदि काव्य संस्कृत और प्राकृत में राजाओं की यश-गाथाओं के रूप में लिखे गए। इसी परम्परा के अनुकरण में हिन्दी के उदय काल के कवियों ने वीर-गाथा और वीर-गीति-शैली के अनेक रासों का निर्माण किया। इन हिन्दी के कवियों के सामने दो प्रकार के राजनीतिक दृश्य थे। एक तो भारतीय राज्यों का परस्पर युद्ध और दूसरे भारतीय राज्यों का अरबों, तुर्कों और पठानों से युद्ध। दोनों प्रकार के युद्धों में शूरता-प्रदर्शन का काफी अवसर था और कवियों के लिए पर्याप्त सामग्री। इन काव्यों का मुख्य विषय थे—प्रेम और युद्ध तथा उनके स्थायी भाव थे शृङ्गार और वीर।

बारहवीं शताब्दी के अन्त में दिल्ली और कन्नौज के हिन्दू-साम्राज्यों के नष्ट हो जाने के बाद यद्यपि ठेठ उत्तर भारत में मुसलिम सत्ता का प्रतिरोध बड़े पैमाने पर बन्द हो गया तथापि राजस्थान, मध्य भारत, गुजरात और उड़ीसा के भारतीय राज-वंश बराबर मुसलमानों का विरोध करते रहे। इस्लाम की राजनीतिक शक्ति और धर्म का जितना विरोध भारत में हुआ उतना अफ्रीका और एशिया महाद्वीप के किसी देश में नहीं। प्रान्तीय और वंशगत राज्यों ने परस्पर युद्धों और सामूहिक भावना के अभाव से मुसलमानों को भारत में घुस आने का अवसर तो दिया परन्तु उनमें वंशगत अभिमान और स्वार्थ के साथ देश, धर्म और जाति की भावना (कम-से-कम विदेशियों के सामने) अवश्य थी और उनमें व्यक्तिगत शूरता और कष्ट-सहन की योग्यता की कमी न थी। अतः वे सोलहवीं शती के मध्य तक बराबर मुसलिम राज्यों से संघर्ष करते रहे। इस प्रकार विरोध का क्षेत्र कम हो जाने पर भी जनता की मानसिक स्थिति इस काल में वही रही, जो दशवीं शती से बारहवीं शती तक थी। राजस्थान और गुजरात के बहुत-से रासो इसी काल में लिखे गए और पहले के लिखे हुए परिवर्द्धित हुए।

सोलहवीं शती के मध्य में मुगल-साम्राज्य के स्थापित हो जाने पर भी हिन्दुओं की ओर से विरोध और संघर्ष बन्द न हुआ। मेवाड़ के राजा संग्रामसिंह ने फिर एक बार हिन्दुओं की राजनीतिक शक्ति का संघटन किया और अपनी राजनीतिक कुशलता से मुगलों के विरुद्ध पठानों को भी अपनी ओर मिला लिया। पानीपत के द्वितीय युद्ध में भारत के अन्तिम नरेश विक्रमादित्य

हेमचन्द्र (हेमू) ने फिर मुगलों का विरोध किया। यद्यपि मुगलों का साम्राज्य पहले के मुसलिम राज्य से विस्तृत था, फिर भी साम्राज्य-विस्तार तथा प्रतिरोध और विद्रोह को दबाने के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध जारी रखना पड़ा। इसके कारण औरंगजेब के समय तक मुगलों की शक्ति शिथिल और हिन्दुओं के राजनीतिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। इस काल की राजनीतिक घटनाओं ने हिन्दू जनता के हृदय को दो प्रकार से स्पर्श किया। जिन राज्यों और व्यक्तियों ने मुगल सत्ता के सामने समर्पण किया उनको तो आत्म-ग्लानि और भर्त्सना ही मिली। जिन्होंने उसका विरोध किया वे ही जनता के हृदय-सम्राट् और आदर्श थे। राणा प्रताप, शिवाजी, दुर्गादास, राजसिंह, सिख गुरु, विद्रोही मराठे और जाट—ये ही जनता के हृदय को स्पर्श कर सके। हिन्दी-साहित्यकारों की यही राजनीतिक पृष्ठभूमि थी। वे विदेशी सत्ता के अन्त और हिन्दुओं के पुनः एक सुव्यवस्थित साम्राज्य का स्वप्न देख रहे थे।

हिन्दी-साहित्य के कुछ इतिहासकारों ने, सम्भवतः फर्कुहर और मैकनिकॅल आदि के विचारों से प्रभावित होकर भक्ति-साहित्य के उदय पर लिखते हुए उपर्युक्त राजनीतिक परिस्थिति की गलत व्याख्या की है। आचार्य शुक्ल जी अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं :

"इतने बड़े राजनीतिक उलट-फेर के पीछे हिन्दू-जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[१]

किन्तु वास्तव में मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन उत्तर भारत में न प्रारम्भ होकर सुदूर दक्षिण में शुरू हुआ था; राजनीतिक पराधीनता से प्रभावित होकर नहीं, किन्तु वहाँ की शुद्ध वैष्णव-परम्परा में धार्मिक धारा के रूप में। इस नव-जाग्रत वैष्णव-धर्म ने उत्तर भारत की राजनीति को प्रभावित किया। यद्यपि उत्तर भारत में हिन्दू राज-वंश तो तेरहवीं शती के प्रारम्भ में ही समाप्त हो गए थे. तथापि ऐसे छोटे-छोटे जमींदार बने रहे, जिनके पास सैनिक शक्ति भी थी और वे बराबर मुसलिम सत्ता से विद्रोह करते रहे। जहाँ तक जनता का प्रश्न है, (विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार में) धार्मिक दृष्टि से इस्लाम से उसने कभी हार न मानी। उसके बहुत-से मन्दिर तोड़े गए, किन्तु उसने बराबर नये मन्दिरों का निर्माण किया और अपनी धार्मिक चेतना बनाये रखी। राजनीतिक आदर्श और आशा भी कभी लुप्त नहीं हुई। राणा संग्रामसिंह और हेमचन्द्र (हेमू) के बाद भी जब अकबर का प्रबल प्रताप चारों ओर फैल रहा था तब रानी दुर्गावती तथा राणा प्रताप आदि ने स्वतन्त्रता की आग बुझने नहीं दी। असफलताएँ हुईं, किन्तु निराशा ने भारतीय जनता को कभी आक्रान्त नहीं किया। इस काल के निर्गुणी भक्त (नानक, कबीर तथा दादू आदि) प्राचीन वेदान्त, योग, ज्ञानाश्रयी भक्ति आदि परम्परा की उपज थे, यद्यपि उन पर सूफ़ी मत का पुट कुछ चढ़ गया था। ये व्यक्तिवादी मस्त सन्त थे, राजनीति से इनको कोई मतलब न था। नव-जाग्रत वैष्णव-धर्म लोक-संग्रही था, जिसके उन्नायक इस युग में रामानन्द और तुलसीदास हुए। इन वैष्णव भक्तों की प्रपत्ति, दैन्य और दास्य भगवान् के सामने थे, जिसमें सभी ऐश्वर्यों की भावना पुञ्जीभूत होती है; मनुष्य के सामने (जिनमें मुगल-सम्राट् भी सम्मिलित थे) इन्होंने मस्तक नहीं नत किया। 'वीर-गाथा' और 'रासो' की अल्पता को वे समझते थे, क्योंकि

१. पूर्व-मध्य काल, प्रकरण १, पृ० ६०।

उनके पहले के राज-वंश और योद्धा भी व्यक्तिवादी थे, जिनकी शूरता के होते हुए भी देश का विशृङ्खलन और पतन हुआ। तुलसीदास तो अपने 'कीन्हे प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछुताना।' में स्पष्ट इस ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार 'कल्पहिं पन्थ अनेक' में निर्गुणियों के ऊपर व्यंग्य है। उनकी 'रामायण' में भक्ति की प्रधानता होते हुए भी मुख्य प्रतिपाद्य विषय लोक-मर्यादा और लोक-संग्रह है। अन्याय के दमन और राम-राज्य की स्थापना के लिए सामूहिक चेतना, शौर्य, संगठन-शक्ति और नीतिमत्ता की आवश्यकता होती है, जिनकी प्रतिध्वनि 'रामायण' में पद-पद पर मिलती है। महाराष्ट्र के सन्त समर्थ गुरु रामदास का 'दास बोध' तो राजनीतिक दृष्टि से पतित जाति को उठाने का अमोघ मन्त्र था। लोक-संग्रही विष्णु की कल्पना में उदासी और निराशा का कहीं नाम भी नहीं है। इस प्रकार सगुण-भक्ति-आन्दोलन का सम्बन्ध उस राजनीतिक प्रक्रिया से है जिसने भारत में मुगल-साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। मध्य युग तक संसार की सबसे प्रबल भावना और प्रेरक-शक्ति धर्म था, वह राजनीति और साहित्य सभी को प्रभावित करता था।

सत्रहवीं शताब्दी के बाद से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक राजनीतिक परिस्थिति को हम मुगलों का ह्रास, नवाबी का उदय, हिन्दू-राजनीतिक शक्तियों का पुनरुत्थान और यूरोपीयों का आगमन कह सकते हैं। प्रथम दो राजनीतिक शक्तियाँ पतनोन्मुख थीं। उन्होंने अति भोग और विलासिता को जन्म दिया। उनके प्रभाव से साहित्य भी विलास की सामग्री बन गया। उसमें प्रेम, शृङ्गार और आमोद-प्रमोद की प्रधानता हुई। जीवन के राजनीतिक संकोच, धार्मिक शैथिल्य और भोग-विलास के आधिक्य ने रीति-काल की कविता को जन्म दिया। पुनरुत्थानी राजनीतिक वातावरण में वीर-रस की कविताएँ होती थीं, जो शृङ्गार की पूरक मानी जाती थीं। भारत में यूरोपीय जातियों ने अपनी अर्थ-नीति और कूट-नीति की प्रधानता के कारण अपने जीवन से काव्य को कोई प्रेरणा न दी।

समाज-संगठन का सैद्धान्तिक आधार अब भी वर्णाश्रम-व्यवस्था थी, जैसा कि इस काल में लिखित 'स्मृतियों' से प्रकट होता है; परन्तु वर्ण के रूप में कई दूर-व्यापी परिवर्तन हुए। एक तो अब वर्णों का उत्कर्ष अर्थात् निम्न वर्णों से उच्च वर्णों में जाने का मार्ग बन्द हो गया; अपकर्ष अर्थात् ऊपर से नीचे उतरने का मार्ग खुला रहा, यद्यपि इस प्रवृत्ति के भी कुछ अपवाद पाये जाते हैं। जाति ने वर्ण पर विजय प्राप्त कर ली। जाति-प्रथा का विस्तार और प्रसार बहुत जोरों से होने लगा। वैश्य वर्ण की बहुत-सी जातियाँ (जो कृषि, गो-रक्षा तथा शिल्पादि का काम करती थीं) जैन-वैष्णव-आचार के कारण और व्यवसाय में सत्यानृत (सच और झूठ) के भेद के कारण वैश्य-वर्ण से गिरकर शूद्रों में गिनी जाने लगीं। इसी प्रकार बहुत-से वर्ण-च्युत और जाति-च्युत लोग शूद्रों में शामिल होने लगे। परन्तु 'शूद्र' के अर्थ में भी परिवर्तन हुआ। अब शूद्र केवल पारिवारिक दास या खेतिहर श्रमिक नहीं था। वह कोई भी आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक व्यवस्था कर सकता था; शूद्र शब्द का केवल लांछन-मात्र उसके ऊपर लग जाता था। अतिशूद्रों और अन्त्यजों की अवस्था कुछ भिन्न अवश्य थी। अभी वे समाज के छोर पर ही पड़े हुए थे और सवर्ण समाज उनके साथ वर्जनशीलता का व्यवहार करता था। इसी युग में वर्णों और जातियों की अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटीं, कुछ व्यवसाय, कुछ आचार, कुछ सम्प्रदाय, कुछ अन्तर्जातीय विवाह, कुछ नई प्रथाओं को लेकर। इस काल की 'स्मृतियाँ' सामाजिक नियमों और उपनियमों का विस्तार के साथ विधान करती

हैं और समाज की प्रत्येक इकाई को उसकी सीमा के भीतर कसकर रखना चाहती हैं। भाष्यकारों और निबन्धकारों ने इस बन्धन को और भी दृढ़ किया। मुसलिम आक्रमण के बाद रक्षात्मक शुद्धि और वर्जनशीलता के कारण सामाजिक प्रतिबन्ध और भी कड़े होते गए तथा सामाजिक जीवन में वर्ग-वर्ग और व्यक्ति-व्यक्ति का भेद बढ़ता गया। परन्तु यह सारा भेद भारतीय समाज का आन्तरिक था। इसके ऊपर एक भारतीय सामाजिकता थी और उस समाज की एक केन्द्रीय कल्पना थी। ऊँच-नीच-भेद-भाव होते हुए भी उसके बहुसंख्यक सदस्य उसे स्वीकार करके चलते थे; जो उससे असन्तुष्ट थे वे उसकी आलोचना करके भी उसके बाहर नहीं जाते थे। इस्लाम के आने के बाद इस परिस्थिति में परिवर्तन हुआ। इस्लामी सामाजिक व्यवस्था भिन्न थी। उसमें विभिन्न जातिगत भावना होते हुए भी खान-पान, विवाह-शादी तथा पूजा-पाठ का भेद-भाव नहीं के बराबर था। हिन्दू-समाज के असन्तुष्ट व्यक्तियों के बाहर जाने का रास्ता इस्लाम ने खोल दिया, यद्यपि अधिकांश नवमुसलिम दबाव अथवा प्रलोभन से मुसलमान हुए थे। इसका फल यह हुआ कि सामाजिक नियमों की व्यक्तिगत अवहेलना और समालोचना पहले से अधिक बढ़ गई।

यद्यपि मीमांसक अथवा वैदिक-धर्म के अनुष्ठान तथा भोजन एवं विवाह आदि में नियमों की कठोरता थी, परन्तु अन्य सामाजिक कर्तव्यों पर वर्णगत अथवा जातिगत कोई बन्धन नहीं था। जिस सम्प्रदाय अथवा धार्मिक मत को कोई अपनाना चाहे उसको पूर्ण छूट थी। यह सामाजिक संकोच और धार्मिक स्वतन्त्रता इस युग में भारतीय जीवन के मुख्य अंग बन गए। भागवत धर्म ने सामाजिक बन्धन को कुछ ढीला किया, क्योंकि भगवान् के सामने सवर्ण-असवर्ण तथा आर्य और म्लेच्छ सभी बराबर थे। इसी प्रकार कई शैव सम्प्रदायों ने भी परम्परागत सामाजिक रूढ़ियों का परित्याग किया। सिद्धों, योगियों और अन्य ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी निर्गुणी धार्मिक सम्प्रदायों ने भी सामाजिक उदारता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। परन्तु इन सामाजिक स्वतन्त्रता-वादी लोगों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। इनमें प्रायः समाज के निम्न स्तर के लोग थे, यद्यपि इनके नेताओं में उच्च वर्ण के भी व्यक्ति थे। समाज का अधिकांश भाग सिद्धान्ततः स्मार्त अर्थात् स्मृतियों में विहित वर्णाश्रम-व्यवस्था को मानने वाला था। यही कारण है कि मध्य युग में तुलसीदास जी की 'रामायण' सामाजिक दृष्टि से सबसे अधिक प्रिय हुई, यद्यपि उसके ऊपर वैष्णव धर्म का गहरा पुट चढ़ा हुआ था।

हिन्दू-समाज में विवाह-संस्था बहुत प्राचीन और दृढ़ थी। किन्तु पूर्वमध्य-काल में युद्ध तथा विलास का वातावरण होने से गान्धर्व तथा राक्षस-विवाहों का ही अधिक वर्णन मिलता है। स्वयंवर की प्रथा क्षत्रियों में तब भी प्रचलित थी। 'नैषध' में दमयन्ती के स्वयंवर का वर्णन श्रीहर्ष ने संस्कृत में किया। 'पृथ्वीराज रासो' में संयुक्ता का स्वयंवर लोक-प्रसिद्ध हुआ। लोक में स्त्री के दो रूप थे—एक तो सामाजिक सम्बन्धों में कन्या, पत्नी तथा माता के रूप में और दूसरे शुद्ध स्त्री या यौन रूप में। प्रथम रूप में तो वह वात्सल्य, प्रेम तथा आदर की पात्र थी और दूसरे रूप में वह भोग और विलास की सामग्री। मानवी प्रेम और दैवी प्रेम दोनों में उसका स्थान ऊँचा था। वह प्रेम की प्रतीक और स्वयं प्रेम-रूपा थी। प्रेमाश्रयी कवियों ने इसी रूप में स्त्री का उपयोग किया था। जीवन में स्त्री निःस्वार्थ प्रेम, त्याग, तपस्या तथा कष्ट-सहन की प्रति-मूर्ति मानी जाती थी। तुलसीदास ने सीता के रूप में ऐसी ही स्त्री की रचना की। मुगल-साम्राज्य की विलासिता के बाद फिर पूर्वमध्य-काल की अवस्था समाज में लौट आई। शारीरिक प्रेम और

आकर्षण की तृप्ति के लिए अनेक प्रकार की नायिकाओं की कल्पना की गई। नवाबों के जनानखाने तथा राजाओं के अन्तःपुर का जीवन कवियों के काव्य की सामग्री बन गया। प्रेम के भीतरी मनोवैज्ञानिक दाव-पेंच और बाहरी प्रसाधन सब वहीं से आते थे।

: २ :

मध्य युग में राजनीति और सामाजिक जीवन से साहित्य को जितनी प्रेरणा मिली उससे कहीं अधिक प्रेरणा धर्म से मिली। इस युग की प्रधान धार्मिक भावना भक्ति थी, यद्यपि इस मुख्य धारा के अगल-बगल में दूसरी भावनाएँ भी काम कर रही थीं। देव, ईश्वर, जिन तथा बुद्ध आदि सभी ने भगवान् का रूप धारण किया और उनकी उपासना से ही संसार में ऋद्धि-सिद्धि मिल सकती थीं। इस समय पौराणिक धर्म तान्त्रिक रूप धारण करता जा रहा था। तांत्रिक धर्म की पूजा-पद्धति और उपासना में वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध एक-दूसरे के निकट आ रहे थे।

कुछ दार्शनिक वादों ने पुनरुत्थान का प्रयत्न किया, किन्तु वे विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों की दार्शनिक भूमिका और व्याख्या के रूप में ही प्रयुक्त हुए। उत्तर भारत में प्रभाकर और कुमारिल ने मीमांसक वैदिक कर्म-काण्ड को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इनमें से कुमारिल अधिक प्रभावशाली थे, जिन्होंने वैदिक कर्म-काण्ड को नवीन भक्ति-मार्ग और मूर्ति-पूजा का एक पूरक अंग बना दिया। इन्हींके प्रयत्न से विवेचन की मीमांसा-पद्धति तथा वैदिक-प्रामाण्य सिद्धान्त रूप से बहुसंख्यक जनता द्वारा स्वीकार किया गया। शंकराचार्य ने 'वेदान्त दर्शन' का पुनरुत्थान किया। एक ओर जहाँ इन्होंने 'उपनिषद्' के सिद्धान्तों की व्याख्या और विस्तार किया वहाँ दूसरी ओर बौद्ध-दर्शन के महायान-सम्प्रदाय के कतिपय सिद्धान्तों को आत्मसात् किया। धार्मिक विचारों में शंकराचार्य शाक्त थे और सम्प्रदाय में दक्षिण-मार्ग के प्रवर्तक। परम्परा के अनुसार वे वाममार्गी बौद्धों और शाक्तों के विरोधी थे।

पौराणिक धर्म इस काल में भी वर्तमान था और धीरे-धीरे वह साम्प्रदायिक रूप धारण करता जा रहा था। 'गरुड' और 'अग्नि-पुराण' स्मार्त धर्म के पोषक थे, यद्यपि भागवत लोग भी इनका उपयोग करते थे। वैष्णव-सम्प्रदाय से इनका विशेष सम्बन्ध था, किन्तु आगमों, तन्त्रों और संहिताओं में वर्णित शाक्त-धर्म का प्रभाव इन पर जान पड़ता है। 'नारद', 'वराह', 'वामन' तथा 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणों में वैष्णव-सम्प्रदाय की सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है। 'शिव', 'लिङ्ग' और 'कूर्म' पुराणों में शैव-सम्प्रदाय के तत्त्व मुख्यतः पाये जाते हैं। इनमें बहुत-से तत्त्व तो लकुलीश-पाशुपत-सम्प्रदाय के हैं।

इसी युग में स्मार्त धर्म में एक समन्वयात्मक पद्धति का विकास हुआ। स्मार्तों ने पञ्च-देवों (विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश) की पूजा साम्प्रदायिक आग्रह छोड़कर अपना ली। उत्तर भारत में यह पूजा-पद्धति बहुत ही लोकप्रिय थी। इसका परिणाम यह हुआ कि पञ्चदेव तो उपलक्षण-मात्र बन गए। वास्तव में वैदिकमार्गी जनता ने सम्पूर्ण देव-मण्डल को बिना किसी भेद-भाव के स्वीकार कर लिया। पञ्चदेवों की मान्यता और प्राचीनता सिद्ध करने के लिए पाँच उपनिषद् लिखे गए हैं, जिनका संयुक्त नाम 'अथर्वशिरस्-उपनिषद्' है। कुमारिल के 'मीमांसा'-मार्ग और शंकर के 'वेदान्त' से पञ्चदेवोपासक स्मार्त-धर्म का पूर्ण मेल हो गया। कुमारिल के लिए

देवता सत्य थे; शंकर के लिए देवता मायिक जगत् में रहने के कारण पारमार्थिक दृष्टि से असत्य थे, परन्तु उनके मूल में रहने वाला ब्रह्म सत्य था। इस प्रकार स्मार्त, मीमांसा और वेदान्त का सुन्दर समन्वय बन गया। रामानुज, रामानन्द तथा गोस्वामी तुलसीदास आदि वैष्णव कवियों की कृतियों में धर्म का यही रूप स्वीकृत किया गया था।

वैष्णव धर्म के भागवत और पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय तथा उसके साहित्य का विकास भी इस काल में दृष्टिगोचर होता है। भागवतों ने पञ्चदेवोपासक स्मार्त धर्म को स्वीकार किया, यद्यपि उन्होंने शिव और विष्णु की अभिन्नता पर अधिक जोर दिया और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए 'स्कन्दोपनिषत्' नामक ग्रन्थ की रचना की। ये वैदिक पूजा-पद्धति की परम्परा के बहुत निकट थे। इनकी पूजा-पद्धति का पता 'वैखानस्-संहिता' से लगता है। इसके विपरीत पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय वाले स्मार्त-पूजा-पद्धति के बहुत भक्त नहीं थे। पाञ्चरात्र-संहिताएँ काश्मीर, कर्नाटक और तमिलनाड आदि प्रदेशों में पाई जाती हैं, जो लगभग ६०० तथा ८०० ई० के बीच में लिखी गईं थीं। संहिताओं की संख्या परम्परागत १०८, किन्तु वास्तव में इससे कहीं अधिक है। इनमें से 'अगस्त्य', 'नृसिंह', 'दत्तात्रेय', 'गणेश', 'सौर', 'ईश्वर', 'उपेन्द्र' तथा 'बृहद् ब्रह्म' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से कई उत्तर भारत में लिखी गईं थीं। इन संहिताओं में जो एक विशेष बात दिखाई पड़ती है, वह है वैष्णव-धर्म के अन्तर्गत शाक्त-सिद्धान्तों का समावेश। इनके प्रतिपाद्य विषय हैं—(१) ज्ञान पाद (दार्शनिक धर्म-विज्ञान), (२) योग पाद (योग-शिक्षा तथा पद्धति), (३) क्रियापाद (मन्दिर तथा मूर्ति-निर्माण) और (४) चर्या पाद (पूजा-पद्धति)। इस सम्प्रदाय का धर्म-विज्ञान बहुत-कुछ 'महाभारत' के नारायणीय आख्यान के ऊपर अवलम्बित है और इसका दर्शन सेश्वर योग के ऊपर। इसका दर्शन और सृष्टि-विज्ञान पञ्च-व्यूहों (१. वासुदेव, २. संकर्षण, ३. प्रद्युम्न, ४. अनिरुद्ध तथा ५. ब्रह्मा) में व्यक्त किया जाता है; जो 'सांख्य दर्शन' से मिलता-जुलता है। मानव-शरीर में गुह्य शक्तियों के चक्रों का वर्णन तथा योग-साधना और सिद्धियों का विवरण भी शाक्तों की भाँति पाञ्चरात्र-संहिताओं में मिलते हैं। इसी प्रकार मन्त्र और यन्त्र भी पाए जाते हैं। इनके महा मन्त्र हैं: (१) 'ओम नमो भगवते वासुदेवाय' और (२) 'ओम नमो नारायणाय।' इनमें से प्रथम भागवतों और द्वितीय श्री वैष्णवों में प्रचलित है। इन संहिताओं में वाममार्गी तत्त्वों का पूर्णतः अभाव है। इसकी पूजा-पद्धति अन्त्यजों को छोड़कर सभी के लिए उन्मुक्त थी। पीछे अन्त्यजों के लिए भी इस पंथ का द्वार खुल गया। यह पाञ्चरात्र धर्म महाभारत-काल के बाद सुदूर दक्षिण में सात्वतों के द्वारा पहुँचा था और मध्य युग के आरम्भ में प्रथमतः तमिल-प्रदेश के आलवार सन्तों में पाया जाता है। 'नारायण' तथा 'आत्मबोध उपनिषद्' श्री वैष्णवों में प्रचलित थे। 'नृसिंहतापनीय उपनिषद्' से मालूम होता है कि नृसिंहावतार की पूजा भी वैष्णवों में प्रचलित थी। रामायत-सम्प्रदाय का उदय भी इसी काल में हो गया था। 'वाल्मीकि रामायण' के छठे काण्ड में राम के ईश्वरत्व और उसके उपासकों का वर्णन मिलता है, किन्तु एक संगठित सम्प्रदाय के रूप में इसके अस्तित्व का पुराना प्रमाण कोई नहीं पाया जाता। परन्तु 'रामपूर्व तापनीय उपनिषद्' से स्पष्ट है कि आठवीं-नवीं शताब्दी तक रामायत-वैष्णव-सम्प्रदाय अस्तित्व में आ गया था। 'अगस्त्य सुतीक्ष्ण संहिता' इस सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ था। इसका महामन्त्र 'रामं रामाय नमः' था।

वैष्णव सम्प्रदाय के प्रायः समानान्तर शैव सम्प्रदाय का विस्तार और विकास हुआ। शैव

सम्प्रदाय के पाशुपत और आगमिक दो मुख्य विभाग थे। पाशुपतों के अन्तर्गत शुद्ध पाशुपत, लकुलीश पाशुपत, कापालिक और नाथों की गणना थी। आगमिक में संस्कृत शैव सिद्धान्त, तमिल शैव, काश्मीर शैव तथा वीर शैव सम्मिलित थे। वैशेषिक सूत्रों के भाष्यकार प्रशस्त पाद तथा न्याय भाष्य के लेखक उद्योत्कर प्रसिद्ध पाशुपताचार्य थे। बाण ने अपने 'हर्ष चरित' में दिवाकर मित्र के आश्रम का वर्णन तथा अन्य स्थानों में पाशुपतों का उत्तर भारत में स्पष्ट उल्लेख किया है। लकुलीश सम्प्रदाय के केन्द्र गुजरात और राजस्थान में पाये जाते थे। 'लिङ्ग' और 'कूर्म' पुराण में इसका साहित्य मिलता है। गुजरात के झारपटन नामक स्थान में सातवीं शती की बनी हुई लकुलीश की मूर्ति मिली है। कापालिकों का सम्प्रदाय लोकप्रिय और संगठित नहीं था। उत्तर भारत में इनके अस्तित्व का उल्लेख भवभूति के 'मालती-माधव' नामक नाटक में पाथा जाता है। नाथ-पन्थ केवल गर्भावस्था में इस काल में पाया जाता था। आगमिकों के शैव और रौद्र दो विभाग थे। परम्परा के अनुसार इनकी अट्ठाइस संहिताएँ थीं। इनमें 'शिव सूत्र' और 'मृगेन्द्र आगम' प्रसिद्ध थे। संक्षेप में शैव सम्प्रदाय के सिद्धान्त इस प्रकार थे—शिव पशुपति हैं, जो सम्पूर्ण जीव-जगत् स्वामी हैं। मनुष्य पशु है, जिसका शरीर जड़ किन्तु आत्मा चेतन है। उसके भीतर सर्व-व्यापी चिच्छक्ति का केन्द्र है। वह पाश से बद्ध है। पाश तीन प्रकार का होता है : (१) आणव (अज्ञान), (२) कर्म (क्रिया-फल) और माया (भौतिक जगत् का उपादान कारण)। शक्ति शिव के अनुग्रह से उद्बुद्ध होती है, जिससे पाश का क्रमशः नाश और मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्षावस्था में शिव और आत्मा में अभेद हो जाता है।

शैव और शाक्त सम्प्रदाय का घनिष्ठ सम्बन्ध था और शैव के साथ-साथ शाक्त का भी प्रचार हुआ। शाक्त धर्म के ऊपर बहुत-से तन्त्र-ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें से 'कुब्जिका मत तन्त्र', 'परमेश्वर-मत तन्त्र' तथा 'महा कौलज्ञानविनिर्णय' आदि काफी पुराने हैं और 'निःश्वास तत्त्वसंहिता' एवं 'चण्डी शतक' आदि कुछ पीछे के। शिव की पत्नी दुर्गा इस सम्प्रदाय की केन्द्र है, यद्यपि अन्य देवियों से भी इसका सम्बन्ध है। क्योंकि शिव अपने शुद्ध रूप में निष्क्रिय हैं और शक्ति में ही क्रिया-शक्ति केन्द्रित है, अतः सृष्टि के सारे कार्य शिव की कृपा और मोक्ष आदि उसी (शक्ति) के द्वारा संभव होते हैं। इस प्रकार शक्ति का महत्त्व शिव से भी अधिक है। शक्ति के बिना शिव केवल शव-तुल्य है। पूजा की दृष्टि से शक्ति शिव-ब्रह्म से भी अधिक पूजनीया है। शाक्त सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त 'सांख्य' तथा 'वेदान्त' से लिये गए हैं। इसमें 'योग' का विशिष्ट स्थान है। शक्ति अनादि तथा सनातन 'शब्द' हैं; नाद, विन्दु और बीज उसकी गतियाँ हैं, जिनके द्वारा वह अभिव्यक्त होती है। इस सम्प्रदाय में मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा, मण्डल और चक्र का व्यापक और कभी-कभी घोर उपयोग होता था। इसमें वाम मार्ग के तत्त्व काफी थे। मध्य युग में सौर और गाणपत्य सम्प्रदाय भी अस्तित्व में थे, किन्तु उनका प्रचार बहुत सीमित था।

बौद्ध धर्म का हीनयान सम्प्रदाय उत्तर भारत में अभी जीवित था। सर्वास्तिवादी 'विनय' और 'अभिधम्म' के अनुवाद चीनी और तिब्बती भाषा में इसी समय हुए। परन्तु धीरे-धीरे महायान ने इसको आक्रान्त कर लिया और स्वयं-स्वातंत्र्यवादी और परम्परा-विरोधी होने के कारण वाम-मार्गी प्रभावों से अभिभूत हो गया। महायान सम्प्रदाय में क्रान्तिकारी और विनाशकारी परिवर्तन शाक्त तत्त्वों के प्रवेश कर जाने से हुआ। इसी प्रभाव से बौद्धधर्म का तांत्रिक रूप बना। तन्त्रों के अनुसार प्रत्येक बुद्ध की एक शक्ति—पत्नी—होती है, जिस प्रकार शाक्त सम्प्रदाय में शिव की शक्ति।

इस केन्द्रीय तत्त्व ने महायान को गुह्य रूप दिया। शाक्त सम्प्रदाय की तरह इसमें भी मन्त्र, यन्त्र, मुद्रा, आसन, चक्र, मण्डल, स्त्री, मदिरा तथा मांस आदि वाममार्गी पद्धतियों का खुलकर विचार हुआ। बौद्धों का वज्रयान तो किन्हीं अर्थों में शाक्तों से भी आगे निकल गया। वज्रयानियों ने इस वासनामूलक साधना का समर्थन भगवान् बुद्ध के गार्हस्थ्य जीवन से किया, जो उनके विचार में, सम्बोधि और निर्वाण के लिए आवश्यक था। अन्तर केवल इतना ही था कि भगवान् बुद्ध ने भोग के बाद संसार से विरक्त होकर सम्बोधि और निर्वाण प्राप्त किया; वज्रयानियों ने संसार-त्याग के बाद भोगपरक साधना की; और उनमें से अधिकांश इसी भयंकर साधना में विनष्ट हो गए। कौन कह सकता है कि उन्हें सिद्धि मिली? इस सम्प्रदाय के आचार्यों में वज्रबोधि और अमोघवज्र प्रसिद्ध थे। बौद्ध धर्म वैदिक परम्परा का विरोधी था। जब उसमें पुनरावर्तन की प्रवृत्ति हुई तो दर्शनों में ईश्वर को मायिक और नश्वर समझने वाला वेदान्त उसको पसन्द आया और पूजा-पद्धति में दक्षिण मार्ग के बदले परम्परा-विरोधी वाम मार्ग। परन्तु आस्तिक शाक्त वाम मार्ग में जो शिव और शक्ति का नियन्त्रण था वह अनीश्वरवादी वज्रयान में नहीं। इसीलिए वज्रयान में स्वतन्त्र और अत्यन्त घोर वासनाओं का ताण्डव हुआ, जो शाक्तों में भी नहीं हो पाया था। इससे बौद्ध धर्म क्रमशः अप्रिय और विनष्ट हुआ।

जैन धर्म ने अपने कठोर आचरण से अपने शुद्ध स्वरूप को बचा लिया। शाक्त-आन्दोलन के प्रभाव से इसने अपने देव-मण्डल में देवियों को स्थान दिया, जो साहित्य और मूर्ति-कला में चित्रित पाई जाती हैं। परन्तु पूजा-पद्धति में उसने दक्षिण मार्ग को अपनाया और गुह्य क्रिया-कलापों से अपने को मुक्त रखा। जैन यति-मुनियों ने न्याय के उच्च कोटि के ग्रन्थों का निर्माण किया। हिन्दी की दृष्टि से उनका एक काम बहुत महत्त्व का था। उन्होंने प्राकृत-ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो आगे चलकर हिन्दी के लिए भाषा और साहित्य का मार्ग बना। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मानतुङ्ग, हरिभद्र और शीलाङ्क आदि ने कई उत्तम न्याय-ग्रन्थ रचे। प्राकृत में बहुत-से लोकप्रिय ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें से जयवल्लभ का 'वज्जालग्गा', हरिभद्र का 'समरैच्छकहा' तथा सिद्धर्षि का 'उपमितिभवप्रपञ्चक' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हुए। कन्नड़ तथा तमिल आदि भाषाओं में इस सम्प्रदाय ने बहुत-से ग्रन्थों की रचना की। समन्तभद्र और उमास्वाति आदि ने संस्कृत में लिखा। रविकीर्ति ने कन्नड़ में 'जिनकथे' नामक ग्रन्थ लिखा। दिगम्बर पुराणों में रविषेण का 'पद्म-पुराण' तथा जिनसेन का 'हरिवंश' प्रसिद्ध था। ये पुराण हिन्दू पुराणों के अनुकरण पर लिखे गए।

वैष्णव साहित्य की दसवीं शती से प्रभूत वृद्धि हुई। मुख्य वैष्णव-ग्रन्थ 'रामायण' तथा 'महाभारत' के प्रादेशिक भाषाओं में कई भाषान्तर प्रकट हुए। भागवत धर्म के 'भागवत पुराण' ने न केवल भक्ति-मार्ग को उत्क्रान्त किया, किन्तु परवर्ती प्रादेशिक भाषा-साहित्य को भी कथावस्तु और भावना के द्वारा अनुप्राणित और परिवर्द्धित किया। भागवतों का सर्वमान्य ग्रन्थ 'भागवत' ही है। परन्तु साम्प्रदायिक ग्रन्थों में 'नारद भक्ति सूत्र' और 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' भी लिखे गए, जो 'भागवत' से अनुप्राणित थे। 'गोपीचन्दन' और 'वासुदेव' उपनिषद् भी इस समय में लिखे गए। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में बोपदेव ने 'भागवत पुराण' के आधार पर 'हरिलीला' और 'मुक्ताफल' नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। महाराष्ट्र के भागवतों में ज्ञानदेव अथवा ज्ञानेश्वर हुए, जिन्होंने 'भगवद्-गीता' पर ज्ञानेश्वरी नामक टीका मराठी में लिखी। उन्होंने 'हरिपाठ' तथा 'अमृतानुभव' नामक अन्य ग्रन्थों की भी रचना की। ज्ञानेश्वर अद्वैतवादी थे, परन्तु उनकी साधना में योग का पूरा

पुट था। वे नाथ-पंथी परम्परा में गोरखनाथ के शिष्य गणिनाथ के शिष्य निवृत्तिनाथ के शिष्य थे। यहाँ पर शैव-योग-भागवत-तत्त्वों का सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ता है। भागवत-परम्परा में ही बारहवीं शताब्दी के अन्त में मध्वाचार्य हुए। ये द्वैतवादी थे। इन्होंने 'वेदान्त सूत्र' पर भाष्य और अनुव्याख्यान लिखे। इन ग्रन्थों में शांकर वेदान्त (अद्वैत) और रामानुज के विशिष्टाद्वैत से इनका भेद स्पष्ट प्रकट होता है। अभी तक भागवत-साहित्य में राधा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। 'भागवत पुराण' में राधा का उल्लेख नहीं है। सबसे पहले 'गोपाल तापिनी' उपनिषद् में राधा का वर्णन मिलता है। किन्तु इसकी तिथि निश्चित नहीं है। प्रारम्भिक सम्प्रदायों में विष्णु स्वामी तथा निम्बार्क के अनुयायियों ने राधा को स्वीकार किया। विष्णु स्वामी दाक्षिणात्य और द्वैतवादी थे। इन्होंने 'गीता', 'वेदान्त सूत्र' और 'भागवत' पर भाष्य लिखा। निम्बार्क तेलुगु प्रदेश में उत्पन्न हुए थे, किन्तु वृन्दावन में आकर बस गए। इनका दार्शनिक सिद्धान्त भेदाभेद था। राधा के स्वरूप के विस्तार में इनका बहुत बड़ा हाथ था।

वैष्णव धर्म के पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में भी कई उपसम्प्रदायों का काफी विकास हुआ। आलवार सन्तों के भाव विभोर कीर्तन तथा तमिल भाषा के प्रयोग ने न केवल तमिल प्रदेश में श्री वैष्णव सम्प्रदाय को जनता तक पहुँचाया, अपितु दूसरे प्रदेशों में इस प्रकार के आन्दोलनों को अनुप्राणित किया। श्री वैष्णवाचार्यों में नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, राममिश्र, यमुनाचार्य तथा रामानुज आदि प्रसिद्ध हुए। रामानुज विशिष्टाद्वैतवादी थे और इन्होंने शंकर के अद्वैत और भास्कराचार्य के भेदाभेद का बड़ी युक्ति से खण्डन किया। रामानुज के अनुसार मोक्षार्थी भक्त को आजीवन अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए। भक्ति के लिए कर्म और ज्ञान दोनों ही आवश्यक हैं; उनका परस्पर विरोध नहीं है। रामानुज के इस सिद्धान्त को 'समुच्चयवाद' कहते हैं। उत्तर भारत के रामानन्द और तुलसीदास दोनों ही इस सिद्धान्त से अत्यन्त प्रभावित थे। मीमांसा तथा स्मार्त धर्म का पालन इस सम्प्रदाय के लिए आवश्यक था।

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अतिरिक्त एक दूसरा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय मानभाव था। यह पंथ स्मार्त-आचार-विरोधी और साम्प्रदायिक था। यह केवल कृष्ण की आराधना करता था और मूर्ति के स्थान पर उनका प्रतीक धारण करता था। खान-पान में इसके मानने वाले छूत-छात का विचार नहीं करते थे। इसमें मृतकों को समाधि दी जाती थी। इस सम्प्रदाय वाले दत्तात्रेय को अपना प्रवर्त्तक मानते हैं। इसका प्रचार महाराष्ट्र तथा कन्नड़-प्रदेश में अधिक था। नरसिंह-सम्प्रदाय का प्रचार तेलुगु-प्रदेश में था। 'नरसिंह संहिता' इसका मुख्य ग्रन्थ था। 'नरसिंह उपपुराण' का रूपान्तर तेलुगु-भाषा में १३०० के लगभग हुआ।

रामायत सम्प्रदाय में इस समय थोड़ी प्रतिगामी शक्तियाँ प्रवेश कर गईं। 'अध्यात्म रामायण' में राम की कथा बिलकुल नये ढंग से और आध्यात्मिक रूप से कही गई। इसमें अद्वैत, वेदान्त और शाक्त तत्त्वों का भी समावेश किया गया। इसमें राम मायामनुष्य और सीता मायाच्छिन्न चिच्छक्ति थी। इसमें समुच्चयवाद के स्थान में पूर्ण नैष्कर्म्य का उपदेश दिया गया। इस 'रामायण' पर 'भागवत' की छाप थी और यह अपने पूर्ववर्ती 'अगस्त्य संहिता', कन्नड़ 'पम्पा रामायण', 'योग वाशिष्ठ' तथा 'अद्भुत' और 'भुशुण्डि रामायण' से प्रभावित था। यह सम्प्रदाय भी पहले तमिल-प्रदेश में उत्पन्न हुआ, जो क्रमशः उत्तर भारत में पहुँचा।

वैष्णव सम्प्रदाय की तरह शैव संप्रदाय भी अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त और

विकसित होते रहे। इनमें से पाशुपतों का उल्लेख पहले किया जाता है। पन्द्रहवीं शती के एक प्रसिद्ध भाष्यकार अद्वैतानन्द ने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मविद्याभरण' में इस सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्तों की रूपरेखा इस प्रकार दी है—(१) पति, विश्व के मूल कारण शिव, (२) पशु, मनुष्य और प्रकृति, (३) योग, (४) विधि (पूजा-पद्धति) और (५) दुःखान्त (मोक्ष)। इस सम्प्रदाय का मुख्य मार्ग था। वे हास, नृत्य, गान, चिल्लाहट, निद्रा, रोग, पागलपन में अपने को विभोर रखते थे। लकुलीश सम्प्रदाय पाशुपत की ही एक शाखा था। दोनों के सिद्धान्त एक थे। केवल विधि में कुछ अन्तर था। लकुलीश सम्प्रदाय के साधु भस्म के बदले बालुका में लेटते थे। गुजरात, राजस्थान तथा मैसूर में इसका प्रचार था। कापालिक सम्प्रदाय कभी बड़े पैमाने पर देश में फैला नहीं, किन्तु 'शंकर-दिग्विजय' नामक ग्रन्थ से मालूम होता है कि इसका अस्तित्व था। इसका दर्शन तो पाशुपत तथा शाक्त दर्शन के समान ही था, किन्तु इसकी साधना और पूजा-पद्धति बहुत घोर और अश्लील थी। नर-बलि, सुरा-पान तथा यौन-अत्याचार का इसमें काफी दौरा था। इसके साधक मुण्डमाला धारण करते और अलौकिक सिद्धियों के लिए यौगिक क्रियाएँ करते थे।

पाशुपत शैवों में नाथ-पन्थ इस समय काफी प्रसिद्ध हो रहा था, यद्यपि इसके अनुयायियों का कोई संघटित सम्प्रदाय नहीं था। यह सम्प्रदाय उत्तर भारत, पंजाब तथा राजस्थान आदि में प्रचलित था। तांत्रिक हिन्दू और तांत्रिक बौद्ध दोनों इसका आदर करते थे। पहले इसका सम्बन्ध कापालिकों से था, परन्तु धीरे-धीरे इसने उनके घोर आचरणों का परित्याग किया। गोरखनाथ इस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त थे जिन्होंने नाथ पन्थ को कापालिकों की भयंकर पूजा-पद्धति से मुक्त किया। ये यौगिक साधन में हठ योग के प्रवर्त्तक थे; जिसमें आसन, शोधन, प्राणायाम, ध्यान तथा मुद्रा आदि का प्रमुख स्थान है। दक्षिण में रसेश्वर और आगमिक शैवों के शैव सिद्धान्त और तमिल शैव आदि कई सम्प्रदाय थे। पश्चिमोत्तर भारत में काश्मीर शैव-सम्प्रदाय ने संस्कृत में उच्चकोटि के ग्रन्थ तैयार किये। कर्नाटक और महाराष्ट्र में वीरशैव सम्प्रदाय ने अपना अच्छा संघटन कर लिया। मानभाव वैष्णवों की तरह वीरशैव भी प्राचीन परम्परा के विरोधी, वर्णाश्रम तथा मूर्ति-पूजा को अनावश्यक समझने वाले तथा सामाजिक मामलों में स्वतन्त्रतावादी थे। ये शिवलिङ्ग को अपने शरीर पर वहन करते थे। शाक्तों में एक ओर तो अभी वाममार्गियों का जोर था, किन्तु दूसरी ओर वाममार्ग की प्रतिक्रिया में दक्षिण-मार्ग अपने को सँभाल रहा था। 'देवी भागवत' नामक उपपुराण में इस संस्कृत शाक्त-धर्म का पूरा विवरण मिलता है।

बौद्ध-धर्म अपनी मूल मानववादी और नीतिवादी प्रवृत्तियों को त्यागकर वज्रयान तथा चक्रयान की साधना में अपनी अन्तिम साँस ले रहा था। इस समय अनेक तांत्रिक ग्रन्थों की रचना हुई, शक्ति की भ्रान्त व्याख्या करके बुद्ध के नाम पर वीभत्स भ्रष्टाचार हुए, प्रत्येक बुद्ध (हेरुक) अपनी शक्ति (वज्रयोगिनी) के साथ प्रादुर्भूत होता है। इस रूपक से प्रत्येक साधक ने स्त्री-सम्भोग को ही साधना का एक-मात्र मार्ग बना लिया। बंगाल में इस बौद्ध-पन्थ को 'सहज' मार्ग कहते थे। परन्तु इस असामाजिक बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया भी इसके भीतर प्रारम्भ हुई। महायान ने मूल में जिस बोधिसत्व की कल्पना की थी उससे आस्तिक सर्वेश्वरवादी पन्थ का उदय हुआ। विज्ञानवाद के आलय विज्ञान का इसमें मुख्य हाथ था और शून्यवाद का पुट। इसके ऊपर अद्वैत वेदान्त के अनिर्वचनीयवाद तथा न्याय और शैव सिद्धान्त के ईश्वरवाद का प्रभाव

स्पष्ट है। इस पन्थ ने 'आदि बुद्ध' की कल्पना की, जो सम्पूर्ण विश्व और प्रत्येक बुद्धों के मूल में है। वह स्वयं है। उसीसे ध्यानी बुद्ध, ध्यान-बोधिसत्त्व और मानुषी बुद्ध की उत्पत्ति होती है। बौद्ध धर्म अपनी जीर्णावस्था में बंगाल और बिहार में प्रायः केन्द्रित था। तांत्रिक कृत्यों के कारण लोक में इसकी अप्रियता, मुसलिम आक्रमण तथा इसके भक्तिमार्गी आस्तिक अंग के सामान्य जनता में विलय के कारण बौद्ध धर्म का साम्प्रदायिक रूप से भारत में अन्त हो गया।

जैन धर्म के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों ने तांत्रिक वाम मार्ग के प्रभाव से बचकर संस्कृत, प्राकृत तथा प्रादेशिक भाषाओं में उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण किया। इस काल के सबसे बड़े श्वेताम्बर लेखक और शास्त्रकार सर्वज्ञ हेमचन्द्र थे, जो गुजरात की राजधानी अनीहिलपाटन में १०८६ से ११७३ ई० तक रहे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'योग-शास्त्र', 'वीतराग-स्तुति', 'त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित' और इसका परिशिष्ट 'पर्वन', 'महावीरचरित्र' आदि संस्कृत में थे। उन्होंने 'जैन रामायण' रामचरित की भी रचना की और 'वासुदेव हिण्ड' नामक ग्रन्थ, जो कथाओं का संग्रह है, प्राकृत में लिखा। इसके अतिरिक्त न्याय, व्याकरण, अलंकार, रीति-शास्त्र, कोष तथा राजनीति आदि विविध विषयों पर शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना करके उन्होंने तत्कालीन साहित्य का भण्डार भरा। दूसरे प्रसिद्ध लेखक अभयदेव, मलयगिरि, शान्तिसूरि, देवेन्द्रगणि, तिलकाचार्य, श्रीचन्द्रसूरि, शोभन और धनपाल आदि थे। इस काल के अन्त में प्रबन्धों और चरितों को सरल संस्कृत और भाषा में लिखकर जैन लेखकों ने एक नई परम्परा साहित्य में चलाई। जिसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर बहुत पड़ा। दिगम्बरों का कार्य-क्षेत्र धीरे-धीरे दक्षिण में खिसक गया। उनका साहित्यिक काम उतना नहीं हुआ जितना श्वेताम्बरों का, फिर भी उन्होंने समृद्ध और विविध साहित्य का सृजन किया। अमृतचन्द्र और बालचन्द्र इस युग के प्राचीन ग्रन्थों पर प्रसिद्ध भाष्यकार थे। कन्नड़ के प्रसिद्ध जैन कवियों में पम्प का नाम चिरस्मरणीय है। उन्होंने 'पम्पभारत' (विक्रमार्जुन विजय) तथा 'आदि पुराण' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में लिखे। अन्य कवियों में पोन्न, रन्न तथा अभिनव पम्प उल्लेखनीय हैं। अभिनव पम्प का 'पम्प-रामायण' बहुत ही उच्चकोटि का और लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसकी रचना लगभग ११०० ई० में हुई थी। जैन तमिल-काव्य 'जीवक चिन्तामणि' भी उत्तम रचना है। इसके पूर्व ही सोमदेव ने 'यशस्तिलक' नामक कथा-ग्रन्थ अत्यन्त ललित संस्कृत में लिखा। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, योगीन्द्र आचार्य तथा चामुण्डराय आदि प्रसिद्ध दिगम्बर सम्प्रदाय के लेखक थे, जिन्होंने संस्कृत और प्रादेशिक भाषाओं में रचना की।

धार्मिक दृष्टि से जिस प्रकार भक्तिमार्गी महायान पर वेदान्त और अन्य आस्तिक दर्शनों और सम्प्रदायों का प्रभाव पड़ा उसी प्रकार जैन-श्वेताम्बर सम्प्रदाय पर भी। तीर्थङ्करों की कल्पना के मूल में सनातन ब्रह्म-जैसी सत्ता को जैनियों ने स्वीकार किया। पूजा-पद्धति और आचार में श्वेताम्बर और वैष्णव सम्प्रदाय एक-दूसरे के बहुत निकट आ गए। इसी समय उत्तर भारत पर मुसलिम आक्रमण प्रारम्भ हुए और उत्तर भारत का बचा-खुचा जैन-समाज छिन्न-भिन्न हो गया। उसकी प्रवृत्ति क्रमशः वैष्णव सम्प्रदाय में विलीन होने की हो गई।

: ३ :

उपर्युक्त विविध धार्मिक तथा दार्शनिक आन्दोलनों और उनके विशाल साहित्य से

सम्पूर्ण मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य प्रभावित था। इस्लामी आक्रमणों के बार-बार होने और इस्लाम धर्म के परिचय के बाद भी हिन्दू जनता और हिन्दी-साहित्य का अधिकांश अपनी पुरानी परम्परा और देशी धर्म और साहित्य से ही अनुप्राणन और सामग्री प्राप्त करता रहा। उपर्युक्त विशाल साहित्य का अधिकांश—धर्म-विज्ञान, दर्शन, धर्मशास्त्र, शास्त्रीय ग्रन्थ, उच्चकोटि का शुद्ध साहित्य आदि—संस्कृत में लिखा गया था; धार्मिक उपदेश, नीति ,जीवन-चरित्र, कथा-कहानियाँ आदि प्राकृत और प्रादेशिक भाषाओं में। क्योंकि हिन्दी लोक-भाषा थी, अतः उसने द्वितीय वर्ग के पूर्ववर्ती साहित्य से अपना सूत्र ग्रहण किया। हिन्दी-साहित्य का सारा प्रारम्भिक अपभ्रंश-साहित्य इसी प्रकार के साहित्य का क्रमशः संक्रमण या रूपान्तर है। धीरे-धीरे प्रादेशिक भाषा-गत लोक-साहित्य की वृद्धि और संस्कृत का ह्रास होता गया। इसका कारण यह है कि इस्लाम के आक्रमण से क्रमशः संस्कृत विद्यालय, पाठशालाएँ, मठ, विहार तथा सत्रादि नष्ट होते गए और वह बड़े पैमाने पर राज्याश्रय से वञ्चित रहे। परन्तु हिन्दुओं का लोक-जीवन कभी इस्लाम से परास्त नहीं हुआ। वह लोक-भाषा के माध्यम से खड़ा रहा और इस नये माध्यम का उसने परिष्कार और विस्तार किया। हिन्दी के आदिकाल अथवा वीर-गाथा-काल का साहित्य भी जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पूर्व मध्यकालीन प्रशस्त्यात्मक जीवन-चरित्रों के आधार पर नई परिस्थितियों में लिखा गया था। इस पर इस्लाम का कोई प्रभाव नहीं था; इस्लाम से उसका सम्पर्क इतना ही था कि वह उसके विरोध में लड़ने वाले वीरों की प्रशंसा में लिखा गया था।

हिन्दी-साहित्य के विकास का दूसरा चरण भक्ति-साहित्य का निर्माण था। इस भक्ति-साहित्य की प्रेरक शक्तियाँ कहाँ से आईं, इसके सम्बन्ध में कुछ दिन पहले तक बहुत वाद-विवाद चलता रहा। डॉ॰ ग्रियर्सन के मतानुसार इसको प्रेरणा ईसाई धर्म से मिली, जो मद्रास-प्रदेश में ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में पहुँच चुका था। डॉ॰ ताराचन्द ने अपनी पुस्तक 'इनफ्लुएंस ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर' में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि छठी-सातवीं शती में अरब के मल्लाह और व्यापारी मद्रास के समुद्र-तट पर पहुँच चुके थे और दक्षिण के वैष्णवाचार्यों को उन्होंने प्रभावित और प्रेरित किया। परन्तु जो लोग भारत के प्राचीन और मध्य-कालीन इतिहास से परिचित हैं वे इस बात को स्वीकार करेंगे कि कम-से-कम सात्वतो (महाभारत-कालीन) के समय से भावुक भक्ति की परम्परा अजस्र गति से भारत में चली आई है और देश और काल-क्रम से उसमें उत्कर्ष और अपकर्ष होता आया है। वास्तव में भक्ति, कीर्तन और गेय-काव्य की परम्परा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। वह अधिक विकसित रूप में सात्वतों से संचालित होकर मथुरा, मध्य भारत, राजस्थान, अवन्ति, सुराष्ट्र, महाराष्ट्र और कर्नाटक होते हुए द्रविड़ देश में पहुँची थी। मध्य युग के प्रारम्भ में जब उत्तर भारत पर अरब और तुर्क-आक्रमण होने लगे, उस समय अधिक अनुकूल और स्वस्थ वातावरण, सुदूर दक्षिण में, भावुक और प्रदर्शन-प्रधान भक्तिमार्ग का पुनः संघटन हुआ और इस्लामी अत्याचार का वेग उत्तर में कम हो जाने पर भक्ति-आन्दोलन दक्षिण से पुनः उत्तर भारत में आया। दक्षिणी भक्ति की प्रमुख धारा सगुणमार्गी थी। जहाँ तक निर्गुण भक्ति का प्रश्न है वह उत्तर भारत में कई सम्प्रदायों के रूप में थी। इस्लाम का इससे अधिक विरोधी भी नहीं था। इसीलिए यह पहले उत्तर भारत में मुसलिम शासन-काल में प्रकट होती है।

सगुण भक्ति के आन्दोलन के पीछे भारतीय इतिहास का एक बड़ा रहस्य है। इसके पूर्व इस्लाम के आक्रमण के कारण हिन्दुओं का राजनीतिक पराभव हो चुका था। उनकी भाषा, धर्म और संस्कृति—सभी खतरे में थे। परन्तु किसी भी सभ्य और सुसंस्कृत जाति का पराभव स्थायी नहीं होता; उसके जीवन में पुनरावर्तन, पुनरुत्थान और नव-निर्माण अवश्यम्भावी है। इसके लिए प्रत्येक युग में अपने अनुकूल माध्यम होता है। मध्य युग में वह माध्यम धर्म था; वही प्रेरक शक्ति थी। विधि-विधानपरक कर्मकाण्ड से यह प्रेरणा नहीं मिल सकती थी और न हठयोगी, सिद्धिमार्गी सन्त ही लोक-संग्रह का मार्ग दिखा सकते थे। तान्त्रिकों, वाममार्गियों और सहजियों को समाज अश्लील और घृणित समझकर पीछे छोड़ चुका था। निर्गुणी भक्त भी 'घूँघट के पट खोल' कहकर अपने भीतर ही भगवान् को देखने की चेष्टा कर रहे थे; बाहर के दृश्यमान समाज और राष्ट्र से कोई उनको मतलब नहीं था। इसलिए जीवन के पुनरुद्धार के लिए किसी दूसरे मार्ग की आवश्यकता थी। वह मार्ग 'ईशोपनिषद्' अथवा विकसित रूप में 'महाभारत' में गीता के समय से आया हुआ 'समुच्चयवाद' था, जिसका पुनर्संघटन मध्य युग में रामानुजाचार्य ने किया। उत्तर भारत में रामानन्द ने इसका सूत्र पकड़ा और तुलसीदास ने उसका पूर्ण संघटन और प्रचार किया। इस समुच्चय में भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय था। परन्तु यह कर्म 'कर्मकाण्ड' के अर्थ में नहीं, अपितु 'लोक-संग्रही कर्म' के अर्थ में हुआ। तुलसी के विष्णु अथवा राम का विग्रह इन्हीं तत्वों से बना था; उनका भगवान् का सगुण रूप मानव—व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, भाषा, धर्म, संस्कृति आदि में ओत-प्रोत था; उन्हींमें वे भगवान् को देखना चाहते थे; वे ही उनकी साधना के माध्यम थे। इस भक्ति-आन्दोलन ने युग-वाणी, युग-पुरुष और युग-धर्म जनता को दिया। इसके प्रभाव से जनता में आत्मचेतना और आत्मविश्वास आया और कई पुनरुत्थानमूलक सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन प्रवर्तित हुए।

परन्तु सगुण-भक्ति से जहाँ ईश्वर का लोक-संग्रही और मर्यादावादी ऐश्वर्य जनता पर प्रकट हुआ वहाँ उसका माधुर्य भी लोगों तक पहुँचा। जो अधिक भावुक और कोमल स्वभाव वाले थे उनको कठोरव्रती धनुर्धर राम के बदले भागवत के लीलाप्रिय, गोपीजनवल्लभ, 'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां' कृष्ण का रूप अधिक पसन्द आया। अतः कृष्ण-भक्ति में इस रूप और मधुर भाव की उपासना की प्रधानता है। इसके लिए भी प्रेरणा पूर्व-मध्ययुगीन साहित्य से मिली थी। 'भागवत पुराण' इसका निर्झर था और जयदेव आदि कवि इसके उद्गाता। यह मधुर भाव और उससे प्रेरित साहित्य जहाँ सामन्तवादी और विलासी समाज से मिला वहाँ उसने रीति-काव्य और नायिका-भेद का रूप ग्रहण कर लिया। गोपीभाव तन्मयता और अनन्यता के बदले मानवी-विलासों और वासनाओं का माध्यम बन गया। इसका बहाव आधुनिक युग की सामाजिक तथा राजनीतिक क्रान्तियों से ही रुक सका।

डॉक्टर रामरतन भटनागर

छायावादी काव्य-दृष्टि

छायावादी काव्य-दृष्टि को समझने के लिए हमारे पास तीन स्रोत हैं—स्वयं कवियों का अपनी काव्य-कला के सम्बन्ध में वक्तव्य; छायावाद के मान्य समीक्षकों की धारणाएँ तथा स्वतः काव्य। इन तीनों स्रोतों को परस्पर पूरक मानकर ही हम छायावादी काव्य-दृष्टि को सम्पूर्णता दे सकते हैं।

छायावादी कवियों में से 'प्रसाद', माखनलाल, पन्त, 'निराला', महादेवी और 'दिनकर' ने अपनी काव्य-प्रक्रिया और अपने काव्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विशदता से लिखा है। 'पल्लव' (१९२८) और 'परिमल' (१९३०) की भूमिकाओं से हमें पता चलता है कि छायावाद के आदि-प्रवर्तक किस प्रकार नई काव्य-भूमि की ओर उन्मुख हुए और वह किस सीमा तक प्राचीन काव्य-भूमियों के प्रति विद्रोह लेकर चले। छायावाद के कवि का सबसे बड़ा विद्रोह काव्यानुशासनों के प्रति था, जो कवि के स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त भाव-प्रवाह में बाधक होते थे। उस समय तक काव्य ही साहित्य का प्रतीक था। इसीसे निराला की यह उक्ति कि 'साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में दीख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है।'[1] बहुत सार्थक उक्ति थी। निराला के लिए काव्य की मुक्ति का अर्थ था छन्दों के अनुशासन से मुक्ति, और उनका मुक्त-काव्य इस मुक्ति का ही विजयी उद्घोष था। पिछले किसी भी युग में काव्य की ऐसी निर्बन्ध कल्पना सम्भव नहीं थी, जो कवि-चित्त की उन्मुक्तता को इतना बड़ा श्रेय देती। इसीलिए निराला का काव्य नये युग की विद्रोही काव्य-धारा का केन्द्र-बिन्दु है।

'पल्लव' की भूमिका में हमें नये (छायावादी) कवि का विद्रोह कुछ अधिक मुखर दिखलाई देता है। वह भक्ति-काव्य और रीति-काव्य के अन्तर्बाह्य के प्रति पूर्णरूपेण विद्रोही है। पन्त ने स्पष्ट कहा कि 'उस ब्रज के वन में झाड़-झंकाड़, करील-बबूर भी बहुत हैं।'....'अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया। बीच में उन्हींकी संकीर्णता की यमुना पड़ गई; कुछ किनारे रह गए; कुछ उसी में बह गए।'[2] रीति-काव्य के शृङ्गार-भाव में नये कवियों ने वासना की स्थूलता देखी और उन्होंने उसे देश के नैतिक स्वास्थ्य एवं कलात्मक अथवा भावात्मक विकास के लिए बाधा माना।[3] यही नहीं, रीतिकाल का कला पक्ष भी अपनी कृत्रिमता के कारण नये कवि को असाननीय था।[4]

---

१. 'परिमल' की भूमिका, पृष्ठ १७।
२. वही, पृष्ठ १४; ७।
३. वही, पृष्ठ ६।
४. वही, पृष्ठ १०।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी काव्य-दृष्टि भक्ति-काव्य की स्थूल आध्यात्मिकता और रीति-काव्य की नायिका-भेद-विजड़ित रूप-सृष्टि का विरोध लेकर क्षेत्र में आई और काव्य के बाहिरंगों के विषय में वह एक स्वतन्त्र वृत्ति लेकर चली। भाव, भाषा और छन्दों के विषय में गतानुगत प्रयोग उसे अक्षम्य लगे। परवर्ती रीति-काव्य की अति-आलंकारिकता उसे स्पष्ट ही अग्राह्य थी। नये काव्य का आरम्भ एक नई भाषा (खड़ी बोली) को लेकर हो चुका था, परन्तु पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका समाप्त करते हुए ठीक ही कहा कि 'हम खड़ी बोली से अपरिचित हैं, उसमें हमने अपने प्राणों का संगीत अभी नहीं भरा; उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नहीं हुए। वे केवल नाम-मात्र हैं, उनमें हमें रूप-रस-गन्ध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ, उनके हृत्स्पन्दन सेहमारा हृत्स्पन्दन नहीं मिला।'[१] इसमें सन्देह नहीं कि यद्यपि पन्त और निराला ने श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध के काव्य को अपना पथ-प्रदर्शक माना है, वे द्विवेदी युग के काव्य को काव्य-विकास के मार्ग में अवरोधक मानते थे। उनके लिए नया काव्य द्विवेदी युग के काव्य का ही विकास था—परन्तु द्विवेदीयुगीन काव्य की त्रुटियों से वे परिचित थे। उसमें कवि की आत्मा का आवेग नहीं था और रीतियुगीन परम्पराओं के विरोध में उसने शुष्क और नीरस गद्यात्मकता को ही काव्य मान लिया था। नई काव्य-दृष्टि ने इस विषम स्थिति को परखा और उसने एक बार फिर काव्य की रसात्मकता प्रतिष्ठापित करनी चाही, परन्तु उसका कहना था कि यह रसात्मकता भक्ति-काव्य और रीति-काव्य की प्रथित भूमि पर न होकर नये युग की भाव-भूमि पर पल्लवित हो—नया काव्य नये युग के प्रतीकों पर आधारित हो और उसमें नये युग की सौन्दर्य-निष्ठा तथा स्वच्छन्दता प्रस्फुटित हो।

यह तो हुई विरोध और विध्वंस की बात। परन्तु छायावादी काव्य-दृष्टि में निर्माण के तत्त्व और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में केवल विध्वंस किसी काव्य-धारा को श्रेय नहीं देता, नये काव्य-तत्त्वों और नई काव्य-भूमियों की खोज ही नई काव्य-धाराओं को महत्त्व देती है।

छायावादी काव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण खोज कवि या कलाकार के स्वतन्त्र निजी व्यक्तित्व की खोज थी। समस्त प्राचीन काव्य निर्वैयक्तिक था, छायावाद नया भावोन्मेष लाया और इसके साथ ही उसने कवि के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भी घोषणा की। कवि ने प्रथम बार " 'मैं' शैली अपनाई।" उसने बहिर्जगत् को अपने रंग में रँगकर देखा और अपने अन्तर्जगत् की अन्यतम भावनाओं को वाणी दी। सभी छायावादी कवियों में व्यक्तित्व पर आग्रह मिलता है। प्रसाद की 'आँसू', पन्त की 'आँसू' और 'उच्छ्वास' और निराला की बीसियों कविताएँ कवि के व्यक्तित्व का विस्फोट-मात्र हैं। राष्ट्रीय कवियों के काव्य में उनकी राष्ट्रीय आत्मा ही काव्य के रूप में ढल गई है। बच्चन के काव्य में व्यक्ति के सुख-दुःख, उसकी आशा-निराशा, उसके उपचेतन के द्वन्द्व इतनी सूक्ष्मता से आलेखित हैं कि उनका कुछ भी पाठक से छिपा नहीं रह जाता। इसी प्रकार महादेवी का रहस्यवादी काव्य उनके अन्तरंग के रंगों में और भी चमत्कारक हो उठा है। कवि के व्यक्तित्व की यह अन्यतम स्वीकृति छायावाद की विशेषता है। माखनलाल चतुर्वेदी (भारतीय आत्मा) के शब्दों में—'काग़ज़ों, दीवारों और पत्थरों पर तो सपने उतर आए हैं; उनकी आकृतियों और आकर्षणों ने वहाँ जन्म नहीं लिया। उनके जन्म-स्थल को यशोदा की

---

१. 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ ४१।

गोद तो है,—हमारी कसमसाहट का बोझ सँभालने वाली वह दृढ़ता, जिसकी सुलग से अनन्त जीवनों की एकत्र चिनगारियाँ एकान्त में उतर पड़ती हैं; और लोहे से या बालों से बनी कलम को हिला देने पर किसी जाति का उल्लास, विलास, वेदना और बलिदान बनकर वह कागज़, पत्थर या दीवारों पर उतर आती है।[1]" इस विज्ञप्ति में कवि या कलाकार के व्यक्तित्व को उसकी सृष्टि से अभिन्न माना गया है। कवि जीवन के प्रकटीकरण की भूख का अनुभव करता है—उसकी "निकम्मी घड़ियाँ कला के अस्तित्व का श्वासोच्छ्वास हैं।"[2] कदाचित् कवि-कलाकार के व्यक्तित्व की उससे ऊँची स्थापना नहीं हो सकती जितनी माखनलाल जी के इन शब्दों में कि कलाकार "अपने युग की स्फूर्ति के प्रकाश के रंग में डूबी भगवान् की प्राणवान्, प्रेरक और कल्पक कूँची है।"[3]

यह दृष्टि काव्य को क्या समझती है, यह भी देखना आवश्यक है। यह सम्भव नहीं है कि सभी कवियों की काव्य-सम्बन्धी भावना एक-जैसी हो। अतः हमें विभिन्न कवियों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए सम्भाव्य समीकरण की ओर बढ़ना होगा। प्रसाद का कहना है कि "कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न!"[4] इस प्रकार कविता में संगीत और चित्र-कला की सीमाएँ मिल जाती हैं, यह उसका बाह्यांग है। उसका अन्तरंग इससे महत्त्वपूर्ण है। कविता बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् का सम्बन्ध कराती है। उसीके द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य आत्मनिष्ठ होकर पूर्णता को प्राप्त होता है। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि कविता की भूमि मुख्यतः आध्यात्मिक है। वह चेतना का विषय है। वह आत्मा की दीप्ति है। प्रसाद के अनुसार मनन-शक्ति, वाक्-शक्ति और मनन का सम्बन्ध वाक् से जोड़ने वाली सजीवता (प्राण-शक्ति) आत्मा की तीन मौलिक क्रियाएँ हैं। काव्य तीनों को सिमेटकर चलता है। मन के संकल्प और विकल्प दो रूप हैं। विकल्प द्वारा वह तर्क-वितर्क करता है। काव्य का मूल संकल्प है, विकल्प नहीं। वह तर्कवाद पर आश्रित नहीं है। एक जानना विकल्प द्वारा होता है और एक जानना संकल्प द्वारा। वैज्ञानिक विकल्प (विश्लेषण, तर्क और परीक्षा) द्वारा जानता है। कवि का जानना प्रत्यक्ष जानना है। इसीसे उसे द्रष्टा अथवा ऋषि कहा गया है। इस प्रकार काव्य प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। उसका आधार है मन की संकल्पात्मक अनुभूति। जिस कवि में यह संकल्पात्मक अनुभूति जितनी अधिक होगी उतना ही बड़ा कवि वह होगा।

आगे चलकर प्रसाद यह भी बताते हैं कि अभिव्यक्ति और अनुभूति काव्य के दो पक्ष हैं, परन्तु अभिव्यक्ति अनुभूति से एकदम अलग नहीं है। "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है, क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होता है।"[5] "जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने पूर्ण रूप में सफल हो सकी है।" इस

१. 'साहित्य देवता' (अंगुलियों की गिनती की पीढ़ी), पृष्ठ २०।

२. वही, पृष्ठ २३।

३. वही, पृष्ठ २६।

४. 'स्कन्द गुप्त' नाटक में मातृगुप्त, १, ३।

५. काव्य, कला और अन्य निबन्ध, पृष्ठ १६।

प्रकार प्रसाद काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता मानते हैं। वे कौशलमय आकारों या प्रयोगों के समर्थक नहीं हैं। इस प्रकार छन्द, भाषा, शैली और अलंकार काव्य-शरीर बन जाते हैं और कवि की आत्मानुभूति उसकी आत्मा। संक्षेप में, प्रसाद कविता के स्वरूप को आध्यात्मिक मानते हैं। वे उसे बुद्धिवाद से किसी भी प्रकार सम्बन्धित करने के लिए तैयार नहीं हैं। वह अनुभूतिमयी कवि-प्रतिभा का परिणाम है। कवि अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को लेकर काव्य-वस्तु से साक्षात्कार करता है।

पन्त के अनुसार "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता है; उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति का प्रत्येक कार्य एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड संगीत में ही होता है।"[1] यह परिपूर्ण क्षण वे हैं जब कवि की भावुक प्रतिभा और कल्पना पूर्णोन्मेष पर होते हैं। इसीलिए कवि कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता है और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश समझता है।

निराला की 'कविता', 'कवि', 'स्मृति-चुम्बन', 'वनबेला'-जैसी कविताओं और अनेक गीतों में कविता-सम्बन्धी उनकी भावना विजड़ित है। उनका कवि जहाँ एक ओर निर्मम संसार के सहस्रों वार झेलता हुआ, अपने सुख से मुख मोड़कर अपने आत्म-दान से विश्व को उपकृत करता है, वहाँ दूसरी ओर वह कल्पना के अतीन्द्रिय लोक में विहार करने वाला और प्रकृति के महोल्लास का भावुक द्रष्टा है।

रामकुमार वर्मा के मत में "आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक में प्रकाशित हो उठना ही कविता है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है।"[2] वे छायावाद को हृदय की एक अनुभूति मानते हैं, जो भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेश करके अनन्त जीवन के तत्त्व ग्रहण करती है। प्रसाद की भाँति रामकुमार भी छायावाद को आध्यात्मिक मानते हुए जीवन में दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब खोजते हैं।

माखनलाल काव्य को कवि के व्यक्तित्व का ही प्रसार मानते हैं। कवि-कर्म में कवि का व्यक्तित्व अनजाने ही उभर आता है। इस दृष्टिकोण से काव्य और कवि दो विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं। स्वच्छन्दतावादी काव्य की यह बड़ी विशेषता है कि कवि और काव्य उसमें एकाकार हो जाते हैं। "कवि विषय का मोल-तोल नहीं करता, वह उसी समय लेखनी उठाता है जब अपनी वेदना को लिखने का भार उससे नहीं सँभलता।" इस प्रकार माखनलाल जी काव्य में भावुकता को प्रधानता देते हैं। वह छायावाद को भंगिमा-मात्र नहीं समझते। वह वेदान्त से भिन्न, उससे बड़ी वस्तु है।[3]

महादेवी ने छायावाद पर शास्त्रीय ढंग से विस्तारपूर्वक विचार किया है। वह कविता को परिभाषा में बाँधने में असमर्थता दिखाती हैं। परन्तु छायावाद के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ सुस्पष्ट हैं। वे उसे नये छन्द-बन्धों में सूक्ष्म-सौन्दर्यानुभूति का प्रकाशन मानती हैं। उनके अनुसार

१. 'पल्लव' की भूमिका, पृष्ठ २४।

२. 'आधुनिक कवि', पृष्ठ ५।

३. 'साहित्य देवता', पृष्ठ १।

छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ, इसीलिए उसने इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिये। छायावाद ने रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य-सत्ता की ओर हमें जागरूक किया। वह मध्य वर्ग का काव्य था, अतः उसकी सामाजिक कुण्ठाओं के कारण उसके भाव-जगत् में निराशा को भी स्थान मिला। महादेवी छायावाद को संश्लिष्ट आन्दोलन मानती हैं, जिसके अन्तर्गत अनेक 'वाद' (दृष्टिकोण)[1] हैं। छायावाद के अन्तर्गत दुःखवादी दृष्टिकोण की उन्होंने विस्तृत व्याख्या की है।[2] उनका विचार है कि छायावाद का जन्म बहिर्गत सामाजिक असन्तोष के अन्तर्गत रूप में हुआ और इस विद्रोह के कारण उसे सामाजिकता का अधिकार ही नहीं मिल सका। फलतः उसने आकाश, तारे, फूल, निर्झर आदि से आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ा और उसी सम्बन्ध को अपना परिचय बनाकर मनुष्य के हृदय तक पहुँचने का प्रयत्न किया।[3]

दिनकर का आलोचनात्मक दृष्टिकोण उस समय की चीज है जब वह 'छायावाद' से 'प्रगतिवाद' की ओर बढ़ चुके थे। इसीलिए वह सुन्दर को काव्य का प्रेय मानते हैं और उपयोगिता को उसका श्रेय, एवं दोनों के ग्रन्थि-बन्धन को सत्काव्य के लिए आवश्यक समझते हैं। फिर भी अन्य छायावादियों की तरह वह कवि-प्रतिभा को एक अनिर्वचनीय और ईश्वरीय विलक्षण तत्त्व कहते हैं, जिसका सन्तोषप्रद विश्लेषण अब तक नहीं हो सका।[4]

बच्चन कवि को विश्वजनीन शाश्वत भावों का चितेरा मानते हैं। उनके शब्दों में—"कवि का हृदय केवल कवि का हृदय नहीं है। उसकी हृदय-गोद में त्रिकाल और त्रिभुवन सोते रहते हैं, सृष्टि दुधमुँही बच्ची के समान क्रीड़ा करती है और प्रलय नटखट बालक के समान उत्पात मचाता है। उसका हृदयांगण गगन के गान, समीरण के हास और सागर के रोदन से प्रतिध्वनित हुआ करता है। उसके हृदय-मन्दिर में जन्म-जीवन-मरण अविरल गति से नृत्य किया करते हैं।"[5]

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि सभी छायावादी कवि काव्य को एक असाधारण, लोकोत्तर एवं आध्यात्मिक सर्जन-प्रक्रिया के रूप में देखते हैं और उनके लिए कवि एक विशेष प्राणी है। कवि का अन्तरतम उनके लिए रहस्यमय है और काव्य-प्रक्रिया को वह अनिर्वचनीय मानकर मनुष्य के शेष कार्य-व्यापारों से उसे एकदम भिन्न मानते हैं। काव्य की यह आध्यात्मिक, लोकोत्तर, रहस्यमय व्याख्या कवि के व्यक्तित्व को देवत्व प्रदान कर देती है और इसीलिए काव्य-कौशल मात्र या सचेतन कार्य-व्यापार न रहकर अलौकिकता मण्डित बन जाता है।

छायावाद के मान्य समीक्षकों में सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, गंगाप्रसाद पांडेय, शम्भूनाथसिंह, डॉ० सुधीन्द्र और डॉ० रामविलास शर्मा अग्रगण्य हैं। इलाचन्द्र जोशी एवं डॉ० देवराज प्रभृति अनेक विद्वानों ने भी इस काव्य-धारा के सम्बन्ध में बहुत-कुछ कहा है। उनकी मान्यताओं पर भी हमें विचार करना होगा। ये मान्यताएँ बहुत बाद में आई हैं और महादेवी जी की यह शिकायत ठीक ही है कि छायावाद को तो शैशव

१. 'आधुनिक कवि', (भाग १) पृष्ठ १०, १४, १५, १६, १८ से।
२. 'रश्मि' की भूमिका।
३. 'दीप-शिखा' भूमिका पृष्ठ ११।
४. 'मिट्टी की ओर', पृष्ठ १२२, १४७।
५. 'मधुशाला' (सम्बोधन) पृष्ठ १४।

में कोई सहृदय आलोचक ही नहीं मिल सका।

इन समीक्षकों में वाजपेयी जी पंडित रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता का विरोध करते हुए कहते हैं—"छायावाद को हम पंडित रामचन्द्र शुक्ल जी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली-विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतन्त्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्ती काल से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।"[1] डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी इस काव्य में परिपाटी विहित और परम्परा-मुक्त रस-दृष्टि के स्थान पर कवि की आत्मानुभूत आवेग धारा और कल्पना का प्राधान्य देखते हैं। "कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग—ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं, परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि ये दोनों एक-दूसरे से अलग रहकर काम करती हैं।"[2] शान्तिप्रिय द्विवेदी छायावाद में कवियों की बाह्य चेतना और अन्तश्चेतना का एकीकरण देखते हैं। यद्यपि उनका यह भी कहना है कि छायावाद के प्रमुख कवियों ने "बाह्य चेतना को तो गौण रूप में ग्रहण किया, अन्तश्चेतना को प्रमुख रूप में।"[3] वह छायावाद को हिन्दी-काव्य-परम्परा का ही स्वाभाविक विकास मानते हैं। डॉ॰ नगेन्द्र उसमें स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह और नवजीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं का अन्तर्मुखी और वायवी सम्मिश्रण ढूँढते हैं और प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा भावोन्मेष की अभिव्यंजना को उसका कला पक्ष स्थिर करते हैं।[4] डॉ॰ रामविलास शर्मा का उनके इस दृष्टिकोण से मतभेद है। वे इस काव्य को चेतन मन की भूमि पर ही देखना चाहते हैं और उनके मत में उसमें जीवन की कुण्ठा नहीं, भविष्य की मंगलाशा ही अधिक पल्लवित हुई है।[5] डॉ॰ देवराज छायावाद के कड़े समीक्षक हैं और उनकी 'छायावाद का पतन' पुस्तक में हम उनके इसी रूप से परिचित होते हैं, परन्तु अन्य स्थानों पर उन्होंने इस काव्य की एकांगिता का ही अधिक विरोध किया है। उसमें उन्हें जीवन के केवल वैयक्तिक पक्षों की ही विवृत्ति मिलती है; सामाजिक, नैतिक और मानवीय सम्बन्धों की विवृत्ति शिथिल है। फलतः काव्य-भूमि का प्रसार अधिक नहीं है।[6]

यह स्पष्ट है कि छायावाद के सम्बन्ध में कवियों की भाँति आलोचकों की भी स्थापना एक नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस काव्य-धारा को उसके ऐतिहासिक परिपार्श्व में देखें और उसे अखण्डित इकाई न मानकर अनेक भाव-संवेदनाओं और काव्य-प्रक्रियाओं की संश्लिष्टि समझें। छायावादी काव्य का अन्तरंग प्राचीन काव्य-धारा की अपेक्षा अधिक व्यापक और सप्राण है। बहिरंग भी अन्तरंग में रँगकर नई वर्णच्छटाओं से विभूषित हो गया है। कवि के व्यक्तित्व के माध्यम से बहिर्जगत् अन्तर्जगत् से समीकृत हो सका है और इसलिए यह सारा काव्य विषयी-प्रधान है। कवि के अपने चेतन-अचेतन, सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, हास-

---

१. 'जयशंकर प्रसाद' (१९४०)—भूमिका, पृष्ठ १२

२. 'रोमाण्टिक साहित्य' (देवराज उपाध्याय) की भूमिका, में पृष्ठ १

३. 'संचारिणी' (छायावाद का उत्कर्ष) पृष्ठ १७८, १७९

४. काव्य-चिन्तन, पृष्ठ ९३–९९

५. 'महादेवी वर्मा', (सं॰ शचीरानी गुर्टू,) पृष्ठ २०१–२०५

६. 'साहित्य-चिन्ता' (छायावादी कवियों का कृतित्व), पृष्ठ १२७

अश्रु ही कहीं अभिधा द्वारा, कहीं प्रतीक-भाषा द्वारा, कहीं लक्षणा द्वारा काव्य की रंग-रेखाओं में बँध गए हैं। निराला और बच्चन के काव्य में छायावादी काव्य की यह व्यक्ति-निष्ठा सबसे प्रमुख रूप में सामने आती है। परन्तु यहाँ हमें व्यक्तित्व के बहिरंग ही मिलते हैं। व्यक्तित्व की अन्तरंग-सृष्टि पन्त और महादेवी के काव्य में परिपूर्ण रूप से मिलती है।

यह काव्य स्थूल आध्यात्मिकता, वासनात्मक शृङ्गार और इतिवृत्तात्मक सुधार-भावना का विरोध करता है और पूर्ववर्ती काव्य की निर्वैयक्तिकता के समकक्ष कवि के व्यक्तित्व को उभार-कर रखता है। कवि का अन्तर्जगत् उसके बहिर्जगत् को भी नाना छवियों में रंग डालता है और हमें जो रूप-सृष्टि मिलती है, वह प्राकृतिक रूप-सृष्टि से भिन्न और विशिष्ट है। काव्य के अन्तरंग में बड़ा परिवर्तन हो गया है। मनुष्य की महान् महिमा का उद्घोष पहले-पहल इसी काव्य में हुआ है और मानवतावाद से प्रभावित होकर कवि ने दुःखों-उत्पीड़नों के विरोध में अपनी वाणी का उपयोग किया है। कवि का मानस बहिर्जगत् के द्वन्द्वों से समझौता नहीं करता और उसका उद्वेग अनेकानेक भाव-तरंगों और कल्प-विधानों में इतनी शक्ति से प्रवाहित होता है कि पाठक उस प्रवाह में बह जाता है। चित्त की यह उन्मुक्तता और कवि की यह संवेदनशीलता ही नये काव्य (छायावाद) को विशिष्ट रूप दे सकी है। प्रकृति, मानव, परोक्ष, अन्तस् का छाया-लोक, स्वप्न-कल्प और राष्ट्र-भाव कवि के मन में जिन सूक्ष्म संकल्प-विकल्प और भाव-समष्टियों का निर्माण कर सके हैं, वे ही छायावादी काव्य में निःप्रयास आलेखित हैं। छन्द, भाषा-शैली और अलंकार-विधान के क्षेत्र में कवि ने अपनी भावना के अनुरूप परिवर्तन किये हैं। जिस भावोन्मुक्ति को उसने अपने काव्य के अन्तरंग में प्रतिष्ठित किया है, वही छन्दों में अतुकान्त, मुक्त-काव्य, विषम चरण-बन्ध आदि में नियोजित हुई है। भाषा-शैली के क्षेत्र में सभी कवि एक ही प्रकार से सजग नहीं हैं—एक ओर पन्त की तत्सम्बन्धी जागरूकता और सौन्दर्य-निष्ठा हमें मिलती है, तो दूसरी ओर माखनलाल और दिनकर की स्वच्छन्दता और कभी-कभी अराजकता भी मिलती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कवि अपनी भाव-सृष्टि के अनुरूप भाषा खोजने में लगा है और सब कहीं वह सफल ही हुआ है। अंग्रेजी रोमाण्टिक काव्य में भी वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स और स्विनबर्न में हम भाषा-शैली की यही विविधता देखते हैं। यही बात अलंकार-विधान के क्षेत्र में है। छायावादी कवियों ने निरालंकृत, भाव-संवलित मुक्त छन्द से लेकर अत्यन्त कलात्मक, अलंकरण-प्रधान गीत-सृष्टि तक एक बड़ी काव्य-राशि हमें दी है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कवि के लिए अब काव्य वचन-भंगिमा या कौशल-मात्र नहीं है। वह अलंकारों में बँधना नहीं चाहता। उसकी कल्पना अलंकारों के इन्द्र-जाल को बेधकर मुक्त भाव-गगन में स्वच्छन्द विहार करती है। पन्त के सूक्ष्म भाव-कल्प से लेकर निराला के सुशृङ्खलित मूर्ति-विधान तक कल्पना का व्यापक विस्तार हमें छायावाद में मिलता है। संक्षेप में, छायावादी काव्य-दृष्टि व्यक्तिनिष्ठ, भावुक, अनुशासन-विद्रोही, कल्पनाप्रिय और मूर्तचित्र-प्रधान है। परन्तु सम्पूर्णतः मानववादी होते हुए भी वह सामाजिक प्रक्रिया का स्पष्ट बोध न होने के कारण अस्पष्ट और रहस्यमयी ही रह गई है। फिर भी उसने अन्तस् के अजस्र स्रोतों को उन्मुक्त किया है और आधुनिक हिन्दी-काव्य को नई दिशाएँ दी हैं।

छायावादी काव्य-दृष्टि और उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी रोमाण्टिसिज़्म में मूल स्रोतों और उपादानों की विभिन्नता होते हुए भी बहुत बड़ा साम्य है। छायावाद की भाँति रोमाण्टि-

सिज़्म की व्याख्या भी अनेक प्रकार से हुई है। उसे बुद्धि के प्रति भावना का विद्रोह (आर्नल्ड), रुग्ण साहित्य (गेटे), अपरिकल्पित रूप से असन्तुलित (ह्यूगो), मध्य युग की पुनरावृत्ति (हेन), सौन्दर्य में अद्भुत का संयोग (वाल्टर पेटर), साहित्यिक अहं (ब्रुनेतेयर), बाह्यानुभूति से हटकर अनुभूति के आभ्यन्तरिक पक्ष पर बल देने वाला साहित्य (लेसेल एवर्काम्बी) कहा गया है। प्रो० लवजॉय ने यह स्पष्ट कहा है कि वास्तव में रोमाण्टिसिज़्म को एक निश्चित इकाई या अखण्डनीय वस्तु मानना एक गलत दृष्टिकोण है—यह शब्द ही भ्रामक है और इसमें अनेक काव्य-दृष्टियाँ समाहित हैं।[1] छायावाद के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। यह अवश्य है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षण के अनुसार दोनों काव्य-धाराओं में समान रूप से कवि के अवचेतन मानस का चेतन मन के प्रति विद्रोह स्पष्ट रूप से आभासित है। इन धाराओं के कवि अपने मूर्त्त-विधान के लिए चेतन की अपेक्षा अवचेतन के ही अधिक आश्रित रहते हैं और वे वस्तु-जगत् से सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ होकर अन्ततः प्रकृति, कल्पनानिष्ठ सौन्दर्य, आदर्श राजतन्त्र आदि विषयों की ओर संक्रमित होते हैं।[2] यह एक प्रकार का पलायन ही है। साहित्य में यह भावस्थिति अधिक दिनों तक नहीं टिक पाती और वस्तु-जगत् के आग्रह से कवि एक बार फिर अतीन्द्रिय भाव-लोक से नीचे उतरकर जीवन के दैनन्दिक समतल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। उपचेतन का विस्फोट समाप्त हो जाता है और काव्य चेतन-मानस की बौद्धिक प्रक्रिया से समाविष्ट होकर नया रूप ग्रहण कर लेता है। समसामयिक प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य में यही बौद्धिक प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण हो उठी है।

१. A. O. Lovejoy—Essays in the History of Ideas (1948), P. 146.
२. F. L. Lucas—Literature & Psychology P. 99-100

देवराज उपाध्याय

उपन्यास-कला का आभ्यन्तरिक प्रयाण

यूरोप तथा अमरीका के औपन्यासिकों ने आधुनिक युग में अपनी रचनाओं में मानव-मन तथा मानव-जीवन में अनुरूपता लाने के लिए, कथा को भाषा में मनुष्य को समूर्त ला उपस्थित कर देने के लिए, उपन्यास को मनुष्य के आभ्यन्तरिक जगत् के सच्चे प्रतिनिधित्व की योग्यता तथा क्षमता से समन्वित करने के लिए भाँति-भाँति के प्रयोग किये हैं। उनकी प्रतिभा तथा रचना-कौशल के प्रभाव से उपन्यास का एक प्रकार से काया-कल्प ही हो गया है। उसकी वेश-भूषा, साज-सज्जा तथा वाह्य परिधान में ऐसा आमूल परिवर्तन हो गया है कि यदि १७वीं या १८वीं शताब्दी के उपन्यास का पाठक रिपवान विन्किल की भाँति सजग होकर आज के उपन्यासों के क्षेत्र में पदार्पण करे तो वह आश्चर्य-चकित-सा अपनी आँखें मलता रह जाय। आधुनिक काल के ऐसे अनेक औपन्यासिक हैं, जिन्हें मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। फ्रांस में आन्द्रे जीद एवं प्रुस्ट, इंगलिस्तान में जेम्स ज्वायस, विरजिनिया वुल्फ, जर्मनी में टोमस मैन तथा अमरीका में फॉकनर इत्यादि। इन लोगों को औपन्यासिकों का उपन्यासकार (novelist's novelist) कहा जाता है। कारण कि इनमें से अनेक ने अपने उपन्यासों के मध्य में अनेक ऐसे अवसर ढूँढ़ निकाले हैं जहाँ उन्हें अपनी कला का विवेचन करना पड़ता है और उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए यह बतलाना पड़ता है कि उपन्यासकारों के लिए किस मार्ग का अवलम्बन समीचीन होगा तथा पूर्व के उपन्यासकारों की कला में उनकी दृष्टि से क्या दोष थे? पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के द्वारा मानव-जीवन का समुचित प्रतिनिधित्व क्यों सम्भव नहीं हो सका है?

आधुनिक युग विशृङ्खलता तथा बिखराहट का है। कहीं भी कोई ऐसी विशिष्टता दृष्टि में नहीं आती जिस पर अँगुली रखकर निश्चय पूर्वक यह कहा जा सके कि यही वस्तु है जो सर्वसाधारण रूप में प्राप्त होती है, यही गुण है जो अपनी सर्वव्यापकता के कारण इसे अन्य युगों से पृथक् कर देता है। उपन्यासों के क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। मालूम होता है कि इस युग की अराजकता, व्याकुलता और छितराहट को प्रतिनिधित्व में विश्वास नहीं। उसे अपने प्रतिनिधित्व का अधिकार किसी को देना स्वीकरणीय नहीं। पर साथ ही यह भी उतना ही ठीक है कि इस अस्त-व्यस्तता और अनियमितता की तह में एक शृङ्खला है। अतः उपन्यास-साहित्य की इन तीन शताब्दियों की गति-विधि को समझने के लिए तथा भूत, वर्तमान तथा भविष्य की स्पष्ट झाँकी लेने के लिए भी एक प्रकार का श्रेणी-विन्यासीकरण, एक व्यापक सिद्धान्त का पृथक्करण, दूसरे शब्दों में सामान्यीकरण (generalisation) नितान्त आवश्यक है।

ऐसी अवस्था में यूरोपीय उपन्यासों के लगभग तीन शताब्दियों के इतिहास को तथा हिन्दी-साहित्य की एक शताब्दी के उपन्यास की गति-विधि को देखकर हम एक ही व्यापक तथा

सर्वसाधारण तथ्य निकाल सकते हैं, जिसके सम्बन्ध में न्यूनातिन्यून मतभेद की सम्भावना हो सकती है। वह यह है कि कथा साहित्य की प्रवृत्ति सदा बाहर से भीतर की ओर पैठने की रही है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर रही है। इसका इतिहास बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने का इतिहास है। यूरोपीय कथा की बात ही छोड़ दीजिए। वहाँ तो कथा-साहित्य के मानव-मनोभूम्यन्तर्गत प्रयाण की प्रवृत्ति अतिचरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है और इसके कारण उपन्यासों में कल्पनातीत परिवर्तन हो गए हैं; वैसे परिवर्तन, जिनको देखकर चिन्तनशील आलोचक उसके भविष्य के बारे में सशंक हो उठे हैं। हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का साधारण से-साधारण पाठक भी इस बात से अपरिचित नहीं कि अब उपन्यासकारों का ध्यान इस ओर केन्द्रित नहीं कि उनके पात्र क्या करते हैं। वे इससे आगे बढ़कर इस बात को अपना लक्ष्य बना रहे हैं कि उनकी विचार-प्रक्रिया क्या है, वे क्या सोचते हैं और कैसे सोचते हैं। उनकी सूक्ष्म मूल प्रेरणा क्या है। यही एक राज-मार्ग है, अर्थात् मनोभूम्यन्तर्गभित्व का मार्ग; जिस पर उपन्यास नियमित रूप से प्रगति करता आया है। उपन्यास में उसके प्रचलित नियमों में, कन्वेंशन में, कथा सौष्ठव के निरन्तर ह्रास में, भाषा के लचीलेपन में, उपन्यासों की व्याख्यात्मकता में जो-कुछ भी परिवर्तन हो गया हो, इन सबका मूल कारण है उपन्यासों में निरन्तर प्रगतिशील आन्तरिकता की प्रवृत्ति। अंग्रेजी उपन्यास-साहित्य के सिंहावलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस आभ्यन्तर-प्रयाण-यात्रा में उसे तीन या चार युगों को पार करना पड़ा है। अर्थात् इस आन्तरिक प्रवृत्ति की माँग के कारण, इसके जबरदस्त तकाजे की वजह से उसे (उपन्यास-कला को) चार रूप धारण करने पड़े हैं।

प्रथम युग उन उपन्यासों का है, जिन्हें अंग्रेजी में 'पिकारेस्क' (picaresque) और 'ऐपीसोडिक' (episodic) उपन्यास कहते हैं। इनमें किसी व्यक्ति की साहसिकता से पूर्ण आश्चर्य-चकित कर देने वाली कथाओं की माला गुँथी हुई रहती है। ये कथाएँ एक प्रकार से अपने में स्वतन्त्र हैं, यदि इन्हें स्वतन्त्र रूप में भी देखा जाय तो इनके स्वरूप की हानि नहीं होगी। यदि इनमें थोड़ी सम्वद्धता का आभास मिलता है तो केवल इतना भर हो कि नायक को इन घटनाओं के मध्य से होकर गुजरना पड़ता है। उसके जीवन में वे घटनाएँ ही घटित हुई हैं, जिनसे उसका कुछ सम्बन्ध है। एलिजाबेथन युग के कथाकार टामस नाशे (१५६७-१६०१) तथा डिलोनी (१५४३-१६०७) के उपन्यास तथा १८वीं शताब्दी के डीफो और स्मौलेट इत्यादि इसी श्रेणी के उपन्यासों के निर्माता की श्रेणी में आयँगे। इन उपन्यासों में पात्रों में चरित्र-चित्रण का अभाव-सा है, उनमें उनकी मात्र बाह्य रूप-रेखा ही देखने में आती है। मानो वे ऐसे नर-कंकाल-मात्र हों जिनमें प्राणों का स्पन्दन नहीं। उनके क्रिया-कलापों का वर्णय अवश्य है, पर उस अनुचिन्तन के प्रति औपन्यासिक सर्वथा उदासीन है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए ये रूप धारण करते हैं। औपन्यासिकों की दृष्टि इस बाह्यात्मकता में इस प्रकार उलझी हुई है कि उन्हें अन्दर झाँकने की न तो चिन्ता ही है और न शक्ति ही। प्रेमचन्द के आगमन के पूर्व तक हिन्दी में भी कुछ इसी से मिलती-जुलती अवस्था थी।

दूसरा युग 'प्लाट-नावेल्स' (plot novels) का है अर्थात् ऐसे उपन्यासों का, जिनका कथा-भाग सुन्दर और सुसंगठित होने के साथ-साथ एक विशेष विचार और अनुभूति से प्रभावित हो। इनमें भी पात्रों की बाह्य क्रियाओं का उल्लेख अवश्य होता है, इनके पात्र भी संसार के

रंगमंच पर अभिनय-निरत अवश्य दिखलाये जाते हैं। पर अब औपन्यासिकों के दृष्टिकोण में एक परिवर्तन अवश्य परिलक्षित होने लगा है। वे बाह्य क्रिया-कलापों के साथ उनकी मूल अन्त-प्रेरणाओं को भी देखने लगे हैं। वे अब इतनी-सी बात कहकर ही सन्तोष नहीं कर लेते कि पात्रों ने 'क्या' किया, पर आगे बढ़कर यह भी बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि 'कैसे' किया और 'क्यों' किया। यदि मनोविज्ञान की शब्दावली में हम अपने विचार प्रकट करें तो हम यों कह सकते हैं कि 'प्लाट-नावेलिस्ट' का सम्बन्ध 'किम्' तक ही सीमित नहीं रहता, वह इतना ही बतलाकर रुक नहीं जाता कि पात्रों ने 'क्या' किया, पर 'कैसे' और 'क्यों' को भी बतलाता है अर्थात् यह बतलाता है कि बाह्य क्रियाएँ 'किस प्रकार' सम्पादित हुईं और 'क्यों' हुईं। इन उपन्यासकारों को हम मनोवैज्ञानिकों के रूप में देखने की कल्पना करें तो इतना ही कह सकते हैं कि प्रथम युग के उपन्यासकार रचनावादी (structuralist) हैं और दूसरे युग के उपन्यासकार प्रक्रियावादी (functionalist) हैं। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १९वीं शताब्दी के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में इन तीनों को अपनी सीमा में समाहित करने वाले उपन्यासों की रचना हुई। यह रिचार्ड्सन और फिल्डिंग का युग था। इन लोगों की प्रतिमा के स्पर्श से 'प्लाट-नावेल' का रूप निखरकर सामने आया। जहाँ तक रूप-विन्यास, बाह्य संगठन और गृह-निर्माण का प्रश्न है इन उपन्यासों पर नाटकों का ऋण अधिक है और प्रथम श्रेणी के उपन्यासों पर महा प्रबन्ध-काव्य (Epic) का। रिचार्ड्सन ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'क्लारिसा' को नाटकीय वर्णन कहा है। हिन्दी में उपन्यास-कला के इस रूप का प्रतिनिधित्व प्रेमचन्द के उपन्यास में पाया जाता है।

इसके पश्चात् अंग्रेजी उपन्यास-कला का तीसरा चरण उठता है। इसमें द्वितीय युग के प्लाट-प्रधान उपन्यासों ने बाह्य क्रिया-कलापों को आन्तरिक कारणों से सम्बद्ध करके देखा है और इस प्रकार उनमें मानव-मानसिकता का अंश अधिक आ सका है; पर फिर भी उनमें आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व का दर्शन नहीं हो सका। प्रथम युग के पात्र व्यक्ति न होकर जाति (type) होकर ही रह गए। हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि व्यक्ति का कुछ अंश आया अवश्य। द्वितीय युग के उपन्यासों को अवश्य चरित्र-प्रधान उपन्यास कहा जा सकता है, पर इसी सीमित अर्थ में कि इस वैविध्यपूर्ण मानव की अनेकरूपता में से कुछेक विशेषताओं को चुनकर पात्रों के व्यक्तित्व में उन्हींकी क्रियाएँ दिखलाई जाती थीं और उनसे विपरीत पड़ने वाले जितने गुण थे उनको निर्ममतापूर्वक उखाड़कर फेंक दिया जाता था। इन उपन्यासों में पात्रों के जो नाम दिये गए हैं—जैसे मिस्टर अल्वर्दी (Alworthy), मिसेज आनर (Mrs. Honour)—वे ही इस बात का प्रमाण हैं कि उनका व्यक्तित्व अभी पूर्ण रूप से उभर नहीं सका है। पात्रों को पेचकश से दबाकर उन्हें एक साँचे में ढाल दिया जाता था, उनका जीवन-प्रवाह एक बँधी-बँधाई प्रणाली से प्रवाहित होता रहता था। कहीं भी किसी भी प्रकार की विषमता तथा असंगति खोजने पर नहीं मिलती थी। वे चट्टान की भाँति दृढ़ स्वभाव, उन्नत-चरित्र और महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न होते थे। दूसरे शब्दों में वे समतल (flat) होते थे, गोल (round) नहीं। उनमें किसी भी प्रकार के विकास का अवसर नहीं था। वे जो थे सदा वैसे ही बने रहते थे। इससे इतना लाभ अवश्य हुआ कि उपन्यासों ने एक सौष्ठवपूर्ण सुगठित रूप पाया, पर वह एक ऊपर से बाहर से चिपकाई हुई वस्तु ही रही, अन्दर से विकसित होने वाली नहीं। बाह्य दृष्टि से पूरी मुक्ति हो नहीं सकी।

मनोवैज्ञानिकों की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उपन्यासों के पात्र का व्यवहार किसी बाहरी उत्तेजना (stimulus) के प्रति आचरणवादी प्रतिक्रिया (behaviouristic response) के रूप में होता था। अतः इनके पात्रों में बुद्धि का विलास, विवेक, ज्ञान, बौद्धिकता का दर्शन तो हो गया था पर उन शक्तियों का पता नहीं चलता था जो मानवात्मा के किसी रहःस्थल से रहस्यात्मक रूप से निकलकर हमारे बुद्धि-विवेक पर छा जाती हैं, उन्हें अभिभूत करके, उसकी गति को अप्रत्याशित ढंग से मोड़ देती हैं, एक अपरिकल्पनीय पथ का पथिक होने के लिए विवशता उत्पन्न कर देती हैं। पर इन असंगतियों तथा मनुष्य की रहस्यमयी शक्तियों की ओर उपन्यासकारों का ध्यान जाने लगा और उपन्यास-कला के तृतीय युग का प्रारम्भ हुआ।

इस तृतीय युग की मुख्य प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब मेरिडिथ और हेनरी जेम्स के उपन्यासों में प्राप्त होता है। प्रथम युग में बाह्य क्रिया-कलापों की प्रधानता थी, द्वितीय युग में क्रियाओं के साथ आन्तरिक प्रेरणाएँ भी साथ लग आईं। समय के साथ मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियों की प्रधानता होती गई और एक वह भी समय आ गया कि उपन्यास-कला, जो कुछ शेष बाह्यात्मकता थी उससे भी मुक्त होकर, अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप (subjective aspect of experience) के आधार पर ही अपने स्वरूप का विस्तार करने लगी। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि मनुष्य के अन्तर्जगत् में अनेक परस्पर-विरोधी आलोड़न-प्रतिलोड़न, घूर्णन प्रतिघूर्णन, तनाव, कस-मकस, संघर्ष की रस्साकसी चला करती है और हमारी बाह्य क्रियाएँ इन्हीं क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं के परिणाम हैं। उपन्यास-कला अपने विकास-क्रम में बाह्य क्रियाओं के साथ ही आन्तरिक संघर्ष और तनाव तक पहुँच गई थी। अब बाह्य क्रियाओं से सर्वथा मुक्त होकर आन्तरिक रहस्यमयी प्रवृत्तियों को ही अपनाकर वहीं जमकर बैठ जाना बड़ी ही सहज क्रिया थी और उसने यही किया भी। उसने एक पद उठाया नहीं कि बाह्य क्रियाओं से सर्वथा मुक्ति पाकर शुद्ध मानसिक जगत् की सीमा में आ पहुँची और वह मनुष्य के अचेतन प्रदेश में प्रवेश करने लगी। बीसवीं शताब्दी के प्रवृद्धमान विभिन्न मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों की विद्युज्ज्योति उसके हाथ में थी और उसीके आलोक में वह मानवात्मा के अन्तरतम प्रदेश में बैठती ही चली गई, और वहाँ की कड़ाह की भाँति उबलती हुई भावनाओं को उसने अपने यहाँ स्थान दिया।

परन्तु अपने चतुर्थ युग में, आधुनिकतम युग में उपन्यास-कला की अन्तर्प्रयाण-प्रवृत्ति, जिसने १८वीं शताब्दी में उसे यात्रा के लिए प्रेरणा दी थी, आज उसे और भी आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित कर रही है। फ्रायड, एडलर, जुग, बर्गसाँ तथा आइन्स्टाइन इत्यादि विभूतियों ने मानवात्मा के अन्तर्प्रदेश में भी न जाने कितने स्तरों का आविष्कार किया है और कर रहे हैं। उपन्यास-कला(कदाचित् चल-चित्रों के अतिरिक्त) अपने क्षेत्र में सबसे नूतन है ! उसमें यौवन का उद्दाम वेग है और वह अपनी उमंग में आकर किसी भी संकट, विपत्ति या भय का सामना करने के लिए तत्पर है। एक विचारक के शब्दों में "हम उपन्यास-लेखकों, थोड़ा बढ़कर कहिये तो जीवन-लेखकों, के लिए कितने सौभाग्य की बात है कि किसी ऐसे आधुनिक अरस्तू ने अवतार नहीं लिया जो दृश्य-काव्य के प्राचीन लेखकों की भाँति उपन्यासों की भी गति को कार्य, समय और स्थान के समक-त्रय के जकड़कर रख दे। अतः किसी अरस्तू के 'सिर' पर नहीं रहने के कारण उपन्यास-कला को 'परम स्वतन्त्रता' रही, उसे विद्वत्ता और पाण्डित्य के लौह-कारागार को तोड़ने में शक्ति का अपव्यय नहीं करना पड़ा। अतः उसे भाँति-भाँति के

साहसिकतापूर्ण प्रयोगों, नई-नई रूढ़ियों और टेकनीकों को आजमाने तथा उनकी सम्भावनाओं के अनुसन्धान करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।"

तृतीय युग में हेनरी जेम्स की उपन्यास-कला ने मानव के अचेतन प्रदेश की भावनाओं की अभिव्यक्ति को अपना लक्ष्य अवश्य बनाया था, पर फिर भी वहाँ की जो प्रतीकात्मक अनुभूतियाँ थीं वे ऐसी थीं कि जिन्हें शब्दों के जाल में, भाषा के बन्धन में लाकर मूर्त किया जा सकता था, उन्हें प्रेषणीय बनाया जा सकता था, उनके स्वरूप का कुछ आभास दिया जा सकता था, चाहे इस प्रयत्न में इन 'नाति परिचित' भावों का आनुरूप्य प्राप्त करने की साधना में भाषा को अपने अन्तिम बूँद तक ही क्यों न निचुड़ जाना पड़े। परन्तु मानवात्मा की आन्तरिक गहराई में प्रतीकात्मक अनुभूतियों की लहरें उठती हैं, उनके लिए यह अनिवार्य नहीं कि वे शाब्दिक ही हों, ऐसी हों कि शब्दों के साँचे में ढाली जा सकें अथवा वाणी के सहारे अपनी अभिव्यक्ति को मूर्त कर सकें। नहीं, वे स्पर्श-संवेद्य, घ्राण-संवेद्य, रसना-संवेद्य भी हो सकती हैं। उनके सूक्ष्म जीवन की एक वह अवस्था भी हो सकती है, जिसमें वे देश, काल और गति से मुक्त होकर अपनी शुद्ध सत्ता में अवस्थित हों। आज के मनोवैज्ञानिक तथा उनसे संकेत पाने वाले औपन्यासिक इसी मानसिक क्षितिज की अचल तथा जीवन की समीपतम रेखा को पकड़ने के प्रयत्न में हैं, जिन्हें पकड़ पाने के सारे प्रयत्न फीके पड़ते रहे हैं। हेनरी जेम्स के साथ उपन्यास-कला जीवन की कितनी गहराई में क्यों न प्रवेश कर गई हो, पर चेतन मस्तिष्क की आधिश्रयणिक (focal) किरणों की एक पतली रेखा वहाँ भी पहुँचती थी, विवेक का हल्का स्पर्श वहाँ भी पड़ता ही था। पर आज का औपन्यासिक आगे बढ़कर उस दिवा-स्वप्न देखने वाले मस्तिष्क की पारिपार्श्विक दृष्टि (marginal vision) को ही साथ में रखेगा। उसकी धारणा में बर्गसाँ की फिलासफी के कारण महान् क्रान्ति हो गई है।

बर्गसाँ का आधारभूत सिद्धान्त है कि सत्ता निरन्तर परिवर्तनशील है। वह आगे बढ़ती रहती है। पर यह परिवर्तनशीलता मूल जड़ गति नहीं, पर चिर सृजनशील, स्वतः स्फूर्त जीवनोत्प्लव (elan vital) है। सत्ता की वह परिवर्तनशीलता उसकी सृजनशील प्रक्रिया की अविराम नैरन्तर्य स्वानुभूति के द्वारा ही जानी जाती है, बुद्धि के कारण नहीं। संसार के पदार्थों का ज्ञान सापेक्षिक होता है, हम एक वस्तु को अनेक वस्तुओं की अपेक्षा में ही जानते हैं। अन्य वस्तुओं का हमारा ज्ञान ऊपरी और बहिरंग-स्पर्शी होता है; पर स्वानुभूति के द्वारा हम इस काल के चिरन्तन प्रवाह में अपने 'स्व' के बारे में आभ्यन्तर और प्रगाढ़ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। बुद्धि सत्ता की गति को अनेक बिन्दुओं में विभक्त कर देती है और समझती है कि वह इन्हें जोड़कर गति को बना लेगी; पर यह भ्रान्त धारणा है। जीवन एक तरल इकाई (fluid whole) है, जिसका प्रत्येक क्षण भूत में प्रलम्बित तथा भविष्य में प्रोत्क्षेपित है। किसी वस्तु के ज्ञान तथा उसकी अभिव्यक्ति में सदा पृथक्त्व रहता है। इन सिद्धान्तों ने हमारे दृष्टिकोण में एक क्रान्ति पैदा कर दी है। इनको लेकर चलने वाले उपन्यासों में तो काया-कल्प का ही वातावरण उपस्थित हो गया है। आजकल के उपन्यासों का प्रमाण-वाक्य यह है, जीवन व्यवस्थित रूप से सजाई गई दीप-मालिका नहीं है वह तो ऐसा ज्योति-मण्डल है, जो हमारी चेतना को आद्यन्त अपने झीने और अर्द्ध-पारदर्शक आवरण से आच्छादित किये रहता है। क्या औपन्यासिकों का यह कर्तव्य नहीं है कि वे इस परिवर्तनशील, अज्ञेय तथा स्वच्छन्द जीवनोच्छ्वास को विशुद्ध रूप में यथासम्भव बिना किसी विदेशी और बाहरी वस्तु के मिश्रण के पकड़ें,

उसे प्रेषणीय बनायें; चाहे उसमें कितनी ही असंगतियों या जटिलताओं का समावेश क्यों न हो। भीतर झाँककर देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन एतादृक् (like them) से बहुत दूर की चीज है। किसी दिन के किसी भी एक क्षण को ध्यानपूर्वक देखो, मस्तिष्क पर असंख्य संस्कारों की छाप पड़ती रहती है, कुछ क्षुद्र, असंगत, क्षणिक और बोधातीत और कुछ इतनी स्पष्ट कि मानो इस्पात की सुई की नोक से खोदी हुई हों। मस्तिष्क के इसी चिर लघु, पर साथ ही चिरंजीवी क्षण को अपने कला के जाल में, भाषा के जाल में पकड़कर उसकी गतिशीलता को अभिव्यक्त करना आधुनिक उपन्यास का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की साधना के लिए उपन्यास-कला को कितने नाच नाचने पड़े हैं, उसे कितने रूप धारण करने पड़े हैं, यह श्रीमती विर्जीनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस, मार्शल प्रुस्ट और आन्द्रे जीद के उपन्यासों को पढ़ने से पता चलता है।

उपन्यास-कला की मानव-मनोदेशान्तर-प्रयाण की प्रगतिशील यात्रा की चर्चा हमने ऊपर की पंक्तियों में की है। इस यात्रा के कारण उपन्यास में क्या परिवर्तन हुए इस दृष्टि से विचार करते समय सर्व प्रथम हमारा ध्यान उनकी रचना की ओर जाता है। यहाँ रचना शब्द का प्रयोग हमने उस अर्थ में किया है, जिसके लिए अंग्रेजी में texture शब्द का प्रयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का एक यह भी कर्तव्य है कि वह आधुनिक युग के प्रभाव के कारण जटिल से-जटिलतर होते जाने वाले पात्रों तथा साथ ही पाठकों का साथ दे सकें। उनके साथ न्याय कर सकें, उनके समानधर्मी हो सकें। दूसरे शब्दों में वह इस रूप में पाठकों के सामने न उपस्थित हों कि वे उसको असमान-धर्मी, विदेशी तथा अन्य लोक का प्राणी समझकर उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखें। इसी समान-धर्मत्व के कारण अरस्तू ने 'समक-त्रय' वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यूरोप के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता के सिद्धान्तों के साथ-साथ इस समक-सिद्धान्त के पालन का आग्रह बढ़ता सा गया है। और यह बात उस समय से स्पष्ट होती गई है जिस समय में द्वितीय युग रहा है। मनोवैज्ञानिकता का प्रवेश तो रिचार्ड्सन और फिल्डिंग के समय से ही हो गया था, मनुष्य को सप्राण, सजीव और सहृदय प्राणी के रूप में देखने की प्रवृत्ति तो उनके साथ ही प्रारम्भ हो गई थी। परन्तु उनकी कथा इतनी विस्तृत होती थी कि उनकी रचना (texture) में घनत्व, प्रगाढ़त्व के लिए अवसर ही नहीं हो सकता था, उनके चित्र में घनत्व नहीं हो सकता था, उनके बन्ध में कसावट हो ही नहीं सकती थी। हाँ, उनके गठन (structure) में संपुटित गाढ़त्व भले ही हो और वह होता भी था। हेनरी फ़िल्डिंग के उपन्यासों से बढ़कर कथा-भाग के सौष्ठव में अधिक चमत्कार देखने को कहाँ मिल सकता है। पर साथ ही रचना (texture) का विरलत्व, झीनापन, छिद्रता (यदि इस शब्द के प्रयोग की अनुमति मिले तो) भी इनसे अधिक कहाँ मिल सकती है। यदि एक छोटे-से उपन्यास की सीमा में एक पूरे युग का अथवा एक मनुष्य के पचास-साठ वर्षों के लम्बे जीवन का चित्रण करना उद्देश्य हो तो उपन्यासकार बहुत-सी मानसिक या शारीरिक घटनाओं का परित्याग करके कुछ मुख्य-मुख्य घटनाओं को ही स्थान देने के लिए बाध्य है, विवश है। पर दूसरी ओर उन उपन्यासों को लीजिए जिनमें कथा की अवधि बहुत ही छोटी है। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं के निर्वाचन में उतनी स्वतन्त्रता से काम नहीं लिया जा सकता, इनमें छोटी-छोटी-सी घटनाओं की भी विस्तृत विवृति की विवशता और लाचारी उसी रूप में आती है जितनी कि प्रथम वर्ग के उपन्यासों में उन्हें परित्याग करने की। प्रथम वर्ग के उपन्यास पाठक में गाढ़ बन्धत्व, बुनाई के

गाढ़ेपन, प्रतिभा की सूक्ष्मदर्शिता के भाव नहीं जगा सकेंगे। दूसरे वर्ग के उपन्यासों की श्रेणी में जेम्स ज्वायस, विर्जिनिया वुल्फ इत्यादि के उपन्यास आयेंगे। जेम्स ज्वायस के 'युलिसिस' नामक वृहद्‌काय उपन्यास में केवल एक व्यक्ति की २४ घण्टे की कथा है, विर्जिनिया वुल्फ के उपन्यास 'मिसेज डाली वाई' में केवल तीन घण्टे की कथा है; और तो और फिलिप टायनवी के 'टी विद मिसेज गुड मैन' (Tea with Mrs. Good Man) में केवल एक घण्टे की ही हद हो गई कि हेरिस मेकाय के उपन्यास 'दे शूट हार्सेज डोंट दे' (They shoot Horses, Don't they ?) में तो दो-तीन मिनट की ही कथा है, एक आदमी को दो-तीन मिनट बाद ही प्राण-दण्ड की सजा सुनाई जाने वाली है, इसी बीच में जो स्मृतियों की आँधी उठी है उसे यहाँ बाँधने का प्रयत्न किया गया है। आँधी को बाँधने की कल्पना भी कम रोचक नहीं। इस श्रेणी के औपन्यासिकों को बुद्धिपूर्वक, सावधानी से, सतर्क होकर अपनी कला के सौन्दर्य के अनुरोध से कथा की अवधि को और उसकी तीव्र गति को सीमित करना ही पड़ता है, जिससे कि वास्तविक जीवन के विचारों और भावों तथा उनकी अभिव्यक्ति में अधिकतम सामीप्य और अनुरूपता आ सके।

परन्तु औपन्यासिक को इस परिस्थिति में ही संकटपूर्ण समस्या का सामना करना पड़ता है। उपन्यास अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए कथा की माँग करता है, कला की अन्तर्प्रयाणिनी प्रवृत्ति बाह्य क्रिया-कलापों के उच्च शिखरों की दृढ़ता को सन्देह की दृष्टि से देखकर मूल प्रवृत्तियों की तरलता को ही अपनाना चाहती है और तिस पर पाठक है, जो उपन्यास के प्रति अपने सन्देह को सहज ही में स्थगित करने के लिए तैयार नहीं। उपन्यास के सुरम्य स्थलों में विचरण करते हुए हरित शाद्वलों का रसोपभोग वह अवश्य करता है। पर सतर्कतापूर्वक उसके कान भी खड़े रहते हैं, जहाँ कहीं भी कुछ खटका हुआ नहीं कि वह भागा। दो स्वामी की ही सेवा कठिन कही जाती है। यहाँ औपन्यासिक को तीन स्वामियों की सेवा करके उन्हें संतुष्ट रखना पड़ता है। "अहो भारो महान् कवेः" अतः उसने अपने में इस भार-वहन की योग्यता लाने के लिए परिस्थितियों और उत्तरदायित्व के अनुरूप लचीलापन लाने के लिए टेकनीक, शिल्प-विधि आविष्कार कर लिए हैं। उनमें तीन मुख्य हैं—पूर्वदीप्ति (flash-back), चेतन-प्रवाह (stream of consciousness), काल-विपर्यय (Time shift).

पूर्व-दीप्ति (flash back) में भी पात्र के जीवन की घटनाओं का वर्णन रहता है। परन्तु अन्य युग वाले उपन्यासों के एक सर्वज्ञ और सर्व-समर्थ उपन्यासकार दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न संजय की तरह 'महाभारत' के रण-क्षेत्र के दृश्यों के क्रमिक उल्लेख की ऋजु, और सीधी रेखा न खींचते हुए यह उपन्यासकार पात्रों के मस्तिष्क में उठी हुई स्मृति-तरंगों के रूप में उपस्थित करेगा। महा प्रबन्धकाव्य (epic) के नियमों का अनुवर्तन करने वाली १८ वीं शताब्दी की घटना वैचित्र्यपूर्ण कथाएँ हों अथवा नाटकों की तरह कार्य के आदि-मध्य-अवसान के संकेत पर अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने वाले १९ वीं शताब्दी के सुसंगठित प्लाट-नावेल (plot novel) हों, सबमें प्रगति की एक सीधी प्रणाली होती थी। यदि इन उपन्यासों को एक माला के रूप में देखें तो ऐसा मालूम होगा कि ये दाने-ही-दाने दिखलाई पड़ रहे हैं। सूत का पता ही नहीं है। ऐसा नहीं लगता कि सुमेरु के हृदय से रस का स्रोत बह चला हो। पर पूर्व-दीप्ति (flash back) पद्धति में उपन्यास वर्तमान से सम्बद्ध या उसे सार्थकता प्रदान करने वाली घटनाओं को पात्रों के

स्मृति-खण्ड के रूप में बिखेरता चलता है। ऐसे उपन्यासों में कथा की अवधि छोटी अवश्य होती है, पर किसी-न-किसी रूप में जीवन के बृहदंश की घटनाएँ वहाँ स्थान पाती ही हैं। परन्तु अपनी ऐतिहासिकता का परित्याग करके, अतीत का चोला उतारकर, वर्तमान का बाना धारण करके सामने आने के कारण उनकी वह खुरदराहट, जो पाठक को खटकती थी, बहुत अंशों में दूर हो जाती है। ये घटनाएँ इस पद्धति से उपस्थित किये जाने के कारण मुख्य कथा भाग से अलग पड़ी हुई वस्तु न रहकर उसीके प्राणों की एक साँस बन जाती हैं, उसकी अपनी हो जाती हैं, सजातीय और सधर्मी। वास्तव में देखा जाय तो घटनाओं को इस प्रकार से सुसज्जित कर देने से उनमें मानवीयता, या कहिए मनोविज्ञान का सन्निवेश अधिक हो जाता है, उसमें एक वर्तमानता आ जाती है, जो केवल वर्तमान ही नहीं रहती पर उससे अधिकतर समृद्ध, पुष्ट, और चमत्कृत वर्तमानता होती है। वर्तमान क्षण तो अपने में अति क्षुद्र, अल्प और क्षणिक होता है पर यदि वह अतीत को अनुप्राणित करके, अर्थात् अपनी साँस उसमें फूँककर, उसे सप्राण करके उसके कन्धे पर बैठ सके तो बहुत ही भव्य और विशालाकृति का दृश्य खड़ा कर सकता है। हमने देवदत्त को देखा और हमें ज्ञान हुआ कि "अयं देवदत्तः" बाद में दस वर्षों के पश्चात् फिर उसे बनारस में देखा और हमें ज्ञान हुआ "सोऽयं देवदत्तः" अरे यह वही देवदत्त है। यह ज्ञान, जिसे प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है, पूर्व वाले ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। परिचित वस्तु के पुनः दर्शन के समय अतीतान्वित वैशिष्ट्य सहित जो प्रतीति होती है वही प्रत्यभिज्ञा है; कहना नहीं होगा कि यह प्रतीति उस प्रतीति से कहीं भव्यतर है, उच्चतर है जो अतीत की तात्कालिकता में हुई होगी। अतः आज की उपन्यास-कला अपनी प्रधान पर लघु और सीमित कथा को इस प्रत्यभिज्ञा-समन्वित अतिरिक्तापेक्षत्व को भी साथ-साथ दिखलाकर उद्दीप्त कर देने की योजना करती है और मानो कहती है कि मैं या मेरी कथा "गर्द राह" या तिनका भले ही हो पर आँधी के साथ जो है, इसमें झंझा के मत्त झकोरों का उन्माद मिला हुआ जो है। इस दृष्टि से 'शेखर' में भी कथा है इसे कौन अस्वीकार करेगा, पर आप कल्पना करें कि यह कथा एक रात के घनीभूत विजन के रूप में देखी न जाकर और प्रत्यभिज्ञा-पद्धति पर कही न जाकर उसी एक सीधी लकीर पर चलने वाली पद्धति पर कही जाती तो वह कितना न कुछ खो देती। इस पद्धति को आज का औपन्यासिक जाने या अनजाने रूप से अपनाता चला जा रहा है। अंग्रेजी में हेनरी जेम्स तथा मेरिडिथ इत्यादि की रचनाओं को इस पद्धति का पूर्ण अवलम्ब मिला है। जो हो, आज का उपन्यास, समय के उत्पीड़न, यथेच्छाचार, अत्याचार (tyranny) के निगड रज्जु-पाश से आज बहुत-कुछ मुक्त है, जिसने उसके प्राणों को निकालकर सुन्दर जापानी मुनुआ बना डाला था। हिन्दी के एक उपन्यासकार हैं नरोतमप्रसाद नागर, उन्होंने अपने उपन्यास में 'दिन के तारे' (यही उपन्यास का नाम है) उगा दिए हैं। इसमें भी यद्यपि उपन्यास के प्रधान कथा भाग की अवधि का उल्लेख नहीं किया गया है। पर यह अवश्य है कि यहाँ पर भी उपन्यास का कलेवर इस पूर्व-दीप्ति (flash back) द्वारा पुष्ट हुआ है। शशि, शान्ति या आशा की कथा सीधी न प्राप्त होकर, अपनी स्वतन्त्र सत्ता की घोषणा न करती हुई मुख्य कथा की गोद में ही फलती-फूलती दिखलाई गई है, अतः खटकती नहीं। उसी प्रकार जिस प्रकार कि माँ की गोद में चिपके बालक का पार्थक्य बहुत-कुछ माँ के साथ घुलकर तदाकार-सा ही दीख पड़ता है।

नूतन ढंग के उपन्यासों में भी अतीत की घटनाओं का महत्त्व नहीं है। कथा की अवधि भले ही छोटी हो, एक घण्टे की या एक दिन की। पर इस छोटी-सी अवधि का भी महत्त्व इसी-में है कि वह अपने भूतपूर्व इतिहास की सृष्टि है, उसके वर्तमान रूप के निर्माण में इतने बड़े विशाल अतीत का हाथ है। पात्र का वर्तमान रूप, उसके मनोभाव, प्रतिक्रया, विचार, इच्छा, अनुभूति सब अतीत से सम्बद्ध हैं, अतः उनसे कोई औपन्यासिक अपना पिण्ड छुड़ा नहीं सकता, उनको स्थान देना ही होगा। हाँ, ऐसे उपन्यासों में वे अतीत की घटनाएँ पहले के उपन्यासों की भाँति तिथिवार पुरावृत की तरह सजाकर नहीं रखी जायँगी, वे पात्रों के मन से छनकर आयँगी, पात्रों की वर्तमान स्मृति-तरंग की लहरों पर तैरती हुई आयँगी। अर्थात् वे वर्तमान होकर आयँगी उनका अतीतपन दूर हो जायगा। वे बाहर से चिपकाई चीज न होकर वर्तमान का अंग बन जायँगी। और इस ढंग से उपस्थित किये जाने के कारण, अर्थात् पात्र जो गत घटनाओं पर जीने वाला न रहकर एक परिवर्तित द्रष्टा हो गया है, एक उसकी प्रत्यभिज्ञा या मानसिक प्रतिक्रिया में निमज्जित होकर आने के कारण "काक पिक" होकर "बक मराल" हो गया है। अतीत वर्तमान से होकर वर्तमान के आलोक में पीछे मुड़कर देखा गया है, अतीत को अतीत बनाए रखकर उसके अधिकार को अक्षुण्ण रखकर आगे की ओर नहीं देखा गया है। जैसा कि प्राचीन औपन्यासिक करते आ रहे थे। वास्तव में देखा जाय तो उपन्यास-कला की प्रगतिशील मनोवैज्ञानिकता और आत्मनिष्टता ने घटनाओं को घटनाओं के रूप में नहीं रहने दिया है। वे तो अब पात्र के मनोवैज्ञानिक चित्र के आधार-मात्र रह गई हैं। जो हो, इतना अवश्य है कि जिन उपन्यासकारों ने थोड़ी भी उपन्यास-कला की आत्मनिष्ठता, अन्तर्प्रयाण (inward march) की गति को पहचाना है, उनकी वर्तमानता की छोटी लौ को अतीत के क्षेत्र में ले जाकर उद्भासित करते रहने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है।

यद्यपि इस पद्धति से उपन्यास-कला को बहुत सहायता मिली है पर आगे बढ़ने पर, इसकी शक्ति की परीक्षा होने पर इसकी सीमाएँ भी सामने आईं। यह पता चलने लगा कि जहाँ इस प्रयोग से अनेक सुविधाएँ प्राप्त हो सकीं, वहाँ उसकी ऐसी त्रुटियाँ भी दीखने लगीं, जिनका परिमार्जन आवश्यक था। इस पद्धति से उपन्यास की समग्रता में आनुपातिकता और सन्तुलन की स्वरूप-हानि होती थी। दूसरी बात यह है कि इनके द्वारा पाठकों के अन्दर अभिनयशील साक्षात् और तात्कालिकता के भाव की भ्रमोत्पत्ति में बाधा होती थी। कारण कि कथा के एक बृहदंश का चित्रण इस ढंग से होता था, मानो वे हो गए हों, वे भूत हों, निष्ठा प्रत्यय (क्त, क्तवतु) का विषय हों, परन्तु प्रधान कथा के होते हुए वर्तमान में 'भवन्' रूप में 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्ययों के विषयीभूत में उपस्थित किया जाता था। इस तरह कथा को दो देशों में पाँव रखने के कारण उसमें थोड़ा असंतुलन आ जाना स्वभाविक था।

इस दोष का कुछ-कुछ परिमार्जन चेतना-प्रवाह-पद्धति के द्वारा हुआ। पहले हमने जिसे पूर्व-दीप्ति (flash back) पद्धति कहा है उसमें यद्यपि घटनाओं को वहाँ से उठाकर मानसिक स्तर पर लाया जा सका, उसमें तीन वस्तुओं, सत्ता, इदन्ता के साथ उनके सम्बन्ध ज्ञान या स्मृति के पुट से मानव की अनुचिन्तनशीलता, भाव-प्रवण-रूपता (contemplativeness) अवश्य आई, पर अभी तक उसके भाव-प्रवण या अनुचिन्तनशील रूप के साथ उसका सक्रिय, बाह्य क्रियात्मक रूप अर्थात् वह रूप, जिसे बाहरी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के माध्यम से ही

प्रकट होने की प्रवृत्ति होती है, जो उपन्यासों के प्लाट के चौराहे पर आकर खरे बाजार अपने स्थूल प्रदर्शन का इच्छुक होता है, साथ लगा ही रहा। अरस्तू ने प्लाट को कार्य की अनुकृति कहा था, बाह्य घटनाओं का विन्यास(imitation of action.. contexture of incidents) कहा था, परन्तु इस नई पद्धति के द्वारा सारी घटनाओं को बाह्य संसार से हटाकर मानसिक संसार में बैठा दिया गया। इस कारण उनमें अधिक सूक्ष्मता आई, वे अधिक प्रभावपूर्ण हो उठीं। इसमें मानवीय चेतना की विवृति, उसकी तरलता, अनुरूपता, किसी रूप-रेखा को अपने प्रवेग से मटिया-मेट कर देने वाली आन्तरिकता, प्राणवत्ता के स्वरूप को खड़ा करना औपन्यासिक का ध्येय होता है। यही कारण है कि इस ध्येय को लेकर अग्रसर होने वाले उपन्यासों में प्लाट का बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाता है, कारण-कार्य की शृङ्खला से यह नियन्त्रित नहीं होता, आदि-मध्य-अवसान के नियमों का प्रतिबन्ध इस पर नहीं लगता, ये सब नियम और प्रतिबन्ध हैं और इनका महत्त्व भी कम नहीं हैं। पर इनका प्रभाव-क्षेत्र बाह्य जगत् है, आन्तरिक या चेतना-जगत् नहीं। जीवन को, उसके चैतन्य-प्रवाह को टुकड़ों में विभक्त करके उसे किसी व्यवस्था या प्रणाली में बाँधा नहीं जा सकता। ऐसा करना उन्हें झुठलाना है, उन के स्वरूप को नष्ट कर देना है। चेतना-प्रवाह में आदि-मध्य-अवसान-बिन्दु नहीं हो सकते। क्रिया सान्त होती है, उसका अन्त निश्चित होता है। एक बार हुई वह समाप्त हो गई, चाहे उसके प्रमाण दीर्घ-व्यापी क्यों न हों। उस पर समय का बन्धन होता है। चूँकि उसका अन्त निश्चित है उसका आदि-मध्य का भी निश्चय है, परन्तु हमारे अन्तर्जीवन की चेतना, अनुभूति, भाव, और आत्मनिष्ठ जीवन और उसके सम्बन्ध-साहचर्य (association) के प्रवाह की समाप्ति कहीं नहीं है। ऐसा नहीं होता कि उनको अनुभूति हुई और समाप्त हो गई, तरंग उठी, बुलबुले उठे और विलीन हो गए। किसी बाहरी रूप-विधान की वश्यता उन्हें स्वीकार नहीं। यदि उन पर किसी बाहरी रूप-रेखा का बन्धन है तो यह आपका दिया हुआ है, आपने अपनी सुविधा के लिए एक ऐसा रूप-प्रदान किया है जो उसका अपना नहीं है। प्लाट तो प्लाट, उन्हें शब्दों का माध्यम भी स्वीकार नहीं, वे शब्दों के बन्धन को भी स्वीकार नहीं करता। वे अनुभूतियाँ और भाव शाब्दिक नहीं, वे शब्दों के बन्धन को भी स्वीकार नहीं करते वे अनुभूतियाँ और भाव शाब्दिक नहीं, वे शाब्दिकेतर (non-verbal) भी हो सकते हैं, वे ऐसे भी हो सकते हैं कि मात्र स्पर्शनीय ही हों।

इस चेतना-प्रवाह (stream of consciousness) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विलियम जेम्स ने किया था। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकालोजी' (१८६०) में उसने लिखा था : "मस्तिष्क की प्रत्येक निश्चित मूर्ति उसमें स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवाहित होने वाले जल-प्रवाह के रंग में डूबी रहती है। इस मूर्ति को सार्थकता और महत्त्व प्रदान करने वाली वस्तु यही ज्योतिर्वलय या कह लीजिये छायावेष्टित ज्योति है, जो संरक्षक भाव से सदा उसे घेरे रहती है......चेतना अपने समस्त छोटे-छोटे टुकड़ों में कट-कर उपस्थित नहीं होती.......इसमें कहीं जोड़ नहीं, यह प्रवहामय होती है। इसे चेतना के विचार का या आत्मनिष्ठ जीवन का प्रवाह ही कहना चाहिए।" आलोचना के क्षेत्र में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग मिस डारिथी, रिचार्डसन के उपन्यास 'द पाइण्टेड रूफ़' (The Pointed Roof) १६१५ की चर्चा करते समय मिस सिनक्लेयर ने किया था। इस उपन्यास की नायिका मेरियम हडसन हैं। कथाकार की ओर से कहीं भी विश्लेषण करने, टीका-

टिप्पणी करने या व्याख्या का प्रयत्न नहीं हुआ है। मेरियम की चेतना के क्षण एक-एक करके अथवा परस्पर सम्मिलित होते हुए बहते चले जा रहे हैं। चेतना के क्षणों को खींचकर इतना बढ़ाया गया है कि वे टूटने पर आ गए हैं, भावों से प्रकंपित हो रहे हैं······कोई ड्रामा ? नहीं, किसी परिस्थिति का चित्रण नहीं, किसी दृश्य का वर्णन नहीं। वहाँ कोई घटना घटती ही नहीं। बस जीवन है, जो बहता ही चला गया है। मेरियम का चेतना-प्रवाह बस आगे प्रवाहित होता गया है। आगे चलकर जेम्स ज्वायस और विर्जीनिया वुल्फ के उपन्यासों में इस पद्धति के चरम स्वरूप का दर्शन होता है।

इन लोगों के उपन्यासों में जीवन के मानसिक आन्तरिक, जीवन-प्रवाह के संवेदक इन्द्रिय-वेदना-संस्कार के विशुद्ध रूप के चित्रण का प्रयत्न हुआ है, उन्हें किसी साम्य कल्पनात्मक बौद्धिक साँचे में, मोल्ड (mould) में, पैटर्न (pattern) में बिठाकर देखने का प्रयत्न नहीं है। स्नायु के विशुद्ध प्रकम्पन को ही पाठक के स्नायु की तरंगों में मिला देना वस्तु के उस विशुद्ध रूप को उपस्थित करना है, जिसमें वह कुछ दूसरी न बनकर अपने विशुद्ध सत्तात्मक रूप में अवस्थित रहती है। परिणाम यह होता है कि कोई समाहारक तत्त्व रह नहीं जाता, कोई अवधान केन्द्र का प्रतिबन्ध नहीं रहता, कोई व्यापक तत्त्व नहीं रहता, सबको घेर रखने वाला विजन दूर हो जाता है। अतः पहले की निरादृत, छोटी-छोटी दुबकी पड़ी रहने वाली वे उपान्त भावनाएँ प्रमुख हो उठती हैं, जिन्हें हम पहले असंगतियाँ कहकर टाल देते थे, चित्र में पड़ी हुई बेकार, फ़ालतू और निरर्थक ध्येय समझकर छूते भी नहीं थे। वे ही अब प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती हैं। यदि आप किसी सूत में छोटी ठोकरी बाँधकर अपनी उँगली से नचाएँ तो केन्द्र की केन्द्रानुगामी शक्ति उसे सदा अपनी ओर आकर्षित करती रहेगी और वह ठीकरी वृत्त बनाती हुई घूमती रहेगी। उसके अन्दर एक-सीध में भाग-भाग जाने की (to fly at a tangent) की प्रेरणा तो बार-बार उठती है, पर इस पर केन्द्र का नियन्त्रण रहता है और वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट न होकर वृत्ताकार रूप धारण करती है, जो उसका वास्तविक रूप न होकर विकृत रूप ही है। आज के उपन्यास में इस विकृताकृति की नहीं, प्रत्युत विशुद्धाकृति की माँग बढ़ रही है और इसी माँग को पूरा करने के लिए उपन्यासों ने चेतना-प्रवाह को अपनाया। हृदय की धड़कन ने, भाव-घनत्व के लययुक्त उत्थान और पतन ने, तार के प्रकंपन ने, उपन्यास-कला में स्थान पाया। उपन्यास को देखने से एक ऐसे तार की कल्पना हो आती है, जिसे छेड़ दिया गया हो और उसी की प्रकम्पन-लहरों के इर्द-गिर्द बालू के कण कुछ अव्यवस्थित रूप से एक हो गए हों। मैंने कहा अव्यवस्थित, पर यह नाप-जोखकर चलने वाली बौद्धिक दृष्टि से ही। नहीं तो उनमें अपनी आन्तरिक व्यवस्था तो है ही, चाहे वह हमारी आँखों में भले ही खटके। इस तरह की प्रवृत्ति को मनोविज्ञान का ही नहीं, आधुनिक भौतिक विज्ञान का भी समर्थन और प्रोत्साहन मिल रहा है। पूर्व का विज्ञान भौतिक विज्ञान के द्रव्यों के परमाणुओं को एक ठोस एवं साकार वस्तु समझता था, पर अब उन्हें लहरों की गति के रूप में देखता है। पहले का द्रव्य अब कुछ विद्युत्तरंग एलेक्ट्रोन और प्रोटोन का वात्याचक्र बनकर रह गया है। यही विचारधारा है जो आज की उपन्यास-कला को चेतना-प्रवाह में निमग्न हो जाने के लिए पीठ ठोक रही है। टी० डब्ल्यू० बीच (T. W. Beach) महोदय ने अपनी पुस्तक 'ट्वेंन्टिय सेन्चुरी नावेल' (Twentieth Century Novel) में बड़े ही गम्भीर और

विद्वत्तापूर्ण ढंग से यह प्रतिपादित किया है कि ज्यों-ज्यों उपन्यास-कला का विकास होता गया त्यों-त्यों उपन्यासकार की छाया उपन्यासों से दूर होती गई। पहले उपन्यासकार पद-पद पर किसी-न-किसी बहाने, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए, घटनाओं की श्रृङ्खला जोड़ने के लिए, किसी रहस्य के उद्‌घाटन करने के लिए उपन्यास के रंग-मंच पर आता-जाता रहता था। पर ज्यों-ज्यों उपन्यास-कला में प्रौढ़ता आती गई, उसमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आती गई, वह उसकी अंगुली छोड़कर बाहर आती गई और स्वयं बोलना प्रारम्भ किया। आज फिर उपन्यास-कला अनेक प्रयोगों के बाद वही कर रही है। आज का उपन्यासकार भी, विशेषतः नूतन पद्धतियों (जिनकी चर्चा हो रही है) के पालन करने वाले प्रतिशोध के साथ अपने उपन्यास में प्रवेश करता है। इतना ही नहीं, परन्तु वह हस्तक्षेप प्रवेश उसकी कला का संश्लिष्ट अंश हो गया है। आज का जागरूक औपन्यासिक अपने उपन्यास का अंश-मात्र ही नहीं, प्रत्युत् वह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश है। पर सबसे आश्चर्य की बात है कि इन नये उपन्यासकारों का हस्तक्षेप, बार-बार सामने आता ही नहीं, परन्तु धरना देकर उपन्यास में बैठे रहना विशेष खटकता नहीं। इसका कारण क्या है?

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य का तात्त्विक, वास्तविक स्वरूप क्या है? वह क्या है? उसके स्वरूप की सीमा क्या है? क्या वह स्वतन्त्र सत्ता के रूप में देखा जा सकता है? बाहर से, शेष संसार की अनेक वस्तुओं के सम्पर्क से उसमें जो निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, उसकी चेतना पर जो आघात होते रहते हैं, उससे अलग करके उसे देखा जा सकता है। वह स्वयं है या अपने सम्पर्क में आये हुए अनेक मनुष्यों के सहयोग से, उनके व्यक्तित्व के टुकड़ों से निर्मित, अतः उनको भी अपने अन्दर समाहित करके उनको भी ढोते चलने वाला व्यक्ति है? जेम्स ज्वायस, वर्जिनिया वुल्फ के उपन्यासों के स्वरूप को देखने से तथा यत्र-तत्र उनके द्वारा प्रकटित विचारों को पढ़ने से उनका स्पष्ट उत्तर मिलता है कि मनुष्य का कोई भी क्षण उसके अतीत और उसकी अनुभूतियों का पुंजीभूत रूप है। मनुष्य का प्रत्येक क्षण मानो व्यक्ति से कहता है:

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

इन औपन्यासिकों के ऐसे सैकड़ों नहीं, हजारों वचन उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे इस मत का समर्थन होता है।

अन्त में चलकर यह दृष्टिकोण इस विशुद्ध आत्मनिष्ठता (pure subjectivity) का रूप धारण कर लेता है कि संसार में सब-कुछ मनसपरक (Subjective) है अर्थात् वैसा ही है जैसा हम अनुभव करते हैं। हमारी अनुभूतियों से पृथक् वह है ही नहीं। ऐसे दृष्टिकोण के कारण उपन्यास के एक पात्र को दूसरे से पृथक् करना सम्भव नहीं, क्योंकि वह तो दूसरे को जो दीख रहा है उससे अलग है ही नहीं। द्रष्टा से दृश्य पृथक् कैसे हो सकता है? इतना ही नहीं, इसी सूत्र को पकड़कर आगे चलने पर आप पाएँगे कि उपन्यासकार से भी पात्रों को अलग करना सम्भव नहीं। उपन्यास जो कुछ है, उसकी छाया है, प्रतिबिम्ब है। भला उपन्यासकार अपनी छाया को किस तरह लाँघ सकता है? पहले के उपन्यासों में दो दुनिया साथ-साथ लगी चलती थीं—एक उपन्यास की, दूसरी उपन्यासकार की। उपन्यासकार अलग खड़ा रहता था, आँखें

खोलकर बुद्धिपूर्वक उपन्यास में प्रवाहित जीवन-लीला को दूर से देखा करता था, सारे व्यापार एक विशिष्ट रूप धारण करके दीख पड़ते थे, मनुष्य के आचरण में एक मर्यादा होती थी, जो सारी घटनाओं के कारण और कार्य की शृङ्खला में बँधी दीख पड़ती थी। उपन्यासकार कभी-कभी अपनी मनसपरक दुनिया से उपन्यास की वस्तुपरक दुनिया में आता-जाता रहता था। उसका यह आवागमन आँखों को खटकता था। एक देश का प्राणी अगर दूसरे देश में मन-माने रूप में प्रवेश करे तो वह खटकने वाली बात थी भी। परन्तु उपन्यास-कला अब मानव की गहराई में पैठ गई है, चेतना-प्रवाह पद्धति ने वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों के अन्तर को मिटा दिया है। उपन्यासकार अब दूसरे संसार का प्राणी नहीं रह गया है। यह उसका अपना संसार है। यदि वह वहाँ बराबर परिभ्रमण करता रहता है तो यह उसका अधिकार ही है। इस प्रसंग में दो आलोचकों के कुछ भाव इतने प्रमुख रूप में संगत हैं कि यहाँ की उल्लिखित बातों के मर्म को स्पष्टतापूर्वक हृदयंगम करने के लिए उन्हें उद्धृत करना ही होगा :

"मैं निवेदन कर ही चुका हूँ कि आत्मनिष्ठता आधुनिक कथा-साहित्य की विशिष्टताओं में से एक है। आजका युग संकुलता और बिखराहट का है और ऐसी अवस्था में वसी तटस्थता और यथार्थता की वस्तुनिष्ठ पक्की पकड़ दिन-दिन कठिन होती गई है। कलाकार को बाध्य होकर अपनी चेतना की गूढ़ता और रहस्यमयता की ओर झुकना पड़ता है। यही एक वास्तविकता रह जाती है, जिसके बारे में वह थोड़ा निश्चित और आश्वस्त हो सकता है नहीं तो बाहर सभी चीज़ें अस्त-व्यस्त हैं, छिन्न-भिन्न हैं,···उनके बारे में कलाकार आश्वस्त होकर कहे ही क्या? एक ही चीज़ के बारे में वह आश्वस्त है—अपनी अनुभूति का संसार और उसका ही निर्माण करेगा।"

इसी तरह के विचार एक दूसरे आलोचक ने वर्जिनिया वुल्फ के उपन्यास के बारे में प्रकट किये हैं। वह कहते हैं : "वर्जिनिया वुल्फ के पात्रों के सम्बन्ध-सूत्र अपने स्रष्टा के साथ स्पष्ट हैं। पात्र उसी की वाणी में बोलते हैं, उसी के ढंग पर सोचते हैं। लेखिका के रूप में जहाँ वह अपने उपन्यास में प्रवेश करती है तो अनधिकार चेष्टा-सी नहीं मालूम पड़ती। वहाँ रहने का उसे अधिकार है। उसके उपन्यास ऐसे हैं जिनमें लेखक भी शामिल रहता है। वह बार-बार यह प्रदर्शित करने के लिए प्रयत्नशील दिखलाई पड़ती है कि उसका प्रत्येक पात्र उसे दूसरे देखने वाले पात्रों का प्रक्षेपण-मात्र है। जहाँ लेखिका ही देखने वाली भी हो वहाँ उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि सदा पाठकों के सामने अपने अस्तित्व का प्रमाण देती रहे ताकि जब वे पात्रों का मूल्यांकन करें तो उसका भी ध्यान रखें।"

यह चेतना-प्रवाह-पद्धति का ही प्रभाव है कि आज के उपन्यासों में स्वगतोक्तिपूर्ण हृदयोद्गारों का प्राबल्य हो गया है, जिसे Interior Monologue कहते हैं। मनुष्य की आन्तरिक भाव-पद्धतियाँ बड़ी ही असंगत होती हैं, क्रमहीन होती हैं और किसी व्यावहारिक आचरण के नियन्त्रण के अभाव में वे यहाँ-वहाँ, इधर-उधर मुड़-मुड़ जाने वाली, बह-बह पड़ने वाली होती हैं। इस मानसिक प्रक्रिया को उपन्यास के ताने-बाने में बुन देने के लिए यह स्वगतोक्ति बहुत उपयोगी होती है। एक भाव या विचार अनेक असम्बद्ध और असंगत भाव-साहचर्य को उपस्थित करता है। एक विचार-प्रवाह की धारा के आगे-पीछे, अगल-बगल, ऊपर-नीचे अनेक धाराएँ न जाने कब, कहाँ

से निकल पड़ेंगी और मानव-बुद्धि को चुनौती दे जायँगी। उनको देखकर बालकों की आतिशबाजी के खेल वाली उस छोटी-सी डिबिया की याद आ जाती है- जो देखने में तो होती है छोटी ही, पर दीपशलाका का स्पर्श पाते ही मानो उसके गर्भ से न जाने कितनी ज्वालमालाएँ उफन पड़ती हैं। आजकल के उपन्यास भी वैसे ही हैं। उनकी मानसिक धारा कब किधर मुड़ जायगी, पता नहीं। उदाहरण के लिए वर्जिनिया वुल्फ़ के 'जैकब्स रूम' नामक उपन्यास की बात है। जैकब्स फ्लैंडर किसी गिरजे की सम्मिलित प्रार्थना में भाग ले रहे हैं। उन्हें वातायन में जड़े काँच के टुकड़े दिखलाई पड़े, उन्हें एक लालटेन की याद आई। उन्हें याद आया कि वे अपने बचपन में लालटेन के सामने किस तरह कीड़ों को पकड़ा करते थे और उसके बाद तो स्मृतियों और कल्पनाओं का ज्वार ही आ गया। इन साहचर्यपूर्ण स्मृतियों में तो फिर भी कुछ संगति है। जेम्स ज्वायस आदि के उपन्यासों में तो वैसी आश्चर्यजनक साहचर्य-स्मृतियाँ मिलेंगी कि यह भय होने लगता है कि कहीं हम उस युग में तो नहीं लौट रहे हैं जिसमें कथाकार (Open Sesame) के सहारे कुछ भी करके दिखा सकता था। उस युग का उपन्यासकार डिक्टेटर था। आज के भी अति-आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार भी डिक्टेटर ही हैं, पर बाहरी जगत् के नहीं, मानसिक जगत् के। उनकी राजधानी और सिंहासन बाहर नहीं, आन्तरिक गहराई में हैं। अतः उनकी डिक्टेटरी का निर्वाह हो जाता है।

चेतना-प्रवाह वाले उपन्यासों में एक और विशेषता दिखलाई पड़ती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास-कला का ध्येय यदि एक शब्द में कहा जाय तो वह है बाह्य वस्तुनिष्ठ संसार के स्थान पर मनोजगत् की प्रतिष्ठा करना। यहाँ तक कि बाह्य जगत् की स्थिति को ही अस्वीकार कर देना। पर शायद यह असम्भव है। कहा जा सकता है कि चाहे आप घटनिष्ठ ज्ञातता को मानें या देवदत्तनिष्ठ अनुव्यवसाय को, हर हालत में 'अयं घटः' इस ज्ञान में घट अर्थात् बाह्य वस्तु की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक चेतना-प्रवाह वाले उपन्यासों के अध्ययन से पता चलता है कि वे मानो इस प्रश्न का उत्तर यों देते हों : 'माना कि वस्तु से हमारा पिण्ड नहीं छूट सकता। पर एक बात तो हो सकती है ? क्या आवश्यकता है कि मानसिक जगत् में प्रतिक्रिया की अनन्त और अति सशक्त लहर उठा देने के लिए बाह्य वस्तु में भी उतना ही गौरव, उतनी ही गुरुता और महत्ता हो। क्या आवश्यकता है कि बाह्य उद्दीपन (Stimulus) और आन्तरिक प्रतिक्रिया (Response) में सानुपातिक अनुबन्ध हो ही। सम्भव है कि बाहर की बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना हमारे मस्तिष्क की ऊपरी सतह को थोड़ा सा सहलाकर ही रह जाय। पर महज एक छोटी-सी घटना हृदय के शान्त सरोवर में वैसी लहरें उठा सकती है जिसकी ध्वनि और प्रतिध्वनि जीवन-पर्यन्त गूँजती रहे। वर्जिनिया वुल्फ़ के 'वेव्स' (Waves) नामक उपन्यास में और कुछ नहीं केवल छः पात्रों की निर्जनोक्तियों तथा हृदयोद्गारों का प्रवाह ही है।

चेतना-प्रवाह वाले उपन्यास में पात्रों के अन्तर्जगत् के जिस रूप के चित्रण का प्रयत्न होता है उसकी अभिव्यक्ति के लिए साधारण भाषा उपयोगी नहीं हो सकती। रूढ़ि या परम्परा के संकेत पर प्रचलित तथा 'अमर कोष' के अर्थ को ढोने वाली भाषा हमारे दैनिक व्यवहार के लिए भले ही उपयोगी हो, मस्तिष्क के सामाजिक स्तर की विवृति के लिए काम की हो, क्योंकि उस स्तर के सारे व्यापार और हलचल शाब्दिक होते हैं, शब्द जाने-पहचाने होते हैं, रूढ़ होते हैं, सांकेतिक होते हैं। ये शब्द मानव-मस्तिष्क के वैयक्तिक स्तर के वर्णन में सक्षम कैसे हो सकते

हैं, जिसकी गहराई में भावों की निर्झरिणी की निर्बाध और शब्दातीत धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। अतः ऐसे उपन्यासों की भाषा भी दूसरी ही होनी चाहिए। एक विचारक के शब्दों में—"शेक्सपियर के सब साहित्य को एकत्र करने पर भी शब्दों की संख्या उतनी नहीं हो सकेगी कि मनुष्य के एक घण्टे की अनुभूतियों के महज़ एक लघु क्षण को अभिव्यक्त कर सके।" यही कारण है कि इन उपन्यासों की भाषा में साधारण शब्द-समूह से काम नहीं चलता, भाषा बाईं से दाहिनी ओर एक सीध में नहीं चलती, नये अभिव्यंजक ध्वनि-अनुकरणात्मक शब्दों का निर्माण किया जाता है, शब्दों को जहाँ से चाहें तोड़ दिया जाता है, एक शब्द के एक अंश को दूसरे शब्द के अंश के साथ जोड़कर विचित्र मलहम तैयार किया जाता है। कभी-कभी शब्दों को विकृत तो नहीं किया जाता पर वाक्यों से, पेराग्राफ से अथवा अध्याय से मिला दिया जाता है जिसमें कोई बौद्धिक साहचर्य तो नहीं मालूम पड़ता पर हमारे भावोन्माद की अवस्था में जो एक सूक्ष्म साहचर्य-सूत्र होता है उसे पकड़ने की कोशिश की जाती है। उदाहरण के लिए जेम्स ज्वायस की 'वर्क इन प्रोग्रेस' (Work in Progress) नामक पुस्तक से उस वाक्य की ओर संकेत किया जा सकता है जहाँ एक पात्र के सुरा के प्रभाव में आकर बातचीत करने के ढंग को यह कहकर अभिव्यक्त किया गया है कि He was talking alcohorently। यह alcohorently शब्दकोश में नहीं पाया जा सकता। परन्तु यह alcohol और coherent इन दोनों शब्दों के अंशों का सम्मिश्रण है जो तत्स्थानीय और तात्कालिक परिस्थिति को अधिक सजीव रूप में अभिव्यक्त करने वाली अभीष्ट-सिद्धि, को ध्यान में रखकर गढ़ लिया गया है। उसी पुस्तक में एक स्थान पर मक्खियों की भिनभिनाहट का वर्णन करते हुए कहा गया है कि Flies go Rotandrinking round his Scarf। इस वाक्य में Rotandrinking शब्द में कुछ भी स्पष्टता नहीं। हाँ, इसके पढ़ने से मदोन्मत्त मक्खियों का धुल-मुल चित्र उपस्थित अवश्य हो जाता है। पर ज्वायस का उद्देश्य इतना ही भर नहीं है। वह अपने पात्र की अन्तर्चेतना में प्रवेश करके वहाँ की स्थानीय स्मृतियों (Local memories) का भी चित्रण करना चाहता है। बात यह है कि वर्णित पात्र डबलिन का रहने वाला था और जिस अश्व-प्रतियोगिता का वर्णन हो रहा है उसका मैदान Ratanda नामक स्थान में था। अतः एक डबलिन-निवासी के लिए अपने परिचित स्थान के साथ बड़ी ही मधुर स्मृतियाँ गुँथी हुई हैं, इन स्थानों के नामोच्चार में ही उसके लिए एक मधुर संगीत है, पात्र के अचेतन में चिपटी हुई इसी भावना को ज्वायस आपके सामने मूर्तिमान् करना चाहता है, मानो एक मनोविश्लेषक अपनी उपयुक्त सूचनाओं द्वारा अचेतन ग्रुत्थियों को चेतन क्षेत्र में लाने का प्रयत्न कर रहा हो।

इस तरह की भाषा का प्रयोग उपन्यास की नवीन वस्तु है और यह है चेतना-प्रवाह का प्रसाद। उस चेतना-प्रवाह को तो युलिसिस के अन्तिम भाग में देखिये, जहाँ के ४२ पृष्ठों में एक ही वाक्य है, बिना किसी तरह विराम या अर्ध-विराम के, मानो कोई बरसाती नदी बड़े-बड़े पर्वतों और जंगलों को रौंदती हुई बह गई हो। यह स्वप्नों की भाषा है—वे स्वप्न, जो किसी तरह का बन्धन स्वीकार नहीं करते, मुख्यतः सांकेतिक होते हैं। हिन्दी में किसी ने चेतना-प्रवाह में अपने को इस तरह बहने नहीं दिया है और यही कारण है कि हिन्दी-उपन्यासों में भाषा इस तरह तोड़ी-मरोड़ी नहीं गई है। हाँ, जैनेन्द्र के उपन्यासों में कहीं-

कहीं पर पूरे नाम नहीं दिये गए हैं,…………अथवा ! ! अथवा…………ऐसे-ऐसे चिह्नों का प्रयोग अवश्य किया गया है। कभी-कभी उन्होंने समन्दर-मन्दर, इन्ने-विन्ने, ऐसे-ऐसे व्याकरण-विरुद्ध शब्दों का भी प्रयोग किया है। पर जेम्स ज्वायस के ऊँट को निगल जाने वाला पाठक जैनेन्द्र के मच्छर से घबराने वाला थोड़े ही है ! ए० ए० मेंडिलो (A. A. Mendilow) ने लिखा है : "ये भाषा के ढाँचे को छिन्न-भिन्न करके उसमें सुधार करते हैं। इनकी भाषा में आवृत्तियाँ होती हैं, वह वक्रगति से चलती है अनेक शब्दों के अंशों को जोड़कर एक नूतन शब्द गढ़ लिया जाता है, नये सिक्के प्रचलित किये जाते हैं, अपूर्ण प्रसंगों की ओर संकेत-मात्र कर दिया जाता है, भाव-प्रवण शब्दों और उत्तेजक चित्रों की भरमार रहती है, चाहे समाजीकृत और लोकग्राह्य शब्द-प्रतीकों के प्रयोग से प्रेषणीयता लाने में जो एक सुविधा होती है उसका कुछ अंश में बलिदान ही क्यों न करना पड़े।" मैं इसे उपन्यासों के क्षेत्र में व्यक्ति की, उसकी आत्म-निष्ठा की, उसके मनोविज्ञान की, विजय ही कहूँगा।

तीसरी पद्धति को समय-विपर्यय (Time Shift) कहा जाता है। इसी को कथा क्रमोच्छेदक पद्धति (Chronological loop-holing method) कहा जाता है। कारण कि इसमें कथा के विकास के स्वाभाविक क्रम अथवा पात्रों के चरित्र-विकास की सीधी गति को उलट-पुलटकर उपस्थित किया जाता है। पात्रों के कार्य, उनके विचार तथा उनकी भावनाओं को उस रूप में प्रकट नहीं किया जाता जिससे कि यह पता चले कि वे एक स्थान पर आकर अपने विकास-क्रम की एक मंजिल पार कर चुके, अब इतनी दूरी तय करनी रह गई है, शेष को वे पीछे छोड़ आये। उनके उपन्यास की अन्तिम पंक्ति तक पाठक यह निश्चित रूप से कहकर संतोष की साँस नहीं ले सकता कि कहानी अब इस बिन्दु तक पहुँच गई। जिस तरह सड़कों पर मील के पत्थरों से यात्री तय की हुई यात्रा की दूरी का पता पाकर आश्वस्त होता हुआ चलता है (जैसा कि पहले के उपन्यासों में होता था।) उस तरह की भावना इन उपन्यासों के पढ़ने पर नहीं होती। इस पद्धति के प्रयोग का सर्वोत्तम और स्पष्ट उदाहरण कोनार्ड के दो उपन्यासों 'लार्ड जिम' (Lord Jim) और 'चांस' (Chance) में पाया जाता है।

'लार्ड जिम' नामक उपन्यास की कथा संक्षेप में यों है : "जिम एक जहाज पर काम करने वाला नौसेना का बहादुर और कर्त्तव्यनिष्ठ सैनिक है। परिस्थितियों की विवशता में आकर उसे अपने अधिकारियों के संघर्ष में आ जाना पड़ता है। उसे विद्रोही कहकर पकड़ लिया जाता है और एक अपराधी के रूप में उसे न्यायालय की कार्यवाहियों का सामना करना पड़ता है। वह पदच्युत कर दिया जाता है, उसे अनेक प्रकार से अपमान का भाजन होना पड़ता है, पर अन्त में उसकी कर्मठता, परिश्रम और दृढ़ता सब पर विजय पाती हैं और वह अपनी खोई हुई पद-प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है।" यही कथा है, पर इसे प्रकट करने में कोनार्ड ने ऐसे कौशलों से काम लिया है जिनका यहाँ उल्लेख करना संभव नहीं। हम उसी की चर्चा करेंगे जिसका सम्बन्ध उससे है, जिसे हमने Chronological loop-holing अर्थात् 'कथा-क्रम का तोड़-मरोड़' कहा है। जिसके विद्रोही और अपराधी प्रमाणित हो जाने पर उसे कहाँ-कहाँ और किन-किन अवस्थाओं में काम करना पड़ता है, इसके वर्णन से उपन्यास आरम्भ होता है।

उसके बाद कथा मुड़ जाती है और विद्रोह के पूर्व की जिम की जीवनी की कथा कहने लगती है। चौथे अध्याय में हम न्यायालय का दृश्य देखते हैं जहाँ पर विद्रोह के मामले की जाँच हो रही है। यहीं पर मारलो नामक एक व्यक्ति से पाठकों का परिचय होता है। उसके बाद मारलो के मुख से हम विद्रोहियों की उस समय की बाह्य मुखाकृति का वर्णन पढ़ते हैं जिस समय वे सर्व प्रथम विचारार्थ न्यायालय के सामने उपस्थित हुए थे। साथ-ही-साथ एक जर्मन पोताध्यक्ष से उस झड़प का वर्णन है जो नौ-यात्रा के प्रारम्भ होने के पूर्व हो गई थी। बाद में हम न्यायालय के सामने उपस्थित होते हैं और न्यायाध्यक्ष की आत्महत्या की ओर उत्सुकता से देखने लगते हैं। तब एकाधिक अध्यायों में जिम मारलो से पोत-विद्रोह की कथा कहता है। यहीं पर उस फ्रांसीसी लेफ्टीनेण्ट के वार्तालाप की कथा है जो उसके और मारलो के बीच हुई थी...। आगे की रूप-रेखा देने की आवश्यकता नहीं। यदि कोनार्ड के अन्य दो उपन्यास 'चान्स' और 'नास्ट्रमो' को देखा जाय तो उनकी कथा का विकास इसी गड्डम-गड्ड रूप में उपस्थित होगा। इसी तरह का एक और उपन्यास अभी हाल में स्टेफेन हडसन ने लिखा है, जिसका नाम है Saga of Richard.

इस तरह के उपन्यासों में अतीत की अपरिवर्तनीय दृष्टि, स्थिर और निर्जीव सत्ता स्वीकार नहीं की जाती, समय के प्रवाह से अलग कटे पड़े हुए पत्थर के रूप में अतीत को नहीं देखा जाता। अतीत है ही नहीं। जो-कुछ है वह प्रवृद्धमान वर्तमान है, जो पूर्वापर सब जगह, सब ओर छाया हुआ है। इसमें घटनाओं को इस रूप में उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं जो वर्तमान और अतीत की पार्थक्य-भावना को दृढ़ करता रहे। ऊपर हमने वर्तमान के ताने-बाने पर अतीत के सूत के बुनने वाले उपन्यासकारों की चर्चा की है। यद्यपि उन्होंने प्रयत्न किया कि दोनों का पार्थक्य मिटे, पर उन्हें सफलता मिली ही नहीं थी। उनमें भूत और वर्तमान का सम्मेलन जनकाष्ठ न्याय की याद दिलाता था, एक वृन्तगत फलैक्य न्याय की भावना नहीं जाग्रत करता था जैसा कि कोनार्ड के ये उपन्यास करते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है जीवन के जिस सत् की सिद्धि के लिए जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वुल्फ इत्यादि औपन्यासिकों ने सतह के नीचे जाकर एकान्त साधना की, उसी अभीष्ट की उपलब्धि में कोनार्ड ने भी अपनी औपन्यासिक चित्तवृति को नियोजित किया है, पर इसके लिए उन्होंने पाताल में जाने की आवश्यकता नहीं समझी। उनके पैर इस बाह्य रण-क्षेत्र में ही जमे रहे। उन्होंने बाह्यनिष्ठता, वस्तुपरकता को ही इस तरह प्रेरित किया, इतना खींचा कि वह आत्मनिष्ठता, मनसपरकता की सीमा से आ लगी। वस्तु(आब्जैक्टिव) मनस (सब्जैक्टिव) हो गई। जेम्स ज्वायस की पद्धति दूसरी थी। वे सब्जेक्टिव को ही आब्जेक्टिव बनाकर पेश करना चाहते थे। कोनार्ड के उपन्यासों में जिस तरह कथा का स्वरूप टेढ़े-मेढ़े मार्गों से चलकर उपस्थित होता है उसे पढ़कर चित्र-निर्माण-निरत एक चित्रकार की कल्पना जाग्रत हो जाती है। कोनार्ड एक चित्रकार है। वह एक कथा-चित्र की सृष्टि कर रहा है। पाठक उसकी निर्मित क्रिया को देख रहा है। कैन्वास पर रंग की तूलिका कभी यहाँ चल जाती है, कभी वहाँ, कभी इधर, कभी उधर। उस पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं। उस पर इसका प्रतिबन्ध नहीं कि पहले सिर बने, बाद में पीठ, तब पैर। नहीं, कभी भी कोई अंग बन जा सकता है। यदि उस पर प्रतिबन्ध है तो अपनी मधुर इच्छा और प्रेरणा का। इसी तरह सारा चित्र तैयार हो जाता है।

यदुपति सहाय

अंग्रेज़ी समीक्षा : बीसवीं शताब्दी

कहा जाता है कि आलोचनात्मक और सृजनात्मक क्रियाएँ परस्पर विरोधी हैं, परन्तु इसके विरुद्ध अंग्रेजी साहित्य के महान् युग, महान् आलोचनात्मक क्रियाशीलता के युग भी रहे हैं। वस्तुतः दोनों प्रकार की प्रक्रियाओं का साहचर्य किसी भी युगान्तरकारी और मौलिक साहित्य के लिए स्वाभाविक ही है। सभी प्रकार के प्रयोगों, परम्पराओं के विस्फोट, कवि-संसार के पुन-र्नियोजन के प्रयासों के पीछे एक सीमा तक सचेत जागरूकता होती है। यह सचेत जागरूकता वास्तविक सृजनात्मक साहित्य में अंशतः ही प्रवेश कर पाती है और उसका विस्तृत और पूर्ण प्रकाश आलोचनात्मक कृतियों में ही हो सकता है। घोषणा-पत्रों और भूमिकाओं द्वारा यह काम सीधे-सीधे होता है, परन्तु आलोचना के दूसरे स्वरूपों द्वारा भी उन मान्यताओं, मानसिक, नैतिक और सौन्दर्यात्मक विश्वासों की व्याख्या आवश्यक है, जिन्होंने नई रचना को प्रेरणा दी है। चाहे आलोचक सौन्दर्य की नई अभिव्यक्तियों का अभिज्ञान करे, अथवा उनके स्वागत में पाँवड़े बिछाये, जहाँ कहीं भी महान् साहित्य का जन्म हो रहा हो, आस-पास उसका होना आवश्यक है।

वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि किसी युग की विशिष्ट एवं पृथक् प्रकृति को समझने के लिए हमें उसकी सृजनात्मक कृतियों से अधिक आलोचनात्मक उपलब्धियों के पास ही जाना चाहिए। अपनी प्रमुख सृजनात्मक सिद्धियों में, प्रत्येक युग अपने व्यक्तित्व को सार्वभौमिक मानवता, मनुष्य के सपनों, अरमानों, उल्लासों और विषादों के साथ घुला-मिला देने में प्रवृत्त होता है, किन्तु आलोचक के भीतर युग सबसे अधिक सचेत रूप से अपने को पहचानता है। और जैसे-जैसे मानवता अधिकतर आत्म-जागृति की ओर बढ़ती गई है, आलोचनात्मक प्रक्रिया ने सृजनात्मक प्रक्रिया के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया है। यहाँ तक कि पहले जहाँ कहा जाता था कि आलोचक को कवि होना चाहिए, आज अनुभव किया जाने लगा है कि कवि को आलो-चक होना चाहिए। हमारी वर्तमान विचार-धारा के अनुसार सच पूछिए तो आज आलोचना और सर्जना के बीच, विश्लेषणात्मक और समन्वयात्मक प्रक्रियाओं से अधिक का अन्तर नहीं है, जब कि पहले यह भेद कल्पना और तर्क अथवा दिव्यानुभूति और ज्ञान का-सा था। आज के युग का लेखक अपने परिज्ञान के लिए एक क्रम, या अपनी अनुभूतियों के लिए मान्यताओं की खोज करता है और उस सीमा तक एक प्रकार से वह आलोचक ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी की हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण देन यही थी; और इसका सबसे निश्चित रूप आलोचना के क्षेत्र में है। उन्नीसवीं शताब्दी की आलोचना की दो मुख्य समस्याएँ हैं ज्ञान का विस्तार और पारस्परिक क्रम तथा मान्यताओं की स्थापना। आलोचना को कोलरिज (Coleridge) की देन असामान्य और विविध है और उसके सूक्ष्म वक्तव्यों के पुञ्ज से पाठक

सदा ही चमत्कृत और हताश होते रहेंगे। परन्तु सबसे अधिक उसने नई आलोचना की अगवानी इस रूप में की कि उसने साहित्य की सीमा-रेखाओं को तोड़ डाला। उसने दर्शन की उस शाखा के, जो सौन्दर्य-शास्त्र के नाम से फलती-फूलती रही है और साहित्यिक समीक्षा के बीच सम्बन्ध को व्यक्त किया और आलोचना को ललित कलाओं के सामान्य अध्ययन का एक विभाग बनाकर स्थापित किया। अंग्रेजी समीक्षा आज जर्मन आदर्शवाद और उस समय के अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों से आगे बढ़ चुकी है, लेकिन कोलरिज ने जो सीमाओं के विस्तार का चक्र प्रारम्भ किया उसे अभी तक सफलतापूर्वक उल्टा नहीं जा सका है।

उस विस्तार की प्रकृति को मैथ्यू आर्नल्ड (Matthew Arnold) ने सेंत-ब्यूव (Sainte-Beuve) के प्रभाव में आकर और भी आधुनिक रूप दिया; उसकी आलोचना में शुद्ध दार्शनिक और तात्त्विक सिद्धान्तों का स्थान ऐतिहासिक और समाज शास्त्रीय धारणाओं ने ले लिया। सेंत-ब्यूव के लिए साहित्य रचनाओं का समूह-मात्र नहीं है, जिससे आनन्द उठाया जाय, बल्कि वह इतिहास के परिवर्तन की प्रक्रिया और ऐतिहासिक अध्ययन का एक भाग है। यह धारणा कि साहित्यिक मान्यताएँ साहित्यिक युग-सापेक्ष्य हैं, अथवा किसी युग का साहित्य मूलतः युग का लक्षण और उसकी अभिव्यक्ति है, आज हम लोगों के लिए इतनी स्वाभाविक हो गई है कि हम लोग इसके बिना सोच भी नहीं सकते। हमारे लिए यह कल्पना करना कठिन है, कि जिस सीमा तक और जैसी आत्म-चेतना हमारे भीतर आ गई है, वह कभी नहीं भी थी। आर्नल्ड के जो विक्टोरियन पूर्वाग्रह थे वे हमें आज की शताब्दी में कुछ दाकियानूसी लग सकते हैं, किन्तु उसकी पद्धति स्थायी बन गई है। उसने आलोचना का जीवन, समाज और सभ्यता की उन विशाल समस्याओं के बीच, जो तब तक साहित्य की विशिष्ट समस्याओं के पीछे-पीछे थी, कुछ इस प्रकार लाकर खड़ा कर दिया कि अब हमारे लिए वापस लौटना असम्भव है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में कला को कला के लिए सीमित करने की प्रतिक्रिया हुई, परन्तु वह साहित्य और आलोचना के भीतर नैतिक और सामाजिक जागरूकता की बाढ़ को न रोक सकी। फिर उस प्रतिक्रिया ने साहित्य में रूप-विधान और विषय-वस्तु के बीच फिर से सन्तुलन स्थापित करने का कुछ काम तो किया ही। विक्टोरियन लेखकों ने विषय-वस्तु के महत्त्व पर जोर देने में शैली और कलारूप की ओर बहुत कम ध्यान दिया। अतः वाइल्ड (Wilde) के इस विस्फोट में दूसरी पराकाष्ठा अनिवार्य ही थी—"पुस्तकें न नैतिक होती हैं, न अनैतिक; वे या तो उत्कृष्ट रचनाएँ होती हैं या निकृष्ट।" इस प्रतिक्रिया के पीछे वस्तुतः टेकनीक के महत्त्व की ओर लौट चलने की भावना उतनी नहीं थी जितनी एक प्रकार की मानसिक थकान, शून्यवादिता अथवा अकर्मण्यता; जिसे 'शताब्दी का अन्त' (fin-de-siecle) कहकर बयान किया जाता है। वह राष्ट्रीय चेतना के पतन की अभिव्यक्ति थी। आशावाद और उत्साह का स्थान छिछलेपन, हताशा एवं भाव-निरपेक्षता ने ले लिया। आलोचना के इतिहास के दृष्टि-कोण से, यह सौन्दर्यवादी आन्दोलन सिद्धान्त न होकर एक मनस्थिति-मात्र था। कम-से-कम इंग्लैण्ड में उसे फ्रान्स-जैसी कोई शक्ति या सत्ता नहीं प्राप्त हुई। फिर भी पेटर (Pater) का प्रभाव आलोचना में कुछ अधिक स्थायी है। परन्तु उसकी स्थिति वाइल्ड और अन्य व्यक्तियों से भिन्न है, यद्यपि उन्हें अक्सर एक ही भाव से तोला गया है। पेटर रूप-विधान को नहीं, बल्कि रूप-विधान और विषय-वस्तु के सम्पूर्ण तादात्म्य को श्रेष्ठ साहित्य का विशिष्ट लक्षण

मानता है, जिसे वह 'वाणी और आन्तरिक आलोक का परिष्कृत संयोजन' अथवा 'पूरी ईमानदारी के साथ कलाकार के निकटतम सत्य का परिग्रह' कहता है। उसकी पुकार ईमानदारी के लिए है और ईमानदारी वाइल्ड और दूसरों का शक्तिशाली गुण नहीं है। पेटर के सिद्धान्त की मुख्य बात यही है कि लेखक का उद्देश्य 'न जगत्, न मात्र यथार्थ, बल्कि जैसा यह सब उसे लगे' वैसा व्यक्त करना है। स्पष्ट है कि यह विद्रोह विक्टोरियन उपदेशवाद के विरुद्ध उतना नहीं है जितना यथार्थवाद और प्रकृतवाद के विकासों के विरुद्ध। यह एक प्रभाववादी विचार-धारा है, जो भाग्य के उलट-फेर के बीच होती हुई आलोचना में अब तक प्रवहमान है।

बीसवीं शताब्दी के परिवर्तित युग, उसकी नई दृष्टियों और आवश्यकताओं के साथ, आर्नल्ड के प्रभाव में भी एक अनिवार्य अन्तर आ गया है। इलियट (Eliot) का कहना है कि कोई भी पीढ़ी कला में ठीक उसी प्रकार रुचि नहीं रखती जिस प्रकार अन्य पीढ़ियों ने रखी। हर काल और हर कलाकार के लिए एक ऐसा मिश्रण आवश्यक होता है; जो जीवन की धातु को कला में ढाल सके, और प्रत्येक पीढ़ी दूसरों की अपेक्षा अपने ही मिश्रण को अधिक पसन्द करती है। अतः हर युग का काम अपनी अलग आलोचना से ही चलेगा। परन्तु आलोचना सदा कुछ ध्रुवान्तों के बीच चक्कर काटती रही है : जैसे व्याख्या और मूल्यांकन, रूप और विषय, वस्तुपरकता और आत्मनिष्ठता और फिर सबसे विस्तृत और मूलभूत द्वन्द्व तो साहित्य और जीवन के बीच ही रहा है। रिनेसाँ (Renaissance) कालीन आलोचना में इसका स्वरूप मनोरंजन बनाम शिक्षण का है और निओ-क्लासिकल (Neo-classical) युग में कौशल बनाम स्वभाव का; रोमांटिकों (Romantics) ने इस खाई को द्रष्टा और दृश्य अथवा स्वप्न और सत्य के सम्मिलन द्वारा पाटने का प्रयास किया। परन्तु जैसे-जैसे रोमांटिक लहर उतरती गई, यह द्वन्द्व फिर आ खड़ा हुआ और आर्नल्ड तथा पेटर के दृष्टिकोणों में मूर्त हो गया।

ये दोनों दृष्टिकोण, कि साहित्य को साहित्य के अथवा किसी अन्य वस्तु के रूप में बरता जाय, कुछ परिवर्तनों के साथ, जो नये सौन्दर्य-सिद्धान्तों, मनोविज्ञान या इधर की समाज-शास्त्रीय प्रवृत्तियों के कारण आवश्यक हो गए थे, बीसवीं शताब्दी की आलोचना में परिलक्षित होते हैं। परन्तु इस शताब्दी के तृतीय दशक के आस-पास तक, इनकी पुनरावृत्ति के पूर्व, अंग्रेजी समालोचना की कोई निश्चित दिशा नहीं जान पड़ती। इस शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेजी कविता की तरह आलोचना की भी दशा है, जिसमें प्रखरता या किसी प्रबल अन्तर्वेग अथवा दृढ़ धारणा का अभाव है। शताब्दी के प्रारम्भ में न किसी समालोचक, न किसी आलोचना-निकाय को ही प्रबल कहा जा सकता है। मैथ्यू आर्नल्ड और पेटर दोनों ही के प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों और विविध वेशों में काम करते दिखाई पड़ते हैं। आर्नल्ड की समालोचना में अन्तर्निहित नैतिक आग्रह के विरुद्ध 'कला कला के लिए' वाली प्रतिक्रिया का न तो विस्तार ही हुआ और न उसकी स्पष्ट रूपरेखा ही स्थापित हुई। साधारणतः समालोचकगण उदार, सुविधानुसार गुणदर्शी और सतह पर ही विचरने वाले रहे। सेन्ट्सबरी (Saintsbury) जैसे समालोचक को इस उदारतापूर्ण सिद्धान्तहीनता से अलग करना कठिन ही है। परन्तु इस समालोचना में एक अच्छी बात थी। उसके पास एक उत्साह, परिष्कृत रुचि और अत्यन्त विषम रचनाओं का भी आनन्द उठाने की क्षमता थी। इन आलोचकों की पद्धति कुछ तो प्रभाववादी और कुछ पांडित्यपूर्ण थी; किसी कृति या कृतिकार की समीक्षा में समालोचक की अपनी प्रति-

क्रिया का अच्छा-खासा वर्णन होता था; कुछ कृति के संघटन को प्रदर्शित करने का प्रयास; और कुछ कृतिकार के जीवन, अभ्यास और दृष्टिकोण के सम्बन्ध में सूचनाएँ हुआ करती थीं।

गम्भीर समालोचना के क्षेत्र में यह विद्वत्तावादी परम्परा ही सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। सेन्ट्सबरी की उदार वाचालता, एडमण्ड गॉस Edmund Goss) के छुट-पुट जीवन-चरित और प्रभाववादी बातचीत, एडवर्ड डाउडन (Edward Dowden) के ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आविष्कार, सिडनी कालविन (Sydney Colvin) का जीवनी-समीक्षा एवं सम्पादन-सम्बन्धी कार्य, ए० सी० ब्रैडले (A. C. Bradley) का कोलरिज की शैली में चिन्तनपूर्ण अध्ययन, सी० एच० हरफर्ड (C. H. Herford) की स्पष्ट किन्तु अगूढ़ कृतियाँ, जे० डब्ल्यू० मैकेल (J. W. Mackail) की मननशील सौन्दर्यात्मकता, ऐण्ड्रू लैङ्ग (Andrew Lang) की मानव-शास्त्रीय और ऐतिहासिक समालोचना, ये सब शताब्दी के मोड़ पर अंग्रेजी समालोचना की सम्पन्नता और साथ ही विविधता की द्योतक हैं। अभी भी विद्वान् लोगों की धारणा थी कि आलोचक के रूप में उनका भी कुछ काम है। विद्वानों और समालोचकों के कार्यों का विशिष्टीकरण उस सीमा तक इंग्लैण्ड में कभी नहीं हुआ जहाँ तक अमरीका और जर्मनी में। सभी विद्वान् आलोचकों की रुचि की प्रवृत्ति रूढ़िवादी ही रही; उनका अधिक ध्यान उन्हीं रचनाओं की ओर था जो काल की कसौटी पर खरी उतर चुकी थीं और उनकी सूक्ष्म पैठ और उदारता का उतना अधिक प्रसाद समकालीन साहित्य को नहीं प्राप्त हुआ। आर्थर सिमन्स (Arthur Symons) को छोड़कर, जो सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के अतिवादियों में से अकेला ही बच रहा था, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के अध्येता आलोचक-गण आर्नल्ड और पेटर के सम्मिलित प्रभाव में ही काम करते रहे।

अमरीका के नव मानवतावादियों ने पेटर के विचारों को फिर से ढालकर, एक नये वेश और परोक्ष रूप में फिर से ला खड़ा किया। टी० एस० इलियट (T. S. Eliot) ने इरविंग बैबिट (Irving Babbit) से इस दृष्टिकोण को ग्रहण किया कि व्यक्तित्व-सम्बन्धी रोमाण्टिक सिद्धान्त में एक अनिवार्य उच्छृङ्खलता विद्यमान है। इस प्रकार प्रभाववाद, आत्मनिष्ठा और सम्पूर्ण व्यक्तिवादी परम्परा के विरुद्ध आधुनिक साहित्य की प्रतिक्रिया का अभियान प्रारम्भ हो गया। चक्र एक बार फिर घूमकर संयम, संस्कार और निर्वैयक्तिकता पर आ पहुँचा।

इलियट के समीक्षात्मक सिद्धान्तों के साधारण आधारों का वर्णन उनके "ट्रैडिशन एण्ड दी इण्डिविजुअल टैलेण्ट" (Tradition and the individual talent) नामक निबन्ध में हुआ है। इसमें वह "किसी कवि की प्रशंसा करते समय उसकी कृतियों के उन पहलुओं पर जोर देने की प्रवृत्ति" की निन्दा करता है "जिनमें वह औरों से कम-से-कम मेल खाता है। कृतियों के इन्हीं पहलुओं या अंशों में हम वे कुछ पाने की कल्पना करते हैं जो कलाकार के बिलकुल अपने हैं, जो उसके विशिष्ट तत्त्व हैं। बड़े सन्तोष के साथ हम पूर्वगामियों से कवि की भिन्नता की विवेचना करते हैं, विशेषतः निकट अतीत के अंग्रेजों से। हमारा प्रयास होता है कि कुछ ऐसा पा जायँ जिसका हम अलग करके रस ले सकें, जब कि यदि हम किसी कवि के पास बिना इस पूर्वाग्रह के जायँ तो हम पाएँगे कि उसकी रचना का सबसे सुन्दर ही नहीं, बल्कि सबसे व्यक्तिगत भाग वही है जिसमें विगत कवि, तथा पूर्वज अपनी अमरता को सबसे शक्तिशाली ढंग से प्रतिष्ठित करते हैं।" इसके आगे इलियट

कहता है कि "किसी कवि को अपने मन में केवल अपनी ही पीढ़ी को लेकर नहीं बल्कि इस भावना के साथ" सृजन करना चाहिए कि "होमर से लेकर आज तक यूरोप का सारा साहित्य, और उसके अपने देश का सम्पूर्ण साहित्य उसके साथ-साथ जी रहा है और साथ-ही-साथ उसका विन्यास-क्रम चलता जा रहा है...कलाकार की प्रगति एक निरन्तर आत्मोत्सर्ग है, व्यक्तित्व का अनवरत अवसान है।" अतः इलियट के निकट कवि की रोचकता उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों में नहीं है और न उनका परिशीलन ही उसका काम है। उसका कहना है कि "कविता भावना की उन्मुक्तता नहीं, बल्कि भावनाओं से पलायन है। वह व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं, बल्कि व्यक्तित्व से बचना है।"

यूरोपीय संस्कृति के सामूहिक बुद्धि-स्वास्थ्य और एकरूपता को फिर से प्रतिष्ठित करने के उद्यम में इलियट इस सिद्धान्त तक पहुँचा। उसका कहना है कि यूरोपीय मानस में एक व्याकृति उत्पन्न हो गई है। शेक्सपीयर (Shakespeare) और स्पेन्सर (Spencer) तक के काल में एकजातीयता तथा बौद्धिक एवं नैतिक चेतना की समन्विति परिलक्षित होती है। ड्राइडेन (Dryden) के काल से विघटन प्रारम्भ हो जाता है और कविता समूचे राष्ट्र-मानस की अभिव्यक्ति नहीं रह जाती है। रोमाण्टिकों के समय से एक व्यापक पतन होने लगता है, जो पूरी गति के साथ अब तक चला जा रहा है। इस अधोगति के उसने कई कारण सुझाए हैं। उसके अनुसार अन्ततोगत्वा यह पतन सम्भवतः अर्थ-व्यवस्था और यन्त्रों के उलझाव पर ही आधारित है। लेकिन उसका सबसे अधिक बल इस कारण अथवा लक्षण पर है कि कवि ने दर्शन और धर्म का कर्तव्य भी अपने ऊपर आरोपित कर लिया है। विशेषतः इसका अपराधी रोमाण्टिक युग रहा है कि व्यक्तिगत कवि-दृष्टि के आधार पर दर्शन खड़ा किया जाय। आज का सबसे बड़ा कुफ्र यही है। व्यक्तित्व के इस भ्रामक महत्त्व के निरोध का उपाय यही है कि यूरोपीय मानस की एकरूपता पुनः प्रतिष्ठित की जाय। इस उद्देश्य के अनुसार कवियों और लेखकों को अपने धर्म और दर्शन की व्याख्या करना छोड़ देना चाहिए।

इलियट की दृष्टि में विरोधाभास यही है कि कवि बात तो अपनी तरह करे, लेकिन अपनी तरह सोचे नहीं। इसी कारण अंग्रेजी कविता पर इलियट का प्रभाव कुछ यों पड़ा है कि एक अनुदार आत्मालोचना घर करती जा रही है; संशयों और संयमों द्वारा ठण्डे होते हुए उत्साह का एक दबाव विद्यमान है। एक विशेष तापमान के नीचे उतरकर प्रेरणा का जीवित रहना सम्भव नहीं है और इलियट ने कुछ ऐसा पाला मारा है कि उसकी और उसके अनुचरों की रचनाएँ बहुत कम हो गई हैं।

इलियट के इस अनोखे आत्म-विरोध का स्रोत टी० ई० हुल्म (T. E. Hulme) में है। हुल्म ने अपनी कृतियों की मात्रा और गूढ़ता की तुलना में कहीं अधिक प्रभाव समीक्षा की विचारधारा पर डाला है। उसने संयम, निर्वैयक्तिकता और कल्पना की तीखी शुष्कता का प्रतिपादन किया। उसने रूसो (Rousseau) की धारणा का खण्डन किया कि मनुष्य मूलतः सत्स्वभाव वाला है। उसकी प्रतिज्ञा है कि प्राथमिक पाप (original sin) में विश्वास किये बिना किसी महान् साहित्य का सृजन नहीं हो सकता। उसने प्रगति के विश्वास पर तथा समस्त आधुनिक 'प्राणवान्' कला पर चोट की और कहा कि बाइज़ेण्टाइन (Byzantine) की सूक्ष्म ज्यामितिक विशेषताएँ-मात्र ही अनुकरणीय हैं। उसने 'जीवन के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण' के

पक्ष में 'मानववादी दृष्टिकोण' को अस्वीकार कर दिया। ह्यूम के सामान्य दृष्टिकोण ने इलियट को काफी प्रभावित किया तथा उसके द्वारा प्रतिपादित शिल्प-नियमों एवं पंगु, शुष्क और स्पष्ट बिम्बों के प्रति आग्रह ने बिम्बवादी कवियों और आलोचकों को।

इलियट की आलोचना में सबसे रोचक बात यह है कि उसने 'कविता की निष्ठा' को 'एक ऊँची कोटि के आनन्द-लाभ' के रूप में सिद्ध करने का साहसपूर्ण उद्योग किया है, जब कि उसका सारा दृष्टिकोण गहन धार्मिक है। वस्तुतः इलियट में एक प्रकार से आर्नल्ड के उस संकटमय विकल्प की पुनरावृत्ति हुई है कि कविता से धार्मिक आश्वासन की उपेक्षा की जाय। वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) के विषय में लिखते समय आर्नल्ड ने कहा था : "कविता ही सत्य है, दर्शन मरीचिका-मात्र!" और उसके बाद उसने बढ़कर शैली को 'विषय-वस्तु के अभाव' के कारण फटकारा भी। इलियट के सामने इतना स्पष्ट है कि कविता क्या नहीं है। वह कहता है, "निस्सन्देह कविता नैतिक आचार का प्रतिपादन नहीं है और न राजनीति का निर्देश है, और न ही धर्म का कोई समवाय ही है।" फिर कुछ हिचकते हुए, तर्कपूर्णता से अधिक ईमानदारी से प्रेरित होकर वह आगे जोड़ता है, "साथ-ही-साथ कविता का कोई-न-कोई सम्बन्ध नैतिकता ही क्या, राजनीति से भी अवश्य है, यद्यपि हम कह नहीं सकते कि क्या है।" यह वही दोनों हाथ लड्डू प्राप्त करने की विधि है जिसका आर्नल्ड को विशेष अभ्यास है। फिर भी, इलियट अपनी स्थिति आगे चलकर स्पष्ट करता है, "अगर प्रश्न यह हो कि मुझे शेक्सपीयर की अपेक्षा दान्ते (Dante) की कविता क्यों रुचती है तो मैं कहूँगा कि उसमें जीवन-रहस्य के प्रति एक अधिक स्थिर प्रज्ञा का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।" शेक्सपीयर हमारे सामने जीवन-रहस्य की समस्या का कोई समाधान नहीं रखता। वह जीवन की समस्या को उसके अत्यन्त आग्रहपूर्ण रूप में प्रस्तुत कर देता है और फिर हमें अपने अनुभवों के सहारे छोड़ देता है। इसके विपरीत दान्ते के पास अक्वीनास (Aquinas) की प्रणाली का सम्बल था, मध्य युग के सम्पूर्ण नियमित और स्थिर जगत् का सहारा था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थिर-बुद्धि और ऐक्य, विज्ञान-पूर्व युग की पूँजी थी और उसकी पुनर्प्राप्ति एक स्थिर परम्परा की अनुभूति द्वारा ही हो सकती है जिसकी जड़ें अतीत में जमी हों और जो आज की वास्तविकता से विच्छिन्न हो।

आलोचना की इस द्विविधा का एक अन्य प्रधान उदाहरण हमें आई० ए० रिचार्ड्स (I.A.Richards) में मिलता है। उसकी पद्धति तो वैज्ञानिक है परन्तु उसका साध्य एक प्रकार की आध्यात्मिक संस्कृति है, जिसके विनाश की आशंका विज्ञान से है। मनोविज्ञान और अर्थ-विज्ञान (Semantics) के प्रयोग द्वारा रिचार्ड्स ने साहित्यिक मूल्यांकन की अनिश्चयात्मकता को कम करने का प्रयास किया। अस्पष्ट प्रभाववाद के विरोध में उसने साहित्यालोचन को एक निश्चित विज्ञान बना डाला। उसने प्रत्येक शब्द के कार्य और साहित्यिक कृति में शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध, दोनों का अनुशीलन किया और समीक्षात्मक विश्लेषण का एक उपकरण प्रस्तुत किया। लेकिन इलियट की ही भाँति रिचार्ड्स भी कुछ उसी प्रकार के विरोधाभासों में उस समय फँस जाता है जब वह सन्तोषप्रद साहित्यिक मूल्यों का सिद्धान्त निर्धारित करने की चेष्टा करता है। रिचार्ड्स के अनुसार मूल्यों के एक सामान्य सिद्धान्त की स्थापना आवश्यक है, "इसलिए कि आलोचक को प्रतिष्ठित किया जा सके, स्थापित मान्यताओं की टाल्स्टाय -

के-से आक्रमणों से रक्षा की जा सके, इन आदर्शों और जन-रुचि के बीच खाई को पाटा जा सके और शुद्धिवादियों और संस्कार-च्युत लोगों की परुष आचार-नीति से कलाओं को बचाया जा सके। एक ऐसे सामान्य मूल्यों के सिद्धान्त की आवश्यकता है जो इन वक्तव्यों को कि 'यह अच्छा है, वह बुरा है' अस्पष्ट या मनमाना बनाकर ही न छोड़ दे।" रिचार्ड्स ने मानस-वृत्ति के पक्ष में नैतिक आचार का परित्याग किया और कहा कि जो-कुछ भी हमारी स्वाभाविक एषणा (appetancy) अर्थात् एक प्रकार की अचेतन अभिलाषा को तृप्त करता है, वह मूल्यवान् है और जितनी अधिक स्वाभाविक एषणाओं की तृप्ति उसके द्वारा होगी, उतना ही वह अधिक मूल्यवान् होगा। प्रत्येक अनुभव अपने में शिव होता है और उसके अनुसरण के लिए किसी हेतु की आवश्यकता नहीं है। अतः अधिकतम शिव की उपलब्धि के लिए, नैतिकता का समस्त अमनोवैज्ञानिक कल्पनाओं से मुक्त किया जाना और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ बदलना आवश्यक है। रिचार्ड्स की इस दृष्टि को एक प्रकार की प्राकृतिक नैतिकता कहा जा सकता है, क्योंकि कोई भी बँधी-बँधाई आचार-परिपाटी ही आज या कल अवश्य ही हमारी आकांक्षाओं में व्याघात उत्पन्न कर देगी। धार्मिक अथवा नैतिक प्रमाणों को उखाड़ फेंकने के पश्चात् मूल्यों का यह समस्त सिद्धान्त-कुल इस प्रश्न पर ही केन्द्रित हो जाता है कि मानस की सर्वाधिक मूल्यवान् कौनसी वृत्तियाँ हैं। यहीं पर कविता का प्रवेश होता है, क्योंकि कलाकार ही एक ऐसा व्यक्ति है जिससे हमें मूल्यवान् अनुभूतियाँ प्राप्त होने की सबसे अधिक सम्भावना है; वह एक ऐसा बिन्दु है जहाँ मानस की परिपक्वता अपने को व्यक्त करती है। इसके अतिरिक्त कवि की अनुभूति उन आवेगों के समन्वय की अभिव्यक्ति है, जो दूसरों में अभी अस्पष्ट या द्वन्द्व-शील हैं। उसकी कला-कृति उस वस्तु का विन्यास है, जो औरों में अभी अव्यवस्थित अथवा संकुल है। वह उदाहरण है "जीवन के उत्कृष्ट निर्वाह" (Fine conduct of life) का, जिसका स्रोत उन प्रतिक्रियाओं के लालित्यपूर्ण विन्यास में है जो इतनी सूक्ष्म हैं कि साधारण नैतिक सूक्तियाँ उन्हें छू नहीं सकतीं। रुचि-विचार अथवा असंस्कृत प्रतिक्रियाएँ किसी अन्यथा प्रशंसनीय व्यक्ति में, मात्र त्रुटियों के ही समान नहीं होतीं। वस्तुतः वे मौलिक दोष हैं जिनसे अन्य दुर्गुणों का जन्म होता है।" इस प्रकार यह मूल्य-सिद्धान्त, कला को एक प्रकार का सौन्दर्यवादी धर्म बना देने का प्रयास है, जो बरबस पेटर की याद दिला देता है।

रिचार्ड्स की धारणा है कि केवल धर्म ही नहीं, सभी बँधी-बँधाई मान्यताएँ कविता की विरोधी हैं। उसके अनुसार समस्त काव्य ने यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण भावनाएँ बिना किसी विश्वास की मध्यस्थता के, जाग्रत और पुष्ट की जा सकती हैं। हमें ध्यान रखना है कि कवि जो कुछ कहता है, आवश्यक नहीं कि वह सत्य ही हो। "उसकी वाणी भावना में फूटती है" न कि तर्क अथवा दर्शन में। यह नहीं कि कवि की अर्ध-प्रतिज्ञा (Pseudo-statement) अनिवार्यतः झूठ ही हो। वह एक शब्द-विन्यास-मात्र है, जिसकी वैज्ञानिक सत्यता या असत्यता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी रिचार्ड्स शीघ्र ही इस परिणाम पर पहुँचता है कि विज्ञान हमें अपने और संसार के विषय में अधिक स्पष्ट ज्ञान देकर कविता को नष्ट करता जा रहा है। जब तक कवि एक शिशुवत् मुग्धता की स्थिति में पड़ा रह सकता था, वह अपनी कल्पना के ताने-बाने बुनने के लिए स्वतन्त्र था। लेकिन अब, जब

उसके बहुत से वक्तव्यों और निश्चित यथार्थ में टकराहट पैदा होती जाती है, उसके लिए दो ही रास्ते रह गए हैं, या तो वह जादू की दुनिया में लौट जाय या मानसिक अनुर्वरता का शिकार बने। विज्ञान ने अतीत के उस समस्त प्रतीक-कोष को ही खतरे में डाल दिया है जिससे कविता की जाली बुनी जाती थी। विज्ञान हमारे ऊपर जगत् की एक यथार्थवादी दृष्टि लादता चला जा रहा है, जो रिचार्ड्स को अपनी समस्त वैज्ञानिक प्रणाली के बावजूद, अंगीकार्य नहीं है। वह एक प्रकार के अकेलेपन, अनिश्चय और अर्थहीनता की भावना की शिकायत करता है; और उस जीवनदायी रस के लिए तड़पता है जो उसे लगता है कि 'सहसा सूख गया है।' रिचार्ड्स की ये बातें एक धार्मिक तृषा और पुराने रहस्यवादी प्रमाणों और पूर्णताओं की स्पृहा की भाँति मालूम पड़ती हैं; उसी जीवनदायी विश्वास की भाँति, जिसकी प्यास इलियट को भी तड़पाती है।

जिस समय रिचार्ड्स मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभाव में अपने 'प्रिन्सिपल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज़्म (Principles of Literary Criticism) का आयोजन कर रहा था, उक्त शास्त्र की प्रक्रिया राबर्ट ग्रेव्ज (Robert Graves) जैसे व्यक्तियों में कुछ अधिक अबाधित रूप में हो रही थी। 'काव्यात्मक निर्विवेक' (Poetic Unreason) जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा कविता और स्वप्न एवं अचेतन मन के बीच के अस्पष्ट और अनिश्चित क्षेत्र को पहले-पहल नापने का प्रयास किया गया। आलोचना का यह पहलू, जिसे हर्बर्ट रीड (Herbert Reed) ने और भी विकसित किया, अति यथार्थवाद में परिणत हुआ और समकालीन अंग्रेजी साहित्य तथा समालोचना पर उसने गम्भीर प्रभाव डाला है। फिर भी, फ्रायड के मनोविज्ञान की छाप साहित्यालोचन पर मूल्य-निर्देशन की दृष्टि से उतनी नहीं पड़ी जितनी उद्भव की दृष्टि से। इसकी चेष्टा की गई कि साहित्यिक कृतियों की व्याख्या उनके मनोवैज्ञानिक स्रोतों के संदर्भ में की जाय। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या और कृति के मूल्य में सम्बन्ध क्या है, इस पर साधारणतः प्रकाश नहीं डाला गया। वस्तुतः समालोचना का यह निकाय एक प्रकार की इतिहास-प्रणाली है, जो निर्णयात्मक नहीं है। इतिहास—अर्थात् किसी कृति को प्रेरित करने वाली परिस्थितियों की व्याख्या—के रूप में यह प्रणाली उस परम्परागत 'पृष्ठभूमि और प्रभाव' वाली शैली से केवल पद्धति में ही भिन्न है,(उद्देश्य में नहीं) जिसका प्रतिपादन उसी काल में वर्जिनिया वुल्फ (Virginia Wolf)-जैसे आलोचकों द्वारा हो रहा था। मनोविश्लेषण-शास्त्र ने साहित्यालोचन के लिए एक ही साथ चुनौती और सहारे दोनों का काम किया। निस्सन्देह इस शास्त्र ने काव्य-सृजन के उन अँधेरे क्षेत्रों को प्रकाशित करने में सहायता दी जिसकी देहरी से आगे परम्परावादी आलोचक नहीं जा सके थे। लेकिन इस नये ज्ञान ने जिस दृश्य का उद्घाटन किया वह बहुत रुचिकर नहीं था। इसीलिए रिचार्ड्स ने इसके सम्बन्ध में कहा कि "शास्त्रों और विज्ञानों में सबसे अधिक घातक शास्त्र का कार्य तो अब प्रारम्भ हो रहा है," यद्यपि स्वयं रिचार्ड्स की पद्धति का उद्गम इस शास्त्र में ही था। रिचार्ड्स की आशंका है कि हमारे विश्वासों पर मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रभाव पड़ने से एक मानसिक उच्छृङ्खलता (Mental chaos) का जन्म होगा, क्योंकि मनोविश्लेषण के उपरान्त हमारी भावनाओं और वृत्तियों के समर्थन में मात्र शारीरिक न्याय के और कुछ रह नहीं जाता। बहरहाल,इस नये विज्ञान के मोहक इन्द्र-जाल से समालोचना की रक्षा इन आशंकाओं के कारण नहीं हुई। मूल कारण यह था कि आलोचना का सम्बन्ध सदैव कृति के प्रभाव से अधिक होता है, उसके उद्गम से कम; निर्णय से अधिक, व्याख्या से

कम। मूल प्रश्न मूल्यांकन का ही है।

मनोविश्लेषण-शास्त्र का प्रभाव इस कारण भी व्यापक और स्थायी न हो सका कि उसी काल में, बराबर गहरे होते हुए राजनीतिक और आर्थिक संकट के दबाव में पड़कर, आलोचना व्यक्ति से हटकर विस्तृत सामाजिक दृष्टि की ओर बढ़ने लगी। यह विश्वास अधिक-से-अधिक बढ़ने लगा कि व्यक्ति और हमारी समूची संस्कृति का भाग्य आत्म ज्ञान पर उतना निर्भर नहीं करता जितना सामाजिक और राजनीतिक घटनाओं की दिशा पर। मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव से शक्ति-लाभ करके, समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण ने आलोचना को एक नई दिशा और आग्रह प्रदान किया। रिकवार्ड (Rickward), एडवर्ड अपवार्ड (Edward Upward) तथा राल्फ़ फ़ाक्स (Ralph Fox) जैसे कई नवोदित आलोचकों ने सामाजिक स्रोतों द्वारा साहित्य की व्याख्या करते हुए निबन्ध लिखे। लेकिन फ्रायडवादी आलोचकों की ही भाँति इन्होंने भी उद्गम की व्याख्या एवं कला-कृति के मूल्य के बीच सम्बन्ध पर कोई प्रकाश नहीं डाला। यह बात काडवेल (Caudwell) के 'इल्यूयन एण्ड रियलिटी' (Illusion and Reality) के सम्बन्ध में भी, जो साहित्य के उद्गम पर सबसे अधिक प्रभावशाली मार्क्सवादी ग्रन्थ है, पूर्णतः सत्य है।

इस पुस्तक का मुख्य प्रकरण यह है : वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में सत्य पदार्थ-जगत् का एक अंश लेकर बैठ जाता है और उसकी गति और गुण का इस प्रकार वर्णन करता है जैसे यह अंश ही सम्पूर्ण पदार्थ-जगत् हो। यह वैज्ञानिक भ्रान्ति हुई। इसी प्रकार कवि भी यथार्थ बाह्य जगत् का एक टुकड़ा चुन लेता है और उसकी गति और गुण का वर्णन इस भाँति करता है जैसे वह सम्पूर्ण संसार ही, न केवल उसकी अपनी इच्छा और कल्पना का, बल्कि समस्त मनुष्यों की इच्छा और कल्पना का है। यह काव्यात्मक भ्रान्ति है। सत्य यह है कि अपने पदार्थ-अंश और सम्पूर्ण पदार्थ-जगत् की सापेक्षता के बीच वैज्ञानिक, अपनी आंशिक अनुभूति और इच्छा एवं कल्पना के सम्पूर्ण संसार की सापेक्षता के बीच कवि, ये दोनों ही प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष के दो ध्रुवान्त हैं, जिनकी सतत परिव्याप्ति से ही जीवन-क्रम बनता है। सत्य न केवल पदार्थ है और न केवल चेतना ही। सत्य दोनों के सक्रिय द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध में निहित है। मनुष्य और प्रकृति, चेतना और पदार्थ के इस निरन्तर संयोग और वियोग के पल-पल परिवर्तित परिणाम का ही नाम सत्य है।

ज्ञान और अनुभव के इस मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर काडवेल अंग्रेजी काव्य के इतिहास को फिर से लिखता है, काव्य-तत्त्व का निराकरण करता है और भविष्य की ओर देखता है। उदाहरणतः उसके अनुसार शेक्सपीयर ने अपनी ट्रैजेडियों में उसी संघर्ष की अभिव्यंजना की है जिसे हमने आगे चलकर पूँजीवाद के लक्षण के रूप में जाना; जो स्वतन्त्रता के लिए व्यक्ति की अबाध्य लालसा और समकालीन आर्थिक संघटन की रूढ़िग्रस्त वर्जनाओं का संघर्ष है। एंगेल्स के अनुसार "अनिवार्यता का परिज्ञान ही स्वतन्त्रता है" और चूँकि रोमियो, जूलियट, मैकबेथ और ओथेलो के पास उक्त परिज्ञान नहीं था इसलिए उन्हें ट्रैजेडी का शिकार होना पड़ा।

काव्य के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए, काडवेल की स्थापना है कि कविता की अवश्यम्भावना व्यक्ति अथवा प्राकृतिक और सामूहिक अथवा सभ्य मानव के बीच होने वाले

संघर्ष पर आधारित है। काव्य का सत्य उसके वक्तव्यों में नहीं, बल्कि उस सामूहिक भावावेग में है, जिसकी अभिव्यक्ति उसमें होती है। कविता के चित्र स्वप्न-चित्रों के ही समान होते हैं, परन्तु कवि अपनी चित्रावली से भावना की अभिव्यक्ति करता है और उसे न केवल व्यक्तिगत, बल्कि सामाजिक मूल्य प्रदान करता है।

एक पक्का कम्युनिस्ट होने के नाते, काडवेल का विचार है कि महान् कला का सृजन वर्गहीन समाज में होगा। इस बीच श्रमिक वर्ग अपनी अभिव्यक्ति मध्यवर्गीय शब्दों और धारणाओं के माध्यम से करने का प्रयास कर रहा है तथा मध्यवर्गीय लेखकगण अपनी धारणाओं को श्रमिकवर्गीय व्यवहार में उतारने की चेष्टा कर रहे हैं। परिणामस्वरूप हमारे सामने है संक्रान्तिकालीन कला की यह आत्म-चैतन्यता।

फ्रायडवाद की ही भाँति मार्क्सवाद को भी इंग्लैण्ड में शक्तिशाली समर्थक मिले। परन्तु इन दोनों ने आलोचनात्मक सिद्धान्त और व्यवहार की विशाल धारा में, जिसका मुख्य सम्बल आज भी परम्परा में ही है, कुछ विविधता भरने का योगदान किया है, यद्यपि इसमें भी सन्देह नहीं कि इन दोनों वादों ने साहित्यालोचन में दो ऐसे तत्त्वों को प्रविष्ट किया है जो हमारे युग के ज्ञान और जागरूकता का स्पष्ट और मूर्तिमान प्रतिनिधित्व करते हैं। यह सत्य है कि 'विशुद्ध काव्य' का इन्द्र-जाल लगभग छिन्न-भिन्न हो गया है, परन्तु यह भी सत्य है कि अधिकांश आलोचकों ने नये समाज-शास्त्र के तन्त्र को भी नहीं माना है। अभी भी, रेटसन (Rateson) के शब्दों में साहित्यिक संदर्भ की भावना (sense of literary context) ही आलोचना की वृत्ति है। अर्थात्, अभी भी आलोचना का प्रयास यही है कि नई सामाजिक चेतना के साहित्य को अपूर्व अनुभव के रूप में ग्रहण करने वाली मान्यता के साथ समन्वित किया जाय; मूल के ज्ञान और सौरभ के सुख के बीच सामंजस्य स्थापित किया जाय। इलियट के बावजूद भी एबर क्राम्बी (Aber Crombie) और मिडलटन मरी (Middleton Murry) जैसे विशिष्ट आलोचकों में रोमाण्टिक परम्परा-प्रवाहित रही। एबर क्राम्बी ने काव्य का समाहारात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसमें अधिकतर रोमाण्टिक प्रतिज्ञाएँ सम्मिलित हैं। मिडलटन मरी में रोमाण्टिक धारा की रहस्यवादी और तत्त्ववादी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। आलोचनात्मक परम्परावाद के अन्य स्रोत भी हैं। जी॰ के॰ चेस्टर्टन (G. K. Chesterton) के साहित्य-दर्शन पर उसकी भावुकतापूर्ण नैतिक इतिहास-दृष्टि का रंग है। एफ॰ एल॰ लूकास (F. L. Lucas) ने एक 'साधारण बुद्धिवादी आलोचक' (common sense critic) के रूप में हारे हुए रोमाण्टिक आदर्शवाद पर प्रहार किया। सी॰ एस॰ लीविस (C. S. Lewis) की दृष्टि में ऐंग्लिकन मध्यम मार्ग के साथ धार्मिक आग्रह है।

विद्वतावादी आचार्य-परम्परा का भी सेण्ट्सबरी के साथ अन्त नहीं हो गया। ओलिवर एल्टन (Oliver Elton), क्विलर कूच (Quiller-Couch), एडमण्ड चैम्बर्स (Edmund Chambers) तथा हरबर्ट ग्रियर्सन (Herbert Grierson) आदि कुछ आलोचकों ने निस्सन्देह साहित्यालोचन के क्षेत्र में विद्वत्ता, गम्भीरता और व्यापक दृष्टि का उन्नयन किया है, जो अंग्रेजी आलोचना की विशेषता रही है।

इस लेख में समकालीन आलोचना के क्षेत्र में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के योग-दान का आकलन करना सम्भव नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि समीक्षात्मक विचारधारा पर

उनका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा है। नये-नये साहित्यिक निकायों के समर्थन में, अनेक पत्रों का प्रकाशन हुआ है और उनके विचारों के संघर्ष ने अधिकाधिक पाठकों को अन्वेषण और पुनर्मूल्यांकन के लिए विवश किया है। इन माध्यमों में व्यक्त आलोचना का विस्तार बहुत बड़ा है—गम्भीर विद्वत्तापूर्ण अध्ययन से लेकर मात्र साहित्यिक फतवे तक कि "इससे काम नहीं चलने का।" परन्तु पत्रिकाओं में प्रकाशित अधिकतर लेख मूल्यवान और पठनीय हैं और उनका उपयोग केवल तात्कालिक ही नहीं समझा जाना चाहिए। वस्तुतः गौरवपूर्ण ग्रन्थों की अपेक्षा इन पत्रिकाओं में ही बीसवीं शताब्दी के साहित्यालोचन को अपना स्वरूप प्राप्त हुआ है। इन्हीं पत्रिकाओं में रूढ़ियों के विरुद्ध कठिन संघर्ष हुआ है और नई आवश्यकताओं की स्पष्टतम अभिव्यक्ति हुई है। एक प्रमुख पत्रिका के शब्दों में "हमारी समझ में 'स्क्रूटिनी' का कार्य है, और वस्तुओं के साथ एक प्रभावपूर्ण 'समकालीन भावग्राह्यता' के निर्माण में सहायता पहुँचाना।" शिक्षा के प्रसार और यातायात के व्यापक साधनों के विकास के साथ, साहित्य के अध्ययन का महत्त्व बढ़ना अनिवार्य ही था। इस प्रकार न केवल साहित्यिक कृतियाँ ही, बल्कि समकालीन संस्कृति का ताना-बाना ही आज साहित्यालोचन का विषय बन गया है।

प्रस्तुत प्रश्न

आई० ए० एक्स्ट्रॉस

वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन

समाज में आज एक गहरा परिवर्तन हो रहा है और इसके फलस्वरूप स्थापित मान्यताओं को एक आघात पहुँचा है। निर्विवाद रूप से मान्य धारणाएँ, जिन पर सभ्यता आधारित थी, आज तिरस्कार का विषय बन गई हैं। अक्षुण्ण माने जाने वाले सांस्कृतिक आधार तथा पवित्र माने जाने वाले मूल्यों का अस्तित्व आज खतरे में है। हम एक नई व्यवस्था के प्रसूति कष्ट को देख रहे हैं, और बहुत सतही दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति ही कह सकते हैं कि मात्र एक आर्थिक पुनर्संगठन से हमारी सारी समस्याएँ सुलझ जायँगी। जैसा हम स्वयं देखेंगे, यह वस्तुतः मानव का आध्यात्मिक संकट है, केवल भौतिक परिस्थितियों का असन्तुलन-मात्र नहीं।

पश्चिम इस क्रान्तिकारी संकट से होकर गुजर रहा है; किन्तु हम पूर्व वाले निश्चेष्ट होकर नहीं बैठे रह सकते। हम पश्चिम की अव्यवस्था को एक तटस्थ दर्शक के दृष्टिकोण से देखने का साहस नहीं कर सकते, क्योंकि हम स्वयं भी इससे अलग नहीं हैं। चीन और कोरिया, यहाँ तक कि अगम्य तिब्बत भी इस बात के प्रमाण हैं कि हम इतिहास से अपने-आपको विलग नहीं कर सकते।

संकट का उदय

इस आधुनिक घोर अव्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व यह देख लेना उचित होगा कि हम इस स्थिति में किस प्रकार पहुँच गए। यदि हम पिछली दो शताब्दियों को देखें तो हम उन तीन विभिन्न परन्तु घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध धाराओं को पहचान सकते हैं जिन्होंने सम्मिलित होकर मानवता को क्रान्ति के उमड़ते हुए प्रवाह में खींचा। यह नहीं कि मनुष्य बाह्य शक्तियों से अनुशासित एक असहाय कठपुतली-मात्र है, क्योंकि ये आत्म-विघटन की शक्तियाँ तो स्वयं उसीने जान-बूझकर बनाई हैं। ये तीन धाराएँ थीं औद्योगिक पूँजीवाद, विज्ञान और दर्शन, और इन्हीं तीनों को मनुष्य ने खुशी-खुशी अपने-आपको समर्पित कर दिया—इस आशा में कि ये उसे उसके आदर्श मनोराज्य तक पहुँचा देंगी।

'रिनेसाँ' के भावुकतापूर्ण बारूद का विस्फोट फ्रांसीसी क्रान्ति में हुआ और एक नये विश्वास को जन्म मिला—ऐसा विश्वास जो स्वतःचालित एवं स्वतःपूर्ण मनुष्य में था। नये मनुष्य के सामाजिक आदर्श 'स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व, समानता' के नारे में व्यक्त हुए। यह फ्रांसीसी क्रान्ति का सामाजिक घोषणा-पत्र था और यह मनुष्य में आस्था पर आधारित था। यह औद्योगिक क्रान्ति की पृष्ठभूमि है।

पश्चिम में औद्योगिक पूँजीवाद, जिस रूप में यह वस्तुतः विकसित हुआ, अपने प्राकृतिक विकास के लिए एक भौतिक दर्शन की अपेक्षा रखता था। आर्थिक लाभ इसका प्रमुख उद्देश्य था और मानवीय व्यक्तित्व का बलिदान मशीन तथा भौतिक वस्तुओं के लिए किया गया। लिबरल युग का औद्योगिक पूँजीवादी मानवीय उच्चता तथा स्वातन्त्र्य श्रेय तथा सौन्दर्य-जैसे मानव-मूल्यों की चिन्ता नहीं करता था; अर्थ और शक्ति, यही दो ऐसे मूल्य थे जो उसके निकट वस्तुतः आदरणीय थे और यही मूल्य अन्ततोगत्वा उसकी सभ्यता की स्वीकृत मान्यताएँ बन गए। वह व्यक्ति जो अपने कर्मचारियों को मनुष्य की भाँति देखता था और उनकी भलाई के लिए कुछ करना चाहता था, उस आदर्शवादी के रूप में व्यंग और उपहास का भागी होता था, जो व्यापार में भी भावुकता को अक्षुण्ण रखता है। इस प्रकार के मानवीय पूँजीवादी आत्मिकता से हीन 'मुक्त प्रतियोगिता' की स्थिति में किसी भी प्रकार अवशिष्ट न रह सके। १९वीं शती के पूँजीवादियों की आत्म-सन्तुष्ट निश्चेष्टता आज हमें चौंका देती है। यद्यपि उन्होंने क्रिश्चियन धर्म के उस मिलावटी रूप को (अर्थात् प्रोटेस्टेण्ट रूप को) अपनाने का ढोंग रचा था, फिर भी उनका व्यापार निश्चित रूप से भौतिक सिद्धान्तों के आधार पर चलता था।

औद्योगिक पूँजीवाद को बुर्ज़ुवा दार्शनिकों और वैज्ञानिकों से काफ़ी सहायता मिली और वे भौतिकवाद को एक आदरणीय रूप देने में सफल भी हुए। ये दार्शनिक कांट के बुद्धिवाद तथा हीगेल के आदर्शवाद को छोड़कर, जहाँ तक अतिभौतिक तत्त्वों तथा धर्म का सम्बन्ध है, नितान्त अनीश्वरवाद की स्थिति में पहुँचे।

फ्युएरबैख ने अपनी दो पुस्तकों 'एसैन्स ऑफ़ क्रिश्चिएनिटी' तथा 'एसैन्स ऑफ़ रिलीजन' में धर्म के समस्त अतिप्राकृत तत्त्वों को नष्ट करने का प्रयत्न किया और उसका मनुष्य के उन्नयन का सिद्धान्त केवल इसीलिए आयोजित किया गया था।

विरोधी धारणाओं के बावजूद फ्युएरबैख अधार्मिक व्यक्ति नहीं था; इसके विपरीत वह मनुष्य को मूलतः एक धार्मिक प्राणी मानता था। उसने केवल अनीश्वरवादियों का वह खतरनाक प्रयोग-भर किया था, जिसमें 'अनजाने ईश्वर' का स्थान मनुष्य को दिया जाता है।

फ्युएरबैख का सिद्धान्त मार्क्स और एंगेल्स के समक्ष एक नई दृष्टि के रूप में आया, जब वे हीगेल की विचारधारा के आन्तरिक विरोधों को लेकर उलझे हुए थे। वे हीगेल के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त के प्रशंसक थे, परन्तु उसका 'परम भाव' (absolute idea) उनके लिए निरर्थक था। ऐसी स्थिति में फ्युएरबैख ने उनका मार्ग-प्रदर्शन किया। जैसा एंगेल्स कहता है, "एक ही आघात में उसने अन्तर्विरोध को चूर-चूर कर डाला और बिना किसी घुमाव-फिराव के उसने भौतिकवाद को फिर स्थानासीन कर दिया।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि फ्युएरबैख को एक भौतिकवादी के रूप में सिद्ध करना, दर्शन के विकास में मार्क्स की अपनी वैयक्तिक देन है। फिर भी यह बात महत्त्वपूर्ण है कि लेनिन ने जर्मन दर्शन, अंग्रेज़ी राजनीतिक अर्थशास्त्र

और फ्रांसीसी समाजवाद को मार्क्सीय विचारधारा के तीन स्रोत तथा तीन अंग माना है। प्रोफ़ेसर गिलसन के शब्दों में "अपनी पुस्तक, मैटीरियलिज़्म एंड एंपिरिको-क्रिटिसिज़्म' में चालीस बार से भी अधिक लेनिन अपने दर्शन में उस केन्द्रीय स्थिति को फिर-फिर स्वीकार करता है कि ह्यूम ने कांट को जन्म दिया, और फिर कांट ने मिल, मैख़, हक्सले, कोहेन, रिनौवियर, पोइनकेयर, ड्यूहेम, जेम्स और उस वाद के सारे प्रवर्त्तकों को जन्म दिया जिसे वह 'ह्यूमैन ऐगनौस्टिसिज़्म' कहकर अभिहित करता है।" १६वीं शती के बौद्धिक वातावरण में मार्क्सीय भौतिकवाद बहुत स्वच्छन्दतापूर्वक विकसित हुआ। इसका केवल यही अर्थ हो सकता है कि तत्कालीन वातावरण ही स्वयं एकदम भौतिकवादी था। दार्शनिक भौतिकवाद को विज्ञान की प्रगति से सहारा मिला और वर्तमान शताब्दी में विशुद्ध दर्शन का ह्रास जेम्स के 'बिहेवियरिज़्म', ड्यूई के 'प्रैगमैटिज़्म' तथा फ्रॉयड के 'डिटरमिनिज़्म' के साथ-साथ एक नकली विज्ञान के रूप में हो गया है।

वैज्ञानिकों ने भी औद्योगिक पूँजीवाद को सहायता दी। उनके अनुसन्धानों के फलस्वरूप पूँजीवाद के लाभ में ही वृद्धि नहीं हुई, वरन् भविष्यवक्ताओं की हठवादिता के साथ उन्होंने विज्ञान के नाम पर भौतिकवाद तथा निश्चयवाद की भी स्थापना की। इन लोगों ने वैज्ञानिक मानववाद के सिद्धान्त का प्रचार किया। इनके वैज्ञानिक मानववाद का अभिप्राय मनुष्यों की उस नई जाति से था जो युगैनिक्स विज्ञान के आधार पर पाली-पोसी गई हो, जिसको विकसित करने में हाईजीन के सिद्धान्तों का सहारा लिया गया हो, जिसका संगठन समाज-शास्त्र के नियमों के अनुसार हुआ हो, जिसकी परवरिश अर्थशास्त्र के नियमों के अनुसार हुई हो और जिसका मनोरंजन सौन्दर्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर किया गया हो। वैसे यह सब बहुत वैज्ञानिक था, परन्तु उसमें व्यक्ति की स्वतन्त्र आत्मा के लिए कोई स्थान न था। और जब मार्क्सवादियों ने इस वैज्ञानिक स्वर्ग को एक वास्तविकता के रूप में परिणत करना चाहा तो पाश्चात्य संसार इसकी अपनी धारणाओं के भयंकर परिणामों को सोचकर चकित हो गया।

यह निश्चित है कि पश्चिम में ऐसे बहुत से महान् विचारक तथा दार्शनिक थे, जिन्होंने भौतिकवाद को बुद्धि तथा मानवीय प्रकृति के निकृष्ट विश्वासघात के रूप में अमान्य ठहराया। इन महान् चिन्तकों में थे बर्गसाँ, क्लौडैल, मारिटेन, बर्ड्येव तथा अन्य बहुत से क्रिश्चियन मनीषी। पोप पद को ग्रहण करने वाले व्यक्तियों ने भी बार-बार पूँजीवाद तथा भौतिकवाद की बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया; परन्तु उनको रहस्यात्मक तथा प्रक्रियावादी ठहराकर उनका तिरस्कार किया गया। फलतः हमारी शताब्दी ने एक ऐसी सभ्यता के आश्चर्यजनक अन्तर्विरोधों को देखा, जिसकी मौलिक धारणाएँ भौतिकवादी थीं, परन्तु जिसकी कामनाएँ वस्तुतः आध्यात्मिक थीं और जो इसलिए भौतिकवाद के प्रसंग में निरर्थक एवं अप्राप्य बनी रहीं। अन्तर्विरोध की इस स्थिति में ही आधुनिक संकट का उदय होता है।

अब हम बहुत संक्षेप में इस संकट से प्रभावित कुछ क्षेत्रों का निरीक्षण करेंगे। हम यह ऊपर कह चुके हैं कि यह एक सम्पूर्ण संकट है और इसने मानव-जीवन के उस प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है, जिसके कारण स्वयं मानव-जीवन को अपने मूल्य तथा मान्यताएँ मिलती हैं। क्योंकि अन्य सारे मूल्य अन्ततोगत्वा सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के मौलिक तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं, इसलिए हम अपना विवेचन इन्हीं तीनों तत्त्वों तक सीमित रखेंगे।

संकटग्रस्त विज्ञान : सत्य का विघटन

मानस के एक उत्कृष्ट निबन्ध 'दी कंडीशन्स ऑफ़ फ्रीडम'[1] के अनुसार, "सबसे पहले भूतविज्ञानियों ने आधुनिक भौतिकवाद के अन्ध सिद्धान्तों को जन्म दिया था, जिसका कारण कदाचित् यह था कि अपने पेशे की आदतों के अनुसार वे ब्रह्माण्ड को एक विराट् मशीन समझते थे।" विज्ञान की प्रतिष्ठा और एक औद्योगिक सभ्यता के मानसिक वातावरण के कारण वैज्ञानिकों को भविष्य का द्रष्टा तथा निर्माता माना जाता था। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए आज का मनुष्य उन वैज्ञानिकों का मुँह देखता है, परन्तु उन्होंने उसको निराश कर दिया है।

विज्ञान, जो अपनी प्रकृति के अनुकूल ही, भौतिक पदार्थों के तत्त्वों और व्यवहारों के परीक्षण, गणन तथा व्यवस्थित करने तक ही सीमित है, स्वभावतः ही उन महान् सत्यों तक पहुँचने में असमर्थ है, जो मनुष्य से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, जैसे ईश्वर का अस्तित्व, मानव की प्रकृति तथा स्वातन्त्र्य, उसकी अत्यन्त गहरी महत्त्वाकांक्षाओं का अर्थ इत्यादि। परन्तु इससे भी वैज्ञानिक विचलित नहीं हुए। उन्होंने इन वस्तुतः महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को अनावश्यक कहकर एक ओर कर दिया और इनके स्थान पर वैज्ञानिक मानववाद को प्रश्रय दिया। जूलियन हक्सले, वेल्स, रसेल तथा और भी बहुतों ने इस विचारधारा का बहुत उत्साह के साथ प्रचार किया, जिस उत्साह को किसी और अच्छे काम में लगाया जा सकता था, और साधारण जनता ने विज्ञान के इन महन्तों की बात को सन्देह की दृष्टि से देखने का साहस भी नहीं किया। इन वैज्ञानिकों ने बताया कि विज्ञान ने ईश्वर की कपोल-कल्पित कथा को विनष्ट कर दिया है और साधारण जनता इस बात से प्रभावित हुई। उन्होंने यह भी कहा कि विज्ञान धर्म के विरुद्ध है, मनुष्य भौतिक तत्त्वों का एक उच्च कोटि का संघटन-मात्र है और केवल वास्तविक भौतिक पदार्थ ही है। यह सत्य का बड़ा विश्वासघात था, जिसे हमारी शताब्दी ने देखा।

पहली बार देखने पर लोगों को वैज्ञानिक मानववाद आकर्षक जान पड़ा, परन्तु शीघ्र ही उसका अमानवीय रूप उनके सम्मुख आया। इसने मनुष्य की महत्ता को नष्ट कर दिया। जैसा जूलियन हक्सले ने अपनी पुस्तक 'मैन स्टैंड्स अलोन' में स्वीकार भी किया है : "डार्विन की विचारधारा के स्वाभाविक परिणामों का सामना किया गया, जिसके अनुसार मनुष्य भी और जानवरों के समान ही है। अतः उसके वे विचार जो मानवीय जीवन तथा मानवीय आदर्शों के गहरे अर्थों से सम्बद्ध हैं, शाश्वत (अथवा विकास) के प्रकाश में विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं रखते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे एक कीटाणु अथवा केंचुए की स्थिति उपेक्षणीय हो सकती है। अवशिष्ट रहना ही विकास में सफलता की एक-मात्र कसौटी है; अतः सारी जीवित वस्तुओं का महत्त्व एक समान है।" यह एक दयनीय स्थिति है और इसीलिए मनुष्य वैज्ञानिक मानववाद से सन्तुष्ट नहीं हो सका। उसका विश्वास था कि वह विज्ञान के सम्मुख अपनी आत्मा का समर्पण करके सारे संसार का स्वामी हो सकेगा, परन्तु विज्ञान ने उसकी स्थिति को एक तुच्छ कीड़े की स्थिति से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना।

इसके अतिरिक्त विज्ञान ने मनुष्य की स्वतन्त्रता नष्ट कर दी, क्योंकि निश्चयात्मक परिस्थितियों में स्वतन्त्रता बेमानी हो जाती है। जैसा कि मार्क्स और कॉडवैल ने बार-बार कहा है, एक बूर्ज़्वा भौतिकवादी के लिए स्वतन्त्रता कोरा भ्रम है; वह केवल "आवश्यकता का अज्ञान

---

१. थॉट, अक्टूबर १७

हो सकता है जिसमें कि व्यक्ति को कार्य करना पड़ता है।" फ्रॉयड के अनुयायी निश्चयवादियों ने यह तय पाया कि मनुष्य के सारे कार्य भौतिक अथवा शारीरिक परिस्थितियों, वंशानुक्रम तथा वातावरण द्वारा निर्धारित होते हैं। वैज्ञानिक मानववाद के फलस्वरूप मनुष्य जिस दयनीय परिस्थिति को पहुँच गया है, उसका बहुत ही सशक्त वर्णन बर्ट्रेण्ड रसेल ने किया है : "मनुष्य का जीवन बहुत अल्प एवं असहाय है; उस पर और उसकी सारी जाति पर मृत्यु का धीमा परन्तु निश्चित, निर्दय और अँधेरा पंजा गिरता है। अच्छाई और बुराई को बिना देखे, तथा बिना ध्वंस की कोई चिन्ता किये हुए, सर्वशक्तिमान भौतिक तत्त्व बिना रुके हुए आगे बढ़ता रहता है। मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने मस्तिष्क को उस अपरिहार्य निर्दयता से मुक्त रखे, जो उसके बाह्य जीवन की नियामक है; और इसके साथ-ही-साथ वह उन अनिवार्य तत्त्वों का भी सामना करता रहे, जो एक क्षण के लिए उसके ज्ञान और उसकी भर्त्सना को सहन कर लेते हैं।"[1]

किसी पुराने धार्मिक गीतकार ने कहा था : "मनुष्य ऐसा क्या है जिसके लिए तू इतना चिन्तित है ? तूने तो उसे देवदूतों से ज़रा-सा ही कम बनाया है।" फिर भी यहाँ ऐसे आधुनिक हैं जिन्होंने विज्ञान (जिसका अर्थ विवेक होना चाहिए) के नाम पर मनुष्य को बुद्धि-हीन भौतिक तत्त्वों से भी नीचे गिरा दिया है। इआगो, द पिटी आफ़ इआगो ! मनुष्य के प्रति कितना विश्वासघात ! सच्चाई का कितना विकृत रूप !

विज्ञान के नाम पर मनुष्य की ऐसी गिरी हुई स्थिति के प्रसंग में, उसके क्रिया-कलापों के मूल्यों के सम्बन्ध में मार्क्सीय दृष्टिकोण वैसे काफ़ी सच नजर आता है और यही नहीं, भौतिक-वाद के सामान्य धरातल पर इसका बौद्धिक रूप से विरोध भी नहीं किया जा सकता। इसके बजाय कि जिन्दगी ऐसा कूड़ा हो जिस पर कीड़े एक-दूसरे को खा रहे हों, अच्छा है कि जिन्दगी एक नियमबद्ध मक्खी का छत्ता ही बनी रहे।

परन्तु अपने अन्धभक्तों के लिए वैज्ञानिक मानववाद के पास और भी विशेषताएँ थीं। यदि विज्ञान हमारे सम्मुख एक दयालु देवी के रूप में, मनुष्य की स्थिति को सुधारता हुआ और श्रम से बचाने वाले जरियों की संख्या बढ़ाता हुआ आता, तो कदाचित् यह पतन तथा परतन्त्रता किसी हद तक सह्य भी हो जाती और मनुष्य तब कदाचित् इस भ्रम को भी स्वीकार कर लेता कि विज्ञान के भौतिक सुखों के लिए आत्मा का हनन कोई बुरा सौदा नहीं है। परन्तु वैज्ञानिकों ने हमें अणु बम बना दिया है, इस वादे के साथ कि भविष्य में वे और भी बड़े तथा अच्छे बम दे सकेंगे; और इस प्रकार मनुष्य की दुनिया भय के विकराल सपनों से आक्रान्त हो गई है। दुरा-ग्रही भौतिकवाद पर आधारित वैज्ञानिक मानववाद इतिहास का कदाचित् सबसे बड़ा धोखा सिद्ध हुआ है। वैज्ञानिक मानववादी के विरोध में मार्क्सवादी शाइलॉक के इन शब्दों को अत्यन्त ही प्रासंगिक रूप में दुहरा सकता है : "जो दुष्टता तुम मुझे सिखा रहे हो, मैं उसे कार्यान्वित करूँगा; और तुम्हारे लिए यह और भी कठोरता के साथ होगा। हाँ, तुम्हारे निर्देशों का पालन मैं अधिक अच्छे ढंग से कर सकूँगा !"

यह हमें निष्पक्षता के साथ स्वीकार करना होगा कि वैज्ञानिकों ने अपनी भूल का अनुभव किया है, और ऊँचे दर्जे के वैज्ञानिकों ने तो जड़ भौतिकवाद की मान्यताओं को अस्वीकार भी कर

---

१. फ्री मैन्स वर्शिप

दिया है; निश्चयवादी ब्रह्माण्ड में भी उनकी आस्था नहीं रही है। हेसनबर्ग द्वारा अनिश्चयवाद के सिद्धान्त के आश्चर्यजनक आविष्कार के बाद से वैज्ञानिकों में एक नई और स्फूर्तिदायक सौम्यता आ गई है और उन्होंने भौतिक विज्ञान की सीमाओं को भी स्वीकार किया है।

अपनी पुस्तक 'दी मिस्टीरियस यूनिवर्स' में सर जेम्स जीन्स कहते हैं : "तीस वर्ष पहले हमने यह सोचा था, या अनुमान किया था कि हम एक ऐसे अन्तिम सत्य की ओर बढ़ रहे हैं, जो अपनी प्रकृति में एकदम यान्त्रिक है। यह हठात् एकत्र हुए अणुओं का ढेर-सा लगता था, जो अन्धी और निरुद्देश्य शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के साथ-साथ कुछ देर तक निरर्थक उछल-कूद करने को विवश था, और अन्ततोगत्वा इसे एक मृत संसार का भाग बनना पड़ता था'''आज तो इस धारणा में सहमति का अंश अधिक है, जो विज्ञान के भौतिक स्तर पर प्रायः एकमत हो जाता है, कि ज्ञान की धारा एक अयान्त्रिक वास्तविकता की ओर बढ़ रही है; ब्रह्माण्ड आज एक महान् विचार के रूप में अधिक लगता है बनिस्बत एक बड़ी मशीन के। मस्तिष्क आज भौतिक जगत् में हठात् योंही घुस आने वाली कोई अवांछनीय सत्ता नहीं जान पड़ता; हमें तो अब ऐसा जान पड़ता है कि मस्तिष्क ही वस्तुतः भौतिक जगत् का निर्माता तथा नियामक है।" विज्ञान का इस प्रकार जड़ भौतिकवाद और उसकी प्रक्रियाओं से विलग होना, आज हमारे लिए अत्यन्त प्रसन्नता और उत्साह का विषय है।

संसार के प्रसिद्ध भूतिविज्ञानी रॉबर्ट ए० मिल्लिकन ने अन्वेषणों की एक महत्त्वपूर्ण माला की समीक्षा करते हुए, जिसके अन्तर्गत सापेक्षिकता का सिद्धान्त और हेसनबर्ग की अनिश्चयवादी सिद्धान्त भी अन्त में आते हैं, निष्कर्ष रूप में कहा था : "फल यह है कि जड़ भौतिकवाद मृत हो चुका है। यदि हम गेलीलियो और न्यूटन की भाँति बुद्धिमान रहे होते तो इसका जन्म ही न हुआ होता।"[1]

जूलियन हक्सले ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि आधुनिक जीव-विज्ञान में भौतिक विकासवादियों के इस सिद्धान्त को प्रारंभिक तथा अवैज्ञानिक कहकर अमान्य कर दिया गया है कि मनुष्य केवल एक अत्यन्त विकसित पशु-मात्र है।[2]

हार्वर्ड के जेम्स बी० कोनेन्ट अपनी पुस्तक 'मॉडर्न साइन्स एण्ड मॉडर्न मैन' में इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वैज्ञानिक का सारा अत्याचार अब समाप्त हो चुका है और विज्ञान अब दर्शन तथा विश्वास को अपने से अलग नहीं करता, क्योंकि वैज्ञानिक अब यह बात समझ चुके हैं कि "स्वर्ग और पृथ्वी में बहुत सी ऐसी चीजें हैं जो आसानी से दृष्टिगोचर नहीं होतीं।"

इस परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए कॉडवैल की 'क्राइसिस इन फ़िज़िक्स' लगभग ३० वर्ष की देर के बाद ही प्रकाशित हुई। वह केवल एक मरे हुए घोड़े को चाबुक मार रहा था, यद्यपि चाबुक मारने में उसकी अपनी कुशलता थी।

विज्ञान के क्षेत्र में एक और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति यह है कि वैज्ञानिकों ने अपना उत्तरदायित्व मनुष्यों के रूप में अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया है। अभी तक वैज्ञानिक का आदर्श एक भावना-हीन, बेज़िम्मेदार अन्वेषण-यंत्र ही था। अनुसन्धान के क्षेत्र में वह अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का दावा करता था, परन्तु उसके परिणामों के लिए वह अपने-आपको ज़िम्मेदार नहीं समझता था।

---

१. 'टाइम', मैटर, वैल्यूज़।

२. मैन स्टैंड्स अलोन।

उसके निकट अनुसन्धान के मानवीय तथा नैतिक पक्षों का कोई मूल्य नहीं था। निश्चय ही अनुबंधित विज्ञान से समस्या का कोई हल नहीं हो सकता। जैसा कि वैज्ञानिकों की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में डी० दे रूजमैन ने बताया था कि रूस में राजकीय दखल के कारण विज्ञान की प्रगति को काफ़ी धक्का पहुँचा है—"वैज्ञानिकों को लाइसैन्को के अनुसार जीव-विज्ञान पढ़ाना पड़ता था, भाषा-विज्ञान का आदर्श स्तालिन था, और इतिहास का अध्यापन उन्हें बेरिया की होने वाली आत्मस्वीकृतियों को ध्यान में रखकर करना पड़ता था।" इस कांग्रेस के अवसर पर सभी वैज्ञानिक अपने गम्भीर उत्तरदायित्व के संबंध में एकमत थे। यदि एक बार भी मानवीय तत्त्व को प्रवेश मिल सका तो विज्ञान को एक नई दिशा मिल सकेगी, ऐसी आशा है। बुद्धि और आस्था की सेवा में निरत विज्ञान समाज के सुख में वृद्धि कर सकता है। परन्तु जब विज्ञान ही दर्शन का काम करने लगता है, और आध्यात्मिक तथा नैतिक समस्याओं के संबंध में अपने निर्णय देने लगता है, तो वह स्वयं को भी नष्ट करेगा और समाज को भी।

संकटग्रस्त कला : सौंदर्य का विघटन

जब सत्य पर आघात पहुँचता है तो सौन्दर्य और शिव भी प्रभावित नहीं रह सकते। जो भी व्यक्ति आधुनिक शिल्पकला, मूर्तिकला, संगीत, चित्रकला और साहित्य के सम्बन्ध में जानकारी रखते हैं, वे इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि आज कला के क्षेत्र में एक संकट की स्थिति है। लेनार्डो और पिकासो, माइकेल ऐन्जेलो और ऐपस्टीन, तथा तुलसीदास और सार्त्र के पारस्परिक अंतर को समझने के लिए हमारा कलासमीक्षक होना आवश्यक नहीं। प्रस्तुत निबन्ध आधुनिक कला पर नहीं है, वरन् इसमें उक्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के कारणों को जानने का प्रयत्न-भर किया गया है।

सौंदर्य को पाने की मनुष्य में नैसर्गिक प्रवृत्ति है, और उसके प्रति उसकी प्रतिक्रिया आदर-मिश्रित भय, आश्चर्य, श्रद्धा और आनन्द के रूप में प्रकट होती है। वह एक ऐसी उपस्थिति का अनुभव करता है जो उससे अधिक गम्भीर और ऊँची है। कलाकार अपने प्रातिभ-ज्ञान तथा दृष्टि के सहारे सामान्य धरातल के नीचे के स्तरों को भी देखता है। चाहे वह ब्रह्मांड हो या मानवीय नाटक, जिसे वह देख रहा है, वह जानता है कि "साधारण रूप से दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुओं की अपेक्षा और भी गहरी चीज़ें हैं, जो छिपी हुई हैं।" सत्य की भांति ही सौन्दर्य भी आध्यात्मिक जगत् से सम्बद्ध है; और सौंदर्य के मानों में अभिव्यक्त आध्यात्मिक मूल्यों के अतिरिक्त, कला और अंततोगत्वा है भी क्या? इसीलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि महान् कला-कृतियाँ, चाहे वे पूर्व की हों अथवा पश्चिम की, सदैव धर्म से प्रेरित रही हैं। चाहे प्लेटो के अनुसरण में लोगों ने सोचा हो कि भौतिक जगत् वस्तुतः शाश्वत तथा स्थायी रूपों की छाया-मात्र है, और चाहे उन्होंने उपनिषदों के द्रष्टाओं के साथ परमतत्त्व को 'वास्तविक से भी वास्तविक' माना हो और चाहे क्रिश्चियनों की परम्परा में उन्होंने विश्व को निर्माता के तेज से अवाक्, अभिभूत देखा हो, प्रत्येक स्थिति में उन्होंने ब्रह्मांड को ईश्वर के मुख पर लिपटा हुआ एक झीना, पार-दर्शक आवरण-मात्र माना है, जो अदृष्ट का बाह्य रूप है। उनके ब्रह्माण्ड के दिव्य तथा शाश्वत आयामों ने आश्चर्य तथा आदरमिश्रित भय को सम्भव ही नहीं, वरन् अपरिहार्य भी बना दिया है। अपने रूमानी कथनों में वे कदाचित् कुछ सीधे तथा मुग्ध-से लगते हैं, परन्तु उनसे प्रसूत कला उनकी आध्यात्मिक स्थिति की गहराई का भली-भांति परिचय देती है। उनके लिए ब्रह्मांड

की कुरूपता, भद्दापन तथा अकिंचनता को दिव्य शक्तियाँ ही दूर करके, उसे सौंदर्य से आवेष्टित करती हैं। अपने जड़ भौतिकवाद के साथ वैज्ञानिक मानववादियों ने अपने-आपको एक ऐसे तीन आयामों से युक्त ब्रह्मांड में बंदी पाया है, जिसमें से दिव्य तत्त्व को अलग कर दिया गया है, जिस में कोई आन्तरिक गहराई नहीं है, और जिसमें से कुरूपताएँ और बुराइयाँ न तो बहिष्कृत की जा सकी हैं, और न जिनका बहिष्कृत किया जाना सम्भव ही है। भौतिकवाद स्पष्ट ही सौंदर्य का निषेध है, क्योंकि वह मनुष्य की दृष्टि को इस ब्रह्मांड के तत्त्वों और यांत्रिक स्थिति में ही सीमित कर देता है। भौतिकवादी व्यक्ति एक कारीगर हो सकता है, कलाकार नहीं!

उद्योगवाद द्वारा प्रसूत सभ्यता सचमुच एक कुरूप वस्तु है। क्या एक औद्योगिक नगर से भी घृण्य कोई चीज हो सकती है, जिसमें लाखों श्रमिक टूटी-फूटी और घनी बसी हुई कोठरियों में रहते हैं, जिसकी चिमनियाँ धुआँ उगलकर वायु को दूषित करती रहती हैं, और जिसके शोरो-गुल का कोई अंत नहीं होता? वह औद्योगिक कुशलता को प्राप्त करने के लिए भले ही यत्न कर ले, परन्तु वह मनुष्यों को सौंदर्य से विहीन जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर देता है। इससे यह संभव हो सकता है कि अस्तित्व स्थिर रखने की कठोर प्रतियोगिता से दबे हुए, ये लाखों पिसते हुए व्यक्ति एक मूक भाग्यवाद के साथ इन भद्दी और कुरूप जिन्दगियों के सामने अपने घुटने टेक दें, परन्तु वे कलाकार जिनमें अलौकिक प्रतिभा है इस भौतिकवादी जगत् के गंदे और अमानवीय नरक के सामने आत्म-समर्पण नहीं कर सकते। इसीलिए बहुतेरे सिन्क्लेयर लुइस और आल्डेस हक्सले उस सभ्यता की अमानवीयता की भर्त्सना कर रहे हैं, जो बैबिट और मेन स्ट्रीट की स्थिति के लिए जिम्मेदार है। हाँ, उनमें हमें डिकेन्स की वह अकृत्रिम करुणा और सहानुभूति नहीं मिलती, क्योंकि उनमें डिकेन्स जैसी आस्था नहीं है।

सैवैरिनी के शब्दों में, "प्रत्येक कला-कृति विश्व के प्रति एक दृष्टिकोण को प्रकट करती है, और इसीलिए वह ज्ञान तथा चिंतन के एक ढंग की, या संक्षेप में एक दर्शन की, भी परिचायक होती है।" जैसा हम स्वयं ऊपर देख चुके हैं, भौतिकवाद दर्शन के प्रति विश्वास-घात है, और इसीलिए वह कला तथा सौंदर्य के प्रति भी विश्वासघात है। मार्क्सीय कला के कड़े यद्यपि सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन में, सैवैरिनी ने इस तथ्य को प्रकट किया है कि मार्क्सीय भौतिकवाद तथा सोवियत अनुबन्धन ने रूस की रचनात्मक कला को नष्टप्राय कर दिया है। उन्होंने उसे शासकों के प्रचार, विज्ञापन तथा प्रशंसा का माध्यम बना रखा है। रूसी कला की दयनीय स्थिति पर आन्द्रे जीद ने भी आश्चर्य प्रकट किया है। मार्क्सवादी कम-से-कम अपरि-वर्तनीय अवश्य है; एक भौतिक जगत में गणित तथा मशीन से गहरी महत्ता किसी की नहीं हो सकती। वे बूर्ज़्वा कलाकार जिनकी आलोचना कॉडवेल ने अपनी 'स्टडीज इन डाइंग कल्चर' में की है, सचमुच ही दयनीय व्यक्ति हैं। वे उन कारणों से दयनीय नहीं हैं जिनका उल्लेख कॉडवेल ने किया है, वरन् वे दयनीय इसलिए हैं क्योंकि उनके दृष्टिकोण में स्पष्टता नहीं है।

पिकासो, सैवैरिनी, दफी, प्रभाववादियों तथा अति यथार्थवादियों जैसे महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य कलाकारों के कृतित्व में एक संघर्ष तथा तनाव की स्थिति मिलती है। ये कलाकार दो तत्त्वों से बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं, जो वर्तमान संसार में अत्यन्त ही सामान्य कोटि के हैं। प्रथम तो आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में देखी गई प्रकृति, रोमांटिकवादियों की दयालु देवी नहीं रही है। प्रकृति निर्दय और भयंकर है, विकर्षक फिर भी आकर्षक। सौंदर्य उसमें है, और होना भी चाहिए।

फलतः ये कलाकार प्रकृति को काली के समान किसी रूप में देखते हैं, जिनमें सौंदर्य और कुरूपता, सौम्यता और बर्बरता, प्रेम और घृणा जैसे विरोधी तत्त्व एक साथ ही मिले हुए हैं। इस दृष्टि से देखने पर कलाकार के सौंदर्य की अभिव्यक्ति गम्भीर और प्रशान्त नहीं रह सकती; उसके अन्दर तनाव, संघर्ष और वेदना होनी ही चाहिए। मेरे मतानुसार तो आधुनिक कला में मिलने वाली घोर विकृतियों का यही अर्थ हो सकता है। दूसरे, अन्य बहुत से आधुनिकों के समान ये कलाकार भी चकित एवं भ्रांत हैं; उनकी भ्रमित और डगमगाती हुई कला उनके अन्तर के भ्रम को ही व्यक्त करती है।

मैं तो समझता हूँ कि बैलौक और ऐरिक गिल आधुनिक कला की भर्त्सना, उसे कुरूपता का सम्प्रदाय कहकर, कुछ अधिक कठोरता के साथ करते हैं। वस्तुतः यह तो ऊल जलूल और भदेस में से सौंदर्य को खोज निकालने के लिए कलाकारों का संघर्ष है। यदि मुझे एक उपमा देने का अवसर हो तो मैं तो कहूँगा कि प्राचीन शिष्ट कलाकार प्रकृति की जूलियट का प्रणय-अभिनन्दन करता हुआ एक उत्तेजित और बहुत कुछ अपरिपक्व रोमियो था, जब कि आधुनिक कलाकार अपनी डेस्डीमोना का गला घोंटते हुए उस क्रुद्ध ऑथेलो के समान है, जो उसे विश्वासघातिनी समझता है, परन्तु फिर भी जिसके लिए वह अपने हृदय की वेदना से आक्रांत होकर चीखता है (Lo, Desdemona ! dead, Desdemona ! dead ! oh !)। वह विकर्षित है, फिर भी आकर्षित है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बुराई और कुरूपताएँ आज बहुत अधिक व्याप्त हैं और इन भयानक दृश्यों से घिरे हुए कलाकार को यदि दुश्चक्र और बुराई की गंदगी और कीचड़ के नीचे पड़ी हुई ईश्वर की छवि देखनी है तो उसे अपार विश्वास और दैवी करुणा से युक्त होना पड़ेगा। इस दृष्टिकोण को आज के कुछ सचमुच महत्त्वपूर्ण लेखक हमारे सम्मुख लाए हैं, चाहे वे ईलियट क्लॉडेल, पीग्वी जैसे कवि हों अथवा ग्रीन, मौरियाक, वर्नानोज और युग की सीमाओं से रहित डॉस्टॉएव्स्की जैसे उपन्यासकार हों। उनकी विषय-वस्तु प्रायः यथार्थवादी और कहीं-कहीं कुरुचिपूर्ण भी है, उनके पात्र दुष्ट और पापी हैं, परन्तु वे फिर भी उनसे निराश नहीं होते और यही उनके कलाकार की महत्ता है। वे अपनी पिन्की, रोडियन और थेरेसा को एकदम पतित ही नहीं दिखाते हैं, वरन् उद्धार-योग्य दिखाते हैं। ओ' नील, बीद तथा सार्त्र जैसे वे मानववादी, जो केवल स्वतःपूर्ण मनुष्य और प्रकृति में विश्वास रखते हैं, अंततोगत्वा यथार्थवाद के अन्वेषक प्रकाश में निराशा की ओर ही पहुँचते हैं, जो उन्हें कुरूपता, तुच्छता, अन्याय, क्रूरता, कपट और उस साहस के दर्शन कराता है, जिनको लेकर मानव-जीवन के अन्तरतम का यह गुह्य नाटक रचा गया है। इसके विपरीत जिनकी आस्था ईश्वर में है, ऐसे ईश्वर में जो स्नेही, दयालु और उद्धारक है, वे जीवन के सम्बन्ध में अधिक यथार्थ और विश्वास की स्पष्टता के साथ चिंतन कर सकते हैं। वे मानवीय नाटक की वेदना का अनुभव करते हैं—उनसे भी अधिक गहराई के साथ जो अनीश्वरवादी हैं—फिर भी वे निराश नहीं होते। केवल वे ही मानव जीवन के सत्य और चिरंतन महत्त्व की अनुभूति कर सकते हैं। उनके दृष्टिकोण को न्यूमैन ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"आह ! कैसा वैविध्यपूर्ण, रंगीन दृश्य,
आशा और भय, विजय और दुःख,

साहस और पश्चात्ताप के साथ रहा है,
जिसके हमारे नीरस तथा जीवन-पर्यन्त संघर्ष का इतिहास बना है !
उसे शक्ति देने और आगे बढ़ाने का शौर्य,
उसकी आवश्यकता के अवसर पर कितना धैर्य, शीघ्रता और उदारता !"

कला के क्षेत्र में वर्तमान संकट का यही वास्तविक अर्थ जान पड़ता है। इसकी उत्पत्ति जीवन की समुचित दृष्टि और सत्य के अभाव से होती है, क्योंकि सौंदर्य तो अंततोगत्वा सत्य की ही शोभा है। ऐरिक गिल ने ठीक ही कहा है : "सत्य के अन्वेषण में निरत रहो, सौंदर्य अपनी चिंता आप ही कर लेगा।"

संकटग्रस्त नैतिकता : शिवम् का विघटन

जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हैं, वे नैतिकता इस बात में समझते हैं कि मुक्त तथा उत्तरदायी मनुष्य उस दिव्य नियम का अनुसरण करे, जिसका पता बुद्धि से लग सकता है या बुद्धि पर आधारित विश्वास से। अतः वे नैतिकता को परम तथा अपरिवर्तनीय मानते हैं। इसके अतिरिक्त उनके मन में अच्छाई और बुराई, उचित और अनुचित का स्पष्ट अन्तर भी विद्यमान रहता है।

जब बुद्धिवादियों ने नैतिकता का सम्बन्ध विश्वास से तोड़ दिया तो उन्होंने नैतिकता के नीचे स्थित तर्क की आधार-शिला खण्डित कर डाली और इस प्रकार उन्होंने नैतिकता को अच्छाई करने के लिए एक स्वानुभूत तथा अबौद्धिक प्रवृत्ति-मात्र ठहराया। कांट के 'कैटीगोरिक इंपैरेटिव' का यही अर्थ है। आत्मवादी नीतिशास्त्रियों के लिए नैतिकता का एक आदर्श, एक कसौटी का प्रतिष्ठित कर पाना असम्भव था। एक ओर नीत्से ने 'सुपर-मैन' की अहन्ता की स्थापना की और दूसरी ओर बेन्थम के अनुयायियों ने 'हेडनिज़्म' को प्रश्रय दिया, जिसके अनुसार वही काम करना उचित है जिससे सुख मिलता हो। पिछली शताब्दी में सबसे अधिक लोकप्रिय, यूटिलिटेरियन सम्प्रदाय ने यह माना कि व्यावहारिक उपयोगिता ही नैतिकता की कसौटी है। इसी को 'प्रैगमैटिज़्म' कहकर भी अभिहित किया गया, परन्तु वस्तुतः यह प्रच्छन्न उपयोगितावाद ही है। जैसी कि मनुष्य की प्रकृति है, उपयोगितावादी नैतिकता का पतन हुआ, और उसने एक निश्चित सिद्धान्त का रूप ले लिया : "पकड़े मत जाओ" कमज़ोरों के लिए, और "जो कुछ भी कर सको, करो" शक्तिवानों के लिए।

इसके उपरान्त सापेक्षिकतावादियों का आगमन होता है, जिन्होंने नैतिकता के क्षेत्र में भ्रम को और भी बढ़ाया। वैज्ञानिकों ने यह खोज निकाला था कि विज्ञान के प्राकृतिक नियम गणना पर आधारित हैं, सापेक्ष्य हैं और बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं। उन्होंने नैतिकता के क्षेत्र में भी उसी सापेक्षिकता के सिद्धान्त को लागू किया, और इस प्रकार उनके अनुसार औचित्य और शिवम् की भावना बदलती हुई परिस्थितियों में परिवर्तित हो सकती है। अन्ततोगत्वा नैतिक क्षेत्र में अव्यवस्था को एकदम पूर्ण करने के लिए निश्चयवादी तथा फ्रॉयड के अनुयायी आये जिन्होंने कहा कि अपराध-ग्रन्थि केवल गंदलापन है, क्योंकि मनुष्य के सारे व्यवहार अबौद्धिक तत्त्वों द्वारा अनुशासित होते हैं। उन्होंने नैतिकता को एक सामाजिक रूढ़ि से अधिक कुछ नहीं माना। इस सारे भ्रम के फलस्वरूप नैतिक उत्तरदायित्व की भावना विलीन हो गई, उचित और अनुचित, अच्छाई और बुराई का अन्तर मिट गया, तथा घोर अनैतिकता का साम्राज्य हो

गया। स्वतन्त्रता की भावना ने विकृत होकर मुक्त-भोग का रूप धारण कर लिया। हम पश्चिम और अमेरिका में प्रचलित घोर अनैतिकता की भर्त्सना सुनने के अभ्यस्त हो गए हैं, परन्तु बाहर की अनैतिकता के यही आलोचक इस बात को भुला देते हैं कि हमारे सभी विश्वविद्यालयों में हजारों छात्रों को वे ही नैतिक दर्शन पढ़ाए जा रहे हैं, जिनके कारण यह अव्यवस्था उत्पन्न हो सकी है। विचार को क्रिया से अलग नहीं किया जा सकता, नैतिकता का सम्बन्ध बुद्धि और आस्था से नहीं तोड़ा जा सकता।

इसीलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो मार्क्सवादियों ने इस 'बूर्जुवा नैतिकता' को उठाकर एक किनारे रख दिया, जो मधुर ध्वनिकारी सूत्रों में आवृत गलदश्रु भावुकता तथा उपयोगितावाद-मात्र है। मार्क्सवाद को इस बात का श्रेय अवश्य दिया जाना चाहिए कि उसने समाज को वन्य नियम के पंजे से बचा लिया और जड़ आधार से विच्छिन्न नैतिक नियमों की कमजोरी को देखा। साम्यवाद उस आधार को देने का वादा करता है। मार्क्सवादी के लिए वह कार्य उचित है जो राज्य की आर्थिक उन्नति में सहारा देता है। निश्चय ही मार्क्सवादियों की इस 'नव्य नैतिकता' के विरोध में बूर्जुवा समाज के सुखवादी, उपयोगितावादी, सापेक्ष्यवादी और निश्चयवादीवर्ग कोई बौद्धिक तर्क नहीं दे सकते। गहरी उपेक्षा के साथ मार्क्सवादी उन्हें करारा जवाब देता है : "तुम्हारी ही मान्यताओं से मैंने यह निष्कर्ष निकाला है" क्योंकि, "जो दुष्टता तुम मुझे सिखा रहे हो, मैं उसे कार्यान्वित करूँगा और तुम्हारे लिए यह और भी कठोरता के साथ होगा! हाँ, तुम्हारे निर्देशों का पालन मैं अधिक अच्छे ढंग से कर सकूँगा।" हम तब तक बुद्धिवाद और दृढ़ नैतिकता को वापस नहीं पा सकते जब तक कि हमारी आस्था ईश्वर और उसके नियम में स्थिर नहीं होती, जो परम है। हमारी आज की सबसे निकृष्ट धारणा यह है कि "जब तक मनुष्य औचित्यपूर्ण कार्य करता है तब तक इस बात की चिन्ता व्यर्थ है कि उसका विश्वास क्या है?" जैसा कि हम स्वयं देख चुके हैं "मनुष्य अपने विश्वास के अनुसार ही व्यवहार भी करता है।"

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी आन्तरिक दायित्व-भावना को पूर्णतया उद्बुद्ध करें। हम स्पष्ट घोषणा करें कि हम मनुष्य की आध्यात्मिक श्रेष्ठता और उसके आध्यात्मिक भविष्य में विश्वास करते हैं क्योंकि जीवन के उच्चतम मूल्य आध्यात्मिक हैं—सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम्। मानवता को अराजकता और विनाश से बचाने के भगीरथ प्रयास में सबसे पहले हमें सत्य की पुनर्प्रतिष्ठा करनी होगी। सत्य की प्रतिष्ठा से ही व्यक्ति और समाज दोनों में शिवम् का उदय हो सकता है। किन्तु केवल सत्य का पहचानना ही यथेष्ट नहीं है, उसे नैतिक दायित्व के रूप में ग्रहण कर कर्म में परिणत करना होगा। मानव-समाज के इस आध्यात्मिक पुनर्जागरण में 'सुन्दरम', अपने को पुनः स्थापित करेगा। जब मनुष्य एक बार फिर जीवन-शिल्प का स्वामी बन जायगा तब वह महान् कलाकृतियाँ प्रस्तुत करेगा। उसका सौन्दर्य का स्वप्न स्पष्ट होगा, उसकी कला भी अधिक गहरी और अधिक महान् होगी। इस महान् कार्य में हमें राजनीतिक नेताओं, अर्थशास्त्रियों या कोरे वैज्ञानिकों का मुँह नहीं देखना चाहिए। इस दिशा में हमें हमारे आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक चिन्तक ही आगे का पथ बता सकते हैं। इस दिशा में क्रिश्चियन सिद्धान्त और मूल्य भी महत्त्वपूर्ण हैं जो पश्चिम की आध्यात्मिक सक्रियता के आधार रहे हैं और मानव-इतिहास की क्रान्तिकारी शक्तियों के विधायक रहे हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त

सन्तुलन का प्रश्न

विचारकों की दृष्टि में हमारा युग एक महान् परिवर्तन तथा संक्रमण का युग है, जिसमें, न्यूनाधिक मात्रा में, संघर्षों तथा संकटों का आना अनिवार्य है। ऐसे संधिकाल में यदि हमारे चिन्तकों का ध्यान मौलिक मानव-मूल्यों की ओर आकर्षित हो रहा है तो यह स्वाभाविक ही है। प्रस्तुत प्रश्न के अन्तर्गत, पिछले अनेक वर्षों के साहित्य के सम्बन्ध में, इस समस्या का दिग्दर्शन पूर्ववर्ती विद्वान् लेखक विस्तारपूर्वक करा चुके हैं; मुझे, संक्षेप में, केवल उपसंहार-भर लिख देना है।

मानव-मूल्यों की दृष्टि से जिन दो प्रमुख विचार-धाराओं ने इस युग के साहित्य को आन्दोलित किया है, वे हैं मार्क्सवाद तथा फ्रायडवाद। व्यापक दृष्टि से विचार करने पर ये दोनों विचारधाराएँ मानव-अस्तित्व के केवल निम्नतम अथवा बाह्यतम स्तरों का अध्ययन करती हैं और इनके परिणामों को उन्हीं के क्षेत्रों तक सीमित रखना श्रेयस्कर होगा। मार्क्सवाद मानव-जीवन की वर्तमान आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों का सांगोपांग विश्लेषण कर उसकी सामाजिक समस्याओं के लिए समाधान बतलाता है, जिसका परोक्षतः एक वैयक्तिक पक्ष भी है। फ्रायडवाद मानव-अन्तर की रागात्मिका वृत्ति के उपचेतन-अचेतन मूलों का गहन अध्ययन कर मुख्यतः उसकी वैयक्तिक उलझनों का निदान खोजता है, जिसका एक सामाजिक पक्ष भी है। जहाँ पर ये दोनों सिद्धान्त अपने क्षेत्रों का अतिक्रम कर मानव-जीवन एवं चेतना के ऊर्ध्वस्तरों के विषय में अपना यांत्रिक अथवा नियतिवादी निर्णय देखने लगते हैं, अथवा उन शक्तियों के स्तरों का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, वहाँ पर ये दृष्टि-दोष से पीड़ित होकर, मानव-मूल्य-सम्बन्धी गम्भीर समस्याएँ उपस्थित करते हैं। किन्तु, मानव अस्तित्व एवं चेतना के सभी स्तरों के परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, सर्वांगीण सामाजिक विकास की दृष्टि से, मानव व्यक्तित्व के पूर्ण उन्नयन के हेतु उसके निम्न भौतिक प्राणिक स्तरों का विकास होना भी समान रूप से आवश्यक है। इस दृष्टि से, मार्क्सवाद तथा फ्रायड के मनोविज्ञान की सीमाओं को मानते हुए भी लोक-जीवन हिताय उनकी एकान्त उपयोगिता एवं महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में, नवीन विश्व-जीवन-वृत्त के निर्माण में उनका वर्तमान जीवन के गर्दगुब्बार से भरा हाथ उतना ही उपादेय प्रमाणित होगा जितना मानव अस्तित्व के उच्चतम शिखरों से अवतरित भावी सौन्दर्य तथा आशा के सम्मोहन से दीप्त अभिनव चैतन्य की किरणों का।

वैसे, मानव-प्रज्ञा के अविकसित होने के कारण, उच्च-से-उच्च सिद्धान्त या आदर्श भी —चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक, धार्मिक हो या राजनीतिक—संकीर्णता के सम्प्रदाय या रूढ़िगत दल-दल में फँसकर नीचे गिर जाते हैं। किन्तु यदि व्यापक विवेक तथा सहानुभूति के साथ, वर्तमान विश्व मानव संचय के साथ सामंजस्य बिठाते हुए, उपर्युक्त विचारधाराओं का समुचित अध्ययन एवं वर्तमान विश्व-परिस्थितियों में उनका सम्यक् प्रयोग किया जाय तो उनमें लोक-जीवन के लिए हितकर उपकरणों के अतिरिक्त मानवता के सर्वांगीण सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए भी प्राणप्रद पोषक तत्त्व मिलेंगे। कम्युनिस्ट देशों की सामूहिक जीवन-रचना की वर्तमान स्थिति में, साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से स्वतन्त्र वैयक्तिक प्रेरणा के अवरुद्ध हो जाने के कारण

पश्चिम के प्रबुद्ध लेखकों तथा चिन्तकों के मन में जो प्रतिक्रियाएँ चल रही हैं (जिसका विस्तृत विवेचन पूर्ववर्ती लेखों में हो चुका है) उनको हमें अक्षरशः स्वीकृत नहीं कर लेना चाहिए। कम्युनिस्ट देशों की उन असंगतियों को मार्क्सवाद के प्रारम्भिक प्रयोगों की कूड़े की टोकरी में भी डाला जा सकता है। मार्क्सवाद का प्रयोग और भी अधिक व्यापक आधारों पर वर्तमान जीवन की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थितियों पर किया जा सकता है। उसे एक यान्त्रिक सिद्धान्त के रूप में न ग्रहण कर, उसके अन्धप्रवर्ग को संयमित कर सृजनात्मक संचरण के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है और सम्भवतः भारतवर्ष जैसा महान् देश, जिसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि इतनी प्रौढ़ है, अपने साध्य-साधन की एकता की कसौटी पर कसकर, इस महत् प्रयोग को एक दिन सफल भी बना सके। जिन देशों में मार्क्सवाद के प्राथमिक प्रयोग हुए हैं उनमें भी २०-२५ वर्षों के अन्तर्गत, मानव-मूल्यों की दृष्टि से, व्यापक परिवर्तन नहीं उपस्थित हो सकेंगे, और उनकी जीवन-रचना की भूमि से भी उच्च-से-उच्चतर सांस्कृतिक शिखर नहीं निखर उठेंगे, यह अभी नहीं कहा जा सकता। सिद्धान्त के जीवन और व्यक्ति के जीवन के लिए एक ही अवधि निर्धारित करना न्यायसंगत नहीं है।

हमें आवश्यकता है, बाध्यतः परस्पर-विरोधी लगने वाली···विभिन्न स्तरों तथा क्षेत्रों की विचारधाराओं का विराट् समन्वय तथा संश्लेषण कर उन्हें साहित्य में, सृजनात्मक स्तर पर उठाने की···जिससे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, संस्कारों तथा स्वार्थों से पीड़ित एवं कुण्ठित मानव-चेतना को अपने सर्वांगीण वैयक्तिक तथा सामाजिक विकास के लिए एक व्यापक सन्तुलित धरातल मिल सके, उसके सम्मुख एक ऐसा उन्नत मानवीय क्षितिज खुल सके जो उसे समस्त अभावों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तत्पर कर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सके। व्यक्तिवाद, समाजवाद, भाववाद, वस्तुवाद, भूत अथवा अध्यात्मवाद एक-दूसरे के विरोधी नहीं, अन्ततः एक-दूसरे के पूरक हैं। आज के साहित्य में यदि विराट् या अन्तरात्मा के दर्शन नहीं मिलते—जो मूल्यों का धरातल है—तो इसका कारण इस संक्रमणशील युग के तथाकथित विरोधी सिद्धान्त एवं विचार-सरणियाँ उतना नहीं हैं जितना इस युग के साहित्य-स्रष्टाओं अथवा द्रष्टाओं की सीमाएँ···और सम्भवतः उनकी ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, यशलिप्सा, दलबन्दी आदि की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ, जिनका क्रीड़ास्थल इस परिवर्तन युग का उनका पर-दुख-कातर अंतस्तल बना हुआ है। साहित्य संस्कृति के पुजारियों तथा मूल्यों के जिज्ञासुओं को बाहर के साथ ही अपने भीतर भी खोज करनी चाहिए, सामाजिक धरातल को सँवारने से पहले मानसिक धरातल का संस्कार कर लेना चाहिए—विशेषकर ऐसे संक्रमण-काल में जब ह्रास और विकास, पतझर तथा वसन्त की तरह, साथ-ही-साथ नवीन वृत्त संचरण के रथ-चक्रों में घूमते हैं। उसे मरणशील ह्रासोन्मुखी संकीर्ण प्रवृत्तियों के कूड़े-कचरे में से विकास की प्रसारकामी ऊर्ध्व प्रवृत्तियों को चुनकर अपनी चेतना में ढाल लेना चाहिए, क्योंकि उनके लिए मूल्य मान्यताओं का प्रश्न केवल बौद्धिक संवेदन का प्रश्न नहीं है, वह उनके आत्मनिर्माण, मनोविन्यास तथा उनकी सृजन-तन्त्री की साधना का आधारभूत अंग भी है।

मानव-मूल्यों का अन्वेषक—चाहे वह स्रष्टा हो या द्रष्टा—उसे महत्तर आनन्द, प्रेम, सौन्दर्य तथा श्रेय के सूक्ष्म संवेदनों की जाह्नवी के अवतरण के लिए भगीरथ प्रयत्न करना है। उसे वैभिन्न्य की बहिर्गत विषमता तथा कटुता को अन्तरतम ऐक्य की एकनिष्ठ साधना के बल

पर जीवन-वैचित्र्य की समता तथा संगति में परिणत करना है, जिसके लिए आत्म-संस्कार सर्वोपरि आवश्यक है। साहित्यकार, साधक, दार्शनिक—इन सबको अन्ततः महत् इच्छा का यन्त्र बनना पड़ता है।

मूल्य-मर्यादा की प्रगति के स्रोत को केवल सामाजिक परिस्थितियों के अधीन मानना उतना ही एकांगी दृष्टिकोण है जितना उसे केवल मनुष्य के आन्तरिक संस्कारों में मानना है। मानव-मूल्य के मूल बाहर भीतर दोनों ओर फैले हुए हैं, "तदंतरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य-बाह्यतः।" व्यक्ति और समाज उसके दो पक्ष हैं जिनमें सामंजस्य स्थापित करके ही स्थिति और प्रगति सम्भव हो सकती है। हम बाहर के सम्बन्ध में ही भीतर को और भीतर के सम्बन्ध में ही बाहर को समझ सकते हैं। मानवता के सर्वांगीण विकास एवं निर्माण के लिए हमें भीतर और बाहर दोनों का रूपान्तर करना पड़ेगा। तत्त्वतः मानव-जीवन के सत्य के मूल बाहर-भीतर दोनों से ऊपर या परे हैं, जैसा कि हम आगे चलकर विष्णु के रूपक में देखेंगे, किन्तु अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसे बहिरंतर के दोनों सापेक्ष पक्षों का ध्यान रखकर उनमें सन्तुलन भरना होता है।

पश्चिम के कुछ चिन्तक यदि बाह्य परिस्थितियों के संगठन के बोझ से आक्रान्त होकर मानव-मूल्यों का स्रोत यदि व्यक्ति या मनुष्य के भीतर मानने लगे हैं तो यह केवल पश्चिम के वर्तमान बहिर्भूत यान्त्रिक जीवन के प्रति उनके मन की प्रतिक्रिया-मात्र है। पश्चिम में अन्तर्जीवन का एकान्त अभाव होने के कारण वहाँ के प्रबुद्ध विचारकों का मनुष्य के भीतर की ओर झुकना स्वाभाविक है। वास्तव में व्यक्ति और समाज जीवन-मान्यताओं की दृष्टि से, एक-दूसरे के सम्बन्ध में ही सार्थक हैं और उसी रूप में समझे भी जा सकते हैं। निरपेक्ष व्यक्ति को अज्ञेय या अनिर्वचनीय कहा जा सकता है। इसलिए यदि मार्क्सवाद सामाजिकता को अधिक महत्त्व देता है या उसके प्रारम्भिक प्रयोगों में सामूहिक संचरण अधिक प्रबल हो उठा है तो उसका उपचार व्यक्ति को अधिक महत्त्व देने से नहीं होगा, प्रत्युत, बहिरंतर की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए व्यक्ति और समाज के बीच सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित करने से होगा। इस युग में, इसीलिए, राजनीतिक संचरण की पूर्ति के लिए एक व्यापक सांस्कृतिक संचरण की भी आवश्यकता है।

मानव-मूल्यों के स्रोत को मनुष्य के भीतर ही मान लेना इसलिए भी हानिकर सिद्ध होगा कि वर्तमान युग-संक्रमण की स्थिति में मनुष्य का मनुष्य बन सकना सरल या सम्भव नहीं। उसके व्यक्तित्व में अभी उस उदात्त सन्तुलन की कमी है जो उसे युगीन प्रवृत्तियों की बाहरी अराजकता तथा अन्तःसंस्कारों की सीमाओं से ऊपर उठाकर प्रतिनिधि मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित कर सके। उसका ऐसा विवेकशील व्यक्तित्व होना जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म मूल्यों-सम्बन्धी दुरूह सामाजिक दायित्व को समझकर उसे स्वतः ग्रहण करने योग्य आत्म-त्याग एकत्रित कर सके यह भी अपवाद ही सिद्ध हो सकता है और अल्पसंख्यक सृजनशील व्यक्ति इतने स्थितप्रज्ञ, तटस्थ, निष्पक्ष हो सकेंगे, इस पर भी सहज विश्वास नहीं होता।

इस संक्रमण-काल ने मनुष्य की अहमिका प्रवृत्ति तथा उसकी कामवृत्ति को बुरी तरह झकझोरा है। ये एक प्रकार से सभी संक्रमण युगों के लिए सत्य तथा सार्थक हैं, क्योंकि उच्चतर विकास के ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। मानव अहन्ता को व्यापक बनाकर, मानव-

आत्मा के गुणों को पहचानकर उनसे सम्पन्न बनाना होता है। निम्न प्राण-चेतना (काम) को ऊर्ध्वमुखी होकर व्यापक प्रेम, सौन्दर्य तथा आनन्द की अनुभूति प्राप्त कर नवीन नैतिक-सामाजिक सन्तुलन ग्रहण करना होता है, इसीलिए विश्वप्रकृति संक्रमण-काल में उन्हें प्रारम्भ में ही सशक्त बना देती है। फ्रॉयड ने स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी वर्तमान रागात्मक स्तर की क्षुद्रता तथा संकीर्णता की पोल खोलकर आज के प्रबुद्ध चिन्तक को मोहयुक्त कर दिया है। वास्तव में प्राण चेतना के विकास के लिए उपयुक्त मानवीय परिस्थितियों के अभाव के कारण मानव की रागात्मिका वृत्ति, पशु-स्तर पर उतरकर, अभी अचेतन के अन्ध आवेगों से परिचालित हो रही है। उसके मनुजोचित ऊर्ध्व विकास के लिए हमें स्त्री-पुरुषों के सामाजिक सम्बन्ध को एक व्यापक सांस्कृतिक धरातल पर उठाना होगा।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ इस युग के बहुमुखी विचार-वैभव को साहित्य तथा संस्कृति की प्रेरणाभूमि पर उठाने के लिए तथा अपने को मानव-मूल्यों का ज्योतिवाहक बनाने के लिए आज के साहित्य-स्रष्टा तथा सांस्कृतिक द्रष्टा को सर्वप्रथम एवं सर्वोपरि अपना यथेष्ट आत्म-संस्कार करना होगा। यही उसके ऊपर स्वस्वीकृत सबसे महान् दायित्व है। मानव-मूल्यों की चेतना से अपनी चेतना का तादात्म्य करके उसे अपने मन तथा प्राणों के जीवन में मूर्तिमान करना—यही उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है। इस दायित्व के गुरुत्व को उसका साधक ही अनुभव कर सकता है। यही वह तप, त्याग या लोककर्म है जिसे उसे तत्काल ग्रहण करके, धीरे-धीरे उसे अपने को पूर्णरूपेण अर्पित करके, अपने जीवन में चरितार्थ करना है।

मानव-मूल्यों के सर्वव्यापक सत्य के रूपक को हमारे यहाँ महाविष्णु के रूप में अंकित किया है, जो प्रेम-विष्णु भी हैं। वह शेष-शय्या पर (अनन्त काल के ऊपर) स्थित हैं। प्रत्येक युग में उनके गुणों के अंश विश्वचेतना में अवतरित होकर देश-काल में अभिव्यक्ति पाते हैं। वह जलशायी भी—देश से भी ऊपर—स्थित हैं। वह योगनिद्रा में (विश्व-विरोधों में सम) शान्त आनन्द की स्थिति में हैं, जिस स्थिति में एक सहज स्फुरण (संकल्प) उनकी नाभि (रजोगुण) से ब्रह्मा अथवा सृजन संचरण के रूप में सृष्टि करता है। उनके हाथ में चक्रवत् विश्वमन घूमता रहता है इत्यादि। यह मानव-मूल्यों के सत्य के सम्बन्ध में एक पूर्ण दृष्टिकोण है। मानव-मूल्यों का स्रोत देश-काल से ऊपर है। भूत, भविष्य, वर्तमान में अभिव्यक्ति पाने वाले मूल्य सब उसी सत्य के विकासशील अंश हैं। तीनों काल एक-दूसरे पर अवलम्बित होने के साथ ही मुख्यतः उस सत्य पर अवलम्बित हैं। उसी के गुण संचय करके भूत वर्तमान में और वर्तमान भविष्य में विकसित होता है। उस सत्य को आप चाहे दिव्य कहें या मानवोपरि, वह मानव से पृथक् नहीं है। उसे दिव्य न कहकर मानवीय ही कहें तो वह वर्तमान मानव-विकास की स्थिति से कहीं महत् है जिसमें अनेकों भविष्यों का मानव अन्तर्हित है। यदि हम इस दृष्टिकोण से उस सत्य पर विचार करें तो हमें वर्तमान पाश्चात्य विचारकों की "जो समस्त अतीत है वही यह क्षण है और जो यह क्षण है वह समस्त भविष्य बन जायगा—इसी क्षण में हमें शाश्वत को बाँधना है" आदि जैसी तर्क-प्रणाली की यान्त्रिकता स्पष्ट हो जायगी।

हमने अपने साहित्य में पश्चिम के जिस विकासवाद के सिद्धान्त को अपनाया है वह अधूरा है। उसमें नीचे से ऊपर की ओर आरोहण तो है पर ऊपर से नीचे की ओर अवतरण तथा अन्तःसंयोजन (री-इंटीग्रेशन) के पक्षों का अभाव है। इस अपूर्ण सिद्धान्त को स्वीकार

कर लेने के कारण ही हम केवल भूत और वर्तमान के संचय के बल पर अग्रसर होने की असफल चेष्टा कर नित्य नवीन विरोधी मतों को जन्म देते जा रहे हैं। विकास में सानन्द या अविच्छिन्नता खोजना भ्रम है। विकास के प्रत्येक युग में विश्वचेतना में महत् से नवीन गुणों का भी आविर्भाव होता रहता है। इस महत् में ही बीज रूप में समस्त सृष्टि के उपादान अन्तर्हित हैं।

साहित्य-स्रष्टा के लिए विकास से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सृजन का है। वह मन के उच्चोच्चतर स्तरों से प्रेरणा ग्रहण करके अपनी सृजन-चेतना के वैभव से विकास को नित्य नवगुण-सम्पन्न कर उसे प्रगति दे सकता है। स्रष्टा के लिए विवेक के पथ से अधिक उपयोगी एवं पूर्ण श्रद्धा का पथ है। वह सहज तथा प्रशस्त होने के कारण लोक-सुलभ भी है। अल्पसंख्यक विवेकशील साहित्यिकों के कंधों पर जन-समाज के जीवन का दायित्व सौंप देने में यह भी भय है कि वर्तमान विषम सामाजिक परिस्थितियों में उन अल्पसंख्यकों की मानवता की धारणा स्वभावतः अपने ही वर्ग के मानव तक सीमित रह सकती है। जन मानवता का विराट् वैचित्र्य उनकी प्रबुद्ध सहानुभूति से कहीं व्यापक तथा अकल्पित हो सकता है। फिर स्रष्टा को हम केवल साहित्य-स्रष्टा तक ही सीमित नहीं रख सकते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तथा स्तर पर—चाहे वह राजनीतिक भी क्यों न हो—जीवन-निर्माता जीवन-स्रष्टा तथा द्रष्टा भी हो सकता है और सृजन में ही निर्माण की पूर्ण परिणति भी होती है।

संक्षेप में मैं सांस्कृतिक मान्यताओं एवं मानव-मूल्यों का स्वस्वीकृत दायित्व अल्पसंख्यक, स्वतन्त्र विवेकपूर्ण संकल्पयुक्त व्यक्तियों को सौंपने के बदले समस्त जन समाज को सौंपना अधिक श्रेयस्कर समझता हूँ जो श्रद्धा के पक्ष से मानव-मूल्यों के सत्य से संयुक्त होकर, अपने-अपने क्षेत्र में मानवता के विशाल रथ को आगे बढ़ाने में अपना हाथ बँटा सकते हैं। उन्हें—जैसा कि आज के समस्त पश्चिम के विचारक सोचते हैं—किसी तर्क-बुद्धिसम्मत विवेक के जटिल सत्य के जटिलतर दायित्व के भूल-भुलैये में खोकर अपने चिन्तन, अनुभूति, सौन्दर्य-बोध की समस्त शक्ति से स्थायी मानव-मूल्य की इसी क्षण की विशेष मानवीय स्थिति की सही व्याख्या पहचानने जैसे और भी दुरूह बौद्धिक व्यायाम नहीं करने पड़ेंगे—जो शायद कुछ अति अल्प-संख्यक प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही सुलभ है; उन्हें विराट् विश्व-जीवन के अन्तरतम केन्द्रीय सत्य पर श्रद्धापूर्वक विश्वास रखकर, अपनी बहिरंतर की परिस्थितियों को अतिक्रम करते हुए, उनका युगजीवन की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्निर्माण कर एवं उन्हें व्यापक मानव-जीवन की एकता में बाँधते हुए अन्ततः सम्पूर्ण तथा बाह्यतः समस्त के साथ आगे बढ़ना होगा। इसी में वह अपनी-अपनी स्थिति से स्वधर्म का पालन कर सकते हैं। हमारे सर्वोदय के उन्नायकों ने भी श्रद्धा के पथ से उन्हीं सत्यों के सत्य से प्रेरणा ली है जिनके बिना उनका व्यक्तित्व शीर्षहीन हो जाता है। आज के युग में जब कि भौतिक विज्ञान के विकास के कारण लोक-जीवन की परिस्थितियाँ जड़ न रहकर अत्यधिक सक्रिय हो गई हैं जन-साधारण को सृजन-प्रेरणा से वंचित कर सकना सम्भव भी नहीं है—यही इस युग की सबसे बड़ी क्रान्तिकारी देन है।

अनुशीलन

डॉक्टर राकेश गुप्त

भक्ति-भावना और रीतिकालीन कवि

आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय तक रीतिकालीन काव्य-परम्परा के प्रति सहृदय साहित्य-प्रेमियों का भाव सर्वथा आदरपूर्ण ही था। स्वयं भारतेन्दु की अनेक रचनाएँ स्पष्ट रूप से इसी परम्परा में लिखी गई हैं। पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के आविर्भाव के पश्चात् रीति-युग के लेखकों एवं उनकी रचनाओं के प्रति एक घृणा के भाव का प्रचार किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि रीतिकाल के कवि, विशेष रूप से नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों के लेखक, आज के समीक्षा-प्रधान युग में आलोचकों के सामने अभियुक्त की हैसियत से डरते-डरते आकर खड़े होते हैं। उनकी प्रत्येक बात शंका की दृष्टि से देखी जाती है और उनकी प्रत्यक्ष अच्छाइयों में भी दोष-दर्शन का प्रयत्न किया जाता है। इन कवियों की भक्ति-भावना को भी आलोचकों ने ऐसी ही दृष्टि से देखा है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के मत से समस्त नायिकाभेद-सम्बन्धी साहित्य का राधाकृष्ण की भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त के अनुसार इन कवियों ने भक्ति के नाम पर नग्न-शृङ्गार का निर्लज्ज चित्रण किया है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि इन कवियों ने प्रेम भक्ति का दिव्य चित्र नहीं खींचा। श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार भक्ति-काल का अलौकिक शृङ्गार रीति-काल में लौकिक शृङ्गार में परिणत हो गया। डॉ० नगेन्द्र के मत से रीति-काल में भक्ति का आभास-मात्र मिलता है।

कृष्ण और गोपियों की शृङ्गार-लीलाओं का चित्रण रीतिकालीन कवियों के साहित्य से पहले हमें हरिवंश, पद्म, विष्णु, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में, दक्षिण के आलवार नामक सन्तों के साहित्य में, तथा जयदेव, उमापति धर, चंडीदास, विद्यापति, नरसिंह मेहता, सूरदास, नन्ददास आदि कवियों की वाणी में विशद रूप में प्राप्त होता है। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि शृङ्गार का जिस सीमा तक वर्णन उपर्युक्त ग्रन्थों में अथवा उपर्युक्त लेखकों द्वारा हुआ है, उस सीमा का अतिक्रमण किसी भी प्रसिद्ध रीतिकालीन लेखक ने नहीं किया। इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात जो उतने ही विश्वास के साथ कही जा सकती है वह यह है कि पुराणों के अथवा भक्त कवियों के शृङ्गार-वर्णन में रामकृष्ण के नाम के अतिरिक्त और कोई

भी बात ऐसी नहीं है जिसके आधार पर उसे शुद्ध लौकिक शृङ्गार से भिन्न किया जा सके।

इन दो बातों को ध्यान में रखते हुए जब हम रीतिकालीन शृङ्गार की पूर्ववर्ती शृङ्गार से तुलना करते हैं तो दो अन्तर हमें बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं : (१) सूर आदि भक्तिकालीन कवि प्रायः विरक्त थे, पर रीतिकालीन कवि प्रायः गृहस्थ थे; (२) भक्त-कवियों का शृङ्गार प्रायः स्वतन्त्र रूप से लिखा गया है, पर रीतिकालीन कवियों का शृङ्गार प्रायः नायिका-भेद के साँचे में ढला हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं दो भेदों के आधार पर भक्तिकालीन शृङ्गार को भक्तिपूर्ण तथा रीतिकालीन शृङ्गार को भक्तिरहित समझा गया है। पर यह विचारणीय है कि इन विभेदों के आधार पर ऐसा समझना कहाँ तक युक्ति संगत अथवा समीचीन हो सकता है।

पहला विभेद कवियों के विरक्त अथवा गृहस्थ होने से सम्बन्धित है। यहाँ यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि विरक्ति अथवा वैराग्य को भक्ति के लिए कभी भी आवश्यक नहीं समझा गया। भक्ति-धर्म का तो आविर्भाव ही गृहस्थों के लिए हुआ है। भक्ति-मार्ग को प्रवृत्ति-मूलक तथा ज्ञान अथवा योग-मार्ग को निवृत्तमूलक कहा गया है। वैराग्य को तो एक प्रकार से भक्ति-धर्म का विरोधी भी कहा जा सकता है (साधन के रूप में)। पुष्टि-मार्ग के संस्थापक महाप्रभु वल्लभाचार्य ने गृहस्थ-जीवन को श्रेष्ठ मानकर उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया है। हमारे धर्म-शास्त्र-प्रणेताओं ने भी गृहस्थाश्रम को अन्य तीनों आश्रमों का सहारा मानते हुए सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। ऐसी स्थिति में रीतिकालीन कवियों पर उनके गृहस्थ होने के कारण अभक्त होने का आरोप करना भक्ति-मार्ग के मूल पर ही कुठाराघात करना है।

शंका का दूसरा कारण रीति-कवियों द्वारा राधाकृष्ण की शृङ्गार-लीलाओं के वर्णन के लिए नायक-नायिका-भेद के ढाँचे का उपयोग है। पर यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने ऐसा महाप्रभु चैतन्य के शिष्य रूपगोस्वामी के प्रभाव में आकर किया है। रूपगोस्वामी ने सारे रस-शास्त्र को वैष्णवशास्त्र का रूप दे डाला। उन्होंने अपने 'हरिभक्ति-रसामृत-सिन्धु' नामक ग्रन्थ में पाँच भक्ति-रसों को स्वीकार किया और उज्ज्वल अथवा शृङ्गार-रस को इन पाँचों में सम्राट् मानते हुए अपने दूसरे ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में उसका विस्तृत विवेचन किया। इसी ग्रन्थ में श्रीकृष्ण को एकमात्र नायक तथा उनकी प्रेमिकाओं को नायिका मानते हुए नायक-नायिका-भेद के सम्पूर्ण विषय को उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में खींच लिया। इस ग्रन्थ का समय सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग है, और हिन्दी का नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी समस्त साहित्य इससे प्रभावित होकर इसके बाद ही लिखा गया है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्बन्ध में कभी-कभी भ्रमवश ऐसा सोचा जाता है कि श्रीकृष्ण के बालरूप के उपासक होने के कारण वे उनकी शृङ्गार-लीलाओं के विरोधी थे। पर ऐसा समझने वाले कदाचित् यह भूल जाते हैं कि श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण शृङ्गार-लीला उनकी बाल-क्रीड़ा के ही अन्तर्गत है। 'भागवत' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि रासलीला के समय कृष्ण की अवस्था केवल सात वर्ष की थी तथा अक्रूर के साथ वृन्दावन से मथुरा जाते समय वे ग्यारह वर्ष से भी कम के थे। इसके अतिरिक्त 'भागवत' की अपनी सुबोधिनी नामक टीका में भी (१०-३३-२६) महाप्रभु ने इस बात का स्पष्ट कथन किया है कि भगवान् कृष्ण ने काव्यशास्त्र की विधि के अनुसार भी गोपियों के साथ रति की। बहुत सम्भव है कि अष्टछाप के महान् कवि सूरदास

और नन्ददास ने महाप्रभुकृत इसी व्याख्या से प्रेरणा ग्रहण करते हुए अपने नायिका-भेद-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की हो।

नायक-नायिका-भेद के सम्बन्ध में उस युग के दो प्रबल एवं प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों के संरक्षण, समर्थन एवं स्वीकृति को ध्यान में रखते हुए इस शंका के लिए अब अवकाश नहीं बचता कि इस परम्परा में रचना करना भक्ति-विरोधी कार्य हो सकता है। नायिका-भेद के अनेक रीतिकालीन लेखकों ने तो अपने ग्रन्थों में इस बात का निर्भ्रान्त उल्लेख भी कर दिया है कि उनके नायक-नायिका लौकिक नहीं हैं :

"जगनायक की नायिका बरणी केशवदास।"[1]
"बरनि नायक नायकनि, रच्यो ग्रन्थ मतिराम।
लीला राधारमन की सुन्दर जस अभिराम॥"[2]
"माया देवी नायिका, नायक पूरुष आप।"[3]
"आगे के सुकवि रीझि हैं तौ कविताई,
न तो राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है।[4]

इस प्रकार यह सर्वथा सिद्ध है कि भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन शृङ्गार में अलौकिक एवं लौकिक का भेद नहीं किया जा सकता। राधा और कृष्ण दीर्घकाल से भारतीय जनता की भक्ति-भावना के आलंबन रहे हैं। उनके दुर्लभ लीलास्वाद को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने के हेतु अनेक काव्य-प्रतिभा-सम्पन्न भक्तों ने उनकी मनोहर क्रीड़ाओं को छन्द और लय के सुमधुर एवं आकर्षक आवरण में प्रस्तुत किया है। भक्तिकाल के शृङ्गार को ही, भक्ति-सम्प्रदायों के आचार्यों का अनुमोदन पाकर, रीति-कवियों ने नायिका-भेद के साँचे में ढाल दिया है।

रीतिकालीन कवियों ने अपनी भक्ति-भावना को राधा और कृष्ण के शृङ्गार-वर्णन के रूप में तो अभिव्यक्त किया ही है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ऐसे उद्‌गार भी किए हैं जिनसे उनकी भक्ति-भावना की हार्दिकता एवं गहराई का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी की सतसई में, जो उस युग के काव्य-प्रेमियों का कण्ठहार थी, शुद्ध भक्ति-भाव के अभिव्यंजक अनेक दोहे भरे पड़े हैं। उनमें से कुछ उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत किये जा सकते हैं :

मन मोहन सों मोह करि, तू घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों बिहरि, गिरधारी उर धारि॥
थोरे ई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुम हू कान्ह मनो भये, आजकालि के दानि॥
मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपने-अपने बिरद की दुहुन निबाहन लाज॥

अन्तिम दोहे के सम्बन्ध में यह कहना कदाचित् आवश्यक नहीं है कि बाहर से जो एक चुनौती

१. रसिकप्रिया, पृष्ठ ४६।
२. रसराज, तृतीय छन्द।
३. देव, प्रेमचन्द्रिका।
४. दास।

दिखाई देती है वह वास्तव में कवि का अपने प्रभु की पापियों को तारने की शक्ति में अडिग विश्वास है। कवि का विश्वास वाह्याडम्बर में न होकर हृदय की सच्ची भक्ति में है :

जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम ।
मन कांचै नाचै वृथा, सांचै रांचै राम ॥

नायिका-भेद के जनप्रिय कवि मतिराम और पद्माकर ने भी अपनी भक्ति-भावना को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। मतिराम ने जो थोड़ा-सा भी इस विषय पर लिखा है उससे यह स्पष्ट है कि भक्ति उनके लिए केवल कुछ औपचारिक धार्मिक कृत्यों का संकलन-मात्र नहीं थी। उन्होंने उसके गहन तत्त्व को समझ लिया था और उनकी दृष्टि में जीवन की सार्थकता राधा और कृष्ण की मधुर क्रीड़ाओं के आनन्द में अपने को मग्न कर देने में ही थी। उन्होंने डंके की चोट पर कहा है :

राधा मोहनलाल को जाहि न भावत नेह ।
परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिनि खेह ॥

इस कथन की ओजस्विता का स्रोत एक भक्ति-रस-आप्लावित हृदय ही हो सकता है।

पद्माकर कृत 'गंगालहरी' तथा 'प्रबोध-पचीसा' नाम के ग्रन्थ पूर्णरूपेण भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति के लिए ही लिखे गए हैं। पहले ग्रन्थ में गंगा की पाप-नाशिनी शक्ति का विशेष रूप से उल्लेख है। दूसरे ग्रन्थ में दीर्घकालीन जीवन की अनुभूतियों के आधार पर अनेक प्रकार की भावनाएँ सचाई के साथ अभिव्यक्त की गई हैं। अन्य भक्त-कवियों की भाँति पद्माकर ने भी अपने पापों को स्पष्ट रूप से बिना किसी झिझक के स्वीकार करते हुए अपने प्रभु के कृपालु स्वभाव में अपनी अडिग आस्था प्रकट की है। राम-नाम के निरन्तर जप को उन्होंने मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ एवं सरलतम साधन माना है :

काहे को बघंबर को ओढ़ि करौ आडम्बर,
काहे को दिगम्बर ह्वै दूब खाय रहिये ।
कहै 'पद्माकर' त्यों काय के कलेस हित,
सीकर सभीत सीत बात ताप सहिये ॥
काहे को जपौगे जप, काहे को तपौगे तप,
काहे को प्रपंच पंच पावक में दहिये ।
रैन दिन आठों जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥

निष्कर्ष रूप में हम यही कहेंगे कि परंपरा और अन्तर्साक्ष्य दोनों के प्रमाण से रीति-कवियों की भक्ति-भावना की सचाई पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। वास्तव में अविश्वास करने का कुछ आलोचकों द्वारा लगाये गए निराधार आरोपों के अतिरिक्त और कोई कारण ही नहीं है।

डाक्टर हरदेव बाहरी

स्त्रियों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण

१. बोली

देश, काल और जाति के भेद से भाषा-भेद होते हैं, यह सर्वविदित है। परन्तु इस बात की ओर कभी ध्यान नहीं गया कि भाषा में लैङ्गिक भेद भी होता है। प्रायः प्रत्येक समाज में पुरुषों और स्त्रियों की भाषा में अन्तर होता है। ऐसी अनेक जातियाँ बताई जाती हैं जिनमें पुरुषों और स्त्रियों की भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं—कम-से-कम बोली का भेद तो स्पष्ट है। मध्य अमरीका में कारिब जाति के पुरुषों और स्त्रियों की भाषा अलग-अलग है। इतिहासकारों ने लिखा है कि कारिब लोगों ने मध्य अमरीका की अरावक जन-जाति को विध्वस्त करके उनकी स्त्रियों को सन्तान चलाने के लिए अपने घरों में डाल लिया था। इनके बच्चे पहले तो मातृभाषा सीखते हैं, पर ५-६ वर्ष की अवस्था के उपरान्त लड़के अपने पिता की और लड़कियाँ अपनी माता की भाषा को ग्रहण करने लगती हैं। इस बात को यों कहा जा सकता है कि स्थायी रूप से स्त्रियों में मातृभाषा और पुरुषों में पितृभाषा का प्रचलन होता है।

इतिहास की दृष्टि से किसी युग में भारत में भी यही बात रही होगी। आर्यों ने तमिल (सं० दविड, द्रविड) स्त्रियों से विवाह किया। इनकी भाषा निश्चय ही अलग रही होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि कितनी पीढ़ियों तक स्त्री-पुरुषों की भाषा भिन्न बनी रही, क्योंकि प्राचीन वेदकालीन जन-साहित्य उपलब्ध नहीं है। परन्तु वैदिक भाषा और संस्कृत पर द्रविड आदि प्रागार्य भाषाओं का प्रभाव बहुत अधिक है—यह मुख्यतया उन स्त्रियों के कारण पड़ा होगा।

संस्कृत नाटकों में पुरुषों और स्त्रियों की भाषा में बड़ा अन्तर है। पति संस्कृत बोलता है और पत्नी शौरसेनी और महाराष्ट्री का व्यवहार करती है। यह उस समय की वस्तुस्थिति का परिचायक है। आज भी ऐसे घराने बहुत से हैं जिनमें पुरुष खड़ी बोली बोलता है और स्त्री अवधी, बुंदेली या ब्रजभाषा। ऐसे पुरुषों का अभ्यास शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय या सामाजिक सम्बन्धों के कारण खड़ी बोली हिन्दी का है—विशेष करके नगरों और कस्बों में। स्त्रियाँ अधिकतर घर की चारदीवारी में अपना समय बिताती हैं। अपेक्षाकृत उनमें शिक्षा की सदा से कमी रही है। प्रौढ़ और अनपढ़ अथवा कमपढ़ स्त्रियों की बोली बदलती भी बहुत कम है। उनके द्वारा अपनी-अपनी मातृभाषा की रक्षा पूर्णरूपेण होती है। पुरुषों की भाषा का स्वरूप कुछ-न-कुछ बदलता रहता है।

उन घरों को छोड़ दीजिए जहाँ पति पंजाबी और पत्नी दिल्ली की है अथवा पति बनारस का (खत्री) और पत्नी अमृतसर की है, या कोई अन्तर्प्रादेशिक युग्म हैं—बंगाली और बिहारिन, राजस्थानी और गुजरातिन, हिन्दी और मराठिन, आदि आदि। इनकी तो भाषा ही भिन्न होती है। पर ऐसे दम्पती नगर-नगर, गाँव-गाँव और गली-गली में मिल जायँगे जिनकी बोली में स्पष्ट अन्तर है। हमने सन् १९४४ में लाहौर नगर के एक मुहल्ले का भाषा-विवरण तैयार किया था। सौ घरों में से केवल ११ घर ऐसे मिले जिनमें स्त्री और पुरुष की बोली एक ही थी। २० अन्य घरों में बोली का अन्तर कम था। ७ घरों में भाषा ही भिन्न थी जैसे लहँदी और पंजाबी, पंजाबी और बांगड़ू, पंजाबी और पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी या लहंदी और सिंधी, राजस्थानी

हिन्दी और गुजराती, इत्यादि। शेष ६२ घरों में बोली का अन्तर स्पष्ट था। एक रोचक तथ्य यह भी प्राप्त हुआ कि लगभग ३० प्रतिशत पतियों ने दूसरी बोली के रूप में अपनी पत्नियों की बोली को अपना रखा था, केवल ५ प्रतिशत घरों में पति की बोली को पत्नी ने अपनाया था।

प्रत्येक देश में ऐसे कई परिवार हैं जिनमें या तो पुरुष दो बोलियाँ बोलते हैं और स्त्रियाँ एक बोली, या स्त्रियाँ दो बोलियाँ बोलती हैं और पुरुष एक बोली। ऐसी दशा में स्त्री या पुरुष को अपने जीवन-साथी की सुविधा के लिए अपनी साधारण बोली छोड़कर कभी-कभी टूटी-फूटी दूसरी बोली में बातचीत करनी पड़ती है। प्रायः स्त्रियाँ अपनी मूल भाषा के संरक्षण का बहुत ध्यान रखती हैं।

चिरकाल तक मुग़ल-घरानों में बेगमों की भाषा बादशाहों और अमीर-दरबारियों की भाषा से अलग रही। उर्दू का विकास इन्हीं बेगमों की बोली से हुआ। जिसे 'उर्दू की ज़ुबान' या 'क़िले की ज़ुबान' कहते हैं वह इन बेगमों की ही खिचड़ी बोली थी। बेगमें कई प्रान्तों से आती थीं, खड़ी बोली हिन्दुई ही इनके विचारों और भावों का माध्यम होती थी जिस पर अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अतिरिक्त फ़ारसी का प्रभाव भी पड़ा। शिक्षा की भाषा, राजभाषा, दरबार की भाषा फ़ारसी थी। प्रायः राजपुरुष इसी में बातचीत करते थे। इसीलिए बेगमों की भाषा में भी कई शब्द फ़ारसी के घुस आए थे। यह तो स्वाभाविक ही था। बेगमों की भाषा पर लिखे गए व्याकरण, शब्दकोश, मुहावरा-कोश आदि देखने से उर्दू की प्रवृत्तियों का मूल स्रोत प्राप्त हो जाता है।

स्त्रियों की इस मिली-जुली भाषा को रेख़्ती कहते थे। बहुत से रेख़्ती-गो शायरों ने इस भाषा को साहित्य में लाकर अमर करने की चेष्टा की।

स्पेन और फ्रांस की सीमा पर बास्क जाति में अधिकतर पुरुष बास्क भाषा छोड़ चुके हैं—वे स्पेनी भाषा ही जानते हैं; लेकिन स्त्रियाँ बराबर बास्क भाषा का व्यवहार करती हैं।

जिन स्त्री-पुरुषों में बोली का भेद नहीं होता, उनकी शिक्षा, संस्कृति, कार्य-व्यवसाय आदि जीवन की अवस्थाएँ प्रायः एक-सी होती हैं। संस्कृत नाटकों में भी रानी, तापसी, विदुषी और कुछ अन्य विशिष्ट स्त्रियों के मुख से संस्कृत बुलवाई गई है। हिन्दी-साहित्य में कुछ एक नाटककारों और कथाकारों ने स्त्री-पुरुष की भाषा का भेद रखा है, परन्तु प्रायः साहित्यकार समान भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक और स्वाभाविक परिचय नहीं मिलता।

जिसे हम भेद का अभाव कह रहे हैं वह भी नितान्त समानता की कोटि का नहीं होता। बाह्य स्वरूप एक होने पर आन्तरिक सूक्ष्म भेद कई प्रकार के रहते हैं जिनकी ओर ध्यान दिलाना इस लेख का मुख्य उद्देश्य है।

२. उच्चारण

स्त्रियों के गले में ध्वनि-पिट्टक छोटा होता है। पुरुषों का ध्वनि-पिट्टक बड़ा होता है और इसीलिए गले के बाहर निकला भी रहता है। इसी कारण से प्रायः पुरुषों की ध्वनि मोटी, कड़ी, कर्कश और ऊँची होती है। स्त्रियों की आवाज़ प्रायः बारीक, मीठी, कोमल, स्पष्ट और मद्धम होती है। उसमें एक गूँज-सी होती है। इस भेद के अनेक स्तर हो सकते हैं और किसी स्तर पर पुरुष और स्त्री के उच्चारण में कोई भेद नहीं जाना जा सकता। कुछ स्त्रियाँ पुरुषों की तरह

बोलती हैं और कुछ पुरुष स्त्रियों की तरह। स्त्रियाँ बोलती भी बहुत हैं। इतिहास के आरम्भ से ही पुरुष ऐसे काम करता आ रहा है जिनमें बोलने और दूसरों से बातचीत करने का अवसर कम मिलता है। शिकार खेलना, युद्ध करना, खेती-बाड़ी करना, खान खाइयाँ खोदना, मजदूरी करना, इत्यादि ऐसे काम हैं जिनमें लगे हुए पुरुष बात-बात कम कर पाते हैं। इन कार्यों से निवृत्त हो करके भी वे पड़े सोते हैं—विश्राम में भी बोलने की गुंजाइश नहीं होती। स्त्रियों के कार्य घर में सम्पन्न होते हैं जहाँ काम-काज के साथ बातचीत, गाना-गुनगुनाना बराबर चलता है। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक समाजप्रिय होती हैं। बातूनी झगड़ों में भी होशियार होती हैं। सखी-सहेलियाँ बटोरने, अड़ोसनों-पड़ोसनों से प्यार बढ़ाने में और फिर बिगाड़ कर लेने में वे बहुत दक्ष होती हैं। सारांश यह कि भाषा-सम्बन्धी अभ्यास से प्राप्त दृढ़ता, स्पष्टता और प्रगल्भता स्त्रियों की वाणी में विद्यमान रहती है। ऊँचे चिल्लाने और व्याख्यान देने का अवसर उन्हें कम मिलता है। घरेलू जीवन में शोर मचाने की गुंजाइश कहाँ? अलबत्ता जो स्त्रियाँ स्त्रियोचित जीवन को त्याग देती हैं—जैसे पढ़ी-लिखी महिलाओं में कुछ-एक, मीरासनें, भिखारिनें, और वेश्याएँ—तो उनकी भाषा पुरुषों की भाषा की कोटि में आने लगती है। बड़े-बड़े व्याख्याता और वक्ता पुरुषों में होते हैं, दूसरी ओर तोतले-हकले-थथले भी पुरुषों में अधिक होते हैं। स्त्रियों की भाषा मध्यम (निश्चित और स्पष्ट) मार्ग से होकर चलती है। उसमें उच्चारण के उतार-चढ़ाव, तान और लय के नाना रूप कम होते हैं।

खड़ी बोली में एक कहावत है—'औरत की जीभ कैंची की तरह चलती है।' प्रायः स्त्रियाँ तेज बोलती हैं।

यह भी देखा गया है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की भाषा में एकाक्षर शब्द अधिक होते हैं। बहुत सी स्त्रियां लम्बे लम्बे नाम लेने में असमर्थ होती हैं। शब्दों की कटाई-छटाई में इनका काफ़ी हाथ होता है।

स्त्रियों की ध्वनि-सम्बन्धी प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए यह खोज करने की आवश्यकता है कि कौन-कौन ध्वनियाँ उन्हें अधिक प्रिय होती हैं। जेस्पर्सन ने अंग्रेजी में देखा कि स्त्रियाँ 'र' का उच्चारण एक विशिष्ट ढंग से करती हैं और उनकी बोली में ह्रस्व स्वरों का बाहुल्य पाया जाता है। हिन्दी में ऐसा जान पड़ता है कि स्त्रियाँ मृदु व्यंजनों और अनुनासिक ध्वनियों को अधिक अपनाती हैं। वे द्वित्त व्यंजनों को तोड़कर स्वरभक्ति लगाने की भी आदी होती हैं, जैसे स्वराज्य की जगह सवराज, प्रश्न की जगह प्रशन, पत्र की जगह पत्तर, इत्यादि। इसका कारण यह है कि द्वित्त व्यंजन से पूर्व अक्षर पर बलाघात रहता है जो पुरुषों की वाणी में अधिक होता है। स्वरभक्ति से बलाघात बँट जाता है। लहँदी में देखा गया कि प्रायः सब पुरुष ख़, ज़, ग़, फ़ का उच्चारण फारसी-अरबी से प्राप्त शब्दों में करते हैं—जैसे ख़ाली, ग़रीब, ज़ोर, फ़ालतू आदि में। पर, स्त्रियाँ खाली, गरीब, जोर, फालतू ही बोलती हैं। लेकिन अभ्यास से वे नई ध्वनियाँ बहुत जल्दी सीख जाती हैं। उनकी वाणी में लोच होती है। अंग्रेजी के फ़, ज़, श वर्णों का उच्चारण पूर्वी उत्तरप्रदेश के लड़के विश्वविद्यालयों में रहकर भी फ, ज, स-सा करते हैं। अपेक्षाकृत लड़कियों का उच्चारण शुद्ध होता है। इस विषय में खोज की आवश्यकता है।

स्त्रियाँ जिस प्रकार अधिक स्पष्ट बोलती हैं, इसी प्रकार वे अधिक स्पष्ट सुनती भी हैं।

उनके कान बहुत अभ्यस्त होते हैं। उच्चारण की सूक्ष्मताओं और वाणी के अन्तर की पकड़ उनमें कमाल दरजे की होती है। बोली की नकल उतारने में वे पटु होती हैं।

स्त्रियाँ प्रायः कठोर रसों की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं हो पातीं। वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक रस पुरुषों की वाणी में और शृंगार, करुण और वात्सल्य स्त्रियों की वाणी में अधिक विशद रूप में आते हैं। उनका कोमल स्वभाव कोमल वाणी का रूप धारण करता है। भाषा में व्यक्तित्व अपने प्रकृत रूप में आता है।

पुरुषों के वाक्य भले ही लम्बे और संयुक्त हों, स्त्रियों के वाक्य छोटे-छोटे और मिश्रित होते हैं। उनके वाक्य टूटे-फूटे और अपूर्ण भी होते हैं। भावुकता उन्हें अपने वाक्य पूर्ण नहीं करने देती। कुछ तो वे वाणी से प्रकट करती हैं और कुछ आँखों से या मुख-मुद्रा से। इनसे भी यदि कुछ नहीं कहा जा सकता तो आँसुओं में कह डालती हैं। संयम और आवेश दोनों की अति के कारण उनकी भाषा में वाक्यों की बचत हो जाती है। उनका भाव भाषा के वाहन पर बहुत देर तक चढ़ा नहीं रह पाता।

हमारा यह विश्वास कि है भाषा से ध्वनिशास्त्री के लिए यह जान लेना सम्भव है कि किसी स्त्री में कितनी मात्राएँ स्त्रीत्व की हैं और कितनी पुरुषत्व की, अथवा यह कि किसी पुरुष की बोली में कितना पुरुषत्व है और कितना नहीं है। परन्तु इस दिशा में कुछ कार्य नहीं हुआ। भाषा-विज्ञान, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान को अलग-अलग और मिलकर दोनों तरह से सत्यान्वेषण करने की आवश्यकता है।

२. शब्द-भाण्डार

भाषा के निर्माण में स्त्रियों का क्या योग है? इस प्रश्न की ओर हम प्रत्येक भाषा के अन्वेषक का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। बच्चा अपनी भाषा माँ से सीखता है। 'मातृभूमि' की जगह चाहे कुछ देशों में 'पितृभूमि' कहा जाता है, पर 'मातृभाषा' के स्थान पर 'पितृभाषा' कहीं नहीं कहते। माता ही की बोली का अनुकरण करते-करते बच्चा अपने अ आ उ ऊ क प ब को सार्थक बनाना सीखता है। माता ही उसे अपने ध्वनि-यन्त्रों की पेशियों में लचक लाना सिखाती है। माता ही उसे ध्वनि निकालने की कला में प्रवीण बनाती है। उसीके सम्पर्क में रहकर अबोध बच्चा चार-पाँच वर्ष तक अपना शब्द-भांडार बनाता है और अपनी भाषा का संगठन करता है। किसी विद्वान् ने कहा है कि जन्म से पहले दो वर्षों में मनुष्य जितना कुछ सीखता है उतना जीवन के अन्य किन्हीं दो वर्षों में कदापि नहीं सीख पाता। मातृभाषा का प्रभाव उसकी बोली में जीवन-भर रहता है। इस प्रभाव की गहराई और व्यापकता की कई अवस्थाएँ हो सकती हैं। लड़कियाँ अपनी माताओं के सम्पर्क में अधिक काल तक रहती हैं। जीवन में प्रविष्ट हो जाने पर भी उन पर पड़ने वाले नये प्रभाव बहुत कम पड़ते हैं। पर लड़कों की बोली पर अनेक अन्य प्रभाव पड़ते हैं—कई बार उनकी बोली अपनी मातृभाषा से भिन्न हो जाती है, चाहे इसका आंशिक प्रभाव भी बना रहता है।

लेकिन, स्त्रियों का अपना शब्द-भांडार एक सीमित और विशिष्ट प्रकार का होता है। वे बहुत बोलती हैं, वे तेज बोलती हैं, वे छोटे-छोटे वाक्यों में बात करती हैं—यह सब इसीलिए कि उनके पास शब्दों की वह प्रचुरता नहीं जो मनुष्य को गम्भीर और अनिश्चित बना देती है। प्रायः सभी पारिभाषिक शब्द पुरुषों द्वारा गढ़े जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान के शब्द-निर्माण में भी स्त्रियों का योग

नगण्य है। नये शब्दों, देशी गढ़नों और क्रान्तिकारी अभिव्यक्तियों के उत्पादन और विकास में नवयुवकों और युवा पुरुषों का विशेष हाथ होता है। यह बड़ी विचित्र बात है कि भाषाओं (कम-से-कम आर्य भाषाओं) के प्रायः स्त्रीलिंग रूप पुल्लिंग रूप से ही बनते हैं—जैसे कुत्ता से कुतिया, शेर से शेरनी, धोबी से धोबिन, लड़का से लड़की। स्त्रीलिंग शब्द से पुल्लिंग रूप क्यों नहीं बनते? आर्य-भाषा-भाषियों के पितृ-प्रधान परिवार होते हैं। यह देखने की आवश्यकता है कि मातृ-प्रधान जातियों में शब्दों का लिंगान्तर करने की क्या व्यवस्था है। संस्कृत में एक ओर अमरत्व, सौंदर्य, जागरण आदि पुल्लिंग और दूसरी ओर इन्हीं के पर्याय अमरता, सुन्दरता, जागृति आदि स्त्रीलिंग शब्द क्यों हैं? इस बात पर अनुसन्धान करने की आवश्यकता है कि स्त्रियों की बोली में स्त्रीलिंग शब्द अधिक होते हैं अथवा पुल्लिंग। महादेवी वर्मा, होमवती देवी, सुमित्राकुमारी सिनहा, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा आदि हिन्दी की लेखिकाओं की कृतियों में से ही कुछ तथ्य प्राप्त किये जा सकते हैं। उत्तर-पश्चिमी भारत में तौलिया, पहिया, घास, छत आदि अनेक शब्द पुल्लिंग हैं, जो पूर्वी प्रान्त में स्त्रीलिंग हैं। यह भी ध्यान रहे कि उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या बहुत अधिक रही है। क्या हिन्दी में सामर्थ्य, विजय और श्वास आदि अनेक पुल्लिंग शब्दों को स्त्रीलिंग रूप में प्रयुक्त करने की बान महिला साहित्यकारों से तो नहीं आई?[1] इन सभी प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता है।

स्त्रियों का व्यावहारिक शब्द-भाण्डार बहुत सम्पन्न होता है। घर-द्वार, खान-पान, कपड़े-लत्ते, सगे-सम्बन्धी, रीति-रिवाज आदि के सम्बन्ध की उनकी शब्दावली पुरुषों की शब्दावली की अपेक्षा अधिक समृद्ध होती है। पुरुष-लेखकों और स्त्री-लेखकों की रचनाएँ इस सत्य पर अधिक प्रभाव डाल सकती हैं। रेख्ती के कोश इसका प्रमाण हैं। स्त्रियों की शब्दावली बहुत व्यापक नहीं होती। मीरां से लेकर शान्ति मेहरोत्रा एम० ए० तक की कृतियों में ऐसे शब्दों की संख्या बीसियों तक पहुँचती है जो अनेक बार दोहराये गए हैं। इनसे भाव और भाषा की गहराई और तीव्रता का परिचय तो मिलता है, पर व्यापकता का नहीं। सच तो यह है कि महिलाओं का कार्य व्यवहार, उनका अनुभव और चिन्तन एक सीमित घेरे में होता है।

प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका व्यवहार केवल स्त्रियाँ करती हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें वे नहीं बोलतीं। अनेक शरीरावयवों, स्वाभाविक शरीर-क्रियाओं और कुछ विचार-द्रव्यों का नाम स्त्रियाँ नहीं लेतीं। कहीं-कहीं स्त्रियाँ 'मज़ा' या 'स्वाद' शब्द नहीं कहतीं। किसी स्त्री की कृति में 'चुम्बन' 'पुलकित' आदि शब्दों को पढ़कर उसके यौन-विद्रोह या स्त्रीत्व के असन्तोष का अनुमान किया जा सकता है। स्त्रियों की भाषा अधिक श्लील, संयत और व्यंजनापूर्ण होती है। नवयुवक आपस में बैठकर जो बातें किया करते हैं उस स्तर की बातें नवयुवतियों में नहीं होतीं। वे लज्जालु, संकोची और संयत होती हैं। स्त्रियों की गालियाँ भी इतनी नंगी और फक्कड़ नहीं होतीं जितनी पुरुषों की। कुछ गालियाँ, शाप, आशीर्वाद और बोल स्त्रियों के ही मुख से सुने जा सकते हैं। इनका व्यवहार करने वाला पुरुष स्त्रैण समझा जाता है। उदाहरण—दाढ़ी-जरा, दहिजरा, कोख-जली, माँग-जली, निगोड़ा, कलमुँहा, मूंडी-काटा, मुआ, अल्लाह मारी (मुसलमानों में), एवं कीड़े पड़ें, कहाँ उजड़ गई थी, आग लग जाय, तथा बूढ़ सुहागिन हो, कोख ठंडी रहे, माँग भरी रहे और सुहाग लुट गया, गोद सूनी हो

1. मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे—महादेवी वर्मा

गई, इत्यादि। महिलाओं का कोमल हृदय उनसे ऐसे शब्द नहीं बुलवा सकता जिनकी किसी के हृदय पर चोट लगे। 'मर गया' को वे अनेक तरह से कहेंगी। 'वह बीमार है' की जगह 'उसके दुश्मन बीमार हैं', 'उसका पिंडा फीका है' आदि बोलेंगी। यार (दोस्त) का अर्थ 'जार' भी हो सकता है, इसलिए वे इसका प्रयोग न करेंगी। पुरुष जिसकी नौकरी करते हैं, उसे 'मालिक', 'सरकार' आदि कहकर पुकारते हैं। 'मालिक' का अर्थ 'पति' भी हो सकता है इसलिए खड़ी बोली प्रदेश की स्त्रियाँ 'सरकार' कहेंगी 'मालिक' नहीं।

कई ऐसे शब्द हैं जो स्त्रियों के ही मुख में सजते हैं—जैसे, मेरी फूल-सी बिटिया, नौज, मेरा वीर (भाई), माँजाई, बाबुल, इत्यादि।

अनेक देशों में स्त्रियाँ अपने पति का नाम नहीं लेतीं। भारत में प्रायः स्त्रियाँ 'पति' शब्द भी नहीं कहतीं। इसके लिए 'ये मेरे वो हैं', 'वो मेरे ये हैं', 'घर वाला', 'मेरा आदमी', 'मालिक', साईं, (स्वामी) और सम्बोधन करते हुए 'मुन्नी के पिता', 'लल्लन के बाबू', 'मोहन (या रधिया) के भाई' आदि प्रयोग करती हैं। हिन्दी-साहित्य में जो 'प्रिय', 'नाथ', 'प्राणनाथ' आदि शब्द हैं वे साधारण बोलचाल में नहीं मिलते। लोक-गीतों में कुछ शब्द 'बालम', 'पिया', 'पीतम', 'पी', 'माहिया', 'रसिया', 'कंत' आदि आते हैं। वे प्रेमी के लिए हैं, पति के लिए नहीं हैं।

पति का नाम न लेने के कारण स्त्रियों को जो कष्ट होता है उससे पाठक परिचित हैं। 'माखन लाल' नाम बताने के लिए वे 'घी का भाई', 'लस्सी में से निकलने वाला' और न जाने क्या-क्या कहती हैं। वे माखन नहीं खातीं, क्योंकि माखन तो माखन लाल का पर्याय है; वे बच्चे को 'मेरे लाल' कहकर नहीं पुकारतीं। जिसके पति का नाम ताराचन्द हो वह तारा और चांद को इंगित करके और (दिन में) न जाने किन-किन हेर-फेरों से नाम बता पाती हैं। जिनके पति का नाम 'रामलाल' होता है वे ऐसे सभी नामों को अधूरा बोलती हैं या टाल जाती हैं जिनमें 'राम' या 'लाल' शब्द आता है जैसे रामचन्द, रामधन, गंगाराम, श्री राम, श्यामलाल, लालजी आदि। 'कृष्ण' नाम के पति वाली स्त्री कृष्ण की पुजारिन होते हुए 'कृष्ण' नाम नहीं लेती, दूसरे नाम लेती है।

स्त्रियाँ अपने ससुर, सास, जेठ, जेठानी का नाम भी नहीं लेतीं।

स्त्रियों की शब्दावली में अतिशयोक्तिपूर्ण, व्यंग्यात्मक, और शिष्ट शब्द पुरुषों की अपेक्षा अधिक होते हैं।

४. लोकवार्ता

भाषा को स्त्रियों की सबसे बड़ी देन हैं मुहाविरे, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ, गीत और लोक-साहित्य के विविध रूप। 'चूड़ियाँ टंढी करना', 'दाई से पेट छिपाना', 'उधेड़ बुन', 'कंघी-चोटी करना', 'बात पल्ले बाँधना', 'ओढ़नी बदलना', 'उधेड़ के रख देना' आदि मुहाविरे, 'आ पड़ोसन मुझ-सी हो', 'कोस न चली बावा प्यासी', 'मत कर सास बुराई, तेरे आगे आई', 'घी कहाँ गया, खिचड़ी में', 'ननद का ननदोई, गले लाग-लाग रोई', 'सौत बुरी चून की', 'जिसको पिया चाहे वही सुहागिन', 'जिये मेरा भाई, गली-गली भौजाई', 'रात-भर मिमियाई और एक बच्चा ब्याई', 'तू भी रानी मैं भी रानी, कौन भरेगा पानी', 'तेली की जोरू बनी फिर भी रूखा खाया', 'जैसे कन्ता घर रहे वैसे रहे विदेस', 'थाली फूटी-न-फूटी झन्कार सबने सुनी', 'कोई पूछे-न-पूछे

मेरा धन सुहागिन नाम', 'कोदों का भात किन भातों में, ममिया सास किन सासों में,' इत्यादि सैकड़ों लोकोक्तियाँ स्त्रियों की गढ़न का परिचय देती हैं। ऐसे मुहाविरों और लोकोक्तियों का संग्रह करके उनका भाषाशास्त्रीय अध्ययन और विश्लेषण करने की बड़ी आवश्यकता है।

लोक-कथाओं और पहेलियों का जन्म भी अधिकांशतः स्त्रियों से होता है। कहानी नानी सुनाती है, नाना क्यों नहीं सुनाता? लड़कियों और महिलाओं के मनोरंजन का यही प्रमुख साधन है। काम-काज से छुट्टी पाकर वे पहेलियाँ और कहानियाँ सुनती-सुनाती हैं। गीतों में स्त्रियों की छाप स्पष्ट है। नगर की कवयित्री अपने नाम का ढिंढोरा पिटवाती है। गाँव की कवयित्री गुम-नाम रहकर अपने भावों को अभिव्यक्त करती है। प्रेम वह भी करती है--माँ बाप से, भाई से और अपने 'उस' से। पर वह अपना घूँघट नहीं खोलती, वह अपने प्रेम को बेचने नहीं निकलती। इसीलिए उसकी कृति लोक-सम्पत्ति हो जाती है, किसी व्यक्ति का कॉपी-राइट उस पर नहीं होता।

मूल्यांकन

हंसकुमार तिवारी

कला, सौन्दर्य और संस्कृति

कला, सौन्दर्य और संस्कृति—अरसा हुआ कि इनकी चर्चा आम हो आई है। लेकिन यह आम चर्चा महज एक ज़बानी जमा खर्च है, बातों की बात। तत्वतः अगर इनकी सूझ-बूझ भी आम और सामाजिक हो पाती, तो वह संस्कारिता हर दृष्टि से उन्नत, उपादेय और मंगलमयी होती। पर वास्तव में न तो वैसी बात है, न वैसा हो सकने की सम्भावना ही है। इसके कारण भी हैं। जहाँ तक सौन्दर्य-बोध और कला चेतना का सवाल है, हम सामाजिक तौर पर उसका एक परम्परागत रूप पाते हैं, उसके क्रम-विकास की एक रूप-रेखा तैयार कर सकते हैं। इसलिए कि सौन्दर्यप्रियता मनुष्य की एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्ति है, कला जो कि 'माध्यम के रूप में आकृति का निर्माण' है, उसकी एक आवश्यकता है और ये कलात्मक रूप ही संस्कृति के पर्याय हैं।

रूप-रचना की प्रेरणा जैसी स्वाभाविक हुआ करती है, स्वरूप-विवेचन से जान-पहचान वैसी सहज नहीं होती। कोई भाषा बोल लेता है, तो उसके यह मानी तो नहीं कि वह व्याकरण के सूत्रों से संगठित उसके संगीतमय स्वरूप की भी सही जानकारी रखता है। इस जानकारी की शायद आवश्यकता भी अनिवार्य नहीं। धार्मिकता मूलतया आचरणगत ही होती है, शास्त्र कण्ठाग्र करने से नहीं आती। कलाकारिता, सौन्दर्य-बोध और संस्कार, ये भी शास्त्रीय नहीं होते, शास्त्र किन्हीं अंशों में सामाजिक सहृदयता का परिमार्जन और परिष्कार कर सकते हैं, रसग्राही चेतना उद्बुद्ध, उन्मुख और संस्कृत हो सकती है। किन्तु सहृदय सामाजिक से जिसकी अपेक्षा है, वह पूरी नहीं होती। आम तौर से लोगों में यह जो सुन्दर शब्द का प्रयोग हम पाते हैं, वह हर ऐसी वस्तु या बात के लिए एक भावात्मक स्वीकृति भर होता है, जो कि अच्छी या अपने ढंग की अनूठी समझी जाती है। सिद्धान्ततः सौन्दर्य-शास्त्र का कार्य सौन्दर्य का स्वरूप-विवेचन भर ही है, किसी को इस योग्य बनाना नहीं कि वह सुन्दर की रचना कर सके अथवा उसे पूर्णतया हृदयंगम करा दे सके। फिर यह विषय कुछ ऐसा है कि जिसकी सहज प्रतीति तो हरेक को होती है, प्रतीति कराने की अक्सर पाण्डित्यपूर्ण चेष्टाएँ भूल-भ्रांतियों से भरी होती हैं। सौन्दर्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों तक में सुन्दर की अक्सर परिभाषाएँ ऐसी शाब्दिक हैं, जिनके

साथ सही-ग़लत का सवाल ही नहीं उठता; बहुत तो उन्हें सुविधा या असुविधाजनक अथवा सहज या जटिल कह सकते हैं। जटिलता की यह गुत्थी और उलझ ही जाती है, जब इसके कहलाने वाले समझदार स्वयं स्पष्ट और एकमत नहीं हो सकते। दुर्भाग्य से कला या सौन्दर्य के विचार-विश्लेषण में शुरू से आज तक ऐसा ही होता आया है। सर्व-साधारण और ऐसे विषयों के बीच की जो योजक कड़ी हैं, वे तो ऐसे व्याख्याता-विचारक ही हैं किन्तु चूँकि वह योजक रेखा ही विषय के आदि-अन्त के मूल बिन्दुओं के बीच उलझनों में भटकी-सी है, इसलिए ऐसे सामाजिक संस्कार का फिर सवाल ही कहाँ उठता है।

हिन्दी में इन विषयों को गहरी और शास्त्रीय चर्चाएँ थोड़े दिनों से होने लगी हैं, जो कला के अभिमूल्यन की नई दृष्टि सम्पन्न जागरूकता की परिचायक हैं और इसी बीच कुछ ग्रन्थों में इस विचार-परम्परा के प्रति व्यापक जिज्ञासा, गम्भीर मनन एवं भेदक अन्तर्दृष्टि के भी दर्शन मिलते हैं। भूल-भ्रांति के कुहरे-भरे मार्ग पर सहज-सुगम रोशनी की लकीर खींचने की कोशिश भी इस दिशा में दिखाई दे रही है, जो कि शुभ है। इस सम्बन्ध के उल्लेख योग्य ग्रन्थ तो हिन्दी में कई हैं, पर यहाँ हम उनमें से तीन को ही अपने इस प्रबन्ध में ले रहे हैं, 'कला और मानव', 'सौन्दर्य शास्त्र', तथा 'कला और संस्कृति' देखने में अलग-अलग दिशा में होते हुए भी तीनों का क्षेत्र लगभग एक है; एक-दूसरे से घनिष्ट सम्बन्धित हैं। दूसरे शब्दों में यों कहें, प्रत्येक का अस्तित्व अन्य दो पर ही पूर्णतया आश्रित है।

'कला और मानव' चार निबन्धों का छोटा सा संग्रह है और अंग्रेजी पुस्तक का भाषान्तर है। निबन्धों में कला और सौन्दर्य-शास्त्र के आपसी सम्बन्धों पर संक्षिप्त और सुचिंतित विचार दिये गए हैं, जिनमें स्वाध्याय और मानवशीलता की छाप स्पष्ट है और विषय प्रतिपादन के लिए जिन तर्कों की अवतारणा की गई है, वे बेशक जोरदार हैं, निर्णय चाहे मान्य न हों। लेखक की नई दृष्टि का परिचय इस स्थापना की चेष्टा से मिलता है कि उन्होंने कला वस्तु और माध्यम के अन्तर का विशद विवेचन करते हुए यह दिखाया है कि अभिमूल्यन-सम्बन्धी सारी भूल-भ्रांतियाँ अब तक माध्यम विचार की भूल से ही होती रही हैं। "कोई एक साल की बात है शायद लन्दन के टाइम्स के लिटरेरी सप्लिमेण्ट में कला की व्याख्या करते हुए किसी समालोचक ने कहा था कि कला माध्यम के रूप में आकृति का निर्माण है। मेरे खयाल में इससे अधिक सच्ची व्याख्या मिलना कठिन है। हमें केवल इस बात को समझ लेना चाहिए कि हम इस व्याख्या के 'माध्यम' को ठीक समझ रहे हैं या नहीं। मेरा विश्वास है कि किसी भी मान्य सौन्दर्य-शास्त्र का अपेक्ष्य अंग इस शब्द का पूरा-पूरा विश्लेषण है और यदि इसके ठीक अर्थ और महत्व को समझ लिया जाय तो प्रतिनिधान (रिप्रेज़ेंटेशन) और अप्रतिनिधान (नन-रिप्रेज़ेंटेशन), सत्य, प्रकृति की नकल, ललित कला के रूप में कविता क्या है आदि समस्याएँ, जो हमारे कला-समीक्षकों को भ्रांति में डाल रही हैं, स्वयं ही हल हो जायँगी।"

माध्यम का पचड़ा बड़ा पेचीदा है। इसमें कोई शक नहीं और प्रस्तुत पुस्तक में बड़े विस्तार से, सशक्त युक्तियों द्वारा बड़ा अच्छा विवेचन किया गया है। त्रिपदात्मक प्रवृत्ति के बीच का पद माध्यम है, इसे मानकर सुगमता से काम चल सकता था, बशर्ते कि कला आदि का सम्बन्ध बहुपदात्मक नहीं होता। मसलन संगीत की बात ली जाय। गायक, गीत, ध्वनि, ध्वनिवाहक

शून्य, वायु, श्रवण, श्रोता—इन इतनी श्रानुषंगिक बातों में कौनसी को तीसरा पद माना जाय। अन्य कलाओं के साथ भी ऐसी ही उलझन आती है और ऐसे में निश्चय रूप से तीन पदों का निर्वाचन एक टेढ़ा काम है। लेखक ने इन्हें भी सापेक्ष त्रिपदात्मिका मानकर एक ऐसे निर्णय पर पहुँचने की कोशिश की है, जिसमें उनके जानते विवाद की गुञ्जाइश नहीं। किसी कला के प्रथम और तृतीय पद उनकी राय में सौन्दर्यनिष्ठ संवेद्यता और सौन्दर्य होते हैं और माध्यम कला-वस्तु। सौन्दर्यनिष्ठ संवेद्यता से हम कह सकते हैं उनका अभिप्राय सृजनक्षम प्रतिभा से या उसके अधिकारी कलाकार से है। एक स्थान पर साधारण मनुष्य और कलाकार में कुछ पार्थक्य उन्होंने बताया है कि साधारण मनुष्य की प्रकृति और कलाकार की प्रकृति में केवल यही अन्तर है कि कलाकार में सौन्दर्य-सम्बन्धी संवेद्यता निश्चित रूप से रहती है। इस संवेद्यता की भी अपनी प्रकृति होती है कि वह इन्द्रियजनित संवेदनाओं को सूक्ष्म रूप में ग्रहण करने वाली तथा तत्पर होती है। इस तरह संक्षेप में वह रूप यों होता है।

	कलाकार	माध्यम	सौंदर्य
यथा	चित्रकला	संसार का दर्श- नीय अंग, रंग रेखा, पुँज आदि	सौंदर्य

इस निश्चय से समस्याओं के निराकरण हो जाते और आपत्तिजनक कोई अंजाम नहीं निकलता, तो बात नहीं थी। इस माध्यम विचार की स्थापना में कुछ ऐसी बातों की अवतारणा हो आई, जिनमें काफी कुछ कहने-सुनने की गुंजाइश हो गई, बल्कि स्वयं परस्पर विरोधी बातें भी आ गईं, यथा ललित-कलाओं के वैधानिक-क्रम में कविता का स्थान सबसे नीचे रखना। ऐसे क्रम में कविता का स्थान यहाँ वा वहाँ हो, अपना वैसा कोई आग्रह नहीं; कविता जहाँ भी होगी, अपने गुण और शक्ति के अनुरूप वह कविता होगी। किन्तु उसके लिए जो बात कही गई है, उस पर ही बात आती है। प्रस्तावना में लेखक कहते हैं—"तुकबंदी मेरे खयाल में अशोध्य कमजोरी है।''''मेरा यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि कविता पूर्ण रूप में संतुष्ट नहीं करती। यह इस मानवी संसार की चाल-ढाल से दूषित है और संसार की क्षणभंगुरता इसमें इस प्रकार गुँथी है कि यह शक किये बिना नहीं रहा जा सकता कि इसकी उस क्षणभंगुरता के अतिरिक्त और कोई सार्थकता नहीं।"

'ललितकला के रूप में कविता का स्थान' में कहते हैं—"कविता से निर्मल यानी सौंदर्यनिष्ठ आनन्द की प्राप्ति केवल इसलिए होती है क्योंकि उसके सब तत्त्व अनियमानुसार संगठित हैं, यानी लय और व्यतिरेक के नियमों के अनुकूल हैं। परन्तु यह आनंद उतना गहरा नहीं, जितना अन्य ललितकलाओं से प्राप्त आनंद हो सकता है।"

लेखक ने काव्यानंद की क्षीणता के दो कारण बताए हैं। एक : कविता संवेदनाओं के सभी गुणों का प्रयोग कर लेती है और सभी इंद्रियों को साथ ही क्रियाशील करती है। दूसरा : काव्यमय संवेदनाएँ असली संवेदनाएँ बिलकुल नहीं हैं, केवल उनकी प्रतिक्रिया मात्र हैं और चूँकि कविता में असली संवेदनाओं की गहराई, वास्तविकता नहीं रहती, इनकी आनंददायिनी शक्ति भी कम होती है।

शास्त्रकारों ने ऐसी शंकाओं का बड़ा विस्तार से और सूक्ष्म विवेचन किया है, जिस

विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। प्रसंगवश स्वयं लेखक ने इसी पुस्तक में यत्र तत्र जो मंतव्य दिये हैं, संक्षेप में वही इसके उत्तर हो सकते हैं। यथा—कवि के अनुभव अधिक परिपूर्ण और कम क्षीण होते हैं।"[1] "इन्द्रियों द्वारा विश्व के विभिन्न अंगों के, उनकी अपूर्व घनिष्ठता और पवित्रतामय रूप में, तीव्र आस्वादन तक पहुँची हुई सौंदर्यनिष्ठ संवेद्यता ही कलाकार का निर्माण करती है।"[2] "ऐंद्रिक संवेदनाओं में यह श्रेष्ठ आनन्द जिस में उनके अभिप्राय की छाया भी न हो, संवेद्यता का तथ्य है।......"[3] जो संवेद्यता कला की मूल प्रेरणा है, उसका अगर स्वरूप ही उपयुक्त है, तो आनन्दशक्तिसम्पन्न वास्तविकता का और कौन-सा रूप हो सकता है, जो काव्य में नहीं मिलता?

कविता की क्षण-भङ्गुरता तब शायद स्पष्ट हो पाती, जब कि नित्यता की आयु का निश्चित परिमाण मालूम होता। उपन्यासकार शरच्चन्द्र ने भी एक बार यही बात कही थी कि किसी देश का साहित्य नित्यकाल का नहीं होता। संसार की सभी सृष्ट वस्तुओं की तरह इसके भी जन्म और विनाश का क्षण होता है। इस 'नित्य' शब्द का कोई गोल-मोल अर्थ तो अपने को नहीं आता, पर अगर दीर्घजीवन क्षण-भङ्गुरता का उत्तर है, तो कविता की लम्बी आयु के हम प्रमाण दे सकते हैं। राम नहीं रहे, 'रामायण' है; कौरव-पाण्डवों के प्रतापी पराक्रम का सूरज डूब गया और 'महाभारत' है; उज्जयिनी के वे दिन जाते रहे, कालिदास की कविता है। ऐसे और अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। दो कवियों की उक्तियाँ भी.......

We have found safety with all things undying
The winds, and morning, tears of men and mirth,
The deep night, and birds singing and clouds flying
And sleep and freedom, and the autumnal earth.

और

युगे-युगे लोक गिये छे एसे छे
दुखीरा केंदे छे, सुखीरा हंसे छे
प्रेमिक ये जन भालो से बेसे छे
आजि आमादेरि मतो।
तारा गे छे, शुधु ताहादेर गान
दुहाते छड़ाये कोटे गेछे दान
देशे-देशे तार नाहिं परिमाण
भेसे-भेसे जाय कतो।

अन्य ललित कलाओं जैसा गहरा आनन्द काव्य से नहीं प्राप्त होता, इस पर युक्तियाँ दी जा सकती हैं, पर बात जैसे जँचती नहीं। संगीत हमारी अनुभूतियों को मूर्त करने में सफल है, किन्तु उसका आधार अमूर्त ध्वनि होता है, कविता के द्वारा आध्यात्मिक जगत् को रूप देने की ज्यादा सुविधा है, इसलिए कि शब्दों की आत्मा से अधिक निकटता है। एक सज्जन ने सौंदर्य-चेतना को आध्यात्मिक कहते हुए यह बताया है कि हमारी सौंदर्यानुभूति का स्वरूप ध्वन्यात्मक रहा है, जिसका अभिप्राय यह होता है कि सौंदर्य का आस्वादन आँखों के बजाय कानों से ध्वनि

1. पृष्ठ २३ 2. पृष्ठ ११ 3. पृष्ठ १०

के रूप में किया जा सकता है। जो हो, इन बातों के सिवाय कविता की सबसे जो बड़ी विशेषता है, वह है अन्य सारी ललित कलाओं की अपनी जो एक खास अभिव्यंजना होती है, अपना जो एक ढंग होता है, कविता सफलता से उन सभी को अपने में ग्रहण करने की अद्भुत क्षमता रखती है। संगीत, चित्र, भास्कर्य, सबकी विशेषता को यह अपने में प्रतिफलित कर सकती है। संगीत की गेयता से ही सम्पूर्ण गीति-कविता अनुप्राणित है। कालिदास की कविता में उसके उदाहरण हैं। अंग्रेजी की सारी रोमाण्टिक कविता, बंगला में कवि रवीन्द्र के गीत, हिंदी में छायावाद की श्रेष्ठ रचनाएँ, गीत और चित्र के मनोरम समन्वय हैं। क्लासिक-साहित्य में तक्षण और स्थापत्य की भंगिमा भरपूर है। सारा संस्कृत-साहित्य, लैटिन-साहित्य भास्कर्य की भंगिमा से महिमामय हो उठा है। फिर काव्य की अपनी शक्ति और विशेषता तो है ही। जहाँ तक सांसारिक चाल-ढाल से दूषित होने की आशंका है, वह केवल कविता से ही क्यों, प्रत्येक ललित कला की प्रेरक सौंदर्य-निष्ठ संवेद्यता उसकी शिकार मानी जा सकती है। क्रोचे ने तो स्पष्टतया यह कहा है कि वास्तविक सौंदर्य तो वही है, जो शिशु की आँखों से देखा गया होता है। आन्तरिक विकास के कारण और सामाजिक जीवन की जटिलता की वजह से हमारी विशुद्ध सौंदर्य-चेतना नैतिक और व्यावहारिक क्रियाओं से ढक जाती है।

कविता का माध्यम लेखक भावनात्मक अर्थ मानते हैं और शब्द, ध्वनि, संगीत का उसके लिए कोई मूल्य-महत्त्व नहीं मानते। शब्द के उन्होंने दो अंग कहे हैं—संवेदनात्मक और आशयात्मक। संवेदनात्मक रूप में शब्द ध्वनि का विषय, श्रवण-सम्बन्धी चेतनाओं का मिश्रण और स्वरों तथा व्यंजनों का समुदाय है। परन्तु भाषा में ध्वनियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता—वह महज वस्तुओं के प्रतीक का काम देती है। आशयात्मक शब्दों के भी उन्होंने दो पहलू दिये हैं—संज्ञानी और भावनात्मक तथा इस भावनात्मक की भी दो शाखाएँ की हैं—निरपेक्ष व स्वतन्त्र तथा सम्भाव्य व आश्रित। और इस प्रकार उनके निर्णय का रूप जो होता है, वह है,
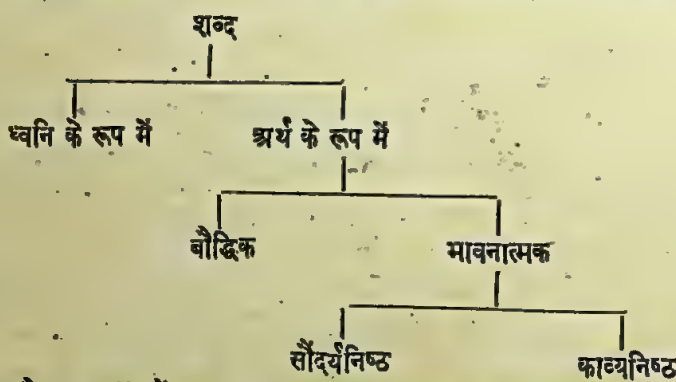
और तब कहते हैं शब्द, जहाँ तक कि वे शब्दों और अर्थों दोनों को उपलक्षित करते हैं, कविता का माध्यम नहीं। शब्द तभी कविता का माध्यम कहे जा सकते हैं यदि हम शब्दों का तात्पर्य कविता की तरह का भावात्मक अर्थ समझें।

शब्द, अर्थ, भाव—कविता में इनके अर्थ—अभिप्राय और सम्बन्ध बहुत बार एक-से होते हैं। शब्द और अर्थ तो पार्वती-परमेश्वर के समान अभिन्न माने गए हैं :

> वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
> जगतः पितरौ वंदे पार्वती-परमेश्वरौ॥

अभिनवगुप्त ने उस काव्यार्थ को भावना मानने में सहमति दिखाई है, जो पाठक-चित्त में विज्ञापित होकर रस-रूप में अनुभूत होते हैं—

संवेदनाख्य व्यंग्य परसंवित्ति गोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवा रसः काव्यार्थ उच्यते ॥

जिस भाव को इमोशन कहते हैं, उसे ही संविद् या ज्ञान भी कहा जाता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति और लय ज्ञान-रूप में ही होता है। भरत ने कहा है :

वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः ।

अर्थ शब्द का अर्थ अभिधेय नहीं, बल्कि मूल रूप से काव्य जो प्रकाशित करना चाहता है, अर्थ वह है और इस तरह काव्य की अभिप्रेत वाणी रस या सौंदर्य ही है। ध्वनिकार ने भी शब्द और उसके साधारण अर्थ के अतिरिक्त एक प्रतीयमान अर्थ का उल्लेख किया है, जो अवयवों से परे लावण्य की तरह रहता है।

काव्य-पाठ में इन शब्दों की एक साथ ही कितनी पृथक् क्रियाएँ सम्पन्न हो जाती हैं, रिचर्ड्स ने अपने काव्यास्वादन-सम्बन्धी सिद्धान्त में इसे बताया है। कविता पढ़ते समय एक ओर तो हम शब्दों को आँखों से देखते हैं, दूसरी ओर मन के कानों से उनकी शब्दात्मक ध्वनिमूलक कल्पना तिरने लगती है। और उच्चारण में वाग्यंत्र के अनुभव की छाया भी उस पर पड़ती है। इन सबके सम्मिलित प्रतिक्रियास्वरूप चित्त में जो एक आलोड़न उपस्थित होता है, वासनारूप उससे जो एक नया मानसिक व्यापार खड़ा होता है, वही काव्यास्वाद का कारण होता है। इसलिए भावनात्मक अर्थ कविता का माध्यम हो, कोई बात नहीं, शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध और साधित उद्देश्य के स्वीकृत स्वरूप के समझने में भ्रम नहीं पैदा होना चाहिए। ध्वनियों के सौंदर्य का भावनात्मक अर्थों के सौंदर्य में स्वाभाविक प्रक्रिया से ही रूपान्तरण हो जाता है। हर्बर्ट रीड ने शब्दों की रूपमयता के लिए कहा है, कविता शब्दों में व्यक्त होती है और शब्द प्रतिमाएँ खड़ी करते हैं, सो कविता में हमें इन दोनों के लिए सतर्क होना चाहिए।

हमारी अपनी धारणा है, कविता रूप-सृष्टि है—वांगमयी मूर्त्ति। भाषा में अभिव्यक्त होकर भी इसके रूप होता है, भाषा नहीं होती। सृष्टि तो संगीत, चित्र, मूर्त्ति भी हैं, परन्तु वे रूपाश्रयी न होकर भावाश्रयी हैं; रूपायन तो कविता ही है। सृष्टि-रचना की कोई चीज बोलती नहीं, अपितु हमारे अंतर में अपने को प्रकाशित करके ही सार्थक हो लेती हैं। दृष्टि में उनका अर्थ-बोध है। काव्य की भाषा भी बोलने के बजाय रूप खड़ा करती है, इसलिए कलाकृति को समझना नहीं पड़ता, वह समझ आती है।

हीगेल ने आधार की मूर्त्तता के आधार पर कला की उच्च-निम्न कोटि कायम की थी। किन्तु प्रस्तुत लेखक जब यह कहते हैं कि यह विभक्तिकरण का ग़लत प्रनियम है, क्योंकि प्रयुक्त सामग्री या भौतिक पदार्थों की महत्त्वहीन विभिन्नताओं पर आधारित है, तब वे स्वयं क्यों वैधानिक क्रम बनाने में लग जाते हैं, यह बात समझ में नहीं आती। माध्यम स्वरूप वे जागतिक उपकरण को नहीं मानते, पार्थिव-जगत् के अंग-विशेष को मानते हैं; कला का प्रथम पक्ष या प्रेरणा सौंदर्य-निष्ठ संवेद्यता को मानते हैं और काव्य या अन्य कलाओं की एक ही स्थापना सौंदर्य मानते हैं, तो ऊपर-नीचे या छोटी-बड़ी जाति या कोटि क्या हो सकती है? प्रत्येक कला सृष्टि है, इसलिए मूल्य और महत्त्व की दृष्टि से उन सबका समान होना जरूरी है, बल्कि सब समान हैं। क्रोचे ने तो

ऐसी सारी पुस्तकें जला देने की बात कही थी, जिनका ताल्लुक कला के वर्गीकरण से हो।

इन कुछ बातों को छोड़कर विश्लेषण, तर्क और पैनी अंतर्दृष्टि से पुस्तक का अपना मूल्य है और वह एक नई दृष्टि देती है, जो विचारोत्तेजक है।

भारत की कला-साधना की कड़ी बड़ी लम्बी है और विभिन्न कलाओं में उसके अभिनव दान की अपनी विशेषता और महत्त्व है। इससे भारतीय जीवन में सौंदर्य-बोध का अवश्य ही महत्त्वपूर्ण स्थान था, यह प्रमाणित होता है। किन्तु सौंदर्य के स्वरूप का सार्वभौम विवेचन अपने यहाँ एक प्रकार से किया ही नहीं गया। साहित्य के आचार्यों ने वाङ्मय के विस्तृत विवेचन में सौंदर्य की प्रासंगिक चर्चा जरूर की है, पर ऐसी कोई प्राचीन पोथी नहीं पाई जाती जिसमें कि सौंदर्य का सर्वांगीण तथा तात्त्विक विवेचन किया गया हो। भरत से पंडितराज जगन्नाथ तक की आचार्य परम्परा में वाङ्मय का जरूर इतना सूक्ष्म विचार किया गया है, जैसा कि और कहीं नहीं किया गया, किन्तु वह विचार रस, अलंकार, ध्वनि-वक्रोक्ति आदि तक ही सीमित रहा। सबसे पहले वक्रोक्तिजीवितकार कुंतक फिर पंडितराज जगन्नाथ ने ही रस-ध्वनि के अतिरिक्त सौंदर्य की एक विशेष चित्तभाव के रूप में चर्चा और स्थापना की। इस मान्यता से काव्य-विचार की एक अधिक उदार एवं नई दिशा जरूर खुल गई, परन्तु उस रमणीयता के स्वरूप-विचार का खास कोई आग्रह या प्रयास सामने नहीं आया, जब कि इस गूढ़ एवं आवश्यक विषय पर विदेशों में एक लम्बे अरसे से बड़े-बड़े विचारकों ने बड़े और महत्त्वपूर्ण कार्य किये। आज हिन्दी में वह चेतना और तत्परता अवश्य दिखाई दे रही है, फिर भी फुटकर लेखों के सिवाय सौंदर्य-शास्त्र सम्बन्धी काम की पुस्तक हिन्दी में उल्लेख-योग्य नहीं दिखाई देती। बहुत पहले श्री हरिवंशसिंह शास्त्री की छोटी सी पुस्तक 'सौंदर्य-विज्ञान' निकली थी; उस दिशा में दूसरी यह 'सौंदर्य-शास्त्र' है।

जैसा कि पुस्तक का नाम है, वास्तव में वैसे गूढ़ शास्त्रीय विवेचन का भारी-भरकम स्वरूप तो इसका नहीं है, पर यह एक सुन्दर परिचयात्मक कृति है, जो सौंदर्य-सम्बन्धी नवीन उद्भावनाओं के क्रमिक रूप और इतिहास : रूप और स्वरूप; भौतिक और आध्यात्मिक विचार-परम्परा और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि पर उपयोगी प्रकाश डालती है और कला-सौंदर्य के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में संक्षेप में विचार करती है। सौंदर्य की शास्त्रीय विवेचना सौंदर्य-शास्त्र का काम है और शास्त्र वह है जो वस्तुओं के चेतन स्वरूप और उनके आध्यात्मिक प्रभावों को व्यवस्था देता है। व्यवस्था की मूल बात वास्तव में संगति है—यह विज्ञान और शास्त्र दोनों को मान्य है, भेद दोनों में वास्तविक और आध्यात्मिक दृष्टि का है। प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण का जो साधारण अनुभव है, विज्ञान का लक्ष्य उसी तक जाता है और आन्तरिक अनुभवों के मनन से सत्य की प्रतीति शास्त्र का काम है, क्योंकि विचार के निर्णय की सत्यता अनुभवों की अनुकूलता पर ही प्रतिष्ठित होती है। अतएव शास्त्र की जिम्मेदारी सिर्फ इतनी ही नहीं होती कि वह सौंदर्य के रूप और स्वभाव का निश्चय करे, बल्कि सौंदर्य का आध्यात्मिक पहलू, तज्जात आनन्द-चेतना और उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया का विचार-विश्लेषण भी उपस्थित करना होता है। सौंदर्य-शास्त्र से हमें उस व्यावहारिकता और उपयोगिता की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए कि वह कलालोचकों को सौंदर्य के निर्णीत मान दे या रचनाकारों को कलाकृति के निर्माण के बँधे-सधे तौर-तरीके बताए। जो लोग इस उपयोगितावादी दृष्टि से इसे टटोलेंगे, उन्हें निराशा ही मिलेगी। मनोवैज्ञानिक, सामाजिक या आर्थिक उपयोगिता के बिना

यदि सौंदर्य की परिभाषा सम्भव न हो, तो कहना होगा कि सौंदर्य-शास्त्र का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः अपने तौर पर सौंदर्य-विवेचन की यह विशेषता एक कठोर उत्तरदायित्व है, जिससे सौंदर्य-शास्त्र पर आज तक जटिलताओं का बोझ बढ़ता रहा है और सौंदर्य एक अजीब गुत्थी होकर सामने आता रहा है। दर्शन और विज्ञान की पद्धतियों पर उसके बहुत ही सूक्ष्म और विशद विवेचन किये गए हैं, फिर भी निर्विवाद और सामान्य मान्य स्वरूप अभी तक परीक्षित है। सबका सार अभी तक तो इतना ही हासिल है कि सौंदर्य सत्य है, किन्तु वह समझने की वस्तु है, समझाने की नहीं।

लेखक ने अब तक का उद्‌भावित सभी विचार-पद्धतियों की चर्चा से सौंदर्य के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। पहले अध्याय में तो शास्त्र क्या है और उसके अनुकूल सौंदर्य-शास्त्र क्या है, यह विस्तार से बताने की चेष्टा की है। पुस्तक के रूप, भोग और अभिव्यक्ति, सौंदर्य और आनन्द तथा कला में सौंदर्य—ये तीन अध्याय सुलिखित और अधिक उपयोगी हैं, जिनसे विषय के स्वरूप पर बहुत कुछ रोशनी पड़ती है। रूप के बारे में लेखक कहते हैं, रूप के अध्ययन में हमें यह समझना आवश्यक है कि यह गुण भोग-पदार्थों में निहित होते हुए भी उनसे पृथक् है। भोग्य पदार्थ इसके अवयव हैं और रूप अवयवी है।···व्यापक अर्थ में रूप का अर्थविन्यास, संयोजन, संगठन, संघटन, अथवा व्यवस्था किया जा सकता है जिससे अनेकों में एकता का बोध होता है। ध्वनि में भी रूप होता है, जिससे संगीत का जन्म होता है; गति में भी रूप होता है, जिससे नृत्य की अनुभूति उत्पन्न होती है।

तत्त्वतः बात यह निकलती है कि संगीत सौंदर्य का कारण है। आधुनिक विज्ञान भी रूपगत गुणों को सापेक्षता, संगति, समता और सन्तुलन आदि से ही निर्दिष्ट करता है।

रूपबोध और रूप-रचना में इसी समग्रता से आनन्द या सुख मिलता है। इस अर्थ में संगति वास्तव में विरोध का अभाव है। उसकी आनुपातिक मात्रा को निर्दिष्ट कर सकना तो सम्भव नहीं, परन्तु उसकी निश्चित या आवश्यक पूर्णता में ही सौंदर्य और आनन्द की अवस्थिति है। उस संगति को सन्तुष्टिप्रद संगठन-भर कह सकते हैं। रचना में जिस आनन्द की अभिव्यक्ति को अलौकिक, स्वर्गीय आदि कहने के लोग आदी हैं, उसका वाच्यार्थ ही हकीकत में अभिप्रेत नहीं होता; वह एक ऐसे आविष्कार से अभिप्राय रखता है, जो कि सामान्यतया लोकचक्षु के अन्तराल में होता है और इसीलिए रचनाकार में एक दिव्य दृष्टि मानी गई है।

Poetry alone can tell her dreams;
With the fine spell of words alone can save
Imagination from the sable chain
And dumb enchantment.

यानी मन की असीम आकांक्षा मानो एक माया की कठोर काली जंजीर से बँधी है; स्वप्न को शब्दों में रूप देने की क्षमता केवल कविता में ही है, काव्य ही शब्दों की जादूशक्ति से बन्दी भावों को मुक्त कर सकता है।

यह अज्ञात, अरूप, अजाने को रूप देने का काम प्रत्येक कला करती है, कोई स्वर से, कोई रंग से और वहीं कला का सम्बन्ध सौंदर्य-शास्त्र के विचार से जुड़ जाता है। पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्री इसे मूर्तकरण (ऑब्जेक्टिफिकेशन) कहते हैं। अपने यहाँ अभिनवगुप्त ने इसे 'शरीरीकरण' कहा है। इस रूप से हमें जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह हमारे मन की

आस्वादन क्रिया का नाम है। जैसे अर्थ। अर्थ अपने पार्थिव शरीर या शब्द का बोधक नहीं, बल्कि समझने की क्रिया है। इसी प्रकार वस्तु में प्रतीयमान या प्रत्यक्ष होने पर भी सौंदर्य रसिक की आत्मा की जाग्रत आस्वादन-क्रिया का नाम है।

पुस्तक में अनेक तथ्य और सत्य समाविष्ट हैं, जिनसे हिन्दी-पाठक लाभान्वित होंगे। सौंदर्य एक यथार्थ अनुभव है और वस्तु से लेकर आत्मा के प्रभाव तक उसकी जो लम्बी प्रक्रिया होती है, सौंदर्य-शास्त्र का उद्देश्य उसी को समझाना है, जो एक कठिन ही नहीं, कठोर काम भी है। इस क्षेत्र में हिन्दी में अभी पर्याप्त प्रयास की अपेक्षा है।

संस्कृति की भी चर्चा हमारे यहाँ बात-बात में होती है और हर विषय के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है—धर्म और संस्कृति, शिक्षा और संस्कृति, सभ्यता और संस्कृति, साहित्य और संस्कृति, विज्ञान और संस्कृति—आदि इत्यादि। किन्तु उसके व्यापक और प्रकृत स्वरूप की निश्चित धारणा सहज नहीं। आदिमकाल से लेकर आज तक मनुष्य की जो आशातीत उन्नति हुई है, उसकी मुख्यतया दो दिशाएँ हैं। जीवन की मोटी जरूरतों के बाह्य उपादानों के विकास से यह सभ्यता रूप ले सकी है और आध्यात्मिक विकास के फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-कला की जो शाखा पल्लवित हुई है, वह मनुष्य की संस्कृति की दिशा है। विचार और धर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है।

'कला और संस्कृति' में स्वाध्यायशील मनस्वी लेखक ने न केवल विचारों से स्वरूप की विवेचना की है, बल्कि प्राचीन साहित्य, कला और जीवन की साधना से जो उसका एक अखंड-अनन्त स्रोत प्रवाहित होता आया है, उसका भी बड़ा मार्मिक विवेचन किया है और सत्य की अनेक ज्ञातव्य दिशाओं का सोदाहरण संकेत किया है, संस्कृति और कला के सम्बन्ध में सुलझे और हृदयग्राही विचार व्यक्त किये हैं। संस्कृति मानवीय जीवन की प्रेरक शक्ति है, वह जीवन की प्राणवायु है जो उसके चैतन्य भाव की साक्षी देती है। संस्कृति विश्व के प्रति अनन्त मैत्री की भावना है। प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालीन हलचल का लोकहितकारी तत्त्व उसकी संस्कृति है। संस्कृति राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है। स्थूल जीवन में संस्कृति की अभिव्यक्ति कला को जन्म देती है। कला का सम्बन्ध जीवन के मूर्त रूप से है। संस्कृति को मन और प्राण कहा जाय, तो कला उसका शरीर है। संस्कृति इसलिए आवश्यक है कि भविष्य में विचारों की दासता से मानव की रक्षा हो और कला इसलिए आवश्यक है कि यन्त्र की दासता से मनुष्य अपने को बचा सके। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है।

पुस्तक का मूल्यवान अंश विचारों की इन लड़ियों में नहीं, जितना कि लेखक के उन प्रकरणों में है, जहाँ उन्होंने भारतीय सौंदर्य-परम्परा, रूप-विधान की समृद्धि और विकसित सशक्त शब्दावली का मूल्यवान अध्ययन और अनुशीलन उपस्थित किया है। जैसा कि लेखक ने कहा है, बंगाल की अल्पना, राजस्थान के मँहदी माँड़ने, बिहार के ऐंपन, उत्तर प्रदेश के चौक, गुजरात-महाराष्ट्र की रँगोली और दक्षिण भारत के कोलम, इनके वल्लरी-प्रधान और आकृति-प्रधान अलंकरणों में कला की एक अति प्राचीन लोकव्यापी परम्परा आज भी सुरक्षित है। उसे अपनी शिक्षा और सार्वजनिक जीवन में पुनः प्रतिष्ठित करना होगा। इसी प्रकार से वस्तु, आभूषण, बरतन, उपकरण, चित्र, शिल्प, खिलौने, जहाँ जो सौंदर्य की परम्परा बची है, उसे

सहानुभूति के साथ समझकर पुनः प्रतिष्ठित करना होगा।

पुस्तक में २७ लेख हैं और समय-समय से लिखे गए होने के कारण उनमें एकतारता अवश्य नहीं है, पर सब-के-सब संस्कृति और शिल्प से ही सम्बन्धित हैं। चाहें तो सबको तीन कोटियों में बाँटकर देखा जा सकता है—भावात्मक, विश्लेषणात्मक और शोध अध्ययन। मनु, पाणिनी, वाल्मीकि, व्यास में अध्ययन और नवीन जीवन दर्शन की छाप है। 'राजघाट के खिलौनों का अध्ययन', 'मध्यकालीन शस्त्रास्त्र', 'भारतीय वस्त्र और सजावट' में भारतीय राष्ट्रीय कला, सौंदर्य-साधना और कला-रचना का शोधपूर्ण विवरण ही नहीं, विचारपूर्ण विवेचन भी है। तथ्यों और उनको रखने की युक्ति में नई दृष्टि के आकर्षण से पुस्तक पठनीय और उपादेय है। इससे लेखक के गम्भीर अध्ययन का ही परिचय नहीं मिलता, नियोजन की नवीन दृष्टि भी मुग्ध करती है।[1]

श्रीपतराय

नैराश्य के पुजारी

श्री जैनेन्द्रकुमार हमारे कथा-साहित्य के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। उनकी प्रतिभा अप्रतिम है। एक छोटे उपन्यास 'परख' तथा कुछेक और कहानियों के बल पर जितना यश उन्हें मिला वह अभूतपूर्व है और अनुचित कदापि न था। उनमें बड़ी मौलिकता, विचारों में बड़ी निर्भीकता, उनके लेखन में बड़ी मार्मिकता और शक्ति थी। उनकी शैली का सौन्दर्य सूक्ष्मतम मानवीय मनोभावों में उनकी गहरी पैठ के प्रति प्रेम और आदर जगाता था। उनके विचार गहरे और सुलझे हुए थे। वे एक अनोखी मौलिकता और अभिव्यंजना लेकर साहित्य में आये और खूब चमके। एक समय था कि उनकी शैली के अनुगामी अनेक नवविकसित लेखक थे। इन अनुगामियों की बहुत बड़ी पंक्ति थी। जैनेन्द्रजी सच ही बड़े बुद्धिमान हृदय-धर थे। बुद्धि और हृदय का इतना सफल समागम, सामंजस्य दुष्कर था। उनकी अनेक कहानियाँ, उनके उपन्यास 'परख', 'त्याग-पत्र' सचमुच ही कृतित्व के रत्न हैं। वे हमारे साहित्य की अमूल्य निधि हैं। पर वह सारी चमक, वह सारा चमत्कार गया कहाँ? आज तो उसकी कल्पना भी दूभर है। वे राह शायद वहाँ भटके जहाँ उन्होंने कहानी कहने की कला अथवा क्षमता को गौण मानकर दर्शन के ऊसर मटियाले आकाश में विचरण का स्वप्न देखा। जो वह थे वह कुछ कम स्पृहणीय न था कि वे उसके साथ ही दार्शनिक बनने की आकांक्षा को भी पोषित करते। (साहित्यकार का दर्शन उसका साहित्य क्यों न हो?) वहाँ वे राह भटके तो फिर राह न पाई, न पाई। जीवन में व्यक्ति राह एक ही बार खोता है, क्योंकि फिर और कुछ खोने को बचता ही नहीं।

---

१. 'कला और मानव'—बाल सीताराम मर्ढेकर
'सौन्दर्य-शास्त्र'—डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।
'कला और संस्कृति'—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद।

आज यह सोच-सोचकर कलेजा मुँह को आता है कि उनके अन्दर जो कोमल, स्पन्दनशील, विवेक-आप्लावित कलाकार था उसे दर्शन के मिथ्याभिमान ने गला घोटकर मार डाला। आज वह कलाकार दम तोड़ चुका है और लगता है कि अब कोई शक्ति—दैवी या मानवी—उनकी रक्षा नहीं कर सकती। आज हम उनके दो हाल में प्रकाशित उपन्यासों की मीमांसा करेंगे।

उपन्यास शब्द के साथ वास्तविक अनुभव का लगाव आवश्यक है। उपन्यास एक क्रम-बद्ध कथा है जो इतिहास की भाँति चाहे नितान्त घटित न भी हो—होना कुछ आश्चर्यकर भी नहीं है—पर उसका सम्भाव्य होना आवश्यक है। उपन्यास का सबसे सीधा प्रयोजन यह होता है कि वह प्रकृति से लिये हुए चित्रों और दृश्यों के माध्यम से मनोरंजन करे और उन चित्रों अथवा दृश्यों को भावनाजन्य वर्णन में बाँधे। उपन्यास को मैं लेखन-कला का उत्कृष्टतम रूप मानता हूँ। इसे मैं संसार की कल्पना-संस्कृति के आधुनिक युग का सबसे बड़ा उपहार भी मानता हूँ। नाटक, संगीत, चित्र और वास्तु-कला के पीछे विकास का एक बहुत बड़ा इतिहास है जैसा कि उपन्यास के पास नहीं है। उपन्यास का जन्म, ऐतिहासिक मानदण्डों से, अभी बहुत अल्पकालीन है। आज इसका व्यास बहुत बड़ा है और यह सामान्य कथा-उद्घाटन से लेकर दार्शनिक चिन्तन तक को अपनी परिधि में बाँधता है। उसकी सफलता उसमें वर्णित अथवा चित्रित तत्त्वों की मानवीय स्पन्दनशीलता पर आधारित होती है। पर उपन्यास मात्र कल्पना-मिश्रित गद्य नहीं है। वह है मनुष्य के जीवन का गद्य, उसके सम्पूर्ण जीवन को मुखर करने वाला गद्य। इसीलिए केवल ऊपरी चमक-दमक, शैली के चमत्कार से सफल उपन्यास का सृजन नहीं हो सकता; जहाँ केवल शैली का चमत्कार हो वहाँ समझ लेना चाहिए कि और कोई चमत्कार नहीं है। उसके लिए जीवन में गहरी पैठ, गहरी अनुभूति और व्यापक सहानुभूति की माँग पग-पग पर, पल-पल में होती है। और इसीलिए उसका कला-रूपों में इतना ऊँचा और महत्त्वशील स्थान है। और आगे, इसीलिए, उसमें सफलता इतनी दुष्प्राप्य है, उसका लेखन इतना कष्टकर एवं सर्वग्राही। उपन्यास और कला-रूपों से भिन्न इसलिए भी है कि उसमें वह शक्ति है कि जीवन के गोपनीय अन्तरंग—यथा, मानसिक संघर्ष—को भी वह पाठक के सम्मुख उद्घाटित करता है। इस प्रकार यथार्थ का यह चित्रण उससे भिन्न है जो कविता, नाटक, संगीत या चित्र-कला द्वारा होता है। उपन्यास अपनी परिधि में समूचे, अविभाज्य जीवन को समेटता है; कुछ भी नहीं है जो उसकी परिधि से बाहर है—मनुष्य का चेतन, अर्द्ध-चेतन अथवा अचेतन।

जितना पारदर्शी होकर उपन्यासकार का व्यक्तित्व इस माध्यम से सामने आता है उतना सम्भवतः किसी और माध्यम से आ ही नहीं सकता। कारण सरल है। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का उपन्यास प्रतिबिम्ब है—किसी तत्त्व-विशेष का नहीं, सम्पूर्ण जीवन का। इससे स्पष्ट है कि उपन्यासकार कुछ भी छिपाकर, बचाकर नहीं रख सकता। और उपन्यासकार के निजी जीवन की सचाई और निश्छलता का उपन्यास से और व्यापक कोई मापदण्ड नहीं है। चाहे अथवा अन-चाहे, उपन्यासकार का समूचा व्यक्तित्व उघड़कर जैसे प्रखर प्रकाश में पाठक के सम्मुख छिद्रा-न्वेषण की भिक्षा माँगता है। एक बार इस माध्यम को अपनाया नहीं कि फिर इसके अपरि-वर्तनीय नियम लेखक पर घटित हुए। कपट, छल, असत्य इस माध्यम के घातक शत्रु हैं। आलोचक चाहे क्षमा कर दे, आँख चुरा ले, पर काल और मानव बड़े कड़े और निर्मम निर्णायक

हैं। लेखक का असत्य, उसका कपट हीरक-कण की भाँति मन की अन्तरतम गहराइयों में भी चमक उठते हैं। कहाँ छिपाये लेखक उनको ? अन्ततोगत्वा, किसी उपन्यास की कसौटी उसका वह स्नेह होता है जो वह पाठक में उपजाता है, वैसे ही जैसे मैत्री या सखा-भाव की, या और भी किसी अन्य-उस गुण की जिसे परिभाषा की परिधि में बाँधा न जा सके। उपन्यास की तीक्ष्ण मानवता—या और आगे बढ़कर कहें तो उसकी दमघोंट मानवता—से बचना सम्भव नहीं है। मानवता से हम अपने जीवन में घृणा कर सकते हैं, (वह भी निरापद नहीं है) पर किसी कला-कृति में हमने उसको उन्नत करने का प्रयास किया या उस पर मुलम्मा चढ़ाया कि वह कला-प्रतीक धराशायी हुआ।

द्वितीय महायुद्ध से लेकर अब तक के हमारे उपन्यास-साहित्य में एक असीम निराशा परिलक्षित होती है। एक के बाद दूसरा उपन्यास मेरी इस धारणा को पुष्ट करता है। इसके कारण सामाजिक एवं नैतिक हैं। युद्ध के साथ-ही-साथ जीवन की गति में त्वरा उत्पन्न हुई। नौकरियाँ मिलीं, व्यापार बढ़ा, धन का विनिमय बढ़ा; आवश्यक वस्तुओं के मूल्य आसमान छूने लगे; इसकी आर्थिक प्रतिक्रिया भयानक हुई। चोरबाजारी से पैसा सुगमता से आने की राहें खुल गईं। मनुष्य की निकृष्टतम समाजद्रोही प्रवृत्तियों का नग्न रूप समस्त सामाजिक परम्पराओं को चीरकर उभड़ आया और समादृत हुआ। लेखक इस सारी उथल-पुथल में अपने को असहाय, निरीह, निहत्था महसूस करता था। उसके सारे नैतिक मानदण्ड ध्वंस हो गए। अपने जीवन की सामान्य आवश्यकताओं के लिए उसे पग-पग पर समझौता करना पड़ा। उसके अन्दर की मानवता, विवेक, का ह्रास हो गया। उसने समझा कि इतने बड़े परिवर्तन के सम्मुख उसका अपना कोई बल नहीं है। कुछ भी नहीं है जिसे वह बदल सके या जिसके विरुद्ध उसकी आवाज कारामद हो। इससे उत्पन्न होती है निराशा और कुण्ठा। पुराने नैतिक मानदण्ड ढह गए, नया कुछ अभी तक बना नहीं। निराशा और कुण्ठा, अपने बाह्य और आन्तरिक विश्व के बीच एक भयानक पार्थक्य के अस्तित्व से वह हताश हो उठा। उसे यह तक समझ में नहीं आया कि इन दो विश्वों के बीच एकात्मता, सामंजस्य अथवा पार्थक्य महान् साहित्य के लिए श्रेयस्कर है। इतनी बड़ी विडम्बना के सम्मुख यदि हमारे साहित्यकार दिशा भूल बैठे तो आश्चर्य ही क्या ! आश्चर्य यदि है तो केवल इतना ही कि समाज के सबसे प्रबुद्ध वर्ग की हैसियत से वह आज भी मूल्यों के वास्तविक धरातल को नहीं समझते। नहीं समझते कि इसी विसंगति से उनका मोर्चा है और उनकी सफलता या अन्यथा इसी के परिणाम पर अवलम्बित है। देश की स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ हमारे जीवन में नई समस्याएँ उत्पन्न हुईं। काली प्रभुता गोरी प्रभुता से अधिक आक्रामक और नृशंस सिद्ध हुई। वैयक्तिक स्वतन्त्रता तो जन्म से पहले ही हत हो गई। इस नवोदित स्वतन्त्रता की किरणें सामान्य जनता के जीवन को आलोकित न कर सकीं। कुछ परिवर्तन तो अवश्य हुआ पर उससे केवल इतना ही आभास हुआ कि कितने और परिवर्तन की आवश्यकता है। सामाजिक स्वास्थ्य के लिए अभी बहुत रास्ता तै करना था। दार्शनिक नैराश्य ही जीवन का खाद्य, उसका पोषक (अथवा घातक ?) तत्त्व बच रहा। यह नैराश्य धीरे-धीरे आत्मा को जड़ बनाता है, चेतना को कुण्ठित करता है। अवसाद से बढ़कर भयंकर मनःस्थिति और क्या होगी ? इस नैराश्य से व्यक्ति अन्तर्मुखी होकर अपने ही दुःखों की लम्बमान छाया को यथार्थ मानने लगता है और यह छाया बढ़ते-बढ़ते महान् आकार धारण कर लेती है, जब चेतना के समस्त

द्वारों को यह छाया बन्द कर देती है। यहाँ से नितान्त व्यक्तिवादी कला का प्रादुर्भाव होता है। जब ऐसा नहीं होता तब कलाकार दिवा-स्वप्न, तिलिस्म और जासूसी की शरण लेता है। स्पष्ट है कि ये मनःस्थितियाँ स्वस्थ नहीं हैं। इनका कला पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है—वह गूढ़, रहस्यमयी एवं प्रतीकात्मक होकर रह जाती है और जन-जीवन से दूर जा पड़ती है और मरणासन्न तो होती ही है। जीवन तो नैराश्य के दूसरे छोर से प्रारम्भ होता है।

श्री जैनेन्द्रकुमार के दोनों उपन्यास 'सुखदा' और 'विवर्त' इसी अभेद्य नैराश्य के परिणाम हैं। दोनों तिलिस्म हैं—दिवा-स्वप्न तक भी वे नहीं हैं क्योंकि स्वप्न में शायद अधिक विश्वस-नीयता हो। यहाँ सौन्दर्य तो क्या, काल्पनिक सौन्दर्य भी नहीं है। यथार्थ से वे बहुत दूर हैं—सामाजिक यथार्थ से भी और वैयक्तिक यथार्थ से भी, क्योंकि न वे समाज के प्रति सच्चे हैं, न व्यक्ति के। (क्या व्यक्ति से अलग समाज के प्रति सचाई सम्भव है ?) जीवन कहीं उनमें है ही नहीं। जीवन के चित्र वे हैं ही कब ? और इतनी बोझिल, गतिहीन तिलिस्मी कहानी पढ़ना धैर्य की परीक्षा नहीं तो क्या है ?

सुखदा क्षयग्रस्त होकर चीड़ के वृक्षों से घिरे अस्पताल में अपनी कहानी लिपिबद्ध करती है। नैराश्य और एकाकीपन से कहानी का आरम्भ होता है। वह सम्पन्न घराने की लाड़ों-पली लड़की है। उसका विवाह उसके माता-पिता के स्तर से थोड़ा उतरकर एक अतिशय सहृदय और विवेकशील पुरुष (मेरी दृष्टि में) से होता है। आर्थिक दृष्टिकोणों के वैमत्य के कारण पति-पत्नी में इस प्रश्न को लेकर अनबन होने लगती है। दोनों के आर्थिक स्तरों का यह अन्तर ही आपसी मनोमालिन्य का कारण बनता है, इस प्रसंग को, यद्यपि, लेखक ने बहुत स्पष्ट नहीं किया है। विवाह के डेढ़ वर्ष बाद एक बालक का जन्म होता है। एक दिन एक बीसवर्षीय युवक एक टहलुए का वेश धरकर आता है और इस परिवार में नौकरी चाहता है। वह रख लिया जाता है। सुखदा को प्रारम्भ से ही शक है कि वह किसी क्रान्तिकारी दल का सदस्य है। एक दिन वह काम छोड़कर चला जाता है और उसके दूसरे दिन सुखदा उसकी तसवीरें अखबारों में देखती है कि वह गिरफ्तार हो गया है। इस एक घटना से सुखदा का जीवन अचानक, अनायास एक नई दिशा पकड़ लेता है और वह क्रान्ति की ओर मुड़ पड़ती है। (क्या क्रान्तिकारी इतने ही तर्कशून्य, नकारात्मक, जीवन से असन्तुष्ट, ऊबे हुए एवं दर्शनरहित होते हैं ?) इस लड़के के लिए सुखदा अपार ममत्व से भर जाती है। और यहाँ से उसके राज-नीतिक जीवन का प्रारम्भ होता है और इस जीवन के साथ ही अपने पति से उसकी वितृष्णा भी बढ़ने लगती है।

इस नये क्षेत्र में सुखदा हरीश के सम्पर्क में आती है जो उदात्त क्रान्तिकारी है और घोर व्यक्तिवादी। वह उससे बहुत प्रभावित होती है। हरीश को सुखदा के पति श्रीकान्त पहले से जानते हैं। सुखदा का अनुमान है कि श्रीकान्त उसके राजनीतिक जीवन से असन्तुष्ट हैं यद्यपि उपन्यासकार ने इसके लिए कोई स्पष्ट कारण नहीं बताया है। यह अस्पष्टता ही सम्भवतः इस उपन्यास का चरम गुण है। यहाँ से कहानी इस लोक से विदा लेकर तिलिस्म की दुनिया में जा पहुँचती है, क्योंकि जब एक दिन सुखदा हरीश से मिलने जाती है तो वे अपने स्थान से जा चुके होते हैं और उनके स्थान पर सुखदा की भेंट एक मि० लाल से होती है जो हरिदा (हरीश) का परिचय-पत्र लाये हैं। यहाँ से उनके नेतृत्व में काम होने लगता है। ये मि० लाल सुखदा

पर आसक्त हो जाते हैं।

इन घटनाओं के बीच सुखदा के पुत्र विनोद को पढ़ने के लिए नैनीताल भेजने का हास्यास्पद प्रसंग भी लाया गया है। उससे मूल कहानी का कोई सम्बन्ध नहीं है। मि० लाल अचानक जापान जाने का निश्चय करते हैं। शायद वहाँ सम्पर्क स्थापित करने के लिए ! और सुखदा को एक बहुत ही निजी पत्र लिखते हैं जिसे पढ़कर सुखदा बस उनकी हो जाती है। (ऐसी घटनाएँ जीवन में क्यों नहीं होतीं !) तभी पता चलता है कि मि० लाल ने दल के साथ द्रोह किया है और उनको दण्डित होना पड़ेगा।

इसके बाद अकस्मात् हरीश फिर इस कहानी में प्रवेश करते हैं। उनके सम्मुख लाल का मुकदमा पेश होता है। उन पर सुखदा के प्रति आसक्ति का जुर्म है। हरिदा का निर्णय होता है कि सुखदा लाल को दो दिन अपने पास रखे और प्यार करे। (जी, आप विश्वास नहीं करेंगे न !) फिर इसके बाद थोड़ी जासूसी भाग-दौड़ है। सुखदा अपने को लाल के प्रति समर्पित करती है। पर वे उसे छोड़कर चले जाते हैं। इसके पश्चात् फिर एक बार उनका सुखदा से साक्षात्कार हो जाता है; वह तो आत्म समर्पण के लिए आतुर बैठी है। वे उसे पाश में लेकर लगभग तोड़ डालते हैं, वह गल जाती है, उनका उन्माद उतर जाता है। इस बीच हरिदा ने दल भंग करने का निश्चय कर लिया है और वे उसे भंग भी कर देते हैं। कारण, गांधीवाद। सभी सदस्य तितर-बितर हो जाते हैं।

हरीश श्रीकान्त को विवश करते हैं कि वह हरीश को पुलिस के हवाले करके उनकी गिरफ़्तारी के लिए जो ५,०००) का इनाम है (क्या मैंने बताया नहीं ?) उसे ले ले। श्रीकान्त यन्त्रचालित-से यह कर देते हैं और ५,०००) लाकर घर पर रखते हैं। सुखदा के लिए उसके पति का यह व्यवहार अन्तिम प्रहार सिद्ध होता है। वह पति को छोड़कर अन्तिम रूप से अपनी माँ के पास चली जाती है। उससे आगे क्षयग्रस्त होकर अस्पताल पहुँच जाती है और इस अनर्गल कहानी का अन्त होता है, जैसे मन पर से एक भारी बोझ उतर गया हो।

'सुखदा' की कहानी से बहुत-कुछ मिलती-जुलती कहानी विवर्त की भी है। उसकी भी बानगी देख लीजिए। जितेन साधारण माता-पिता का पुत्र है। पर छोटी उम्र में ही यशस्वी बन सका है। एक अंग्रेज़ी पत्र के सम्पादकीय विभाग में काम करता है। भुवनमोहिनी एक बड़े आदमी की लड़की है। (कैडिलैक गाड़ी हाँकती है !) उसके पिता रिटायर्ड जज हैं और सर हैं। उनकी पत्नी और पुत्र की मृत्यु आसपास हुई जिसके कारण वे जीवन से उदासीन हो गए। अब उनके जीवन का सहारा भुवनमोहिनी बच रही है। भुवनमोहिनी का प्रेम जितेन से है जो उससे विवाह करना चाहता है। पर जितेन ग़रीब है और वह अमीरजादी है इस बात को लेकर दोनों में झगड़ा होता है और मोहिनी विवाह करने से इन्कार कर देती है। तदनन्तर वह अपने पिता-मित्र के पुत्र बैरिस्टर नरेशचन्द्र से विवाह की स्वीकृति दे देती है और वह सम्पन्न भी हो जाता है। वह (लगता है) अपने वैवाहिक जीवन में सुखी भी है। इसके चार वर्ष बाद अचानक जितेन एक क्रान्तिकारी के रूप में, एक मेल ट्रेन उलटकर, पनाह लेने मोहिनी के घर आया है। वह घायल हुआ है और चंदेक दिन मोहिनी के यहाँ रहकर स्वास्थ्य-लाभ करता है और मोहिनी उसकी सेवा-सुश्रूषा बड़े यत्न से करती है। पर जब वह जाता है तो मोहिनी के दस-बारह हजार के जेवरात साथ ले जाता है, अपने दल में लौटता है और जेवरात को बेचकर

नक़द बनाने के बजाय यह नायाब नुस्खा पेश करता है कि भुवनमोहिनी को उड़ा लाया जाय और पचास हज़ार की माँग की जाय। मोहिनी पकड़कर लाई भी जाती है। जब वह जितेन के सामने पेश की जाती है तो अपने पुराने प्रेम के वश हो कातर हो उठती है और उसके पैर पकड़ लेती है जिन्हें वह चूमती है और दया की भीख माँगती है। (मैं समझता हूँ कि इससे अधिक घृणित आत्म-समर्पण का उदाहरण शायद साहित्य में कहीं ढूँढ़ने से भी न मिले!) इस बात से जितेन इतना आर्द्र हो आता है कि अपने पूरे दल का भार मोहिनी पर छोड़ देता है और स्वयं आत्म-समर्पण कर देता है। उसके लिए फाँसी की कोशिशें होती हैं पर शहादत न मिलने के कारण उसे फाँसी नहीं लगती। (और वह हमारे गले की फाँसी बना रहेगा!)

इन दोनों उपन्यासों की कहानी में, चरित्रों में, घटनाओं में, दोनों के मौलिक दर्शन में बड़ा साम्य है यहाँ तक कि वे एक-दूसरे की प्रतिलिपि होकर रह गए हैं। और ये दोनों ही जैनेन्द्रजी के और पहले के उपन्यास 'सुनीता' के विकृत रूप हैं। 'सुनीता' में सौंदर्य भी था, अर्थ भी। एक मूल-भूत सामाजिक समस्या की ओर अच्छा संकेत था। पर उसकी दो धुँधली और विकृत प्रतिलिपियों से हिन्दी-साहित्य को विभूषित करने की भला क्या लाचारी थी? सिवा इसके कि लेखक के पास नया कुछ कहने के लिए न था, पर कुछ कहना उसके लिए नितांत अनिवार्य था। इन दोनों कहानियों को मैंने आपके सम्मुख इसलिए रखा है कि आप देखें कि ये निरे कल्पना-लोक के चित्रण हैं। न वास्तविक जीवन में ऐसी सुखदा होती हैं, न हरीश, न भुवनमोहिनी, न जितेन। क्रांतिकारियों का—जो हमारे देश के गौरव हैं—इससे बड़ा विद्रूप हमारे इतिहास में कहीं और न मिलेगा। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार के परी-तिलिस्म, जासूस-लोक को भी औपन्यासिक जामा पहनाने का अधिकार लेखक को है; पर यथार्थ और कल्पना का इतना कुरूप और हास्यास्पद घोल प्रस्तुत करने का अधिकार और छूट जैनेन्द्र जैसे ख्याति और यशप्राप्त लेखक को भी नहीं है। क्रांतिकारियों का एक आन्दोलन था, एक सामूहिक अस्तित्व था। उसे इस सीमा तक व्यक्तिगत रूप देना मात्र व्यक्तिवादी विचार-धारा का हीन प्रदर्शन है।

पात्रों की दृष्टि से ये दोनों ही उपन्यास मिथ्या हैं। भाषा तक वे वह बोलते हैं जो जैनेन्द्र जी बोलते हैं—जटिल, अस्पष्ट, ऊबड़-खाबड़, कर्ण-कटु। इन पात्रों का स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं; वे तो केवल अपने नियंता के इशारों पर नक्लो-हरकत करते हैं। जब तक पात्र नितांत स्वाभाविक न हों—यहाँ तक कि पाठक को उनके किसी कर्म से आपत्ति न हो—तब तक वे पाठक की सहानुभूति प्राप्त नहीं कर सकते। उपन्यास और इतिहास के अंतर को मैं पूर्णतः स्वीकार करता हूँ। पर उपन्यास के पात्र को न केवल स्वाभाविक होना पड़ेगा वरन् उसे विश्वसनीय भी होना पड़ेगा। यह पर्याप्त नहीं है कि अमुक कर्म सम्भव है, यह सिद्ध करना होता है कि वह कर्म सामान्य जीवन की परिधि में आ गया है। इन दोनों ही उपन्यासों के पात्र न केवल सामान्य नहीं हैं और विलक्षण हैं अपितु वे जीवित हाड़-मांस के हैं ही नहीं। वे केवल विचार हैं जो मोम के गुड्डे-गुड़िया बनकर किसी बन्द शीशे की बोतल में उछल-कूद करते हैं और पाठक उनका विमूढ़ दर्शक है। या फिर वे अशरीरी विचार हैं जिनके ऊपर लेखक ने घटनाओं को टाँग दिया है। काल-निरपेक्षिता उपन्यास का गुण कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसका सबसे बड़ा बल मानवता है और मानव-जाति काल-निरपेक्ष नहीं हो सकती। मनुष्य जन्म लेता है, युवावस्था को प्राप्त होता है, मर जाता है। इस क्रम को उलट-पलटकर लेखक हमारी श्लाघा का पात्र नहीं हो सकता।

क्रांतिकारियों का जो जीवन, उनका जो दर्शन श्री जैनेन्द्रकुमार ने यहाँ प्रस्तुत किया है वह हमारे ज्ञात इतिहास से मेल नहीं खाता। ये दोनों ही उपन्यास कालातीत और काल-निरपेक्ष हैं। उनसे पता ही नहीं चलता कि वे हमारे सामाजिक जीवन के किस काल-विशेष के चित्र हैं। हरीश और जितेन, सुखदा और भुवनमोहिनी को विश्वसनीय यदि बनाना है तो उनको और मांसल बनाना पड़ेगा। अभी तो वे केवल छायाएँ हैं।

नैराश्य इन दोनों ही उपन्यासों का संदेश है—नैराश्य को यदि यह संज्ञा दी जा सके। यहाँ तक भी मुझे आपत्ति नहीं है—यदि लेखक को चहुँ ओर अंधकार ही दिखाई देता है तो उसे अधिकार है कि वह उसे अन्धकार ही कहे। पर जीवन के जिस प्रशस्त मार्ग से होकर वह अन्धकार तक पहुँचता है उस मार्ग में उसे जो कुछ दिखाई देता है उसे अपने अन्तिम निर्णय अथवा लक्ष्य से कलुषित करने का अधिकार उसे नहीं है। पर जैनेन्द्रजी ने इन दोनों ही उपन्यासों में असंदिग्ध रूप से यही किया है। जीवन को इस प्रकार झुठलाना अनुचित है।

'सुखदा' और 'विवर्त' दोनों ही भारतीय क्रांतिकारियों के वर्णन हैं। पर इस क्रांति की विशेषता शायद यही है कि इनमें वर्णित क्रांतिकारी ही न्यूनतम विश्वसनीय हैं। इनके चरित्-नायक हरीश और जितेन न शक्तिपूर्ण हैं, न विश्वासोत्पादक। वे केवल सपाट चित्र हैं, उनमें गोलाई है ही नहीं। वे पूरे मानव नहीं हैं और इसलिए वे उपन्यास के सफल चरित्र नहीं हैं, और चाहे जो कुछ भी हों।

श्री जैनेन्द्रकुमार निम्न मध्यवर्ग के जीवन के बड़े सफल चितेरे हैं। पर जब वे मध्य अथवा उच्च मध्यवर्ग का चित्रण करते हैं तो सर्वथा कृत्रिम लगते हैं। फिर इन दोनों ही उपन्यासों में इस मध्य और उच्च मध्यवर्ग को चित्रित करने का मोह क्यों?

इन दोनों ही उपन्यासों में नारी का नीचाशय आत्म-समर्पण मन को विषाक्त बना देता है। यह केवल नारी का चरम निरादर नहीं है, यह सारी कला और सत्य का अनादर है। उदाहरण के रूप में 'सुखदा' से ये वाक्य उद्धृत करता हूँ:

मैं उठकर आई और उनके पैरों में बैठकर बोली, 'मुझे मार दो, मुझे मार दो।'

और इसके कुछ और बाद निम्नलिखित वर्णन उपर्युक्त आत्म-समर्पण का भाष्य है:

लगा जैसे जाने क्या ऊपर से उतर गया है, सामने से हट गया है, भीतर से खुल गया है। मानो मैं हल्की हो आई। जैसे मीठी धूप में लजाती, खिलती, इठलाती, हलकी-फुलकी बदली होऊँ।

और 'विवर्त' में इसी प्रबन्ध को कुछ और भद्दा और अश्लील रूप दिया गया है:

मोहिनी ने जितेन के दाहिने हाथ को खींचकर बार-बार मुँह से लगाया, सारे चेहरे से लगाया और सुबकते सुबकते कहा—'जितेन''''जितेन!'

'उठो', जितेन ने कहा—'दरवाज़ा खुला है, बन्द कर दो। इतनी नीच बनती हो! इस में तुम्हें न आए, मुझे शरम आती है।'

इस पर मोहिनी झुककर बूट के तस्मों से कुछ ऊपर पाँव के मोज़ों पर बार-बार जितेन के दोनों पैरों को चूम उठी। (इसके पहले जितेन इसी युवती को अपने पाँवों पर से झटक चुका है और युवकों को आदेश दे चुका है कि वे उसे घसीटकर ले जायँ)।

नारी के निरीह आत्म-समर्पण का यह नग्न चित्र साहित्य में अनजाना है। कहीं यह

लेखक की दमित वासनाओं (एवं आकांक्षाओं !) का विस्फोट तो नहीं है ? पर कितना अधम, कितना अशोभन ! जैसे नारी का कोई व्यक्तित्व हो ही नहीं, वह मात्र कठपुतली हो !

नैराश्य के इन पुजारियों के सम्मुख अन्धकार है, निविड़ अन्धकार। पर जीवन कब अन्धकार में पनप सका है ? इसीलिए क्या यह उचित नहीं है कि वे प्रकाश में आएँ जहाँ जीवन है—उद्दाम जीवन, दुर्दमनीय स्फूर्ति ! आशा की यह लौ कब बुझी है ![1]

नरोत्तम नागर

जैनेन्द्र का सोच-विचार

जैनेन्द्रजी हिन्दी के माने हुए लेखक हैं। आप कहानियाँ लिखते हैं, उपन्यास लिखते हैं, और सोच-विचार करते हैं। यहाँ हम जैनेन्द्रजी के सोच-विचार का 'कुछ' परिचय देने का प्रयत्न करेंगे—'कुछ' इसलिए कि जैनेन्द्रजी बात को तीन-चौथाई कहते हैं और एक-चौथाई अनकही छोड़ देते हैं, और कभी-कभी तो अपनी बात को कहने के लिए मौन का, कुछ संकेतों और ध्वनियों का प्रयोग करते हैं जिन्हें या तो वे खुद समझ सकते हैं या फिर···

जैनेन्द्रजी की दुनिया में एक और भी मुसीबत है। इस दुनिया में आदमी बात को नहीं पकड़ता, बल्कि बात आदमी को पकड़ती है। ऐसी हालत में जबकि, बकौल जैनेन्द्रजी, न तो सत्य को पकड़ा और न ही उसे शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है, जैनेन्द्रजी का इतना कुछ लिख डालना (चारों पुस्तकों में कुल मिलाकर १२०४ पृष्ठ हैं) सचमुच में एक इतर-मानवीय करतब है। जैनेन्द्रजी, सचमुच, अद्भुत कौशल के धनी हैं। गोगिया पाशा का नाम शायद आपने सुना होगा। आँख पर पट्टी बाँधकर भरी सड़क पर वह साइकल चलाता है। जैनेन्द्रजी का करतब उससे कहीं बढ़ा-चढ़ा है। जैनेन्द्रजी का सोच-विचार, खुद उन्हीं के शब्दों में, "जैसे आदमी दायें और बायें अपने इन दो पैरों पर चलता है वैसे ही बुद्धि 'हां' और 'नहीं' इन दो पैरों पर चलती है।" क्या आपने अपने गाँव में, या नगर में, किसी ऐसे हिरना को किलोलें करते या चौकड़ियाँ भरते देखा है जिसके अगले पाँवों में 'हां' की और पिछले पाँवों में 'नहीं' की चक्की के पाट बंधे हों। भगवान् की कृपा से जब पंगु गिरिवर चढ़ सकते हैं और मूक वाचाल हो सकते हैं तो जैनेन्द्रजी की बुद्धि या कल्पना भी पाँवों में 'हां' और 'नहीं' की चक्की के पाट बाँधकर कुलाचें भर सकती है। इतना ही नहीं, बल्कि जैनेन्द्रजी में इन 'पंगुओं' और 'मूकों' से अधिक गुण हैं। 'हां' और 'नहीं' के पाट बाँधकर आपकी कल्पना कुलाचें ही नहीं भरती, वह दुनिया-भर की समस्याओं का हल भी करती है, या इन समस्याओं को कुछ ऐसा रूप देकर छुट्टा छोड़ देती है कि वे हल होने से सदा इन्कार करती रहें : "सवाल है ही इसलिए नहीं कि शान्त होकर सो जाय, वह सिर्फ इसलिए है कि दूसरे सवाल को जन्म देता है····"

इससे भी बढ़कर यह कि "हमको मान लेना चाहिए कि जो शब्दों में आता है, सत्य उसके परे रह जाता है।···" सत्य शब्दों में पकड़ाई दे या न दे, इसके बावजूद जैनेन्द्रजी

1. 'सुखदा', 'विवर्त'—लेखक जैनेन्द्र कुमार; प्रकाशक, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।

बहुत-कुछ कहते और बहुत-कुछ करते हैं। जैसे—वह परिवर्तनों को अपने ऊपर होने ही नहीं देते बल्कि परिवर्तन करते भी हैं···आदमी अपूर्ण रहने के लिए नहीं है, इसलिए वे पूर्णता की ओर बढ़ते हैं···घटनाओं को स्वीकार ही नहीं करते, बल्कि घटित भी करते हैं···और वह किसी के (चाहे वह भगवान् ही क्यों न हो) केवल उपादान, केवल उपकरण ही नहीं बल्कि कर्ता भी हैं···चीजें बदलती हैं, वे सदा बदलती रही हैं, यहाँ तक ही मनुष्य का सत्य नहीं है, इसलिए वह ऐलान करते हैं: "हम चीज़ों को बदलते हैं, हम उन्हें बदलते रहेंगे!"

बदलने-बदलाने का यह काम जैनेन्द्रजी इतने सम्पूर्ण रूप में और इतनी खूबसूरती के साथ करते हैं कि उसके बाद और किसी चीज की जरूरत नहीं रह जाती; क्रान्ति का तो निश्चय ही नहीं: "अतः क्रान्ति नहीं की जा सकती। वह नहीं की जानी चाहिए। उसका प्रचार अनिष्ट है···जो उसे करना चाहते हैं, वे बादल को मुट्ठी में पकड़कर उसे बरसाना चाहते हैं।" लेकिन, और इसके लिए जैनेन्द्रजी की तारीफ करनी चाहिए कि, वह संकीर्ण नहीं हैं। बावजूद क्रान्ति से इस दो-टूक इन्कार के, 'भाषा में और व्यवहार में" वह उसे सह सकते हैं, बशर्ते कि उसका "प्रयोग कवि-भाषा में ही किया जाय।' जाहिर है कि जैनेन्द्रजी क्रान्ति से भय नहीं खाते: "न समझा जाय कि मैं क्रान्ति से भय खाता हूँ।" बात केवल इतनी है कि क्रान्ति का कोई क्या करेगा जब कि "वह प्रतिक्षण हो रही है। युद्ध प्रतिक्षण हो रहा है। वह कभी समाप्त नहीं होगा···जीवन निरी मुलायम चीज़ नहीं है। वह युद्ध है···जब तक व्यक्ति है तब तक युद्ध है। वहाँ कोई समझौता नहीं, और कोई अन्त नहीं है।"

सो जैनेन्द्रजी डरपोक नहीं, योद्धा हैं। युद्ध की भाषा में बात करना जरूरी समझते हैं, और यह बताने में अनेक पन्ने उन्होंने काले किये हैं कि "युद्ध की परिभाषा में ही जीवन को देखना क्यों ज़रूरी है!" जैनेन्द्रजी योद्धा हैं, और उनका युद्ध निरुद्देश्य नहीं बल्कि सोद्देश्य है। ग़लत न होगा अगर हम यह कहें कि जैनेन्द्रजी, विचारों की दुनिया में, सर्वहारा के योद्धा हैं। विचारों की दुनिया में सर्वहारा कौन होता है? वह जिसके पास विचार न हों, जो बुद्धि से वंचित हो। बुद्धि के खिलाफ जैनेन्द्रजी ने इतना जमकर युद्ध किया है कि उन्हें सहज ही महावीर चक्र प्रदान किया जा सकता है।

यहाँ एक संस्मरण का उल्लेख कर दें। एक बार जैनेन्द्रजी ने स्वर्गीय प्रेमचन्द्र जी से पूछा—"आप बताइए कि अपने सारे लिखने में आपने क्या कहा और क्या चाहा है।" प्रेमचन्द जी ने बिना देर लगाए उत्तर दिया—"धन की दुश्मनी।" जैनेन्द्रजी से भी अगर यही सवाल किया जाय तो वह उत्तर देंगे—"बुद्धि की दुश्मनी।"

किसी को कोई सन्देह नहीं रह जाय, इसलिए जैनेन्द्रजी और भी स्पष्टता के साथ कहते हैं: "तो एक तरह से या दूसरी तरह से, सीधे या टेढ़े, उघड़ी कि लिपटी वही-वही बात मैंने कहनी और देनी चाही है।" वही-वही बात से मतलब है बुद्धि की दुश्मनी की बात, जो जैनेन्द्रजी के समूचे साहित्य में व्याप्त है, और जिसके लिए "जीवन को युद्ध की ही परिभाषा में देखना" जरूरी है।

सचमुच बहुत ही बड़ा काम जैनेन्द्रजी ने अपने हाथों में लिया है। लेकिन इतना बड़ा काम करते हुए भी जैनेन्द्रजी सराहनीय विनम्रता का परिचय देते हैं। यह बहुत बड़ी बात है। कारण कि बुद्धि का दम्भ और अहम् तो खैर जैसा होता है वैसा होता ही है, लेकिन उस मूर्खता

का दम्भ भी कुछ कम नहीं होता जो लाठी लेकर बुद्धि के पीछे पड़ जाती है। जैनेन्द्रजी की खूबी यह है कि वह बहुत ही सादगी और विनम्रता से बुद्धि के खिलाफ लाठी चलाते हैं—"मेरी एक कमज़ोरी है। उससे मैं तंग हूँ। पर वह मुझसे छूटती नहीं है। मूर्ख जानना चाहता है और मेरे साथ मूर्खता लगी है कि मैं जानना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि जाना ज़र्रे को भी नहीं जा सकता।" लेकिन यह तो विनम्रता की शुरुआत-मात्र ही है। इसके बाद जैनेन्द्रजी कहते हैं: "जो जानता है कि वह विद्वान् है ऐसे महापण्डित को सँभालने की शायद साहित्य में ताकत नहीं है।" सो जैनेन्द्रजी ने अपने साहित्य और विचारों की दुनिया को, ऐसे पात्रों और चरित्रों से आबाद किया है जो सब-कुछ जानते हुए भी जानने का जानना क्या होता है, यह नहीं जानते।

जैनेन्द्रजी का प्रेमचन्दजी से घनिष्ठ सम्पर्क था। दोनों एक-दूसरे को खूब चाहते थे, बावजूद इसके कि लाठी लेकर बुद्धि का पीछा करने में प्रेमचन्द जी ने जैनेन्द्रजी का कभी साथ नहीं दिया।

जैनेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी पर अनेक लेख लिखे हैं। इन लेखों में उन्होंने, मुख्य रूप में, प्रेमचन्दजी की एक विशेषता का उल्लेख किया है। वह यह कि प्रेमचन्दजी अनेकों में से एक नहीं थे, अनेकों से अलग नहीं थे, अनेकों जैसे थे, अनेकों को अपने हृदय से लगाने में उन्हें कभी किसी हिचक, दुविधा या 'स्व' और 'पर' के झमेले का अनुभव नहीं होता था। प्रेमचन्द के साथ पाठक, जैनेन्द्रजी के ही शब्दों में, "बहुत सतर्क और उद्बुद्ध होकर नहीं चलता क्योंकि उसे भरोसा होता है कि ग्रन्थकार उसे छोड़कर भाग नहीं जायगा, उसको साथ लिये चलेगा।" इतना ही नहीं, बल्कि और भी "स्पष्टता के मैदान में प्रेमचन्द सहज ही अविजेय हैं।" इसी बात को अगर पलटकर जैनेन्द्रजी पर लागू किया जाय तो कहना होगा—"अस्पष्टता के मैदान में जैनेन्द्रजी सहज ही अविजेय हैं।" प्रेमचन्दजी के समान "बात को ऐसा सुलझाकर कहने की आदत, मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है······उनकी कलम सब जगह पहुँचती है, लेकिन अंधेरे में भी वह धोखा नहीं देती······अपने पाठकों के साथ मानो वे अपने भेद को बाँटते हुए चलते हैं······प्रेमचन्द में से कहीं कोई वाक्य उठा लें तो जान पड़ेगा कि मानो वह स्वयं सम्पूर्ण है, चुस्त, कसा हुआ, अर्थपूर्ण।"

जैनेन्द्रजी इस स्पष्टता के अयोग्य हैं, ऐसी कोई बात नहीं। यह बात दूसरी है कि उन्होंने शौक़िया अपने को 'हाँ' 'ना' की चक्कियों से बाँध रखा है। जैनेन्द्रजी में भी इस स्पष्टता के दर्शन होते हैं, विशेषकर उस समय जब वह घर-गिरस्ती की बातें करते हैं—अपनी घर-गिरस्ती की भी और दूसरों की घर-गिरस्ती की भी, जब वह उस पत्नी की बात करते हैं जिसके घर में खाने वाले सात हैं और कमाने वाला कोई नहीं, जब वह खुद अपने उस जीवन का जिक्र करते हैं जब तेइस-चौबीस वर्ष की आयु हो जाने पर किसी काम में न लग सकना उन्हें बुरी तरह अखरता है, माँ की प्रेमभरी दृष्टि हृदय को कुरेदती है, घर पर रहना दूभर मालूम होता है, अपना अधिकांश समय वह किसी पुस्तकालय या मटरगश्ती में काटते हैं, और अन्त में, नौकरी की खोज में, कलकत्ता की यात्रा करते हैं और जो-कुछ अपने पास था उसे भी गँवाकर वापिस लौट आते हैं।

जैनेन्द्रजी की पहली कहानी की कहानी पहले प्रेम की भाँति मधुर है। एक पुराने

साथी विवाह करते हैं और एक भाभी को ले आते हैं। भाभी पढ़ी-लिखी थीं। पत्र-पत्रिकाएँ मँगाती थीं, उन्हें पढ़ती थीं और चाहती थीं कि वे भी कुछ लिखें। दोनों लिखने का कार्यक्रम बनाते। भाभी तो कुछ लिख भी लेतीं, लेकिन जैनेन्द्रजी की समझ में न आता कि क्या लिखें। आखिर एक दिन घटी दिलचस्प घटना को ज्यों-का-त्यों कागज पर उतार डाला। जाकर सुनाया भाभी को (घटना भाई साहब और भाभी को लेकर थी)। भाभी लजाईं, मगर खुश भी हुईं। यह थी जैनेन्द्रजी की पहली कहानी जो जाने फिर क्या हुई! उसकी एक स्मृति बाकी है जो भारतीय परिवार में भाभी के मधुर अस्तित्व की याद दिलाती रहेगी।

इससे भी मधुर स्मृति चार रुपये के उस पहले मनीआर्डर की है जो जैनेन्द्रजी को, बिना माँगे, अपनी कहानी के पारिश्रमिक स्वरूप प्राप्त हुआ था। एक मित्र थे जो सन् २०-२१ की गरमागरम देशसेवा के बाद सन् २६-२७ तक खाली हाथ हो गए। अब क्या करें? नेतागिरी भूखे पेट तो चलती नहीं। सो एक छोटी-सी पाठशाला में पच्चीस या चालीस रुपये पर अध्यापक बन गए। पाठशाला चाहे जितनी छोटी हो, लेकिन उनके विचार बड़े थे। उन्होंने एक पत्रिका निकाली—छपी-छपाई नहीं, बल्कि हाथ की लिखी। उसमें जैनेन्द्रजी की कहानियाँ भी थीं। इनमें से एक कहानी किसी मित्र ने 'विशाल भारत' में भेज दी जो उसमें छपी। फिर एक दिन 'विशाल भारत' से चार रुपये का पहला मनीआर्डर भी आ गया : "मनीआर्डर क्या आया, मेरे आगे तिलिस्म खुल गया······रुपया मेरे आगे फ़रिश्ते की मानिन्द था जिसका जन्म न जाने किस लोक का है। वह अतिथि की भांति मेरे 'लेख' (कहानी का शीर्षक) के परिणामस्वरूप मेरे घर आ पधारा तो मैं अभिभूत हो रहा।"

इसी के साथ-साथ ऐसा भी हुआ है जब, कोशिश करने पर भी, पैसा पाने की इस खुशी को जैनेन्द्रजी प्राप्त नहीं कर सके हैं। जेब में कहानी और हृदय में पाँच रुपये पाने की आकांक्षा लिए उन्होंने पत्र-कार्यालयों का द्वार खटखटाया है। इस सिलसिले में एक सम्पादक का उन्होंने जिक्र किया है जो "मालिक भी थे, लेखकों को पारिश्रमिक अवश्य और काफी परिमाण में देना चाहते थे, प्रतीक्षा यह थी कि पत्रिका नफा देने लगे।" जैनेन्द्रजी जानते हैं कि 'पत्रिका के नफा देने' तक प्रतीक्षा करने के क्या मानी होते हैं। और अकेले जैनेन्द्रजी ही क्यों, यह एक ऐसी बात है जिसे आप भी जानते हैं, मैं भी जानता हूँ, वे सब लोग जानते हैं जिन्हें दिन-भर भटकने के बाद भी दो जून चैन से रोटी नहीं मिलती।

जैनेन्द्रजी की आकांक्षा थी कि "ऐसे जिओ जैसे कि फूल जीता है, सूरज, चाँद और तारे जीते हैं, अजगर जीता है, पंछी जीता है"······लेकिन जीवन में गरुड़ जाति के ऐसे लोग भी हैं जो आदमी को फूल, सूरज, चाँद और तारों की भाँति नहीं जीने देते, बल्कि उसे कुएँ का मेंढक या अपनी और दूसरे देशों की जनता का शिकारी बनाकर रखना चाहते हैं : "पेट को खाली रखकर आदमी को आसानी से कुएँ का मेंढक बनाया जा सकता है। उसके साथ जोड़ दीजिए भविष्य की चिन्ता······" आदमी को कुएँ का मेंढक बनाने का कारण है : "सिर के ऊपर गरुड़ की तरह झपटते हुए जो लोग इधर-से-उधर उड़ा करते हैं, ऐसे पुरुषों के भोज्य के लिए ज़रूरी है कि कुछ अंधे कुएँ हों जहाँ काई जमा हुआ करे और आदमी मेंढक हुआ करें।"

लेकिन बात केवल अंधे कुँओं का निर्माण करने और आदमी को मेंढक बनाने तक ही

सीमित नहीं है। के इसवाद : "शास्त्र सिखाते हैं और प्रचार बताता है कि फौज में मौज है और वहाँ मारने और मरने दोनों में पुण्य है।" सो सैनिक छावनियों और अड्डों का जाल फैलता है : "सेनाएँ इसलिए नहीं कि वे देश की रक्षा करें, बल्कि देश इसलिए कि वे सेनाओं का पालन करें।" जैनेन्द्र का वह रूप जहाँ वह अपने देश से, अपने देश की जनता और उसकी बोलचाल से, अपने देश की आजादी, साहित्य और संस्कृति से प्रेम करते हैं, सीधा हृदय को स्पर्श करता है।

बहुत पहले, शुरू के दिनों में ही, जैनेन्द्रजी ने एक कहानी लिखी थी। "उस कहानी में एक पब्लिक लीडर मंच पर आते हैं जो भारत माता की याद अंग्रेज़ी में ही कर पाते हैं।" इस कहानी को एक पत्र में छपने के लिए दिया गया, लेकिन सम्पादक महोदय ने इस कहानी का इतना संशोधन किया कि वह "शुद्ध तो हो गई, पर मेरी नहीं रही।" लेकिन यह कहानी उस समय लिखी गई थी जब भारत आज़ाद नहीं था। आजादी मिलने के बाद भी स्थिति में कोई खास अन्तर नहीं दिखाई देता : "हिन्द की धरती पर सुविधापूर्वक यदि वही जी सके जो अंग्रेज़ी जानता है तो यह गुलामी है कि आजादी।"

इसी प्रकार और भी : "सरकार एक बड़ा-सा व्यूह है जिसके ऊपर गांधी टोपी पहने चन्द देशी लोग दीखते हैं, लेकिन उनका मुख्य कलेवर बने हुए नाना अमलदारियों (सर्विसेज़) के वे काले साहब लोग हैं जिन्हें अंग्रेज़ी तोर-तर्ज़ में ढाला गया है। पहले उनका काम राजा और प्रजा के बीच गहरी खाई बनाए रखना था, आज भी वही काम है। उस गहरी खाई के पानी में फाइलें चलती रहती थीं, आज उन फाइलों की गिनती बढ़ गई है। लेकिन वे डोंगियाँ खूबसूरत लाल फीतों की पाल फहराए यहाँ-से-वहाँ और वहाँ से-यहाँ विहार करती हुई घूमती रहकर नाना व्यूहों की रचना भला कर लें, वे राजा और प्रजा इन दो तटों के बीच किसी सद्भाव की सृष्टि कर उनमें अभेद लाने की सम्भावना को निकट नहीं लातीं।"

'हाँ' और 'नहीं' के पाटों से मुक्त जैनेन्द्र की लेखनी जब दृश्यमान जीवन के यथार्थ को व्यक्त करती अत्यन्त मुखर होकर हमारे सामने आती है : "गुलामी से छूटना है तो धरती से लगकर रहने वालों की ओर हमें मुँह मोड़ना होगा। जो उन्नत थे, समृद्ध थे, मालिक की जगह पर से हमने उन्हें जान-बूझकर हटा दिया है। अमरीका के वैभव पर हम विस्मय प्रकट कर लेंगे, लेकिन मालिक की जगह उसे नहीं बिठाएँगे।"[1]

---

१. 'मन्थन'; 'काम प्रेम और परिवार'; 'सोच-विचार'; 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'; लेखक—जैनेन्द्र कुमार; प्रकाशक—पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली।

गजानन माधव मुक्तिबोध

समीक्षा की समीक्षा

साहित्यिक समीक्षा की समस्याएँ जितनी विविध हैं उतने ही उनसे सम्बन्धित दृष्टिकोण भी। दृष्टिकोण के इस वैविध्य के भीतर बहुधा मात्रवैयक्तिक रुचि और संस्कार की शक्ति ही दिखाई देती है, तो कभी यथार्थदर्शी मौलिक चिन्तन भी प्रकट होता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि समीक्षा के क्षेत्र में विभिन्न मन्तव्यों को प्रकट करने वाला साहित्य भी समीक्ष्य वस्तु के रूप में ग्रहण किया जाय। इसी दिशा की ओर, हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक श्री प्रभाकर-माचवे कृत 'समीक्षा की समीक्षा' एक ऐसा प्रयास है जिस पर विद्वानों तथा साहित्य के विद्यार्थियों का ध्यान जाना जरूरी है। हिन्दी समीक्षा की सीमाओं और उसकी समस्याओं पर उन्होंने न केवल अपनी टिप्पणी प्रस्तुत की है, वरन् सम्बन्धित प्रश्नों को इस प्रकार रखा है कि पाठक को बरबस उन सबके सम्बन्ध में सोचने-विचारने के लिए उद्यत होना पड़ता है।

समीक्षा के क्षेत्र में इतने मत-मतान्त हैं कि वस्तुतः यह विचारों, निर्णयों और निष्कर्षों का दण्डकारण्य है। 'समीक्षा की समीक्षा' का महत्त्व यही है कि वह इस जंगल में कई पगडण्डियाँ बना देती है। पाठक की गन्तव्य दिशा के ज्ञान पर यह निर्भर करता है कि वह अपने लिए इनमें से कौनसा पथ चुने।

कला के क्षेत्र में इतने मतभेदों से माचवे जी स्वयं सुपरिचित हैं; अतएव उन्होंने इस वैचारिक दण्डकारण्य में अनेक पगडण्डियों के जाल का रूप ग्रहण करना ही स्वीकार किया है। इसका एक कारण यह भी है कि उनका दृष्टिकोण विद्यार्थियों को भी दृष्टि में रखना है। फलतः वह अनेक वादों और मतमतान्तरों से उन्हें परिचित कराना चाहता है। इसलिए, माचवे जी ने प्रभूत सामग्री एकत्र तथा व्यवस्थाबद्ध कर दी है। कला-समीक्षा-सम्बन्धी मूल परिकल्पनाओं का उन्होंने पर्याप्त विस्तार से निरूपण किया है तथा मतों का विस्तृत विवरण देने का प्रयास किया है। अगर हम माचवे जी की पुस्तक को विविध मतों का संग्रह अथवा कोष कहें तो अनुपयुक्त न होगा।

प्रस्तुत समीक्षक इस बात के लिए आतुर जान पड़ता है कि पाठक स्वयं अपने विवेक से किसी भी तथ्य, मत अथवा निष्कर्ष को अपना ले। इसी बात को ध्यान में रखकर, उसने दूसरों के लेख-के-लेख अवतरित किये हैं, जो उसके मतानुसार मूल्यवान हैं तथा जिनका अनुशीलन पाठक के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत समीक्षक पाठक का सतत मार्गदर्शी न बनकर उसका सहचर रहने में ही अपने को कृतकार्य समझता है। इसका फल यह होता है 'समीक्षा की समीक्षा' की उपादेयता और भी बढ़ जाती है।

हर क्षमता की अपनी सीमा है। इसलिए, इस कार्य-शैली का भी एक दूसरा पक्ष है, जिसे हम उसकी सीमा कह सकते हैं। पहली बात तो यह है कि इस शैली के अपनाने का एक स्वाभाविक परिणाम तो यह हुआ कि माचवे जी किसी भी एक सिद्धान्त-प्रणाली की विस्तृत रूप-रेखा, उसके मूलाधारों की विस्तृत व्याख्या, किसी दृष्टिबिन्दु का विशद निरूपण और किसी निष्कर्ष का ऊहापोह नहीं कर सके हैं। उन्हें मात्र अपनी टिप्पणियों से ही सन्तोष करना पड़ा है। किन्तु, विषय ऐसा है कि जिसके प्रति योग्य न्याय करने के लिए टिप्पणियों की विशदता

आवश्यक है। फल उसका यह होता है कि माचवे जी के मतों का औचित्य-मात्र विश्वास का विषय हो जाता है, वैज्ञानिक विवेक का विषय नहीं। कदाचित्, इसका मूल तथा सर्वप्रधान कारण यह है कि इस समीक्षक को अपने मतों का विशेष आग्रह भी नहीं है, अपने व्याख्यानों से वे पाठक की बुद्धि को अनुशासित नहीं करना चाहते। इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि इस समीक्षाकार के लिए कोई भी बात मूलभूत अथवा अन्तिम नहीं है, जिसे दोष भी कहा जा सकता है।

इस कार्य-शैली से दूसरी कमजोरी भी आ जाती है जिसकी तरफ हमारा ध्यान जाना ज़रूरी है। वह यह है कि यदि लेखक किसी भी प्रश्न पर विविध मतों और अनेक निष्कर्षों की झाँकियाँ प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर वह, अपने अनजाने ही, ऐसे निष्कर्षों और मतों को अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है जो उसे अच्छे तो लगते हैं, किन्तु जिनका निरूपण और विश्लेषण वह सम्यक् रूप से नहीं कर पाता है। बहुत बार इसका परिणाम यह होता है कि वे मत परस्पर-विरोधी-से प्रतीत होते हैं। हम यहाँ एक उदाहरण लेंगे। रामचन्द्र शुक्ल पर लिखे निबन्ध में वे कहते हैं; "शुक्ल जी इस कारण परम्परा को, छायावाद की पलायनवादी वृत्ति को नहीं देख सके।"[1] दूसरी ओर वे यह कहते हैं : "वस्तुतः छायावादी काव्य, नैतिक धरातल पर जनतान्त्रिक समत्व भावना और व्यक्ति की महत्त्व घोषणा का काव्य है"।[2] यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यदि श्री माचवे के अनुसार छायावादी व्यक्ति की महत्त्व-घोषणा का काव्य है तो उसमें, पूर्वोलिखित मन्तव्य के अनुसार, पलायन-वृत्ति कैसे है और कहाँ है और यदि उसमें 'पलायन वृत्ति है तो उसमें नैतिक धरातल पर जनतान्त्रिक समत्व भावना' कैसे आई। स्पष्ट है कि माचवे जी को अपने विचारों की विशद व्याख्या करनी चाहिए थी। हुआ यह है कि छायावाद के सम्बन्ध में यदि एक ओर उन्हें एक विचार भला मालूम हुआ है तो दूसरी ओर उन्हें अन्य विचार भी अच्छा लगा है। फलतः, उन पर उन्होंने अनजाने ही अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी है। यदि वे विस्तृत ऊहापोह करते, सम्यक् व्याख्या करते तो यह दोष न आता। उनका तरीका वस्तुतः इम्प्रेशनिज़्म का तरीका है, जिससे बहुत बार बहुत से महत्त्वपूर्ण तथ्य भी वे सामने रख देते हैं (जैसी कि उनकी भूमिका से स्पष्ट है, जो बहुत अच्छी लिखी गई है) तो उसमें ऐसी असंगतियाँ भी रह जाती हैं। असल बात यह है कि माचवे जी की वृत्ति गुणग्राहक-सर्वसंग्राहक ही अधिक है।

हम उनकी इस वृत्ति का एक दूसरा उदाहरण भी लेंगे। प्रगतिवादियों की आलोचना की प्रारम्भिक प्रस्तावना में उन्होंने हिन्दी के प्रगतिवाद को ऐसी गाली दी है, जिसे हम उनकी अन्धता कह सकते हैं, किन्तु जब वह व्यक्तिगत प्रगतिवादी आलोचकों की तरफ मुड़े हैं तब उन्होंने इतनी अनुदारता नहीं बतलाई है। दूसरे, रामविलास शर्मा पर वे काफी बिगड़े हैं। किन्तु, उनकी शक्ति, उनकी प्रमुख महत्त्वपूर्ण पुस्तकों (जो हमारे समीक्षा-साहित्य की निधि हैं) पर वह मौन हैं। ऐसा क्यों, इतना पक्षपात क्यों ? ध्यान में रखना चाहिए कि यदि डॉक्टर रामविलास शर्मा ने लोगों को काटा है तो यह भी सच है कि प्रगतिशीलों के विरोधियों ने प्रगतिवादियों की भयानक रूप से विचित्र भर्त्सनाएँ भी की हैं। ऐसी स्थिति में, सैद्धान्तिक दृष्टि से, माचवे जी को यह

---

१. देखिए पृष्ठ २३

२. पृष्ठ २६

चाहिए था कि रामविलास जी की क्षमताओं का भी विशद निरूपण करते, जैसा कि उन्होंने नहीं किया।

जहाँ माचवे जी प्रसिद्ध समीक्षा-पुस्तकों की आलोचना को छोड़कर व्यक्तिगत आलोचकों पर उतरते हैं, वहाँ वे बहुत अच्छी तरह अपनी बात कहते हैं। उनकी समीक्षा वहाँ खूब अच्छी तरह गले उतरती है। इसका सबसे बड़ा नमूना उनका लेख है शान्तिप्रिय द्विवेदी पर। 'समीक्षा-की समीक्षा' में रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० श्यामसुन्दर दास, गुलाबराय, शचीरानी गुर्टू, लक्ष्मीनारायण सुधांशु तथा हिन्दी के अन्य आलोचकों पर लिखा गया है। प्रथम पाँच बड़े निबन्ध हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट निबन्ध रामचन्द्र शुक्ल और लक्ष्मीनारायण सुधांशु पर है। इन दो में माचवे जी ने साहित्य के विविध प्रश्नों की चर्चा की है। इससे माचवे जी के ज्ञान, पाण्डित्य तथा समीक्षा-बुद्धि की शक्ति का पता चलता है, । मुक्त-छन्द पर माचवे जी के विचार जानने योग्य हैं। शची-रानी गुर्टू और गुलाबराय के सम्बन्ध में माचवे जी ने जल्दबाजी की है। गुलाबराय पर उनका लेख, उस लेखक पर न होकर, अपने ज्ञान-सामग्री का संग्रह प्रकोष्ठ मात्र ही रह गया है। इन पाँच निबन्धों में माचवे जी साहित्य के मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय और दार्शनिक पहलुओं पर उतरे हैं। किन्तु 'समीक्षा की समीक्षा' इतनी संक्षिप्त पुस्तक है कि उसमें सम्बन्धित प्रश्नों का विस्तृत विवेचन होना असम्भव-सा ही था। माचवे जी के समीक्षा-सम्बन्धी मन्तव्यों पर यह कहा जाता है कि उनका झुकाव रसवादी मनोवैज्ञानिक आलोचना की मूलभूत विचार-धारा की ओर ही अधिक है, यद्यपि उन्होंने यत्र-तत्र प्रगतिवादियों द्वारा व्याख्यात मतों और निष्कर्षों को भी राह चलते अपना लिया है।

'समीक्षा की समीक्षा' साहित्य के विद्यार्थी के लिए कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और उप-योगी पुस्तक है। यदि एक ओर माचवे जी नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी से मतभेद रखते हैं तो दूसरी ओर, इधर-उधर से घूमघाम कर, उनकी पंक्ति में बहुत बड़े मध्यान्तर के बाद बैठते-से दिखाई देते हैं। उनमें और माचवे जी में अन्तर यह है कि प्रस्तुत समीक्षक को उन आलो-चकों से साहित्य के वस्तुवादी सामाजिक पक्ष का आग्रह अधिक है। किन्तु, उनके मूल दार्शनिक विचार क्रोचे आदि भाववादी सौन्दर्यवादी चिन्तकों के समीप ही जा पहुँचते हैं, नगेन्द्र और नन्ददुलारे के नहीं। माचवे जी भी प्रगतिवादियों के उतने ही विरुद्ध हैं, कदाचित् अधिक विरुद्ध हैं, जितने कि ये लोग।

अन्त में, हम यही कहेंगे कि माचवे जी की 'समीक्षा की समीक्षा' पुस्तक अपनी जगह मूल्यवान् तो है ही, यह उसके लेखक से अपेक्षणीय है कि वे स्वयं एक स्वतन्त्र साहित्यिक व्याख्याधार के नाते हमारे सामने समीक्षा-सम्बन्धी एक मूलभूत ग्रन्थ उपस्थित करेंगे, जिससे कि लोगों के सामने उनकी कला-चिन्तना का सांगोपांग चित्र प्रस्तुत हो सके।

ले०—प्रभाकर माचवे; प्रकाशक—साहनी प्रकाशन, दिल्ली।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

खण्ड सत्य और निष्प्राण बीज

होवर्ड वेस्ट नामक एक कम्युनिस्ट, उपन्यास-लेखक और आलोचक का कथन है: "सत्य आज इस शिविर में है या उस शिविर में, और इसके पूर्व कि सत्य की प्रकृति को लेखक जान सके, उसे पहले शिविर चुन लेना चाहिए, क्योंकि सत्य पक्षधर है तटस्थ नहीं।"

प्रस्तुत उपन्यास इसी धारणा की कथात्मक व्याख्या है। इस कथन के अनुसार यदि एक कम्युनिस्ट विचारक प्राचीन और वर्तमान साहित्य का अपनी दृष्टि से विश्लेषण कर सकता है, तो एक अकम्युनिस्ट भी इस कथन का अपने दृष्टिकोण के पोषण के लिए उपयोग कर सकता है। विश्व के इस विराट् रंगमंच पर सत्य के साथ यह ठेलाठेली चिन्त्य विषय है। आज 'शांति', 'मानव एकता', 'सहानुभूति' आदि शब्दों का कोई एक सर्वमान्य अर्थ न होना इसी बात का दुष्परिणाम है। 'पार्टीजन ट्रुथ' का आशय है 'खण्ड सत्य', और 'खण्ड सत्य' साहित्य के अन्तिम लक्ष्य—आनन्द—का आधार नहीं बन सकता। राजनीति सामाजिक अस्तित्व का प्रधान अंग रही है—आज तो वह एक प्रकार से एकमात्र अंग बन गई है—किन्तु दुर्भाग्यवश राजनीति ने आज साहित्य के गले में जो फाँसी डाल दी है उससे साहित्य-सौंदर्य की निर्जीवता निश्चित है। कहीं-कहीं तो उससे स्वयं मनुष्यत्व को क्षति पहुँचती दिखाई पड़ती है। यदि एक कवि या लेखक किसी वस्तु या घटना को सफ़ेद कहता है, तो दूसरा उसी को मटियाला कहता है। और ताज्जुब यह है कि दोनों ही पक्ष वास्तविक सत्य की दुहाई देते हैं। हो सकता है दोनों के कथनों में सत्य का कुछ-कुछ अंश हो, किन्तु ऐसी परिस्थिति में एक हाथी और सात अंधों की कहानी ही चरितार्थ हो सकती है। साहित्य के सौन्दर्यमूलक और रसपूर्ण चिह्न चिरंतन और शाश्वत हैं, राजनीति क्षण-क्षण परिवर्तनशील और विनश्वर है। युग-वाणी और युग-जीवन का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु साहित्य को उन्हीं के खूँटे से बाँध देना साहित्य को ग्राम्य-भाव से देखना है।

कुछ दिन हुए मुझसे कहा गया था कि श्री अमृतराय का 'बीज' हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में 'Landmark' है और वह प्रेमचन्द की परम्परा को बहुत आगे बढ़ा ले जाता है। स्वभावतः मुझे उत्सुकता हुई और मैंने शीघ्र ही उसे पढ़ डाला, और ध्यानपूर्वक पढ़ा। किन्तु जितनी अधिक उत्सुकता हुई थी, उतनी ही अधिक निराशा हुई। और तो किसी दृष्टि से वह मुझे 'Landmark' नहीं दिखाई देता, लेकिन खुल्लमखुल्ला, आद्योपान्त और सचेष्ट रूप में कम्युनिस्ट राजनीति पर आधारित होने के नाते वह अवश्य 'Landmark' कहा जा सकता है। अभी तक जितने पूर्व-'बीज' उपन्यास थे उनमें अन्यथा अकम्युनिस्ट कथानकों में या तो प्रच्छन्न रूप में कम्युनिज्म की ओर संकेत-भर कर दिया जाता था अथवा कोई एक शिक्षित मध्यमवर्गीय पात्र दबी जबान से 'वर्ग-संघर्ष', 'शोषण', 'पूँजीवाद-साम्राज्यवाद', 'सर्वहारावर्ग' आदि का उल्लेख कर दिया करता था। 'बीज' का लेखक बधाई का पात्र है कि उसने इस राजनीतिक उपन्यास की रचना करके हिन्दी में 'लाल उपन्यासों' की एक विशिष्ट शाखा को जन्म दिया है। किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें 'लैंडमार्क-पन' कहीं नहीं दिखाई देता। उसके द्वारा प्रेमचन्द की परम्परा को विकसित होते हुए कहना भी अनुचित ही है। 'गोदान' में जिस संघर्षपूर्ण जीवन का चित्रण है, वह 'बीज' में नहीं मिलता।

'बीज', लेखक के अनुसार, जीवन के संघर्ष का बीज है, कम्युनिज्म 'नये जीवन के विराट् अश्वत्थ', 'नये सुख' और 'नये प्रभात' का बीजारोपण करता है। उसी बीज का प्रस्फुटन आगे होगा, जीवन की अवरुद्ध गति उन्मुक्त होगी। उपन्यास में मध्यमवर्गीय शिक्षित नवयुवक सत्यवान् अनेक पारिवारिक और सामाजिक संघर्षों के बाद जेल में वीरेन्द्र के साथ स्थापित सम्पर्क के फलस्वरूप कम्युनिस्ट विचार-धारा लेकर बाहर निकलता है। उसकी पत्नी उषा मध्यमवर्गीय नारी की भाँति सुखी और समृद्ध पारिवारिक जीवन के स्वप्न देखती है। सत्यवान् उसे निजत्व की संकीर्ण परिधि से निकालकर उसमें सामाजिक चेतना उत्पन्न करना चाहता है। कुछ दिनों तक दोनों में संघर्ष चलता है। अन्त में सत्यवान के जेल जाने के बाद उषा अपने पति के विचारों का महत्त्व समझती है और वह अपने कुण्ठित एवं अवसादपूर्ण श्लथ जीवन को छोड़कर नया जीवन ग्रहण करती है। उपन्यास में स्थान-स्थान पर साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, राष्ट्रीयता, गान्धीजी का अहिंसात्मक आन्दोलन, मार्क्स का कम्युनिस्ट मेनीफैस्टो, समाज में नारी का स्थान, विवाह सम्बन्धी समस्याओं आदि का उल्लेख हुआ है। नया जीवन पाकर उषा अछूतोद्धार का कार्य करते हुए लाठियों के प्रहार तक सहती है। उषा को नये जीवन का प्रकाश कम्युनिज़्म के कारण ही मिल सका था। स्वयं सत्य वीरेन्द्र से यह प्रकाश लेकर जेल से लौटा था। पुस्तक में कम्यूनिज़्म उस पारस पत्थर के रूप में चित्रित किया गया है जिसके स्पर्श करते ही जंग लगा लोहा सोना बन जाता है। सत्य और उषा के अतिरिक्त प्रार्वती और प्रमिला का व्यक्तित्व भी कम्युनिज़्म के स्पर्श से निखर उठता है। राजेश्वरी और जमुना उस प्रभात के दर्शन न कर सकी थीं, उनमें कम्युनिस्ट सामाजिक चेतना जन्म न ले सकी थी; इसीलिए उन दोनों के जीवन समाज के सड़े-गले संस्कारों और रूढ़ियों तथा परम्पराओं में ग्रस्त रहते हैं। राज महेन्द्र के हाथों गीदड़ों की मौत मरती है और जमुना घरबार छोड़कर केवल ब्याह करने के लिए भाग जाती है। अमूल्य पार्टी का सेक्रेटरी है और वीरेन्द्र सत्यवान् का गुरु। सभी पुरुष और नारी-पात्र कम्युनिस्ट रूप में आशा का सन्देश देते हैं, अन्यथा नहीं।

लेखक को अपने राजनीतिक विचार रखने का पूर्ण अधिकार है। आधुनिक समय में किसी भी लेखक के ऐसे अधिकार पर आपत्ति नहीं की जा सकती। किन्तु जिस बात की ओर मैं संकेत करना चाहता हूँ वह यह है कि उपन्यास में 'गोदान' जैसा संघर्ष कहीं नहीं दिखाई देता। जो घटनाएँ घटित हुई भी हैं वे परोक्ष रूप में घटित हुई हैं। पाठकों को उनमें भाग लेने का अवसर प्रदान नहीं किया गया। कला की दृष्टि से यह दोष है। यह दोष 'गोदान' में नहीं है। ग्रैंड हिट्लौक के अनुसार : '...fiction, on the other hand, calls for the personal participation of the reader in one or many dramatic enterprises; contradictions are created, and the protagonist sets forth to resolve them, and the reader joins in these struggles. The reader participates, and thereby is the unique secret of the art of the story-teller, his ability to project his audience into the dramatic situation he has evoked. The measure of his art is how well he does this, the stature of his art depends upon the type of dramatic comprehension and leadership he can offer his audience, the quality of his art depends upon his own relationship to masses of people.' लेखक स्वयं विचार करे वह

कहाँ तक ह्विट्लौक के कथन की पूर्ति करता है। उपन्यास में औपन्यासिक रस की निष्पत्ति कम और कम्युनिस्ट राजनीतिक विचार-धारा की अवतारणा अधिक होती है। होना चाहिए था ठीक इसके विपरीत। यही कारण है कि पात्र सजीव न होकर लेखक की विचार-धारा के प्रतीक-मात्र बनकर रह गए हैं। कला की दृष्टि से वीरेन्द्र द्वारा भारतीय राजनीति का कम्युनिस्ट विश्लेषण, प्रफुल्लबाबू, अमूल्य और सत्यवान् के वादविवाद, तीन डायरियों के पन्ने और जेल में लाठी-चार्ज होने के उपलक्ष्य में दिये गए भाषण चिन्त्य हैं। और फिर उपन्यास का अन्त बड़ा हल्का हुआ है। वैसे भी कम्यूनिस्ट विचार-धारा के अनुसार उषा को मजदूरों, जो 'spearhead of the revolution' हैं, की बस्ती में जाना चाहिए था, न कि अछूतों की बस्ती में। अछूतों की समस्या प्रधानतः सामाजिक है, न कि राजनीतिक—अंग्रेजों ने भले ही उसे राजनीतिक रूप दे दिया हो। पृ० ५०५-५०६ पर अछूतों के सम्बन्ध में विश्लेषण प्रस्तुत करते समय गान्धीजी पर जो छींटे फेंके हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि किसी समस्या को विशुद्ध पार्टी-दृष्टिकोण से देखने से कितनी संकीर्णता उत्पन्न हो सकती है। गान्धीजी सफल रहे हों या असफल, अछूतों के प्रति की गई उनकी सेवाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखी जायँगी। लेकिन आने वाले भारत में न अछूत रहेंगे न अछूतों की समस्या। वह शायद इतनी ज्वलन्त समस्या भी नहीं रह गई है। इसके स्थान पर लेखक ने 'Democracy Vs. Totalitarianism' और 'Individual Liberty Vs. Mass regimentation of mind' की समस्या पाठकों के सामने रखी होती तो अधिक अच्छा होता। भाषा की दृष्टि से लेखक सफल कहा जा सकता है, यद्यपि व्याकरण-सम्बन्धी, विशेषतः लिंग-सम्बन्धी, अनेक अशुद्धियाँ हैं। आशा है अगले संस्करणों में लेखक उन्हें ठीक कर देगा।

संक्षेप में, कथानक पार्टी-दृष्टिकोण की तंग गली से गुजरता है, अनेक स्थलों पर उपन्यास उपन्यास न प्रतीत होकर पार्टी-पैम्फलैट मालूम होता है, जीवन को लाल रंग के चश्मे से देखा गया है और उसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत नहीं है। केवल अन्तिम अंश में उपन्यास प्रभावोत्पादक बन पड़ा है। शेष अंशों में संघर्ष-चित्रण, समस्या के प्रस्तुतीकरण आदि दृष्टि से यह उपन्यास, लेनिन के शब्दों का प्रयोग करते हुए, 'Baby-talk' है।[1]

१. बीज—ले० अमृतराय; प्रकाशक—हंस प्रकाशन, इलाहबाद।

डॉ० टीकमसिंह तोमर

'वेलि' का नया संस्करण

प्रस्तुत संस्करण के वास्तविक मूल्यांकन के लिए यह समीचीन प्रतीत होता है कि 'वेलि' के इससे पूर्व प्रकाशित अन्य संस्करणों का भी संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दे दिया जाय। इसीलिए नीचे उनका उल्लेख किया जा रहा है।

अंग्रेजी और हिन्दी भाषा-भाषियों के हितार्थ १६१७ ई० के लगभग डॉ० एस० पी० टैसीटरी ने तीन उपलब्ध प्राचीन टीकाओं तथा कई चारण-कवियों और विद्वानों की सहायता से एक संक्षिप्त भूमिका, मूल कविता तथा अंग्रेजी नोटों के सहित एशियाटिक सोसाइटी ऑव-बंगाल से 'वेलि' का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित कराया था। यद्यपि इस संस्करण की अपनी सीमाएँ थीं, तो भी पाश्चात्य विद्वान् का इस दिशा में अपने ढंग का एक अनूठा एवम् स्तुत्य प्रयास था।

इसके अनन्तर १६३१ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, प्रयाग ने 'वेलि' का एक अधिक महत्त्वपूर्ण संस्करण प्रकाशित किया। इस संस्करण के अनुवादक महाराव श्री जग-मालसिंह जी और संशोधक तथा सम्पादक ठा० रामसिंह एम० ए० एवम् पण्डित सूर्यकरण पारीक एम० ए० जैसे ख्यातिलब्ध डिंगल के अधिकारी विद्वान् थे। इस संस्करण के आरम्भ में एक विस्तृत भूमिका में महाराज पृथ्वीराज के जीवन-चरित्र, व्यक्तित्व, भक्ति-भावना, वीरता आदि गुणों, राजस्थानी भाषा और साहित्य, वेलि की प्राचीन टीकाओं, वेलि के आधार-स्तम्भ ग्रन्थों, ग्रन्थ-नामकरण, कवि की मौलिकता, रस-विवेचन, ऋतु-वर्णन, निर्माण-काल, ग्रन्थ-माहात्म्य, आध्यात्मिक सन्देश, डिंगल छन्द और भाषा, व्याकरण, अलंकार, वयण-सगाई आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार एकेडेमी का उक्त संस्करण सभी दृष्टियों से अधिक उपयोगी एवम् महत्त्वपूर्ण है।

इसके पश्चात् श्री आनन्द प्रकाश जी दीक्षित द्वारा सम्पादित तथा विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'वेलि' का यह संस्करण हिन्दी भाषा-भाषियों के हितार्थ प्रस्तुत किया गया है। विद्वान् सम्पादक ने इस ग्रन्थ के आरम्भ में लगभग १६२ पृष्ठों की भूमिका में पृथ्वीराज का जीवन तथा उनकी साहित्य-सेवा, वेलिकार की पूर्वकालीन तथा सम-सामयिक स्थिति, वेलि पर पूर्ववर्ती काव्य का प्रभाव तथा स्वरूप-विधान, राजस्थानी-साहित्य तथा वेलि, वेलि का नामकरण एवम् वेलि-ग्रन्थों की परम्परा, रचना-काल, वेलि की कथा का आधार, वेलि की कथा, वेलि का काव्य-स्वरूप, रस, नखशिख, अलंकार, शब्द-प्रयोग, वयण-सगाई, वेलियो गीत, प्रकृति-चित्रण, वेलिकार की बहुज्ञता, वेलि में भक्ति का स्वरूप, भागवत, नन्ददास के रुक्मिणी-मंगल, नरहरि कृत रुक्मिणी-मंगल, रघुराजसिंह कृत रुक्मिणी-परिणय तथा मराठी रुक्मिणी-हरण काव्य से वेलि की तुलना आदि समस्याओं की सविस्तार व्याख्या की है।

जिस प्रकार एकेडेमी वाली प्रति के सम्पादकों ने डॉ० टैसीटरी के संस्करण का पूर्ण स्वतन्त्रता से प्रयोग किया है, उसी प्रकार श्री दीक्षित जी ने एकेडेमी के संस्करण से पूर्ण लाभ उठाया है। भूमिका, मूल-पाठ, अर्थ आदि सभी पर आदि से अन्त तक एकेडेमी के संस्करण

की छाप स्पष्ट एवम् प्रधान रूप से वर्तमान है। इसके अतिरिक्त सम्पादक ने टॉड, मोतीलाल मेनारिया, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल आदि विद्वानों के ग्रन्थों से भी सहायता ली है।

यह सब होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि श्री दीक्षित जी ने इस ग्रन्थ के सम्पादन-कार्य में स्तुत्य परिश्रम किया है। साथ ही कतिपय स्थलों पर नई सूझ बूझ का भी परिचय दिया है। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने वेलि-सम्बन्धी कुछ समस्याओं के सम्बन्ध में नवीन विचार-धारा और नवीन निष्कर्ष पाठकों के समक्ष रखने की भी चेष्टा की है। सम्भव है कि कुछ विद्वान् समालोचक यत्र-तत्र उनके मत से सहमत न हों, तो भी उनका यह सम्पादन कार्य एक नवीन दृष्टिकोण का परिचायक है, इसमें किसी को आपत्ति न होगी।[1]

जनार्दन मुक्तिदूत

सात रेडियो एकांकी

प्रस्तुत पुस्तक 'लहर और चट्टान' में श्री विश्वम्भर मानव के सात एकांकी नाटक संग्रहीत हैं। यह सारे नाटक जैसा कि उनके विधान से स्पष्ट है रंगमंच के लिए नहीं बल्कि रेडियो-प्रसारण के लिए लिखे गए हैं। मानव जी के नाटकों में यही वैधानिक विशेषता (Technical forte) है।

इन नाटकों में 'चट्टानें' और 'प्रेम का बन्धन' सफल नाटक हैं और 'जीवन-साथी' एक सुन्दर प्रहसन, अतएव पहले इन तीनों पर ही विचार करूँगा।

'चट्टानें' की कहानी अशोक नामक एक कवि के गिर्द घूमती है। उसके पास उसकी प्रेयसी अमिता आती है जो अब किसी प्रसिद्ध और धनी वकील की पत्नी है। उसके पति और उसके बीच कोई स्वाभाविक आकर्षण (Tempramental affinity) नहीं। वह वैवाहिक जीवन से विद्रोह करना चाहती है और इसीलिए वह गृह-त्याग करके अशोक के पास चली आती है। किन्तु अशोक परमादर्शवादी है। वह माँसलता को हेय समझता है और अमिता को अध्यात्म का उपदेश देता है। अमिता वापस लौट जाती है। पर इस बीच अमिता के भृत्य 'माधो' और अशोक की दासी 'फूल' में प्रेम उत्पन्न हो जाता है। खैर, रहता तो उनका प्रेम भी असफल ही है पर उनके सम्वादों द्वारा चट्टानों की कठोर ट्रेजेडी एक सुन्दर सुखान्त के पुट से परिपूर्ण हो उठती है। गम्भीर विषयक नाटकों में ऐसे पात्रों का आविष्कार एक सफल प्रयोग है। मुख्य विशेषता तो चट्टानों का कथानक है जिसे अन्त से आरम्भ (Flash-back) करने के विधान के कारण उसमें और भी तीखापन आ गया है।

'प्रेम का बन्धन' भी नया प्रयोग है। गो यह एकांकी समस्यामूलक कतई नहीं और

---

१. वेलि क्रिसन रुकमणी री; सम्पादक—श्री आनन्द प्रकाश दीक्षित; प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन गोरखपुर।

नाटककार के जरा से चाहने पर ही इसमें 'तलाक' की समस्या आसानी से खड़ी की जा सकती थी पर ज्यादा सोचने पर यह बहुत दूर भी नहीं मालूम होती। पर नाटक के अन्य अंग ही काफी सुन्दर हैं। समस्या की जरूरत भी नहीं है। खास तौर से सम्वादों में घरेलूपन की चाशनी है जो नाटक को आदि से अन्त तक पढ़ने पर विवश कर देती है। प्रत्येक युवती का चरित्र-चित्रण काफ़ी मँजा हुआ है। इस प्रकार के नाटक इतने सरल और स्वाभाविक ढंग से इधर काफ़ी दिनों से कम ही पढ़ने को मिले हैं। हाँ, उर्दू में ऐसे बहुत नाटक लिखे गए हैं।

'जीवन-साथी' एक प्रहसन है जिसमें चार कुमारियाँ चार युवकों से समझ-बूझकर विवाह करती हैं। एक युवक कवि है जिसकी पत्नी सदा 'उसकी (स्त्रियों में) लोकप्रियता को' सन्देह की दृष्टि से देखती है। दूसरा धनी व्यक्ति है जो सुख को सोने की तुला पर तोलता है। तीसरा जोड़ा साधारण गृहस्थ होकर कहीं गर्क हो जाता है। सच्चे अर्थों में चौथा युवक और उसकी पत्नी परम सुखी हैं। पति साधारण क्लर्क है पर उसे सुख की कुंजी मालूम है। वास्तव में सुख की कुंजी सन्तोष है। यही नाटक का सार है।

बाकी चार नाटक 'संकीर्ण', 'दो फूल', 'भीगी पलकें', 'सन्देह का अन्त' बहुत ही साधारण कोटि के नाटक हैं या ध्वनिरूपक हैं जिनका उपयोग रेडियो पर 'नाटकों के लिए नियत' समय को भरने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि रेडियो के अत्यधिक प्रचार के बाद हिन्दी जगत् में रेडियो-नाटकों या ध्वनि-रूपकों की बाढ़-सी आ गई है। प्रतिवर्ष सारे केन्द्रों के लिए लगभग चार सौ छोटे-बड़े एकांकी लिखे जाते हैं, पर इन नाटकों में कठिनाई से ही दस-पाँच अच्छे बन पाते हैं, बाकी नाटकों का स्तर रेडियो अधिकारियों के बुद्धिस्तर से भले ही मेल खाता हो, कम-से-कम उन्हें नाटक-शास्त्र की कसौटी पर कस सकना कठिन है।

ये चार नाटक रेडियो की माँग पूरी करने के लिए 'कट टू आर्डर' (cut to order) लिखे गए हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि नाटककार अपने गहन उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है।

उदाहरण के लिए—

'दो फूल' एकदम अविश्वनीय और तीसरे दरजे की प्रेम-कहानी है। चम्पा एक धनी पिता की पुत्री है और वह घर के नौकर गुलाब से प्रेम करती है (वर्ग-संघर्ष की प्रतीक न हो कहीं यह घटना ?)। पिता काफ़ी क्रोध के बाद गुलाब को दामाद बनाना स्वीकार तो कर लेते हैं पर शर्त यह रखते हैं कि वह हजार रुपये मासिक कमाने लगे। सो भी कुल एक वर्ष की मियाद में (यह भारत है जहाँ क्लर्क की पीढ़ियाँ १०० रुपये पर जीवन समाप्त करती हैं)। गुलाब अपना भाग्य आजमाने बम्बई आता है और वह एक अभिनेत्री के घर नौकरी कर लेता है। अभिनेत्री फ़िल्मी ढंग से गुलाब को प्यार करने लगती है और उसे पार्श्वगायक नायक और अन्त में हजार रुपये मासिक का कलाकार बनवा देती है। वर्ष के अन्तिम दिन गुलाब चम्पा के पास पहुँचता है और उसके पिता को कन्ट्रेक्ट दिखाता है पर उससे कह दिया जाता है कि चम्पा का विवाह हो चुका। गुलाब विष खाकर मर जाता है। चम्पा भी उसी विष से फ़िल्मी ढंग से मर जाती है और तब तक जीवित रहती है जब तक वह पिताजी से यह वचन नहीं ले लेती कि उसे और गुलाब को एक ही चिता पर जलाया जाय। इस तरह दो फूल आधुनिक शीरी

फ़रहाद बन कर रह जाता है। फ़रहाद पहाड़ तोड़कर नहर लाता है पर मजाक में शीरी की मृत्यु सुनने पर उसी फाँवड़े को (जिससे वह पहाड़ तोड़कर नहर लाया है) सर में मारकर मर जाता है।

इसी प्रकार 'भीगी पलकें' में नायिका की मृत्यु यद्यपि होती है वृक्षों के गिरने से (आँधी भी सुविधानुसार आ जाती है) पर सुबह जब चौकीदार उसकी लाश को सड़क के किनारे पड़ा पाता है तो उसे वृक्ष द्वारा लगे घाव नहीं दिखाई देते, पर भीगी पलकें दिखाई दे जाती हैं और वह कहता है कि मालूम होता है कि बेचारी रोते-रोते मरी है तभी तो इसकी पलकें भीगी हैं।

यह सातों नाटक मूल में विभिन्न प्रिय कहानियाँ हैं। प्रेम से कोई एतराज या परहेज थोड़े ही है और न प्रेम-कहानी के माध्यम द्वारा कुछ कहना अस्वीकार। लेखक चाहे जैसे भी गतिशील जीवन प्रस्तुत करे। हमें उसका स्वागत करना चाहिए। बोतल के पुराने लेबिल से चौंक कर अन्दर की नई शराब छोड़ने के पक्ष में मैं नहीं हूँ और इसीलिए तीन सुन्दर नाटकों में एक नाटक ऐसा भी है जिसका पुराना लेबिल देखकर आम पाठक उसे छोड़ देना चाहेंगे।

अपनी दुर्बलता को भूमिका की ढाल से छिपाना कम-से-कम मुझे पसन्द नहीं है। मानव जी ने भूमिका में लिखा है:—

"जीवन को चति पहुँचाकर कुछ भी करने के पच में नहीं हूँ (निरादर! यह भारत अमेरिका नहीं।) अतः दुःख में मुझसे कुछ भी करते नहीं बनता···।" "हर्रे लगे न फिटकरी रंग चोखा" साहित्यकारों के लिए यह कहावत पाश्चात्य देशों में भी कभी लागू न हो सकी। साहित्य के लिए साधना की नितान्त आवश्यकता है।

भूमिका ही में 'दो फूल' के विषय में मानव जी ने लिखा है कि वह एक सत्य घटना के आधार पर लिखा गया है। हमें आपत्ति क्यों हो। आप कहीं से प्रेरणा ग्रहण करें किन्तु सत्य घटनाओं को ज्यों-का-त्यों रख देना सामयिक (Journalese) महत्त्व की वस्तु हो सकती है कला की नहीं। कला फ़ोटोग्राफ़ी को नहीं कहते। कैनवेस पर कूची लेकर सृजन करने को कहते हैं। इस तरह बाकी के चार नाटकों के लिए मैं भूमिका की कोई सिफारिश स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। मैंने नाटकों को पढ़ा है और मैंने उन्हें भूमिका की कसौटी पर नहीं बल्कि नाटक-शास्त्र की कसौटी पर कसा है। तीन खरे उतरे चार खोटे। इसमें लेखक को कोई शिकायत न होनी चाहिए।

---

१. लेखक—विश्वम्भर मानव एम० ए०; प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद।

विष्णु स्वरूप

सृष्टि का रथ

आदिवासियों के एक वर्ग—गोंडों के जीवन का विषय—जिसकी एक झलक श्री देवेन्द्र-सत्यार्थी, अपनी तेरह वर्ष में लिखी गई पहली कहानी 'अन्न देवता' में प्रस्तुत कर चुके थे, अनुभव और चिन्तन के द्वारा वृद्धि पाकर एक नये और बड़े कैन्वेस पर 'रथ के पहिये' के रूप में सात वर्ष के लम्बे परिश्रम के परिणामस्वरूप अंकित हुआ है।

उनकी दृष्टि इन आदिवासियों की जीवन-प्रक्रिया में एक 'सांस्कृतिक और कलात्मक थाती' के दर्शन कर पाई है। उनकी आशंका भी यथार्थ है कि कहीं अवहेलना के कारण वह जीती-जागती संस्कृति मोहनजोदड़ो की सभ्यता की भाँति जमीन के नीचे न दब जाय। यही आशंका प्रस्तुत उपन्यास की आधार-शिला है। किन्तु सत्यार्थी जी के अनेक निबन्धों और कहानियों की भाँति प्रश्न को केवल छूकर, किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँचने के बजाय भावनामय भूलभुलैयों में खो जाने की प्रवृत्ति उनकी इस रचना में भी स्पष्ट है।

कथानक का मोहनजोदड़ो से केवल इतना ही सम्बन्ध है कि गोंड-जीवन के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए पाठक के मन में आधार-भूमि तैयार की जा सके और तुलना द्वारा यह समझाया जाय कि 'गोंडों की तहजीब मोहनजोदड़ो से भी पुरानी कही जा सकती है। जिन्दा इन्सानियत एक उदास कब्रिस्तान से कहीं बढ़कर होगी, लेकिन इसके लिए उपन्यास के आरम्भ में काफी दूर तक मोहनजोदड़ो का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए, वहाँ के क्यूरेटर के चरित्र को उभारने का प्रयास, (जिसका कि आगे के कथासूत्र से सम्बन्ध नहीं रह जाता), पाठक के मन में यह भ्रम उत्पन्न करने के अतिरिक्त कि उपन्यास का कथानक कहीं मोहनजोदड़ो पर ही तो आधारित नहीं है, अन्य कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं करता। इसी प्रकार धनकुण्डी के मालगुजार की डायरी के उद्धरणों में आवश्यकता से अधिक उलझाव कथाप्रवाह में व्यर्थ रुकाव उत्पन्न करता है।

गोंड-जीवन के विकास के अपने मानसिक आदर्श को लेखक ने दो प्रधान-पात्रों में मूर्त किया है। आदिवासियों के प्रति देश के कर्तव्य एवं उनके कलात्मक विकास तथा आर्थिक उत्थान के लिए आवश्यक कार्य-पद्धति की कल्पना का प्रतिनिधित्व एक आदर्शवादी युवक 'आनन्द' करता है; और स्वयं आदिवासियों की आन्तरिक चेतना का प्रतिनिधित्व एक सम्वेदनशील गोंड युवती 'रूपी' करती है। इस प्रकार के पात्र यथार्थ न होकर यथार्थ की सम्भावना ही हो सकते हैं, फिर भी दोनों पर्याप्त व्यक्तित्वपूर्ण हैं। वस्तुतः 'रथ के पहिये' के सभी पात्र विशिष्ट व्यक्तित्व-सम्पन्न दीख पड़ते हैं, और कथारस के अभाव की बहुत-कुछ पूर्ति इनके द्वारा हुई है। शिक्षिता गोंड-युवती रूपी के सहयोग में सक्रियता ही नहीं, मधुरता भी है—क्रमशः विकसित होते हुए प्रेम की मधुरता। साथ ही उसके कलाकार मित्र सोम का एक मान्य गोंड-कन्या फुलमत के साथ विवाह में परिणत होने वाला मधुर सम्बन्ध, दोनों के द्वारा कथानक के वातावरण में सरसता उत्पन्न की गई है।

कथासूत्र के समानान्तर चलने वाला बूढ़े चुन्नूमियां का चरित्र भुलाया नहीं जा सकता। अपनी छज्जेदार दाढ़ी पर हाथ फेरकर हर बात में अल्ला पाक की पसन्द-नापसन्द की इनकी खोज कम मनोरञ्जक नहीं। क्रूर मालगुजार धनपाल का चरित्र लालाराम की सरलता के परिपार्श्व में काफी उभड़कर आया है।

इधर के हिन्दी कथा-साहित्य में लोक-तत्त्व के समावेश की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है, जो कि कलाकार के जीवन से निकट सम्पर्क को सूचित करती है। लोकजीवन के आशा-विश्वासों के साथ ही प्रदेश-विशेष के रहन-सहन, रीति-रिवाज, चिन्तन पद्धति आदि विभिन्न जीवन-प्रक्रियाओं का यथार्थ चित्रण, कथानक को ताजगी देता है। नागार्जुन के 'बलचनवा' और शिवप्रसाद 'रुद्र' के 'बहती गंगा' नये उपन्यासों में इस दृष्टि से मुख्य हैं। 'रथ के पहिये' इस आधार पर निश्चय ही काफी आगे बढ़ा हुआ है। यद्यपि यह बहुत-कुछ कथानक के अनुरोध-मात्र से सम्भव हुआ है, किन्तु सत्यार्थी जी द्वारा आदिवासियों के और विशेष रूप से करंजिया प्रदेश के गोंड-जीवन के व्यापक एवं सूक्ष्म निरीक्षण का प्रतिफलन ही इसमें हुआ है। उपन्यास आरम्भ करने से पूर्व लेखक ने साहित्यिक और कलात्मक तकाजे को मानकर उस जीवन का कष्ट उठाकर पुनः विशेष निरीक्षण किया था और इसी कारण वहाँ की प्रादेशिकता को उपन्यास में मुखर कर पाया है। लामसेना की विचित्र प्रथा (वर द्वारा कन्या के निर्दिष्ट मूल्य को पूरा करने के लिए विवाह के पूर्व एक निश्चित अवधि तक कन्या के पिता की सेवा करना), करमा नृत्य, सर्पदंशन के विष को उतारने की अद्भुत प्रणाली आदि के चित्रण ने 'रथ के पहिये' के प्रादेशिक रंग (regional element and local colour) को काफी गहरा बना दिया है। फिर भी ऐसे स्थानों पर हृदय को छू सकने वाली मार्मिकता बहुत कम अंशों में ही उत्पन्न हो पाई है।

सत्यार्थी जी ने आदिवासियों की सांस्कृतिक प्रगति को मानव-मात्र की सांस्कृतिक प्रगति के एक चिरन्तन गतिशील सत्य के परिपार्श्व में देखने का प्रयास किया है। रथ के पहिये उसी गतिशीलता के प्रतीक हैं। इसकी प्रेरणा का आधार वह गोंड-गीत है जिसमें चन्द्रमा और सूर्य के पहियों वाले उस चिरन्तन सृष्टि-रथ की व्यापक कल्पना है जिसमें दिन और रात के बैल हैं और मानव-पुत्र जिसका सारथी है। लेखक उसकी गतिशीलता के प्रति पूर्ण आस्थावान है—"रथ नहीं रुक सकता, कोई रथ से उतर जाय, चाहे कोई रथ पर सवार हो जाय, पहिये चलते रहें, पहिए रुकने न पाएँ, कभी हौले-हौले, कभी तेज़-तेज़।" इसीलिए सारे उपन्यास के वातावरण में जैसे उन पहियों की ध्वनि परिव्याप्त है—'रीरीना, रीरीना राजा रीरीना।'[1]

❂

मार्कण्डेय

चाँदनी रात और अजगर

अश्क की रचनाओं के सम्बन्ध में द्विविध प्रतिक्रियाएँ रही हैं। जिनके मन में रूप का अत्यधिक आग्रह है वे मुँह बिचकाकर विमुख हो जाते हैं और जो वस्तु के प्रेमी हैं (कविता और समाचार-पत्र के सम्पादकीय में अन्तर न मानने वाले) वे झगड़ा खड़ा कर देते हैं, क्योंकि अश्क की प्रस्तुत पुस्तक 'चाँदनी रात और अजगर' का प्रकाशन भी हिन्दी कविता के इसी विवाद-ग्रस्त युग में हुआ है।

---

१. रथ के पहिये; लेखक—देवेन्द्र सत्यार्थी; प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली।

इस पुस्तक में खासे सुरुचिपूर्ण कवरपृष्ठ और फ्लैप से लगे हुए वातायन से झाँकती हुई चाँदनी के साथ उदास रोगी-व्यक्ति के रेखा-चित्र के बाद कवि का एक भव्य फोटो है और उसके बाद दो भूमिकाएँ। पहली स्वयं अश्क की है जो इनकी अन्यान्य भूमिकाओं की तरह दम्पती चर्चा से बोझिल होते हुए भी अपनी कविता की बात को बहुत हद तक साफ करती है। हाँ, आत्मिक वस्तुपरकता या व्यक्तिवादी समाजवाद का जो नया रूप इधर बहुतेरी प्रगतिशील कृतियों या कृतिकारों में परिलक्षित हुआ है और जिसने कृतित्व को ओछा और हलका प्रचारवादी बनाया है, का संकेत हमें इस भूमिका में भी मिलता है। दूसरी भूमिका खासी जोरदार शब्दावली में अन्धाधुन्ध लिखी हुई तारीफ एवम् परिचय ही मानी जाय तो इससे शायद कवि और आलोचक दोनों को प्रसन्नता होगी। वैसे चौहानजी ने कविता की विषय-वस्तु और शैली दोनों की चर्चा की है। विषय-वस्तु में जनवादी होना ही काफी है ! पर शैली के लिए उन्होंने 'फैज', 'पंत' और 'महादेवी' की शैलियों से प्रेरणा ग्रहण करके छन्द में नये प्रयोगों की भी सराहना की है। ऐसी अवस्था में छन्द-विधान को संश्लिष्ट और जटिल कहना कोरा वाग्जाल ही लगता है।

प्रस्तुत कविता, (जिसे भूमिका-लेखक ने गत जीवन के संस्मरणों, अभावों और भावी जीवन के स्वप्नों द्वारा गुथी कहानी (?) कहा है) रोग-शय्या पर पड़े व्यक्ति की मानसिक वृत्तियों की संस्मरणात्मक अभिव्यक्ति की एक प्रणाली है। पूरी कविता में सजगता की एक यूनिटी है, जो अपने में, अपने दुःख में, अपनी आशाओं में मन के पास तक पहुँचने की कोशिश करती है पर जैसे ही उसमें रूमानी भावुकता का विद्रोही स्वर आता है वह मासूम बच्चे के बनावटी क्रोध या हवाई उड़ान-सी लगने लगती है। एक उदाहरण लीजिए—

> बनूँ महाकवि मैं 'ठाकुर' सा
> औ' इनाम 'नोबुल' सा पाऊँ।
> जमुना तट पर शान्ति निकेतन
> ही सा मैं फिर नगर बसाऊँ।
> माता पिता चाहते—बेटा
> करे परिश्रम जान तोड़ कर,
> बैठे कम्पटीशन में औ'
> बने कलक्टर और कमिश्नर।

इस तरह के अनेक स्थल पुस्तक में भरे पड़े हैं जो अत्यन्त आरोपित हैं—और प्रारम्भिक काव्य-गठन और उठान को बीच-बीच में तोड़ते चलते हैं। बीच में संस्मरणों के सिलसिले में जब लेखक पारिवारिक कहानी कहने लगता है तो वह एक आग्रह-सी ज्ञात होती है और यही शायद इसके काव्य-कथा कहलाने का भ्रम भी पैदा करती है। दूसरी बात यह कि इसमें कथा का रस और वर्णन की सूत्रात्मकता भी नहीं है जो पाठक को बाँधे। स्पष्टतः यह यह टूटी हुई कल्पनाएँ हैं जो खंडित प्रतीकों की तरह रुक-रुककर नया रूप धरती चलती हैं।

संस्मरण, अभाव और भावी जीवन के स्वप्न, तीनों ही इस कविता की बुनाई में प्रस्तुत हैं, पर इनका गुम्फन अभिव्यक्ति की गहराई में नहीं उतर सका है। जैसा ऊपर संकेत हो चुका है कि कहीं-कहीं व्यक्तिगत दुःख, साहस और संघर्ष का अत्यन्त प्रभावोत्पादक वर्णन हुआ है,

जिससे कवि की स्वस्थ मानसिक वृत्ति का पूरा परिचय मिलता है। अन्त में जब अभाव और शोषण से मुक्त होकर जन-जागरण का प्रतीकात्मक चित्र आता है तब कविता एकाएक बहुत ऊपर उठ जाती है क्योंकि यहाँ भी प्रारम्भ की भाँति अभिव्यक्ति की गहराई अत्यन्त आत्मिक हो उठी है :

सोच रहा हूँ—
यह असीम बल
परिमिति-हीन समूह शक्ति का,
शोषण से हो मुक्त
पुष्ट हो श्रम के फल से
एक सूत्र में बँध स्वेच्छा से
पाकर निज आकार भव्यतर
जब होगा मथने को तत्पर
वक्ष धरणि का
अम्बर का उर
सरिता सागर
क्या क्या रत्न न यह लाएगा।

कहीं-कहीं अभाव का भी मार्मिक चित्र उभरकर सामने आता है, लेकिन सम्पूर्ण रूप से यह लम्बी कविता विस्तार अथवा कथात्मकता के मोह में बिखरकर प्रभावहीन हो गई है।

जहाँ तक भाषा और शैली की बात है उसमें सचाई के साथ दो मत नहीं हो सकते कि अश्क की कविताओं में नई कविता के परिमार्जित एवम् सहज-शब्द-विन्यास का पूर्ण अभाव है। लगता है जैसे मनोवेगों को छू सकने के लिए कवि के पास शब्द और संगीत दोनों का अभाव है। साफ़-सुथरे शब्दों की तोड़-मरोड़ और इनके कतिपय ग़लत प्रयोगों के साथ टूटे हुए मीटर में जो मनमानी कवि ने की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह शौकिया और कभी-कभी ही कविता लिखता है। न तो वह काव्य की दिन-प्रतिदिन अग्रसर होने वाली प्रवृत्ति अथवा शैली के साथ है, न उसे जानना ही चाहता है।

अन्त में यह कहना जरूरी है कि कविता केवल शैली का चमत्कार ही नहीं है, पर कविता घोषणा-पत्र भी नहीं है। इन दोनों का स्वस्थ सामञ्जस्य ही किसी रचना को पाठक के हृदय तक पहुँचा सकता है। 'अश्क' की प्रस्तुत पुस्तक अपनी स्वस्थ और जागरूक काव्य-वस्तु के लिए पढ़ी जानी चाहिए और यह भी कहा जा सकता है कि जिज्ञासु पाठक उसमें यत्र-तत्र भीगेगा भी।[1]

---

1. लेखक—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'; प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन गृह, इलाहाबाद।

प्रभाकर माचवे

भारतीय सन्तों की वाणी

'सन्त सुधासार' में बड़े परिश्रम और गहरी श्रद्धा के साथ वियोगीहरिजी ने दो सिद्ध (सरहपा और तिलोपा), दो जैन मुनि, गोरख (नाथ), नामदेव, कबीर, रैदास और कबीरपंथियों और दूसरे निर्गुनियों में १५ बाबा और साहबों की बानी संग्रह की है। साथ ही गुरु-बानी में १२ सन्त आदि-ग्रंथ से सम्बन्धित दिये गए हैं जिनमें 'जपुजी' और नानक से शेख फ़रीद तक के पंजाबी पदों के सम्पूर्ण अर्थ भी नीचे पाद-टिप्पणियों में दिये गए हैं। वैसे कठिन शब्दों के अर्थ सर्वत्र नीचे दिये हैं और हर सन्त के साथ-साथ 'चोला-परिचय' और 'बानी-परिचय' भी दिया गया है, जो कि संक्षिप्त है और केवल रस-ग्रहण में सहायक हो इस दृष्टि से है।

प्रकाशकीय में कहा गया है कि पुस्तक आध्यात्मिक क्षुधा की शान्ति की दृष्टि से भी प्रकाशित की गई है। यद्यपि आध्यात्मिक क्षुधा से हम विशेष संपीड़ित नहीं—क्योंकि क्षुधा-मात्र न जाने किस पाप को करने के लिए उत्प्रेरणा दे—और आत्म-लाभ की कांक्षा भी सन्तों को पढ़कर कम ही होती है; फिर भी मन्त्री जी की श्रद्धा को ठेस न लगाते हुए निवेदन है कि पुस्तक जरा झीने टाइप में छपकर ग्यारह रुपये खर्च कर सकने वालों से अधिक संख्या में सहज-सुलभ हो सकती थी। परन्तु 'सस्ता' होने पर भी प्रकाशन आखिर प्रकाशन जो है। यानी सन्त-मत का अनुसरण पूर्णतः करें तो 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' का क्या हो ? लगता है पाठकों को तो होगा ही, प्रकाशक को भी 'आत्म-लाभ' हुआ है। विनोबा ने (पृ० १२ पर) कहा है : "आजकल हमने सार्वजनिक सेवा का एक आडम्बर-सा बना रखा है।"

हमें पुस्तक पढ़कर परम सन्तोष हुआ। इतना अध्यवसाय और इतनी व्यापक रस-ग्राहकता इधर हिन्दी-पुस्तकों में (विशेषतः जल्दी-जल्दी में पाठ्य-पुस्तकों की तरह बनाये गए संकलन-संग्रहों में) कम मिल पाती है, इसलिए और भी सुख हुआ। केवल सम्पादकजी से हमारा ज़रा-सा मतभेद नानक, गुरु अर्जुनदेव आदि के पंजाबी पदों को हिन्दी मानने पर है। यदि पंजाबी भाषा को सम्पादकजी स्वतन्त्र भाषा न मानकर राजस्थानी, मैथिली, अवधी, ब्रज की तरह हिन्दी ही की एक शाखा मानते हों तो बात दूसरी है। लगता है इसमें पंजाबी भाषा (विभाषा नहीं) के साथ कुछ अन्याय होता है। हम आशा करते हैं कि 'सन्त सुधासार' का क्रम वियोगीहरि जी चालू रखें और अगले खण्ड में महिपति, चक्रधर, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ, रामदास, दक्षिण के आलवार और तमिल शैव-सन्त यथा मणिक्कवाचकम्, संभधर आदि, तेलुगु वेमना और पोतन्ना, कन्नड़ बसवेश्वर, कनकदेव और अक्का महादेवी, गुजराती 'आखो', नरसी मेहता आदि भी उसमें ले आएँगे, क्योंकि सन्तों के निकट निर्गुण-सगुण की रेखा बहुत झीनी है।

यहीं पर पुस्तक की अत्यन्त मूल्यवान और मौलिक चीज विनोबाजी की दस पृष्ठ की भूमिका की ओर मैं दर्शन और साहित्य के सभी सुधी मर्मज्ञों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। विनोबाजी ने लिखा है : "कुछ ज्ञानी निर्गुण-निराकार का ध्यान करते हैं, जो सब कल्पनाओं से रहित है। उसका ध्यान करने वाले अकसर 'ओंकार' को पसन्द करते हैं।" ओंकार के विषय में प्रा० गोरे के एक मराठी लेख में २१-४-४८ को विनोबाजी ने "ॐ नमः सिद्धम्' जैन गुरुओं की छाप है। परन्तु जैन-गुरु इतने नम्र थे कि उन्होंने श्रीगणेशाय नमः

के बाद उसे स्थान दिया।'' जो विधान किया है, उसके प्रत्युत्तर में लिखा है कि जैनधर्मीय तो 'नमो अर्हिंताणं' के बाद 'नमो सिद्धाणं' कहते हैं। अर्हतों की अपेक्षा सिद्ध अधिक पूर्णावस्था को पहुँचे हुए हैं, ऐसा इसका अर्थ है। श्री बी० शेषगिरि राव ने 'दक्षिण भारत में जैन-धर्म का अभ्यास' में लिखा है कि 'सिद्धं नमः' का सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। तेलुगु लोग अपनी वर्णमाला के आरम्भ में 'ॐ नमः शिवाय सिद्धं नमः' कहते हैं। कलिंग देश के उड़िया लोग वर्णमाला के आरम्भ में सिद्धिरस्तु कहते हैं। सातवाहन संस्कृति 'सिद्धं नमः' से व्यक्त हुई है तो चालुक्य 'ॐ नमः शिवाय सिद्धम् नमः' से। एलिस गेटी ने अपने ग्रंथ 'गणेश' में पृ० ४० पर प्रो० प्रबोधचन्द्र बागची का एक पत्र दिया है जिसके अनुसार 'सिद्धं' का जो द्वितीया रूप रहता है और 'शिवाय' की तरह से चतुर्थी रूप नहीं हुआ इसका कारण यह है कि बहुत प्राचीन काल से हिन्दुओं के मूलाक्षरों का नाम 'सिद्धं' था। विल्सन कालेज, बम्बई के पण्डित मार्गवशास्त्री जोशी व्याकरणाचार्य के अनुसार महाभाष्यकार पतंजलि ने 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' में 'सिद्ध' मांगल्यसूचक अव्यय माना है। उत्तरप्रदेश के 'रामसुती, सरसुती, ओनामासीधं' का 'ओनामासीधं' महाराष्ट्र में भी है। डेविड डिरिंजर के ग्रन्थ ''दी अलफाबेट, ए की टु दि हिस्ट्री आफ मैनकाइंड'' में गुप्त लिपि से सिद्धमातृका लिपि के द्वारा देवनागरी लिपि ईसा की छठी शती में आई ऐसा प्रतिपादित है। तोशाय ओ३म् नमः सिद्धं' में सिद्धमात्रिका लिपि का ही चयन हो। अस्तु, यह अवांतर चर्चा मैंने 'ओंकार' और 'सिद्ध' शब्द के कारण आनुषंगिक समझकर की। विद्वज्जन इस पर सोचें।

विनोबाजी की भूमिका में जहाँ ईश्वर के सम्बन्ध में यह एकदम नवीन और मौलिक विचार इस चार्ट के रूप में मिलता है कि :
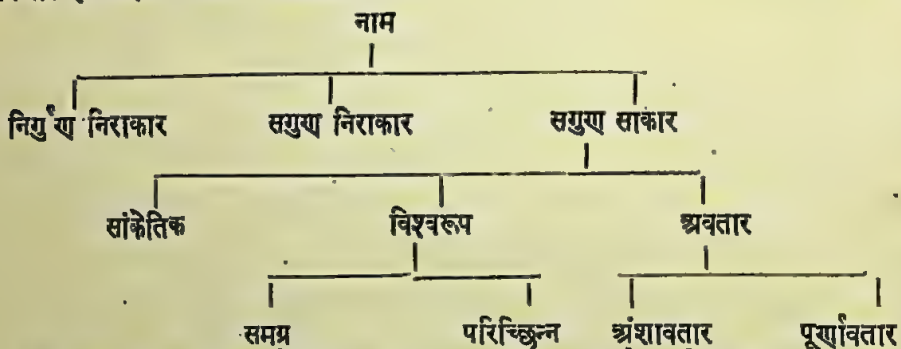
वहीं दो-तीन विधान ऐसे हैं जिन पर मतभेद हो सकता है। जैसे विनोबाजी पृ० १४ पर कहते हैं—''दुनिया के सारे साहित्य में निर्गुण निराकार का सबसे श्रेष्ठ प्रतिपादन उपनिषदों में मिलता है।'' यह विनोबाजी का अपना मत हो सकता है। अनीश्वरवादी दर्शनों में निर्गुण निराकारत्व 'नैरात्मा' की स्थिति तक पहुँचा है। उपनिषदों में काव्यगुण अवश्य हैं परन्तु निर्गुणत्व और निराकारत्व का प्रतिपादन बौद्ध शून्यवादियों ने अधिक सूक्ष्मता से किया है, ऐसा मेरी अल्पमति के अनुसार मुझे लगता है।

और विनोबाजी के जिन दो विधानों को लेकर मैंने उनसे कुछ पत्र-व्यवहार किया वे मूल में इस प्रकार से हैं : (१) ''उपनिषद् में निर्गुण-निराकार के साथ सगुण-निराकार की पुष्टि करने वाले वचन भी पाए जाते हैं, जिनको रामानुज आदि भाष्यकार विशेष महत्त्व देते हैं।

इस्लाम और ईसाई मत इसीको मानते हैं। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज इत्यादि आधुनिक समाज सगुण-निराकार की भूमिका पर खड़े हैं।"[1] और (२) "कुछ विचारक और उपासक ऐसे ज़रूर होते हैं जो अपना-अपना आग्रह रखते हैं। जैसे मोहम्मद पैगम्बर सगुण-निराकार मानने वाले थे। यद्यपि निर्गुण निराकार का वे निषेध नहीं करेंगे, किन्तु सगुण-साकार का अवश्य निषेध करते हुए दीख पड़ते हैं। वैसे क़ुरान में वज्हुल्लाह याने 'अल्लाह का चेहरा' ये शब्द कई जगह आए हैं, जिनके आधार पर मूर्तिपूजा की अतिशयता का तो बचाव नहीं होगा, लेकिन सगुण-साकार का प्रवेश हो जायगा। क़ुरान का कुल मिलाकर भाव मैं यही समझा हूँ कि मोहम्मद के सामने विकृत मूर्तिपूजा खड़ी है, जिसके साथ उनके अनेक भ्रष्टाचार जुड़ गए हैं; उस सब का वे निषेध करना चाहते हैं। आखिर, ईश्वर का शब्द वे सुनते थे, *'वही'* उन्हें प्राप्त होती थी, उसमें वे भावित होते थे, उसका उनके शरीर पर असर होता था; कुछ रूह, कुछ प्रभा, कुछ आभास, जो भी कहो, उनके अन्तर्-मानस में प्रकट होती थी। यह सब देहधारी मनुष्य कैसे टालेगा ?"

विनोबा के मूल अवतरण पाठकों को मेरे पत्र-व्यवहार की शंकाओं को समझने में सहायक हों, इस हेतु से दिये हैं। उन्हें इस अंश को लेकर जो पत्र मैंने लिखा। उसमें 'यदुहुल्लाह' (अल्लाह का हाथ) आदि का आधार देकर क़ुरान में अल्लाह के सगुणपन के विषय में शंका व्यक्त की थी।

विनोबाजी ने उत्तर में जो पत्र लिखा उसका उपयोगी अंश इस प्रकार है जो इसलिए प्रस्तुत किया जा रहा है कि वह विषय को समझ सकने में अधिक सहायक सिद्ध हो सके :—

"सगुण-निर्गुण-भेद का मर्म जान सकना याने ईश्वर में प्रवेश ही पाना है। ईश्वर तत्त्व केवल अचिंत्य है, शब्द से परे है। तिस पर भी उसके वर्णन के लिए शब्दों का उपयोग किया जाता है तो ईश्वर वह सहन कर लेता है। विष्णुसहस्र नाम में ईश्वर के दो नाम ही यों दिये हैं—"शब्दातिगः शब्दसहः।"

अकसर लोग निराकार याने निर्गुण, और सगुण याने साकार ऐसा ही मान लेते हैं। पर निर्गुण निराकार और सगुण साकार से भिन्न सगुण निराकार भूमिका है। पैगम्बर की यही भूमिका मैं समझा हूँ। मैंने यह नहीं कहा कि वे सगुण साकार को मानते हैं। लेकिन वज्हुल्लाह आदि शब्दों के आधार पर अगर कोई समन्वय करना चाहे तो सगुण साकार के साथ समन्वय हो सकेगा, इतना ही मैंने सूचित किया था। आपने परमेश्वर के जो विशेषण क़ुरान के दिये हैं वे बहुत सारे निराकार होते हुए भी सगुण हैं। जैसे 'अर्रज़्ज़ाक' याने रोजी देने वाला। निर्गुण किसी को रोजी नहीं दे सकता। निर्गुण का वर्णन तो नकार से ही हो सकेगा।

सगुण निराकार मानने वाले जितने होते हैं उनकी भूमिका सबकी एक ही होती है, सो बात नहीं है। उनमें से कोई साकार का निषेध करते हैं। कोई साकार का निषेध करते हुए भी, इन्सान के लिए ही क्यों न हो, साकारवाची शब्द सहन करते हैं। कोई साकार को मानसिक आकार देते हैं। कोई उसको भौतिक रूप देते हैं। कोई उसकी उपासना के लिए मूर्ति भी अज्ञान दशा के लिए मान्य कर लेते हैं। ऐसे सब भेद होते हुए भी ये सारे सगुण निराकारवादी

१. पृ० १४

२. पृष्ठ १५-१६

होते हैं। इस्लाम, ईसाई, रामानुज ब्राह्मो-प्रार्थना समाजी आदि ये सारे जितने भी उपासना-ग्रन्थ हैं सब सगुण भूमिका पर खड़े हैं, ऐसा ही मैं समझता हूँ।

राम, कृष्ण ये शब्द भी मूलतः अमूर्तवादी सगुण शब्द हैं। याने सगुण निराकार हैं। उस पर आकार का आरोपण पीछे से किया गया है। राम याने रमने वाला। कृष्ण याने आकर्षण करने वाला। 'हर हर महादेव' याने अक्षरशः 'अल्लाहो अकबर।' महादेव और अकबर एक-दूसरे के तर्जुमे समझिए।

जहाँ तक ज्ञानदेव का ताल्लुक है, निर्गुण, सगुण और साकार तीनों में वह कोई फर्क नहीं करता है। अलंकार के आकार में सुवर्ण रहता है। और सुवर्ण में सुवर्णत्व है। हम अक्षर की आकृतियाँ देखते हैं। उन आकृतियों में हम अक्षर पढ़ते हैं। और उन अक्षरों से हम अर्थ ग्रहण करते हैं। अर्थ निर्गुण है। अक्षर-ध्वनि सगुण है। अक्षर-आकृति साकार है। राजा का पत्र हम फाड़ डालते हैं तो राजा का अपमान होता है।

कुरान में एक जगह मुहम्मद ने अपने अनुयायियों से कहा है कि मूर्तिपूजकों के देवताओं की तुम निन्दा मत करो, नहीं तो वे तुम्हारे अल्लाह की निन्दा करेंगे। कोई भी नहीं कहता कि व्यभिचारियों के व्यभिचार की निन्दा मत करो, नहीं तो वे तुम्हारे सदाचार की निन्दा करेंगे। ज़ाहिर है कि इसमें मुहम्मद ने मूर्ति-पूजा को अधर्म नहीं माना है, बल्कि परधर्म माना है। यह सारी मेरी समझने की दृष्टि है। गीता ने 'ओ३म् तत् सत्' इस महामन्त्र में निर्गुण, सगुण और साकार का उत्तम समन्वय किया है। उसकी कुछ चर्चा अपने 'स्थित प्रज्ञ-दर्शन' में मैंने की है। सगुण-निर्गुण-उपासना की एकता, जैसी मैं समझता हूँ, 'गीता प्रवचन' में प्रगट की है। मैं नहीं जानता कि इतने से आपका समाधान हो सकेगा या नहीं। आखिर यह अनुभव का विषय है और शब्द-शक्ति की एक सीमा है।"[1]

---

१. संकलनकर्ता : वियोगीहरि; प्रस्तावना—आचार्य विनोबा; प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल।

परिचय

खोज की पगडण्डियाँ

ले०—श्री मुनि कांतिसागर; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी;

प्रस्तुत पुस्तक मुनि कांतिसागरजी के बारह लेखों का संग्रह है। ये लेख कला, पुरातत्व एवं यात्रा-विषयक हैं।

उपर्युक्त लेखों में पहला लेख सबसे बड़ा है। उसमें जैन चित्रकला की प्राचीनता और उसके क्रमिक विकास का विस्तृत विवेचन किया गया है। विद्वान् लेखक ने मुगल काल के पहले की जैन चित्रकला के सम्बन्ध में कई नवीन बातों पर प्रकाश डाला है। दूसरा लेख बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकला पर है। इसमें विविध प्रकार के बौद्ध-चित्र तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चित्रपटों के सम्बन्ध में मुनिजी के विचार विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। ललित-कला विषयक अन्य तीन लेखों में कई ज्ञातव्य तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। छठे, सातवें और आठवें लेखों में क्रमशः दो ताम्रपत्रों तथा रोहण खेड़ के एक मकबरे पर प्राप्त विचित्र ढंग की लेखन-प्रणाली की चर्चा की गई है।

पुस्तक का अन्तिम भाग भौगोलिक तथा यात्रा-विषयक है। मुनिजी पर्यटक के रूप में प्रसिद्ध हैं। परन्तु उनका पर्यटन घुमक्कड़ों की श्रेणी में नहीं आता। वह अपनी यात्राओं में प्राचीन अवशेषों का सम्यक् निरीक्षण करते हैं और उनके सम्बन्ध में आवश्यक बातें नोट करते हैं। अनेक बार उन्हें भयावने और बीहड़ स्थानों में भी पुरातत्व की खोज में जाना पड़ा है। प्राचीन स्थलों का प्रत्यक्ष वर्णन मुनिजी ने अपने यात्रा-सम्बन्धी लेखों में बड़ी खूबी के साथ किया है। वर्णन-शैली रोचक है। इस पुस्तक में नालंदा, विंध्याचल, मैहर तथा पाटलिपुत्र के मनोरंजक वर्णन मिलते हैं।

पुस्तक में कुछ कमियाँ रह गई हैं। चित्र-कला तथा शिल्प-सम्बन्धी आवश्यक चित्रों का न होना खटकता है। जिन मुख्य कलाकृतियों तथा भौगोलिक स्थलों के उल्लेख पुस्तक में हुए हैं यदि उनके चित्र दे दिये जाते तो पुस्तक की शोभा और उपादेयता निस्सन्देह बढ़ जाती। प्रूफ़ की भी कुछ गलतियां रह गई हैं—विशेष-कर व्यक्तियों और स्थानों के नामों की। इस प्रकार की उपयोगी पुस्तक के अन्त में अनुक्रमणिका का न होना भी खटकता है। लेखक ने 'म्यूजियम' के लिए 'आश्चर्य गृह' शब्द का प्रयोग किया है। इसके स्थान पर 'संग्रहालय' या 'कलाभवन' नाम अधिक उपयुक्त रहता। आशा है अगले संस्करण में इन कमियों को दूर किया जा सकेगा।

हम मुनिजी का इस उपयोगी पुस्तक की रचना के लिए साधुवाद करते हैं। उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ पुरातत्व और कला-सम्बन्धी

सामग्री को अपनी इस कृति में संग्रहीत किया है।

—कृष्णदत्त वाजपेयी

अर्वाचीन और प्राचीन के परे

ले०—गोपीकृष्ण 'गोपेश'; प्र०—आर्ट प्रिण्टर्स, इलाहाबाद।

अर्वाचीन और प्राचीन के परे १४ पौराणिक रूपकों का संग्रह है जो रेडियो के लिए लिखे गए हैं। रेडियो-रूपक अपनी अजीब-सी सीमाओं में पलते हैं, मूर्त होते हैं। बिना कुछ दिखाए ही नाटककार से उसका श्रोता सब-कुछ देख लेना चाहता है—वह भी कानों से।

पर रेडियो रूपककार को कुछ छूट मिलती है। उसे कुछ और अधिकार मिलते हैं। वह स्वयं एक प्रवक्ता बनकर अपने चरित्रों और श्रोताओं के बीच में आता है—रूपक के वातावरण और कथासूत्र का परिचय देने, इतिवृत्त को बढ़ाने, सँवारने। इतिवृत्त के बीच प्रमुख घटनाएँ, वाणि-अभिनय, वार्तालाप, संगीत, ध्वनि आदि से नाटकीय रूप-रेखा में बाँधी जाती हैं।

इन रेडियो-रूपकों में उक्त सभी मान्यताएँ सफलता से चरितार्थ हुई हैं। इनमें कभी वर्णनकार आकर हमारी समस्त सांस्कृतिक वृत्तियाँ जगा देता है और साथ-ही-साथ वातावरण-निर्माण के बीच वस्तुस्थिति पर अपना आलोक फैला देता है; जैसे—'विजया दशमी' में 'सत्यवादी महाराज हरिश्चन्द्र' में, 'नल दमयन्ती', 'सावित्री सत्यवान' और 'पालने में भूले नंदलाला' आदि में। दूसरी ओर रूपककार अपने को वर्णनकार के रूप में न लाकर वहाँ स्त्री-पुरुष के स्वरों से कार्य लेता है—यह विधान अपेक्षाकृत नाटकीय, सफल और कलात्मक है; जैसे, 'महाराज दिलीप' में, 'महाराज उद्धव ब्रज से मथुरा में।'

इन समस्त रूपकों का भाव-क्षेत्र हमारी भारतीयता, हमारे आदर्श और हमारी संस्कृति है। रूपककार ने इस मर्यादा को सर्वत्र निभाया है। रूपककार मूलतः कवि है। इस दिशा में यह कृतित्व उसकी प्रथम देन है। कथानक पुराने हैं, इन पर बहुत लिखा गया है, लिखा जायगा, क्योंकि यही वह क्षेत्र है, जहाँ हमें आज भी गति मिलती है। इस प्रथम देन के लिए रूपककार साहित्य-जगत् की ओर से बधाई का पात्र है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

बदलती राहें • मधु

लेखक—यज्ञदत्त; प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन दिल्ली।

'यज्ञदत्त-साहित्य' के अन्तर्गत दो उपन्यास 'बदलती राहें' और 'मधु' सामने हैं। 'बदलती राहें' में लेखक ने कथा का निचोड़ काफी जोरदार शब्दों में भूमिका-रूप में पहले दे दिया है। इस उपन्यास में सन् सत्तावन से लेकर आज तक की इस लम्बी अवधि पर नजर दौड़ाकर स्वप्नमूलक आदर्शवादिता के जोश में कुछ कहने की कोशिश की गई है। एक पृष्ठ की भूमिका में आत्मा, प्रगति, रूढ़ि और त्याग आदि जिन शब्दों के प्रयोग द्वारा कथा की भव्यता प्रदर्शित की गई है वे सब अन्त तक पहुँचते-पहुँचते निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं; जिसके मूल में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, विवेचन, कहने की शैली और संवेदनात्मक स्थलों की पकड़ का अभाव है।

इतनी विशाल पृष्ठभूमि और इतनी ज्वलंत सामयिक समस्याओं को उठाने के पीछे लेखक की सजगता का तो आभास मिलता है, आदर्शवादी स्थापनाओं द्वारा उसकी आस्था का भी परिचय मिलता है, परन्तु जिस रूप और शैली में यह कथा प्रस्तुत की गई है उसे उपन्यास की संज्ञा देने में हिचक होती है।

ऐकारान्त सम्बोधनों का प्रयोग और पात्रों का आँखों-में-आँखें डाल देना अत्यन्त हास्यास्पद हो जाता है। भाषा यदि निर्जीव न कही जाय तो सशक्त या व्यञ्जनात्मक भी नहीं है।

'मधु' उपन्यास पर नजर पड़ते ही कवर पेज का चित्र सामने आता है जो हल्केपन का परिचायक है। कुछ सम्मतियाँ हैं और फिर डॉ० राकेश गुप्त की कथा की परिचयात्मक आलोचना। गुप्तजी ने टी० एस० इलियट के एक वाक्य को उद्धृत करके उसे स्पष्ट किया है, पर 'अधिकारपूर्वक' नहीं। और उससे जो निष्कर्ष निकाला है वह एक पृथक् विवाद का प्रश्न है। खैर···

तो कथा आरम्भ होती है प्रकृति-वर्णन के साथ और नौ पंक्तियों के बाद ही गीत प्रारम्भ हो जाता है। गीतों की भरमार और स्थलों पर उन्हें रखने के ढंग से ऐसा लगता है जैसे उपन्यासकार और सिनेमा के 'स्क्रिप्ट' लेखक में कोई अन्तर ही न हो। अतिनाटकीय-शैली और पौराणिक नाटकों की तरह बालिके, चण्डिके आदि सम्बोधन, अमूर्त अदृश्य में भावारोपण करके वार्तालाप, स्थान-स्थान पर नायिका का अचेत हो जाना आदि उबाने के लिए पर्याप्त हैं।

अन्त में यह कह देना भी आवश्यक लगता है कि प्रतिष्ठित सम्मतिकारों को अपनी उदारता का उस हद तक परिचय नहीं देना चाहिए जिससे कथा-साहित्य के पाठकों को ग़लत और भ्रमपूर्ण मार्ग-निर्देश मिले।

—कमलेश्वर

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (तृतीय भाग)—एक परिचय

सं०—उदयसिंह भटनागर, साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर

प्रस्तुत पुस्तक में राजस्थान और विशेषकर मेवाड़ के विभिन्न संग्रहालयों और व्यक्तियों के पास प्राप्त ५०६ ग्रंथों की विवरणात्मक सूची एवं उनके प्राप्त स्थान दिये गए हैं। इन ग्रंथों के रचयिता ३२५ व्यक्ति हैं। ग्रंथों का विवरण अकारादि-क्रम से तीन शीर्षकों के अंतर्गत दिया गया है:—

(क) अध्यात्म, धर्म, दर्शन, भक्ति-सम्प्रदाय, पंथ आदि····८१ ग्रंथ।

(ख) काव्य, साहित्य-शास्त्र, इतिहास आदि····६१ ग्रंथ।

(ग) ख्यात वृत, कथा-काव्य, जैन-रास, जीवन-चरित्र आदि····७६ ग्रंथ।

इस खोज विवरण में कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय 'पृथ्वीराज रासो' की नवीन प्राप्त प्रतियाँ हैं। खोज में सम्पादक को पाँच प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। रासो के संपादन और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इसके विशेष अध्ययन की आवश्यकता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'रामसागर' है जिसके रचयिता कबीर कहे गए हैं। लेखक ने प्रति का लिपिकाल सं० १३४२ (!) माना है। दस पत्रों में सीमित यह एक छोटी सी रचना है और विवरण में पूरी-की-पूरी उद्धृत कर दी गई है। यदि यह कबीर की प्रामाणिक रचना है तो इसका विशेष महत्त्व है। कबीर की प्रामाणिक रचना न होने पर भी यदि इसका लिपिकाल सं० १३४२ है, जैसा कि संपादक का

अनुमान है, तो इसका भाषा एवं लिपि की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसके अध्ययन की आवश्यकता है।

प्राचीन ब्रजभाषा एवं राजस्थानी गद्य की दृष्टि से जहाँ प्राप्त वार्ताएँ एवं ख्यात आदि महत्त्वपूर्ण हैं, वहाँ कुछ प्राचीन टीका-ग्रंथ विशेष रूप से भागवत् एवं भगवद्गीता-टीकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। अंत में, अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंश इसका परिशिष्टांश है जिसमें विभिन्न लिपिकाल के विभिन्न गुटकों में प्राप्त मीरा के अभी तक के प्रकाशित पद संग्रहीत हैं। इस प्रकार से यह ग्रंथ खोज के विद्यार्थियों एवं प्राचीन साहित्य के अध्ययन करने वालों के लिए बहुमूल्य है। इसके लिए लेखक एवं साहित्य-संस्थान बधाई के पात्र हैं।

—मिथिलेश कांति

रीतिकालीन हिन्दी कविता और सेनापति

ले०—रामचन्द्र तिवारी, एम० ए०; प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।

सेनापति की रचना 'कवित्त रत्नाकर' के इधर प्रकाशित हो जाने पर इस कवि के अध्ययन की ओर हमारा ध्यान पहले से अधिक आकृष्ट होने लगा है। पुस्तक परीक्षा-सम्बन्धी पाठ्य-ग्रंथों में आ चुकी है और इस कारण अनुशीलन की यह प्रवृत्ति अभी तक सोद्देश्य है और इसका क्षेत्र भी सीमित है। फिर भी सेनापति का आविर्भावकाल भक्ति-युग एवं रीति-युग के बीच में पड़ता है और इस रचना पर इन दोनों युगों का सम्मिलित प्रभाव है, अतएव, इस कवि के विषय में लिखते समय, अपने दृष्टिकोण को व्यापक एवं संतुलित बनाये रखना अनिवार्य हो जाता है। आलोच्य पुस्तक के रचयिता ने इस प्रकार की सभी बातों को अपने ध्यान में रखा है। इसके तीन खंडों में से पहले में रीतिकालीन हिन्दी कविता की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है जो संक्षिप्त होता हुआ भी सुन्दर है। दूसरे खंड में सेनापति के जीवन वृत्त, उसकी रचनाओं तथा उसके व्यक्तित्व का परिचय दिया गया है जो, पर्याप्त सामग्री के अभाव में अनिवार्यतः अधूरा-सा लगता है। परन्तु तीसरे खंड के शीर्षक काव्य-समीक्षा के अंतर्गत लेखक ने कवि की रचनाओं पर प्रायः सभी दृष्टियों से विचार किया है और वह औचित्यपूर्ण भी है। पुस्तक परीक्षार्थियों के अतिरिक्त हिन्दी-काव्यरसिकों के लिए भी सर्वथा उपादेय है, इसमें सन्देह नहीं।

—परशुराम चतुर्वेदी

महाकवि श्री निराला अभिनन्दन ग्रन्थ

कलकत्ता के साहित्यिकों ने श्री निरालाजी के सम्बन्ध में यह संस्मरणात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत कर हिन्दी-जगत् का बहुत उपकार किया है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री बरुआ लिखते हैं कि इस कृति की योजना तैयार करने में उन्हें '२५०० मील रेल यात्रा, ५०० मील ट्राम यात्रा और ५०० मील पैदल यात्रा करने का अलभ्य बड़भाग मिला है।' सम्पूर्ण ग्रन्थ के दो भाग हैं : प्रथम भाग के ११४ पृष्ठों में विभिन्न साहित्यिकों द्वारा श्री निरालाजी पर लिखे गए निजी संस्मरण शब्द-चित्र और श्रद्धांजलियाँ हैं जिनमें सर्वश्री बा० गुलाबराय एम० ए०, पं० श्रीराम शर्मा, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा', डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पं० गांगेयनरोत्तम शास्त्री, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', डॉ० सत्येन्द्र एम० ए०, वाचस्पति पाठक, गंगाप्रसाद पांडेय, अमृतलाल नागर, बेढब बनारसी, जयगोपाल शिवगोपाल मिश्र, जानकीवल्लभ शास्त्री, रत्नशंकर प्रसाद, भदन्त

आनन्द कौसल्यायन तथा उदयनारायण तिवारी एम० ए० डी० लिट्० के संस्मरण, शब्द-चित्र एवं श्रद्धांजलियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रारम्भ में श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्रीमती महादेवी वर्मा तथा कुछ अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों की प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ की आयोजना पर बधाइयाँ तथा शुभकामनाएँ हैं। श्री निरालाजी के प्रति लिखित दो कविताएँ भी हैं।

द्वितीय भाग के १८६ पृष्ठों में श्री बरुआ द्वारा लिखित "कलकत्ता में श्री निरालाजी (१०१ संस्मरण)" हैं, जिसमें लेखक ने श्री निरालाजी के सम्पर्क में आये हुए विभिन्न साहित्यिकों और विद्वानों द्वारा लिखित संस्मरणों को एक सूत्र में पिरोया है। इन संस्मरणों में श्री निरालाजी के उस समय के साहित्यिक उत्कर्ष के संघर्षमय जीवन की रोचक कहानी है, जब वे कलकत्ता में थे। इन्हें पढ़ने में एक महान् उपन्यास का-सा आनन्द आता है क्योंकि श्री अमृतलाल नागर के शब्दों में 'निरालाजी का जीवन किसी भी महान् औपन्यासिक 'हीरो' से कम नाटकीय नहीं।' इनमें सर्वश्री इलाचन्द्र जोशी, आचार्य शिवपूजन सहाय, पं० परमानन्दशर्मा, बाबू श्यामसुन्दरदास खत्री, पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी, आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी, डा० रामविलास शर्मा, प्रो० रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अंचल' और यशपाल जैन के संस्मरण उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में ३०० पृष्ठ हैं। इनके अतिरिक्त आर्ट पेपर पर छपे छोटे-बड़े, सादे और रंगीन १०५ चित्र भी हैं जिनमें कवर-पृष्ठ तथा द्वितीय भाग का मुखपृष्ठ भी सम्मिलित हैं। ६५ चित्र स्वयं श्री निरालाजी के हैं, अथवा उनसे सम्बन्धित हैं जो विभिन्न अवसरों तथा समयों पर लिये गए हैं। इनके अतिरिक्त श्री निरालाजी के एक पत्र तथा उनकी कुछ कविताओं की हस्तलिपियाँ भी हैं। इस सारी प्रचुर सामग्री से यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी और उपादेय हो गया है। किन्तु इसमें दो कमियाँ बहुत खटकती हैं। एक, अच्छे काग़ज की, दूसरी, जिल्द की। यदि यह अच्छे काग़ज पर छपा और मजबूत जिल्द में बँधा होता, तो अधिक टिकाऊ होता।

—श्याममोहन श्रीवास्तव

प्रेमचन्द के पात्र

सम्पादक—कोमल कोठारी; प्रकाशक—प्रेरणा प्रकाशन, जोधपुर।

हिन्दी-आलोचना बहुत-से विद्वानों के सत्प्रयत्नों के बावजूद अब भी बहुत वैज्ञानिक नहीं हो सकी है, ऐसा कहना कदाचित् बहुत असंगत न होगा। जिस क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित समीक्षा की आवश्यकता, साहित्य के स्वस्थ तथा संतुलित विकास के लिए आवश्यक होती है, उस श्रेणी की समीक्षा हमारे यहाँ अभी पर्याप्त मात्रा में तैयार नहीं हो सकी है। ऐसी स्थिति में जब कोई वैज्ञानिक पद्धति पर आलोचना-कृति हमारे सम्मुख आती है, तो उसके लिए हमारे मन में श्रद्धा एवं सहानुभूति स्वभावतः जाग्रत होती है। 'प्रेरणा' का विशेषांक 'प्रेमचन्द के पात्र' बहुत कुछ ऐसी ही पुस्तक या पत्रिका है। इस में हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द के कथा-साहित्य के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण पात्रों की पर्याप्त रूप से सुव्यवस्थित समीक्षा प्रस्तुत की गई है। सारी सामग्री को तीन भागों में विभाजित किया गया है, कहानियों के पात्र, उपन्यास के पात्र तथा विशेष। इसमें तीसरा और अन्तिम भाग कदाचित् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस भाग के अंतर्गत प्रेमचन्द के पात्रों का विशेष अध्ययन कुछ सीमित एवं निश्चित शीर्षकों में किया गया है। ये शीर्षक हैं प्रेमचन्द के स्त्री-पात्र, प्रेमचन्द

के साहित्य में भारतीय जनता का चित्रण, नाम संस्कार का सर्वश्रेष्ठ पुरोहित प्रेमचन्द तथा कथा-साहित्य और पात्र (सम्पादकीय) ।

महत्त्व एवं रोचकता के आधार पर ही इस पत्रिका में प्रेमचन्द के कुछ विशिष्ट पात्रों का चयन किया गया है। चरित्रों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक दोनों ही पृष्ठभूमियों में हुआ है; फिर भी इस अध्ययन को अधिक गहरा एवं विस्तृत बनाया जा सकता था, इसमें कोई सन्देह नहीं, कुछ पात्रों की समीक्षा सानुपात नहीं हो पाई है। उदाहरणार्थ, 'प्रेमाश्रम में लाला प्रभांशंकर का चरित्राध्ययन अपेक्षाकृत हल्के ढंग से हुआ है। समीक्षा भी विशुद्ध साहित्यिक शैली में व बहुत-से स्थानों पर अंग्रेजी शब्दों या मुहावरों के प्रयोग आपत्तिजनक कहे जा सकते हैं। सम्पादकीय में, बिना हिन्दी पर्याय दिये हुए 'प्रोम्प्ट', 'माउथपीस', 'ब्रेक', 'निहिलिस्ट', 'बण्डल ऑफ स्टिम्स', 'क्रिएशन ऑफ प्लॉट' तथा 'पोर्ट्रेट' जैसे—अपेक्षाकृत अपरिचित एवं विशिष्ट अर्थ देने वाले शब्दों का प्रयोग बहुत उचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार कहीं-कहीं अहिंदी कथा-साहित्य-सम्बन्धी हल्के अज्ञान का परिचय मिल जाता है। उदाहरण के लिए, स्वयं सम्पादकीय में ही शरद के 'श्रीकांत' की राजलक्ष्मी को देवदास से सम्बद्ध बताया गया है। इसके अतिरिक्त विशिष्ट पात्रों का अध्ययन उपस्थित करने वाले निबन्धों में, विषय-वस्तु तथा शैली दोनों के ही दृष्टिकोण से अधिक गम्भीरता अपेक्षित है।

फिर भी इन सब कमियों के बावजूद, इतना सुन्दर एवं सुव्यवस्थित विशेषांक निकालने के लिए, 'प्रेरणा' का संपादक तथा लेखक-मण्डल, जो अपेक्षाकृत बहुत कम व्यक्तियों में सीमित है, प्रेमचन्द के पाठकों तथा आलोचकों की बधाई का पात्र है। आशा है कि भविष्य में इस पत्रिका के माध्यम से हमें हिन्दी-आलोचना के अन्य क्षेत्रों में भी विशिष्ट, वैज्ञानिक तथा अधिक गम्भीर अध्ययन उपलब्ध हो सकेंगे।

—रामस्वरूप चतुर्वेदी

अवन्तिका : काव्यालोचनांक

टिप्पणी : जगदीश गुप्त

'अवन्तिका' के नववर्ष-प्रवेश के अवसर पर प्रकाशित काव्यालोचनांक उसकी प्रगति के पथ में एक निश्चित सीमाचिह्न के रूप में स्मरणीय रहेगा, यह असंदिग्ध है, किन्तु इसके अतिरिक्त साहित्य-समीक्षा के विस्तृत क्षेत्र में उसका क्या महत्त्व है, यह अधिक विचारणीय है। प्रस्तुत अंक की सामग्री का संकलन तीन खण्डों में, जिन का पृथक्करण सूक्ष्मता से देखने पर ही सम्भव होता है, तीन दृष्टियों से किया गया है। पहले खण्ड में दस लेख हैं जिनमें संस्कृत काव्य-शास्त्र के सुपरिचित अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति इत्यादि सम्प्रदायों से सम्बद्ध समस्याओं का विवेचन मिलता है। इन लेखों में कई लेख पाण्डित्यपूर्ण हैं, परन्तु 'साधर्म्य अथवा उपमा' शीर्षक डॉ० ओमप्रकाश का लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'ध्वनि' जैसे अनिवार्य महत्ता के सिद्धान्त की उपेक्षा इस खण्ड में चिन्त्य प्रतीत होती है।

दूसरे खण्ड की सामग्री को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संकलित किया गया है। सिद्ध कवियों से लेकर हिन्दी काव्य की अत्याधुनिक प्रवृत्तियों तक का इसमें समावेश है। बदलती हुई काव्य-परम्परा का परिचय देने के अतिरिक्त काव्य की आलोचना के क्षेत्र में और विशेषकर काव्य की समस्याओं तथा मूल्यों के विवेचन में इस ऐतिहासिक दृष्टि की कोई सार्थकता सिद्ध नहीं होती। वीर-काव्य तथा प्रेममार्गी काव्य के प्रतिनिधित्व के सर्वथा अभाव में इसे पूर्ण भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इस ऐतिहासिक क्रम को पूर्ण

बनाने के लिए ही कुछ ऐसे लेखों का भी संग्रह इसमें कर लिया गया है जो अंक के उच्च स्तर को सहसा नीचे ले आते हैं। 'हिन्दी के बृहत्त्रयी—सूर तुलसी और कबीर'—तथा 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' जैसे लेखों को अन्य कहीं अधिक श्रेष्ठतर लेखों 'रीतिकाल का नया मूल्यांकन' (दिनकर), 'प्रपद्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि' (केसरी कुमार) आदि के साथ संग्रहीत देखकर आश्चर्य होता है।

तीसरे और अन्तिम खण्ड में संसार के कुछ विशिष्ट आलोचकों के सिद्धान्तों के विषय में परिचयात्मक लेख संग्रहीत हैं। इसमें भी रिचर्डस् तथा सार्त्र के दृष्टिकोण का अभाव खटकता है। 'इलियट की आलोचना-प्रणाली' शीर्षक लेख इलियट के काव्य-सिद्धान्तों के महत्त्व को देखते हुए अपर्याप्त प्रतीत होता है। 'हिन्दी आलोचना : अगला कदम' में डॉ० देवराज ने जो हिन्दी आलोचना में 'प्रौढ़ि और परिपक्वता' की कमी की ओर इशारा किया है वह किसी प्रकार भी उपेक्षणीय नहीं। इस प्रश्न को यदि अवन्तिका काव्यालोचनांक तक ही समाप्त न कर के आगे भी उठाये तो अधिक श्रेयस्कर होगा।

यत्र-तत्र यत्किंचित् अभाव के बाद भी 'सुधांशु जी' जैसे हिन्दी के प्रतिष्ठित आलोचक के सम्पादन में प्रकाशित 'अवन्तिका' के इस विशेषांक का स्वागत होना चाहिए। विवशताओं को स्वीकार करते हुए जिसे सम्पादक ने 'एक प्रयत्न-मात्र' कहा है वह वस्तुतः अनेक दृष्टियों से एक सफल और सशक्त प्रयत्न है।

—जगदीश गुप्त

'नवनीत' दीपावली विशेषांक

नवनीत का दीपावली विशेषांक विशेष आकर्षक है। लेख, कहानी, कविता, प्रवचनों का संकलन विविध विषयों को दृष्टि में लेकर किया गया है। वैज्ञानिक, साहित्यकार, कहानीकार, कवि, चित्रकार, गायक अपनी रुचि के अनुकूल 'इस संचयन' में से कुछ-न-कुछ पा लेता है। एक ओर संगीतज्ञ मौलाना अबुलकलाम आजाद की 'गुजर चुकी फस्ले बहार' है तो दूसरी ओर हिंसक पशुओं का साम्राज्य भी है...।

हिन्दी, बंगला, मराठी के सुप्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं के अतिरिक्त रूसी, फ्रेञ्च, अंग्रेजी, तमिल के विख्यात लेखकों की, जिनमें श्री मेक्सिम गोर्की, रोम्या रोलाँ, बर्टेंड रसेल प्रमुख हैं, कहानियाँ भी हैं। एक ही स्थान पर विभिन्न प्रान्तों, विभिन्न देशों के साहित्य से हमें परिचय मिल जाता है। नवनीत हिन्दी पाठक की अभिरुचि को सुसंस्कृत बना रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

—उमा भटनागर।

'पांचजन्य' (अर्थ अंक)

'पांचजन्य' का अर्थ-अंक हिन्दी में अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों और आधुनिक अर्थ-नीतियों पर विचार करने वाला शायद पहला प्रकाशन है जिसमें कई मतों के लेखकों को एक साथ स्थान दिया गया है। यही इसका गुण भी है और इसकी कमजोरी भी।

सम्पादकों के अनुसार भारतीय अर्थ-व्यवस्था की प्रगति के लिए उसका 'अध्यात्मीकरण' होना आवश्यक है। इस अध्यात्मीकरण का समर्थन जिन लेखों में किया गया है उनमें से श्री कुन्दन राजा का 'अर्थ-सिद्धान्त : भारतीय दृष्टि में', श्री रामचन्द्र तिवारी का 'मार्क्सवाद की वेदान्तीय समीक्षा' और श्री कुमारप्पा का 'नियोजन का गांधीवादी दृष्टिकोण' नामक लेख उल्लेखनीय हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि सर्वोदय का अर्थशास्त्र पश्चिमी अर्थशास्त्र को भारत की

एक नई देन है और सर्वोदय अर्थशास्त्र की बहुत-सी बातें सिद्धान्ततः काफ़ी लोग मानने लगे हैं। लेकिन अभी तक किसी ने भी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं की पृष्टभूमि में सर्वोदय या अध्यात्मवाद पर विचार नहीं किया है। इस विषय पर भी दो-एक लेखों को सम्मिलित कर लेने से अंक का महत्त्व बढ़ जाता।

अंक के सबसे महत्त्वपूर्ण लेख भारत की पंचवर्षीय योजना पर हैं। विशेषतः श्री अघौलिया और श्री वी० के० आर० वी० राव के लेखों में योजना का सविस्तार और सारगर्भित विवेचन किया गया है। हिन्दी में योजना का ऐसा गम्भीर अध्ययन अन्यत्र नहीं है। सोवियत अर्थनीति पर श्री पीटर वाइल्स का लेख अपने विषय पर नई सामग्री प्रस्तुत करता है।

अनुवादों की भाषा में अधिक सावधानी बरतनी चाहिए थी। 'पर्ज' के लिए 'शुद्धि' शब्द का प्रयोग भ्रमोत्पादक है। एक ही वाक्य में 'टैक्स' और 'कर' नहीं होने चाहिएँ थे। 'ट्रेड-यूनियन' का अनुवाद आसानी से हो सकता है, लेकिन उसे ज्यों-का-त्यों रहने दिया गया है। 'कन्सेन्ट्रेशन कैम्प' के लिए 'सामूहिक श्रम शिविर' लिखना हास्यप्रद है।

आरम्भ की कविताएँ न होतीं तो अच्छा था।

—सुरतदास श्रीवास्तव

प्रत्यालोचना

श्री सम्पादक 'आलोचना',
इलाहाबाद

मान्यवर महोदय,

आलोचना में मेरी पुस्तक 'व्यक्ति और वाङ्मय' की डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखित आलोचना पढ़ी। अन्य बातों में बहुत-सा मतभेद होने पर भी डॉ० वार्ष्णेय का आलोचक के स्वतन्त्र विचार रखने का अधिकार है, अतः मैं कुछ नहीं कहूँगा। उसमें केवल एक बात का स्पष्टीकरण मैं देना चाहता हूँ। विद्वान् आलोचक ने शंका उठाई है कि मैं मराठी की बात हिन्दी में अधिक करता हूँ, पता नहीं हिन्दी की बात मराठी में करता हूँ या नहीं। कुछ तथ्य अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए रख दूँ।

प्रभाकर माचवे ने हिन्दी लेखकों के परिचय, उनकी रचनाओं के अनुवाद, उनके साहित्यिक मत आदि के विषय में अब तक मराठी पत्र-पत्रिकाओं में जितना लिखा है, उसे पुस्तकाकार छापा जाय तो ५०० पृष्ठों की पुस्तक अवश्य होगी। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओं के प्रकाशन की तिथि और नामोल्लेख कर देना पर्याप्त होगा :

क्रमांक	नाम	प्रकाशन तिथि
(१)	हिन्दी साहित्यिकांची प्रभावक : गुप्तबन्धु, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द पर विशेष लेख	१९३७
(२)	दीपावली के ललित कला विशेषांक में कई अनुवाद : सुमित्रानन्दन पन्त, प्रेमचन्द आदि	१९३९
(३)	१९४० चे हिन्दी साहित्य	१९४०
(४)	राहुल सांकृत्यायन (व्यक्तिचित्र)	१९४३
(५)	जैनेन्द्रकुमार का 'त्याग पत्र'	१९४१
(६)	'निराला' और 'अज्ञेय' (रेखाचित्र)	१९४७, १९५१
(७)	'साहित्य प्रवाह' भारतीय साहित्य संस्कृति,	१९३९ से
(८)	उपवनांतील वारें इत्यादि नियमित स्तम्भ	१९४८ तक
		विजयदशमी

(६) हिन्दी साहित्यांचा इतिहास १९५२

अश्क, यशपाल, अमृतराय की कहानियों के अनुवाद भी छापे।

पुस्तकों के अनुवादों का जहाँ तक प्रश्न है, उपन्यासों में 'गोदान' का एक मराठी अनुवाद मैंने 'रिवाइज' किया; 'शेखर' का अनुवाद एक मित्र से करा रहा हूँ; 'बाणभट्ट की आत्मकथा' प्रो० तारा पोद्दार, नागपुर, मेरी सहायता से करना चाहती हैं। हिन्दी नाटकों में से मराठी में शायद ही कोई अनुवाद रुचे; डॉ० रामकुमार वर्मा का 'चारुमित्रा' हुआ है। कविता का अनुवाद कठिन है, कुछ मैंने किया है। एक सज्जन कल्याणराय ने समूची 'भारत-भारती' चार वर्ष पूर्व भारती में समश्लोकी अनूदित की थी, पर प्रकाशक नहीं मिल पाया। प्राचीन ग्रन्थों में से 'तुलसी रामायण' का 'सुश्लोकमानस' अनुवाद श्री खरडेजी ने किया है। निवेदन इतना ही है कि इस विषय में कुछ जानकारी प्राप्त करके वह व्यंग्य-प्रहार मुझ पर किया जाता तो अच्छा होता! आशा है कि वह व्यंग्य नहीं है और हिन्दी भाषियों की सर्वसामान्य अन्य भारतीय भाषाओं के विषय में अज्ञता-मात्र है।

—प्रभाकर माचवे

प्राप्ति-स्वीकार

१. मानस में रामकथा : डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, बंगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता । २. मानस की रामकथा : परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, प्रयाग । ३. आचार्य चाणक्य : जनार्दन नागर, साहित्य संस्थान, उदयपुर । ४. झुनिया की शादी; महल और मकान: इन्साफ़ : यज्ञदत्त शर्मा, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । ५. पंजाब की कहानियाँ : बलवन्त सिंह, लहर प्रकाशन, प्रयाग । ६. लोमड़ी का मांस : केशवचन्द्र वर्मा, प्राची प्रकाशन, कलकत्ता । ७. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड : डॉ० रांगेय राघव, सरस्वती पुस्तक सदन, मोदी कटरा, आगरा । ८. चाँद सूरज के बीरन; बाजत आवे ढोल : देवेन्द्र सत्यार्थी, एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली । ९. रजवाड़ा : देवेशदास, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । १०. वितस्ता की लहरें : लक्ष्मीनारायण मिश्र, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । ११. कबीर साहित्य और सिद्धान्त : यज्ञदत्त शर्मा, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । १२. चीनी जनता के बीच : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, पी० ए० हाउस, बम्बई । १३. संताप : बालकृष्ण बल्दुवा, नरेन्द्र बुक-डिपो, कानपुर । १४. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य : डॉ० कमल कुलश्रेष्ठ, चौधरी मानसिंह प्रकाशन, अजमेर । १५. नज़ीर की बानी, फ़िराक़ : ला जर्नल प्रेस, प्रयाग । १६. आँखों में; वन्दना के बोल : हरिकृष्ण प्रेमी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । १७. धर्म की धुरी; अपना पराया : राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, राजेश्वरी साहित्य मन्दिर, पटना । १८. परिव्राजक की प्रजा : शान्तिप्रिय द्विवेदी, इण्डियन प्रेस, प्रयाग । १९. उर्दू और उसका साहित्य : गोपीनाथ अमन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली । २०. तमिल और उसका साहित्य : पूर्ण सोमसुन्दरम्, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली । २१. भारतीय शिक्षा : डॉ राजेन्द्रप्रसाद, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । २२. वैष्णव धर्म : परशुराम चतुर्वेदी, विवेक प्रकाशन, प्रयाग । २३. नये नगर की कहानी : रावी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली । २४. रोते हैं, हँसते हैं : हरिशंकर परसाई, सुषमा साहित्य मन्दिर, जबलपुर । २५. संघर्ष के बाद : विष्णु प्रभाकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी । २६. पर्दे के पीछे : उदयशंकर भट्ट, मसिजीवी प्रकाशन, दिल्ली । २७. अन्तरिम क्षतिपूर्ति योजना; प्रयाग दर्शन : List of technical terms प्रकाशन विभाग, केन्द्रीय सरकार, दिल्ली । २८. सार्थवाह : डॉ० मोतीचन्द, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना । २९. हर्षचरित : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना । ३०. मां दुर्गे : हरिनारायण मैणवाल, ला जर्नल प्रेस, प्रयाग । ३१. गद्य-पथ : सुमित्रानन्दन पन्त, साहित्य भवन प्रयाग । ३२. महावीर वाणी : डॉ० बेचरदास, जैन महामण्डल, वर्धा । ३३. भगवान् महावीर और उनका मुक्तिमार्ग : ऋषभदास राँका, जैन महामण्डल, वर्धा । ३४. चिनगारियाँ : ताराचन्द एल० कोठारी, जैन महामण्डल, वर्धा । ३५. इन्द्र धनुष : श्री हरिशंकर, हिन्दीपीठ, बम्बई । ३६. स्तालिन : राहुलसांकृत्यायन

पी० प० हाउस, बम्बई। ३७. निबन्ध-संग्रह : डॉ० इ० प्र० द्विवेदी, डॉ० श्रीकृष्णलाल, साहित्य भवन, प्रयाग। ३८. महाकवि भूषण : भगीरथ प्रसाद दीक्षित, साहित्य भवन, प्रयाग। ३९. प्रेत बोलते हैं : राजेन्द्र यादव, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली। ४०. परेड ग्राउण्ड : हंसराज रहबर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। ४१. साहित्य साधना की पृष्ठभूमि : भैरवनाथ झा ज्ञानपीठ, पटना। ४२. तुलसीदास : स्नेह ओझा, साहित्य संस्थान, उदयपुर। ४३. चाकलेट : उग्र, टण्डन ब्रदर्स, कलकत्ता। ४४. माटी का सत्त : रामअधार सिंह, प्र० दिनेशसिंह काशी। ४५. चार के चार : कमल जोशी, विभा प्रकाशन, जमशेदपुर। ४६. ज़िन्दगी के अनुभव : नमिता लुम्बा, सेन्ट्रल बुकडिपो, प्रयाग। ४७. गुरु दक्षिणा : सन्तराम वत्स्य, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। ४८. मानिनी गोपा; कृष्ण वियोगिनी : हरिनारायण मैणवाल, ला जर्नल प्रेस, प्रयाग। ४९. पत्थर के देवता : ६ यूरोपीय लेखक, प्राची प्रकाशन, कलकत्ता।

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश
डॉ. व्रजेश्वर वर्मा, श्री विजयदेवनारायण साहि
सहकारी सम्पादक
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ३ अंक ३ पूर्णाङ्क ११ अप्रैल, १९५५

वार्षिक मूल्य १२) इस अंक का ३)

सूची

आलोचना

सम्पादकीय

साहित्यकार और उसका परिवेश

सम्भवतः भविष्य के इतिहासकार कहेंगे कि हम ऐसे युग में पैदा हुए जब भारतवासी, एक रहस्यवादी आस्था, वेदना, और शायद विनाश-भय की मिली-जुली भावनाओं के साथ, अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्व के अन्वेषण में लगे हुए थे। इसके पहले हमने इतिहास को केवल मुर्दों की कथा के रूप में पढ़ा था। कभी-कभी हमने असहाय अपने ऊपर इतिहास की प्रक्रिया का भी अनुभव किया था। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद, योरप और अमरीका के बढ़ते हुए तनाव के बीच हठात् हमने अनुभव किया कि इतिहास के कारवाँ की घण्टियाँ हमारे लिए भी बज रही हैं। इसका युग नहीं रह गया कि इतिहास हम पर अमल करे; समय की चकाचौंध करने वाली माँग थी कि हम इतिहास पर अमल करें। एक चुनौती, और सम्भवतः आत्मरक्षा की आवश्यकता ने हमें चौंका दिया कि केवल मुर्दों के लिए ही 'ऐतिहासिक' होना यथेष्ट नहीं है। इतिहास ने हमें आत्मसात् कर लिया। जिस वस्तु का हम स्पर्श करते थे, जिस हवा में हम साँस लेते थे, जिन पृष्ठों को हम पढ़ते-लिखते थे, जिन शब्दों को हम गढ़ते थे, सबमें एक ही प्रश्न व्याप्त हो गया—हमारा ऐतिहासिक व्यक्तित्व क्या है ?

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय अर्धांश के आरम्भ होते ही हमारे विचारों से यह प्रश्न बड़े वेग से आ टकराया। यह नहीं कि यह प्रश्न नया था। घुमा-फिराकर हर युग अपने विचारकों और साहित्यकारों से यही प्रश्न पूछता है। परन्तु हर युग में उसका स्वरूप भिन्न होता है। साहित्यकार के लिए उस प्रश्न का रूप खोज निकालना और उसका उत्तर देना, यही सबसे बड़ा उत्तरदायित्व होता है। हो सकता है कि उसका सारा जीवन अनपूछे प्रश्न का ही उत्तर देने में समाप्त हो जाय—इस दशा में साहित्यकार के समकालीन उसे समझ ही नहीं पाते। कभी-कभी कोई महान् प्रतिभा ऐसी भी जन्म लेती है कि उसका उत्तर शताब्दियों तक सही और गूँजने वाला बना रहता है। ऐसा इतना कम होता है कि साधारणतः इसकी आशा करना या इसके लिए तैयारी करना व्यर्थ ही होता है। यह भी असम्भव नहीं है कि कोई साहित्यकार अपना सारा जीवन केवल इसी

अन्वेषण में विता दे कि प्रश्न असल में क्या है और किस रूप में पूछा जा रहा है। शायद हम ऐसे ही युग से गुज़र रहे हैं। एक ओर तो अप्रत्याशा और स्पष्टता के साथ तीखी अनिवार्यता है : युग के प्रश्न को वाणी देनी ही होगी। दूसरी ओर मन को पथरा देने वाला यह अनुभव, कि कभी भी हमारे लिए यह प्रश्न और उसका उत्तर, इतना घुमावदार, धुँधला और अनिश्चित नहीं था।

हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं में छोटे साहित्यकारों की भारी भीड़, जो अपना मार्ग टटोलता हुई-सी दीखती है, इसी स्थिति का कारण और परिणाम दोनों ही है। प्रश्न का स्वरूप स्थिर करने में हम सफल होंगे या नहीं, या हमारा उत्तर सटीक होगा या नहीं, केवल इस कसौटी पर आज के साहित्यकार को कसना ग़लत होगा। क्योंकि समस्या सारे देश की है, और उसके कारण संसार-भर में व्याप्त हैं। हमारे समकालीन साहित्य की निर्णयात्मक कसौटी इस बात में है कि कितने साहस और ईमानदारी के साथ हमारे साहित्यकारों ने प्रश्न को पूछने की चेष्टा की है।

ईमानदारी और साहस—क्योंकि वस्तुतः हमारे साहित्यकारों में अभाव ईमानदारी का नहीं है। देखना यह है कि क्या हमारा साहस भी ईमानदारी के बराबर है ? क्या हमारे लेखक अपने को, अपनी शक्ति, अपनी ख्याति, सम्मान, सम्भवतः अपने विवेक को भी, हमारे चारों ओर घिरने वाले अन्धकार को भेदने के लिए दाँव पर लगाने को तैयार हैं, ताकि वे उस प्रश्न का स्वरूप देख सकें जिसका उत्तर हमें देना है ? और उससे भी आगे, इसका पता लगा सकें कि कोई उत्तर दिया भी जा सकता है या नहीं ? आज के लेखक ने अपने गहन उत्तरदायित्व को किस हद तक निभाया है, और कहाँ तक उसने हिम्मत हार दी है, इस पर निर्णय देने के पूर्व हमें उस परिवेश को भी देखना होगा जिसका पाश उसके चारों ओर है। साथ ही हमें समाज के उन अंगों को भी ध्यान में रखना होगा, जिनके ऊपर आज युग के नेतृत्व का भार है। युग के अभिशाप अथवा वरदान को लेखक सबके साथ मिलकर ही झेलता है, इसमें सन्देह नहीं।

योरप के लेखकों के सामने जो प्रश्न है, उसका स्वरूप बहुत तीखा और दर्दनाक है। दूसरे महायुद्ध के पहले, स्पेनिश गृह-युद्ध के समय ऐसा लगा कि सभी कठिनाइयों का अन्तिम हल निकल रहा है। वाम और दक्षिण, उग्र और उदार के बीच की सीमा-रेखा टूटती-सी मालूम पड़ी। उत्साह और आशा के प्रवाह में जीवन के मूल्यों में समन्वय होता-सा जान पड़ा। प्रश्न सीधा और सरल हो गया : जनतन्त्र बनाम तानाशाही। यह एक महान् अनुभव था किन्तु दूसरे महायुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि यह क्षणिक समन्वय इन्द्रजाल ही था। आज योरप के लेखक के सामने स्वतन्त्रता के प्रश्न से भी अधिक आदिम, अधिक गहरी और अधिक उलझी हुई समस्या है। एक भयंकर चेतावनी है : क्या मानव जियेगा— क्या वह जी भी सकेगा या नहीं ? यह सत्य है कि योरप के लेखक के उस दर्द का अनुभव हमने नहीं किया है, क्योंकि जिस तरह उसके सपने एक-एक करके टूटे हैं, जिस तरह उसके एक-एक मूल्यों में विघटन हुआ है, वह हमारे लिए कल्पनातीत है। भारत का अधिकांश विचारशील वर्ग इस पक्ष में होगा कि योरप के लेखक की समस्या उसकी अपनी है। उसके हल करने का प्रथम उत्तरदायित्व भी उसीके ऊपर है। किन्तु यह भी सत्य है कि हम उसके निरपेक्ष अथवा असहाय दर्शक-मात्र भी नहीं रह सकते, जैसा कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले सम्भव था। योरप का दर्द हमारे सामूहिक अनुभव का कोष

है। योरप ने उत्थान के काल में अपने वैभव का बँटवारा समूची मानवता के साथ नहीं किया था; पतन के काल में विनाश का बँटवारा समूची मानवता के साथ न करे, इसे देखने का खतरनाक उत्तरदायित्व हम पर आ पड़ा है। यह हमारी राष्ट्रीय भूमिका है। इसी सन्दर्भ में आज का ऐतिहासिक व्यक्तित्व निर्मित हो रहा है। क्या हमारे लेखक इस योग्य हैं, या उनके सामने इतना अवसर, इतनी सुविधा है कि वे इस उत्तरदायित्व का वहन कर सकें? क्या हमारे पास मानव-मूल्यों का कोष है, जिससे हम इस तिमिर को प्रकाशित कर सकें? क्या हम उन मूल्यों का निर्माण कर रहे हैं? और यदि इतना कुछ भी सम्भव नहीं, तो कम-से कम क्या हम उसके प्रति जागरूक हैं?

यह कहना कि हमारे साहित्यकारों ने युद्धोत्तर काल में ऐतिहासिक स्थिति के बराबर क्षमता का प्रदर्शन किया है, अतिशयोक्ति होगी; लेकिन यह बात जोर देकर कही जा सकती है, कि हमारे अधिकांश साहित्यकारों ने इतिहास के कारवाँ की घण्टियाँ सुनी हैं। निश्चय पूर्वक उन्होंने उसके स्वर को समझने का प्रयत्न किया है, लालसा, आवेग और छटपटाहट के साथ। वे शत-प्रतिशत सफल नहीं हो सके हैं, इसका कारण यह नहीं है कि वे आत्मनिष्ठ, पलायनवादी या दिग्भ्रमित हैं, बल्कि इसलिए कि प्रश्न असाधारण, और बहुत पेचीदा है। उनकी मुक्ति और घुटन, विद्रूप और उत्साह तीखापन और रोमांस के जिस विचित्र सम्मिश्रण को स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी-साहित्य की संज्ञा दी जाती है, वह स्वाद में पहले से बहुत भिन्न है, इतना निर्विवाद है। प्रायः जिस वस्तु पर बल कम दिया जाता है, वह यह है एक अपरिचित और अप्रत्याशित स्थिति में आज का साहित्यकार बराबर अपनी औसत प्रतिक्रिया का मार्ग खोज रहा है। उपलब्धियों और पराक्रमों से उसका मूल्यांकन करना जल्दबाजी होगी; देखने की बात यह है कि उसका प्रयास सच्चा है या नहीं। जैसा परिवेश हमारे चारों ओर है, उसमें साहित्यकार का अतिवादी हो जाना असम्भव नहीं। अब भी अधिकांश साहित्यकार अतिवादी नहीं हैं, यह इस बात का सबूत है कि मूलतः हमारा साहित्यिक मानस स्वस्थ और संयत है। विरोधाभास साहित्यकार के मानस में नहीं है, विरोधाभास हमारे उस भावनात्मक परिवेश में है, जिससे साहित्यकार को जूझना पड़ रहा है। इसका मूल हमारी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में है। उचित होगा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हम अपनी राष्ट्रीय भूमिका के भावनात्मक परिणामों की ओर दृष्टिपात कर लें।

सम्भवतः यह कहना सच होगा कि १९४७ की आजादी हमारे लिए एक अप्रत्याशित आघात के रूप में आई। कम-से-कम इतनी बड़ी आजादी के साथ जो भावनात्मक समानुपात होना चाहिए था, वह न हो सका। आजादी के तुरन्त बाद ही तीव्र गति से जो घटनाएँ घटीं और जिनकी परिणति महात्मा गांधी की हत्या में हुई, उन्होंने भी न केवल भावनात्मक सामंजस्य को कुण्ठित किया बल्कि एक दर्दनाक ढंग से उसकी सम्भावना को भी थोड़ी देर के लिए अविचारणीय बना दिया। दो तीन वर्षों के बाद जब हम सोचने की स्थिति में हुए तो हमने देखा कि इस ऐतिहासिक संक्रमण में न हम विजेता हुए, न शहीद; न हम किसी के विरुद्ध तीखी घृणा कर सके और न किसी के सहयोग के लिए उत्कट धन्यवाद ही दे सके। यह नहीं कि इस आजादी में वे तत्त्व नहीं थे जो हमें आकर्षित करते। असल में भावनात्मक अनुभव की प्रक्रिया पूरी नहीं हुई। हर क्रान्ति के साथ भावनाओं के एक बृहत् कोष का विस्फोट होता है जो पिछले सम्बन्धों के

टूटने के बाद नये सम्बन्धों के लिए घृणा, द्वेष, प्रेम, भय, आक्रोश, धैर्य, निष्ठा आदि को नई दिशाएँ, झटके के साथ नया आवेग, देता है। १९४७ की आजादी ने यह नहीं किया। संसार की यह सबसे अधिक पूर्वाग्रहहीन क्रान्ति थी।

किसी राष्ट्र के लिए पूर्वाग्रहहीन होना शायद सबसे खतरनाक स्थिति होती है। क्योंकि अक्सर इसकी परिणति अनास्था, अविश्वास और कुण्ठा के लांछनों में होती है। पहले के युगों में सम्भवतः इन भ्रान्त लांछनों के पीछे ईमानदारी होती थी। दुर्भाग्य से आज के युग में इनके पीछे बेईमानी की ही मात्रा अधिक है।

हमारे चारों ओर का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बहुत ही उलझा हुआ है। इतिहास ने हमें जिस भूमिका में काम करने को विवश किया है, वह किसी राष्ट्र के लिए ईर्ष्या की वस्तु नहीं हो सकती। इतना स्पष्ट है कि हमारा उद्भव एक विशिष्टता के साथ हुआ है। परम्परागत चौखटे में कसे जाने से हमारी पूर्वाग्रहहीनता ही हमें रोकती है: पूर्वाग्रहहीनता, अर्थात् द्वेषहीनता, जो आज की दुनिया में एक अकल्पनीय दोष बन गई है। इतिहास में पहली बार हमें वह मादक और गौरवपूर्ण अनुभव हो रहा है जब संसार की आँखें हमारी ओर लगी हुई हैं, आशापूर्ण, शायद उससे भी अधिक कुतूहलपूर्ण। हम यह सोचना पसन्द करेंगे कि इन आँखों में आशा ही है, कि पश्चिम ने सचमुच अपने से हार मानकर हमारा महत्त्व स्वीकार कर लिया है, लेकिन सबसे अद्भुत और वेदनापूर्ण अनुभव यह है कि आज भी इन उत्तेजित शक्तियों की सभ्यता में जिन मूल्यों का महत्त्व है, उनमें से एक भी हमारे पास नहीं है। न शक्ति है, न सैन्य है, न विश्व-विजय की आकांक्षा, न अर्थ और न शायद बौद्धिक चमक-दमक ही। कहाँ है वह हमारा ऐतिहासिक व्यक्तित्व जो धूमकेतु की भाँति हमारे इस उन्मादक अभियान की सार्थकता सिद्ध कर सके? यही वह प्रश्न है जो आज भारत के बुद्धिजीवी-वर्ग की सबसे बड़ी पहेली है। एक विचित्र विरोधाभास है: मृत्यु-पाश में गुथी हुई दो विस्फोटक शक्तियों के छोर पर खड़े होकर सीटी बजाने का अभूतपूर्व अनुभव है। हमारा आदर किया जाता है, लेकिन सत्कार की आँखों में तुच्छता की छाया नहीं छिपती। हमारी बात ध्यान से सुनी जाती है, परन्तु सलाह मानने के उद्देश्य से नहीं। हिन्दुस्तान की तूती बोल रही है, लेकिन दुनिया के नक्कार खाने में।

भावनात्मक रूप से हम इस वातावरण से दूर हैं। न तो हम उनकी आत्मघाती छटपटाहट की सार्थकता, या अनिवार्यता ही समझते हैं, और न वे हमारी पूर्वाग्रह हीनता की भाषा को ही। किन्तु भौतिक रूप से हम उसमें उलझे हुए हैं। यह सम्पर्क भी एक विचित्र विरोधाभास को जन्म देता है। हमारा देश नया, कमजोर और आकांक्षाओं से भरा हुआ है। इस 'ठण्डे युद्ध' में हमारे लिए तो दोनों ओर से खतरा है। इस 'ठण्डे युद्ध' की समाप्ति शायद तभी सम्भव है जब इन विरोधी शक्तियों में दुनिया के बँटवारे के लिए कोई समझौता हो जाय। और यदि हुआ तो हम इसे कैसे रोक सकेंगे कि हम भी उस 'बँटी हुई सम्पत्ति' में से एक न हो जायँ? दूसरी ओर यदि इन शक्तियों का विरोध-विग्रह बढ़ते-बढ़ते विस्फोट का रूप धारण करता है तो उसकी एक चिनगारी भी हमें जलाकर राख कर देने के लिए पर्याप्त होगी। यह हमारा भाग्य है कि इन शक्तियों में एक सन्तुलन है: लेकिन कितना खतरनाक और अनिश्चित! हम एक 'टाइम-बम' की छाया में रह रहे हैं।

यह हमारी ऐतिहासिक स्थिति है, मुक्ति और घुटन, विद्रूप और उत्साह, तीखेपन और रोमांस से भरी हुई। इतिहास के साथ हमारा पहला यथार्थवादी सम्पर्क है। आज सारे राष्ट्र की भावना और स्पृहा का निर्माण इसी वातावरण में होता है। हमारे हर साहित्यकार की आकांक्षाओं में इसकी छाप पड़ती है, इसकी प्रतिक्रिया होती है।

आज से लगभग चार दशक पहले नये युग के उत्थान के साथ हमारे ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रश्न को अपने सबसे अनगढ़ रूप में मैथिलीशरण गुप्त ने पूछा था, लेकिन जिस आघात की यह प्रतिक्रिया थी, वह आघात वास्तविक था। 'भारत-भारती' का आरम्भ इसी प्रश्न से होता है :

हम कौन हैं, क्या हो गये थे,
और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर,
ये समस्याएँ सभी॥
यद्यपि हमें इतिहास अपना
प्राप्त पूरा है नहीं।
हम कौन थे इस ज्ञान को
फिर भी अधूरा है नहीं॥

'हमारा' 'इतिहास' के साथ यह पहला स्पर्श नसों में बिजली की तरह दौड़ गया। परन्तु युग का यह प्रथम प्रयास था। इसलिए इसमें आश्चर्य ही क्या कि प्रश्न भी अनगढ़ था और उसका उत्तर भी अनगढ़ ही। 'भारत-भारती' का 'हम' एक संकुचित हम है और उसका इतिहास भी 'ऐतिहासिक अतीत'-मात्र।

लेकिन जैसे ताल में कंकड़ पड़ने से वृत्तों का फैलना प्रारम्भ होता है जो किनारे पर पहुँचकर ही दम लेते हैं, उसी प्रकार इस 'हम' का विस्तार भी अनिवार्य था। छायावाद के आते-आते यह 'हम' फैलकर सारे राष्ट्र से एकात्म हो जाता है। सत्याग्रह युग (१६२०-४५) का साहित्यकार प्रश्न को कुछ और गहराई से पकड़ना चाहता है। वह कुछ गहन-गम्भीर प्रश्न पूछने का अभिलाषी है—क्योंकि उसका 'हम' विस्तृत है। लेकिन मूलतः साहित्यकार की वृत्ति एक उदार भावुकता पर ही आधारित रही, जो हमारे स्वतन्त्रता-संघर्ष की रचनात्मक देन थी। इसलिए गम्भीरता के बावजूद प्रश्न अब भी सरल ही था, और उत्तर देने में कठिनाई नहीं पड़ी। सारे राष्ट्र की भावनाओं का एक नया 'महत्तम-समापवर्तक' खोज निकालने के बाद ऐतिहासिक व्यक्तित्व का प्रश्न पूर्व बनाम पश्चिम अर्थात् आध्यात्मिक बनाम भौतिकता के रूप में पूछा जाने लगा। इस विरोधाभास को पकड़ने में सबसे बड़ी आसानी यह थी कि हमें अपने स्थान पर स्थायित्व तो प्राप्त हो ही जाता था, साथ ही सोचने की प्रखर पीड़ा सहने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी। यह गुलामी और गुलाम बनाने वालों के प्रति एक उदात्त क्रोध का युग था। कितना आसान और सन्तोषप्रद था यह समझ लेना कि वह सब जो हमें गुलाम बनाये हुए है भौतिक है, अतः हेय है, और हम जो कि गुलाम हैं आध्यात्मिक हैं, अतः श्रेय हैं। इस धारणा से शक्ति मिलती थी, विश्वास मिलता था और और अपने को पहचानने और विशिष्टता स्थापित करने का आसान गुर हाथ में आ जाता था। सत्याग्रह-युग के उपन्यासकारों की सरल भावुकता, कवियों का उदात्तीकरण, समालोचकों की संस्कृति-निष्ठा, सबमें इसी भावनात्मक परिवेश का रंग झलकता है।

इस युग का प्रश्न उतना अनगढ़ नहीं है। वह सुघरा और अधिक आकर्षक बन गया। और उत्तर भी उसी मात्रा में सुघरा और सीधा दिया गया। लेकिन यह बराबर लगता है जैसे 'शार्ट-कट' का प्रयोग किया जा रहा हो। प्रेमचन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। यह 'शार्ट-

कट' तभी तक उपादेय और प्रयोजनीय रहा जब तक आजादी की लड़ाई में हमें किसी भी प्रकार का ऐतिहासिक व्यक्तित्व अपने ऊपर ओढ़ लेने की जल्दी थी। इससे मिला हुआ सन्तोष इस कारण नहीं था कि लबादा हमारे डील-डौल के अनुसार बिलकुल ठीक था। उसका गौरव कुछ उस खानदानी कोट की भाँति था जो बिगड़ी हालत में भी रईसों की मर्यादा रक्षा का काम दे जाता है।

पुनर्जागरण-युग का 'हम' सीमित था। सत्याग्रह-युग में 'हम' समूचे राष्ट्र में फैल गया। लेकिन दुनिया के बीच एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में खड़े होते ही इस 'हम' का एक अत्यन्त त्रासद रूप हमारे सामने आया। धक्के के साथ हमारी कल्पना में एक व्यापक स्वप्न झलका : इस 'हम' का अर्थ सारी मानवता भी हो सकती है। इस आकस्मिक अनुभूति के साथ आज की मानवता की अपराध-भावना भी हमारी चेतना में कौंध गई। व्यापकता का स्वप्न जितना दिव्य था, उतना ही तीखा और क्लेशपूर्ण भी। हमारे नये सन्दर्भ ने पुराने स्वरूपों को अनावश्यक बना दिया। अपने भविष्य के प्रति एक उत्साह, धुँधला, अस्पष्ट-सा आभास तो मिला, लेकिन उससे अधिक कुछ नहीं। केवल आध्यात्मिकता बनाम भौतिकता, अथवा पूर्व बनाम पश्चिम का प्रश्न स्पष्टतः अधूरा, बासी और बंजर हो गया। वर्तमान उत्तेजक तो था, परन्तु भविष्य की दिशा निर्मित करने में अशक्य।

इसकी पहली प्रतिक्रिया भय और आतंक में हुई। पश्चिम का मृत्यु-पाश एक भयानक द्वन्द्व था, इसमें सन्देह नहीं। इस दृष्टि से देखने पर समकालीन साहित्यकारों के उस वर्ग की घबराहट और आकुलता स्वाभाविक ज्ञात होती है जिन्होंने हताश होकर हिम्मत हार दी और नारा लगाया, 'हमें दो में से एक गुटों में शामिल हो जाना चाहिए।' एक घबराहट की चीख थी जिन्हें उन विचारकों और शक्तियों से भी सहयोग मिला जिनका इस नारे से आर्थिक एवं राजनीतिक लाभ भी था। भावनात्मक रूप से इस नारे से वे सभी समस्याएँ दूर हो गईं जिनमें सोचने की प्रखर पीड़ा की सम्भावना थी। नई भावभूमि में फिर उसी 'शार्ट-कट' का जादू खोजने का प्रयास था जो प्रेमचन्द और उनके समकालीन साहित्यकार कर चुके थे। इसीलिए इस नये वर्ग ने बड़े ज़ोर-शोर से सत्याग्रह-युग की परम्परा को अपनाने का अभिनय किया। परन्तु ध्यान इस बात का रखा कि 'परम्परा' के अन्तर्गत 'शार्ट-कट' का ही समावेश हो, उस युग की गहराई और चिन्तनशीलता का नहीं। प्रश्न को इस प्रकार झुठलाकर आत्मबोध की क्षणिक उत्तेजना तो हुई। परन्तु जितने शीघ्र इस हताश चीख का वितान छिन्न-भिन्न हुआ, उससे स्पष्ट हो गया कि हमारे ऐतिहासिक व्यक्तित्व में अब 'शार्ट-कट' का युग नहीं रह गया।

लेकिन वह वर्ग बहुत छोटा-सा था। हमारे अधिकतर साहित्यकारों ने सच्चाई और विश्वास के साथ ही एक नया रास्ता निकालने का बोझिल उत्तरदायित्व झेलने का निश्चय किया। उन्होंने स्वीकार किया कि अब इस विराट् विवाद को स्थगित नहीं किया जा सकता। और यही उनका सबसे शक्तिशाली तथा आश्चर्यजनक गुण है जो उनके प्रति हमारे विश्वास को दृढ़ करता है। इसी गुण ने उनको इतनी प्रेरणा दी है कि वह तमाम लांछनों और आरोपों के बावजूद सीधी रीढ़ के साथ खड़े हो सकें। क्योंकि हमारे अभियान की सीमा नहीं है, चाहे हमारा पहला प्रयास विफल ही क्यों न हो।

इस भँवर का सामना हमारे उदार मानववादी साहित्यकारों ने सब-कुछ की स्वीकृति करके दिया। एक ओर भारत के परिवेश में

मानव-प्रगति-सम्बन्धी आदर्श के प्रति आस्था, और दूसरी ओर उन्हीं मूल्यों का पश्चिम में विघटन। चूँकि दोनों में से किसी का अनुभव अयथार्थ और झूठा नहीं है, इसीलिए बड़ी गम्भीरता के साथ भारत का कवि असम्भव छोरों को भी मिलाने की बात कह जाता है :

"संक्षेप में मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्श-वाद, दोनों का संश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। भारतीय विचार-धारा भी सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुग के नामों से प्रादुर्भाव निर्माण, विकास और ह्रास के द्वन्द्व संचरणों पर विश्वास रखती है। अतः नवीन युग की भावना केवल कपोल-कल्पना नहीं है। पदार्थ और चेतना को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है।"[1]

भारत के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की वह एक आतुर खोज है, जिसे आज के यूरोप में 'गोल घेरे के अन्दर चौकोर खूँटी गाड़ने' का असम्भव प्रयास कहकर उड़ा दिया जाता। फ़ायरबाख़ ने भी कुछ ऐसा प्रयत्न किया था, और मार्क्स ने उसका निषेध किया।

मानववादी परम्परा की इस व्यापक युद्धोत्तर स्थिति के सबसे सटीक उदाहरण पन्त जी हैं। मानववादी अनिवार्य रूप से आस्था-वान होता है, कभी-कभी कट्टर आस्थावान। यदि यह आस्थाशीलता कट्टर हुई तो जैसे-जैसे यथार्थ की चोट पड़ती है, वह रहस्यात्मक रूप धारण करती जाती है। ईसा मसीह की वापसी की आस्था की तरह, मानववादी का मन अखण्ड विश्वास के साथ कहता है कि कोई-न-कोई ऐसा करिश्मा होगा कि सब ठीक हो जायगा। पन्त जी के साथ यही हुआ है। और इसी दृष्टि से वह इस परम्परा के सबसे बोलते हुए उदाहरण हैं। अपने सर्वोत्कृष्ट क्षणों में इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, महादेवी आदि सभी यहीं पहुँचते हैं :

'ऐसे मरणोन्मुख जग को कहता मेरा मन
और कौन दे सकता नवजीवन आश्वासन
शान्ति, तृप्ति—निज अन्तर्जीवन के प्रवाह से
भारत के अतिरिक्त आज—जो शाश्वत अक्षर
अन्तर ऐश्वर्यों का ईश्वर है वसुधा पर :
कहता मेरा मन, भारत के ही मंगल में
भू मंगल, जन मंगल, देवों का मंगल है!'[1]

यह स्वर कभी-कभी इंगलैण्ड के विक्टो-रियन आशावादियों की याद दिलाता है। लेकिन दोनों में कितना बड़ा फ़र्क है। विक्टो-रियनों के लिए यह समृद्धि और तुष्टि की भावना का विलास था। आज के भारतीय कवि के लिए यह जीवन राग है जिसके भीतर कितनी करुणा, कितना दर्द घुँट रहा है।

इस 'गुडविल-मिशन' में कहीं कोई गड़-बड़ी नहीं है, सिवा इसके कि यह मनमें उतरती नहीं। इस अभाव का अनुभव सबसे अधिक अन्तिम पीढ़ी के उन लेखकों और साहित्यकारों ने किया है जिनकी रचनाओं को किसी बेहतर नाम के अभाव में 'नई कविता' या 'नया साहित्य' कहकर पुकारा जाता है। इतिहास का सारा आघात सीधे उन्हींके सीनों पर आ पड़ा। सबसे बड़ा खतरा भी उन्हींका था, क्योंकि वे ही इस वात्याचक्र की उपज थे। किन्तु जो आश्चर्यजनक बात इन साहित्यकारों के प्रति विश्वास जगाती है वह यह है कि इस सबके बावजूद भी उन्होंने दृढ़तापूर्वक अति-वादिता से अपनी रक्षा की है। इसमें सन्देह नहीं कि उनके सामने समस्या बड़ी गहन है, परन्तु एक तर्क जो उनके पक्ष में सबसे प्रबल है वह यह कि उन्होंने ईमानदारी के साथ अपनी समूची

१. पन्त—'युगवाणी'

१. पन्त—कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति

आत्म-शक्ति को दाँव पर लगाया है। वह आत्म-शक्ति स्वयं कितनी बड़ी है, इसका उत्तर-दायित्व सारे समाज पर है। किन्तु इतना सत्य है कि हमारी जनवादी आस्था, और साथ ही विश्व-मानव की पीड़ा इसके बीच न तो आज के साहित्यकार ने आँख मूँदने का प्रयास किया है और न सीधा सरल समन्वय निकालकर ही सन्तोष किया है। इसमें सन्देह नहीं कि अक्सर आज के 'जीवन के दबाव की अभि-व्यंजना का मार्ग उसे नहीं दीखता।' लेकिन इसके लिए वह 'शार्ट-कट' का आकांक्षी भी नहीं बनना चाहता। बार-बार वह पूछता है :

> कौन-सा पथ है ?
> मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही ने
> पुकारा—
> कौन सा पथ है ?[1]

'भारत-भारती' से 'नई कविता' तक एक बड़ा सफर है जिसमें न जाने कितनी मञ्जिलें पड़ी हैं। एक युग था जब मैथिलीशरण गुप्त के लिए यह प्रश्न काव्य की प्रथम पंक्ति थी। आज का कवि वहाँ अपनी कविता समाप्त करता है जहाँ पहले कवि ने आरम्भ किया था। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसने हमारे इस अन्वेषण में पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त की है परन्तु उस पर निषेध का आरोप भी नहीं किया जा सकता—क्योंकि वह सही प्रश्न पूछ रहा है।

जैसा हम ऊपर कह आए हैं, इस अन्ध-कार को भेदने के लिए साहस की आवश्यकता है, जो सम्भवतः सम्मान और विवेक को भी दाँव पर लगाने को तैयार हो। नये लेखक ने आरंम्भ दृढ़ता के साथ किया है। क्या वह इतने ही साहस के साथ इस अन्वेषण को जारी रख सकेगा ? हमें निराश होने का कोई कारण नहीं दीखता। नये लेखक ने एक बार अतिवाद का सामना करने का परिचय दिया है, वह आगे भी उसी दृढ़ता के साथ बढ़ सकता है।

१. भारतभूषण अग्रवाल

इलाचन्द्र जोशी

विश्व-उपन्यास-साहित्य का क्रमिक विकास और भविष्य

केवल उपन्यास के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि साहित्य के सभी क्षेत्रों में एक नये मोड़, एक मूलतः नये परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव आज संसार के सभी देशों के साहित्यकार और साहित्य-मर्मज्ञ कर रहे हैं। एक अस्पष्ट अनुभूति भीतर-ही-भीतर सभी साहित्य-सर्जकों को आंदोलित कर रही है कि साहित्य के विविध अंगों के जितने भी रूप आरम्भिक युग से लेकर आज तक प्रचलित हुए हैं वे आज की आर्थिक और राजनीतिक विषमता से छिन्न-भिन्न, अणु-विस्फोट से विघटित और विश्वव्यापी जीवन की विशृङ्खला से बिखरे हुए मानवीय जीवन की नव-विकासोन्मुख प्रवृत्तियों, वैयक्तिक तथा सामूहिक अवचेतना के भीतर-ही-भीतर फेनायित होने वाली, एक-दूसरे से उलझी हुई, जटिल और परस्पर-विरोधी आशाओं, आशंकाओं और आकांक्षाओं की यथार्थ अभिव्यंजना कर सकने में असमर्थ हैं। इसलिए साहित्य को एकदम नई दिशाओं की ओर मोड़ने तथा रूप, शैली और वस्तु से सम्बन्धित नये-नये प्रयोग करने के प्रयत्न आज हमें सर्वत्र दिखाई देते हैं।

पर जहाँ कहीं भी जो भी नये प्रयोग आज हम देखते हैं वे छिटपुट अथवा व्यक्तिगत प्रेरणाओं से परिचालित होने के कारण सामूहिक साहित्यिक जीवन को तनिक भी धक्का नहीं दे पाते, और इस प्रकार वस्तु-स्थिति जहाँ-की-तहाँ और जैसी-की-तैसी दिखाई देती है। नई और सर्वतोमुखी साहित्यिक क्रांति के लिए आज संसार में साधनों का तनिक भी अभाव नहीं है, परिस्थितियाँ भी अनुकूल हैं और युग की प्रसव-पीड़ा के लक्षण भी सुस्पष्ट हैं, पर स्फूर्ति का अभाव है। फिर भी इस बात से यह समझना भ्रामक होगा कि सामूहिक स्फूर्ति का यह अभाव लम्बे अरसे तक वैसा ही बना रहेगा। अणु-शक्ति के जो नये-नये रूप आज मानवीय चेतना को बाहर और भीतर दोनों ओर से हिला रहे हैं वे निश्चय ही, प्राकृतिक नियम के क्रम से, नये सर्जन की उस गुप्त स्फूर्ति को जल्दी ही आंदोलित किये बिना न रहेंगे। इसी सम्भावित परिवर्तन के अनुमानात्मक आधार पर विश्व-उपन्यास-साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है।

उपन्यास-साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में विचार करने को जब हम प्रवृत्त होते हैं तब स्वभावतः उसके आज तक के क्रम-विकास की रूप-रेखा पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है।

'उपन्यास' शब्द हिन्दी में अपेक्षाकृत नया-प्रचलित शब्द है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में इस शब्द का आयात बंगाल से हुआ। पर इस बंगला शब्द का पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द 'नावेल' भी बहुत पुराना नहीं है। 'नावेल' का अर्थ ही नया है, और इटालियन 'नोवेला' से यह लिया गया है। इटली में पन्द्रहवीं शताब्दी में तब तक प्रचलित कहानियों की शैली और स्वरूप से भिन्न, नये ढंग की छोटी या बड़ी कहानियों को लोग 'नोवेला' कहने लगे थे। बोकाच्चियो की सुप्रसिद्ध रचना 'देकामेरों' की कहानियों को 'नोवेला' ही कहा जाता था। उसके बाद इटली, फ्रांस, स्पेन तथा दूसरे यूरोपियन देशों में छोटी तथा बड़ी कहानियों की नई-नई शैलियाँ उद्भावित होती चली गईं, और इस चिर-परिवर्तित नवीनता के कारण 'नोवेला' नामकरण सार्थक हो गया। प्रत्येक युग की प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के साथ-साथ उपन्यास के रूप भी बदलते चले गए।

आधुनिक युग में हम 'नावेल', 'रोमाँ' या 'उपन्यास' को जिस अर्थ में लेते हैं उस अर्थ में उसका सुस्पष्ट आविर्भाव पहले-पहल फ्रांस में हुआ। मादाम द लाफायेन ने जब पन्द्रहवीं शती में 'क्लेव की राजकुमारी' नामक उपन्यास लिखा तब उसके सामने बचकाने ढंग की भावनाओं से प्रेरित जिन छिटपुट उपन्यासों के दृष्टांत वर्तमान थे वे या तो काम-जनित प्रेम की शारीरिक अथवा छिछली मानसिक अनुभूतियों में सम्बन्ध रखते थे, या 'उन्नत और निःस्वार्थ प्रेम' के कृत्रिम और अस्वाभाविक आदर्श पर मर मिटने वाले 'वीर नायकों' की परिपूर्ण आत्म-समर्पणशीलता तथा आत्म-बलिदान के उदाहरणों से भरे रहते थे, या इस प्रकार की संग-स्पर्श-वर्जित, निस्पृह, 'वीरजनोचित' प्रेमाराधना के प्रति व्यंग करने वाले कथानकों से युक्त होते थे। सर्वांतीज की विश्व-विख्यात रचना 'डान क्विजोट' अन्तिम कोटि के उपन्यासों का एक दृष्टांत है।

पर 'क्लेव की राजकुमारी' में हम प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास-साहित्य की परम्परा में पहली बार एक नया स्वर पाते हैं, एक नई जमीन कटती हुई देखते हैं। उसमें प्रेम को न तो हलके ढंग के भोगात्मक रूप में लिया गया है न 'वीर नायकों' द्वारा सुन्दरी नारी की कृत्रिम आदर्शात्मक पूजा के रूप में। उसमें हम सहज मानवीय रागात्मक संवेदना का स्वाभाविक चित्रण पाते हैं। उसमें एक ऐसे समाज की पृष्ठ-भूमि में प्रेम के त्रिकोणात्मक रूप का चित्रण किया गया है जो उन्नत नैतिक आदर्शों की परम्परा के कारण दमित प्रवृत्तियों का अन्तर्निहित 'रिजर्वायर' बना हुआ है। समाज-निषिद्ध प्रेम के कारण उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व की बारीकियों का जो चित्रण हम परवर्ती उपन्यासों में (टाल्सटाय से लेकर शरत्चन्द्र तक) पाते हैं उसका पूर्वाभास 'क्लेव की राजकुमारी' में हमें मिलने लगता है। शरत् के उपन्यासों की-सी एक सहृदय संवेदनाशील नायिका अपने पति के प्रति सच्चे आदर और आन्तरिक प्रेम की भावना रखते हुए भी एक दूसरे व्यक्ति के प्रति गहन और मार्मिक प्रेम के आकर्षण का अनुभव करने लगती है। उसके सुकुमार हृदय में द्वन्द्व का कीड़ा घुसता है। उसका वह नया प्रेम-पात्र भी उसे उसी तीव्रता से चाहता है और उसके लिए अपना जीवन अर्पित करने तक को तैयार है, तथापि नायिका सहज शालीनतावश उससे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार नहीं होती। इधर उसका पति, जो उसे हृदय से चाहता है, अन्तर्द्वन्द्व से, किसी कारण से परिचित होकर आत्महत्या कर लेता है। पति की आत्महत्या से नायिका के आत्म-पीड़न और पश्चात्ताप की सीमा नहीं रहती। वह यद्यपि प्रेमपात्र के आग्रह के अनुसार उससे सामाजिक दृष्टि से भी सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र

हो जाती है, तथापि वह ऐसा नहीं करती; क्योंकि उसका मृत पति उसकी घोर आत्मिक ग्लानि का कारण बनकर उसके और उसके प्रेमपात्र के बीच खड़ा हो जाता है। इसी द्वन्द्व में घुलती हुई अन्त में वह स्वयं भी मर जाती है।

प्रेम-पीड़ित व्यक्ति और समाज तथा व्यक्ति और व्यक्ति के बीच के द्वन्द्व का सूक्ष्म भावात्मक और मार्मिक चित्रण उक्त उपन्यास में किया गया है। उसके बाद रूसो का युग आता है। रूसो ने प्रेम-सम्बन्धी उपन्यास की त्रिकोणात्मक भूमि को यद्यपि नहीं बदला, तथापि उसे एक नये—रोमांटिक तथा दार्शनिक—वातावरण में लाकर खड़ा कर दिया। लाफायेत के जमाने तक 'शिवेलूरस' प्रेम के महत्त्व पर अधिक ज़ोर दिया जाता था, हालाँकि रोमांटिक वेदना का पुट उसमें दिया जाने लगा था। पर रूसो ने मानवीय अन्तःप्रकृति में उत्पन्न होने वाले प्रेम की उदात्त भावना का तादात्म्य प्रकृति-प्रेम के साथ स्थापित करके रागात्मक प्रेम को एक बहुत ऊँचे भावात्मक स्तर तक पहुँचा दिया। साथ ही एक और बड़ी बात उसने की। उसने प्रेम के त्रिकोणात्मक द्वन्द्व को एक उदार दार्शनिक प्रवृत्ति के विकास द्वारा मिटाने का सुझाव उपस्थित किया। अपने 'ला नूवेल एलोइज़' नामक उपन्यास में उसने प्रेमी, प्रेमिका और प्रेमिका के पति इन तीनों को बड़े द्वन्द्वों के बाद अन्त में एक उदार और प्रगतिशील भावना से पूर्ण पारिवारिक स्नेह-सूत्र में बाँध दिया है। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार की 'दार्शनिकता' बड़ी आसानी से हास्यास्पद स्थिति में बदल सकती है, पर रूसो ने बड़ी चतुराई से उसका निर्वाह किया है।

रूसो के बाद औपन्यासिक प्रगति का बीड़ा गेटे ने उठाया। गेटे के प्रथम उपन्यास 'वेर्टेर' के तीव्र भावावेग में हम रूसो की ही रूमानी प्रवृत्ति का परिचय पाते हैं, यद्यपि 'वेर्टेर' के नायक की आत्मघाती प्रवृत्ति में रूसो की द्वन्द्वातीत 'दार्शनिकता' का नितांत अभाव है। पर बाद वाले उपन्यासों में गेटे रूसो के प्रभाव से एकदम मुक्त होकर औपन्यासिक विकास की एक नई ही संभावना को सामने लाया। उदाहरण के लिए, 'विलहेल्म माइस्टर' नामक उपन्यास को ही लीजिए, जो दो अलग-अलग भागों में बँटा है। इस उपन्यास में गेटे ने मध्यवित्त परिवार के एक साधारणतः खुशहाल नायक को लेकर उसे एक ऐसी सामाजिक पृष्ठभूमि पर खड़ा किया है जहाँ वह सचेत और बौद्धिक रूप से, तटस्थ दृष्टि से व्यक्ति और समाज के बीच के सांस्कृतिक समझौते के सूत्रों को खोजता हुआ विकास की एक निश्चित दिशा की ओर आगे बढ़ता चला जाता है। यह आश्चर्य ही है कि अपनी इस रचना में गेटे ने शैली और विषय दोनों दृष्टियों से उपन्यास-साहित्य के विकास के सम्बन्ध में जो एक बिलकुल ही नई दिशा सुझाई, उसके भीतर बहुत सी नई-नई संभावनाएँ निहित होने पर भी किसी परवर्ती उपन्यासकार का ध्यान उस ओर नहीं गया। मेरा तो यह निश्चित विश्वास है कि भविष्य का कोई बड़ा उपन्यासकार 'विलहेल्म माइस्टर' की उपेक्षित शैली और विषय-वस्तु को अणु-युग के नये ढाँचे में ढालकर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और युग-विवर्तनकारी चीज साहित्य-जगत् को दे सकेगा।

गेटे के बाद विश्व-उपन्यास की धारा फिर एक बार जर्मनी से फ्रांस की ओर मुड़ गई, यद्यपि उसकी एक शाखा ब्रिटेन में जाकर स्काट के ऐतिहासिक उपन्यासों के रूप में प्रवाहित हुई। स्काट ने युवावस्था में गेटे की दो-एक रचनाओं का अनुवाद अंग्रेजी में किया था, पर वह विशेष रूप से गेटे की ऐतिहासिक सूझ के एक विशेष सीमित पहलू से प्रभावित हुआ था। मानव के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास की जिस विराट पृष्ठभूमि को गेटे ने अपनाया था और उस जमीन

पर खड़े होकर मनुष्य-जाति की सर्वांगीण भावी प्रगति के अनेक नये-नये वैज्ञानिक, साहित्यिक और दार्शनिक तत्वों का आविष्कार करके उन्हें एक सूत्र में पिरोकर उनकी जिन विराट सम्भावनाओं की ओर संकेत किया था, उनके महत्त्व को ठीक से समझ पाना स्काट के लिए सम्भव न था।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि गेटे के बाद विश्व-उपन्यास की विकास-धारा फिर फ्रांस की ओर मुड़ गई। स्तांदाल ने, जो नेपोलियन के साथ रूस गया था और अनेक राजनीतिक क्रान्तियों में भाग ले चुका था, उपन्यास के क्षेत्र में एक नया ही स्वर मुखरित किया। उसने अपने युग के पतनोन्मुख बूर्जुआ समाज का चित्रण एक बहुत बड़े कलाकार की चुभती हुई शैली में, बड़े ही सजीव रूप में किया। व्यक्ति और समाज के बीच के द्वन्द्व को उसने एक चतुर चितेरे की तरह जीवित चित्रों के रूप में उतारकर रख दिया। समाज के लौह चाप के नीचे दबे हुए, बूर्जुआ समाज की नींव की ईंट बने हुए, दलित वर्ग के पात्रों को उसने युग की सामूहिक उपेक्षा और उदासीनता के बीच में उभारकर रखा। पर इससे यह न समझना चाहिए कि उसने फ्रांसीसी उपन्यास-साहित्य की प्रेम-सम्बन्धी परम्परा से नाता तोड़ लिया था। उस पर रूसो के समाज-संगठन-सम्बन्धी विचार, साहित्यिक सिद्धान्त और कलात्मक प्रतिभा तीनों का सम्मिलित प्रभाव पड़ा था। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम की प्रचंड आवेगपूर्ण परिस्थितियों के चित्रण में उसे बड़ा रस मिलता था, पर उस प्रेम को किसी प्रगतिशील सामाजिक आदर्श के सूत्र में बाँधने में वह असफल रहा।

स्तांदाल के बाद बालजाक का आविर्भाव हुआ। उपन्यास के क्षेत्र में बालजाक की व्यापक प्रतिभा आज भी आश्चर्यजनक लगती है। अपने सम्पूर्ण युग की विविध रूपात्मक गलनशील प्रवृत्तियों जैसा सजीव और कलापूर्ण चित्रण उसने किया वैसा न उसके पहले किसी ने किया था न उसके बाद ही कोई दूसरा फ्रांसीसी लेखक कभी कर सका। उसने समाज के किसी भी पहलू, किसी भी वर्ग और किसी भी प्रवृत्ति को नहीं छोड़ा। उसकी चित्रकारिणी कलात्मिका प्रतिभा के साथ उसकी विश्लेषात्मिका बुद्धि का पूरा सहयोग रहता था, इसलिए वह स्वयं कभी रूसो या स्तांदाल की तरह भावुकता के बहाव में नहीं बहता था, बल्कि एक स्वतन्त्र चेता और द्रष्टा की तरह अपने युग के मानवीय पतन, भ्रष्टाचार और प्रेम के क्षेत्र में भी संकीर्ण नीचतापूर्ण स्वार्थमयी प्रवृत्तियों के संघर्ष से सम्बन्धित चित्र उपयुक्त रंगों के साथ उपस्थित करता चला जाता था। अपने एकाध प्रारम्भिक उपन्यास को छोड़कर उसने प्रेम की झूठी रूमानी महत्ता का राग कभी नहीं मिलाया।

पर बूर्जुआ प्रेम की तथाकथित उदात्त भावना की झुठाई की पोल जिस रूप में फ्लोबेर ने अपने 'मादाम बोवारी' नामक विश्लेषणात्मक उपन्यास में खोली, उस रूप में दूसरा कोई फ्रांसीसी कलाकार न खोल सका। उसने एक नई टेकनीक और नई तथा मँजी हुई शैली के प्रयोग से, तटस्थ दृष्टि से, अपने युग के 'पेती बूर्जुआ' समाज के स्वप्नों और हीन आकांक्षाओं की निरर्थकता, दो पाटों के बीच में दबे हुए उनके कुण्ठित वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की असफलता का सफल चित्रण करके उपन्यास-साहित्य को एक नई दिशा की ओर मोड़ा।

उसके पहले तथा बाद में, विक्टर ह्यूगो ने भी उपन्यास-कला के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग किये थे। 'पेरिस का कुबड़ा' तथा 'अभागे' इन दोनों उपन्यासों में उसने समाज के निम्नतम स्तर के दलित तथा उपेक्षित पात्रों के जीवन के केवल दयनीय पहलू को ही चित्रित नहीं

किया, बल्कि उनके भीतर निहित मानवीय मर्यादा तथा आत्म-गौरव की प्रवृत्तियों को भी व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि में उभारकर रखा; और इस प्रकार उपन्यास-साहित्य की सामूहिक प्रगति में उसने एक बहुत बड़ा कदम उठाया। यह दूसरी बात है कि दूसरे फ्रांसीसी उपन्यासकारों—विशेषकर बालजाक और फ्लोबेर—की-सी बड़ी बारीकी से कटी-छटी और मंजी शैली उसके उपन्यासों में हम नहीं पाते। शैलीकार की दृष्टि से वह कविता के क्षेत्र में जितना बड़ा उस्ताद है उतना उपन्यास के क्षेत्र में नहीं।

जोला ने केवल प्रयोग के लिए एक नया प्रयोग किया। उसने अपने उपन्यासों में जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य की गहन रहस्यमयी अंतर्प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा, विश्लेषण और मूल्यांकन करना आरम्भ कर दिया और एक विशिष्ट दल के संगठित प्रचार द्वारा एक नये (नेचुरेलिस्ट) स्कूल की स्थापना की, जो एक 'स्टंट' के सिवा और कुछ नहीं था। यह ठीक है कि अपनी कुछ रचनाओं द्वारा उसने अपने युग के पहले ही से गलित और मृतप्राय बूर्जुआ समाज पर एक ठोकर और मारी, पर अस्त-व्यस्त और जटिल सामाजिक जीवन की मूलगत समस्याओं के हल में उनमें कुछ विशेष दिशा-निर्देशन या सुझाव की आशा नहीं की जा सकती थी।

बालजाक आदि फ्रांसीसी उपन्यासकारों की कला का प्रभाव रूसी साहित्यकारों पर विशेष रूप से पड़ा, पर वह प्रभाव केवल ऊपरी सतह की प्रेरणा देने तक ही सीमित रहा। रूसी जमीन पर फ्रांसीसी कला के बीज पड़ने पर उनमें एक विचित्र, अदृश्यपूर्व और कल्पनातीत रासायनिक परिवर्तन देखने में आया और उनका विकास भी एकदम नये ही रूपों में, बड़ी ही तीव्र गति से होने लगा। रूस उस युग में सभी दृष्टियों से यूरोप के सबसे पिछड़े हुए देशों में गिना जाता था। जारयुगीन तानाशाही के लौह-चक्र के नीचे वहाँ का केवल जन-जीवन ही बुरी तरह कुचला हुआ नहीं था, वरन् सांस्कृतिक जीवन की धारा भी रेगिस्तानी नदी की तरह एकदम सूखी और सिमटी हुई थी। पर उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के आरम्भ से वहाँ सहसा उपन्यास-साहित्य का क्षेत्र इस तरह लहलहा उठा कि देखकर दुनिया चकित रह गई। टुर्गेनिव, टाल्सटाय और डास्टाएव्स्की ने औपन्यासिक कला के ऐसे-ऐसे आश्चर्यजनक और एक-से-एक बढ़कर सुन्दर नमूने पेश किये कि अनुवादों को पढ़कर उनके फ्रांसीसी गुरुओं के छक्के छूट गए।

रूसी कलाकारों ने यथार्थवादी कला की एक बिलकुल ही नई शैली को अपनाया। उनका यथार्थ फ्रांसीसी आचार्यों के यथार्थ की अपेक्षा कई गुना अधिक सजीव, जीवन के अधिक निकट, अधिक सहज, अधिक स्पर्श्य, अधिक अनुभवगम्य और अधिक मार्मिक था। जीवन के अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण और निर्दोष यथातथ्य वर्णन के साथ ही जटिल-से-जटिल परिस्थितियों तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनःस्थितियों का निर्मम विश्लेषण करने की दक्षता का जैसा परिचय उन्होंने दिया वह भी उस युग के लिए अपूर्व और कल्पनातीत था। साथ ही उनकी प्रतिभा की यह निराली विशेषता संसार के साहित्यकारों और साहित्यालोचकों के आगे आई कि घोर यथार्थवादी शैली को अपनाने पर भी रूसी उपन्यासकर उसी यथार्थवाद के भीतर से, अन्तः-सलिला नदी की तरह, अत्यन्त स्वस्थ और आशाप्रद आदर्शवाद का उद्भावन और परिस्फुटन कर सकने में पूर्ण सफल सिद्ध हुए। फ्रांसीसी यथार्थवाद और प्राकृतवाद ने उस युग के 'सच्चे' (अर्थात् नंगे) जीवन के पर्दा-दर-पर्दा उद्घाटन तक ही अपनी कला की उपादेयता की सीमा

स्वयं निर्धारित कर दी थी। जीवन के उस कोरे यथार्थ चित्रण और विश्लेषण का प्रभाव पाठकों पर स्वभावतः इस रूप में पड़ता था कि जीवन के प्रति घोर निराशा, विराग और घृणा की भावना मन के अणु-अणु में भर जाती थी। मानव-जीवन की कहीं तनिक सार्थकता भी है, इसका रंचमात्र आभास उन महान् आचार्यों की रचनाओं से प्राप्त नहीं होता था। रूसी कलाकारों के उपन्यासों में यथार्थ का चित्रण फ्रांसीसी आचार्यों की अपेक्षा अधिक सचाई से और अधिक विशद तथा विस्तृत रूप से होने के कारण स्वभावतः नैराश्य और विषाद का वातावरण भी अधिक घनीभूत हो उठा, तथापि विषाद और नैराश्य की उस प्रकट धारा के नीचे उन्नत आदर्शों के प्रति विश्वास और जीवन के प्रति महान् आशा की अन्तर्धारा निरन्तर, अविराम गति से प्रवाहित दिखाई देती थी। वह विशेषता इतनी बड़ी और इतनी साफ़ थी कि वह विश्व-उपन्यास-साहित्य की धारा को सहस्रों योजन आगे बढ़ा ले गई।

रूसी उपन्यासकारों ने जीवन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप से लेकर विराट्-से-विराट् रूप तक की छानबीन और परख करने, उसे समझने और समझाने में कोई प्रयत्न उठा न रखा—विशेषकर टाल्सटाय और डास्टाएव्सकी ने। इन दो उपन्यासकारों ने अपनी किसी भी रचना में जीवन के चाहे किसी भी पहलू को लिया हो, अपने युग के वैयक्तिक, पारिवारिक अथवा सामाजिक जीवन के किसी भी रूप को अपनाया हो, उसे उन्होंने युग-युग के सामूहिक मानव-जीवन की विराट् पृष्ठभूमि पर उतारकर रखा। यथार्थ जीवन के प्रतिदिन के संघर्ष और द्वन्द्व द्वारा उत्पन्न होने वाली पंकिलता, तुच्छता और विकृतियों की तनिक भी उपेक्षा न करके उन्होंने सामूहिक मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास-सम्बन्धी अपने सहज विश्वास को कभी न डिगने दिया। मनुष्य जाति की शत-शत दुर्बलताओं, भूलों और भ्रांतियों के बावजूद महामानव-मन के भीतर निहित आत्मिक शक्तियों की अन्तिम विजय पर उनकी आस्था बराबर बनी रही। उनका यह आधारभूत विश्वास अपने-आप में इतना महान् था कि दैनिन्दन जीवन की हीनता-जनित निराशा के अन्धकार में भटकते रहने वाले फ्रांसीसी कलाकारों को उन्होंने बहुत पीछे छोड़ दिया। यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो हम स्वभावतः इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उन्नीसवीं शती का रूसी उपन्यास-साहित्य आज भी प्रत्येक दृष्टि से नया है और आगे भी नया ही रहेगा। उसके भीतर निहित असंख्य सम्भावनाओं की पूरी छानबीन विश्व-साहित्यालोचक अभी तक कहाँ कर पाए हैं!

इसके बाद गोर्की का युग आता है, जो अपने से पहले के रूसी उपन्यास की विकास-धारा को अलग छोड़कर एकदम नया मोड़ लेता है और एक मूलतः नई दिशा को अपनाता है। रूसी बूर्जुआ समाज की गलनशीलता गोर्की के समय तक अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। उस वर्ग के भीतर जीवन के विकास-तत्वों का कोई चिह्न उसे अवशिष्ट न दिखाई दिया। इसलिए वह एक ऐसे वर्ग के जीवन के चित्रण की ओर प्रवृत्त हुआ जिसका आत्मिक शक्ति-स्रोत अभी तक अक्षुण्ण था, जिसके भीतर जीवन के सहज, स्वाभाविक और स्वस्थ विकास की अनंत सम्भावनाएँ अभी तक निहित थीं—भले ही उस जीवन का तात्कालिक रूप एकदम अनगढ़ और प्रकट में जड़ रहा हो। गोर्की के साहित्य का अधिक महत्त्वपूर्ण अंश—विशेषकर कहानियों और उपन्यासों से सम्बन्धित अंश—सन् १७ की क्रान्ति के पहले ही लिखा जा चुका था। क्रान्ति के पहले ही वह, कुछ तो अपने प्रत्यक्ष अनुभव और कुछ अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा, इस महत्त्वपूर्ण

सत्य को हृदयंगम कर चुका था कि आने वाले युग में केवल वही वर्ग सामूहिक मानव जीवन के भावी विकास के सूत्र को अपने हाथों में लेकर उसे आगे बढ़ा सकेगा जिसकी आत्मिक शक्ति के 'रिजर्वायर' का तनिक भी क्षय अभी तक न हुआ हो, जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से निरन्तर कुचले और दबाए जाने पर भी किसी रहस्यमयी भीतरी शक्ति की प्रेरणा द्वारा फिर-फिर जी उठने की कला से परिचित हो। इसी बात को ध्यान में रखकर उसने मजदूरों, किसानों, गृहहीन आवारों तथा इसी कोटि के दूसरे लोगों को अपने उपन्यासों तथा कहानियों के चरित्रों के रूप में चुना। उसके मत से बूर्जुआ समाज ने अपने सांस्कृतिक विकास को चरम संभाव्य स्थिति तक पहुँचाकर अपने सारे शक्ति-स्रोतों को समाप्त कर दिया था, पर प्रोलेटेरियन वर्ग के भीतर उसने एक ताजगी पाई, जिसके एक कण का भी व्यय या अपव्यय तब तक नहीं हुआ था। उस वर्ग के लोगों का जीवन उस समय यद्यपि प्रकट में अत्यन्त दयनीय और दुर्दशाग्रस्त था, तथापि उनके भीतर आत्म-मर्यादा और आत्म-गौरव की भावनाएँ, अपने निजी दृष्टिकोण के अनुसार, पूरी मात्रा में वर्तमान थीं, और साथ ही अपने वर्ग के युग-युगव्यापी दलन की अन्तर्निहित जलन भी। गोर्की ने उनके जीवन और चरित्र का चित्रण करते हुए, उनके चेतना के विविध स्तरों की खुदाई करने के बाद, उक्त दोनों प्रकार की भावनाओं को एक अत्यन्त कुशल कलाकार की तरह उभारकर रख दिया। गोर्की जानता था कि उक्त वर्ग के भीतर निहित आदिम शक्ति में विस्फोट उत्पन्न होने से चेतना का ज्वालामुखी ही फट पड़ेगा और आग की प्रचण्ड लपटों के साथ-साथ पिघलती हुई धातुओं का द्रव भी बाहर फूट निकलेगा। पर साथ ही वह यह भी जानता था कि बूर्जुआ समाज की गलनशीलता के कारण मानव-समाज के स्वस्थ सांस्कृतिक विकास का जो पथ रुद्ध हो चुका है, वह केवल इसी विस्फोट की ज्वालामयी लीला द्वारा ही फिर से उन्मुक्त हो सकेगा। गोर्की को हम लोग गलत न समझें। उसने बराबर मनुष्य की आत्मिक शक्तियों के अनवरत विकास पर जोर दिया है और मानवीय चेतना के निरन्तर उन्नयन और परिष्करण पर उसकी परिपूर्ण आस्था रही है। सामूहिक मानव के सम-श्रम द्वारा भौतिक जीवन की समुन्नति पर पूरा जोर देते हुए भी उसने यह कभी नहीं माना कि मानवीय प्रगति की सीमा भी उसी भौतिक उन्नति की सीमा के साथ समाप्त हो जायगी। मनुष्य को निश्चित रूप से उस सीमा को पार करके उसके परे भी जाना है, अपने इस अडिग विश्वास की घोषणा वह मरते दम तक करता रहा। उसके प्रकट में नीरस लगने वाले उपन्यासों के आकर्षक जादू का रहस्य उसकी यही आस्था है।

रूस में जब बूर्जुआ समाज की स्वाभाविक समाप्ति के साथ-साथ एक नई सांस्कृतिक चेतना के फलस्वरूप एक नई औपन्यासिक कला का विकास होने लगा था, तब पश्चिमी यूरोप का बूर्जुआ समाज अपनी पुरानी संस्कृति के चरम ह्रास का अनुभव करता हुआ मरता-क्या-न-करता की-सी हताश स्थिति में कुछ ऐसे नये पथों को खोज रहा था जिनके माध्यम से वह अपने सांस्कृतिक तथा साहित्यिक अवरोध को कम-से-कम कुछ समय के लिए हटा सके। ऐसे अवसर पर उनके त्राण के लिए फ्रायड का आविर्भाव हुआ। पाश्चात्य उपन्यासकारों ने उसे एक नया शक्ति-स्रोत मानकर, अपने को एकदम डूबने से बचाने के लिए फौरन उसका आश्रय पकड़ लिया। डी० एच० लारेन्स और जेम्स जोइस के उपन्यास इसी हताशवाद-घन-फ्रायडवाद की देन हैं।

जो लोग मनुष्य की उन 'पशु-प्रवृत्तियों' को घृण्य और निन्दनीय मानते हैं जो जीवन के मूल शक्ति-स्रोत से सम्बद्ध हैं, मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ। मनुष्य ने सभ्यता के विकास-क्रम में मानव-प्रकृति की बहुत सी आदिम प्रवृत्तियों को दूषित ठहराकर उन्हें दबाया है, जिसके फलस्वरूप आज के कृत्रिम जीवन के भीतर बहुत सी विकृतियां आ घुसी हैं। इस सत्य की उपलब्धि केवल फ्रायड द्वारा ही पहली बार नहीं हुई है बल्कि बहुत पहले से ज्ञानी लोग उससे परिचित रहे हैं। फ्रायड की विशेषता केवल इतनी रही है कि उसने इस सत्य की उपलब्धि की प्रक्रिया को निश्चित वैज्ञानिक रूप दे दिया। पर यदि इस (मनो-) विज्ञान की यह प्रतिक्रिया होने लगे कि मनुष्य पशु-स्थिति से अपने विकास की प्राकृतिक प्रगति का ही विरोध करने लगे और सभ्यता की कृत्रिमता से उकताकर फिर से पशु-प्रवृत्तियों की ओर लौटकर, उनमें पूर्णतया मग्न होने में ही जीवन की मूल सर्जना-शक्तियों की सार्थकता मान बैठे तो इसका अर्थ यह है कि मनुष्य ने बंदर से मानवत्व की ओर कदम बढ़ाकर बड़ी भूल की और फिर से उसे बंदरत्व को अपनाकर उसी में सदा के लिए गर्क हो जाना चाहिए और उससे आगे के विकास की सहज, प्रकृतिगत चेतना को ही सृष्टि के अतल में डुबो देना चाहिए। डी० एच० लारेन्स के साहित्यिक जीवन की छटपटाहट में हमें इसी घनघोर प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। केवल डी० एच० लारेन्स ही नहीं, फ्रायड से प्रभावित सारे पाश्चात्य साहित्य में हम, थोड़ी-सी शैलीगत रद्दोबदल के साथ, इसी प्रवृत्ति की प्रधानता का परिचय पाते हैं।

जेम्स जोइस ने परम्परा से भिन्न एक बिलकुल ही नई शैली और नये रूप-विधान में कमाल दिखाया, इसमें संदेह नहीं। फ्रायडीय अवचेतना के कई रुद्ध द्वारों में से एक ऐसे द्वार की कुंजी उसके कलाकार को प्राप्त हो गई जहाँ कैद की गई यौन-चेतना सहसा मुक्त होकर असंख्य शाब्दिक अनुभूतियों के रूप में अविराम गति से प्रलय-प्रवाह की तरह बाहर निकल आई। कला की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा चमत्कार था। 'युलिसीज' केवल इसी चमत्कार के स्मारक स्तम्भ के रूप में आज अवशिष्ट रह गया है, इससे अधिक कोई सार्थकता उसकी न तब थी न आज है। मनुष्य की निरंतर विकासशील मूल सर्जनात्मिका चेतना की प्रगति में उसकी चमत्कारी कला ने तनिक भी हाथ नहीं बटाया, बल्कि उलटी दिशा की ओर लौटकर विसर्जनात्मक प्रक्रिया को अपनाया।

जैसा कि मैं पहले संकेत कर चुका हूँ, मनुष्य की सामूहिक अवचेतना के भीतर (फ्रायडियन अवचेतना जिसके एक कण के बराबर भी नहीं है) सृष्टि के प्रचण्ड आदिम शक्ति-स्रोत वर्तमान हैं—ठीक उसी प्रकार जिस तरह पृथ्वी के गर्भ में कोयला, लोहा, धातुगत तेल, कोबाल्ट, यूरेनियम, थोरियम आदि कच्चे माल के ऐसे भंडार भरे पड़े हैं जो आज के वैज्ञानिक युग की भौतिक उन्नति के मूल शक्ति-स्रोत हैं। पर उन भूगर्भगत धातु-पदार्थों की कोई उपयोगिता अपने-आप में नहीं है—क्योंकि कोयला अपने-आप में केवल कोयला ही है, उससे अधिक और कुछ नहीं—भले ही उसके भीतर विकास की अनन्त संभाव्य शक्ति निहित हो। आवश्यकता इस बात की है कि उस जड़ और निष्क्रिय कोयले के भीतर छिपी शक्ति को वैज्ञानिक उपायों से निष्कासित किया जाय और फिर उस निष्कासित शक्ति को जीवन के उपयोगी क्षेत्रों में लगाया जाय। पर आज विज्ञान चूँकि उस निष्कासित शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है, इसलिए उससे कुढ़कर, दुखित होकर यदि यह आवाज उठाई जाय कि कोयले से प्राप्त शक्ति को फिर से कोयले में ही

परिणत कर दिया जाय, तो कोयले की-सी जड़ता को प्राप्त होने की यह घोर पलायनवादी आकांक्षा जीवन से उकताकर मृत्यु को वरण करने की विकृत प्रवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ न मानी जायगी। मानवीय विकास की सहज प्रगति में सहायता देने वाली प्रवृत्ति यह होनी चाहिए कि कोयले से या दूसरे तत्वों से निष्कासित शक्ति किन उपायों से सामूहिक मानवीय कल्याण के लिये सदुपयोग में लाई जा सकती है इस बात की खोज निरन्तर की जाय।

डी० एच० लारेन्स, जेम्स जोइस तथा उनके साथी अथवा अनुयायी कलाकारों ने सभ्य समाज में यौन-प्रवृत्ति के दमन के फलस्वरूप जो सामूहिक विकृतियाँ बूर्जुआ समाज में देखीं, उनसे वे इस तरह बौखला उठे कि यौन (सेक्स-) चेतना के आदिम (पशु-) रूप में अपने अहम् को पूर्णतया, नग्न रूप में, निमज्जित करके उसी के साथ एकाकार बन जाने का पाठ पढ़ाने लगे।

कहना न होगा कि इस प्रकार की आत्मघाती, विकास-विद्रोही और प्रगति-विरोधी प्रवृत्ति जिन उपन्यासों द्वारा प्रतिपादित की गई हो, वे चाहे शैली और रूप की दृष्टि से कैसे ही चमत्कारपूर्ण क्यों न हों, अपने आगे वाले युग के अग्रदूत और प्रकाश-दर्शक वे कभी नहीं बन सकते। और न उपन्यास-साहित्य की उस अन्तर्धारा के साथ उनका किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध हो सकता है जो मानवीय जीवन के असंख्य विरोधाभासों के साथ-साथ चलती हुई भी उन विरोधाभासों को सृष्टि के मूल में निहित विराट् सामंजस्य के सूत्र में पिरोती हुई, मानवीय चेतना के व्यापक समुन्नयन में सहायक सिद्ध होती है। लारेन्स और जोइस (विशेषकर जोइस) की चमत्कारपूर्ण असफलता से हम लोगों को यह सबक मिलना चाहिए कि शैली और रूप के कलात्मक चमत्कार-मात्र से कोई रचना महान् नहीं मानी जा सकती। विश्व-साहित्य में बहुतसी ऐसी रचनाएँ भी हैं जो रूप और शैली की दृष्टि से बहुत साधारण हैं, तथापि कई पीढ़ियों के साहित्यालोचकों के कसौटी में वे खरी और महान् उतरी हैं। इसका कारण केवल यही रहा है कि वे रचनाएँ मानवीय आत्मिक शक्तियों के निरन्तर विकास और मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर उन्नयन के पथों को उन्मुक्त करने की ओर प्रयत्नशील रही हैं, न कि उन्हें रुद्ध करने की ओर। प्राचीन उदाहरण न देकर मैं इस सम्बन्ध में अपेक्षाकृत नये ही उदाहरण पेश करूँगा। डी० एच० लारेन्स और जेम्स जोइस को आज न कोई साहित्यालोचक ही पूछता है न साहित्यकार। गोर्की यद्यपि शैली और रूप-सम्बन्धी सूक्ष्म सौंदर्य-कला में उक्त दो उपन्यासकारों की तुलना में कहीं नहीं ठहरता, फिर भी उनकी रचनाओं का महत्त्व आज भी एक स्वर से माना जाता है और आगे भी कई युगों तक माना जायगा। मूल कारण इसका केवल एक ही है, और वह यह कि गोर्की ने बाहरी और भीतरी जीवन की विकृत-से-विकृत परिस्थितियों के बीच में भी ऐतिहासिक सत्य द्वारा परीक्षित उस महान् आस्था को एक क्षण के लिए नहीं भुलाया जो मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के अटूट, सहज और प्राकृतिक उत्कर्षण की ओर हर हालत में टकटकी लगाए रहती है। विकृत बूर्जुआ नैतिकता से ध्वस्त मानवता को प्रकट में महाविनाश की ओर उन्मुख देखकर भी गोर्की का यह विश्वास एक क्षण के लिए भी कभी नहीं डिगा कि सामूहिक नैतिक और आत्मिक पतन और भ्रष्टाचरिता के बावजूद मानवता नई-नई जमीनों को पकड़ती हुई अन्त में निश्चित रूप से विजयिनी सिद्ध होगी। अतएव कला की कोरी चोंचलेबाजी से (फिर चाहे उसका स्वर कैसा ही गम्भीर क्यों न हो) आस्था का एक कण भी महान् है।

बूर्जुआ समाज अपनी सांस्कृतिक उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचने के बाद गत्यवरोध

के कारण केवल परम्परा-प्राप्त विश्वासों पर जीने लगा और यह भूल गया कि महासत्य निरन्तर विकासशील है और बीच में अधिक समय तक रुद्ध हो जाने से वह असत्य से आच्छादित हो जाता है। चूँकि विकास को बाँधा नहीं जा सकता, इसलिए वह महासत्य असत्य को रुद्ध जलाशय में छोड़कर स्वयं नई-नई जमीनों को काटता हुआ नई-नई दिशाओं से प्रवाहित होकर आगे को बढ़ता चला जाता है।

स्वयं अपने ही द्वारा सृष्ट अवरोधों से घिरे बूर्जुआ समाज के रूढ़िगत विश्वासों को —और फलतः उसके अहम् को—सबसे पहला धक्का गैलीलियो के इस आविष्कार से लगा कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी चलती है। उन्हें जब यह बताया गया कि पृथ्वी सृष्टि का केन्द्र नहीं, बल्कि महाविश्व की तुलना में एक परमाणु के समान है, तब उसे मानवीय जगत् की लघुता (अर्थात् आत्म-लघुता) का बोध हुआ। उसके बाद दूसरा भयंकर धक्का उसके रुद्ध (अतएव झूठे) अहम् को तब लगा जब डार्विन ने अकाट्य प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य सृष्टिकर्ता की एक विशिष्ट और सबसे अलग रचना नहीं है, बल्कि क्रमिक विकास से उसने इस स्थिति को प्राप्त किया है, और उसके पूर्व पितामह बंदर थे! अपने बंदरत्व की अनुभूति से उसका आत्म-विश्वास बहुत बड़ी हद तक दह गया। उसके बाद आया कार्ल मार्क्स, जिसने मानवीय प्रगति के अन्तर्निहित ऐतिहासिक सत्य की छान-बीन द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि बूर्जुआ समाज भौतिक प्रगति की दृष्टि से भी स्वयं अपने ही जालों में इस कदर जकड़ गया है कि अपने गले में अपने-आप फांसी का फन्दा डालने के सिवा उसके लिए दूसरा कोई चारा नहीं रह गया है।

सबसे अन्तिम और सबसे घातक धक्का बूर्जुआ समाज को दिया फ्रायड ने। फ्रायड ने मनोविश्लेषण को एक सुगठित, वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करके यह सिद्ध किया कि आज का सभ्य मनुष्य जिन धार्मिक और नैतिक विश्वासों पर जी रहा है वे दमित यौन-वृत्ति के ही विभिन्न प्रतीक हैं और मनुष्य की आज तक की सारी प्रगति दमित सेक्स-जनित विकृतियों का ही इतिहास है। उसने बताया कि मनुष्य की सभ्यता केवल एक बाहरी नकाब है और झीने नकाब के भीतर मनुष्य एकदम नंगा है। हालाँकि यह कोई नई बात नहीं थी और इस तथ्य से आतंकित होने का भी कोई कारण नहीं था, तथापि बूर्जुआ समाज अपनी सांस्कृतिक और कलात्मक नकाब का पर्दाफाश होते देखकर बुरी तरह घबरा उठा। इसकी प्रतिक्रिया उस पर यह हुई कि वह जैसे प्रायश्चित-स्वरूप अपने को बर्बर अवस्था से भी अधिक नंगा करने पर तुल गया। लारेन्स और जोइस तथा उनके साथ के और बाद के 'अतियथार्थवादी' कलाकारों के निरर्थक नंगेपन का यही कारण है। यह नंगापन जीवन के नये और स्वस्थ संघटन के लिए नहीं, बल्कि मानवत्व के विघटन के उद्देश्य से था। जैसे ये बौखलाये हुए कलाकार फ्रायड से कहना चाहते हों : **"तुम सभ्य मनुष्य को सेक्स-सम्बन्धी विकृतियों द्वारा चालित पुतला मानते हो तो लो, हम सेक्स को उसके स्वस्थ और आदिम रूप में अपनाने के लिए बंदर बन जाते हैं।"** आज के विकृत युग के इन मनचले कलाकारों ने यह नहीं सोचा कि मनुष्य को जीव-विकास के क्रम में एक सीढ़ी पीछे ले जाना सुस्पष्ट घोर पतन और ह्रास है और मनुष्य के स्वस्थ सांस्कृतिक विकास के मूल्य पर सेक्स-सम्बन्धी 'स्वस्थ' पाशविक प्रवृत्ति को मोल लेने के बराबर मूर्खता दूसरी कोई नहीं हो सकती। आल्डस हक्सले ने अपने एक उपन्यास में आज के मनुष्य की इस बंदराभिमुखी सेक्स-प्रवृत्ति पर चुभता हुआ व्यंग कसा है।

फ्रायड ने यह तो दिखा दिया कि मनुष्य की धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक सभ्यता उसकी दमित यौन-वृत्ति की विकृति का परिणाम है, पर यह वह नहीं बता सका कि मनुष्य के स्वस्थ और सहज विकास के लिए स्वाभाविक और उपयुक्त पथ क्या है। और इस प्रकार एक बहुत बड़ा क्रूर परिहास वह मानवता के साथ कर गया। बड़े-बड़े कलाकारों तक को वह परोक्ष रूप से यह सुझाव दे गया कि जब मानवीय उन्नति के साथ सेक्स-सम्बन्धी विकृतियाँ एकरूप में जुड़ी हुई हैं तब चेतना को पशुत्व की ओर लौटाना ही श्रेयस्कर है और पशुओं की 'स्वस्थ' सेक्स-चेतना से कला के आदिम तत्वों को बटोर-बटोरकर 'अति-यथार्थवादी' उपकरणों को जुटाते रहने में ही कला की भलाई है। फ्रायड के सिद्धांतों की कोई खास गलती नहीं है, पर उन सिद्धान्तों की सीमा अत्यन्त संकीर्ण होने के कारण अपने मानवीय विकास के सारे इतिहास को एक गलत परिप्रेक्षण (पर्सपेक्टिव) पर लाकर खड़ा कर दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद 'अति-यथार्थवादी' कला ने मानवत्व के गौरव को ठुकराकर पशु-स्तर की चेतना को साधन नहीं बल्कि साध्य मानकर, अवचेतना-लोक के विस्फोटक तत्वों से भरे अगाध भण्डार को अनियन्त्रित और खुली छूट देकर कलाकारों के एक बहुत बड़े वर्ग पर अपना जो व्यापक प्रभाव फैलाया वह बूर्जुआ संस्कृति के ह्रास और विघटन का एक और ज्वलंत निदर्शन था।

आज सार्त्र उसी बूर्जुआ कला और संस्कृति की अन्त्येष्टि क्रिया कर रहा है। गैलीलिओ के समय से लेकर आज तक जो चार बड़े धक्के बूर्जुआ कला और संस्कृति पर पड़े उन चारों का अलग-अलग तथा सम्मिलित, दोनों प्रकार का प्रभाव सार्त्र पर पड़ा। जीवन के प्रति घृणा और 'उबकाई' उसके उपन्यासों और नाटकों की प्रेरणा के मूल उपकरण हैं। उसके लिए जीवन एक 'निरर्थक वासना' है। सार्त्र की यह प्रतिक्रिया 'टिपिकल' बूर्जुआ प्रतिक्रिया है जिसकी उत्पत्ति बूर्जुआ समाज के इस ज्ञान और अनुभूति से हुई है कि उसके बड़े-बड़े सांस्कृतिक स्वप्न स्वयं उसी के निरंतर आत्म-संकोचन के कारण नष्ट हो चुके हैं। इसलिए जो थोड़े-बहुत स्वप्न शेष रह गए हैं उन्हें भी निर्ममता से ध्वस्त करते चले जाने में उसे एक अप्राकृतिक, दानवीय उल्लास का अनुभव होता है। वैयक्तिक अहम् को सामूहिक अहम् से छिन्न करके समस्त, सामाजिक सम्बन्धों से अपने को अलग खींचते-खींचते आज के बूर्जुआ लेखक या कवि ने अपने को इस तरह शून्य के बीच में लाकर खड़ा कर दिया है कि अनन्त विश्व के बीच में वह अपने को निपट अकेला पाता है। "राग-रंग से भरे जगत् में कवि का हृदय अकेला" यह आज के युग के बूर्जुआ कलाकार की 'टिपिकल' अनुभूति है। वह खीझकर अपने चरम एकाकीपन की इस अनुभूति को 'गर्व' के रूप में समाज के आगे पेश करना चाहता है और उसी खीझ के कारण सार्त्र के माध्यम से यह दांभिक घोषणा करता है कि वैयक्तिक मानव सृष्टि के सारे नियमों से एकदम मुक्त और 'स्वतन्त्र' है। उसकी यह 'स्वतन्त्रता' एक आत्मघाती पागल की अपने गले में स्वयं फाँसी लगाने की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह बात वह भूल जाता है। सार्त्र के सबसे प्रथम उपन्यास 'उबकाई' ('ला नोसे') से ही उसकी इस 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता', समाज और संसार के प्रति उत्कट उपेक्षा—बल्कि विकट घृणा—और तज्जनित उबकाई का परिचय सुस्पष्ट और असंदिग्ध रूप में मिल जाता है। उसके किसी भी उपन्यास या नाटक के पात्र जीवन के बीच के प्राणी नहीं हैं। वे या तो जीवन-नदी के उस पार के अप्राकृतिक अनुभूति-सम्पन्न प्राणी हैं या इस पार निरर्थक शून्य में उसासें भरने वाली छायारहित छायात्माएँ। अपनी

उस जड़, निश्चेष्ट और भयावह उदासीनता, अवसाद, खीझ और असंतोष की स्थिति से उबरने की आकांक्षा का एक कण भी उन अमानवीय लोक के जीवों में नहीं पाया जाता। उसी स्थिति में रहकर जीवित लोक के प्रति कटु घृणा की फुफकार द्वारा विषैले फेन को निरंतर उगलते रहने में ही उन्हें विकृत आत्म-तृप्ति प्राप्त होती है।

और, युग की यह विशेषता देखिए कि आज सारे संसार का बूर्जुआ लेखक-समाज (जिसमें कलात्मक योग्यता की कोई कमी आज भी नहीं है) सार्त्रीक छाया-लोक की अमानवीय विकृतियों से अत्यन्त प्रभावित है, केवल किसी मरणोन्मुख, हताश और जीवन विद्वेषी युग और समाज में ही इस तरह की अस्वाभाविक प्रवृत्तियाँ पाई जा सकती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बूर्जुआ-कला अपने ह्रास की चरम स्थिति को पहुँच चुकी है और उपन्यास के क्षेत्र में उसके पतन का अन्तिम रूप दिखाई देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक से लेकर आज तक जो भी नये मोड़ इस दिशा में लिये गए हैं वे उत्तरोत्तर मानवीय जीवन के सहज और स्वस्थ विकास के अधिकाधिक विरोधी और विद्वेषी सिद्ध होते चले गए हैं। कला की शैली में ज्यों-ज्यों नयापन और निखार आता चला गया है, त्यों-त्यों, उसी परिमाण में, भावनाओं में संकोचन और विकृति आती चली गई है। आधुनिक उपन्यास के प्रारम्भिक युग में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेमाकर्षण की जिस अनुभूति को लगन, त्याग और तपस्या की भी भावना के रंग से रंगने की प्रवृत्ति पाई जाती थी वह धीरे-धीरे क्रम से जीव-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञनिक विश्लेषण के अस्त्रों की चीर-फाड़ का शिकार बनती हुई इस कदर कुरूप और कुत्सित स्थिति को प्राप्त होती गई कि अन्त में घृणा, ग्लानि और उबकाई के रूप में परिणत होकर रह गई। जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान का इसमें कोई दोष न था। दोष था कुछ विशेष प्राकृतिक कारणों से (जिन पर प्रकाश डालना यहाँ अप्रासंगिक होगा) बूर्जुआ 'आर्गेनिज़्म' के भीतर उत्पन्न हुई रासायनिक विघटन-क्रिया का, जिस पर नये जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान की प्रतिक्रिया अत्यन्त घातक सिद्ध होने लगी। इससे भी दुखद बात यह थी कि समाज-विज्ञान का कोई प्रभाव उस पर न पड़ा, जो जीव-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को संतुलित आधार देकर उसे स्वस्थ और उपयोगी दिशाओं की ओर नियोजित कर सकता था। फल यह देखने में आया कि जिस तरह प्रेम-सम्बन्धी धारणा विच्छिन्न होकर, बिखरकर, अपनी उन्नत और विकसित स्थिति से कटते-छटते पशुत्व की स्थिति से भी अधिक विश्रृङ्खल और विकृत हो गई, उसी तरह जीवन के सभी क्षेत्रों के सहज-सुन्दर विकास की धाराएँ रुद्ध होकर, ग़लत दिशाओं की ओर लौटती चली गईं।

बूर्जुआ संस्कृति के इस स्वाभाविक गलन, ह्रास और अवरोध के बाद यह आशा की जानी चाहिए थी कि प्रोलेटेरियन उपन्यास-साहित्य लम्बे डग भरता हुआ उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जायगा। पर इस बात के कोई लक्षण अभी तक नहीं दिखाई दिए। गोर्की की परम्परा प्राप्त होने पर भी प्रोलेटेरियन उपन्यास जो विकसित न हो पाया इससे साहित्यान्वेषकों को आश्चर्य होना यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि यदि तनिक गहराई से और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो आश्चर्य के लिए कोई कारण नहीं रह जायगा। गोर्की ने उपन्यास-रचना में जो विशिष्टता प्राप्त की उसके कई कारण थे। उसके आगे एक तो कला-सम्बन्धी शैली और रूप-गठन की वह

बूर्जुआ परम्परा थी जो सदियों के परिश्रम और प्रयोग द्वारा अपूर्व सुन्दर ढंग से विकसित होकर निखर चुकी थी; दूसरे, उन बूर्जुआ रूसी लेखकों की परिपक्वता-प्राप्त रचनाओं की विरासत उसे प्राप्त थी जो केवल शैली और कला की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि जीवन के व्यापार और गहरी नाप-जोख के साथ ही उसकी स्वस्थ विकास-धारा को अपनाये हुए थे; तीसरे, उसकी प्रधान रचनाएँ उस युग में लिखी गई थीं जब प्रोलेटेरियन संस्कृति का निर्माण नहीं हुआ था, बल्कि वह स्वयं कच्चे धातु-पदार्थों से उस संस्कृति के निर्माण के प्रयत्नों में लगा हुआ था।

जब रूस में प्रोलेटेरियन राज कायम हुआ तब परिस्थितियाँ ही एकदम बदल गईं। नव निर्मित संस्कृति द्वारा प्रभावित और परिचालित प्रोलेटेरियन समाज के आगे कई परिस्थितियों के अनुकूल नये साहित्य के निर्माण के लिए कोई परम्परा ही नहीं थी। गोर्की का साहित्य इस सम्बन्ध में उनकी सहायता नहीं कर सकता था; इसका कारण यह था कि गोर्की की साहित्य-रचना के प्रधान युग में प्रोलेटेरियन राज कायम नहीं हुआ था, बल्कि उसके लिए संघर्ष चल रहा था। ये दो परिस्थितियाँ एक-दूसरे से मूलतः भिन्न हैं। इसलिए प्रोलेटेरियन संस्कृति के युग के साहित्यकारों को नये साहित्य के निर्माण के लिए स्वयं ही कच्चा माल खोजना या उपजाना पड़ा है और स्वयं ही, बिना किसी पिछले नमूने के, उस माल द्वारा नये-नये नमूने तैयार करने पड़े हैं। इन कारणों से प्रोलेटेरियन साहित्य और संस्कृति में अभी तक परिपक्वता नहीं आ पाई है। इसका एक और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि सन १७ या उसके कुछ बाद से लेकर आज तक रूस को अपनी आत्म-रक्षा के लिए कई बार सामूहिक विरोधी शक्तियों से लड़ना पड़ा है या लड़ने की तैयारियाँ करनी पड़ी हैं, जिसके फलस्वरूप अपनी नई संस्कृति के सहज विकास में एक-से-एक विकट विघ्न उसके आगे आते चले गए हैं। ऐसी हालत में केवल बचकाने ढंग का साहित्य ही वहाँ पनप सकता था, जो यद्यपि काफी स्वस्थ है और एक नये मोड़ की सूचना देता है, तथापि अभी तक परिपक्व और पुष्ट नहीं हो पाया है। उनके समुचित विकास और पुष्टि के लिए कम-से-कम पचास वर्ष की परिपूर्ण शान्ति और स्थिरता चाहिए।

इन सब बातों से यही प्रमाणित होता है कि हम पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य से किसी नये विकास की, नई शक्ति और नई स्फूर्ति दे सकने वाले किसी नये मोड़ की आशा अभी काफी समय तक के लिए नहीं कर सकते। जहाँ तक साहित्य और कला-सम्बन्धी प्रश्नों का सम्बन्ध है, मार्क्स, फ्रायड और सार्त्र तीनों की सीमाएँ हम देख चुके हैं। मार्क्स और फ्रायड ने अपने-अपने क्षेत्रों में बहुत महत्त्वपर्ण काम किया है, और दो नये—यद्यपि मूलतः भिन्न—दृष्टि-कोणों से जीवन और जगत् को समझने, परखने और उनका नया निर्माण करने की प्रेरणाएँ हमें दी हैं। पर दोनों का प्रभाव साहित्य पर जिस रूप में पड़ा है उससे किसी भी पाश्चात्य देश में ऐसे महान् उपन्यास की सृष्टि नहीं हो पाई है जो आज के विचित्र विरोधाभासों, विषमताओं और सामूहिक विकृतियों से पूर्ण युग में भी मानवीय चेतना को टेढ़े-मेढ़े रास्तों से अलग हटाकर, बीच के सहज विकास-पथ की ओर नये सिरे से नियोजित करके, जीवन के प्रति एक नई और स्वस्थ आस्था प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सके।

इसके लिए हमें प्राच्य देशों—विशेषकर भारत—की ओर मुड़ना होगा। इस देश के सम्बन्ध में साधारणतः यह धारणा लोगों में पाई जाती है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक

इसका सांस्कृतिक दृष्टिकोण बराबर निराशावादी रहा है। पर विज्ञ जनों से यह बात पहले भी छिपी नहीं थी और आज भी नहीं है कि यह धारणा भ्रमात्मक है। यह ठीक है कि इस देश की भौगोलिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ प्रारम्भ से ही ऐसी रही हैं जिनके कारण युग-युग में यह निराशा की तूफानी लहरों की बाढ़ में बहते-बहते बचा है : बड़ी-बड़ी आँधियों के बीच में उसे भटकना पड़ा है, फिर भी किसी रहस्यमयी अन्तरीण आस्था का प्रकाश उसे निरन्तर मूल जीवन के वास्तविक विकास का केन्द्र-पथ दिखाता चला गया है। महाभारत के जमाने में ऐसी ही आँधी आई थी, जब न संस्कृति के प्रवर्तकों को और न जनता को ही कोई पथ सूझ पाता था। विविध क्षेत्रों के राजनीतिक उत्थान-पतन, सामाजिक वैषम्य, नैतिक विरोधाभास और सांस्कृतिक संकट की एक दूसरे से बुरी तरह उलझी हुई जटिल परिस्थितियों के बीच में कहीं कोई कूल-किनारा नहीं दिखाई देता था, किसी एक मुनि का भी वचन प्रमाण नहीं लगता था और 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' मालूम होता था। ऐसे अवसर पर महाभारत का कवि आया। उसने एक महान् उपन्यासकार की तरह कुछ विशिष्ट चरित्रों की अवतारणा करके उनके माध्यम से अपने सारे संकटपूर्ण युग की विकट-से-विकटतर और जटिल-से-जटिलतर परिस्थितियों का विशद, यथार्थ और सूक्ष्म चित्रण पुंखानुपुंख विश्लेषण के साथ किया। इस प्रकार घनघोर निराशा के वातावरण की चरम नाटकीय स्थिति का प्रदर्शन करते हुए भी उसने अपने भीतर की सुदृढ़ आस्था के प्रकाश को एक पल के लिए भी नहीं बुझने दिया, सच्चे मानवीय धर्म की अन्तिम विजय के प्रति अपने अडिग विश्वास को एक क्षण के लिए भी नहीं ढहने दिया। भयंकर-से-भयंकर आँधियाँ घहराती चली आएँगी और विश्व को लीलने की धमकी देंगी, पर चिर-विकासशील और सर्वजयी मानवीय आत्मा के आगे उन्हें अन्त में झुकना ही पड़ेगा; विश्व-विध्वंसक शक्तियाँ प्रलय के-से उल्कापात और वज्रपात करेंगी, पर चिर-शान्ति की खोज में निरन्तर प्रयत्नशील मानवात्मा अन्ततः उन विनाशशील शक्तियों का परिपूर्ण नियन्त्रण करके ही रहेगी—यह महासन्देश महभारतकार ने विश्व को दिया।

जब-जब सामूहिक निराशा से भरे संकटपूर्ण अवसर इस देश में आये तब-तब किसी-न-किसी महाकवि का अविर्भाव हुआ और उसके मुँह से महान आस्था की वाणी हमने सुनी। जब शकों (अथवा गुप्तकाल में हूणों) का संगठित आक्रमण इस भूमि पर हुआ तब कालिदास का आविर्भाव हुआ और उस देशव्यापी घनघोर निराशा के वातावरण में जनता ने महापराक्रमी रघुवंशियों के विजय-अभियान की अपूर्व स्फूर्तिदायक गाथा सुनी। जब सोलहवीं शती के अस्त-व्यस्त वातावरण में जनता भूखों मर रही थी, निराशा और हीनता की भावना ने उसे "कहाँ जायँ का करी ?" की प्रश्नात्मक स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया था, जब जीवन की उपयोगिता और महामानव की उच्चाकांक्षाओं के सम्बन्ध में सारी आस्था जन-मन से विलीन होती चली जा रही थी, तब तुलसी के राम का अपूर्व बल सबको मिला। उसी प्रकार ब्रिटिश शासन के लौह-चाप के नीचे जब भारतीय जनता बुरी तरह कुचली जा रही थी और उसकी आत्म-लघुता की भावना चरम सीमा को पहुँच चुकी थी तब रवीन्द्रनाथ ने केवल अंतरीण आनन्द के उद्‌बोधन द्वारा ही नहीं वरन् "मा भैः" के प्रबुद्ध घोष से मानवीय आत्मा के अंतरीण गौरव का ऐसा महामन्त्र फूँका जिसने कई युगों तक के लिए जन-चेतना को एक नई स्फूर्ति का नया सम्बल प्रदान किया।

केवल कविताओं में ही नहीं, रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में भी हम उसी उद्‌बुद्ध चेतना,

मानवीय आत्म-तत्वों के चिर-विकास के प्रति उसी निश्चित आस्था का स्वर गूँजता हुआ पाते हैं। जब यूरोपीय बूढ़ुआ संस्कृति और बूढ़ुआ कला रुग्ण शय्या पर पड़ी-पड़ी कराह रही थी और सारे पाश्चात्य साहित्य के एक-एक शब्द से निराशा, अनास्था और अविश्वास की चीखें निकल रही थीं तब दलित देश की घोर दयनीय परिस्थितियों के बीच में अपमानित और निर्यातित होता हुआ भी रवीन्द्रनाथ का 'गोरा' महामानवत्व की महावाणी प्रचारित कर रहा था। रवीन्द्र-नाथ ने 'गोरा' और 'घरे-बाइरे' में (जिसकी बहुविध प्रशंसा करने पर भी गोर्की को तृप्ति नहीं हुई थी) अंतर्जीवन और बाह्य जीवन के व्यापक सत्यों के रासायनिक सम्मिश्रण और समन्वय द्वारा विश्व-उपन्यास-साहित्य को निश्चित रूप से एक नया और महत्त्वपूर्ण मोड़ दिया था।

रवीन्द्रनाथ के बाद शरत्चन्द्र की बारी आई। जहाँ तक विशुद्ध औपन्यासिक कला और औपन्यासिक रस का प्रश्न है, शरत्चन्द्र ने रवीन्द्र-युग से प्रगति ही की, पर जब सर्वांगीण परिपूर्णता और व्यापकता का प्रश्न उठता है तब शरत्चन्द्र रवीन्द्रनाथ के आगे कहीं ठंहर नहीं पाते। शरत्चन्द्र महज जीवन-रस के रसिक थे, जो उन्हें तत्कालीन बंग-समाज के पारिवारिक और सीमित सामाजिक दायरे के भीतर ही प्राप्त हो सकता था। उन्होंने उस पारिवारिक तथा सामाजिक सृष्टि द्वारा अपने युग के समाज में एक प्रगतिशील चेतना की लहर अवश्य दौड़ाई, पर उनकी प्रतिभा एक विशेष समाज के युग-सत्य तक ही सीमित होकर रह गई, उस विशेष युग और विशेष समाज के माध्यम से युगातीत और समाजातीत व्यापक सत्य की ओर वह उन्मुख न हो सकी। शरत् के 'देवदास' या 'श्रीकान्त' एक विशेष युग के विशेष समाज की उपज हैं, और उस विशेष युग और विशेष समाज की समाप्ति के बाद उनका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। पर रवीन्द्रनाथ का 'गोरा' किसी एक विशेष युग और विशेष समाज की उपज नहीं है। उसका रक्त सोलहों आना आयरिश है और उसका पालन-पोषण पैदा होने के बाद से ही एक कट्टर भारतीय परिवार के बीच में होता है। वह छात्र-जीवन के कुछ बाद तक अपने को परिपूर्ण भारतीय समझता है, देश के धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में पूरा भाग लेता है और जेल जाता है। इन सब संघर्षों के बाद अंत में जब उसे किसी विशेष घटना के फलस्वरूप अकस्मात् यह पता चलता है कि वह भारतीय नहीं आयरिश है, तब उसके आगे बृहत्तर मानवीय सत्य उद्घाटित होने लगते हैं। इसलिए 'गोरा' किसी एक विशेष देश, जाति, समाज या युग के संकीर्ण दायरों के भीतर सीमित नहीं है। वह युग-युग की विषमताओं और विरोधाभासों के बीच में महासत्य की चेतना को निरन्तर आगे बढ़ाती रहने वाली चिर-प्रगतिशील मानवात्मा की चिर-विद्रोही शक्ति का प्रतीक है।

फिर भी शरत् के युग-सत्य के भीतर युगातीत सत्य के बीजों का एकदम अभाव था, ऐसा मैं नहीं मानता। उनके 'शेष प्रश्न' में हम वह बीज पाते हैं।

शरत्चन्द्र के बाद विश्व-उपन्यास-धारा की एक महत्त्वपूर्ण शाखा हिन्दी-जगत् की पुरानी और अपेक्षाकृत ऊसर भूमि को काटती हुई आई और एक काफी बड़े क्षेत्र को सींचने लगी। प्रेमचन्द उसी अपेक्षाकृत नई सिंचाई की उपज थे। प्रेमचन्द ने शरत्चन्द्र के पारिवारिक दायरे से हिन्दी-उपन्यास को मुक्त अवश्य किया और उसकी सामाजिक परिधि को भी काफी बढ़ाया, पर उनके उपन्यासों में न शरत्चन्द्र की कलात्मकता थी न रस-परिपाक; न शैली की वह स्वाभाविकता

थी, न रूप-गठन का वह चमत्कार। फिर भी गाँवों के सरल जीवन के सहज चित्रण में उनकी विशेष कुशलता किसी भी हालत में उपेक्षणीय नहीं है और उसी ग्राम्य-जीवन की सहज अनुभूति से उत्पन्न नैतिकता के स्वाभाविक उभार से उन्होंने भारतीय बूर्जुआ समाज की कृत्रिम नैतिकता को जो धक्का दिया, वह भी एक बड़ा प्रगतिशील कदम था। पर इन सब विशेषताओं के बावजूद वह भी युग-सत्य से ऊपर न उठ पाए—उठते-उठते रह गए।

प्रेमचन्द के बाद के हिन्दी-उपन्यास के सम्बन्ध में कोई राय देना अभी खतरे से खाली नहीं है—विशेषकर मेरे लिए, जब कि मैं स्वयं प्रेमचन्दोत्तरयुगीन उपन्यासकार हूँ। यह आज के युग की एक विचित्र और ध्यान देने योग्य विशेषता है कि प्रेमचन्द के बाद वाले औपन्यासिक युग को आरम्भ हुए आज प्रायः सत्ताईस साल हो चुके, पर अभी तक उसका ठीक-ठीक क्या साधारण लेखा-जोखा भी हमारे आलोचकगण नहीं कर पाए। केवल कुछ घिसी-घिसाई, पिटी-पिटाई और बहु-भाषित उक्तियाँ बीच-बीच में किसी-न-किसी आलोचक द्वारा उनके सम्बन्ध में दुहरा दी जाती हैं। इस विशेष युग के उपन्यास-साहित्य को जो अभी तक यथार्थ परिप्रेक्षण में नहीं रखा जा सका है उसके कई कारण हैं। पुराने आलोचक उसके गम्भीर महत्त्व को समझने में निपट असमर्थ थे। उसकी जमीन ही उनके लिए एकदम नई थी। इतिवृत्तात्मक उपन्यास की परम्परा में पले हुए अपने बचकाने ढंग के आलोचनात्मक मानों द्वारा वे उस नई प्रवृत्ति की गहराई की माप-जोख कर ही नहीं सकते थे। अधिक-से-अधिक वे उसे "पाश्चात्य धारा से प्रभावित गंदा और अश्लील साहित्य" कहकर आत्म-संतोष कर लेते थे। उनके बाद जो नये आलोचक आये वे प्रेमचन्दोत्तर युग के उस उपन्यास-साहित्य की एकदम नई विशेषताओं का अध्ययन समाप्त भी न कर पाए थे कि द्वितीय महायुद्ध की परिस्थितियों ने उनका ध्यान पाश्चात्य साहित्य के कुछ नये-नये, छिटपुट (किन्तु स्थायी महत्त्व से एकदम रहित) प्रयोगों की ओर आकर्षित कर दिया। प्रेमचन्दोत्तर युग के हिन्दी उपन्यास गहरी और ठोस जमीन पर खड़े होने के साथ ही जीवन की ऐसी जटिलता को अपने भीतर समाहित किये हुए थे और उस जटिलता के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा जीवन के महाकव्यों के उद्घाटन के ऐसे महत्त्वपूर्ण महाप्रयास में संलग्न थे कि तनिक भी बहाना मिलने पर उनसे कतराकर निकल जाने में ही नये आलोचकों ने अपना त्राण देखा। क्योंकि उन उपन्यासों का मूल्यांकन और विवेचन घोर परिश्रम-साध्य था और उसके लिए आलोचना के प्राचीन सिद्धान्तों से लेकर नवीनतम मानों के गहरे अध्ययन की आवश्यकता के अतिरिक्त युग-युग के जीवन और साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि के गहन ज्ञान, वर्तमान युग के जटिल जीवन के समुचित विश्लेषण और भावी युग के जीवन के सम्यक् अनुमान की अपेक्षा थी। इसलिए स्वभावतः उससे कतराकर निकल जाने, उसे उपेक्षित ही छोड़ देने और युग-फैशन द्वारा विकसित नये-नये, सहज-साध्य, छिटपुट प्रयोगों के पर्यवेक्षण की ओर झुकने में ही उनका कल्याण था।

पर वह उनकी बड़ी भारी भूल थी। उक्त विशेष युग के उपन्यास-साहित्य को 'बाइपास' करके निकल जाने का प्रयत्न अन्ततः टेढ़ी खीर सिद्ध होकर रहेगी। सन् '५४ में मैं यह भविष्यवाणी कर रहा हूँ जो सन् '६४ में स्वतः सिद्ध हो जायगी। अभी कुछ समय के लिए उसकी उपेक्षा आसानी से की जा सकती है, क्योंकि अभी युग का ध्यान कई विभिन्न दिशाओं

की ओर केन्द्रित है। पर जल्दी ही वह समय आएगा जब युद्धकालीन या युद्धोत्तर अंग्रेजी, अमरीकी, इटालियन या फ्रांसीसी साहित्य के वैयक्तिक जीवन-सम्बन्धी छिटपुट प्रयोगों की लच्छेदार कला की सीमा तक पहुँच जाने पर हमारे नये आलोचकों के लिए आगे का रास्ता एकदम चट्टानी दीवार से रुद्ध हो जायगा। और तब उन्हें नई दिशा खोजने के लिए फिर लौट-कर हिन्दी के उसी उपन्यास-साहित्य की ओर आना होगा जिसे वे युग के झूठे चक्रों और फ़ैशनों की ओट में सहज उपेक्षणीय मानते थे। खतरे का पूरा अनुभव करते हुए भी मैं इतना कह देना चाहता हूँ कि प्रेमचन्दोत्तर-कालीन हिन्दी-उपन्यास विश्व-उपन्यास-साहित्य के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण और युग-विवर्तक नये मोड़ की सूचना है।

इतना कह चुकने के बाद मैं उस प्रश्न पर विचार करने की स्थिति में आता हूँ जिसकी ओर मैंने प्रारम्भ ही में संकेत किया था—अर्थात् विश्व-उपन्यास के भविष्य का सम्भावित रूप क्या होगा। चूँकि जितना कहा जा चुका है उसके भीतर भावी महत्त्वपूर्ण उपन्यास के सम्बन्ध में आनुमानिक संकेत काफी दिये जा चुके हैं, इसलिए अब उस प्रश्न का उत्तर बहुत कम शब्दों में आसानी से दिया जा सकता है।

मेरी यह निश्चित धारणा है कि भविष्य में जिस महा-उपन्यास का—आधुनिक उपन्यासों की परम्परा का अन्त करने वाले उपन्यास का—आविर्भाव होगा उसमें प्रायः उन सब गुणों का समन्वय रहेगा जो विशेष-विशेष समय के युग-विवर्तक उपन्यासों में वर्तमान रहे हैं। और, उन विशेषताओं के अतिरिक्त, उसमें पिछले युगों के सभी महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की अन्तर्भाव-धाराएँ रासायनिक रूप में समन्वित और विलयित होकर उन सबसे भिन्न एक नई ही भावधारा का उद्भावन करेंगी और आज तक की परम्परा से भिन्न एक नये ही रस का स्रोत बहायेंगी।

अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं फिर कह दूँ कि भविष्य का वह महा-उपन्यास नवीन शैली-निर्माण और नये रूप-गठन की दृष्टि से सुन्दरतम होगा। स्त्री-पुरुष के प्रेम की वैयक्तिक अनुभूति को उसमें किसी भी रूप में तनिक भी महत्त्व नहीं दिया जायगा। न उस तरह के प्रेम की तथाकथित 'स्वर्गिक चेतना' की महत्ता उसमें परिस्फुटित होगी, न मनोवैज्ञानिक विधि से उसकी विकृतियों का ही विश्लेषण रहेगा। प्रेम-सम्बन्धी चेतना की जो मूल प्राकृतिक धारा सभी पारिवारिक, सामाजिक तथा व्यापक मानवीय सम्बन्धों में सूक्ष्म अन्तर्धारा के रूप में वर्तमान पाई जाती है, अन्तर और बाह्य प्रकृति के मूल तत्वों से जिसका युग-युग से सहज सम्बन्ध रहा है, जो आज की विविध विषमताओं और विरोधाभासों से पूर्ण युग में ऊपर से एकदम विच्छिन्न और विकृत रूपों के पर्दों की ओट में छिपी होने के कारण अस्तित्वहीन-सी लगती है, उसीका परिस्फुटन उसमें जीवन-रस से घुली-मिली एक नई ही शैली द्वारा किया जायगा। बूर्ज़ुआ संस्कृति की विरासत में प्राप्त जो एकांत अहंगत चेतना आज के बौद्धिक मनुष्य को विश्व-मानवत्व से छिन्न करके उसे विनाश के महागह्वर में ढकेलने के लिए तत्पर है, उसका विश्व-मानवत्व से पुनस्संयोजन कैसे हो सकता है, इसका सुझाव उस नये उपन्यास के स्वाभाविक जीवन-चित्रण के भीतर निहित रहेगा। बूर्ज़ुआ समाज की युगों की साधना द्वारा प्राप्त संस्कृति के उन्नततम रूप का सहज रासायनिक सम्बन्ध या विलयन नव-विकसित प्रोलेटेरियन संस्कृति के साथ

किस सहज और मंगलमय रूप में हो सकता है उसका आभास भी उस नये उपन्यास में किसी-न-किसी रूप में रहेगा, ऐसा अनुमान मैं लगाता हूँ। आज संसार के विभिन्न वर्गों, विभिन्न राष्ट्रों और विभिन्न सांस्कृतिक समूहों के बीच जो परस्पर-विध्वंसक संघर्ष चल रहा है उसकी अनिवार्य समाप्ति किन प्राकृतिक नियमों के अनुसार होकर रहेगी, उसका भी संकेत उस उपन्यास में चित्रित जीवन-धारा के सहज स्वरूप के भीतर से प्राप्त होगा। संक्षेप में वह महा-उपन्यास कुण्ठा, निराशा, घृणा और उबकाई से बहुत दूर, जीवन के आदिकाल से लेकर आज तक के सहज-स्वस्थ, बाह्य और अन्तरीण विकास-पथ पर स्थित रहेगा और आज के युग के समस्त द्वन्द्वों और प्रतिद्वन्द्वों से परे, प्रकृति की मूल धारा से सम्बद्ध, जीवन के आनन्द की अनुभूति से जुड़ी हुई महान् आस्था की वाणी को अपूर्व कला के माध्यम से उसी तरह प्रसारित करेगा जिस प्रकार वसंत में खिलने वाले फूल सारी प्रकृति में, सहज रूप से, चारों ओर के वातावरण में परिमल बिखेरते हैं।

अन्त में एक संकेत और कर दूँ कि जिस आनुमानिक उपन्यास का उल्लेख मैंने किया है उसका चरित-नायक, नायिका या पात्र-पात्रियाँ किसी विशेष देश या विशेष समाज की विशिष्टता से सम्बन्धित न होकर रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' की तरह विश्व-मानवत्व के प्रतीक होंगे।

और इस प्रकार के उपन्यास के लिए उपयुक्त ज़मीन आज हमारे देश में तैयार है, क्योंकि इस प्रकार की विश्वजनीन अनुभूति की परम्परागत सांस्कृतिक प्रेरणा केवल इसी देश को प्राप्त है, और युग की विषमता और विरोधाभास के भारे प्रतीक भी आज इसी देश में सिमटते चले आ रहे हैं। इसलिए जो यह स्वर्णिम अवसर हम लोगों—भारतीय उपन्यासकारों—को प्राप्त हुआ है उसे यदि हम अपनी लापरवाही से गवाँ दें तो वह बड़ी भारी ऐतिहासिक चूक होगी।

❀

प्रभाकर माचवे

मराठी रस-मीमांसा : नई दिशाएँ

मराठी भाषा में साहित्यालोचन पर विपुल, विविध और विशाल साहित्य है। 'वाङ्मयीन टीका', जैसे कि मराठी में साहित्य-समीक्षा को कहते हैं, 'निबन्धमाला'-कार विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के जमाने से और उससे पहले से चली आ रही है। सबसे नवीनतम ऊहापोह अमरावती के विद्वान् प्राध्यापक गणेश त्र्यंबक देशपाण्डे द्वारा मुंबई मराठी साहित्य संघ की ओर से इस वर्ष 'वामन मल्हार व्याख्यानमाला' में 'आपलें साहित्य-शास्त्र' (हमारा साहित्य-शास्त्र) विषय पर किया गया। इस विशाल साहित्य का सम्पूर्ण ऐतिहासिक संपरीक्षण एक छोटे-से लेख में सम्भव नहीं है। फिर भी हिन्दी पाठकों की जानकारी के हेतु जो भी मैं संकलित कर पाया हूँ, प्रस्तुत है। लेखक सम्पूर्ण जानकारी देने का दावा नहीं करता। प्रस्तुत लेख में पहले कुछ इतिहास देकर ग० त्र्यं० देशपाण्डे का विवेचन अन्त में विस्तार से दिया गया है।

विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के 'वाङ्मय-विषयक निबन्ध' ग्रन्थ में मुझे निम्न अवतरण मिला जिससे स्पष्ट होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भी मराठी साहित्य-समीक्षकों की दृष्टि कितनी मर्मग्राहिणी थी। 'विद्वत्व और कवित्व' नामक निबन्ध में विष्णुशास्त्री कहते हैं—
"बाह्य प्रकृति का वर्णन जब करना हो तो किसी प्रदेश को घड़ी-भर स्वयम् अपनी आँखों से देखकर जो उसके सम्बन्ध में कल्पना जागरित होगी, वह वैसी ही नक्शों से या वर्णनों से बहुत दिनों तक अध्ययन करने पर भी नहीं होगी। वही बात अंतःसृष्टि की भी है। अमुक रस के विषय में साक्षात् अनुभव से जो स्वरूप-धारणा होगी वह निरे सूखे वर्णन के बराबर पठन से भी यदि हो भी सके तो बहुत अस्पष्ट होगी। सारांश, कवित्व के लिए अथवा रसिकता के लिए भी विद्वत्ता बिलकुल कारण नहीं है। उलटे वे दोनों स्वभावतः विरुद्ध हैं ऐसा ही कहना चाहिए।"[1] यह विवेचन मराठी में सन् १८६६ में किया गया है। चिपलूणकर ने बताया था कि विद्वत्व और कवित्व का कोई निश्चित कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं है : कालिदास, जगन्नाथराज, मिल्टन, 'बैरन्' (बाईरन को उन्होंने ऐसे ही लिखा है) बड़े पण्डित और उत्तम कवि थे; जब कि शेक्सपीयर, बर्न्स या तुकाराम एकदम जुलाहे कबिरे की तरह निरक्षर नहीं तो कम-से-कम अनपढ़ तो थे ही। कुछ उदाहरणों में विद्वत्व की अधिकता ने कवित्व को कम ही किया है यथा सिसेरो या जानसन में।

वैसे तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र का परिचय करा देने वाले ग्रन्थ मराठी में कम नहीं हुए। १८६८ ईस्वी में दाजी शिवाजी प्रधान ने भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के आधार पर 'रसमाधव' लिखा था। इन परिचय-अनुवाद-ग्रन्थों की परम्परा में साहित्य के किसी अंगविशेष का ही विवेचन अधिक है। जैसे किसी ने अलंकारों का ही अधिक विवेचन किया है तो किसी ने

---

१. पृष्ठ १७८।

काव्यशास्त्र का इतिहास-मात्र लिखा। कालानुक्रम से सब ग्रन्थों की सूची देना तो असम्भव-प्राय है फिर भी कुछ प्रमुख ग्रन्थों का परिचय मैं देना चाहता हूँ जो १६३० से पहले लिखे गए और जो उसके बाद लिखे गए।

१६१५ में पूना से 'काव्य-चर्चा' नामक एक लेख-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें विभिन्न कवियों के रसग्रहण और काव्य-सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विभिन्न विद्वानों के लेख थे। हिन्दी में नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'साहित्य-सुषमा' का पाठकों को स्मरण होगा जिसमें निरालाजी का 'भारतीय काव्य-दृष्टि' नामक अनुपम निबन्ध है। कुछ इसी प्रकार का यह संग्रह था। यद्यपि शैली बहुत-कुछ रूढ़िवादी और परम्परीण है फिर भी विचारों के लिए बहुत सा खाद्य इस ग्रंथ में है। १६१६ में श्री ना० बनहट्टी का 'मयूर काव्य-विवेचन', १६१६ में वासुदेव गोविन्द आपटे का 'सौंदर्य आणि ललितकला', १६२१ में हरिनारायण आपटे का 'विदग्ध वाङ्मय' ऐसे ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ थे जिनमें सौंदर्य-समीक्षा और रस-ग्रहण के विभिन्न सिद्धान्तों को सामने रखा गया था। इन विवेचनों के साथ-ही-साथ पां० वा० काणे का 'संस्कृत साहित्य-शास्त्राचा इतिहास' प्रकाशित हुआ। और उसी कालखंड में निर्णयसागर, मुंबई से संस्कृत के मूल काव्य-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों के सटीक प्रामाणिक संस्करण भी प्रकाशित हो रहे थे, यथा १६१६ में मुकुट की 'अभिधावृत्तिमातृका' और १६२८ में रुद्रट का 'काव्यालंकार' और आनन्द-वर्धन का 'ध्वन्यालोक'। ध्यान रहे कि अंग्रेजी में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ भी इसी समय के हैं : यथा डाक्टर जे० नोबेल का 'फोउंडेशन्स ऑफ़ इण्डियन पोएट्री' (१६२५), डाक्टर एस० के० दे का 'संस्कृत पोएटिक्स' (१६२५) और ए० शंकरन का 'सम आस्पेक्टस ऑफ़ लिटररी क्रिटिसिज़्म इन संस्कृत आन दि थियरी ऑफ़ रस एण्ड ध्वनि' (१६२८)।

१६२८ ईस्वी में मराठी के विख्यात ज्ञानकोशकार डॉक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने 'महाराष्ट्रियांचे काव्य परीक्षण' नामक एक बहुमूल्य ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने कई मौलिक स्थापनाएँ कीं, यथा "मराठी काव्य-परीक्षण का इतिहास मराठी काव्य के साथ निर्मित हुआ, संस्कृत साहित्यकारों ने मराठी की उपेक्षा की। साहित्य-शास्त्रियों ने प्राकृत साहित्य की ओर ध्यान नहीं दिया इसलिए इस शास्त्र का विकास रुक गया। साहित्य-शास्त्र के नियम केवल मार्गदर्शक हैं। काव्य-परीक्षण का इतिहास लोकाभिरुचि के इतिहास का अंग है। जनता काव्य का अन्तिम न्यायासन है। महाराष्ट्रीय वाङ्मय लोकाश्रय से बढ़ा, अतः मराठी कविता में दरबारी कविता के दुर्गुण नहीं आये। क्या उत्तम लेखक लोकाभिरुचि की बिलकुल परवाह न करके चल सकता है?" इन सब समस्याओं से शुरू करके बुद्धिवादी, संतुलित दृष्टि से समाज-विज्ञान और इतिहास के गहरे अध्ययन से डॉ० केतकर ने नौवीं शती से ज्ञानेश्वर तक और बाद में संतकवि, रामदास, शिवकालीन साहित्यकार, अनुवादक, महिपति, मोरोपंत आदि के काव्य में कविता और कविकर्म-विषयक जो-जो उद्धरण आये हैं उनके सहारे अपनी ११३ पृष्ठों की इस छोटी-सी पुस्तक में मूलग्राही समीक्षा की। चिपलूणकर के बाद इस ग्रन्थ को मराठी रस-मीमांसा में नई दिशाएँ बताने वाला एक महत्त्वपूर्ण भू-चिह्न (लैंडमार्क) मानना चाहिए।

डॉक्टर केतकर ने अपने ग्रन्थ में पृष्ठ २ पर कहा—"साहित्यशास्त्र हें वाढतें शास्त्र आहे। नवें वाङ्मय उत्पन्न होतें तसतशी त्यावर लोकांची आवडनिवड व्यक्त होते। आणि ती आवड-

निवड नियम उत्पन्न करून शास्त्र वृद्धिंगव करतें।" (अर्थात् साहित्य-शास्त्र बढ़ता हुआ शास्त्र है। नया साहित्य निर्मित होता है त्यों-त्यों उसके बारे में जनता की अभिरुचि व्यक्त होती है और वह अभिरुचि अपने नये नियम बनाती है और इस तरह से शास्त्र आगे बढ़ता जाता है।) डॉक्टर केतकर के इस निबन्ध में काव्य-परीक्षण की शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि भी उन्होंने अपनी भूमिका में इस प्रकार से दी है : "मराठी कवियों का अध्ययन करते समय तत्कालीन संस्कृत-साहित्य भी इसमें देखना चाहिए। महाराष्ट्र में जो पंथ प्रचार कर रहे थे, उन पंथों का महाराष्ट्रीय वाङ्मय और अन्य भाषाओं के साहित्य का एक साथ अध्ययन करके पंथेतिहास-विषयक ग्रन्थ लिखे जाने चाहिएँ। नाथपंथ, रामानन्द पंथ और महानुभाव पंथ का भी इतिहास लिखा जाना चाहिए। मराठी में जितनी जीवनियाँ हैं उन्हें कोशरूप में एकत्रित करके उनकी तुलना करनी चाहिए। लोकप्रिय कवियों की रचनाओं के पाठ-भेद और क्षेपकों का अध्ययन होना चाहिए। जिन संस्कृत कवियों के अनुवाद किये जाते हैं उन्होंने किन मूल प्रतियों को सामने रखा था, यह जानना चाहिए। अनपढ़ जनता या ग्रामीणों का साहित्य धीरे-धीरे शिष्ट वर्ग का (भद्रजन का) साहित्य बनता जाता है और ग्रंथों के संस्करणों में भी भेद होते जाते हैं, इसे भी ध्यान में रखा जाय।" डॉ० केतकर की यह पुस्तक हिन्दी में अनूदित हो जानी चाहिए।

अब सन् '३० से '४० तक के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दूँ। १९३० में प्रा० रा० श्री० जोग का 'अभिनव काव्यप्रकाश' प्रकाशित हुआ। इसमें 'करुण रस से आनन्द क्यों ?' आदि विवेचन बहुत विद्वत्तापूर्ण पद्धति से किया गया था। अपने नये ग्रन्थ 'सौन्दर्य शोध आणि आनन्द-बोध' में जोग ने रस-मीमांसा का और भी अच्छा विवेचन किया है। पहले संस्कृत साहित्यशास्त्र को उन्होंने आधार माना था, अब अंग्रेजी और पाश्चात्य समीक्षा को भी तुलना में उन्होंने सामने रखा है। जोग के ग्रन्थ 'सौन्दर्य शोध आणि आनन्द बोध' का भी हिन्दी अनुवाद होना चाहिए। १९३१ में पूना से बालूताई खरे (अब मालती दांडेकर और 'विभावरी शिरूरकर' के उपनाम से विख्यात) ने 'अलंकार-मंजूषा' नामक अलंकार-शास्त्र पर अपना प्रबन्ध प्रकाशित किया जिस पर उन्हें कर्वे की वीमेन्स युनिवर्सिटी से अन्तिम पदवी मिली। इसी तरह का खोजपूर्ण ग्रन्थ दूसरी एक लेखिका गोदावरी केतकर का 'भारतीय नाट्यशास्त्र' है। १९३१ में प्रा० द० के० केलकर के ग्रंथ 'काव्यालोचन' में काव्य की रसोद्बोधनप्रक्रिया की कुछ मूलभूत बातों पर विमर्श है। १९३० और ३१ में निर्णयसागर, मुंबई से संस्कृत 'रसगंगाधर' और 'साहित्यदर्पण' सटीक संस्करण निकले।

१९३४ में य० र० अगाशे ने अपनी 'सारस्वत-समीक्षा' में फिर रस-विषयक प्रश्नों को उठाया और साहित्य तथा इतिहास के सम्बन्धों को स्थिर करने की चेष्टा की। १९३५ में प्रकाशित गुणवन्त हनुमन्त देशपाण्डे के 'निवेदन' और १९३७ में प्रकाशित ह० ना० नेने के 'लक्षण रत्नाकर' का उल्लेख भी यहाँ किया जा सकता है। इसी कालखण्ड में मध्यभारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन, उज्जयिनी के अध्यक्ष-पद से साहित्य-सम्राट् नरसिंह चिन्तामण केलकर ने 'सविकल्प समाधि' वाला अपना साहित्यानन्द-विषयक नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया और 'रत्नाकर' पत्रिका में साहित्य में अश्लीलता की मर्यादा को लेकर बड़ा वादविवाद हुआ (हिन्दी 'जीवन साहित्य' के पाठकों को ऐसा ही सन् ४०-४१ में हुआ विवाद याद होगा)। भास्कर

रामचन्द्र तांबे नामक कविवर्य ने अपने 'कला और नीति' भाषण में सौन्दर्य सदा शिव होता है और उच्च कला सदा नैतिक होती है ऐसा दावा रखा; जिस पर बहुत सा वादविवाद मचा। प्रा० ग० वा० कवीश्वर ने 'नीति आणि कलोपासना' पुस्तक लिखी और कला को नीति की चेरी बनाने पर आग्रह किया। इसके बाद महाराष्ट्र में 'कला आणि जीवन' वाद प्रो० ना० सी० फडके और वि० स० खांडेकर में कई वर्षों तक चला। फडके 'कला के लिए कला' के समर्थक थे और खांडेकर 'कला जीवन के लिए' के। बाद में 'पुरोगामी साहित्य' (प्रगतिशील साहित्य) पर आचार्य जावडेकर और प्रो० फडके के बीच में बहुत विख्यात वादविवाद हुआ जो पुस्तक-रूप से प्रकाशित हुआ। इसी समय भाई (कामरेड) लालजी पेंडसे का 'साहित्य आणि समाज जीवन' नाम से ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमें समाजवादी दृष्टिकोण से मराठी साहित्य का इतिहास था। इसका पु० य० देशपाण्डे ने 'प्रतिभा' में प्रकाशित लेखमाला में सविस्तर उत्तर दिया। 'लेनिन और कला' आदि उनके निबन्ध 'नवी मूल्यें' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हैं। एक ओर ललित लेखकों के बीच में ऐसी चर्चाएँ चल रही थीं तब दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। एक तो प्रो० के० ना० वाटवे का 'रसविमर्श'। यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ रस-संख्यानिश्चिति और आस्वाद्यमानता के निकष के विषय में कुछ नये सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। परन्तु प्रो० रा० श्री० जोग की भाँति इसमें भी पाश्चात्य मानसशास्त्र के साथ अपने रसशास्त्र को मिलाने, उनके तुलनात्मक अध्ययन से आधुनिक कुछ प्रवृत्तियों के प्राचीन निकटपर्याय खोजने का प्रयास अधिक है। 'करुण रस से आनन्द' के विषय में और आस्वाद्यमानता के विषय में डॉ० माधव त्र्यंबक पटवर्धन के 'लोकशिक्षण' में प्रकाशित निबन्ध भी मौलिक विवेचना प्रस्तुत करते थे। इन सबसे भिन्न और साहित्य में 'क्लासिसिज़्म' का प्रतिपादन करने वाला, इतालवी समालोचक उजेत्ती से प्रभावित बाल सीताराम मर्ढेकर का 'वाङ्मयीन महारसता' है। जहाँ काका कालेलकर आदि 'कला', 'शैली की पवित्रता' आदि विषयों पर ताल्स्ताय-रवीन्द्रनाथ से प्रभावित सौंदर्यवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे थे, मर्ढेकर ने सौंदर्य और उदात्त के बीच के अन्तर को स्पष्ट किया। लांगिनस के 'आन द सब्लाइम' की याद इससे आती है। परन्तु मर्ढेकर का विवेचन अध्यात्मवादी नहीं है।

सन् १९४० में डॉ० मा० गो० देशमुख ने 'मराठीचे साहित्यशास्त्र' प्रबन्ध लिखकर प्राचीन कवियों के रसविषयक मत एकत्र किए। कई साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्षपदों से नये-नये वाद उपस्थित किए जाने लगे। पु० य० देश पाण्डे ने साहित्य में 'चतुर्गुणात्मक साकल्य' की बात प्रस्तुत की। अनन्त काणेकर ने 'समग्र सत्य' की समस्या उठाई। महान् साहित्य में सत्य-दर्शन कभी एकांगी नहीं हो सकता, ऐसा उनका दावा था। इधर हाल में दि० के० बेडेकर के रसविषयक निबन्धों को लेकर बहुत वादविवाद हुआ। प्रा० द० के० केलकर ने उन्हें उत्तर दिया[1]। और प्रा० सु० शि० बारलिंगे ने एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया[2] कि रसशास्त्र पर बौद्धदर्शन का प्रभाव कैसी सूक्ष्मता से पड़ता चला गया। विज्ञानवाद के प्रभाव के कारण जो साहित्यशास्त्र पहले भरतादि तक 'आस्वाद्य' को रस का पर्याय मानता था वह बाद में 'आस्वाद' को ब्रह्मानन्द सहोदर मानने लगा। नांदेड (हैदराबाद) के पीपल्स कालेज के प्राचार्य बारलिंगे जी

१. नवभारत, जून १९५१।
२. नवभारत, मई १९५२।

का यह संशोधन बहुत महत्त्वपूर्ण था। उनके अनुसार विज्ञानवाद के प्रभाव में आकर 'कल्पना' शब्द का अर्थ-संकोच होता गया। पहले 'कल्पना' रचना-मात्र का पर्यायवाची था, बाद में वह केवल मानसिक निर्मिति बन गया। १६५२ के अन्त में इंदौर की साहित्य परिषद् के अध्यक्षपद से तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी ने रूसो, क्रोचे, गेटे का हवाला देते हुए साहित्य में सफल रसनिर्मिति के लिए 'संश्लिष्ट अनुभूति' (इन्टिग्रेटेड एक्सपीरियंस) को प्रधान कसौटी माना। उनका विवेचन बहुत अध्ययनपूर्ण था।

जहाँ प्राचीन रसव्यवस्था में शान्त को रस न मानने की या वात्सल्य को जोड़ने की बात डॉ० वाटवे ने उठाई थी, आत्माराम रावजी देशपाण्डे 'अनिल' ने अपने संस्कृत-प्रबन्ध 'प्रक्षोभ रसस्थापनम्' में एक नये रस 'प्रक्षोभ' की सत्ता प्रतिपादित की। 'आलोचना' अंक ७ में उसकी चर्चा है। नागपुर के० डा० मा० गो० देशमुख ने विदर्भ साहित्य-संघ के अध्यक्ष पद से एक प्रस्ताव 'रस' के बदले 'भावगन्ध' शब्द प्रचलित करने के विषय में रखा। इन सब चर्चाओं में अत्यन्त सन्तुलित और विद्वत्तापूर्ण विचार ग० त्र्यं० देशपाण्डे की भाषणमाला में हुआ है जिसका सारांश 'सत्यकथा' के संपादकीय के आधार पर हम यहाँ देते हैं।

उनके व्याख्यान के अनुसार 'हमारा साहित्यशास्त्र' एकसंघ, एकप्राण है। यह कहना कि यह संस्कृत साहित्यशास्त्र है और यह प्राकृत साहित्यशास्त्र है, यह हिन्दी या मराठी या बंगाली साहित्यशास्त्र है, गलत है। हमारा साहित्यशास्त्र संस्कृत साहित्यशास्त्र है। आज के मराठी समीक्षा-क्षेत्र में तीन मत इसके सम्बन्ध में हैं—१. कुछ लोगों के अनुसार प्राचीन रसशास्त्र पुराना हो चुका है। आधुनिक साहित्य के मूल्यमापन के लिए वह नाकाफी है। इसलिए इस पुराने रद्दी माल को एक तरफ रख देना चाहिए। उसके प्रति ममत्व कोरी भावुकता है। २. इससे उलटे संस्कृत साहित्य के अभिमानी कहते हैं कि प्राचीन रसशास्त्र बेकार और गतार्थ नहीं हुआ है। उसमें आवश्यक संस्करण करने से नये साहित्य का मूल्यमापन भी उसी के आधार पर किया जा सकता है। इस प्रकार से प्राचीन रसशास्त्र को आधुनिक मनोविज्ञान से जोड़ने, पूरा करने या उसकी मरम्मत करने में ये लोग लगे हैं। ३. तीसरा दल उन लोगों का है जो न तो प्राचीन रसशास्त्र को सुधारना या आधुनिक बनाना चाहते हैं न उसे नष्ट करना; पर मानते हैं कि पुरातन सांस्कृतिक धन की भाँति उसका रक्षण-मात्र किया जाय।

ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने कहा कि पहले तो संस्कृत साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद देशभाषाओं में उपलब्ध करना चाहिए। उसी के द्वारा प्राचीन के प्रति हमारा अति-भावुकतारंजित, अथवा विरोधी पूर्वग्रहदूषित दृष्टिकोण सुधर सकेगा। भरत के 'नाट्यशास्त्र' से लगाकर 'रसगंगाधर' तक सब प्रमुख और महत्त्व के साहित्य-ग्रन्थों का मराठी में योजनापूर्वक अनुवाद होना चाहिए।

प्रो० ग० त्र्यं० देशपाण्डे ने अपने 'साहित्यशास्त्र' में भरतमुनि से लेकर जगन्नाथ पंडित तक के काव्य-शास्त्र के विकास पर तथा साहित्यशास्त्र की कवि तथा रसिक-सम्बन्धी धारणाओं पर प्रकाश डाला है। चार या पाँच व्याख्यानों में पिछले डेढ़ हजार वर्षों के लम्बे समय में फैले इस साहित्यशास्त्र की विस्तृत रूप से समीक्षा करना या इस काल में उपस्थित समस्त साहित्यशास्त्रीय प्रश्नों की विवेचना करना उनके लिए सम्भव नहीं था। इसके लिए उनकी पुस्तक की प्रतीक्षा करना आवश्यक है। प्रो० देशपाण्डे के व्याख्यानों की विशेषता यह भी है कि उन्होंने

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का समर्थन या खण्डन करने का रुख नहीं अपनाया था। इस शास्त्र का वास्तविक दिग्दर्शन करने का ही उनका प्रयत्न था। साहित्यशास्त्र की मूल पुस्तकों की उनकी जानकारी अच्छी थी; इतना ही नहीं बल्कि साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। संस्कृत-प्राकृत वाङ्मय तथा साहित्यशास्त्र के तत्कालीन सम्बन्धों और इसी प्रकार न्याय, व्याकरण, मीमांसा आदि शास्त्रों तथा संस्कृत शास्त्र के तत्कालीन सम्बन्धों का भी उनको पूरा ज्ञान था। इसीलिए उन्होंने अपनी स्थूल समीक्षा में भी ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें बतलाईं जो संस्कृत-साहित्य-शस्त्र की प्रचलित धारणाओं से भिन्न थीं। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का दण्डी के बाद का (सातवीं सदी से) इतिहास अटूट है और उसे समझना आसान है। किन्तु भरतमुनि के नाट्य शास्त्र से लेकर भामह-दण्डी के समय तक का इतिहास ठीक से समझ में नहीं आता। प्रो० देशपाण्डे ने नाट्यशास्त्र से काव्यशास्त्र के विकास की गति पर प्रकाश डालने की कोशिश करते हुए भामह को भरतमुनि का उत्तराधिकारी बताया है। भामह के समय में साहित्यशास्त्र का नाम अलंकारशास्त्र था। किन्तु उसके पूर्व उसका नाम दूसरा ही था। भरत ने इसे क्रियाकल्प कहा है और उसका स्पष्टीकरण काव्यकरण विधि के रूप में किया है। भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में नाट्यधर्मी यानी सम्पूर्ण अभिनय का वर्णन करते हुए वाचिक-अभिनय से सम्बन्ध रखते हुए काव्य की विवेचना की है। उन्होंने काव्य के ३६ लक्षण और ४ काव्यालंकार बताए हैं। किन्तु प्रो० देशपाण्डे का कहना है कि भरत के काव्य-लक्षण निरुक्त, मीमांसा और अर्थशास्त्र में भी दिखाई देते हैं। नाटक में लोक-प्रकृति का दिग्दर्शन अभिनय के द्वारा होता है। यही दिग्दर्शन काव्य में शब्दों द्वारा होता है। नाटक में यह कार्य सम्पन्न करने वाले नाट्यधर्मी को भामह ने वक्रोक्ति का नाम दिया है।

नाटक से सम्बन्ध रखते हुए भी काव्य-विषयक वादविवाद या विचार-विमर्श को भामहोः। स्वतन्त्र प्रतिष्ठा का स्थान दिया। प्रो० देशपाण्डे ने यह भी कहा कि उस समय नागरिकों की 'विदग्ध-गोष्ठी' हुआ करती थी जिसमें होने वाले काव्य-सम्बन्धी विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप काव्यशास्त्र का विकास हुआ; इतना ही नहीं बल्कि भामह ने अपने ग्रन्थ के लिए ऐसे वाद-विवाद की पृष्ठभूमि को आवश्यक मानकर ही काव्यशास्त्र की स्थापना बड़े उत्साह से की। भामह व्याकरण, न्याय आदि शास्त्रों के विरुद्ध काव्य की ताक में संघर्ष किया करते थे। उसका प्रमाण वे दो अध्याय हैं जो उन्होंने काव्य के व्याकरण तथा काव्य के निर्णय के सम्बन्ध में लिखे हैं। दण्डी का दृष्टिकोण अध्यापक का है। भामह और दण्डी, दोनों के समय में काव्यशास्त्र स्वाभाविक रीति से प्रचलित हो गया और विशेषता यह रही कि उसके क्षेत्र में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य का समावेश हुआ। हालाँकि काव्य-शास्त्र संस्कृत में लिखा हुआ था, फिर भी वह सभी भाषाओं के साहित्यिक प्रकारों का शास्त्र माना जाता था और उसमें सभी भाषाओं से उदाहरण लिये जाते थे। इसके बाद केवल जगन्नाथ पण्डित ने ही अपनी पुस्तकों में प्राकृत के उदाहरणों का समावेश, संस्कृत में रूपान्तरित करके किया। प्रो० देशपाण्डे के अनुसार साहित्य-शास्त्रकारों के व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए, संस्कृत साहित्यशास्त्र, प्राकृत साहित्यशास्त्र, हिन्दी साहित्यशास्त्र या मराठी साहित्यशास्त्र-जैसे भिन्न-भिन्न साहित्यशास्त्र मानना गलत है। जगन्नाथ पण्डित ने संस्कृत से भिन्न भाषाओं के सम्बन्ध में जो दृष्टिकोण अपनाया, सम्भवतः उसीके परिणामस्वरूप साहित्यशास्त्र की यह पुरानी, अखिण्डत और प्रवाहपूर्ण परम्परा टूट गई।

यह सच है कि भामह के समय काव्य-सम्बन्धी वादविवाद या विचार-विमर्श को काव्य-लक्षण के बजाय काव्यालंकार कहा जाता था। किन्तु यह सच नहीं है कि भामह ने भरत मुनि के रस सिद्धान्त के विरुद्ध अपना सिद्धान्त स्थापित किया। भामह को काव्यगत रस का अच्छा ज्ञान था। उसने अलंकार की व्याख्या नहीं की जो आगे चलकर वामन ने की। फिर भी केवल इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि अलंकारशास्त्र ही आज का सौंदर्य-शास्त्र है। प्रो० देशपाण्डे का मत है कि जहाँ आज सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य संगीतादि ललित कलाओं के समान नियमों की खोज करना है वहाँ अलंकारशास्त्र का विचारणीय विषय केवल काव्य था। भामह की वक्रोक्ति तो एक 'अर्थ-संस्कार'-मात्र है। भामह की वक्रोक्ति, दण्डी के समाधि गुण, वामन के माधुर्य तथा राजशेखर की प्रतिभास-निबन्धनता के मूल में 'धर्माध्यास' है। अध्यास का अर्थ होता है किसी वस्तु में दूसरे धर्म का आरोप करना। किन्तु यह अध्यास प्रतिभास या आभास नहीं है। वह एक प्रतीति है जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य ही है।

उद्भट ने भामह की बातों को स्पष्ट किया और शब्द से द्योतित होने वाली वस्तु के बारे में वैयाकरणों, नैयायिकों तथा साहित्यिकों में चलने वाले विवाद में काव्य के अन्तर्गत लक्षण की व्याख्या की। वामन रीति को काव्य की आत्मा मानता है और रीति के आधारभूत गुणों की विवेचना करता है। उस काल में अलंकारपूर्ण काव्य या चित्र काव्य लिखने वालों का बोलबाला था। इसीलिए वामन ने प्रथमतः यह बतलाया है कि कवि बनने का अधिकारी कौन है। उसने कालिदास-जैसे महाकवि पर लगाये गए आरोपों को खण्डित करने की प्रतिज्ञा की थी। इसीलिए उसने प्रत्येक गुण के लिए महाकवि के उदाहरण के साथ ही प्रत्युदाहरण भी दिया है। काव्य की शोभा बढ़ाने वाले गुणों को वह धर्म के नाम से पुकारता है। भरतमुनि जिसे लक्षण कहते हैं, भामह उसको अलंकार कहते हैं। दण्डी के ग्रन्थ में दोनों का मिश्रण है। वामन उनको गुण कहता है। इस प्रकार की परम्परा प्रो० देशपांडे ने दिखाई है। इन गुणों की सूची दण्डी ने भरतमुनि से और वामन ने दण्डी से ली है। दण्डी की दृष्टि में जो मार्ग है वही वामन की दृष्टि में रीति है। इसके बाद कुंतक ने उसे फिर मार्ग नाम से पुकारा और रीति के भेदों का वर्णन पैशाची, गौडी और वैदर्भी-जैसे नामों से करने के बजाय सुकुमारमार्ग, विचित्रमार्ग तथा मध्यमार्ग के नामों से किया। उसने इन भेदों का कारण कवि-स्वभाव बताया है। वामन के बाद रुद्रट ने बताया कि अलंकार या वक्रोक्ति के पीछे कवि का हेतु या अभिप्राय रहता है। प्रो० देशपांडे के मतानुसार रुद्रट ने काव्य-शास्त्र की सैद्धान्तिक प्रगति की दिशा में और एक सफलता पाई। काव्यगत अलंकार या वक्रोक्ति वास्तव में कवि के प्रयोजन को प्रकट करती है। रुद्रट की इस विवेचना से रस और शब्दार्थ एक-दूसरे के सामने उपस्थित हुए और इस प्रश्न को हल करने की प्रक्रिया से ही अलंकार-शास्त्र साहित्य-शास्त्र बन गया। पर शब्दार्थ से रस की प्रतीति किस प्रकार होती है?

शब्द और अर्थ का साहचर्य ही साहित्य है। यह साहचर्य या सहभाव व्याकरणमूलक या काव्यमूलक रहता है। काव्यमूलक रहने में दोष नहीं गुण ही रहते हैं। उनमें अलंकार और रस रहता है। काव्य के शब्दों में रस ही अर्थ होता है। आनन्दवर्धन के अनुसार यह अर्थ व्यंग्य या ध्वनित रहता है। ध्वनिकार ने यह मत प्रकट किया कि काव्य में रस ही प्रधान है और तद-नुसार ही साहित्य में गुणालंकारों की व्यवस्था की जानी चाहिए। उस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य-शास्त्र को पुनर्गठित किया। तत्पश्चात् क्षेमेन्द्र ने जो औचित्य का सिद्धान्त प्रस्तुत किया

वह भी इस प्रतीति के अनुसार ही था। अभिनवगुप्त ने रस को चर्वणारूप या आनन्दमय माना। उनके अनुसार शृङ्गारादि रस आनन्दमय रस के वैचित्र्य दर्शक रूप हैं। इसके बाद प्रो० देशपाण्डे ने इस प्रचलित मत का उल्लेख किया कि विभाव, भाव, अनुभाव तथा संचारीभावों के संयोग से रसोत्पत्ति होती है और कहा कि यह संयोग कवि, काव्यगतपात्र, या रसिक के स्थायीभाव से नहीं होता बल्कि कलाकृति का दर्शन करते समय रसिक की तदाकार अवस्था से होता है और इसी लिए रसिक को आनन्द मिलता है, यही रस है। इस अनुभव की प्राप्ति के लिए रसिक को विदग्ध, प्रगल्भ और कुशल होना आवश्यक है। इसी प्रकार संभावना का अभाव, खास देश या काल का अभिमान, अपने सुख-दुखों से प्रभावित होना, प्रतीति के साधन की दुर्बलता, मुख्य वर्ण्य-विषय का पृष्ठभूमि में पड़ना तथा अपरिहार्यता का ज्ञान न होना आदि बातें रस-प्रतीति में बाधक नहीं होनी चाहिए। प्रो० देशपांडे ने बताया कि यह धारणा भी गलत है कि रसाभास रसबाधक है या वह एक निम्नकोटि का आनन्दानुभाव है। उनका कहना है कि मानव से भिन्न वस्तुओं में मानवी भावनाओं का अभ्यास ही रसाभास का कारण है और उन्होंने उदाहरण के तौर पर बाल-कवि की 'फुल राणी' नामक कविता का उल्लेख किया है।

प्रो० देशपांडे के मत से मम्मट ने काव्य की जो व्याख्या और 'काव्यप्रकाश' की जो रचना की है वह साहित्य-शास्त्र का विकास देखते हुए वास्तविक और मूल्यवान् है। मम्मट के बाद लिखे गए ग्रन्थों में 'काव्यप्रकाश' की प्रणाली ही अपनाई गई है। साहित्य-शास्त्र के विकास के स्तरों का दिग्दर्शन कराते हुए प्रो० देशपांडे ने कहा है कि १. भरत का ग्रन्थ क्रियाकला का, २. भरत से लेकर भामह तक का समय काव्यलक्षणों का, ३. भामह दण्डी से लेकर रुद्रट तक का समय काव्यालंकारों का, ४. तथा आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक का समय साहित्य-शास्त्र का मानना चाहिए। मम्मट से लेकर जगन्नाथ तक के समय को प्रो० देशपांडे ने साहित्य-प्रणाली का समय कहा है।

डाक्टर धर्मवीर भारती

साहित्य की नई मर्यादा

: १ :

अधुनातन परिस्थितियों में साहित्य को लेकर यह प्रश्न अक्सर उठाया जाता रहा है कि सामन्तवादी तथा पूँजीवादी सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के विघटन से जीवन के मूल्यों में जो संकट उपस्थित हो गया है, उसका साहित्य की मर्यादाओं पर क्या प्रभाव पड़ा है। जिन मानव-मूल्यों के आधार पर किसी भी संस्कृति का रूपगठन होता है, वे उसके साहित्य के भी मूल में प्रतिष्ठित रहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से जो सांस्कृतिक संकट अंकुरित होने लगा था वह केवल आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक संकट नहीं वरन् मानव-जीवन के मौलिक प्रतिमानों का संकट है।[1] साहित्य के प्रसंग में इसका विश्लेषण इसलिए और भी अनिवार्य है। किन्तु इस संकट को लेकर निराशा, गतिरोध, अनिवार्य विघटन आदि की जो बातें कही जाती हैं, वे स्थिति का एक ही पक्ष प्रस्तुत कर पाती हैं। इस प्रकार के संकट पहले भी आये हैं और इतिहास इसका साक्षी है कि युद्ध, पराजय, दुर्भिक्ष, जलप्लावन और महामारियों ने मानवीय मूल्यों को जितनी तीव्रता से झकझोरा है, उनका विकास भी उतनी ही तीव्रता से हुआ है। वास्तविकता यह है कि अक्सर जितने गहन ये संकट रहे हैं उतनी ही निर्मल मर्यादाएँ विकसित हुई हैं। आधुनिक संकट भी इसका अपवाद नहीं है। उससे प्रेरित होकर साहित्य की जो नई मर्यादा विकसित हुई है उस पर विस्तार से विचार करना चाहिए।

स्थिति काफी स्पष्ट हो सकेगी यदि हम मूल्य-मर्यादाओं की प्रकृति और साहित्य में उनके विकास की सामान्य प्रक्रिया के विषय में थोड़ी जानकारी प्राप्त कर लें। साहित्य, चाहे वह किसी भी धारा अथवा निकाय का क्यों न हो, कुछ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष मर्यादाओं द्वारा नियोजित होता है। इन मर्यादाओं की सांस्कृतिक स्थिति बड़ी ही सूक्ष्म और जटिल होती है। एक ही संस्कृति में कभी-कभी विभिन्न क्षेत्रों में कई उपधाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं जिनकी प्रवाह-रेखाएँ एक ही व्यापक दिशा में अलग-अलग घुमावों में चलती रहती हैं। परिणाम यह होता है कि एक ही मूल्य-मर्यादा कई ऐसी चिन्तनधाराओं और साहित्य-निकायों में समान रूप से प्रतिफलित होती है जो सतही तौर पर न केवल एक-दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु उनमें भयानक द्वन्द्व और घात-प्रतिघात चलता रहता है। सैकड़ों वर्ष बाद काल की विराट् पृष्ठभूमि में उनका विवेचन करने से यह ज्ञात होता है कि वे जिन बाह्याचारों पर उलझ रहे थे, इतिहास ने उनको निरर्थक सिद्ध कर दिया है, किन्तु अंशतः वे सभी किसी एक व्यापक मूल्य की स्थापना कर रहे थे और वह मूल्य सर्वस्वीकृत और विकासमान सिद्ध हुआ। आज, शताब्दियों बाद यह कहना सरल है कि कबीर, तुलसी, सूर और जायसी एक ही परम्परा को अनेक रूपों में प्रतिफलित करते हैं।

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—'आलोचना' अंक १०, पृ० ४१ से ६१।

आज तो मध्यकाल के अधिकांश प्रगतिशील धर्मान्दोलन, यूरोप का ईसाई धर्म, मध्य-पूर्व का सूफी धर्म, पूर्वी एशिया के वैष्णव और बौद्ध सम्प्रदाय, हम उन सबों द्वारा स्थापित मूल्यों में अन्तर्निष्ठ एकता पाते हैं। आज का आधुनिकतम इतिहासवेत्ता हरबर्ट बटरफील्ड अपनी नवीनतम कृति में इसी परिणाम पर पहुँचा है और हमें चेतावनी देता है कि १७वीं शताब्दी में जेनेवा में केन्द्रित, राज्यसत्ताओं से समर्पित, सेनाओं से सुसज्जित कैलविन सम्प्रदाय कैथोलिकों के लिए उतना ही आतंककारी सिद्ध हो रहा था जितना आज मास्को में केन्द्रित स्तालिनवाद। किन्तु कौन जानता है कि २०० या ३०० वर्ष बाद आज की प्रबल प्रतिपक्षी शक्तियों का संघर्ष उतना ही निरर्थक न सिद्ध हो जितना मध्यकाल का केलविन और कैथोलिक द्वन्द्व।[1]

इससे राजनीतिक निष्कर्ष क्या निकलते हैं यह हमारा विषय नहीं। हमारा मूल प्रतिपाद्य साहित्य है जिसके विषय में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसमें एक चिरन्तन सहजवृत्ति होती है जिसके कारण वह मूल्यों द्वारा नियोजित मर्यादाओं को स्वीकार करता है और उसके साम्प्रदायिक स्वार्थों और निरर्थक कुतर्कों द्वारा स्थापित संकीर्ण अनुशासनों को अरसिक, असंस्कृत अन्धानुयायियों के लिए छोड़ देता है। इस प्रकार साहित्य को प्रशासित करने वाली मर्यादाओं के द्विविध रूप होते हैं—सम्प्रदायगत और मूल्यगत। सम्प्रदायगत मर्यादा पतनोन्मुख और संकीर्ण होती है—मूल्यगत मर्यादा प्रगतिशील और विकासोन्मुख।[2] प्रगतिशील साहित्य के लिए प्रथम अग्राह्य है, द्वितीय अनिवार्य।

: २ :

पिछले सौ वर्षों के साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट होता है कि गहन संकट के बावजूद व्यक्ति और समाज-सम्बन्धी वे प्रमुख मानववादी मूल्य जो समाजवाद की मार्क्सीय तथा अन्य पद्धतियों द्वारा स्वीकृत किये गए थे, साहित्य में अपनी सम्प्रदायगत सीमाओं से मुक्त रूप में न केवल ग्रहण किये गए, वरन् सार्वभौम साहित्य-मानस में उनका निरन्तर विकास भी होता रहा। और भी सूक्ष्म निरीक्षण से यह भी आभास मिलता है कि समाजवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषण, नव-कैथोलिक चिन्तन, अरविन्द-दर्शन और सर्वोदय-जैसे कभी-कभी सहयोगी और कभी-कभी घोर विरोधी धाराओं से प्रभावित जो उच्च कोटि का साहित्य लिखा गया, उसमें साम्प्रदायिक संकीर्णताओं का सचेष्ट या अज्ञात-रूपेण बहिष्कार मिलता है। यह इसी से सिद्ध है कि सम्प्रदायगत ईसाइयत और सम्प्रदायगत कम्युनिज्म में बाहरी विरोध होते हुए भी मार्क्सीय आन्दोलनों के अर्थ समझाने के लिए कलाकारों ने जीसस की बलिदान-कथा के ही प्रतीकों को चुना। इसका कारण यह था कि वे उपमेय और उपमान में साधर्म्य के तत्व को स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि में मार्क्सीय आन्दोलन उन्हीं स्थायी मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रयत्न है जिनकी प्रतिष्ठा जीसस ने की थी। क्रान्ति के अमर गायक, महानतम आधुनिक रूसी कवि ब्लाक ने क्रान्ति की व्याख्या करते हुए कहा था, "जब कभी यह आदर्श—जो अनादि काल से जनता की आत्मा में सोया हुआ है—करवट बदलता है, अंगड़ाई लेकर जाग उठता है और ऐसी

१. 'क्रिश्चियानिटी, डिप्लोमेसी एण्ड वार'—प्रो० हरबर्ट बटरफील्ड।

२. मूल्यगत मर्यादा के लिए कोई उपयुक्त शब्द न पाकर मुझे मूल्य-मर्यादा शब्द गढ़ना पड़ा है।

धारा के रूप में शक्ति संचित कर बढ़ चलता है जिसे कोई भी तटरेखा या बाँध रोक नहीं पाते, तभी क्रान्ति होती है।"[1] अपनी अमर कविता 'ट्वेल्व' में उसने लाल सेना के १२ क्रान्तिकारी सैनिकों को बारह शिष्यों के रूप में परिकल्पित कर अन्तिम पंक्ति में कहा है : "प्रभु जीसस उनको राह दिखा रहे हैं।" लगभग २० वर्ष बाद जब स्पेन में फाशिस्त शक्तियों के विरुद्ध समाजवादी और प्रजातन्त्रवादी शक्तियों ने संघर्ष किया, तब उसके एक जत्थे की अमर कथा लिखते हुए पुनः अर्न्स्ट हेमिंग्वे ने एक ईसाई भावना को आधार सूत्र बनाया। उस भावना के अनुसार प्रभु का अर्थ मानव-जाति की प्रगति में निहित है।[2]

यही नहीं वरन् इनकी साम्प्रदायिक परम्परा का परिहार करने के प्रति वे सचेत भी थे, यह जान स्टीनबेक की प्रख्यात कहानी 'द रेड' में मिलता है। डिक और रुट नामक दो श्रमिक कार्यकर्ता जब श्रम-संगठन के प्रयास में स्वतः श्रमजीवियों के ही पत्थरों से घायल होकर पड़े हैं तो रुट डिक को बाइबल के उस कथन की याद दिलाता है जिसमें जीसस ने कहा है कि उन्हें क्षमा करो क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। डिक, जो उत्साही साम्यवादी है, तुरन्त एक उद्धरण देता है—"धार्मिक पचड़ा बन्द करो। जानते नहीं धर्म जनता के लिए अफीम है।" रुट तुरन्त अत्यन्त सहजभाव से उत्तर देता है—"धर्म? इसमें धर्म की बात क्या है? मुझे ऐसा ही लगा कि यह मैं कहूँ। लगा कि मुझे जो अनुभव हो रहा है उसे ऐसे ही कह सकता हूँ बस।" इस अत्यन्त मर्मस्पर्शी क्षण का चित्रण करते हुए लेखक ने दोनों पात्रों की संस्कारगत सीमाओं के बावजूद दोनों के लक्ष्य और दोनों की पीड़ा की मूल्यगत एकता का चतुर संकेत किया है। साहित्य सम्प्रदायगत सीमाओं से उबरकर इसी व्यापक मूल्यगत भूमि पर अपना विकास करता रहा है और इसी भूमि पर कट्टर विरोधी दीख पड़ने वाले निकाय भी इतिहास की सूक्ष्म दृष्टि में मिलते हुए दीख पड़ते हैं। साहित्य में इस नई मूल्यमर्यादा के विकास को समझने के लिए हमारी दृष्टि जितनी सूक्ष्म और व्यापक होनी चाहिए, अवैज्ञानिक पूर्वग्रहों से उतनी ही मुक्त भी।

: ३ :

साहित्य की मर्यादा—प्रगति;
प्रगति की मर्यादा?

१८वीं और १९वीं शताब्दी की चिन्तना के फलस्वरूप जिस मर्यादा ने साहित्य में अपने को प्रमुखतम रूप में विकसित किया, वह थी सामाजिक प्रगति की मर्यादा। प्रगति सिद्धान्त की व्याख्याओं के अन्तर्गत मानवीय इतिहास को निरर्थक, निष्प्रयोजन घटनाओं की क्रमागत कड़ी न मानकर उसको प्रयोजन से मुक्त गति माना जाने लगा—एक ऐसी प्रगति जो किसी निश्चित उद्देश्य की ओर उन्मुख है। इन सिद्धान्तों में प्रगति की प्रणाली और उसके प्रयोजन लेकर काफी मतभेद था। कुछ वस्तुवादी थे, कुछ भाववादी। हीगेल ने सर्वप्रथम प्रगति की प्रणाली में विरोधी तत्वों को समाहरित कर लेने वाली द्वन्द्वात्मक पद्धति का आरोपण किया था। मार्क्स ने हीगेल के समस्त तर्कों को उलटकर भाववादी द्वन्द्वात्मक पद्धति को भौतिकवादी वर्गसंघर्ष के रूप

१. ब्लाक—स्पिरिट आफ़ म्यूज़िक।
२. "...I am involved in mankinde, so do not send to ask for whome the bell tolls, it tolls for thee."

में बदल दिया और हीगेल के किसी अदृश्य मानवोपरि दिव्य-भाव का निषेधकर वर्गहीन समाज को ही ऐतिहासिक प्रगति की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया। यद्यपि मार्क्स के कुछ विरोधी इसी आधार पर यह कहते हैं कि उसने भौतिकवाद की अतिरेकता को आरोपित कर मानवीय मूल्यों को कुण्ठित कर दिया, किन्तु भाववादियों की अपेक्षा का यह सिद्धान्त मानववादी मूल्यों की प्रतिष्ठा में उस समय अधिक सहायक सिद्ध हुआ क्योंकि वह तत्कालीन संकट की अधिक दुखती हुई रग को पकड़ने की सामर्थ्य रखता था। इसका कारण यह था कि मार्क्स का भौतिकवाद निष्क्रिय जड़वाद नहीं था, वह वस्तु को धारणा द्वारा ग्रहण करने की अपेक्षा उसके साक्षात्कार को क्रिया (practice) के माध्यम के बिना अपूर्ण मानता था और वह क्रिया भी अपने में निरपेक्ष न होकर सामाजिक सम्बन्धों के पुनर्गठन में आत्म-साफल्य पाती थी।[1] मार्क्स भौतिकवादी प्रगति-सिद्धान्त कितना घुमा-फिराकर वैसे मानववादी मूल्यों की स्थापना करता है जो घोर आत्मवादी सम्प्रदायों द्वारा सर्वमान्य हैं, यह स्वतः अपने में अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय है। फिलहाल इतना संकेत करना यथेष्ट है कि मार्क्स द्वारा स्थापित प्रगति की मर्यादा में कोई ऐसा मौलिक अभाव नहीं था जो उससे प्रेरित साहित्य को मानववादी उत्कृष्ट साहित्य बनने से रोक देता। बीसवीं शती के प्रथम दो दशकों का बहुत सा कम्युनिस्ट साहित्य, जहाँ तक वह सम्प्रदायगत सीमाओं का तिरस्कार करता है, किसी भी धारा के श्रेष्ठतम साहित्य के समकक्ष रखा जा सकता है क्योंकि उनमें सम्प्रदायगत भेद प्रमुख न रहकर मूल्यगत-अभेद प्रमुख रूप से उभरता है।[2]

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया साहित्य में प्रगति की मूल्य-मर्यादा को सम्प्रदायगत अनुशासनों से मुक्त रखने की अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव की गई। साहित्य की सहज स्वाभाविकता तो इसके मूल में थी ही किन्तु इसके कुछ अन्य कारण भी थे। मार्क्स ने साहित्य को वर्ग-संघर्ष का अस्त्र माना था और उभरते हुए वर्ग की आकांक्षाओं और दृष्टियों को प्रतिफलित करने वाले तथा वर्गहीन समाज की विकास-प्रक्रिया में सहायता देने वाले साहित्य को ही उसने

---

१. लुडविग फायरबख का परिशिष्ट। माओ त्से तुंग—'ऑन प्रैक्टिस'। हिन्दी के कई अमार्क्सवादी चिन्तकों ने इसे पहचाना है। पिछले 'आजकल' में प्रकाशित एक लेख में डॉ० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी कुछ अस्पष्ट ढंग से और 'क्वासि' की भूमिका में श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' स्पष्ट रूप से मार्क्स के भौतिकवाद की सक्रियता के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

२. अर्द्धराजनीतिक पत्रकार गोर्की से कलाकार गोर्की की दृष्टि कहीं अधिक व्यापक थी और इसमें अध्यात्मवादी कवि ब्लाक तक की मूल्यगत अभिन्नता मिलती थी, इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। अखिल रूसी धार्मिक दार्शनिक संसद की प्रथम बैठक (१९०८) में हरमन वैरिनब ने गोर्की के विरुद्ध जो आरोप लगाए उनका उत्तर देते हुए ब्लाक ने उसी समय 'जनता और बुद्धिजीवी' शीर्षक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था जिसमें रूसी धार्मिक बुद्धिजीवियों तथा लुनाचार्स्की, गोर्की तथा अन्य समाजवादियों के दृष्टिकोण में मूल्यगत एकता की ओर बड़ी स्पष्टता से संकेत किया था। यह ध्यान देने की बात है कि उस समय बोलशेविकों के हाथ में सत्ता नहीं थी अतः वे ब्लाक के स्वतंत्र विचार नहीं थे, ऐसा कहने का कोई कारण नहीं है।

प्रगतिशील (प्रगति की मर्यादा से मुक्त) साहित्य माना था। किन्तु प्रश्न यह था कि इस उभरते हुए वर्ग का प्रतिनिधि कौन है, जो इन मर्यादाओं को निर्धारित करेगा ? मार्क्स का उत्तर था : 'कम्युनिस्ट पार्टी'। मार्क्स के समय में यह उत्तर यदि साहित्यिक नहीं तो कम-से-कम राजनीतिक स्तर पर पूर्ण संगत उतरा था। किन्तु आज पूछा जा सकता है : कम्युनिस्ट पार्टी तो कौनसी कम्युनिस्ट पार्टी ? स्तालिन की, या ट्राट्स्की की, या टिटो की ? फिर कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्वीकृत कौनसी व्याख्या ? दो दिन पहले वाली ? या दो दिन बाद वाली ? कहा जा सकता है जो नीति मार्क्सीय हो ? पर आज तो हर नई नीति मार्क्स के उद्धरणों के साथ अपनाई जाती है और कुछ दिनों बाद मार्क्स के उद्धरणों के साथ दफना दी जाती है। हर वामपक्षी दल दूसरे वामपक्षी दल पर मार्क्स के प्रति विश्वासघात का दोषारोपण करता फिरता है।[1] इसके बीच सही कौन है इसका निर्णय कौन करेगा ? हमारा विवेक ? यदि हमारा विवेक ही अन्ततोगत्वा प्रमुख निर्णयकर्ता है तो सम्प्रदाय के अनुशासन की क्या सार्थकता ? क्यों न हमारा विवेक ही प्रगति की मर्यादा निर्धारित करे ? क्योंकि साहित्यकार का सहज विवेक निस्सन्देह उसे सम्प्रदायगत संकीर्णताओं का अतिक्रमण कर व्यापक मानववादी मर्यादा-भूमि पर लाकर खड़ा कर देता है जहाँ वह अन्य सभी सम्प्रदायों के मानववादी कलाकारों से मिलकर किसी तात्कालिक राजनीतिक स्वार्थ पर संयुक्त मोर्चा न बनाकर एक व्यापक और स्थायी जनवादी मूल्य की मर्यादाभूमि पर अपने नये सम्बन्ध विकसित करता है, अपने उपलब्ध सत्य को दूसरों द्वारा उपलब्ध सत्य से सम्बन्धित कर उसे पूर्ण और व्यापक बनाता है। तो क्या साहित्य पक्षधर नहीं होता ? यह प्रश्न उठता है। हाँ, होता है, किन्तु वह एक एकांगिता के विरुद्ध दूसरी एकांगिता का पक्ष ग्रहण नहीं करता, वह एक अन्याय के विरुद्ध दूसरे अन्याय का पक्ष ग्रहण नहीं करता—वह एकांगिता के विरुद्ध व्यापकता का, अन्याय के विरुद्ध न्याय का, सीमा के विरुद्ध मूल्य-मर्यादा का पक्ष ग्रहण करता है। सांस्कृतिक स्तर पर पक्षधरता क्यों दलगत न होकर मूल्यगत ही होती है इसका विवेचन पहले ही किया जा चुका है।[2] सम्प्रदायगत मर्यादाओं के आतंक से प्रगति-भावना की मुक्ति साहित्य-चेतना के विकास में एक ऐसा मोड़ है जो अत्यन्त आशामयी और प्रकाशपूर्ण दिशाओं में ले जाने की सामर्थ्य रखता है।

: ४ :

प्रगति-भावना में एक अन्य मान्यता का विकास भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, जो एक प्रकार से पिछली बात का ही तर्कसंगत अवश्यम्भावी परिणाम है। मार्क्स ने प्रगति-भावना के निर्णयात्मक पक्ष को बाह्य अर्थ-व्यवस्था में स्थित माना था। सम्प्रदाय या पार्टी उसी अनिवार्यता का प्रतिवहन करती है। १८वीं शताब्दी में प्रगति के सम्बन्ध में नियति की-सी अनिवार्यता की धारणा अकेले मार्क्स की नहीं रही है। वस्तुवादी और भाववादी दोनों प्रकार के चिन्तकों ने इस धारणा को प्रश्रय दिया है। किन्तु इस प्रकार का नियतिवादी दर्शन मानव की सहज-स्वतन्त्र आन्तरिक अनुप्रेरणा को कई ढंग से कुण्ठित कर देता है। इस अभाव से उत्पन्न प्राणहीनता

---

1. एक दूसरे प्रसंग में सार्त्र ने भी यही प्रश्न उठाया है। द्रष्टव्य "एक्ज़िस्टेन्शियलिज़्म एंड ह्यूमेनिज़्म" का परिशिष्ट।
2. द्रष्टव्य—'आलोचना'—सम्पादकीय। अंक ७ पृष्ठ ८।

अक्सर मार्क्सीय पद्धति में भी अनुभव की गई हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि मानव-स्वातन्त्र्य की स्थिति को मार्क्स ने भी ऐतिहासिक प्रगति का लक्ष्य माना था, यद्यपि वह मानता था कि उसका पूर्ण साक्षात्कार वर्गहीन समाज में ही हो सकता है। अपने नियतिवाद और मानव-स्वातन्त्र्य के प्रति अपनी आस्था में मार्क्स एक संगति स्थापित करना चाहता था और जब एक ही तर्कप्रणाली द्वारा वह सम्भव न हो सका तो उसने कभी इस पर और कभी उस पर बल दिया। बाद में मार्क्स के अनुयायियों के लिए यह अन्तर्विरोध और भी जटिल सिद्ध हुआ और इतिहास में कहाँ तक बाह्य स्थिति मनुष्य की आन्तरिक मूल्यगत चेतना को प्रभावित करती है, कहाँ तक मूल्यपरक चेतना बाह्य स्थितियों को प्रभावित करती है, इस प्रश्न पर मार्क्सवादी शिविरों में भयानक बौद्धिक संग्राम हुए हैं।

इस अन्तर्विरोध के अतिरिक्त और भी मार्क्सीय चिन्तन के कई पक्ष ऐसे हैं जो पिछले सौ वर्ष की वैज्ञानिक, आर्थिक और सामाजिक प्रगति की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। पदार्थ-विज्ञान के सापेक्षतावाद, क्वान्टम सिद्धान्त, इलेक्ट्रॉन सिद्धान्त ने भौतिकवाद की उन मान्यताओं पर तीव्र आघात पहुँचाया है जिस पर मार्क्स का यान्त्रिक नियतिवादी दर्शन आधारित था।[1] उसके अर्थशास्त्र को स्वतः क्रोचे ने अस्वीकृत कर दिया जो किसी समय मार्क्सवादियों के इतना निकट था कि कम्युनिस्ट पत्र उसे कामरेड क्रोचे कहते थे। इतिहास-दर्शन में भी स्पेंगलर आदि ने रेखाकार प्रगतिवाद के बजाय संस्कृतियों के वृत्ताकार उत्थान और पतन की पद्धतियाँ प्रचारित कीं। इनमें से कौन सत्य है कौन मिथ्या, यह निर्णय करना हमारा उद्देश्य नहीं, यहाँ पर केवल यह संकेत किया जा रहा है कि प्रगति-सिद्धान्त की मार्क्सीय पद्धति के तर्कों को वैज्ञानिक चिन्तन के नवीनतम विकास से बहुत समर्थन नहीं मिलता रहा है। चिन्तनधाराओं की गति के अतिरिक्त पिछले सौ वर्षों में वास्तविक राजनीतिक इतिहास की गति ने कई बार मार्क्सीय पद्धति की अनिवार्यता का अतिक्रमण किया (लेनिन द्वारा आयोजित रूसी क्रान्ति और माओ द्वारा आयोजित चीनी क्रान्ति ही स्वतः इसके सबसे बड़े प्रमाण हैं। अमेरिकन और अंग्रेजी प्रोलेटेरियट द्वारा कम्युनिज़्म की अस्वीकृति भी ऐसी ही घटना है। गांधी द्वारा प्रेरित भारत की अहिंसात्मक क्रान्ति तो उन समस्त मूल्यों के प्रति सबसे बड़ा प्रश्नचिह्न है, यह स्वतः कामरेड रोमारोलां ने घोषित किया था)। जहाँ मार्क्सवादी अनिवार्यता को जीवन की कसौटी पर कसा गया उस सोवियत क्षेत्र में आर्थिक विकास के बावजूद सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रगति का पूर्ण अभाव रहा और क्रान्ति की भूमिका के रूप में जिस रूस ने तुर्गनेव, डास्टाएव्स्की, टालस्टाय, चेखव, गोर्की, ब्लाक और मायकाव्स्की उत्पन्न किये थे, उसका सांस्कृतिक व्यक्तित्व दिनोंदिन कुण्ठित, बौना और छिछला होता गया। चारों ओर यह अनुभव किया गया कि प्रगति की कसौटी ही बदली जानी चाहिए। प्रगति की कसौटी मनुष्य है—मनुष्य अपनी आन्तरिक मर्यादाओं सहित। और बाह्य परिस्थितियाँ उसका आन्तरिक विकास करें ही, यह आवश्यक नहीं। आन्तरिक विकास के लिए आन्तरिक प्रेरणा होनी चाहिए। इस प्रकार प्रगति की मर्यादा को मानव के अन्तर में आरोपित किया गया। मनुष्य तभी प्रगति करता है जब उसके अन्तर में प्रगति की

---

१. द्रष्टव्य—'आलोचना' अंक १० में आई० ए० एक्स्ट्रॉस द्वारा लिखित 'वर्तमान संकट और मानवीय मूल्यों का विघटन' शीर्षक लेख का विज्ञान-सम्बन्धी अंश।

नैतिक प्रेरणा हो। कोई सर्वदा बाह्य परिस्थिति मानवीय प्रगति का दायित्व नहीं ले सकती। इस प्रकार प्रगति की मर्यादा को न केवल सम्प्रदायगत सीमा से मुक्ति मिली वरन् बाह्य से उसका संचरण अन्तर की ओर हुआ।

यह संक्रमण मार्क्सीय चिन्तना में प्रतिबिम्बित न हुआ हो ऐसी बात नहीं है। वैसे आज का सामान्य मार्क्सीय लेखक अपेक्षाकृत अधिक रूढ़िवादी होता है। और नये विकास को यथासम्भव स्वीकार नहीं करना चाहता। फिर भी साहित्यिक होने के नाते मूल्यगत मर्यादा के प्रति उसमें एक अप्रत्यक्ष निष्ठा होती ही है। परिणामस्वरूप ऐसे बहुत-से मार्क्सीय लेखक हैं, जिनमें यह द्वन्द्व स्पष्ट उभरा है। वे साम्प्रदायिक सीमा को अस्वीकार नहीं कर पाते और फिर भी मनुष्य के आन्तरिक मूल्यों पर पुनः ध्यान आकर्षित करने की अनिवार्यता से प्रेरित होकर ईमानदारी, अच्छाई, बुराई आदि की भावनाओं को किसी तरह मार्क्सीय चिन्तन के ढाँचे में ही विकसित करना चाहते हैं; यद्यपि अभी तक मार्क्सीय चिन्तन में इनको पतनोन्मुखी आत्मनिष्ठ निरर्थक बूर्जुआ शब्दावली कहा जाता रहा है। यही नहीं वरन् अधिकांश प्रजातन्त्रवादी देशों का शान्ति-समस्या पर लिखा गया कम्युनिस्ट-साहित्य एक बार फिर इन्हीं आन्तरिक मूल्यों को अभिहित करने वाली शब्दावली का व्यवहार करने लग गया है। चीनी कम्युनिस्ट-पार्टी के प्रख्यात चिन्तक ल्यू शाओ चि की कृति का शीर्षक "How to be a Good Communist" स्वतः चौंका देने वाला है। यद्यपि उसने मनुष्य के वर्गाश्रित स्वभाव की व्याख्या की है किन्तु चीनी दर्शन से परिचित कोई भी व्यक्ति पहचान सकता है कि इस संकट के समाधान के लिए ल्यू शाओ चि बार-बार मार्क्स को खींच-खींचकर कन्फ्यूशस के द्वार पर ले गया है। यह सब अभी अंकुर रूप में ही है किन्तु इस बात की पूर्व सूचना है कि मार्क्सवाद के अन्तर्गत संकीर्ण साम्प्रदायिक रूढ़ि से मुक्त, व्यापक मूल्य-मर्यादा से युक्त महायान को विकसित होना ही है, यद्यपि अभी वह सम्प्रदायगत रूढ़िवादिता से जोर आजमाइश कर रहा है।

: ५ :

आधुनिकतम वैज्ञानिक चिन्तन का झुकाव इस मत की ओर अधिक है कि प्रगति की मर्यादा मनुष्य की आन्तरिक मर्यादा है। गिन्सबर्ग ने बड़ी कुशलता से पिछली तीन शताब्दियों की वास्तविक प्रगति और उनकी व्याख्या करने वाले प्रगति-सिद्धान्तों का पर्यवेक्षण करके यह निर्धारित किया है कि विवेक पर आधारित न्याय के प्रति मानववादी आग्रह ही प्रगति की मूल प्रेरणा है और एक विवेकवादी सामाजिक नैतिकता ही उसकी मूल्य-मर्यादा हो सकती है। वह यह भी मानता है कि इस विवेकवादी नैतिकता में सभी के लिए कोई यान्त्रिक अधिनियम या सभी के लिए एक-सी पोशाक नहीं होती।[1] इसमें मानवता के विभिन्न आयामों के पूर्णतम उदय (सर्वोदय) की सुविधा है। प्रगति की ओर मनुष्य को उन्मुख करने वाली इस वृत्ति को विभिन्न विचारकों ने विभिन्न नाम दिये हैं। गिन्सबर्ग इसे विवेकवादी नैतिकता कहता है, अधिकांश ईसाई-चिन्तक (चाहे वे कैथोलिक हों, प्रोटेस्टेण्ट हों या अस्तित्ववादी) इसको ईसाई संज्ञा देते हैं, गांधी-विनोबा इसे सर्वोदय-वृत्ति कहते हैं, अरविन्द इसको मनुष्य की भविष्यत्मुखी चेतना कहते हैं।

यहाँ पर पुनः एक सूक्ष्म खतरे को समझ लेना आवश्यक है। यह विवेकवादी नैतिकता

१. मारिस गिन्सबर्ग—'आइडिया ऑफ़ प्रोग्रेस'।

इस बात पर आग्रह करती है कि हम भविष्य में जिन मानवीय मूल्यों के विकास का स्वप्न देखते हैं उन्हें हम इसी क्षण अपने आचरण और जीवन-पद्धति में प्रतिष्ठित करें। यदि हम ऐसा नहीं करते और भविष्य के किसी अदृश्य वर्गहीन समाज की स्थापना के नाम पर मानववादी मूल्यों का तिरस्कार करते हैं तो हम प्रगति की आस्था को आन्तरिक रूप से पराजित करके एक प्रकार के नये भाग्यवाद को प्रश्रय देने लगते हैं। जिस प्रकार पुराना परम्परा-पूजक भाग्यवादी "होइहै सोइ जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढ़ावइ साखा" कहकर निष्क्रिय होकर बैठ रहता है, उसी प्रकार अपने स्वतन्त्र चिन्तन और विवेक को तिलांजलि देकर बाह्यारोपित प्रगति-भावना को एक क्रूर मालिक की भाँति स्वीकार करके हम सारी निरंकुशता को चुपचाप सहकर भविष्य के सहारे बैठ रहने के आदी हो जाते हैं। हम समझते हैं कि इतिहास एक बँधे हुए द्वन्द्वात्मक साँचे में ढल रहा है; अतः यदि उसके दौरान में झूठ बोले जाते हैं, राजनीतिक बन्दियों के कैम्प खोले जाते हैं, नीतियाँ बदलते ही दस-बीस व्यक्ति बिना किसी खुले मुकदमे के फाँसी पर लटका दिए जाते हैं तो यह सब जायज है; क्योंकि इतिहास तो अपने ढंग से ही चलेगा। आज यह सब उचित है; क्योंकि भविष्य में यह सब उचित नहीं रहेगा। वर्गहीन समाज में सत्य, प्रेम, मानवता, वैयक्तिक स्वतन्त्रता सभी विकसित होंगे; अतः यदि आज उसके लिए सत्य की हत्या होती है, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण होता है तो कोई हानि नहीं। किन्तु यह भाग्यवादी रुग्ण दृष्टिकोण है, प्रगतिशील स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं। प्रथम प्रकार का भाग्यवाद परम्परा के नाम पर नैतिक निष्क्रियता को उचित मानता है, यह नये प्रकार का भाग्यवाद स्वतः प्रगति के नाम पर नैतिक निष्क्रियता और प्रगति के औचित्य को स्थापित करने का प्रयास करता है।

बर्डेव इसकी एक नई व्याख्या देता है। वह इसको पलायन-प्रवृत्ति मानता है, जो वर्तमान की कायरता और निष्क्रियता की क्षति-पूर्ति भविष्य के कल्पित स्वप्न में करती है। मनुष्य जैसे वर्तमान की विवशता, दासता, पीड़ा और कुण्ठा को भुलाने के लिए कभी-कभी अतीत की मधुर कल्पनाओं में आश्रय ग्रहण करता है—वर्तमान को बदलने का प्रयास नहीं करता, उसी तरह आज का कोई भी लेखक; जो सत्य के नाम पर असत्य, प्रेम के नाम पर आतंक, शान्ति के नाम पर युद्ध, स्वतन्त्रता के नाम पर दासता सहन कर लेता है, वास्तव में प्रगतिवादी नहीं है—पलायनवादी है। भविष्य, वर्तमान से सर्वथा विच्छिन्न वस्तु नहीं है; समाज का वह रूप, जो हम आज बना रहे हैं, वही कल बनकर अवतरित होगा। समय को टुकड़ों में तोड़ देने की हमारी आदत हमें इस बात का अधिकार नहीं देती कि हम अन्तिम टुकड़े (भविष्य) को मध्य के टुकड़े (वर्तमान) से अधिक वास्तविक समझें। प्रगति की मर्यादा इसी क्षण की मर्यादा है, जिसका औचित्य किसी परिकल्पित अनुमानित भविष्य में नहीं वरन् इसी क्षण की ठोस और यथार्थ परिस्थितियों में किये गए हमारे विवेकपूर्ण आचरण में है।

: ६ :

प्रगति की मर्यादा-आचरण;
आचरण की मर्यादा?

मूल्य-मर्यादा की ही भाँति आचरण भी एक विशेषार्थक शब्द है और जब हम कहते हैं कि कोई बाह्यारोपित व्यवस्था नहीं वरन् विकास की दिशा में हमारा आचरण ही वास्तविक

ऐतिहासिक प्रगति है, तो आचरण की प्रगति को समझ लेना आवश्यक है।

आचरण के लिए प्राथमिक शर्त है—स्वतन्त्र विवेकपूर्ण मानवीय संकल्प। पानी का बहना, पहिये का घूमना और घड़ी का बन्द हो जाना उनका आचरण नहीं है। किन्तु मनुष्य का कड़वी बात बोलना, आक्रमण करना या सहायता देना—उसका आचरण है; क्योंकि पहिये का घूमना उसके विवेकपूर्ण निर्णय और स्वतन्त्र संकल्प का परिणाम नहीं है। मनुष्य के व्यवहार उसके विवेकपूर्ण संकल्प के परिणाम हैं; अतः वे आचरण हैं, जिनके लिए वह उत्तरदायी है। आचरण की इस प्रकृति को स्वतन्त्र और सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत देश इस सीमा तक मानते हैं कि वह मनुष्य की उन क्रियाओं को भी उसका दायित्वपूर्ण आचरण नहीं मानते जो वह बेहोशी में, नींद में, पागलपन में या विवेक-रहित चरम भावावेश में करता है।

चूँकि प्रगति का विधायक है मनुष्य का स्वतन्त्र विवेकपूर्ण आचरण, अतः इतिहास में जिन प्रतिक्रियावादी राज-सत्ताओं, धार्मिक सम्प्रदायों या अर्थ-व्यवस्थाओं ने मनुष्य का विकास और प्रगति रोकनी चाही है उनका यही प्रयास रहा है कि किसी तरह मनुष्य के स्वतन्त्र विवेक को भौतिक अभाव, कुरुचि या अनुशासन द्वारा पराभूत करके उसकी क्रिया को विवेक से रहित पागलपन, मूर्छा या भावावेश की क्रिया-मात्र बना दिया जाय। ऐसी स्थिति में मनुष्य पशुधर्मी या वस्तुधर्मी हो जाता है और उस पर दुकानदार की तरह या चरवाहे की तरह अधिकार रखा जा सकता है, उसे बेचा जा सकता है या हाँका जा सकता है। यदि वह सत्ता पूँजीवादी है तो आर्थिक विभिन्नता द्वारा सुरक्षा से वंचित करके उसके विवेक को पराभूत कर देती है, उसके संकल्पात्मक साहस को नष्ट कर देती है, यदि वह फाशिस्त है तो अतीत के प्रति गलत गर्व जगाकर, कल्पित आर्य जाति का स्वाभिमान और यहूदियों के प्रति अविवेकपूर्ण घृणा जगाकर उनको मन्त्रमुग्ध कर लेती है। कम्युनिस्ट है तो उसके विचारों और ज्ञान के साधनों पर नियन्त्रण करके, प्रचार के राष्ट्र व्यापी साधनों द्वारा उसको अर्द्ध ज्ञान और अज्ञान के स्तर पर हिप्नोटाइज करके उसके आचरण के विवेक को हर लेती है और विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। आचरण और विवेक के बीच की यह खाई शायद मानव-संस्कृति का सबसे बड़ा संकट है, जिसकी पीड़ा की चरम अनुभूति टी० एस० इलियट ने व्यक्त की थी :

> Between the idea
> And the reality
> Between the motion
> And the act
> Fallas the shadow[1]

प्रसादजी ने भी लगभग इसी शब्दावली में यह पीड़ा व्यक्त की है :

> ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
> क्यों इच्छा पूरी हो मन की;
> एक दूसरे से न मिल सके,
> यह विडम्बना है जीवन की।

इसी संकट को कार्ल यास्पर्स-जैसा गहन चिन्तक भी व्यक्त करते हुए पीड़ा से व्यथित होकर दर्शन की नहीं काव्य की भाषा बोलने लगता है। वह कहता है : "विवेक वास्तव में

---

१. टी० एस० इलियट—'द हॉलो मेन'।

अन्तर्निहित एकता का संकल्प है लेकिन इन व्यवस्थाओं और सिद्धान्तों द्वारा बार-बार किसकी हत्या हो रही है ? कौन है जो इन गलत पगडण्डियों पर बार-बार हमसे छूटा जा रहा है ? वह है मनुष्य के अस्तित्व के विकास की सम्भावना; जिसका साधन है—मात्र-विवेक।"[1] यही नहीं वह यह भी मानता है कि इन दूषित परिस्थितियों ने विवेकपूर्ण सिद्धान्तों का तिरस्कार करके उन बाजीगरों और ज्योतिषियों को मान्यता दिलाई है जो मानव-विवेक पर नहीं बल्कि संकट-काल में उभरने वाली उसकी अन्ध-विश्वासी प्रवृत्तियों का दुरुपयोग करते हैं। पतनशीलता के क्षणों में, निराशा और कायरता की घड़ियों में बार-बार जनता ने इन नटों, बाजीगरों, तांत्रिकों, ऐन्द्रजालिकों और चमत्कारवादियों को मान्यता प्रदान की है; जो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण के मन्त्र और अनुष्ठान बनाते हैं और अपनी झोली में हर व्याधि की दवा रखने का दावा करते हैं। वह मार्क्सवाद और बूर्ज्आ मनोविज्ञान दोनों को ही मानव के स्वतन्त्र विवेक का शत्रु मानता है; जो केवल संकट के क्षणों के भावावेश का सहारा लेकर पोषित हो रहे हैं।

: ७ :

लेकिन कार्ल यास्पर्स के निष्कर्ष से बहुत अंशों तक सहमत होते हुए भी आचरण पर मूल्य-मर्यादा की व्यापकता के आधार पर हम उसके आकलन के सर्वांश से सहमत नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए यह कहना अन्याय होगा कि मार्क्स ने आचरण की मर्यादा स्वीकार ही नहीं की। यह पहले कहा जा चुका है कि मार्क्स ने अपने भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कहा था कि वस्तुसत्य को धारणा द्वारा नहीं वरन् सक्रियता द्वारा हृदयंगम करना चाहिए। इसलिए बार-बार मार्क्सीय शासकों द्वारा यह बताया जाता है कि सैद्धान्तिक चिन्तन ही नहीं वरन् क्रान्तिकारी सक्रियता (revolutionary practice) मानव-सत्य के मार्क्सीय रूप को समझने के लिए अनिवार्य है।[2] लेकिन मार्क्स का यदि आशय यह था कि वह इस सक्रियता को ही आचरण का स्थानापन्न बना दे तो वह सम्भव न हो सका; क्योंकि इस प्रकार की अनुशासित, आयोजित और नियन्त्रित सक्रियता कल-कारखानों के मशीनी पुर्जों के लिए उपादेय है, और मानवीय आचरण के लिए सर्वथा अस्वाभाविक; क्योंकि उसमें विवेक की स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं रहती। लेकिन मार्क्स के चिन्तन की इस हदबन्दी से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि मार्क्स इसके महत्त्व से अवगत नहीं था और न यही निष्कर्ष निकलता है कि अधुनातन कम्युनिस्ट कमिस्सार कलाकार के आचरण और विवेक के इस विभाजन द्वारा आ जाने वाले गतिरोध और कुण्ठा से अवगत नहीं हैं। ज़्डैनव के तीव्र भर्त्सनात्मक वक्तव्य तथा कुओ मो जो और चाउ एन लाई के चीनी कलाकारों के प्रति उद्बोधनात्मक सन्देशों में इस आन्तरिक संकट की गहरी चेतना मिलती है किन्तु उनकी सम्प्रदायगत सीमाएँ मानव-विवेक को स्वाधीनता देने के पक्ष में नहीं हैं; अतः उनका चिन्तन विकासोन्मुख न होकर एक अन्य वृत्त में ही घूमकर रह जाता है।

मार्क्सवाद के बाद इस सांस्कृतिक संकट के दौरान में दूसरा इन्द्रजाल मनोविश्लेषण का रहा है, ऐसा कार्ल यास्पर्स कहता है। इसका कारण यह है कि मनोविश्लेषण ने भी ऐसे सिद्धान्त प्रचारित किये हैं जो मानव-आचरण को उसके स्वतन्त्र विवेक और वैयक्तिक संकल्प का परिणाम

१. कार्ल यास्पर्स—'रीज़न एण्ड एण्टी रीज़न इन अवर टाइम्स'।
२. माओ-त्से-तुङ्ग—'ऑन प्रैक्टिस'।

न मानकर उसकी ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जो मनुष्य को एक सभ्य पशु या अनपहचाना हुआ विक्षिप्त मानती हैं; जिनके अनुसार मनुष्य का तथाकथित विवेकपूर्ण व्यवहार भी विश्लेषण के बाद उसके अचेतन में स्थित दमित वासनाओं, अन्ध प्रवृत्तियों और कुण्ठित कामनाओं की यान्त्रिक प्रतिक्रिया-मात्र सिद्ध होता था। फ्रायड ने स्पष्ट कहा था कि हमारे मन की चेतन परत तो केवल एक तिहाई होती है। उसके नीचे दो तिहाई अर्द्ध चेतन और अचेतन मानसिकता है, जिसका बोध नहीं रहता। उन जमींदोज तहखानों, सुरंगों और काल कोठरियों में हमारे पुराने भय, पुरानी आशंकाएँ, पुरानी घृणाएँ बहुत गहरे उतरकर छिपकर बैठ जाती हैं और वे चेतन स्तर पर होने वाले निर्णयों को अदृश्य सूत्र द्वारा कठपुतली की तरह संचालित करती रहती हैं।

इस प्रकार वास्तव में यास्पर्स का यह आरोप सही सिद्ध होता है कि मनोविश्लेषण एक दूसरे प्रकार की यान्त्रिकता का प्रतिपादन करता है और स्वतन्त्र विवेक और संकल्प को अस्वीकार करके मनुष्य की विकासोन्मुख दिशाओं को अवरुद्ध करता है। फ्रायड के चिन्तन की इसी सीमा को पहचानकर उसके दोनों शिष्य युङ्ग और एडलर उसके जीवन-काल में ही उससे पृथक् हो गए थे, युङ्ग ने इस यान्त्रिकता के परिहार के लिए व्यक्तित्व के सृजनात्मक सन्तुलन का सिद्धान्त विकसित किया, जिसे वह आत्मा का स्थानापन्न मानता है। एडलर ने मानव-व्यक्तित्व को उसके सामाजिक सम्बन्धों में आँकने की दिशा अपनाई, ग्रोडेक ने अहम् के अतिरिक्त अन्तर्जगत् में इदम् की आन्तरिक व्याख्या प्रस्तुत की और उसके बाद के बहुत-से चिन्तक विभिन्न दिशाओं में मनोविश्लेषण के सिद्धान्त का जो विकास कर रहे हैं वह दिनानुदिन मानव-विवेक और संकल्प के महत्त्व को पुनः स्थापित कर रहा है।

किन्तु यहाँ पर यह संकेत कर देना आवश्यक है कि मानवीय मूल्य-मर्यादाओं को अपनी सहज प्रकृति से ग्रहण करने वाले साहित्य ने मनोविश्लेषण की यान्त्रिकता को कभी भी यथावत् नहीं स्वीकार किया था। फ्रायड के पहले भी कलाकार अन्तर्जगत् के इन रहस्यों से अपरिचित नहीं था और फ्रायड के दस-बीस वर्ष पूर्व ही डास्टावस्की की वे अमर कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं, जिन्हें मनुष्य के अज्ञात अचेतन जगत् का विराट् मानचित्र कहा जाता है। लेकिन फ्रायड ने जब डास्टावस्की का अध्ययन किया तो उसे कहीं कुछ ऐसा मिला, जो उसके यान्त्रिक मनोविश्लेषण के संकीर्ण सिद्धान्त में नहीं बँध पाता था। उसने स्पष्ट कहा कि इस साहित्य में कहीं कुछ है जिसके सामने मनोविश्लेषण को अपने हथियार रख देने पड़ते हैं। वह कुछ क्या है ?

आज इस प्रश्न का उत्तर सरल है। डास्टावस्की इन अन्ध चेतनाओं की पराजय और मानव-संकल्प की विजय को बड़ी सूक्ष्मता से स्थापित करता है। यद्यपि वह बार-बार ईसाई साम्प्रदायिक चिन्तन की भाषा में बोलता है किन्तु वह इन आसुरी शक्तियों पर जीसस की विजय को अनिवार्य मानता है। जीसस वास्तव में मानवीय संकल्प के विकासोन्मुख रूप का प्रतीक है, जो करुणा और क्षमा द्वारा मनुष्य के अन्तर में बैठी हुई अन्ध आसुरी शक्तियों को क्षीण कर देता है।[1] हिन्दी के उन लेखकों में भी, जिन्होंने मनोविश्लेषण का सहारा लिया, अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से यह संस्कार रहा है। इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' की भूमिका में मन की अतल गहराई में स्थित नरक में ही स्वर्ग के अवतरण की कल्पना की थी और अन्तिम कृति 'जिप्सी' में तो वे जीसस की ही कथा के प्रतीकों को ले आए हैं। अज्ञेय के 'शेखर' के द्वितीय भाग में बाबा मदनसिंह

1. द्रष्टव्य—द डेविल्स, ब्रदर्स कारॉमज़व—'ए लिटिल मीक गर्ल'।

अन्तर्निहित एकता का संकल्प है लेकिन इन व्यवस्थाओं और सिद्धान्तों द्वारा बार-बार किसकी हत्या हो रही है? कौन है जो इन गलत पगडण्डियों पर बार-बार हमसे छूटा जा रहा है? वह है मनुष्य के अस्तित्व के विकास की सम्भावना; जिसका साधन है—मात्र-विवेक।"[1] यही नहीं वह यह भी मानता है कि इन दूषित परिस्थितियों ने विवेकपूर्ण सिद्धान्तों का तिरस्कार करके उन बाजीगरों और ज्योतिषियों को मान्यता दिलाई है जो मानव-विवेक पर नहीं बल्कि संकट-काल में उभरने वाली उसकी अन्ध-विश्वासी प्रवृत्तियों का दुरुपयोग करते हैं। पतन-शीलता के क्षणों में, निराशा और कायरता की घड़ियों में बार-बार जनता ने इन नटों, बाजीगरों, तांत्रिकों, ऐन्द्रजालिकों और चमत्कारवादियों को मान्यता प्रदान की है; जो मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण के मन्त्र और अनुष्ठान बनाते हैं और अपनी झोली में हर व्याधि की दवा रखने का दावा करते हैं। वह मार्क्सवाद और बूर्ज्आ मनोविज्ञान दोनों को ही मानव के स्वतन्त्र विवेक का शत्रु मानता है; जो केवल संकट के क्षणों के भावावेश का सहारा लेकर पोषित हो रहे हैं।

: ७ :

लेकिन कार्ल यास्पर्स के निष्कर्ष से बहुत अंशों तक सहमत होते हुए भी आचरण पर मूल्य-मर्यादा की व्यापकता के आधार पर हम उसके आकलन के सर्वांश से सहमत नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए यह कहना अन्याय होगा कि मार्क्स ने आचरण की मर्यादा स्वीकार ही नहीं की। यह पहले कहा जा चुका है कि मार्क्स ने अपने भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कहा था कि वस्तुसत्य को धारणा द्वारा नहीं वरन् सक्रियता द्वारा हृदयंगम करना चाहिए। इस-लिए बार-बार मार्क्सीय शासकों द्वारा यह बताया जाता है कि सैद्धान्तिक चिन्तन ही नहीं वरन् क्रान्तिकारी सक्रियता (revolutionary practice) मानव-सत्य के मार्क्सीय रूप को समझने के लिए अनिवार्य है।[2] लेकिन मार्क्स का यदि आशय यह था कि वह इस सक्रियता को ही आचरण का स्थानापन्न बना दे तो वह सम्भव न हो सका; क्योंकि इस प्रकार की अनुशासित, आयोजित और नियन्त्रित सक्रियता कल-कारखानों के मशीनी पुर्जों के लिए उपादेय है, और मानवीय आचरण के लिए सर्वथा अस्वाभाविक; क्योंकि उसमें विवेक की स्वतन्त्रता बिलकुल नहीं रहती। लेकिन मार्क्स के चिन्तन की इस हदबन्दी से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि मार्क्स इसके महत्त्व से अवगत नहीं था और न यही निष्कर्ष निकलता है कि अधुनातन कम्युनिस्ट कमिस्सार कलाकार के आचरण और विवेक के इस विभाजन द्वारा आ जाने वाले गतिरोध और कुण्ठा से अवगत नहीं हैं। ज़्दैनव के तीव्र भर्त्सनात्मक वक्तव्य तथा कुओ मो जो और चाउ एन लाई के चीनी कलाकारों के प्रति उद्बोधनात्मक सन्देशों में इस आन्तरिक संकट की गहरी चेतना मिलती है किन्तु उनकी सम्प्रदायगत सीमाएँ मानव-विवेक को स्वाधीनता देने के पक्ष में नहीं हैं; अतः उनका चिन्तन विकासोन्मुख न होकर एक अन्य वृत्त में ही घूमकर रह जाता है।

मार्क्सवाद के बाद इस सांस्कृतिक संकट के दौरान में दूसरा इन्द्रजाल मनोविश्लेषण का रहा है, ऐसा कार्ल यास्पर्स कहता है। इसका कारण यह है कि मनोविश्लेषण ने भी ऐसे सिद्धान्त प्रचारित किये हैं जो मानव-आचरण को उसके स्वतन्त्र विवेक और वैयक्तिक संकल्प का परिणाम

१. कार्ल यास्पर्स—'रीज़न एण्ड एण्टी रीज़न इन अवर टाइम्स'।

२. माओ-त्से-तुङ्ग—'ऑन प्रैक्टिस'।

न मानकर उसकी ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जो मनुष्य को एक सभ्य पशु या अनपहचाना हुआ विक्षिप्त मानती हैं; जिनके अनुसार मनुष्य का तथाकथित विवेकपूर्ण व्यवहार भी विश्लेषण के बाद उसके अचेतन में स्थित दमित वासनाओं, अन्ध प्रवृत्तियों और कुण्ठित कामनाओं की यान्त्रिक प्रतिक्रिया-मात्र सिद्ध होता था। फ्रायड ने स्पष्ट कहा था कि हमारे मन की चेतन परत तो केवल एक तिहाई होती है। उसके नीचे दो तिहाई अर्द्ध चेतन और अचेतन मानसिकता है, जिसका बोध नहीं रहता। उन जमींदोज तहखानों, सुरंगों और काल कोठरियों में हमारे पुराने भय, पुरानी आशंकाएँ, पुरानी घृणाएँ बहुत गहरे उतरकर छिपकर बैठ जाती हैं और वे चेतन स्तर पर होने वाले निर्णयों को अदृश्य सूत्र द्वारा कठपुतली की तरह संचालित करती रहती हैं।

इस प्रकार वास्तव में यास्पर्स का यह आरोप सही सिद्ध होता है कि मनोविश्लेषण एक दूसरे प्रकार की यान्त्रिकता का प्रतिपादन करता है और स्वतन्त्र विवेक और संकल्प को अस्वीकार करके मनुष्य की विकासोन्मुख दिशाओं को अवरुद्ध करता है। फ्रायड के चिन्तन की इसी सीमा को पहचानकर उसके दोनों शिष्य युङ्ग और एडलर उसके जीवन-काल में ही उससे पृथक् हो गए थे, युङ्ग ने इस यान्त्रिकता के परिहार के लिए व्यक्तित्व के सृजनात्मक सन्तुलन का सिद्धान्त विकसित किया, जिसे वह आत्मा का स्थानापन्न मानता है। एडलर ने मानव-व्यक्तित्व को उसके सामाजिक सम्बन्धों में आँकने की दिशा अपनाई, ग्रोडेक ने अहम् के अतिरिक्त अन्तर्जगत् में इदम् की आन्तरिक व्याख्या प्रस्तुत की और उसके बाद के बहुत-से चिन्तक विभिन्न दिशाओं में मनोविश्लेषण के सिद्धान्त का जो विकास कर रहे हैं वह दिनानुदिन मानव-विवेक और संकल्प के महत्त्व को पुनः स्थापित कर रहा है।

किन्तु यहाँ पर यह संकेत कर देना आवश्यक है कि मानवीय मूल्य-मर्यादाओं को अपनी सहज प्रकृति से ग्रहण करने वाले साहित्य ने मनोविश्लेषण की यान्त्रिकता को कभी भी यथावत् नहीं स्वीकार किया था। फ्रायड के पहले भी कलाकार अन्तर्जगत् के इन रहस्यों से अपरिचित नहीं था और फ्रायड के दस-बीस वर्ष पूर्व ही डास्टावस्की की वे अमर कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं, जिन्हें मनुष्य के अज्ञात अचेतन जगत् का विराट् मानचित्र कहा जाता है। लेकिन फ्रायड ने जब डास्टावस्की का अध्ययन किया तो उसे कहीं कुछ ऐसा मिला, जो उसके यान्त्रिक मनोविश्लेषण के संकीर्ण सिद्धान्त में नहीं बँध पाता था। उसने स्पष्ट कहा कि इस साहित्य में कहीं कुछ है जिसके सामने मनोविश्लेषण को अपने हथियार रख देने पड़ते हैं। वह कुछ क्या है ?

आज इस प्रश्न का उत्तर सरल है। डास्टावस्की इन अन्ध चेतनाओं की पराजय और मानव-संकल्प की विजय को बड़ी सूक्ष्मता से स्थापित करता है। यद्यपि वह बार-बार ईसाई साम्प्रदायिक चिन्तन की भाषा में बोलता है किन्तु वह इन आसुरी शक्तियों पर जीसस की विजय को अनिवार्य मानता है। जीसस वास्तव में मानवीय संकल्प के विकासोन्मुख रूप का प्रतीक है, जो करुणा और क्षमा द्वारा मनुष्य के अन्तर में बैठी हुई अन्ध आसुरी शक्तियों को क्षीण कर देता है।[1] हिन्दी के उन लेखकों में भी, जिन्होंने मनोविश्लेषण का सहारा लिया, अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से यह संस्कार रहा है। इलाचन्द्र जोशी ने 'प्रेत और छाया' की भूमिका में मन की अतल गहराई में स्थित नरक में ही स्वर्ग के अवतरण की कल्पना की थी और अन्तिम कृति 'जिप्सी' में तो वे जीसस की ही कथा के प्रतीकों को ले आए हैं। अज्ञेय के 'शेखर' के द्वितीय भाग में बाबा मदनसिंह

१. द्रष्टव्य—द डेविल्स, ब्रदर्स कारॉमज़व—'ए लिटिल मीक गर्ल'।

का चरित्र और उनके सूत्र, जिनमें दर्द के द्वारा विश्वास की उपलब्धि बताई गई है, इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। उनकी कुछ कविताओं में तो यह भी कहा गया है कि यह दर्द जिनको माँज़ता है उन्हें मुक्त करता है और उन्हीं को यह दृष्टि भी देता है कि वे दूसरों को मुक्त रखें।

: ८ :

इधर अन्तर्जगत् की एक नई व्याख्या अरविन्द ने की है, जिसकी स्थापनाओं से चाहे लोग पूर्णतया न सहमत हों किन्तु जिसका प्रभाव भारतीय साहित्यिकों पर काफी रहा है। फ्रायड के अचेतन और अर्द्ध चेतन की ही तरह अरविन्द ने चेतन स्तर के बाद ऊर्ध्व चेतना के स्तर परिकल्पित किये और उनके लिए डार्विन के विकासवाद के कुछ तर्क अपनाए। अरविन्द ने कहा कि अमीबा से लेकर मनुष्य तक जीव की चेतना का निरन्तर विकास होता गया है; किन्तु मनुष्य तक आकर ही उसका विकास रुक जाय इसका कोई कारण नहीं दृष्टिगोचर होता। इसके साथ-ही-साथ पाश्चात्य मनोविज्ञान मनुष्य के आचरण की प्रेरणा उसके अतीत में मानता है, लेकिन उसका भविष्य-विकास भी उसके वर्तमान आचरण का कारण (प्रयोजन के रूप में) बन सकता है इसकी ओर से वह दृष्टि फेर लेता है।[1] अरविन्द और उनके प्रतिभाशाली अनुयायियों ने इस प्रकार ऊर्ध्व चेतना के विकासोन्मुख स्वभाव की प्रतिष्ठा करके उसमें संकल्प की वृत्ति जगाकर उसके आचरण को सार्थक और प्रयोजनवान बनाया; यह उनकी बहुत बड़ी देन है। किन्तु जहाँ वे आचरण की मर्यादा को वर्तमान जीवन के बजाय किसी रहस्यमय भविष्य और मानवोपरि दिव्य सत्य की ओर उन्मुख मानने लगते हैं, वहीं वे लगभग उसी प्रकार के पलायन का प्रतिपादन करते हुए से प्रतीत होते हैं जिसका दोषी मार्क्सीय भाग्यवाद है; जो भविष्य के स्वप्न में मानसिक क्षति-पूर्ति करता है। रहस्यवादी चिन्तनों की इस दुर्बलता की ओर आर्थर केस्लर ने अपने प्रख्यात निबन्ध 'योगी एण्ड द कमिस्सार' में संकेत किया है जहाँ वह यह कहता है कि अक्सर अपने द्वारा प्रतिपादित मूल्य-मर्यादाओं की स्थापना समाज में न कर पाकर योगी किसी कल्पित दिव्यता या परमत्व में आश्वासन खोजने लगता है। अरविन्द के दर्शन का यह अंश आचरण के प्रति मानव-संकल्प को कहीं दुर्बल तो नहीं कर देता इसके विषय में अभी काफी आशंकाएँ हैं।

: ९ :

संकल्प और आचरण की एकतापरक मर्यादाओं का सबसे स्पष्ट निरूपण उन नई विचार-धाराओं में मिलता है जो मानवीय आचरण की सार्थकता एक ऐसी सामाजिक सन्तुलित वैयक्तिकता में मानते हैं जो कुछ स्थायी किन्तु विकासशील मूल्यों द्वारा मर्यादित होती है। पच्छिम में ऐसी अधिकांश चिन्तन-धाराएँ, चाहे वे कैथोलिक हों या ईसाई अस्तित्ववादी, 'बाइबल' में जीसस के प्रवचन की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत करती हैं और पूर्व में इन नई चिन्तनाओं का आधार गीता की नई व्याख्या है। इन दोनों में अद्भुत समानता है। यह गांधी के चिन्तन-विकास से ही स्पष्ट है; जो एक ओर गीता और दूसरी ओर रस्किन के 'अन टु दिस लास्ट', टाल्सटाय के निबन्धों

---

1. इस विषय में इण्डियन फिलासफिकल कांग्रेस (१९४६) में मनोविज्ञान परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया गया डॉ० इन्द्रसेन का भाषण पठनीय है; जिसमें उन्होंने अरविन्द की कसौटी पर मनोविज्ञान के आधुनिकतम निकायों की परीक्षा की है।

और जीसस के पर्वत-प्रवचन से प्रेरित है। गांधी द्वारा प्रस्तुत जीवन-दर्शन में मानव-विवेक की स्वतन्त्रता की एक क्रान्तिकारी व्याख्या की गई है। उनका यह कहना था कि आचरण में न केवल संकल्प वरन् साध्य और साधन की एकता भी आवश्यक है, क्योंकि यदि हमारा साध्य समता और प्रेम है और उसकी स्थापना के लिए हम विषमता और घृणा को प्रयुक्त करते हैं तो वास्तव में हम अपने विवेक को पराधीन ही बना लेते हैं। क्योंकि हमारा आचरण हमारे द्वारा स्वीकृत मूल्य पर आधारित नहीं रहा; वह तो प्रतिपक्षी का जवाब देने के लिए उसीके साधन द्वारा अनुशासित विवेक हो गया। "सामने वाला जैसा होगा वैसा हम बनेंगे," इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमें नचायगा वैसा ही हम नाचेंगे। आरम्भ शक्ति या पहल (इनिशिएटिव) हमने उसके हाथ सौंप दी। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उससे एक दुष्ट चक्र तैयार होता है। दुर्जनता का एक सिलसिला जारी है। उसको तोड़ना है तो हिम्मत करनी चाहिए।[1] इस प्रकार साध्य और साधन के बीच जो खाई पड़ गई थी उसकी यह सबसे नाजुक दरार थी और हमारे विवेक को पराधीन बनाने वाली सबसे बारीक मगर सबसे मजबूत जंजीर थी जिसकी ओर गांधी ने संकेत करके विश्व की विचार-धारा को सबसे अधिक झकझोरा है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया है रोमारोलाँ, स्टीफेन ज्वीग, आल्डुअस हक्सले, केस्लर, आडेन, स्पेण्डर, इशरवुड, इलियट, हरबर्ट रीड, गेब्रीला मिस्त्राल, लिनयुतांग, सभी एक के बाद एक गांधी-विनोबा की साध्य-साधन-एकता के सिद्धान्त को ही अन्तिम औषधि के रूप में स्वीकार करते गए हैं। कृष्ण द्वारा उपदिष्ट निष्काम कर्म की मूल्य-मर्यादा को नये ढंग से विकसित किये बिना, मानव-विवेक की इस अन्तिम हिंसा-परक, मिथ्या-परक जंजीर को तोड़े बिना भविष्य का स्वप्न सन्दिग्ध है, इसी तथ्य की ओर टी० एस० इलियट का संकेत है, जब वह कहता है :

> I sometimes wonder if that is what Krishna meant—
> Among other things—or one way of putting the same thing:
> That the future is a faded song, a royal rose or a lavender spray
> Of wistful regret of those who are not yet here to regret
> Pressed between yellow leaves of a book that has never been opened.[2]

भविष्य को प्रकाश में लाने के लिए इस पुस्तक को पहली बार खोलना बिलकुल हमारे हाथ में है। यह इनिशिएटिव, यह पहल हमारे हाथ में है कि हम अपने द्वारा उपलब्ध मूल्य को इसी क्षण आचरण में व्यक्त करके भविष्य का निर्माण करते हैं या नहीं, यदि नहीं तो कोई और भविष्य का निर्माण करने नहीं जा रहा है, वह भविष्य इलियट के शब्दों में विवर्ण संगीत सिद्ध होगा—ऐसे लोगों के लिए भग्न-हृदय पश्चात्ताप; जो अभी पश्चात्ताप करने के लिए पैदा ही नहीं हुए और चूँकि इतनी बड़ी जिम्मेवारी हम पर है, अतः हमें सत्य की निष्ठा के लिए कोई समझौता नहीं करना चाहिए, अपने विवेक पर बाँधी जाने वाली कोई भी जंजीर नहीं सहनी चाहिए और हम अपने विवेक द्वारा जिस परिणाम पर पहुँचते हैं, यदि सारी दुनिया भी उसके विरुद्ध हो तो हमें उस पर अटल रहना चाहिए—गांधी-विनोबा ने बार-बार इस आशय की बात कही है। इसको हम चरम व्यक्तिवादी अराजकता के रूप में स्वीकार न करके इसके क्रान्तिपरक

१. विनोबा—'सर्वोदय विचार', पृष्ठ ५।
२. टी० एस० इलियट—'द ड्राई सैल्वेजेज़'।

अर्थ समझ सकेंगे; यदि हम एमर्सन का वह कथन याद रखें कि "हर महान् जन-क्रान्ति पहले-पहल किसी एक व्यक्ति के मानस में विचार-बीज के रूप में स्थित रही है।"

इसीसे यह स्पष्ट है कि वैयक्तिक स्वातन्त्र्य पर यह आग्रह १९वीं शताब्दी की बूर्जुआ व्यक्तिवादी चिन्तन-धाराओं के आग्रह से बिलकुल अलग है। वे चिन्तन-धाराएँ या तो व्यक्ति को केवल एक राजनीतिक वोट मानती थीं, या श्रम कर सकने वाली एक बिकने योग्य वस्तु। बिना आर्थिक सुविधा के व्यक्ति की राजनीतिक या आर्थिक स्वतन्त्रता की बात करना एक बूर्जुआ भ्रम था, क्योंकि आर्थिक स्तर पर एक वर्ग का व्यक्ति अपना श्रम बेचने को 'विवश' है, और दूसरा उसे खरीदने को 'स्वतन्त्र', एक व्यक्ति पिसने को 'विवश' है और दूसरा पीसने को 'स्वतन्त्र'। मार्क्स ने इस प्रकार की स्वतन्त्रता का रहस्य भली भाँति उद्घाटित किया था।

लेकिन आज की पूर्वीय और पच्छिमी वैयक्तिकतापरक विचार-सरणियाँ वैयक्तिकता के जिस पक्ष को विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता देने का आग्रह कर रही हैं उसका एक अनिवार्य प्रगतिपरक सामाजिक महत्त्व है। इसीलिए मूनियर, बर्डेव, कीट्स, मैरिटेन—सभी बूर्जुआ प्रतिक्रियापरक व्यक्तिवादिता से अपने वैयक्तिकतावाद को पृथक् मानते हैं।[1] इसके लिए वे दो पृथक् शब्दों का व्यवहार करते हैं—Individualism और Personalism। इन दोनों का अन्तर बताते हुए बर्डेव यह कहता है कि individualism वह सीमाबद्ध मनोवृत्ति है जो असंस्कृत, असामाजिक अन्ध-प्रेरणाओं से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया के रूप से हमारे व्यक्तित्व में उदित हो जाती है और हमें व्यक्तिगत स्वार्थों और सीमाओं की ओर उन्मुख करती है। personalism व्यक्ति का आन्तरिक धर्म है, विकासोन्मुख सृजनात्मक वृत्ति है; जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्यों को उनकी समग्र सम्पूर्णता में पहचानकर उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार करके अपने व्यवहार को मर्यादित करती है। इस वैयक्तिकता को सुरक्षित रखना आवश्यक है, क्योंकि वैयक्तिकता

१. वैयक्तिकतावाद का इतिहास बड़ा ही स्फूर्तिदायक और रोमांचक है। वैसे तो ये विचार लाट्जे के ही समय से विकसित हो रहे थे और कैथोलिक चिन्तकों, अस्तित्व-वादियों तथा नवमार्क्सवादियों (मैनहीम, लास्की) ने इसके विकास में सहायता दी, किन्तु सबसे पहले मूनियर नामक फ्रेन्च विचारक ने १९३२ में वैयक्तिकतावादी घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। उसके बाद समस्त यूरोप और अमेरिका में साहित्य, अर्थशास्त्र, अध्यात्म-चिन्तन, राजनीति, समाज-शास्त्र-ज्ञान के सभी क्षेत्रों में यह सिद्धान्त छा-सा गया। इसके विकास की कई घटनाएँ बड़ी रोमांचक हैं। मूनियर का पत्र Espirit ही इसका मुखपत्र था। फ्रान्स का पतन होते ही फाशिस्तों के प्रभाव से मार्शल पेताँ ने मूनियर को कैद कर लिया और पत्र को बन्द करवा दिया। किसी तरह फिर पत्र चला। हालैण्ड में जर्मनों ने बहुत से राजनीतिक बन्दियों को कैम्पों में नज़रबन्द कर रखा था। वे द्वितीय युद्ध के दौरान में नाजी जर्मनी, पूँजीवादी अमेरिका और स्तालिनवादी रूस तीनों से असन्तुष्ट थे। उनमें से कुछ आस्तिक थे, कुछ नास्तिक। जब उनके पास Espirit की प्रतियाँ गुप्त रूप से पहुँचीं तो उन्होंने पाया कि वे जिन प्रश्नों का समाधान ढूँढ रहे थे, वह इसी दृष्टिकोण में है। एक विशेषता इसकी यह है कि मूनियर इसे कोई 'वाद' न कहकर एक दृष्टि कहता है। ठीक जैसे विनोबा सर्वोदय को 'दल' न कहकर 'समाज' कहते हैं, 'वाद' न कहकर 'वृत्ति' कहते हैं।

का स्फुरण मानवीय मूल्य की समग्रता की खोज और उसकी स्थापना में ही होता है, प्रत्येक विकासोन्मुख संस्कृति में अधिक-से-अधिक महान् लेखक, चिन्तक, कलाकार और वैज्ञानिक होते हैं, क्योंकि उसमें वैयक्तिकता को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है और अधिक-से-अधिक व्यक्ति मानवता के स्थायी मूल्यों की खोज, साक्षात्कार और स्थापना में तल्लीन रहते हैं, अपने ढंग से, अपनी तात्कालिक ऐतिहासिक स्थिति में उस मूल्य की व्याख्या करते हुए सामूहिक प्रगति या विकास करने को स्वतन्त्र रहते हैं।

प्रख्यात फ्रेञ्च अस्तित्ववादी नाटककार ग्ब्रील मार्सेल इसकी व्याख्या बड़े स्पष्ट शब्दों में करता है—"हम आज कहते हैं कि हमारी संस्कृति मरणोन्मुख है। इसके अर्थ क्या हैं? क्या कोई भूचाल उसे नष्ट कर रहा है, क्या कोई जल-प्रलय आ रहा है, या ऊँची-ऊँची पक्की इमारतों की छतें गिर रही हैं, या कोई महामारी फैल रही है। नहीं, बाह्य जगत् में यह-सब-कुछ नहीं होने जा रहा है। मरणोन्मुख संस्कृत से मतलब यह होता है कि हमारी संस्कृति का आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुष्य में आन्तरिक रुग्णता आ गई है। क्या यह आन्तरिक रुग्णता केवल एक शिविर में या एक व्यवस्था की संस्कृति में है? नहीं। हमारी वर्तमान स्थिति में दोनों ओर की सत्ताएँ प्रगति की शत्रु हैं, अतः वे जान-बूझकर मनुष्य की आन्तरिक वैयक्तिकता को रुग्ण और कुण्ठित बना रही हैं। वैयक्तिक आन्तरिकता के विरुद्ध इस गुप्त कीटाणु-युद्ध के तरीके बड़े ही विचित्र और नृशंस हैं। व्यक्ति में भय का संचार किया जाता है, उसके स्वाभिमान को तोड़ा जाता है, घृणा और हिंसा के भाववेश में लाया जाता है, सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक साधनों से उसे इतना जर्जर कर दिया जाता है कि वह अपनी वैयक्तिकता पर अधिकार खो बैठता है, जिन कर्मों को वह करता है उसका उत्तरदायी अपने को नहीं मानता और जिन कर्मों को नहीं करता उनका अपराधी अपने को मानकर झूठे बयान पर स्वेच्छा से हस्ताक्षर कर आता है, धीरे-धीरे वह विवेक से शून्य स्वतन्त्र संकल्प से रहित, भावावेशों, बाह्य हिप्नाटिक प्रभावों और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधों से परिचालित मानव-यन्त्र-मात्र रह जाता है। भय-संचार की इस टेकनीक का पूर्णतम विकास पूँजीवादी देशों में अणुबम के रूप में हुआ है और साम्यवादी देशों में चिन्तन-पारतन्त्र्य के रूप में।"[1]

इसीलिए आज इस नये प्रसंग में वैयक्तिकता की स्वतन्त्रता की माँग का अर्थ प्रगति की स्वतन्त्रता की माँग करना है, संस्कृति को रुग्णता से मुक्त रखने की माँग करना है। वैयक्तिकता की सुरक्षा की हुंकार बड़े स्पष्ट रूप से लुई मैकनीस ने अपनी एक कविता में की है जहाँ एक अनजन्मा शिशु जन्म के पूर्व अपनी कुछ शर्तें रखता है :

> I am not yet born : O hear me
> Let not the blood sucking rat or the bat or the stoat or the clubfooted ghoul come near me.
> I am not yet born : console me
> I fear that the human race with tall walls wall me,
> with strong drugs dope me, with wise lies lure me,
> on black racks rack me, in blood baths roll me.

1. गैब्रील मार्सेल—'मैन अगेन्स्ट ह्यूमेनिटी।'

I am not yet born; O fill me
with strength against those who would freeze my
humanity, would dragoon me into a lethal autowaton
would make me a cog in the machine, a thing with
one face, a thing, against all those
who would dissipate my entirety, would
blow me like a thistle down hither and
thither or hither and thither,
like water held in hand spill me.
Let them not make me a stone and let them not spill me
Otherwise kill me.[1]

: १० :

आचरण की मर्यादा—स्वातन्त्र्य;
स्वातन्त्र्य की मर्यादा ?

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की इस अदम्य घोषणा का अर्थ अराजकता, उच्छृङ्खलता, निरंकुशता और दायित्वहीनता नहीं है। उसके साथ एक दायित्व भी है—मूल्यों की खोज, उनकी मानववादी सामाजिक व्याख्या और आचरण में इसकी सक्रिय परिणति। पाश्चात्य वैयक्तिकतावादी चिन्तकों की भाषा में यह वैयक्तिकता मूल्यों के ग्रहण और विकास की दिशा में स्व-संचालित गति है, जिसमें स्वातन्त्र्य और दायित्व का आन्तरिक विकासोन्मुख समन्वय रहता है।[2] गीता की भाषा में विनोबा ने स्वातन्त्र्य और सामाजिक मूल्यगत दायित्व के इस समन्वय को स्वधर्म (स्व + धर्म) की संज्ञा दी है: "स्वधर्म कितना ही विगुण क्यों न हो...उसीमें रहने से विकास हो सकता है। यही विकास का सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें व छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है, न छोटा। वह हमारे ब्यौंत भर का होता है।"[3] अपने ब्यौंत के अनुसार, अपने 'स्व' के अनुसार धर्म या दायित्व की स्वीकृति हर व्यक्ति को उसकी वैयक्तिक सार्थकता प्रदान करती है, इसीके द्वारा उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को नये सामाजिक अर्थ मिलते हैं और वह विकासोन्मुख संस्कृति की प्राणवान इकाई बनने में समर्थ हो पाता है। मानवीय संस्कृति का विकास केवल नये बाँध, नई रेलें, नये नगरों का विकास नहीं है, वह मानव की आन्तरिकता का विकास है; जो दर्शन, चिन्तन, कला, संगीत, साहित्य, स्थापत्य, अर्थ और राजनीति के क्षेत्रों में मूल्यों के नित्य नवीन विकास को नियोजित करता है। यह उसी सांस्कृतिक व्याख्या में सम्भव है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है और अपने दायित्व को खोजकर, उससे अपनत्व अनुभव करके, उसे अपना स्वधर्म मानकर उसीमें अपने अस्तित्व की सार्थकता मानता है।

१. लुई मैकनीस—'प्रेयर ऑफ़ एन अन्बार्न चाइल्ड'।
२. तत्सम्बन्धी पाश्चात्य वैयक्तिकतावादी चिन्तकों के विस्तृत विचार जानने के लिए द्रष्टव्य—'द क्राइसिस ऑफ़ ह्यूमन परसन'—जे० बी० कोट्स।
३. विनोबा—'गीता प्रवचन', पृष्ठ ६।

मूल्यपरक दायित्व को स्वीकार न करके जो मूल्यहीन स्वतन्त्रता पर ही आग्रह करते हैं उनकी वैयक्तिकता कितनी बंजर और शून्य, कुहायुक्त, दिशाहीन भूल-भुलैयाँ में भटक जाती है इसका शायद सबसे रोचक और सबसे ताजा उदाहरण जाँ पाल सार्त्र और उसका नास्तिक अस्तित्ववाद है। सार्त्र ने स्थायी मानव-मूल्यों को आमूल अस्वीकृत करके व्यक्ति की अबाध किन्तु अस्वाभाविक और अमर्यादित स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया है। वह मनुष्य को बिलकुल स्वतन्त्र, निरपेक्ष सत्ता मानता है, जिसकी कोई मर्यादाएँ नहीं, कोई मूल्य नहीं, कोई नैतिकता नहीं, कोई प्रभु नहीं, कोई पूर्व-निश्चित मानवीय स्वभाव नहीं—वह परम स्वतन्त्र है, काल और दिशा से भी मुक्त, केवल स्वतन्त्रता की एक सत्ता। अपनी इस स्थिति में सार्त्र एक तीव्र संहारकारी अनास्था मात्र है, एक विराट्काय विध्वंसकारी संशय, जो सारी स्थापित मर्यादाओं के मूल को ही नहीं मानता, जो एक सीमाहीन शून्यता के सागर में निरुद्देश्य डोल रहा है।[1]

किन्तु केवल यही सार्त्र के कला-व्यक्तित्व का विराम-चिह्न होता तो शायद उसका साहित्य इस तरह यूरोप पर न छा गया होता। किसी तरह मूल्यगत दायित्व की गुरुता और आचरण का संकल्प अपनी ही चिन्तन-सीमा में विकसित करने की उसकी प्यास भी इतनी तीखी रही है कि उसने एक वक्तव्य में विचित्र तर्कों द्वारा अपने अस्तित्ववाद को मानववाद की ही शाखा सिद्ध करने का प्रयास किया है। पाठक सहज में ही उन स्थापनाओं से सहमत नहीं हो पाता तो भी इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि वह अपनी दायित्वहीन निरर्थक स्वतन्त्रता की यातनापूर्ण यात्रा में एक क्षण भी उसे नहीं भूल पाया है जिसे छोड़कर (यास्पर्स के शब्दों में) हम बार-बार ग़लत पगडण्डियों पर भटकने लगते हैं। एलेन के शब्दों में सार्त्र उन चिन्तकों में से हैं जो प्रभु (मूल्य-मर्यादा) को स्वीकार भी नहीं करते, पर उसे भूल भी नहीं पाते। साहित्यकार की सहज आन्तरिक निष्ठा ने ही धीरे-धीरे सार्त्र को भी उसकी चिन्तन-धारा से मुक्ति दिलाकर व्यापक मूल्यगत दायित्व को स्वीकार करने के प्रति उन्मुख किया है और धीरे-धीरे वह भी एक नैतिक विवेक को स्वीकार करता जा रहा है जो मूल्यगत दायित्व से युक्त है और जिसके प्रसंग में उसकी मित्र, शिष्या और समीक्षक इरिस मर्डाक का कहना है कि उसकी वर्तमान गति पूँजीवादी जर्जर व्यक्तिवाद और कम्युनिस्ट दलानुशासन के बीच एक मध्यमार्ग की ओर है, जहाँ मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं बन सकता है।

साहित्य में मूल्यगत मर्यादा के विकास की सहज प्रकृति सदैव ही स्वातन्त्र्य और दायित्व के इस समन्वय को मान्यता प्रदान करती रही है, यह न केवल आधुनिक वरन् मध्य काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों से भी प्रमाणित होता है। वैष्णव मानववादी चिन्तन और साहित्य-परम्परा में जहाँ एक ओर कलाकार में अपनी वैयक्तिकता के प्रति अदम्य आत्माभिमान था, वहीं एक विराट् मूल्य-मर्यादा, एक महान दायित्व के प्रति आत्म-समर्पण भी था। वैष्णव कवि जब एक ओर कहता था "आजु हौं एक-एक करि टरिहौं। कै हम हीं, कै तुम ही माधव, अपुन भरोसे लरिहौं" तो दूसरी ओर उसका समर्पण भी अद्भुत था—"तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकम् तस्मिन्नेव करणीयम्।" मध्यकालीन वैष्णव चिन्तक के लिए वास्तव में प्रभु मानवीय मूल्य की चरम पूर्णता का ही पर्याय था, उस मूल्य-मर्यादा को ग्रहण करने का पथ उच्छृङ्खलता का नहीं वरन् स्वतन्त्रता और दायित्व से समन्वित 'स्वधर्म' का पथ है, भक्ति का पथ

१. सार्त्र के पहले दो उपन्यासों के नायकों की मनःस्थिति।

है; जो तुलसी के शब्दों में 'विरति' और 'विवेक' से 'संजुत' है। मानववादी साहित्य की यह एक स्थायी प्रकृति है जो बराबर विकसित होकर युग के दायित्व को ग्रहण करती चलती है। इसीलिए आज का मानववादी कलाकार भी भक्ति की ही मर्यादा को ग्रहण करता है:

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

(पर इसकी अपनी अद्वितीयता है, वैयक्तिकता है:)

यह जन है, गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा: ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा: ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय: यह मेरा: यह मैं स्वयं विसर्जित:
यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में ही काँपा
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसीने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़वे तम में
यह सदा द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त नेत्र
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर अखण्ड-अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भक्ति को दे दो।[1]

यह दीप वास्तव में कवि की वैयक्तिकता है जो अद्वितीय है। अखण्ड अपनापा है। गर्व-भरा है, किन्तु मानवीय मूल्य-मर्यादा के प्रति स्नेह-भरा भी। उसमें अपनी आग है, किन्तु भक्ति को, पंक्ति को, प्रकाश को अर्पित होने में ही उसकी सार्थकता है। यह अर्पण उस पर लादा हुआ नहीं है, उसका स्वधर्म है, उसके 'स्व' से विकसित है—यह मैं स्वयं विसर्जित!

स्वातन्त्र्य और दायित्व की इसी सामंजस्यमयी मर्यादा की ओर आधुनिक कैथोलिक कवि चार्ल्स पेगी अपनी 'फ्रीडम' शीर्षक कविता में संकेत करते हुए मनुष्य की तुलना एक ऐसे शिशु से करता है जो अभी तैरना सीख रहा है। पिता शिशु को हाथ का सहारा-मात्र देकर उसे धारा में छोड़कर तैरना सिखाता है, क्योंकि यदि वह उसे धारा में मुक्त न छोड़े तो बिना इस स्वतन्त्रता के वह कभी तैरना नहीं सीख सकता और यदि वह उसे बिलकुल मुक्त छोड़ दे, हाथ का भी सहारा न दे तो वह उसी समय डूब जायगा। आश्चर्यजनक यह है कि बिलकुल यही रूपक वैष्णव चिन्तन में भी मिलता है; जहाँ प्रभु (या मूल्य-मर्यादा) द्वारा निरुद्ध जीव भव-सागर में बहते हुए उस फूल के समान है जिसे प्रभु ने जल में हथेली डालकर अंजलि में निरुद्ध कर लिया है, इस प्रकार वह 'जन' भवसागर में भी है, और प्रभु की अंजलि में भी। दूसरी भाषा में इसे कहें तो इसका रूपक यह है कि स्वतन्त्रता और दायित्व से युक्त व्यक्तित्व वैयक्तिक स्थिति में स्वतन्त्र भी है और फूल की तरह मूल्य की विराट् अंजलि में भी। किन्तु यदि हम मूल्यगत दायित्व की मर्यादा से वंचित हो जाते हैं तो हमारी वैयक्तिकता प्राणहीन, गतिहीन होकर मूल्यहीनता के अथाह सागर में डूब जाती है—"हरिणा ये विनिर्मुक्ता ते मग्ना भवसागरे।"

1. अज्ञेय—'यह दीप अकेला'।

भक्ति की यह भावनामयी शैली किसी दिव्य मानवोपरि भ्रम की ओर हमें न ले जाय इसलिए यह संकेत कर देना आवश्यक है कि अन्ततोगत्वा हमारा यह दायित्व मानवीय मूल्य के ही प्रति है। रूपक की भाषा में कवि ने उसे प्रभु कहा हो, किन्तु उसका तात्पर्य मानवीय मूल्यों की समग्रता से ही है, जिसका प्रतिपालन हमारे सक्रिय जीवन में होता है। इस तथ्य को साहित्य ने अपनी सहज प्रकृति द्वारा सदैव पहचाना है। मध्ययुग का सन्त कवि कहता है : "जेती चलूँ तेती परदखना जो कुछ करूँ सो पूजा।" आधुनिक प्रयोगशील अंग्रेजी काव्य का प्रवर्तक गेरार्ड मेन्ले हापकिन्स कहता है : "निहाई पर हथौड़ा चलाना, शहतीर चीरना, दीवारों पर सफेदी करना, घोड़े हाँकना, सड़क बुहारना यह सब प्रभु के गौरव का परिवर्द्धन करते हैं,······ अतः मेरे बन्धुओ, जिन्दगी जियो!" क्योंकि इसी जीवन-प्रक्रिया के द्वारा हम मानवीय मूल्य को, प्रभु को सतत निर्मित और विकसित करते चलते हैं। रिल्के प्रभु से कहता है :

"We are all workmen : prentice, journeymen
Or master······ building you—you towering nave."

इसीको प्रतिध्वनित करते हुए सेसिल डेल्यूइस कहता है :

"God is a proposition
And we who prove him are his priests : his chosen."

इतना ही नहीं, रिल्के तो स्पष्ट चुनौती के स्वर में यह भी घोषणा करता है कि प्रभु की सार्थकता भी मनुष्य ही है, क्योंकि अन्ततोगत्वा प्रभु मानवीय मूल्यों की ही समग्रता का परम रूप है :

What will you do, God, when I die?
When I your pitcher, broken, lie?
When I your drink, go stale or dry?
I am your garb, the trade you ply
You lose your meaning losing me.

अन्ततोगत्वा हमारा दायित्व मानवीय मूल्य के ही प्रति है, यह न केवल रिल्के और हापकिन्स की भाँति आस्तिक मानववादियों ने स्वीकार किया वरन् नास्तिक समाजवादियों का भी झुकाव इसी ओर रहा। सोवियत साहित्य भी बार-बार अपने को सामाजिक मानववाद या नव-मानववाद की संज्ञा से अभिहित करता रहा, किन्तु वहाँ रह-रहकर यह तथ्य भुला दिया गया कि साहित्य केवल मूल्यगत मर्यादा ही ग्रहण कर सकता है, सम्प्रदायगत मर्यादा नहीं। जिन समाजवादी कलाकारों को मानवीय मूल्य के पक्ष में सम्प्रदाय को तिलांजलि देनी पड़ी है वे इस सूक्ष्म सत्य को भली भाँति हृदयंगम कर पाए हैं। तोगलियाती, थेलमैन और स्टालिन के सहयोगी सक्रिय कम्युनिस्ट लेखक इगनात्सियों सिलोने ने पार्टी छोड़ने के बाद जो कहा वह बहुत महत्वपूर्ण है : "समाजवाद में मेरा विश्वास आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक दृढ़ है।··· मैं भाग्य-जैसी चीज नहीं मानता······मैं मानता हूँ मनुष्य सबके ऊपर है। आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियाँ जो आज उसका गला दबाती हैं, जब उसकी दास बनेंगी तभी समाज का कल्याण होगा। साल-पर-साल बीतते गए हैं और मुझमें एक श्रद्धा का भाव तीव्रतर होता गया है, मानव और उसकी उस विकासोन्मुख चेतना के प्रति भी जो उसे कभी भी चैन नहीं लेने देती।······लेकिन मेरा खयाल है जैसे समाजवाद में विश्वास रखने वाला केवल मैं अकेला नहीं हूँ। 'ये पागलपन से भरे हुए सत्य' तो मार्क्सवाद से भी

पुराने हैं।.......अधिक अध्ययन और अनुभूति के फलस्वरूप (मार्क्सवाद के) वर्तमान सिद्धान्त निरर्थक सिद्ध हो सकते हैं किन्तु समाजवादी धारा फिर भी चलती रहेगी। समाजवाद किसी एक पद्धति का दास नहीं, वह तो एक आस्था है। समाजवादी चिन्तन-सम्प्रदाय अपने को वैज्ञानिक सिद्ध करने की जितनी चीख़-पुकार मचाते हैं उतने ही क्षणभंगुर सिद्ध होते जा रहे हैं। समाजवादी मूल्य स्थायी हैं। सम्प्रदाय और मूल्य के भेद पर आज ध्यान नहीं दिया जा रहा है, किन्तु वह भेद मूलगत है। सम्प्रदाय का संगठन करके एक पन्थ चलाया जा सकता है, किन्तु मूल्यों के आधार पर सभ्यता और संस्कृति का गठन होता है, नये जीवन की सृष्टि होती है।"

: ११ :

नया दायित्व

मानवीय मूल्य के प्रति प्रत्येक शिविर और प्रत्येक धारा में उभरकर आने वाली यह आस्था हमारी उस प्राथमिक स्थापना को सिद्ध करती है कि इस संकट में भी मनुष्य हारा नहीं है, बल्कि उसने उसका प्रत्युत्तर दिया है और दिनों-दिन उसने और भी सशक्त स्वरों में घोषित किया है कि वह प्रगति का सूत्रधार और इतिहास का निर्माता है। साम्प्रदायिक अनुशासन जहाँ भी उसकी प्रगति-चेतना में आड़े आए हैं, उनका उसने साहसपूर्वक अतिक्रमण किया है। उसकी यह यात्रा सरल नहीं रही है, किन्तु सेसिल डे ल्यूइस के शब्दों में उसने निराशा में से जिन्दगी की चिनगारी ढूँढ़ी है और इस्पात में से गीत जगाये हैं।

यह नई मर्यादा एक सक्रिय दायित्व के रूप में विकसित हुई है, अतः यह एक जागरूक, अनवरत, अथक क्रियाशीलता के प्रति सशक्त आह्वान है। मानवीय मूल्य विराट् मानव-जीवन की अगणित शिराओं में संचारित होता रहता है। जहाँ भी यह रक्त-प्रवाह रुका वहीं अंग पक्षाघात से आहत होकर सूख जाता है, बेकाम हो जाता है। हमारी मानव-संस्कृति में आज पूरे देश, पूरी जातियाँ, पूरे सम्प्रदाय, पूरी चिन्तन-धाराएँ और पूरे-के-पूरे साहित्यिक निकाय इस मूल्यहीनता से, इस पक्षाघात से अशक्त होकर प्रगति और विकास की दिशाओं से भटक गए हैं। हमारे सामने मानवीय मूल्य को पूरी संस्कृति के प्राणों में प्रतिष्ठित करने का जटिलतम दायित्व है।

मैं यह नहीं स्वीकार कर पाता कि यह कार्य अपने-आप होगा। यह 'अपने-आप' विकास होने की बात चाहे बाह्य अर्थ-व्यवस्था के रूपक में कही जाय या आन्तरिक चेतना के रूपक में, किन्तु यह हमारे दायित्व के महत्त्व को घटा देती है। यह दायित्व हमारा है, हम विकास करेंगे तो विकास होगा; नहीं करेंगे तो नहीं होगा। नहीं करने की सम्भावना भी अप्रिय सम्भावना है, किन्तु असम्भव नहीं। क्योंकि जहाँ इतिहास एक ओर मनुष्य के साहस का साक्षी रहा है, वहीं वह इस बात का भी साक्षी है कि अक्सर ऐतिहासिक निर्णय के क्षणों में मनुष्य ने कायरता दिखाई है, उसने स्वातन्त्र्य अस्वीकार किया है, दासता स्वीकार की है; क्योंकि दायित्व वहन करना साहस का काम है, और दासता में दायित्व का कोई प्रश्न नहीं उठता। दास तो केवल दूसरों के आदेश वहन करता है।[1]

आज की व्यापक सांस्कृतिक रुग्णता में यह दासत्व भावना और प्रगति-विरोधी निष्क्रियता

१. बर्दैव—'स्लेवरी एण्ड फ्रीडम'।

बहुत सहज सम्भाव्य है, क्योंकि टी० एस० इलियट के शब्दों में हमारा हृदय हमसे अलग जा पड़ा है और हमारा दिमाग़ प्याज़ के छिलकों की तरह उतर गया है—क्योंकि हम एक अज्ञात भय से आकुल हैं जिससे हम आँख नहीं मिला सकते।[1] यह भय बड़े गुप्त रूप से सभी प्रतिक्रियावादी राज्यसत्ताओं, सम्प्रदायों और व्यवस्थाओं द्वारा मानव-संस्कृति की शिराओं में विषैले कीटाणुओं की तरह सूइयों द्वारा पहुँचाया गया है, ताकि अन्दर-ही-अन्दर यह मानवीय मूल्य के प्रति हमारी आस्था को जर्जर और रुग्ण कर दे और हमारी विकासोन्मुख चेतना अन्धी हो जाय—इतनी अन्धी कि हम दासता को, निष्क्रियता को ही एक-मात्र समाधान मान लें। इस अत्यन्त लज्जाजनक और करुण स्थिति का एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्रण महानतम आधुनिक ग्रीक कवि कैवेफी ने किया है। अपनी एक मार्मिक कविता 'बर्बरों की प्रतीक्षा' में वह लिखता है :

चौराहों पर एकत्रित हम किसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ?
आज बर्बर लोग नगर में, प्रवेश करेंगे।
सीनेट कोई निर्णय क्यों नहीं लेती।
इतने तड़के से हमारा सम्राट् जागकर,
मुकुट पहनकर, नगर-द्वार के पास सिंहासन डलवाकर,
क्यों बैठ गया है ?
वह बर्बर सरदार का इस्तकबाल करेगा।
वह उसे शिरोपेच भी देगा
और खिताब भी।
हमारे महान् वक्ता आज चुप क्यों हैं ?
बर्बर लोग नगर में प्रवेश करेंगे, वे कलात्मक भाषण पसन्द नहीं करते
यह शोर और हलचल क्यों ?
(सहसा सबके चेहरे कितने गिर गए)
सड़कें और चौराहे खाली होने लगे
सब उदास अपने घर लौट रहे हैं।
क्योंकि रात हो गई और बर्बर विजेता नहीं आए
सरहदों से एलची लौट आए,
वे कहते हैं कि बर्बर विजेता अब नहीं रहे।
ओह बिना बर्बर विजेताओं के अब हम क्या करेंगे ?
वे लोग कम-से-कम कुछ समाधान तो प्रस्तुत कर देते थे !

समकालीन संकट की उलझनों से भरी हुई जटिलता में मानवीय मूल्य-मर्यादा को स्थापित और विकसित करने के स्वातन्त्र्यपूर्ण दायित्व की स्वीकृति का साहस न कर सकने वाले कितने ही चिन्तक, लेखक और कलाकार इस दासता के तथाथित कायरतापूर्ण सरल समाधान को जूए की तरह स्वीकार करके इस भय के शिकार बन चुके हैं। प्रगति और विकास की दिशा में मानव-इतिहास को मोड़ने के लिए प्रत्येक जागरूक साहित्यकार को इस भय के विरुद्ध अनवरत संघर्ष करना है। यह भय मनुष्य की शिराओं में मानवीय मूल्य के स्वस्थ रक्त को कीटाणुओं की तरह

1. 'मर्डर इन द कैथेड्रल।'

दूषित कर रहा है। यह भय इस शिविर या उस शिविर में ही सीमित नहीं है, यह एकदम घोटने वाले वातावरण की तरह पूरी धरती को घेरे हुए है। समकालीन कथाकार विलियम फॉकनर ने नोबुल पुरस्कार के स्वीकृति-भाषण में कहा है—"हमारा संकट यह है कि एक सर्वव्यापी भय हममें समा गया है, जिसे हमने इतने दिनों तक वहन किया है कि अब हम उसे सहने भी लगे हैं।....लेकिन नये साहित्यकार को यह सीखना है कि संसार की सबसे पतित भावना है—भय की भावना!" बिलकुल यही बात प्रकारान्तर से वियना के शान्ति-सम्मेलन में जाँ पाल सार्त्र ने कही थी कि—समकालीन राजनीति और चिन्तन-पद्धतियाँ, चाहे वे किसी भी शिविर की हों, भय पर आधारित हैं; अतः वे मिथ्या को प्रश्रय देती हैं और पारस्परिक हिंसा को प्रेरित करती हैं। उनके कारण हमारे बीच में भय की दीवारें हैं। शिविर और दल मिथ्या हैं। हम सत्य हैं; क्योंकि हम जो जीते हैं वही इतिहास है।

साहित्यकार का यह नया दायित्व इतिहास-निर्माण का दायित्व है, मानव-संस्कृति के मूल्यात्मक विकास का दायित्व है और सामान्य व्यक्ति के दायित्व से कई गुना अधिक जटिल दायित्व है; क्योंकि साहित्यकार की पक्षधरता और संघर्ष विवेक का स्तर बहुत गहरा है। उसे मानव-अस्तित्व की गहन परतों में उतरकर उसकी रक्त-शिराओं में चलने वाले भय और साहस के संघर्ष में भय को पराजित करना है, उसके छोटे-से-छोटे क्षण में जीवन-प्रक्रिया को उद्बुद्ध करना है, उसकी भावनाओं के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तन्तु में स्फुरित होने वाले मानवीय मूल्य की विराट्ता को पहचानना है; यही नहीं, वरन् उसे इस संकट-काल के उखड़े-पुखड़े हुए, अर्धध्वस्त, प्लावनोत्तर सामाजिक ढाँचे में हरेक भटके हुए व्यक्ति की जीवन-प्रक्रिया से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके, उसके जीवन के क्षणों को स्वतः जीकर उसके द्वारा की गई मूल्यों की निजी खोज और उनके विकास के मर्म को समझ लेना है और इन समस्त उपलब्धियों को साहसपूर्वक मानव-इतिहास के एक नये और सबसे पूर्ण, प्रांजल और प्रकाशमान युग की ओर प्रेरित करना है। साहित्य की यह नई मर्यादा सरल नहीं है, किन्तु यदि इसी क्षण साहित्यकार इसे स्वीकार नहीं करता—भय के कारण, संशय के कारण या असमंजस के कारण, तो वह एक खतरनाक मोड़ पर क्रान्ति और इतिहास के प्रति विश्वासघात करता है।

इस दायित्व को पूर्ण करने के लिए साहित्यकार के पास एक ही माध्यम है—शब्द। इस संकट ने शायद शब्द को, भाषा को सबसे अधिक क्षत-विक्षत किया है। भाषा हमारी जीवन-प्रक्रिया में उपलब्ध रागात्मक मूल्यों को अभिव्यक्त करके, एक व्यक्ति के उपलब्ध सत्य को दूसरे व्यक्ति द्वारा उपलब्ध सत्य से जोड़कर एक सामाजिक सेतु बनती है। मानवीय मूल्यों में संकट आते ही भाषा की यह सार्थकता जाती रही। वह यथार्थ से विभिन्न होकर अपने स्वतन्त्र नियम और सिद्धान्त विकसित करने लगी—अर्थरहित प्रतीक, टूटे चित्र, स्वप्नों की-सी अराजकता, संगीत की-सी निरर्थकता। दूसरी ओर राज-सत्ताओं ने भाषा की सामाजिक उपयोगिता पहचानी और उन्होंने उनका गर्हित दुरुपयोग करना प्रारम्भ किया। उन्होंने शब्दों के अर्थ बदलने प्रारम्भ किये—शान्ति के अर्थ आक्रमण की तैयारी, मैत्री के अर्थ आर्थिक और सामरिक पारतन्त्र्य। यही नहीं वरन् प्रेस, रंगमंच, साहित्य, रेडियो और बुलेटिनों के द्वारा हर शब्द को इस गुप्त कीटाणु-युद्ध का साधन बनाने के लिए, भावावेश, पागलपन, भय और मूर्छा से विषाक्त कर दिया गया।

इतनी दूषित भाषा के द्वारा इतना जटिल दायित्व पूरा करना है। इसका एक ही

समाधान है। लिखते समय हर शब्द को अपने निर्मम विवेक की कसौटी पर कसकर देख लेना है कि वह खरा सोना है या नहीं। यदि नहीं, तो अपनी गहनतम अनुभूतियों से हर शब्द को मानवीय मूल्य से पुनः अभिषिक्त करके तब उसे कलम पर उतारने का साहस करना चाहिए। भाषा के सम्बन्ध में हमारा यही क्रान्तिकारी दायित्व है। विनोबा ने भी एक स्थल पर कहा है—"पुराने शब्दों पर नये अर्थों की कलम लगाना ही विचार-क्रान्ति की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।" ये नये अर्थ मूल्यगत अर्थ हैं। यही कारण है कि साहित्य में शब्द तभी समर्थ, प्रेषणीय और प्राणवान बनते हैं जब उनमें मानवीय मूल्य आन्तरिक रूप से प्रतिष्ठित रहता है, अन्यथा वे बाँस पर लटकाये गए चीथड़ों की तरह पशुओं के लिए भयोत्पादक और विवेकपूर्ण तथा मनुष्य के लिए हास्योत्पादक बन जाते हैं। क्रान्ति के नाम पर आने वाले, मूल्य-मर्यादा से रहित बहुत-से आवेशपूर्ण साहित्य का यही भाग्य रहा है।

साहित्य की इस नई मर्यादा का उदय इतिहास के धूल-भरे पन्नों में खोजने वाली एक विस्मृत कथा बनेगा, या नव-निर्माण की, प्रगति की, विकास की भूमिका—यह हमारे इसी क्षण के चुनाव पर निर्भर करता है। प्रश्न सम्प्रदायों और सत्ताओं का नहीं है, बल्कि मानवीय मूल्य-मर्यादा, उसकी साहसपूर्ण स्वीकृति और निष्ठापूर्ण आचरण का है। चुनाव स्पष्ट है। हम चाहें तो भय से वाणी को रुग्ण और जर्जर बना डालें—चाहें तो साहस का वरण करके अपनी वाणी को इस नई मर्यादा की अपराजेय तेजस्विता से अभिषिक्त कर इतिहास को नया मोड़ दे दें। अज्ञात भविष्य में हमारा साहित्य कहाँ तक स्थायी रहेगा यह भी इसी पर निर्भर करता है कि हम इसी क्षण अपने कृतित्व में स्थायी मानवीय मूल्य के समस्त सम्भावित विकास का कहाँ तक और कितनी गहराई तक साक्षात्कार करा पाते हैं।

बलदेव उपाध्याय

वेद में गीति-काव्य का उद्गम

कवि काव्य-सृष्टि का प्रजापति है। जिस प्रकार शिव अपनी शक्तिभूता प्रतिमा के सहयोग से नई रंगीन सृष्टि का उद्गम करता है उसी प्रकार कवि भी अपनी प्रतिमा के बल पर नवीन सौन्दर्यमय काव्य-जगत् का निर्माण करता है। कवि में अन्तर्दर्शन की सत्ता नितान्त आवश्यक है। कवि सुन्दर पदार्थ के दर्शन में जब तक अपनी पृथक् सत्ता का विसर्जन करके उससे तादात्म्य स्थापित नहीं कर लेता तब तक वह भावमयी कविता की सृष्टि नहीं कर सकता। 'अन्तर्दर्शन' कवि को वस्तु-तत्त्व के अन्तस्तल के निरीक्षण की क्षमता प्रदान करता है, तो 'वर्णन' उसकी अनुभूत भावना को बोधगम्य अभिव्यक्ति प्रदान करता है। अतः कवि के लिए वर्णन उतना ही आवश्यक है जितना अन्तर्दर्शन। दर्शन के द्वारा प्रातिम चक्षु के उन्मेष होने पर वाल्मीकि को कवि की पदवी तभी प्राप्त हुई जब दर्शन वर्णन के बाह्य रूप में छलक उठा। अन्तर्दर्शन कवि की निजी विभूति है जो उसके हृदय को नाना भावनाओं का आकर्षण-केन्द्र बनाती है, परन्तु वर्णन कवि की बाह्य विभूति है जिसके द्वारा वह पाठकों के हृदयावर्जन में समर्थ कोमल कविता को जन्म देता है।

दर्शन तथा वर्णन से स्निग्ध ऋषि की वाणी के भव्य उदाहरण हैं वेद के महनीय मन्त्र। मन्त्र आध्यात्मिक तत्त्व ज्ञान की निधि हैं तथा कर्मकाण्ड के जागरूक साधन; इसमें तो विवाद या सन्देह के लिए लेश-मात्र भी स्थान नहीं है; परन्तु ये मन्त्र ही निश्चयपूर्वक कमनीय काव्य-कला के आद्य निदर्शन भी माने जा सकते हैं। वैदिक ऋषियों की वाणी में दिव्यता अपने भव्य रूप में स्वर्गीय सुगन्ध के साथ विलसित हो रही है। आध्यात्मिक दृष्टि से वैदिक मन्त्र उदात्त तत्त्व-ज्ञान के निःसन्देह परिचायक हैं। भाव-प्रकाशन की दृष्टि से ये मन्त्र ऋषियों के आर्ष चक्षुओं के द्वारा अनुभूत तत्त्वों के नितान्त सरल, सहज तथा शान्तिमय अभिव्यञ्जक हैं। वैदिक ऋषि मनो-मिलषित भावों को थोड़े-से चुने हुए सुबोध शब्दों में सीधे तौर से कह डालने की क्षमता रखता है, परन्तु समय-समय पर वह अपने भावों की तीव्रता की अभिव्यक्ति के हेतु अलंकारों के विधान करने में भी पराङ्मुख नहीं होता। अलंकारों की रानी उपमा का अत्यन्त भव्य, मनोरम तथा हृदयावर्जक रूप हमें इन मन्त्रों में देखने को मिलता है। तथ्य तो यह है कि उपमा का काव्य-संसार में प्रथम अवतार उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं कविता का आविर्भाव। आनन्द से सिक्त कवि-हृदय की वाणी उपमा के द्वारा अपने को विभूषित करने में कोमल उल्लास तथा मधुमय आनन्द का बोध करती है। अपनी अनुभूतियों में तीव्रता लाने के लिए उन्हें सरलतापूर्वक पाठक के हृदय तक पहुँचाने के निमित्त कवि की वाणी जिन अन्तरंग मधुमय कोमल साधनों का उपयोग किया करती है अलंकार उन्हीं का अन्यतम रूप है। हम ऐसे काव्य-युग की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें भाव-भङ्गी में कोमल विलास के संचार-हेतु कवि किसी-न-किसी प्रकार के साम्य विधान का आश्रय

नहीं लेता है।

वेद के सूक्तों में नाना देवताओं से यज्ञ में पधारने के लिए, भौतिक सौख्य सम्पादन के निमित्त तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि उन्मिषित करने के हेतु नाना प्रकार के छन्दों में स्तुति की गई है। उनके रूपों के भव्य वर्णन में कवि की कला का विलास और उनकी प्रार्थनाओं में कोमल भावों तथा सुकुमार हार्दिक भावनाओं की रुचिर अभिव्यंजना है। उषा-विषयक मन्त्रों में सौन्दर्य-भावना का आधिक्य है, तो इन्द्र-विषयक मन्त्रों में तेजस्विता का प्राचुर्य है। अग्नि के रूप-वर्णन में यदि स्वभावोक्ति का आश्रय है, तो वरुण की स्तुति के अवसर पर हृदयगत कोमल भावों की मधुर अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वेद के मन्त्रों में काव्यगत गुणों का पर्याप्त दर्शन होना काव्य-जगत् की कोई आकस्मिक घटना नहीं है। तन्मयता तथा अनन्यता का विशद परिचायक चिह्न है भावों की सरल सहज अभिव्यक्ति। निःसन्देह वेदों में इसका विशाल साम्राज्य है।

इन्द्र की स्तुति के अवसर पर आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि की यह उक्ति है कि त्वष्टा के द्वारा निर्मित स्वरयुक्त वज्र के द्वारा जब इन्द्र ने पर्वत में आश्रय लेकर निवास करने वाले वृत्र को मारा, तब रँभाती हुई धेनुओं के समान जल जोरों से बहता हुआ समुद्र की ओर चल निकला :

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥[1]

यहाँ 'वाश्रा धेनवः' की उपमा से सांयकाल चरागाहों से लौटने वाली, अपने बछड़ों के लिए उतावली से जोरों से रँभाती हुई और दौड़ती हुई गायों का मनोरम दृश्य नेत्रों के सामने झूलने लगता है। जोरों से बहने वाले, घोर रोर करने वाले, बहुत दिनों तक रुके रहने के बाद प्रवाहित होने वाले जल के लिए इससे अधिक सुन्दर उपमा का विधान क्या हो सकता है? इसी वैदिक कल्पना को हमारे महान् कवियों ने भी अपने काव्यों में बड़ी रुचिरता के साथ अपनाया है।

हृदय-वृत्तियों की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए वरुण-सूक्तों का अनुशीलन विशेष सहायक सिद्ध होगा। महर्षि वशिष्ठ ने एक अत्यन्त भावप्रवण सूक्त में अपने आराध्यदेव वरुण के प्रति अपना कोमल उद्गार प्रकट किया है। वह सुन्दर शब्दों में कह रहे हैं कि मैं अपने-आप पूछ रहा हूँ कि कब मैं वरुण के साथ मैत्री-सूत्र में बँध जाऊँगा। क्रोधरहित होकर वरुण प्रसन्न चित्त से क्या मेरे द्वारा दी गई हवि को ग्रहण करेंगे? अब मैं प्रसन्नमानस होकर उनकी दया को देखूँगा :

उत स्वया तन्वा सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्॥[2]

जब विद्वानों की मीमांसा से उसे वरुण के कोप का पता चलता है तब कह उठता है कि हे देव, पितरों के द्वारा किये गए द्रोहों को दूर कर दीजिए और उन द्रोहों तथा विरोधों को भी दूर हटाइए जिन्हें हमने अपने शरीर से स्वयं किया है। जिस प्रकार पशु को चुराने वाले चोर को तथा बछड़े को रस्सी से लोग छुड़ा देते हैं, उसी प्रकार आप भी अपराध की रस्सी में बँधे वशिष्ठ को भी मुक्त कीजिए :

---

१. ऋग्वेद—१।३२।२
२. वही—७।८६।२

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजानोऽ व या वयं चकृमा तनूभिः ।
अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ॥[1]

नम्रता तथा दीनता, अपराध-स्वीकृति तथा आत्म-समर्पण की भव्य भावनाओं से मण्डित यह सूक्त वैष्णव भक्तों की उस वाणी की सुध दिलाता है जिसमें उन्होंने अपने को हजारों अपराधों का भाजन बताकर भगवान् से आत्मसात् करने की याचना की है ।

उषा की सुषमा

उषादेवी के विषय में उपलब्ध सूक्तों का अनुशीलन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वे काव्य की दृष्टि से नितान्त सरस, सहज तथा भव्य भावना-मण्डित हैं । प्रातःकाल अरुणिमा से मण्डित सुवर्ण छटा से विच्छुरित प्राची नभोमण्डल पर दृष्टिपात करते समय किस भावुक के हृदय में कोमल भावना का उदय नहीं होता ? वैदिक ऋषि उसे अपनी प्रेम-भरी दृष्टि से देखता है और उसकी दिव्य छटा पर रीझ उठता है । उषा मानवी के रूप में कवि हृदय के नितान्त पास आती है । यदि उषा केवल महान् तथा स्वर्ग की अधिकारिणी-मात्र होती, इस विश्व से परे ऊर्ध्व लोक में अपनी दिव्य छवि छहराती रहती , मानव-जगत् के ऊपर उठकर अपनी भव्य सुन्दरता से मण्डित होकर अपने में ही पुञ्जीभूत बनी रहती, तो हमारे हृदय में केवल कौतुक या विस्मय जाग्रत होता, घनिष्ठता नहीं । जब हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तृत तथा व्यापक हो जाता है कि हम अपनी पृथक् सत्ता का सर्वथा निर्मूलन करके प्रकृति की सत्ता के भीतर नर-सत्ता का सद्यः अनुभव करने लगते हैं तब अनन्यता की भावना जन्म लेती है । इसका फल यह होता है कि कवि उषा को कभी कुमारी के रूप में, कभी गृहिणी के रूप में और कभी माता के रूप में देखता है । बाह्य सौन्दर्य के भीतर कवि आन्तर सौन्दर्य का अनुभव करता है । उषा केवल बाह्य सौन्दर्य की प्रतिमा न होकर कवि के लिए माता की ममता की प्रतीक बन जाती है ।

वैदिक ऋषि उषा के स्वरूप की भावना को तीव्र रूप से प्रकट करने के लिए नाना अलंकारों का विधान प्रस्तुत करता है । उषा अपने शुभ्र उज्ज्वल रूप को धारण करती हुई स्नान करने वाली सुन्दरी की भाँति आकाश में प्रकट होती है, तो कभी वह भ्रातृ-विहीन भगिनी के समान अपने दाय-भाग को लेने के लिए पितृ-स्थानीय सूर्य के पास आती है, कभी वह सुन्दर वस्त्र पहनकर पति को अपने प्रेम-पाश में बाँधने के लिए मचलने वाली सुन्दरी के समान अपने पति के सामने अपने सुन्दर रूप को प्रकट करती है :

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ॥[2]

कवि की दृष्टि उषा के रम्य रूप पर पड़ती है और वह उसे एक सुन्दर मानवी के रूप में देखकर प्रसन्न हो उठता है । वह कहता है—हे प्रकाशवती उषा, तुम कमनीय कन्या की भाँति अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मित-वदना युवती की भाँति अपने वक्ष को आवरण-रहित करती हो :

---

१. ऋग्वेद—७।८६।५
२. वही—१।१२४।७

कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती ॥[1]

यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी है। यहाँ उषा के कुमारी रूप की कल्पना है। स्मितवदना सुन्दर रूप को प्रकट करने वाली युवती कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय-मिलन की भावना से जाने वाली उषा के ऊपर कितनी सयुक्तिक तथा सरस है। उषा के ऊपर की गई अन्य कल्पनाओं के भीतर भी उतना ही औचित्य दृष्टिगोचर हो रहा है। वह अपने प्रकाश द्वारा संसार को उसी प्रकार संस्कृत करती है जिस प्रकार योद्धा अपने शस्त्रों को घिसकर उनका संस्कार करता है :

अपेजते शूरो अस्तेव शत्रून् बाधते तमो अजिरो न वोळा ॥[2]

उषा अपने प्रकाश को उसी प्रकार फैलाती है जिस प्रकार ग्वाला चरागाह में गौओं को विस्तृत करता है अथवा नदी अपने जल को विस्तृत करती है :

पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना सिन्धुर्न क्षोद उर्विया व्यश्वैत् ॥[3]

उषा का नित्य-प्रति उदित होना उसके अमरत्व की पताका है :

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ॥[4]

उषा का नित्यप्रति एकाकार रूप से आना कवि की दृष्टि में चक्र के आवर्तन के समान है। चक्र सदा आवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार उषा भी अपना आवर्तन किया करती है—

समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व ॥[5]

इन उदाहरणों में उपमा का विधान उषा की रूप-भावना को तीव्र बनाने के लिए कितने उचित ढंग से प्रयुक्त किया गया है।

उषा-विषयक मन्त्रों के अनुशीलन से हम वैदिक ऋषियों की प्रकृति के प्रति उदात्त भावना को भी भलीभाँति समझ सकते हैं। प्रकृति का चित्रण दो प्रकार का है—

(1) अनावृत वर्णन—प्रकृति का स्वतः आलम्बनत्वेन वर्णन, जहाँ प्रकृति की नैसर्गिक माधुरी कवि-हृदय को आकृष्ट करती है और अपने आनन्द से कवि-मानस को सिक्त करती है।

(2) अलंकृत वर्णन—जिसमें प्रकृति तथा उसके व्यापारों का मानवीकरण किया गया है। प्रकृति निश्चेष्ट न होकर चेतन प्राणी के समान नाना व्यापारों का सम्पादन करती है। वह कभी स्मितवदना सुन्दरी के समान दर्शकों का हृदय आकृष्ट करती है तो कभी उग्ररूपा भीषण जन्तु के समान हमारे हृदय में भय तथा क्षोभ उत्पन्न करती है।

वैदिक कवि की इस द्विविध भावना का स्फुट निदर्शन हमें उषा-सम्बन्धी भावनाओं में मिलता है। प्राची क्षितिज पर सुवर्ण के समान अरुण छटा छिटकाने वाली उषा का साक्षात्कार करते समय कवि का हृदय इस कोमल चित्र में रम जाता है—और वह उल्लासमयी भाषा में पुकार उठता है :

उषो देव्यमर्त्या वि भाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ॥[6]

1. ऋग्वेद, 1।123।10। 2. वही, 6।64।3। 3. वही, 1।92।12।
4. वही, 3।6।3। 5. वही, 3।6।3। 6. वही, 3।31।2।

हे प्रकाशमयी उषा, तुम सोने के रथ पर चढ़कर आमरणशील बनकर चमको। तुम्हारे उदय के समय पक्षीगण सुन्दर रसमय वाणी का उच्चारण करते हैं। सुन्दर शिक्षित पृथुबल से सम्पन्न सुवर्ण वर्ण वाले घोड़े तुम्हें वहन करें।

अलंकृत वर्णन के अवसर पर उषा से सम्बद्ध रूप तथा व्यापारों पर मानवीय रूप तथा व्यापारों का बड़ा ही हृदयरञ्जक आरोप किया गया है। एक स्थल पर कवि उषा की रूप-माधुरी का वर्णन करते समय शोभनवस्त्रा युवती के साथ उसकी तुलना करता है :

जायेव पत्य उशती सुवासा। उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः ॥[1]

यहाँ कवि नारी के कोमल हृदय को स्पर्श कर रहा है। पति के सामने कौन सुन्दरी अपने हृदय के उल्लास तथा मन की वासना को गुप्त रख सकती है? और कौन ऐसी स्त्री होगी जो पति के सामने अपने सुन्दरतम सज्जा-सम्पन्न रूप को प्रकट करना नहीं चाहती? अपने पति-भूत सूर्य का अनुगमन करने वाली उषा के आचरण में कवि साध्वी सती के आचरण की स्फुट अभिव्यक्ति पाता है।[2] एक स्थान पर कवि भय से शंकित होकर कह उठता है कि कहीं उषा के सुकुमार शरीर को सूर्य की तीक्ष्ण किरणें सन्तप्त न कर दें, जिस प्रकार राजा चोर को या शत्रु को सन्तप्त करता है :

नेत त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति। सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते ॥[3]

अन्यत्र रंगमंच के ऊपर अपना उल्लासमय नृत्य दिखलाने वाली नर्तकी की समता कवि प्रातःकाल प्राची क्षितिज के रंगमंच पर अपने शरीर को विशद रूप से दिखलाने वाली उषा के साथ करता हुआ अपनी कलाप्रियता का परिचय देता है :

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम् ॥[4]

महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में प्रकृति के इस द्विविध रूप की भव्य झाँकी प्रस्तुत की है। 'ऋतु संहार' में प्रकृति अपने अनावृत रूप में पाठकों के सामने अपनी रमणीय छवि दिखलाती है, तो 'मेघदूत' में वह अलंकारों की सजावट से चमत्कृत तथा कोमल हार्दिक भावभङ्गिमाओं से स्निग्ध रमणी के रूप में आकर प्रस्तुत होती है। कालिदास का यह प्रकृति-चित्रण ऋग्वेदीय मञ्जुल धारा के ही अन्तर्गत है।

---

१. ऋग्वेद—१।१२४।७।
२. वही, ७।७६।३।
३. वही, ५।८०।६।
४. वही, १।९२।४।

अनुशीलन

चन्द्रबली पाण्डे

वीरगाथा का विरोध क्यों ?

'वीरगाथा' का इतिहास कुछ भी हो किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि 'हिन्दी-साहित्य' के 'आदि काल' का नाम पड़ा है 'वीरगाथा-काल' स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ही की कृपा से। उनका स्पष्ट कथन भी है :

"आदिकाल का नाम मैंने 'वीरगाथा-काल' रखा है।"

क्यों रखा है, इसका विवरण भी उनके 'इतिहास' के 'वक्तव्य' में आ गया है, अतएव हम यहाँ उसके अवतरण की आवश्यकता नहीं समझते और न यही कहना चाहते हैं कि उनके जीवन-काल में ही इसकी आलोचना हुई और तब से अब तक बराबर होती आ रही है। फिर भी यह कहा ही जा सकता है कि अभी तक मान्य यही समझा जाता है। इसके स्थान पर इधर बड़े आव-ताव और दबदबे के साथ जिस नाम का प्रतिपादन किया गया है वह है 'सिद्ध-सामन्त' का संयुक्त नाम। और नहीं, हिन्दी के यशस्वी समालोचक आचार्य डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी लिखते वा 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' की भरी मण्डली में भाषण करते हुए कहते हैं :

"विषय-वस्तु को दृष्टि में रखकर इस काल के लिए राहुल जी ने एक और नाम सुझाया है, जो बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। यह नाम है 'सिद्ध-सामन्त-काल'। इस काल का जो भी साहित्य मिलता है उसमें सिद्धों का लिखा धार्मिक साहित्य ही प्रधान है। यद्यपि यह साहित्य विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकता पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ इस काव्य में उसी प्रकार प्रेरणा का विषय रहीं जिस प्रकार परवर्ती काल में भक्ति। वस्तुतः काल-प्रवृत्ति प्राप्य ग्रन्थों की संख्या द्वारा नहीं निर्णीत हो सकती, बल्कि उस काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकती है। प्रभाव-उत्पादक और प्रेरणा-संचारक तत्त्व ही साहित्यिक काल के नाम-करण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है।"[१]

ठीक, परन्तु सच तो कहें, किसी 'काल की मुख्य प्रेरणादायक वस्तु' का पता चलता कैसे है और उसका नाता साहित्य से कुछ होता भी है या नहीं ? आचार्य शुक्लजी का पक्ष है :

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, सं० २००६ वि०—पृष्ठ २३।

"जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त-वृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्त-वृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्त-वृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ-ही-साथ आवश्यक होता है।"[1]

तात्पर्य यह कि आचार्य शुक्ल जी 'कार्य' को 'इतिहास' का विषय बनाते हैं और आचार्य द्विवेदी जी 'कारण' को। फलतः उनका 'आदिकाल' कारण का पुञ्ज बन गया है, 'सामंजस्य' का उसमें नाम नहीं। देखिए न, उसी क्रम में आचार्य द्विवेदी जी किस प्रकार कहते हैं :

"फिर 'सामन्तकाल' में 'सामन्त' शब्द से उस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण-जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणा-स्रोत का भी पता चलता है। 'सामन्त' जिस काव्य का प्रधान आश्रयदाता है उसमें उसकी झूठी सच्ची विजयों और कल्पित-अकल्पित प्रेम-प्रसंगों का होना उचित ही है। एक के द्वारा वह वीर रस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा शृङ्गार रस का आलम्बन। सामन्त को दोनों ही चाहिएँ। इस प्रकार इस शब्द में इस काल की मुख्य प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का गुण है।"

प्रश्न उठता है किस शब्द में ? 'सामन्त' या 'सिद्ध-सामन्त' में ? 'सामन्त' में ही न ? कारण यह कि इसीके आगे आप और भी स्पष्ट करते हैं :

"'प्राकृतपैंगलम्' में उदाहरण रूप में उद्धृत पद्यों में इस प्रकार की राजस्तुतिमूलक रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हैं और तत्कालीन संस्कृत-काव्य में इस श्रेणी की रचनाएँ बहुत अधिक हुई हैं। सो ये राजस्तुतिपरक रचनाएँ 'वीरगाथा' उतनी नहीं हैं जितनी राजस्तुति हैं। उनकी लड़ाइयों और विवाहों की कथाओं में कल्पना अधिक है, तथ्य कम।"

आचार्य द्विवेदी जी 'तथ्य' और 'कल्पना' का द्वन्द्व छेड़कर जो कुछ दिखाना चाहते हैं उसकी जाँच के पहले यह ही जानिए कि उन्होंने 'सिद्ध' और 'सामन्त' को देखा किस दृष्टि से है। सो 'सिद्ध' के सम्बन्ध में उनका विवेचन है :

"इस मत के योग-मत और योग-सम्प्रदाय नाम तो सार्थक ही हैं; क्योंकि इनका मुख्य धर्म ही योगाभ्यास है। अपने मार्ग को ये लोग सिद्धमत या सिद्ध-मार्ग इसलिए कहते हैं कि इनके मत से नाथ ही सिद्ध हैं। इनके मत का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' है जिसे अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में काशी के पंडित बलभद्र ने संक्षिप्त करके 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था। इन ग्रन्थों के नाम से पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल से इस मत को 'सिद्ध मत' कहा जा रहा है।"[2]

तथा इसी क्रम में आप ही तो और भी स्पष्ट करते हैं :

"गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के शुरू में ही 'सिद्ध मत' की भक्ति-हीनता की ओर इशारा किया है। गोस्वामी जी के ग्रन्थों से पता चलता है कि वे यह

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आरम्भ।

२. नाथ-सम्प्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद—पृष्ठ १।

विश्वास करते थे कि गोरखनाथ ने योग जगाकर भक्ति को दूर कर दिया था। मेरा अनुमान है कि 'रामचरितमानस' के आरम्भ में शिव की वन्दना के प्रसंग में जब उन्होंने कहा था कि 'श्रद्धा' और 'विश्वास' के साक्षात् स्वरूप पार्वती और शिव हैं; इन्हीं दो गुणों (अर्थात् श्रद्धा और विश्वास) के अभाव में 'सिद्ध' लोग भी अपने ही भीतर विद्यमान ईश्वर को नहीं देख पाते, तो उनका तात्पर्य इन्हीं नाथपंथियों से था। यह अनुमान यदि ठीक है तो यह भी सिद्ध है कि गोस्वामी जी इस मत को 'सिद्ध मत' ही कहते थे। यह नाम सम्प्रदाय में भी बहुत समादृत है और इसकी परम्परा बहुत पुरानी मालूम होती है।"

तो क्या कोई भी विचारशील व्यक्ति यह कहने में हिचक सकता है कि वास्तव में हिन्दी-साहित्य के 'सिद्ध-सामन्त' काल में 'सिद्ध' का संकेत होगा 'नाथपंथी' ही। रहा 'सामन्त', तो उसकी यह स्थिति है : "शुक्रनीति के अनुसार जिसकी वार्षिक आय (भूमि से) एक लाख चाँदी के कार्षापण होती थी वह सामन्त कहलाता था।"[1]

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के इस अध्ययन की छाया में डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का उक्त 'सामन्त' कहाँ टिकेगा, कह नहीं सकता। उनके 'सिद्ध' की वह गति और उनके 'सामन्त' की स्थिति यह। फिर किस आधार पर क्या बताने के लिए खड़ा होगा आचार्य द्विवेदी का 'बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट' करने वाला यह 'सिद्ध-सामन्त' नाम ! स्मरण रहे राहुल बाबा की साखी भी यहाँ कुछ और ही करतब दिखायगी। कारण, उनका तो 'सिद्ध-सामन्त काल' है सन् ७६० से सन् १३०० ई० तक और आपका आदिकाल है अज्ञात, अथवा ज्ञात है तो यही कि आपकी ही वाणी में :

"साधारणतः सन् ईसवी की दसवीं से लेकर चौदहवीं शताब्दी के काल को 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' कहा जाता है। शुक्लजी के मत से संवत् १०५० (सन् ९९३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल कहना चाहिए।"[2]

आचार्य द्विवेदी ने 'साधारणतः सन् ईसवी' का उल्लेख किस आधार पर किया है, कह नहीं सकता। कारण कि इसका अर्थ तो यह होता है कि 'हिन्दी-साहित्य' के इतिहास-लेखक साधारणतः ईसवी सन् का प्रयोग करते हैं और उसके 'आदिकाल' का भोग मानते हैं सन् ९०१ ई० से १४०० ई० अर्थात् सं० ९५८ वि० से सं० १४५७ वि० तक। परन्तु जहाँ तक इस जन को पता है वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। आचार्य द्विवेदी कहने को कह जाते हैं :

"इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगने-मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल-जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य-क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का 'रामचरितमानस' भी साहित्य-क्षेत्र में अविवेच्य हो जायगा और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य-सीमा के भीतर

1. हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, सं० २०१०—पृष्ठ २१९-२२०।

2. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ १०।

नहीं घुस सकेगा।"[1]

परन्तु तब न, जब हिन्दी के लोग इतने विवेकशून्य हो जायँ ? पता नहीं ऐसा सोचने का कारण क्या है ? राहुल जी की 'काव्य-धारा' में किया क्या गया है जो उन पर इस प्रकार का मिथ्यारोप लगाया जाय ? यह सम्भव तभी है जब 'सिद्ध-सामन्त' का मोह छोड़कर 'संक्रान्ति' को समझा जाय और साहित्य को प्रचार का अस्त्र न बनाकर जीवन का शास्त्र माना जाय, अन्यथा 'सिद्ध-सामन्त' का नामकरण तो सबसे पहले इन्हीं जैन कवियों को चर जायगा।

हाँ, तो इतना स्फुट रहे कि 'वीरगाथा' में यह दोष नहीं। 'गाथा' का प्रयोग 'चरित' के लिए भी होता है न ? यदि कुछ भी सन्देह हो तो कृपा करके 'रामचरितमानस' का पाठ करें। श्रीगणेश किया नहीं कि आपको गोचर हुआ :

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

तुलसी ने यहाँ 'गाथा' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है वहीं 'वीरगाथा' के 'गाथा' शब्द में भी चरितार्थ होता है। 'गाथा' शब्द के इतिहास में जाने से लाभ नहीं। स्मरणीय यहाँ इतना ही है कि 'वीरगाथा' का 'गाथा' शब्द स्व० शुक्लजी का कोई अपना शब्द नहीं, वह तो हिन्दी भाषा का एक अत्यन्त प्रचलित और व्यवहृत शब्द है। यहाँ तक कि राजस्थानी इतिहास के अद्वितीय पण्डित महामहोपाध्याय डॉक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी 'ढोला-मारू रा दूहा' के विषय में लिखते हैं :

"यह एक विचित्र (रोमैंटिक) प्रेम-गाथा है और इसमें मानव-हृदय के कोमल मनोभावों एवं बाह्य प्रकृति के मनोहर चित्र अंकित किये गए हैं।"[2]

और इसके सम्पादक त्रय इसकी आलोचना में इसकी स्थिति स्पष्ट करते हैं :

"यद्यपि रीति और साहित्य-शास्त्र के बहाव में सदियों तक बह चुकने के बाद आज हमारी कल्पना काव्योत्पत्ति के इस प्रकार को संभाव्य और युक्तिसंगत समझने में असमर्थ है, परन्तु यदि हम प्राचीन समय के मौखिक परम्परागत साहित्य के प्रवाह और परिस्थिति को ध्यानपूर्वक देखें तो यह बात सहज ही समझ में आ सकेगी। इन सिद्धान्तों के अनुसार ढोला-मारू की प्रेम-गाथा को किसी व्यक्ति-विशेष कवि की कृति न मानकर भी हमको यह कल्पना करने में कठिनाई नहीं होती कि यह काव्य मौखिक परम्परा के प्राचीन काव्य-युग की एक विशेष कृति है और संभव है कि तत्कालीन जनता की साधारण अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए उससे प्रेरित होकर किसी प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने जनता-प्रीत्यर्थ उसीके मनोभावों को वर्तमान काव्य-रूप में बद्ध करके उसके समक्ष उपस्थित कर दिया हो और जनता ने बड़ी प्रसन्नता से इसे अपनी ही सामूहिक कृति मानकर कण्ठस्थ किया हो।"[3]

आचार्य द्विवेदी जी को 'ढोला-मारू की प्रेमगाथा' में कितना 'तथ्य' और कितनी 'कल्पना'

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ ११।

२. ढोला-मारू रा दूहा—ना० प्र० सभा, काशी; सं० १९९१—प्रवचन, पृष्ठ ८।

३. वही, पृष्ठ ३६।

दिखाई देती है और उनकी दृष्टि में 'गाथा' का स्वरूप क्या है, पाठक इसको उन्हींसे समझने का प्रयत्न करें। हाँ, उसकी परम्परा के सम्बन्ध में इतना अवश्य जान लें कि काशी विश्व विद्यालय के प्राध्यापक श्री बलदेव उपाध्याय जी के मतानुसार :

"विकसित महाकाव्य वह है जो अनेक शताब्दियों में अनेक कवियों के प्रयत्न से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप में आया है। वह प्राचीन गाथाओं के आधार पर रचित महाकाव्य होता है। जैसे ग्रीक महाकवि होमर का 'इलियड' और 'ऑडिसी' नामक युगल महाकाव्य। इनका वर्तमान परिष्कृत रूप होमर की प्रतिभा का फल है, परन्तु गाथा-चक्रों के रूप में वे प्राचीन काल से वन्दीजनों के द्वारा गाये जाते थे।"[1]

कहा जा सकता है कि इस 'पाश्चात्य मत' से आचार्य द्विवेदी जी को लेना क्या, जो अपने 'आदिकाल' में इसका उल्लेख करते। निवेदन है, उन्हींका तो वचन है :

"मैं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिसने मुझे हिन्दी-साहित्य के आदिकाल के 'काव्य-रूपों' के उद्भव और विकास की कहानी कहने का अवसर दिया है।"[2]

फिर किसी 'विकसित' काव्य-रूप की उपेक्षा क्यों ? प्राणी और प्रतीक में भेद क्या ? क्या आचार्य द्विवेदी को इसका पता नहीं कि किसी की 'कल्पना' किसी का 'तथ्य' बन जाती है और वह लोक में सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है ? इसका भी कुछ इतिहास है। वही उपाध्याय जी उसी प्रसंग में उसीके आगे लिखते हैं :

"महाकाव्य की रचना की प्रेरणा भारतीय कवियों को वेदों से ही प्राप्त हुई है। वेदों में देव-स्तुति के अतिरिक्त प्राचीन काल के प्रसिद्ध राजाओं की प्रशंसाएँ भी हैं, जिन्हें 'नाराशंसी' कहते हैं।.....इतना ही नहीं, ऋग्वेद के समय की बहुत-सी गाथाएँ भी उपलब्ध होती हैं जिनमें किसी प्राचीन ऐतिहासिक राजा के विषय में किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख रहता है अथवा किसी विषय का सुन्दर तथा रोचक वर्णन किया गया रहता है। ऐसी गाथाएँ 'ऐतरय ब्राह्मण' में 'शुनः शेप' के कथानक में दी गई हैं। इन्हीं समग्र साधनों का उपयोग करके पिछले कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों आदि के वर्णन से पुष्ट कर महाकाव्य को जन्म दिया।"[3]

भाव यह कि आज का 'वीरगाथा' शब्द इसी 'नाराशंसी गाथा' या 'नाराशंसी' का प्रतिभू है। 'गाथा' हिन्दी का एक चिरपरिचित और बहुत व्यवहृत शब्द है। उसका सम्बन्ध 'तथ्य' से भी है, 'कल्पना' से भी है और है साथ ही अभिरुचि तथा संस्कार से भी। अधिक क्या ? 'दानवीर' के प्रसंग में विद्यापति लिखते हैं :

"तद्दानपरितुष्टास्ते सर्वत्र तस्या कीर्तिगाथां गायन्ति। राजोवाच। वैतालिक सत्यमेतत् ?" अर्थात् 'गाथा' शब्द 'सत्य' की गारंटी नहीं और 'स्तुति' शब्द 'कल्पना' का प्रतीक नहीं जो इस 'कीर्ति-गाथा' को 'दान-स्तुति' न समझा जाय और 'गाथा' को कोई 'इतिवृत्त' का वाचक माना जाय। विद्यापति का कथन है कि :

१. शारदा मन्दिर, काशी, सं० २००२, पृष्ठ ७१।
२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ १।
३. वही, पृष्ठ ८०।

दानवीरो हरिश्चन्द्रो दयावीरः शिविर्नृपः
युद्धवीरोऽभवत् पार्थस्सत्यवीरो युधिष्ठिरः ॥[1]

किन्तु 'युगान्तर पुरुष' से वर्तमान का काम नहीं सधता। अतएव विद्यापति ने 'कलि' के जीवों को ही 'परीक्षा' का विषय बनाया और 'दानवीर' के लिए 'विक्रमादित्य' को, 'दयावीर' के लिए 'हम्मीर' को, 'सत्यवीर' के लिए 'नरसिंहदेव' तथा 'चाचिकदेव' को, एवं 'युद्धवीर' के लिए 'मल्लदेव' को चुना। इनमें से 'हम्मीर' और 'मल्लदेव' की कथा विचारणीय थी। परन्तु आचार्य द्विवेदी को इसकी गन्ध कहाँ? यदि सचमुच उनको इनका कुछ पता होता तो 'शार्ङ्गधर' और 'जज्जल' के विषय में स्यात् उनका मत आचार्य शुक्ल जी के साथ होता।

जो हो, जानना यहाँ यह है कि वास्तव में 'वीर' के भीतर सभी 'वीर' आ जाते हैं, कुछ निरे 'युद्धवीर' को ही 'वीर' नहीं कहते। फलतः 'वीरगाथा' का संकेत है सभी प्रकार के 'वीरों' की 'गाथा' से। हाँ, यहीं यह भी स्पष्ट हो ले कि साहित्य-शास्त्र में 'सत्यवीर' को 'धर्मवीर' कहा गया है जिसे 'रस' के सभी प्राणी भली भाँति समझते हैं।

'वीर' के इतने विवेचन के बाद बताना अब यह रहा कि जो 'विपुल सामग्री' इधर 'उपलब्ध हुई है' वह आप ही इस 'वीर' के भीतर सिमट आती है। कारण यह है कि स्वयं आचार्य द्विवेदी का वचन है :

"ये ग्रन्थ अधिकतर जैन-ग्रन्थ-भाण्डारों से ही प्राप्त हुए हैं और अधिकांश जैन कवियों के लिखे हुए हैं। स्वभावतः ही इनमें जैन धर्म की महिमा बताई गई है और उस धर्म के स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर ही जीवन बिताने का उपदेश दिया गया है।"[2]

तो फिर आप ही कहें कि इस 'धर्मवीरता' के नाते इन्हें 'वीरगाथा' नहीं तो और क्या कहें? इनका 'चरितनायक' 'सिद्ध' है क्या? स्मरण रहे, इस काल का लेखा लेने पर 'सूरि' 'सिद्ध' को नगण्य कर देगा तो 'राजा' 'सामन्त' को। फिर यह 'सिद्ध-सामन्त' की गोहार कैसी? हाँ, 'सिद्ध' से अति अनुराग हो तो इसे 'सिद्धि-काल' कह लें, अन्यथा राहुल जी की शरण से लाभ क्या? उनका काल-विभाजन तो कुछ और ही है न? देखिए न। उनके पाँच युग हैं—

१. सिद्ध-सामन्त-युग, २. सूफी-युग, ३. भक्त-युग, ४. दरबारी-युग, और ५. नवजागरण युग। अस्तु उनका पंथ आपके लिए सुगम नहीं, भयावह है। 'वीर कौल' तो आप बन नहीं पाते, फिर 'सिद्ध' की चिन्ता क्या? उस दशा में भी 'वीर' अपना करतब दिखायगा। आप कहते हैं :

"एक के द्वारा वह वीर रस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा शृंगार रस का आलंबन।"[3]

तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि आपके 'सिद्ध-सामन्त-काल' का 'सामन्त' बस वाग्वीरता में मग्न रहता है और कभी भूलकर भी किसी नायिका में रत नहीं होता? यदि हाँ, तो आप के युग की सृष्टि ही निराली है।

१. पुरुष-परीक्षा—बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १६११ ई०।
२. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—पृष्ठ २।
३. वही, पृष्ठ २३।

रामचन्द्र तिवारी

सन्त-सम्प्रदायों की राजनीतिक परिणति

हिन्दी-प्रदेश में सन्त-मत का पूर्णोद्भव सन्त कबीर के समुदय के साथ हुआ। कबीर ने एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का पौरोहित्य किया। इस चेतना का आदि स्रोत सर्वथा नवीन नहीं था। बौद्ध धर्म के उदय के साथ ही उच्चवर्गीय सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक आचारों के प्रति विद्रोह की भावना का जन्म हुआ था। रूढ़ि और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ संकीर्ण और उदार होती हुई यह भावना जन-जीवन-प्रवाह के साथ बहती चली आई थी। कबीर ने इस भावना में आत्मविश्वास की दृढ़ता फूँकी, इसे संकीर्णताओं से मुक्त किया, हीनता की भावना को दूर किया तथा समता की दृष्टि दी। इस प्रकार विशुद्ध मानवता के आधार पर एक नवीन संस्कृति को जन्म दिया।

कबीर के समसामयिक अन्य सन्तों—सेन, पीपा, रैदास, कमाल, धन्ना, नानक आदि—की जीवन-साधना एवं धार्मिक दृष्टि भी ठीक इसी प्रकार की थी। ये सभी सन्त सरल थे। रूढ़ियाँ सभीको अप्रिय थीं तथा शुद्धाचरण सभी को मान्य था। इनका व्यक्तित्व-संगठन स्पष्टता और स्वतन्त्रता के आधार पर हुआ था। जीवन के मूल्यों के आकलन के लिए इनके पास एक ही कसौटी थी—अनुभव एवं विवेक। इनकी वाणियों में अखण्ड आत्म-विश्वास भरा था। इन सभी ने कबीर द्वारा पोषित नूतन सांस्कृतिक चेतना के समुदाय और विकास में सच्चा सहयोग दिया।

अपने समुदय-काल में यह सन्त-मत किसी प्रकार की संगठन की मनोवृत्ति लेकर नहीं चला था। इसमें संगठन की प्रवृत्ति के समागम तथा साम्प्रदायिक भावना के प्रवेश की कहानी हिन्दी-प्रदेश में इस्लामी प्रभाव के साथ प्रारम्भ होती है। हिन्दी-प्रदेश की चिन्ता-धारा के मध्य-युगीन विकास के अध्येताओं के लिए यह कहानी मनोरंजक ही नहीं महत्त्वपूर्ण भी है।

११वीं शती वि० में हिन्दी-प्रदेश में जिस इस्लामी संस्कृति का प्रवेश हुआ वह अपनी सम्पूर्ण उदारता में भी साम्प्रदायिक भावना से मुक्त न थी। इस्लाम-अनुमोदित आचारस-मता, जातीय एकता, भ्रातृ-भावना, एकेश्वरवादी विश्वास आदि सभीके पीछे कट्टरता का पुछल्ला लगा था। इस संस्कृति के पोषक मुस्लिम जन-समुदाय ने अपने से सर्वथा प्रतिकूल प्रवृत्ति रखने वाली हिन्दू जाति को पराजित करने के लिए अपनी धार्मिक कट्टरता को पूरे बल से पकड़ रखा। हिन्दी-प्रदेशीय मुसलमानों से इतर जन-समुदाय को जीवन के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में इस कट्टरता का सामना करना पड़ा।

हिन्दू जनता में इस धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया दो रूपों में हुई। निम्नवर्गीय हिन्दू जातियाँ जो सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से हीन थीं और जिन्हें शताब्दियों से उच्चवर्ग की उपेक्षा, अवहेलना, घृणा तथा अपमान के बीच घुटना पड़ रहा था, स्वेच्छा से इस्लाम स्वीकार करने लगीं। दूसरी ओर उच्चवर्ग अपने को सभी इतर वर्गों से सर्वथा पृथक् बनाए रखने के लिए रूढ़िग्रस्त धार्मिक आचारों-संस्कारों तथा जातिगत विषमताओं से और भी चिपकने लगा।[1]

१. मुस्लिम शासन के प्रारम्भ में ही ऐसी ८४ हिन्दू जातियों का उल्लेख मिलता है जिनका परस्पर खान-पान नहीं था—'लाइफ एण्ड कण्डीशन ऑफ़ दी पीपुल ऑफ़ हिन्दुस्तान' —अशरफ़, पृष्ठ १९३।

इन दोनों के बीच एक ऐसा हिन्दू समुदाय भी था जो युग-युग की इस बद्ध धारणा—"स्वधर्मे मरणं श्रेयः"—से चिपका होने के कारण अनेक कष्ट सहन करने पर भी इस्लाम न स्वीकार कर सका था किन्तु उच्चवर्गीय कुलीन हिन्दुओं से उसे सम्मान भी न प्राप्त था। सन्तों की सरल बानियों से सर्वाधिक स्फूर्ति, सम्बल और प्रेरणा इसी समुदाय को प्राप्त हुई।

सन्त-मत का प्रवेश जब इस सामान्य जन-समुदाय में हुआ तो उसका स्वरूप भी जन-जीवन की मनःस्थिति के अनुसार ढलने लगा। युग-युग से शोषण, घुटन और आत्महीनता के वातावरण में रहने के कारण निम्न जन-समुदाय सन्तों के स्वतन्त्र विचारों एवं समतामूलक जीवन-दृष्टि का बौद्धिक समर्थन तो करता रहा किन्तु उनके जीवन-सिद्धान्तों और आदर्शों को अपने जीवनाचारों में उतार न सका। फलतः सन्तों से प्रभावित यह जन-वर्ग अपनी हीन भावना को छिपाने के लिए कुलीन हिन्दुओं के समानान्तर पृथक् धार्मिक रूढ़ियों एवं संस्कारों के माया जाल का सृजन करने लगा। इस प्रकार सन्त-समुदाय के पृथक् पर्व, त्योहार, धर्माचार-संस्कार आदि संगठित होने लगे। मन्दिरों और मठों में प्रवेश निषिद्ध होने के कारण गुरुद्वारों का निर्माण हुआ। गोविन्द का स्वरूप-ज्ञान अगम्य होने के कारण गुरु को ही गोविन्द माना गया। मूर्ति-स्पर्श वर्जित होने के कारण गुरु-ग्रन्थ की ही पूजा होने लगी। पण्डितों द्वारा प्रयुक्त पूजा-मन्त्रों का ज्ञान न होने के कारण उसीके वजन पर अनुस्वारादि लगाकर सधुक्कड़ी भाषा में मन्त्रावलियाँ बनाई गईं। इसी प्रकार गुरु जयन्ती, ग्रन्थ-जयन्ती आदि रूपों में पृथक् त्योहारों का श्रीगणेश हुआ। अन्ततः प्रत्येक प्रसिद्ध सन्त से प्रभावित श्रद्धालु जनवर्ग पन्थ और सम्प्रदाय का रूप ले बैठा। संवत् १७०० वि० के कुछ पूर्व तक उत्तरी भारत में कबीर पंथ, नानक पंथ, साध सम्प्रदाय, लाल पंथ, दादू पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, बावरी पंथ, मलूक पंथ आदि अनेक पंथों और सम्प्रदायों का जाल बिछ गया।

अभी तक सम्प्रदाय-संगठन का स्वरूप सांस्कृतिक ही था। इसमें राजनीतिक प्रयोजन का प्रवेश नहीं हुआ था। सं० १६३१ वि० में बाबा तुलसीदास ने पंथ-प्रवर्त्तन की इस प्रवृत्ति को लक्ष्य किया था किन्तु उनका व्यंग्य इनके धार्मिक स्वरूप पर ही तीव्रतम रूप में प्रकट हुआ था।[1] यदि उस समय इन सम्प्रदायों के संगठन के मूल में किसी प्रकार का राजनीतिक प्रयोजन भी होता तो उनकी सतर्क दृष्टि उसे अवश्य लक्ष्य करती और उनकी वाणी व्यंग्य करने से न चूकती। कबीर ने अवश्य बन्दूक चलाने वाले कच्चे सिद्धों की मखौल उड़ाई थी,[2] किन्तु 'बीजक' में समाविष्ट सभी कथनों में उनके निज के कितने हैं यह कह सकना अत्यन्त कठिन है।

अकबर के समय में मुस्लिम धार्मिक नीति पर्याप्त उदार हो गई। उसने सर्व-धर्म-समन्वय पर बल दिया। उसकी परिवर्तित नीति ने न केवल हिन्दुओं और मुसलमानों को निकट ला दिया वरन् सन्त-सम्प्रदायों में भी समन्वय और सम्पर्क की भावना बढ़ने लगी। वे एक-दूसरे के निकट आने लगे। उच्चवर्गीय हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं के प्रति उनमें विद्रोह की भावना क्षीण होने लगी। यही नहीं आगे चलकर सूफियों, जैनियों और ईसाइयों के धार्मिक आचारों का प्रवेश भी सन्तों के विभिन्न सम्प्रदायों में होने लगा।[3]

---

१. 'बुध्भिन निज मत कलपि करि प्रगट किये बहु पंथ'—'मानस उत्तर काण्ड' पृष्ठ ६७।
२. 'कबीर'—हजारीप्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ १२६।
३. 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा'—पृष्ठ २१७।

जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ धार्मिक उदारता बनाए रखने का प्रयत्न किया। फलतः सन्तों में समन्वयात्मक प्रवृत्ति का विकास होता रहा। औरंगजेब के शासन में मुस्लिम धार्मिक नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता सीमा पार कर गई। उसकी राजनीति का परिचालन धर्मनीति के आधार पर ही होता था। उसकी आर्थिक नीति का आधार भी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति थी। वह अपनी छाया से भी सशंक रहता था। जजिया फिर से लगाया गया। मन्दिर और पाठशालाएँ ध्वस्त की गईं। मस्जिदें और मकतब निर्मित हुए। हिन्दू-विक्रेताओं पर कर लगाया गया। सामूहिक इस्लाम-प्रवेश को प्रोत्साहन दिया गया। वस्तुतः इस धार्मिक कट्टरता की विद्वेषपूर्ण हिंसात्मक प्रतिक्रिया ने ही सन्त-सम्प्रदायों को राजनीतिक क्षेत्र में सशस्त्र प्रवेश करने के लिए बाध्य कर दिया।

औरंगजेब की धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया दो रूपों में हुई। एक तो मुसलमानों में ही सूफियों से प्रभावित उदार दल औरंगजेब के विरुद्ध खड़ा हो गया। इस वर्ग का प्रतिनिधित्व दारा-शिकोह को प्राप्त हुआ। परवर्ती सन्त-सम्प्रदायों में कई दारा शिकोह के सम्पर्क में आए थे। दूसरे पुनरुत्थान की प्रवृत्ति अपनी सम्पूर्ण उग्रता के साथ जाग उठी।

हिन्दू पुनरुत्थान की प्रवृत्ति भी कई रूपों में प्रकट हुई। युद्धप्रिय वीर जातियों ने सशस्त्र विद्रोह किया। हिन्दी-कवियों ने ओजपूर्ण वीर रसात्मक काव्य-कृतियों में यशस्वी हिन्दू-वीरों का गुण-गान प्रारम्भ किया। धार्मिक एवं सांस्कृतिक आधारों पर संगठित अनेक सन्त-सम्प्रदाय सशस्त्र सैनिक संगठन के रूप में बदल गए। सम्प्रदायों से पृथक् कुछ स्वतन्त्र प्रकृति के हिन्दू सन्तों ने जाग्रत हिन्दू जातियों के संगठन में परोक्ष रूप से भी सहायता पहुँचाई।

युद्धप्रिय वीर विद्रोही जातियों का स्वातन्त्र्य-संग्राम सर्वविदित है। इतिहास के पृष्ठ उसके साक्षी हैं। शिवाजी के नेतृत्व में मरहटों का विद्रोह और राज्य-स्थापन, राठौर वीर दुर्गादास का राणा राजसिंह की सहायता से मारवाड़ तथा मेवाड़ की रक्षा के लिए सतत शौर्य-प्रदर्शन, मथुरा में गोकुल जाट का घोर संघर्ष तथा बुन्देलखण्ड के अप्रतिम वीर छत्रसाल की दुर्जेय वीरता सभीके पीछे हिन्दू पुनरुत्थान की भावना कार्य कर रही थी। धार्मिक सन्त-सम्प्रदायों में सिख, नागा (दादू पन्थ की उपशाखा) सतनामी और साध ऐसे सम्प्रदाय हैं जिन्होंने प्रत्यक्षतः अपने सांस्कृतिक संगठन को राजनीतिक स्वरूप दे दिया।

सिक्खों के प्रथम चार गुरुओं ने अपना कार्य धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रखा था। पाँचवें गुरु अर्जुन को जहाँगीर ने खुसरो का समर्थन करने के कारण बन्दीगृह में डाल दिया था। वहीं (१६०६ ई०) उनकी मृत्यु हो गई। इस हत्या ने सिखों में विद्रोह का बीज वपन किया। फलतः अपने नवीन गुरु हरगोविन्दसिंह के नायकत्व में इस सम्प्रदाय ने अपने को सैनिक संघ के रूप में परिवर्तित कर लिया। नवें गुरु तेगबहादुर ने औरंगजेब की कट्टर धार्मिक नीति का विरोध खुलकर किया। वे पकड़े गए। उनकी निर्मम हत्या की गई। गुरु ने 'सिर दिया पर सार न दिया'। इसके बाद गुरु गोविन्दसिंह ने आजीवन संगठित संग्राम जारी रखा। स्पष्ट है कि सिखों के राजनीतिक संगठन का एक-मात्र कारण औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता थी।

सतनामी सम्प्रदाय वालों ने सं० १७२६–३० में विद्रोह किया था। इस विद्रोह के पूर्व इनके संगठन का क्या स्वरूप था, यह कहा नहीं जा सकता। इस विद्रोह का मूल कारण आर्थिक था। वस्तुतः यह विद्रोह किसान-विद्रोह था। यह अवश्य है कि ये किसान समान

धार्मिक विश्वास रखने के कारण विद्रोह में भ्रातृ-भावना के साथ एक होकर सम्मिलित हो सके थे। युद्ध में इनकी उग्रता, संगठन और शस्त्र-संचालन की कुशलता का वर्णन पढ़कर यह प्रतीत होता है कि पहले से ही इस धार्मिक सम्प्रदाय का शस्त्रास्त्रों से पूर्ण परिचय था। कुछ भी हो इससे हमारी इस धारणा में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वस्तुतः धार्मिक सम्प्रदायों का राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने का बहुत बड़ा कारण औरंगजेब की कट्टरता थी।

साध-सम्प्रदाय का वास्तविक ऐतिहासिक विवरण अन्धकार में ही है। इस सम्प्रदाय की प्रायः सतनामियों से एकता स्थापित की गई है। यदि यह सम्प्रदाय सतनामियों से भिन्न था तो इसके सैनिक संगठन का ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं दिया जा सकता। किंवदन्ती है कि उदादास जब दिल्ली के आस-पास इस सम्प्रदाय का प्रचार कर रहे थे तो औरंगजेब ने इसके विरुद्ध युद्ध करने के लिए सैनिक भेजे थे। वह स्वयं भी युद्ध में उपस्थित हुआ था और उदादास उसके हाथ से मारे गए थे। उदादास के दो प्रधान शिष्य जोगीदास और वीरभान थे। डॉ० यदुनाथ सरकार के अनुसार सन् १६५८ ई० (१७१५ वि०) में धौलपुर के निकट महाराज महासिंह ने दाराशिकोह की ओर से औरंगजेब के विरुद्ध युद्ध अवश्य किया था किन्तु वहाँ किसी साध-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक जोगीदास का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[1] जनश्रुति को ही यदि विश्वसनीय माना जाय और यह सम्भावना हो कि दिल्ली के निकट धौलपुर वाले युद्ध में महासिंह के साथ जोगीदास ने भी युद्ध किया था तो निश्चय ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि साध-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन के मूल में राजनीतिक प्रयोजन भी कार्य कर रहा था।

दादू पन्थ की उपशाखा नागा सम्प्रदाय का संगठन औरंगजेब के राजत्व-काल के बाद की घटना है। अतः इस सम्प्रदाय के सैनिक संगठन का कारण उसकी धार्मिक नीति नहीं मानी जा सकती। नागा सम्प्रदाय का सम्बन्ध जयपुर राज्य से सं० १८०० के आस-पास से ही सिद्ध होता है। इनके संगठन का कारण निश्चय ही सम्प्रदाय की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति ज्ञात होती है। मुगल साम्राज्य के ध्वंस होने के बाद घोर अराजकता के युग में धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति जनता में श्रद्धा और सम्मान की भावना नहीं रह गई थी। ऐसी स्थिति में उदर-पूर्ति के लिए सैनिक संगठन आवश्यक था। इस संगठन के कारण आपस में लड़ने वाले राजा और सामन्त भी किरायें पर इनका प्रयोग अपने सैनिकों के साथ कर लिया करते थे और कभी-कभी ये स्वयं ही किसी छोटे-मोटे सामन्त को लूट लेते थे। नागा सम्प्रदाय का संगठन इसी प्रकार का प्रतीत होता है। वि० क्रुक ने जयपुर राज्य की ओर से निकटवर्ती गावों में रहने वाले नागाओं को वेतन दिये जाने का उल्लेख भी किया है।

उपर्युक्त प्रमुख सैनिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त धामी, शिवनारायणी, चरणदासी, गरीब पन्थी और नागी (राधास्वामी संप्रदाय की एक उपशाखा) सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनके मूल में भी राजनीतिक प्रयोजन सन्निहित है। धामी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सन्त प्राणनाथ का छत्रसाल से ठीक वैसा ही सम्बन्ध बताया जाता है जैसा शिवाजी से समर्थ गुरु रामदास जी का। छत्रसाल के हृदय में हिन्दुत्व की भावना भरने का बहुत-कुछ श्रेय प्राणनाथ को दिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन के मूल में हिन्दुत्व-जागरण की भावना उनके हृदय में अवश्य कार्य कर रही थी। यह भावना उस समय विशुद्ध राजनीतिक भावना थी। यह होने पर भी धामी

१. 'उत्तरी-भारत की सन्त-परम्परा'—पृष्ठ ३१४।

सम्प्रदाय अपने संगठित रूप में एक धार्मिक संगठन ही रहा।

शिवनारायणी सम्प्रदाय का संगठन मुहम्मदशाह के समय में हुआ था। प्रारम्भ में यह सम्प्रदाय विशेषकर राजपूतों में ही प्रचार पा सका था। प्रारम्भ में इसके संगठन का क्या स्वरूप था? निश्चित रूप से इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सम्प्रदाय में किंवदन्ती है कि 'पोत' न देने के कारण एक बार बादशाह ने शिवनारायण साहब को पकड़ लिया था। वे अपने अलौकिक प्रभाव के कारण बन्दीगृह से छूट आए थे। इस किंवदन्ती का ऐतिहासिक मूल्य भले ही न हो, इससे यह अवश्य सूचित होता है कि सम्प्रदाय वालों की मनःस्थिति में शासन के प्रति विद्वेष की भावना अवश्य कार्य करती रही है। आजकल अपने पर्वों और त्योहारों में जुलूस इत्यादि निकालते समय ये लोग सैनिक-क्रीड़ाओं का प्रदर्शन ठीक उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार सिख लोग। कहते हैं यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। इस सम्प्रदाय के महन्तों का संगठन भी सैनिक-संगठन-जैसा प्रतीत होता है। 'टोली महन्त', 'समाज महन्त', 'ब्रिगेड महन्त', 'हुक्मी महन्त' और 'मुल्की महन्त' क्रमशः निम्नतम से उच्चतम श्रेणी के महन्तों की उपाधियाँ हैं।[1] महन्तों की इस प्रकार की संज्ञा का कारण यही है कि विशेषकर सैनिकों में प्रचलित होने के कारण सम्प्रदाय के लोगों ने सैनिक ढंग से ही सम्प्रदाय-संगठन भी कर लिया। यह होते हुए भी किसी समसामयिक हिन्दू या मुसलमान सामन्त से इस सम्प्रदाय के युद्ध होने का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं मिलता।

चरणदास, गरीबदास और नांगी सम्प्रदाय के प्रवर्तक डेढ़राज के भी क्रमशः नादिरशाह, अकबरशाह द्वितीय तथा नारनौल के शासक नजाबत अली खाँ द्वारा बन्दी बनाए जाने और अन्त में किसी-न-किसी अलौकिक चमत्कार के कारण मुक्त होने की चर्चा की जाती है। इससे भी यह स्पष्ट है कि इन सम्प्रदायों के अनुयायियों के हृदय में तत्कालीन शासन के प्रति धार्मिक और आर्थिक कारणों से असन्तोष रहा है। इस असन्तोष ने साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के बढ़ाने तथा उसके आधार पर जन-सम्प्रदाय को संगठित करने में बहुत-कुछ योग दिया है। इन सम्प्रदायों के अनुयायियों के सैनिक संगठन का उल्लेख नहीं मिलता।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर के साथ सन्त-मत के रूप में जिस सांस्कृतिक चेतना का अभ्युदय हुआ था, वह क्रमशः मुसलमान शासकों की कट्टर धर्मनीति और साम्प्रदायिक आधार पर संगठित मुस्लिम समुदाय की मनोवृत्ति के प्रभाव से संगठन की ओर अग्रसर हुई। प्रारम्भ में यह संगठन सांस्कृतिक ही रहा, पर औरंगजेब की कट्टर धर्मनीति की प्रतिक्रिया से राजनीतिक संगठन के रूप में परिणत होता गया। आगे चलकर आर्थिक आधार पर भी संगठन हुए और यह सदा आवश्यक नहीं था कि साम्प्रदायिक संगठन प्रत्यक्ष रूप से युद्धों में भाग ही लें।

---

१. देखिए—सम्प्रदाय की प्रकाशित नियमावली।

मूल्यांकन

डॉक्टर जगदीश गुप्त

आधुनिक हिन्दी-काव्य का एक विशिष्ट आध्यात्मिक स्वर

इससे पहले कि 'माता', 'क्वासि' और 'सुहागिन' की काव्यगत समीक्षा प्रस्तुत की जाय उनकी भूमिकाओं में व्यक्त विचारोंकी ओर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है, क्योंकि तीनों कवियों ने जीवन तथा साहित्य के मूल्यांकन-विषयक कतिपय मौलिक प्रश्नों को उठाया है। इन प्रश्नों का सीधा सम्बन्ध कवियों की अपनी रचनाओं से ही है किन्तु प्रकारान्तर से इनकी व्याप्ति कहीं अधिक है। कुछ बँधी-बँधाई धारणाओं की लीक से हटकर नये सिरे से सोचने की अपील की गई है।

'माता' की भूमिका में माखनलाल जी ने छायावाद युग से लेकर अब तक की समस्त हिन्दी कविता के मूल्य-निर्धारण की समस्या उठाई है—और वह भी उन कविताओं की तुलना में जो संघर्षशील परिस्थितियों से जूझने वाले कवियों के द्वारा रची गई हैं। उनका कहना है :

"कभी प्रणय, कभी छायावाद, कभी प्रगति और भविष्य में कभी कुछ और कभी कुछ—इन सबके गोरखधन्धों में मन तो बहलाया जा सकता है, किन्तु क्या शाश्वत मानव, कभी अपने इन धन्धों से पकड़ में आ सकता है ?"

'चौहान' और 'नवीन' का उदाहरण देते हुए वे बलपूर्वक आरोपित करते हैं कि हिन्दी-साहित्य में उन लोगों को अभी तक नहीं पहचाना गया है 'जिन्होंने जीवन और गायन दोनों के खतरों-भरे पंथ का बोझ ढोया है।' उनके कथन का निष्कर्ष है कि कला-कौशल और जीवन की सरल अनुभूतियों से प्रेरित एवं निर्मित प्रणय-गीतों से वे गीत श्रेष्ठ हैं जो कठोर परिस्थितियों में रचे गए। कठोर परिस्थितियों या 'खतरों' का स्पष्टीकरण उन्होंने स्वातन्त्र्य-संग्राम में भाग लेने वालों की जेल-यात्राओं, क्रान्तियों, राजनीतिक बन्धनों, नियन्त्रणों और अपमानों के रूप में स्वयं ही कर दिया है। जिस वर्ग के दो-एक कवियों का उल्लेख चतुर्वेदी जी ने किया है उसके पुरातन पुरुष वे स्वयं ही हैं, अतएव उनका कथन सबसे पहले उन्हीं पर लागू होता है। हिन्दी-काव्य की राष्ट्रीय धारा के कवियों के वास्तविक मूल्यांकन के प्रश्न से कुछ देर के लिए इस प्रश्न को पृथक् करके देखा जाय तो सिद्धान्त रूप में उनकी स्थापना को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है।

इसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथम तो यह कि अपने अनभिव्यक्त मूल रूप में साहित्य में व्यक्त अनुभूतियाँ कितनी भी गहन क्यों न रही हों, उनका जन्म कितनी भी विषम परिस्थितियों में क्यों न हुआ हो किन्तु यदि वे उसी तरह प्रभावोत्पादक रूप में व्यक्त न की जा सकी हों तो अभिव्यक्ति से पूर्व की उनकी सारी स्थितियों का साहित्यिक कृतित्व की दृष्टि से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। राजनीतिक इतिहास में उनका चाहे जो भी मूल्य हो। द्वितीय यह कि सामान्य-सी परिस्थिति भी समवेदनशील हृदय में असामान्य भाव-संवेग उत्पन्न कर सकती है और असामान्य-से-असामान्य स्थिति भी कभी-कभी कृतिकार के हृदय को अछूता छोड़ जाय तो आश्चर्य नहीं। इसीलिए भारतीय साहित्य शास्त्र ने मूल्यांकन का प्रश्न व्यक्त अनुभूतियों और उनके प्रभाव तक ही सीमित रखा। उसके लिए अभिव्यक्ति से पूर्व अनुभूतियों की सामान्यता-असामान्यता तथा विगत परिस्थितियों के इतिहास की साक्षी को आवश्यक नहीं माना। साहित्य-समीक्षा की आधुनिक मनोवैज्ञानिक प्रणाली में भी कृतित्व से पूर्व की परिस्थितियों का जो विश्लेषण किया जाता है वह साहित्यकार के व्यक्तित्व को अधिक गहनता से समझने के लिए ही किया जाता है, सापेक्षिक मूल्यांकन का उद्देश्य कदाचित् उसमें प्रधान नहीं रहता। जब काव्य की एक विशिष्ट धारा की श्रेष्ठता के लिए 'खतरों' और परिस्थितियों की दुहाई देने की आवश्यकता पड़ जाय तो सचमुच समस्या जटिल और विचारणीय हो जाती है। सम्भव है राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लेने वाले सेनानियों के व्यक्तिगत प्रणय-गीतों तथा राष्ट्रीय कविताओं में अन्तर्निहित गुणों और उनके महत्त्वपूर्ण अर्थों की ओर अभी आलोचक-वर्ग का ध्यान समुचित रूप में न गया हो—उनके प्रति अन्याय हुआ हो पर हिन्दी-जगत् ने इन कवियों का कम समादर किया है यह कहना कठिन है। पर जिस व्यथा और आक्रोश-मिश्रित क्षोभ के साथ माखनलाल जी द्वारा यह प्रश्न उठाया गया है उसे समझने की आवश्यकता है। अपनी कल्पना के अनुसार प्रतिदान न पाने की व्यथा और क्षोभ को तो मैं समझ सकता हूँ—क्योंकि साहित्यिकों में प्रायः इस भाव के दर्शन होते हैं, परन्तु छायावाद के अन्य कवियों के काव्य को जो महत्ता हिन्दी-साहित्य में मिली है उसके प्रति आक्रोश के भाव को—और विशेषकर उनके हृदय में—मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। 'क्वासि की यह टेर मेरी' शीर्षक से नवीन जी ने भी साहित्य के मूल्यांकन के ही प्रश्न को उठाया है किन्तु दूसरे धरातल पर और भिन्न प्रसंग में। एक प्रगतिशील आलोचक के द्वारा लगाये गए आरोप—'प्रगतिशील नवीन तो मर गए, अब बच रहे हैं केवल दार्शनिक नवीन'—का उत्तर देते हुए उन्होंने दार्शनिक आधार पर साहित्य के मूल्यों की व्याख्या की। माखनलाल जी ने छायावादी, प्रगतिशील आदि सभी काव्य-धाराओं को दृष्टि में रखकर अपनी बात कही थी पर नवीन जी ने प्रगतिशील साहित्य के मूल-प्रेरक पदार्थवादी जीवन-दर्शन को ही अपना लक्ष्य बनाया। मार्क्स के पूर्ववर्ती जर्मन दार्शनिक फ्योरबाख (Feuerbach) का उल्लेख करते हुए उसके विचारों से प्रेरित होकर लिखे गए मार्क्स के ही एक सूत्र से उन्होंने दो बातों की निष्पत्ति मानी। प्रथम तो यह कि मार्क्स से पहले पदार्थवाद की धारणा जड़ थी और मार्क्स ने ही उसे 'सेन्द्रिय मानवीय सक्रियता' की ओर उन्मुख किया, दूसरे यह कि जो कुछ यथार्थ है वह केवल-मात्र वह पदार्थ, वह वस्तु है, जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। नवीनजी ने सूत्र की प्रथम निष्पत्ति पर मार्क्स की हार्दिक सराहना करते हुए दूसरी निष्पत्ति से अपनी पूर्ण असहमति प्रकट की। यही नहीं यथार्थ सत्य के ग्रहण को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने भारतीय औपनिषदिक आध्यात्मिक चिन्ता-धारा की तुलना में मार्क्स की पदार्थवादी विचार-धारा को

अवैज्ञानिक, निर्गतिवादी और प्रतिक्रियावादी तक कह डाला है। दार्शनिक आधार को लेकर किये गए इस विवेचन की परिसमाप्ति पर इसे साहित्य और उसके मूल्यांकन से सम्बद्ध कर दिया—वस्तुतः यही उनका उद्देश्य भी था। निष्कर्ष रूप में उनकी धारणा उल्लेखनीय है :

"इस दर्शन-सिद्धान्त पर जो भी साहित्य-कला-सौन्दर्य-शास्त्र आधारित होगा, वह पूर्ण रूप से ग्राह्य नहीं हो सकता। इस प्रकार का शास्त्र, उस अंश तक जिस तक वह अपने को पदार्थवादी दर्शन का अनुगामी बना लेता है, मानव-प्रगति को रोकने वाला, अतः मानवोन्नति-बाधक, गति-अवरोधक, अचल तथा प्रतिक्रियावादी सिद्ध होगा। इस प्रकार के साहित्य-कला-सौन्दर्य-शास्त्र में केवल उसी सीमा तक गति होगी जिस सीमा तक वह जीवन के तथ्य को स्पर्श, विकसित और प्रस्फुटित करेगा। किन्तु जिस समय वह शास्त्र जीवन के तथ्य को केवल भौतिकता में बाँधने का दुराग्रह करने लगेगा, उसी समय वह विचार-विकास-विरोधी के रूप में प्रकट हो जायगा।"[1]

इस प्रकार नवीन जी ने इन्द्रियातीत सत्य के प्रति अपनी गम्भीर आन्तरिक आस्था प्रकट की और आत्मदर्शन, सत्-वरण तथा बन्धन-मोक्ष को ही इस देश की विशेषता बताते हुए उसी को भारतीय वाङ्मय की मूल प्रेरणा स्वीकार किया और साथ ही अपनी 'क्वासि' को इन्द्रियातीत सत्य से 'आत्मैकता प्रदान करने वाली प्रणोदना' तथा उसके प्रति 'शाश्वत दोहभाव' से अनुप्रेरित एवं विनिर्मित घोषित किया। उनका यह दावा कहाँ तक यथार्थ है इसका विश्लेषण और विवेचन 'क्वासि' की कविताओं को लेकर आगे किया जायगा, यहाँ उनकी स्थापनाओं का परिचय ही अभीप्सित है। भारतीय परम्परा की जिज्ञासा को नवीन जी ने वर्तमान विज्ञान-जिज्ञासा से परिमाणात्मक और गुणात्मक दोनों रूपों में भिन्न मानते हुए उनमें आन्तरिक और बाह्य का भेद प्रदर्शित किया है। क्या वास्तव में ऐसा है ? यह सोचने की बात है। उनकी यह भी धारणा है कि श्रेणी-हितों से सम्बद्ध 'मार्क्स-एँगल्स-लेनिन का पक्षावलम्बी सिद्धान्त' भारतीय साहित्य-सम्बन्धी स्थापनाओं पर लागू नहीं होता। निष्कर्ष रूप में उनका कथन उन्हींके शब्दों में इस प्रकार है :

"मानव केवल भौतिक उफान की सनसनाहट-मात्र नहीं, वह इसके अतिरिक्त भी और कुछ है। हमारे साहित्य-मनीषियों और तत्त्वदर्शियों ने मानव को जो परमात्म-अंश के रूप में माना है वह कोई योंही उन्माद-प्रलाप-मात्र नहीं है...... ....अपने को, स्वयं को—अपने मानव को सुसंस्कृत करने का प्रयत्न ही भारतीय साहित्य का—हिन्दी-साहित्य का—ध्येय रहा है, और है.........संस्कृति है आत्म-विजय, संस्कृति है राग-वशीकरण, संस्कृति है भाव-उदात्तीकरण। जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाय, वही सत् साहित्य है।"[2]

नवीन जी के विचारों से बहुत अंशों में सहमत होते भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, विशेषकर हिन्दी-साहित्य का ध्येय प्रारम्भ से आज तक सर्वथा एक ही रहा है। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि पहले साहित्य का ध्येय मनुष्य को सुसंस्कृत बनाना था और अब असंस्कृत बनाना हो गया है। वास्तविक सत्य यह है कि वर्तमान युग की नवीन प्रगति के साथ संस्कृत होने या बनाने की धारणा में ही मौलिक परिवर्तन उपस्थित हो गया है।

१. क्वासि—पृष्ठ १३, भूमिका।

२. वही—पृष्ठ २४-२५, भूमिका।

अज्ञात की चिन्ता यदि ज्ञात की उपेक्षा बनकर आती है तो नवीन मानवीय चेतना से उसका मेल अब सम्भव नहीं रह गया है। इसी तरह व्यक्तिगत कल्याण-भावना सामाजिक अभ्युत्थान की कामना के समकक्ष कम प्रेरक और कम आकर्षक प्रतीत होने लगी है। प्राचीन सत्यान्वेषण-वृत्ति को नये तथ्यों के साथ सामंजस्य स्थापित करके नवीन अर्थों में अपने को व्यक्त करना पड़ रहा है। जहाँ तक हिन्दी-साहित्य का सम्बन्ध है ध्येयगत, यह सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भारतेन्दु के पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य के मूल स्वरों की तुलना करने से सहज ही स्पष्ट हो जाता है। अब 'क्वासि' की टेर लगाने वाले और 'अतीन्द्रिय' प्रिय के विरह में तड़पने वाले व्यक्ति को उसकी 'ऐन्द्रियता' से पृथक् करके नहीं वरन् दोनों को मिलाकर सम्पूर्ण रूप में समझना होगा और उसका मूल्यांकन भी मानवता के नये विकास की पृष्ठभूमि में ही होगा—औपनिषदिक युग के आधार पर नहीं।

सृष्टि का अन्तिम सत्य क्या है इसको पूर्णतया निश्चित समझकर आग्रहपूर्वक किसी विशिष्ट विचार-धारा के पोषक साहित्य को ही श्रेष्ठ कह देना एक प्रकार की बौद्धिक जड़ता को जन्म देता है फिर यह दृष्टिकोण इस भ्रान्ति को भी उत्पन्न करता है कि साहित्य की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता उसके वस्तुपक्ष पर ही आधारित रहती है जब कि साहित्य के मूल्यांकन में कला अथवा अभिव्यक्ति-पक्ष की किसी भी प्रकार उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तु, अनुभूति और अभिव्यक्ति को विवेचन की दृष्टि से भले ही हम पृथक् कर लें परन्तु अपने मूल रूप में वे साहित्य-सर्जन की एक ही प्रक्रिया के अभिन्न अंग-मात्र हैं। अतएव वस्तुपक्ष को ही निर्णायक तत्त्व नहीं माना जा सकता। 'भनित भदेस वस्तु भलि बरनी' कहने वाले को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि 'जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।'

जो मन और इन्द्रियों से परे है—इन्द्रियातीत या अव्यक्त है—वह काव्य का विषय हो भी सकता है यह संदिग्ध है; क्योंकि उसकी अनुभूति होना ही असम्भव है। सम्भव है केवल जिज्ञासा भाव, जो किसी भाव तत्त्व से संयुक्त हुए बिना किसी प्रकार काव्य का प्रेरक नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में मुझे छायावादी कवियों के रहस्यवाद का विवेचन करते हुए जो मत शुक्लजी ने व्यक्त किया वही यथार्थ प्रतीत होता है। उनके कुछ सुनिश्चित विचार द्रष्टव्य हैं :

"व्यक्त और-अव्यक्त में कोई पारमार्थिक भेद नहीं। ये दोनों सापेक्ष और व्यावहारिक शब्द हैं और केवल मनुष्य के ज्ञान की परिमिति के द्योतक हैं। अज्ञात की 'जिज्ञासा' ही का कुछ अर्थ होता है उसकी 'लालसा' या प्रेम का नहीं।[1]

"वाद या सिद्धान्त रूप में प्रतिपादित बातों को स्वभाव-सिद्ध तथ्य के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रदर्शित करके औरों के हृदय में इस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना, हम सच्चे कवि का काम नहीं मानते; मतवादी का काम मानते हैं।"[2]

छायावादी-युग के काव्य को दृष्टि में रखते हुए रहस्यवादी काव्य में शुक्लजी ने दो बातों को सबसे अधिक विरक्तिजनक बताया है—एक तो भावों में सचाई का अभाव, दूसरे व्यंजना की कृत्रिमता यानी insincerity और artificiality (पृष्ठ १२३)। जहाँ तक नवीन जी का

१. चिंतामणि—द्वितीय भाग, पृष्ठ ६२।
२. काव्य में रहस्यवाद।

सम्बन्ध है उनकी ईमानदारी में संदेह करने का कोई कारण नहीं है। उन्होंने जो भी विचार व्यक्त किये हैं वे अपने अन्दर निहित सचाई को पूरी तरह ध्वनित करते हैं। साहित्यकार के स्वाध्याय, कल्पना-शक्ति आदि, जो दस गुण अपनी भूमिका में उन्होंने बताये हैं उनमें अन्तिम गुण 'आर्जव—ईमानदारी' भी है, परन्तु ईमानदारी को स्वीकार करने के बाद भी समस्या ज्यों-की-त्यों शेष रह जाती है, क्योंकि रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति वाले व्यक्ति की चिन्तन-पद्धति एक विशेष प्रकार की होती है। बर्ट्रेंड रसेल ने अपने Mysticism and Logic नामक निबन्ध में रहस्यवादियों की चिन्तन एवं विचार-पद्धति की मार्मिक विवेचना की है। उसका कथन है कि भावावेगजन्य प्रतीति की तीव्रता समाप्त हो जाने पर तर्कशील रहस्यवादी उन विश्वासों की पोषक बुद्धि संगत भूमिका खोजने लगता है, जो अपने अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं। लेकिन क्योंकि वे विश्वास पहले से ही प्रस्तुत रहते हैं इसलिए वह वैसी किसी भी बौद्धिक व्याख्या को सहज ही स्वीकार कर लेता है जो उनके द्वारा स्वतः उत्पन्न हो जाती है। जिन अन्तर्विरोधों को ऊपरी तौर पर वह बौद्धिक व्याख्या द्वारा सिद्ध समझ लेता है वे वस्तुतः उसकी रहस्यानुभूति के अन्तर्विरोध होते हैं और यदि उसकी तर्क-बुद्धि को उसकी आत्म-प्रत्यक्ष अनुभूति का साथ देना है तो उन अन्तर्विरोधों के बीच की खाई को पाटना ही उसके चिन्तन का चरम लक्ष्य बन जाता है। परिणामस्वरूप जो तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किये जाते हैं वे अधिकांश दार्शनिकों को विज्ञान द्वारा ज्ञात जगत् और प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन को समझने में अशक्त बना देते हैं।[1]

निस्सन्देह नवीन जी की कविता में ऐसे अन्तर्विरोध मिलते हैं जिनका निर्देश 'क्वासि' की कविताओं पर विचार करते समय आगे किया जायगा।

आध्यात्मिकता का समर्थन तथा वर्तमान जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों के पुनर्संस्थापन का आग्रह कोकिल जी ने भी व्यक्त किया है, किन्तु उनका दृष्टिकोण नवीन जी के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है और यह भिन्नता काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। जहाँ नवीन जी ने आधुनिक पदार्थवादी वैज्ञानिक सम्पन्नता और भौतिक प्रगति के विरोध में प्राचीन अध्यात्मवाद का स्वर उठाया है वहाँ कोकिल जी ने उस सम्पन्नता और प्रगति को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके नवीन आध्यात्मिक चेतना पर बल दिया है। मानव-संस्कृति के क्षेत्र में होने वाले जिस मूलभूत परिवर्तन को नवीन जी कदाचित् लक्षित नहीं कर सके उसे कोकिल जी ने स्पष्ट रूप से परिलक्षित कर लिया है और उसे मानव-विकास के इतिहास में एक नई घटना माना है। उनका कहना है कि—"विज्ञान काल और दिशा का मापक ही नहीं एक नव्य भव्य रागात्मकता का जनक भी है। इतिहास में यह एक नई घटना है। प्रथम बार समाज में इतने बड़े पैमाने पर मानसिक और सांस्कृतिक परिवर्तन बिना किसी धार्मिक आन्दोलन के हुआ।" रागवशीकरण को ही संस्कृति का स्वरूप मानने वाली विचार-पद्धति से भिन्न उन्होंने सांसारिक मनोरागों के बीच ही आध्यात्मिक अर्थों और स्थितियों की उपलब्धि के मार्ग की ओर संकेत किया तथा रागात्मकता के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की। वे लिखती हैं।

"आज की अभिनव रागात्मकता और नव-प्रसूत श्रद्धा में मेरा पूर्ण विश्वास है। बौद्धिकता के साथ रागात्मकता भी समान रूप से विकसित होती है·······विज्ञान के द्वारा एक सबसे बड़ा काम इस युग में जो हुआ है वह है सांसारिकता के साथ आध्यात्मिकता

1. Mysticism and Logic—Page 25.

का गठबन्धन। आध्यात्मिकता या तो इतनी ऊँची वस्तु थी जो सर्वसाधारण के परे थी, या वह कोरा कर्मकाण्ड मात्र रह गई थी। पर इस नये सम्मिलन से दोनों का स्वर बहुत ऊँचा उठा है। सांसारिकता आध्यात्मिकता के संसर्ग से ऊँची उठी और आध्यात्मिकता सांसारिकता के संसर्ग से व्यापक बनी।"[1]

नवीन जी ही क्या सत्य का यह रूप आध्यात्मिक साधना को प्राचीन अर्थ में ग्रहण करने वाले लोगों में से बहुत कम लोग परख पाए हैं। इसीलिए शायद हजारीप्रसाद जी को 'सुहागिन' के गीत पढ़कर ऐसा लगा जैसे वे कुछ नया सुन रहे हों। कोकिल जी की आध्यात्मिक वृत्ति प्राचीन ऋषियों द्वारा खोजे गए औपनिषदिक सत्यों से उतनी प्रेरणा नहीं पाती जितनी कि आस-पास के साधारण किन्तु चिरन्तन रूप में प्रवाहित जीवन से। साधारण जीवन और असाधारण आध्यात्मिक अनुभूतियों के बीच के सामंजस्य को उन्होंने पा लिया है, ऐसा कहना अनुचित होगा। उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है कि "इस सामंजस्य का पूर्ण परिपाक अभी हमारी दृष्टि से ओझल है।" उनकी 'सुहागिन' 'पंक-भरे जीवन पर तैरती हुई दिव्यता' के दर्शन से सहज रूप में उत्पन्न होने वाला 'आश्चर्यवाक्'-मात्र है। उसको इच्छा-आकांक्षाओं से भरे लोक-जीवन और लौकिक भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति करने वाले लोकगीतों से पोषण मिलता रहा है। तर्क द्वारा उन्होंने अपनी अनुभूतियों के बीच के व्यवधान को भरने का प्रयास नहीं किया है वरन् उनकी सहज अनुभूति की पकड़ में सत्य का जितना अंश आ सका है उसको उन्होंने वैसे ही व्यक्त कर दिया है। कृत्रिमता की छाया उसमें प्रतीत नहीं होती।

'माता', 'क्वासि' और 'सुहागिन' में संग्रहीत कविताएँ समग्र रूप से सन् १६०४ से लेकर १६५२ तक के लम्बे समय के भावात्मक-विकास को व्यक्त करती हैं। लगभग आधी शताब्दी का इतिहास इनमें प्रतिबिम्बित है। 'माता' में १६०४ से '४६ तक की, 'क्वासि' में '३० से '५० तक की और 'सुहागिन' में '४० से '५२ तक की रचनाएँ मिलती हैं जिससे इन कवियों के कृतित्व का पूर्वापर क्रम स्वतः निर्धारित हो जाता है।

परिस्थितिवश संग्रह रूप में माखनलाल जी की रचनाएँ देर से प्रकाश में आईं। 'हिम-किरीटिनी' (१६४२) और 'हिमतरंगिनी' (१६४६) के बाद 'माता' (१६५१) उनका तीसरा काव्य-संग्रह है। इसकी अधिकांश कविताएँ '२० से '४० के बीच की हैं और यही छाया-वाद के आविर्भाव और अभ्युत्थान का समय है। राष्ट्रीय भाव-धारा और छायावादी भावना का विकास लगभग समान सामाजिक पृष्ठभूमि में विभिन्न दिशाओं में एक साथ ही हुआ। स्वदेश में देवत्व की भावना करके तथा उसके चरणों पर अपनी व्यक्तिगत भावनाओं का उत्सर्ग करके तिलक और माधवराव सप्रे की क्रान्तिकारी देशभक्ति के आवेग में 'एक भारतीय आत्मा' ने बलि-पन्थ स्वीकार किया और वे निसर्गप्रिय आत्मनिष्ठ छायावादी कवियों से पृथक् हो गए। नवीन और सुभद्राकुमारी चौहान को राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लेते हुए काव्य रचने की प्रेरणा बहुत-कुछ माखनलाल जी से ही मिली। राष्ट्रीय जागरण के साथ प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन को नये रूप में ग्रहण करने की भावना उत्पन्न हुई और गांधी-रवीन्द्र के विचारों से प्रभावित होकर युग-चेतना ने आध्यात्मिकता को नये आग्रह से स्वीकार किया। आत्म-समर्पण की वृत्ति वैष्णव परि-वारों में संस्कार रूप में सुरक्षित थी और अब भी है। माखनलाल जी के काव्य में उक्त सभी तत्त्व

१. सुहागिन—आमुख, पृष्ठ २-३।

एक विशिष्ट सामंजस्य के साथ उपलब्ध होते हैं। उनकी आस्तिक वैष्णवता की परिणति भारत-माता की 'हिमकिरीटनी' प्रतिमा के निर्माण में हुई, जिसे वे कभी कौशल्या कभी यशोदा कहते हैं। 'माता' नाम देकर सम्भवतः इसी भाव को व्यक्त किया गया है और राष्ट्र-पूजा का यह प्रतीक उनके सम्पूर्ण साहित्य में सर्वप्रमुख स्थान रखता है। यों 'मुझको कहते हैं माता' शीर्षक एक कविता भी इसमें संग्रहीत है जो न केवल इस संग्रह की वरन् माखनलाल जी की सभी रचनाओं में से चुनी हुई श्रेष्ठतम कृतियों में से एक कही जा सकती है। उनकी अधिकांश कविताएँ जेल जाने की तैयारी में या जेल में लिखी गई। केवल निम्न लिखित एक पंक्ति उनके संघर्षशील जीवन में पलने वाली आस्तिक राष्ट्रीय भावना का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

'चरण समझते हुए सींखचों पर मैं शीश झुकाता हूँ।'

देश-प्रेम का अर्थ उन दिनों आत्म-बलिदान था, इसीलिए माखनलाल जी की कविताओं में 'बलि' और 'सूली' के प्रतीक स्नेह और पूजा-भावना के साथ संगुम्फित मिलते हैं। स्थान-स्थान पर वे 'प्रणय' और 'प्रलय' का साथ-साथ प्रयोग करते हैं। राष्ट्रीय संग्राम में उन्हें अपने स्नेह का ही नहीं अपने स्नेहपात्रों का भी बलिदान करना पड़ा। कदाचित् इसीलिए वे अन्य प्रणय-गीतों से अपने और अपने वर्ग के कवियों के प्रणय-गीतों की भिन्नता को परखने का प्रस्ताव करते हैं। उनका यह प्रस्ताव साहित्यिक मूल्यांकन के प्रश्न को उठाने का प्रस्ताव न होकर उस दर्द, उस व्यथा की अभिव्यक्ति-मात्र है जो राजनीतिक संघर्ष में उन्हें आजीवन झेलनी पड़ी और जिसने उन्हें अन्तर-बाह्य सभी रूपों में जर्जर कर दिया। उनकी आस्तिकतापूर्ण आध्यात्मिकता ने ही उनके भावगत और चिन्तनगत ओज को अब तक सुरक्षित रखा है। मूलतः जिस पथ पर उनकी कविता चली है वह सन्तों और भक्तों का उदारता और समर्पण से पूर्ण पथ है—देश-प्रेम-जन्य क्रान्तिमय प्रयत्नों ने उसे 'बलि पन्थ' बना दिया। 'माता' में संग्रहीत 'कविता कल्याणी' नामक रचना की कुछ पंक्तियाँ उनके काव्य-पथ के स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होंगी :

कविते ! क्या जाना अपना पथ शत-शत खो-खोकर पाना है।
सम्मानों से बच जाना है, अपमानों को अपनाना है।
इन प्रणय-प्रलय के डोरों का ताना-बाना बुन लेना है।
प्राणों की रेखा, विधि-रेखा को अमर चुनौती देना है।
यह पथ कबीर के साहब का, इस पर मीरा थी दीवानी।
आओ, सूलों के रथ बैठी मानव की कविता कल्याणी।[1]

'कुंकुम', 'रश्मिरेखा' तथा 'क्वासि' आदि के रचयिता नवीन जी भी माखनलाल जी की परम्परा का संवहन करने वाले राष्ट्रीय-धारा के कवि हैं किन्तु 'एक भारतीय आत्मा'-जैसी अन्तरस्पर्शिनी पूजामिश्रित गहन राष्ट्रीय प्रेम-भावना के स्थान पर उनमें व्यक्तिगत प्रेमोन्माद की मात्रा कहीं अधिक है। प्रारम्भ में जो विद्रोहात्मक स्वर था वह क्रमशः इसी प्रेमोन्माद में पर्यवसित होता गया। 'कुंकुम' में रहस्यवादी शब्दावली में जो कला की परिभाषा उन्होंने प्रस्तुत की है वह इसका प्रमाण है। परिभाषा यों है : 'कला तो एक प्रकार के व्यक्तिगत उन्माद की भावनामूलक कल्पना सहगामिनी सत् चित् आनन्दमयी अभिव्यक्ति है।' उनकी यह परिभाषा अन्यत्र चाहे चरितार्थ न होती हो पर 'क्वासि' की कविताओं पर तो पूर्णतया घटित होती है।

१. माता—पृष्ठ ११८।

इससे उनकी काव्य-कला का स्वरूप भी व्यक्त होता है।

नवीन जी की यह 'व्यक्तिगत उन्माद की भावनामूलक कल्पना' कभी उनको सूफ़ियों की तरह, 'कूजे' और शराब की ओर खींच ले जाती रही है, और कभी कबीर के 'गगनमंडल' की ओर। प्रिय के औरों की ओर उन्मुख हो उठने की सम्भावना समझकर कभी उपालम्भ देते हुए वे लिखते हैं :

मुसकाकर छोड़ चले मेरी मधु-शाला तुम ?
प्रिय ! अब क्या चक्खोगे औरों की हाला तुम ?[1]

और कभी सान्ध्य नभ में उनका 'मन-विहग' 'अनहद नाद' से स्वनित हो उठता है :

स्वनित उड्डीयन-ध्वनित गति जनित अनहद नाद से यह।
दिग्दिगन्ताकाश वक्षस्थल रहा है गूँज अहरह।
ऊर्ध्व गति ने ध्यानमग्ना गीत-यति को आन घेरा।
उड़ चला इस सान्ध्य नभ में मन-विहग तज निज बसेरा।[2]

'क्वासि' में सन्तों की प्राचीन रहस्यवादी शब्दावली का स्थान-स्थान पर प्रयोग मिलता है, जैसे स्वर-शर, निरंजन, सुरति-आह्वान, सुरति-क्षेत्र आदि। अव्यक्त सत्ता को 'सजन' या 'साजन' मानकर शृङ्गारिक रूपकों के आश्रय से भावाभिव्यक्ति भी उसी परम्परा की द्योतक है। जिसका अपने साजन से क्रय-विक्रय पूर्ण हो चुका है ऐसी अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए वे उससे 'हृदय की नीवी' खोलने और आत्म-रमण की तन्मयता में 'सचैल परिरम्भण-परिणय छोड़ने का अनुरोध करने लगते हैं।'[3] कवि का आग्रह है कि यह सब काल्पनिक राग-रंग उसकी उस 'क्वासि' से व्यक्त होने वाली जिज्ञासा के रूप में ही ग्रहण किया जाय—जिसके उत्तर में उसे 'नास्मि की अनुगूँज' सुनाई देती है। कवि 'स्नेह दीक्षा' ले चुका है, वह अब 'कच्चा खिलाड़ी' नहीं रहा। उसे विश्वास है कि उसका प्रिय 'नास्मि' कहकर उसके 'आस्तिक भाव की परीक्षा' लेना चाहता है, इसलिए वह प्रतीक्षा में तत्पर रहने का संकल्प करता है—रात्रि में प्रिय को अंकशायी बनाने की आशा से।[4] कवि के तर्क से इस सबकी व्याख्या भी आध्यात्मिक अर्थ में की जा सकती है, किन्तु निम्नलिखित पंक्तियों से कौनसा आध्यात्मिक अर्थ व्यक्त होता है—यह प्रश्न कवि से किया जा सकता है :

(१) एक चुम्बन ही हुआ यह शाप जीवन का भयंकर।
अधर सम्मेलन बना अनुताप जीवन का भयंकर।
(२) कब तक पहनूँ प्रिय तव कल्पित भुज-माल गले।
(३) नयनों के, अधरों के चुम्बन की चाह लिये।
(४) तुम्हें अग्नि-अर्पण करके भी फटी नहीं यह निष्ठुर छाती।
(५) क्यों न अव्यभिचार की चिर-रीति जीवन में निबाही।

क्या इनसे उष्णतापूर्ण लौकिक वासनात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती ? इसी अन्तर्विरोध

१. क्वासि—पृष्ठ ३१।
२. वही—पृष्ठ १०१।
३. वही—'विदेह' शीर्षक कविता, पृष्ठ ८।
४. वही—पृष्ठ ११८।

की ओर पूर्व विवेचना के अन्त में संकेत किया गया है। एक ओर तो वे 'अव्यभिचार की चिर रीति' के न निबाहने पर खेद प्रकट करते हैं अर्थात् राग-वशीकरण में असफल होकर दुख का अनुभव करते हैं और दूसरी ओर वे उसी चिर-प्रतिष्ठित आदर्श के विरुद्ध अपने प्रिय से सविकार एवं साकार बनने की प्रार्थना भी करते हैं :

आओ साकार बनो।
ओ मेरे निर्विकार अब तो सविकार बनो।

निर्विकार को सविकारत्व के साथ देखने की भावना कोकिल जी की कविताओं में मूल-स्वर की तरह मिलती है, पर प्राचीन आदर्शवादी दृष्टिकोण की पुनर्संस्थापना में प्रयत्नशील नवीन जी की कविताओं में यह ऐसा अपवाद लगता है जो गहरे अन्तर्विरोध को व्यक्त करता है। जब वे लिखते हैं कि 'अन्तहीन इस पथ में सान्त ने किया कमाल' तो भावना के उदात्तीकरण होने के स्थान पर सौन्दर्य-बोध पर आघात लगता है। भाषा में ग्रामीणतायुक्त प्रयोग उनके गीतों की एक विशेषता कही जा सकती है। 'हमरे सजन सुजाना' 'हमरे ये मेहमाना' अथवा 'निरखो मम कठिनाई निरखो मम व्यथा नैंक, चले गये पल में तुम बिना दिये पता नैंक'-जैसी शब्दावली उनकी कविताओं में स्वाभाविक क्रम से गुँथी मिलती है। 'तुम सतचित अवतार रे' से प्रारम्भ होने वाली तो समूची कविता ग्रामीण बोली में लिखी गई है।

भाषा के प्रयोगों में ग्रामीणता कोकिल जी की कविताओं में भी उपलब्ध होती है परन्तु लोकगीतों-जैसी तरलता, जो उनके गीतों में विशेष रूप से पाई जाती है, के साथ वे प्रयोग इतने पृथक् प्रतीत नहीं होते कि सौन्दर्य-बोध को झकझोरकर रख दें। उदाहरणार्थ बिसरानी, दुआर, खोटि परी, काची, निहुरते, पियाराई, गझिनझाल आदि शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कोकिल जी तत्समता के प्रति जरा भी उन्मुख नहीं हैं जब कि नवीन जी में तत्समता की ओर भी काफ़ी झुकाव मिलता है। निर्विषण, त्वञ्चित, उद्दीपन आनद्ध, अरुषचिह्न और वीण-क्वाण-जैसे परुष शब्दों का प्रयोग वे सहज ही पाठक को आश्चर्य-चकित करते हुए कर ले जाते हैं। यह प्रवृत्ति माखनलाल जी के काव्य में भी नहीं मिलती। यहाँ सवाल शब्दों के प्रयोग का नहीं, वरन् उनके सहज निर्वाह का है। इस दृष्टि से कोकिल जी हमारी बधाई की पात्री हैं।

भावना के क्षेत्र में 'सुहागिन' के गीत हिन्दी-कविता के विकास में एक निश्चित सीमाचिह्न के रूप में सामने आते हैं। मध्यकालीन वैष्णव-काव्य की तन्मयतापूर्ण आत्मसमर्पण की वृत्ति जितनी गहराई और द्रवणशीलता के साथ उनके गीतों में पुनः दिखाई देती है वह अनुपेक्षणीय एवं महत्त्वपूर्ण है। 'सुहागिन' से पूर्व उनकी दो काव्य-रचनाएँ 'अंकुरिता' (१९४१) और 'माँ' (१९४२) ही प्रकाश में आईं, जिनका काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। उनके 'सुहागिन' से पूर्व के मानसिक विकास को वे अवश्य कुछ दूर तक व्यक्त करती हैं। 'माता' का प्रतीक माखनलाल जी के काव्य के सर्वोत्तम भाव को व्यक्त करता है, किन्तु कोकिल जी के काव्य में वह प्रारम्भिक एवं विचारगत रूप में ही मिलता है। 'माँ' की भूमिका में उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को 'महा प्रजनन की एक प्रक्रिया' माना है। उनकी सुहाग की भावना का विकास वस्तुतः उसी से होता है। ऐसा उन्होंने स्वीकार भी किया है :

माँ मैं अचल सुहाग भरी
माँ तुमने अपने सपनों को मुझमें सत्य किया था।

उसी सत्य से मैंने फिर सपनों को जन्म दिया था।
मेरे सपने महारात्रि से आज जग उठे मानो।
यह सपनों का ज्योति जागरण इसे ताप मत मानो।
वही छटा है जो सुहाग बनकर निखरी-निखरी।
माँ मैं अचल सुहाग भरी।[1]

सुहाग की अचलता या अमरता की कल्पना कोकिल जी की सुहाग-भावना की एक विशेषता है। इसका आभास 'अंकुरिता' की 'पुलक' शीर्षक कविता की अन्तिम पंक्ति 'हो जाय अमर मेरा सुहाग' में ही मिल जाता है, किन्तु 'सुहागिन' में यह परिपक्वावस्था में उपलब्ध होती है। पूर्वोद्धृत कविता की अवशिष्ट अन्तिम पंक्तियों में उसे सम्पूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त ज्योति का रूप दिया गया है। यथा :

सूर्य चाँद में अँट न सकी वह ज्योति कहाँ छिटकाऊँ।
सागर में न समा पाई वह धार कहाँ फैलाऊँ।
बिक न सकी जो निधि सम्पति पर कैसे सम्मुख लाऊँ।
वह विभूति माँ हृदय चीरकर कैसे तुझे दिखाऊँ।
आँखों से ओझल होकर बाहर-बाहर बिखरी।
माँ मैं अचल सुहाग भरी।

'एक ही आधार मेरे एक ही आधार है' पंक्ति से प्रारम्भ होने वाली कविता में भी सम्पूर्ण विश्व में परिव्याप्त एक ही ज्योति की बात दोहराई गई है। जीवन की विविध वेदनाओं की परिणति भी इसी सुहाग-भावना के साथ हो गई है, जैसा कि 'पुलक वेदनाओं ने ही अब मेरी माँग भरी' से प्रकट होता है। खड़ी बोली हिन्दी-काव्य में वेदनाओं से अभिषिक्त अमर सुहाग की परिकल्पना कोई नई वस्तु नहीं है। महादेवी जी के काव्य में कोकिल जी से पूर्व ही इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। कोकिल जी के इस भावना से सम्बद्ध गीतों को पढ़कर 'सान्ध्य-गीत' की सुप्रसिद्ध पंक्तियाँ 'मैं अखंड सुहागिनी री' अथवा 'सखि! मैं हूं अमर सुहाग भरी, प्रिय के अनन्त अनुराग भरी' स्मृति में सहसा झनकार जाती हैं। अतएव इस भावना की मौलिक उद्भावना का श्रेय कोकिल जी को नहीं दिया जा सकता किन्तु यह सत्य है कि इस सम्बन्ध में उनकी अनुभूति महादेवी जी की अपेक्षा कहीं अधिक तरल और व्यापक है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने रहस्यानुभूति की विवेचना करते हुए उसकी चार विशेषताएँ बताई हैं[2] जिनमें अमरता अथवा काल के नियमों के अतिक्रमण की भावना भी एक है। सुहाग के साथ अखण्डता या अचलता की कल्पना को इस तरह एक प्रकार की रहस्यानुभूति के रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

'सुहागिन' के गीतों की निम्नलिखित पंक्तियाँ उनकी उस विचारधारा की परिपोषक हैं जिसकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है।

१. 'सुहागिन', पृष्ठ ४७

२. (i) Revelation or insight or intuition.
(ii) Belief in unity, refusal to admit opposition.
(iii) Denial of the reality of time.
(iv) All evil is mere appearance, no indignation, no protest.

(१) ये मेरी पूजा के रूप हैं।
तर्क विगत मेरे अर्पण हैं।
नास्तिकता भी भक्ति हो गई,
बेबस मेरे आकर्षण हैं।
(२) आज वासना भक्ति हो गई।
क्या बतलाऊँ नश्वरता में अब मेरी आसक्ति हो गई।
(३) वह गंध मेरे मन बस गई रे।
नभ पर जिसकी डालें अटकीं,
थल पर जिसकी कलियाँ चटकीं,
मेरे जीवन के कर्दम में,
वह अनजाने फँस गई रे।

'सखि अब रस बरसे मैं भीजूँ' से प्रारम्भ होने वाली उनकी कविता उनके अन्ततम में निहित उस द्रवणशीलता तथा उस भावात्मक तारल्य को व्यक्त करती है जिसका निर्देश मैं कई बार कर चुका हूँ। उसमें प्रयुक्त 'नटवर' और 'वैरागी'-जैसे शब्द यह बताते हैं कि उन्होंने भी माखन-लाल जी और नवीन जी की तरह मध्यकालीन प्रेम-भक्ति काव्य और उसके आदर्श से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है और इस क्षेत्र में उनसे विशेष भिन्न नहीं हैं, किन्तु उनकी 'जग लगता है बढ़ी-घटी-सी बस अपनी ही छाया' में व्यक्त अनुभूति उनकी स्वयं की उपलब्धि जान पड़ती है और इससे इनमें तथा अन्य पिछले रहस्यवादियों में कुछ अन्तर लगता है।[1]

डॉक्टर भगवतशरण उपाध्याय

माता भूमि

'माता भूमि' डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के निबन्धों का संग्रह है। निबन्धों की संख्या बड़ी है, ४२; वस्तुतः असाधारण बड़ी। इतने निबन्धों में, जाहिर है, सारा जग-जहान समेटा जा सकता है। इन निबन्धों में कितनी भाव-सम्पदा विद्वान लेखक ने पाठक को दी है यह इन पृष्ठों का आलोच्य विषय है। पर उस ओर बढ़ने के पहले पुस्तक के रूप पर दो शब्द कह देना अनुचित न होगा। पुस्तक का आवरण अत्यन्त बदसूरत है। आज के पुस्तक-प्रकाशन-क्षेत्र में बढ़ती हुई सुरुचि को देखते हुए लगता है कि इतनी असुन्दर छपाई और कुरुचि-प्रदर्शन के लिए प्रकाशकों को विशेष व्यवस्था करनी पड़ी होगी। वैसे 'चेतना प्रकाशन, लिमिटेड' द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में सुरुचि की कमी नहीं।

१. माता : लेखक—माखनलाल चतुर्वेदी; प्रकाशक—पंकज प्रकाशन, खण्डवा।
क्वासि : लेखक—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
सुहागिन : लेखिका—विद्यावती 'कोकिल'; प्रकाशक—ज्योति प्रकाशन, प्रयाग।

निबन्ध-सूची इस प्रकार है—माता-भूमि, मन्त्रों की मधुमती भूमिका में पृथिवी, भारतीय वनश्री का पुष्पहास, क्षीर गंगा, हिमालय और गंगा, हिन्दी की उदार वाणी, शब्दों का देश, तुलसीदास, सूरदास, भारतीय विचारों के मेघजल, ललित कला की परम्पराएँ, भारतीय कला का स्वर्ण-युग, जहाँ नाचते-गाते लोग, राष्ट्रीय उपवन कृष्णगिरी, मुगल चित्रकला, राजस्थानी चित्रशैली, हिमाचल चित्रकला, युगारम्भ, महते जानराज्याय, संविधान की परम्परा, राष्ट्रीय उन्नति का छैरियाचक्र, जन-जीवन के दो सूत्र, उपदेशेन वर्तामि, पाणिवाद, व्यास का मानवीय दृष्टिकोण, चरित्र का मानदण्ड, भारत का विश्व-मानस, प्रियदर्शी अशोक, अशोक का नया उत्थान धर्म, समवाय एव साधु, एशिया की आँख, एशिया और भारत, प्रज्ञावृक्ष, राष्ट्र का धर्म-शरीर, चमकीला सत्य, मैं स्वयं हवि हूँ, दावानल-आचमन, कर्तव्य कर्म की हुण्डी, गांधी पुण्य स्तम्भ, गांधी बुद्धि समवाय, चक्रध्वज, राष्ट्रीय महामुद्रा।

सूची की असाधारणता इस तालिका से सिद्ध है। इतनी भारी-भरकम नाम-शब्दरूप निबन्ध-काया कम-से-कम मेरे देखने में नहीं आई। कहना न होगा कि इस विशद ग्रन्थ-चक्र की परिधि में, इन लाखों शब्दों के परिमाण में कुछ भी ऐसा नहीं जो कहा नहीं जा सकता। इस अनन्त शब्द-सागर (लेखक की बार-बार दुहराई जाने वाली प्रिय शब्दावलि में ही—) के देवासुर मंथन से कितना अमृत, कितना विष, कितने रत्न निकलते हैं यह देखना यहाँ अपेक्षित है। पर उसकी बात फिर। अभी ग्रन्थ की भाषा।

आरम्भ में ही बिना किसी आडम्बर के साफ़-साफ़ कह देना उचित होगा कि भाषा अत्यन्त बर्बर है। यह न तो माँ भारती का मण्डन करती है, न विद्वान् के संचित यश का विस्तार। भाषा सार्थक-वाक्यावलि है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने भाव, विचार, आवश्यकताएँ प्रकट करता है। भाषा की सार्थकता उसके बोध में है—जिस मात्रा और अर्थ में वक्ता उसे बोले उसी मात्रा और अर्थ में उसका समझा जाना ही उसका लाभ है। दुरूहता और पेंच उसका गला घोंटने का प्रयास है। भाषा का सौन्दर्य, उसकी सफलता उसकी आशुग्राह्यता में है, उसके सहज प्रसाद में है। यों तो पुस्तक भाव को छिपा देने वाले वाक्यों—पैरों—पृष्ठों से भरी है, पर स्थानाभाव से कुछ उदाहरण बोझिल, अप्रयोग्य, असुन्दर भाषा के यहाँ दिये जा रहे हैं :

"लोक-समुद्र के मन्थन से मातृ-भूमि रूपी नये देवता का जन्म हो रहा है।"[1] (मन्थन, अमृत मथकर मक्खन निकालना आदि अनन्त-अनन्त प्रयोग इस ग्रन्थ में अद्भुत रूप से हुए हैं)

"जिस समय युग के देवता का जन्म होता है, राष्ट्रीय किलकारी हर्षित स्वरों से उसकागुण-गान करती है।"[2] ('किलकारी' 'हर्षित स्वरों' से भिन्न नहीं, वाक्य में 'टाटालोजी दोष' है। युग का देवता माताभूमि है!)

"मन के चारों ओर भरा हुआ जो अमृत समुद्र है उसी में सत्य, यज्ञ, त्याग, तप, अहिंसा, सर्वभूतहित, न्याय, धर्म, ज्ञान आदि सुन्दर दिव्य भावों के कमल तैर रहे हैं।"[3] ('मिक्स्ड मेटाफ़र' है जो हिन्दी में भी दोष है—'मन के चारों ओर भरा हुआ जो अमृत

१. पृष्ठ १।
२. पृष्ठ १।
३. पृष्ठ ३।

समुद्र है', मात्र-समुद्र कहने से कुछ अभिव्यक्ति हो सकती थी, अमृत समुद्र स्वयं एक अलंकार हो गया और उसका मन से सम्बन्ध किस साधन से होता है, पता नहीं। फिर समुद्र में कमलों का तैरना कैसा ? समुद्र में कमल होते हैं क्या ? हो सकते हैं ?)

"भारत राष्ट्र का लोक-संवादन-चक्र शताब्दियों के बिछे हुए पथ पर चलता ही रहा है। इसमें सन्देह नहीं।"[1]

"नारी, कृषक, अस्पृश्य, शोषित, इनकी प्रतिष्ठा का आश्चर्यजनक मंगल एक शताब्दी के चौथाई चरण में ही कैसे हो गया, इसका उत्तर मातृभूमि के हृदय में लगे हुए पूर्व-नूतन के गठबन्धन से मिलता है"[2] (इसका भाव-तथ्य जाने दीजिए और पच्चीस वर्षों के लिए 'एक शताब्दी के चौथाई चरण' का प्रयोग अर्थ को चाहे जितना अस्पष्ट कर देता हो, उसे भी छोड़िए, और सोचिए 'हृदय में लगे हुए...गठबन्धन' की बात। हृदय में गठबन्धन शायद हो सके पर यह 'लगा हुआ' क्या बला है ?)

निबन्ध विश्लेषण-चिन्तन-सोद्देश्य सुझाव की भूमि है, पर उस विचार से तो सस्ते भावोन्माद, सामान्य को मन्त्र—उधार लिये शब्द-जाल—के बल से असामान्य प्रदर्शित करना, फ़िलिस्टिनिज़्म के अनुपम उदाहरण इस ग्रन्थ के सर्वस्व हैं। लैम्ब, स्टिवेन्सन, अल्फ़ा आफ़ दि प्लाउ, (गार्डनर) आदि की पंक्ति में बैठने का प्रयत्न करने वाले इस प्रशस्तिमना लेखक के पास अपने विचारों की पूँजी विशेष नहीं है। इसीसे माता-भूमि, पृथ्वी-पुत्र, अमृत-घट, समुद्र-मन्थन पृष्ठ-पृष्ठ पर लौट पड़ते हैं। वही-वही मन्त्र उन्हीं-उन्हीं प्रतीकों को सभी प्रसंगों में ला उतारते हैं। कई बार तो विचारों की इस दरिद्रता पर बड़ा क्रोध आ जाता है। दुहराना ग्रन्थ की प्रधान निष्ठा है, शब्द शब्द, वाक्य-वाक्य, पृष्ठ-पृष्ठ, अध्याय-अध्याय, भाव-भाव दर्जनों बार दुहराये गए हैं। तीन-तीन, चार-चार लेख समान सामग्री के साथ पुस्तक के पृष्ठों में उतर पड़े हैं। कारण कि एक ही लेख अनेक बार अनेक पत्र पत्रिकाओं में कुछ हेर-फेर के साथ छप चुका है। पैरे-के-पैरे, पेज-के-पेज बगैर बताये पृथिवी सूक्तादि के अध्यायों में—पहले एक में, फिर दूसरों में—समाहित कर दिये गए हैं। प्राचीन की पूजा इस प्रकार कोई नहीं करता। प्राचीन सभी को प्रिय है, संस्कृति के प्रसार-विकास की वह रीढ़ है, आधार-शिला, उसके प्रति कृतज्ञ ही नहीं जागरूक भी होना है पर आँख खोलकर, बुद्धि-भेद से।

कला-सम्बन्धी पाँच-छः लेखों की भाषा शब्द-जाल वाले दूसरे निबन्धों से सर्वथा भिन्न है। वह इस कारण कि उसमें सामग्री है, सार्थक सामग्री। और उनमें जो वैयक्तिक शैली का अभाव है उसका कारण यह है कि उनकी वह सामग्री अधिकतर दूसरों की प्रकाशित सामग्री है। बताना नहीं होगा कि 'शबीह एकचश्मी,' 'शबीह डेढ़चश्मी' आदि किसके पारिभाषिक शब्द हैं। ऐसे ही 'अपभ्रंश-चित्र' का नामकरण भी।

'भूमिका' ही में लेखक कहता है कि "जिस व्यक्ति में नया कर्म नहीं, नया विचार नहीं, वह इस युग के लिए व्यर्थ है और युग उसके लिए व्यर्थ है।"[3] इस तर्क पर इस पुस्तक की सार्थकता किसी मात्रा में नहीं; यह इसे क्षणमात्र कहीं खोलकर कहा जा सकता है।

---

१. पृष्ठ ७।

२. पृष्ठ ८।

३. पृष्ठ ३।

लिखते हैं : "लोभ-विजय की प्रेरणा से भारत के वणिक्पोत समुद्र पार नहीं गये और न असुर-विजय के लिए यहाँ के सैनिकों ने दूसरों की भूमि को पैरों तले रौंदा।" कितना असत्य है यह, विशेषतः जब कि वक्तव्य इतिहास के जानकार का है! विजय भौगोलिक प्रक्रिया है या राजनीतिक? यदि भारत की भौगोलिक चौहद्दी से लोग बाहर नहीं गये तो अनेक यूरोपीय विजेता भी तो यूरोप के भीतर के राज्यों को ही लूट-खसोटकर उस तिरस्कार के भागी बने जिसके विपरीत लेखक अपने देश के विजेताओं को सराहता है? पर प्रश्न तो यह है कि 'समरशतविततविजयी' कहलाने वाले राजाओं ने जब अपने अर्थ-शास्त्रीय 'मण्डलनाभि' वाले पड़ोसी 'प्रकृत्यमित्रों' को उखाड़ 'उरखाय तरसा' की प्रशस्ति गवाई तब उनमें और असुरविजयी राजाओं में भेद क्या रहा? जहाँ 'श्रियं जहार' है, सार्वभौटी ले ली गई वहाँ 'न तु मेदिनीम्' का कोई अर्थ नहीं होता। भारत की अनेकानेक प्रशस्तियों, विजय-स्तम्भों, कीर्ति-पदकों के रहते यह वक्तव्य कितना मिथ्या हो जाता है! जहाँ अश्वमेध, दिग्विजय, चक्रवर्ती, विश्वजित् आदि की स्थितियाँ रही हैं, जहाँ सिंहासन-मात्र पर बैठ जाना 'अनधिगतस्य अधिगमाय' की अनिवार्य सत्ता में समा जाना रहा है, जहाँ की प्रशस्तियों में :

'युधिपतितगजेन्द्रानीकवीभत्सभूतो
भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः'

की गर्वोक्ति है वहाँ अपने को धर्मविजयी कहना सत्य का अपमान करना है। और 'लोभ की प्रेरणा से वणिक्पोत समुद्र पार नहीं गये' कहना उत्तर की कहाँ तक अपेक्षा रखता है यह इतिहास और अर्थशास्त्र का सामान्य विद्यार्थी भी जानता है। अपने साहित्य में सर्वत्र और हजार हजार इसके प्रमाण हैं जिनकी खोज की आवश्यकता नहीं और जिनके तिजारती हथकण्डों का भोग रोमनों की सिनेट भोगती थी जहाँ सिसेरो दहाड़ता था, इतिहासकार प्लिनी नागरिकों को घर लूट ले जाने वाले भारतीय वणिकों से सावधान करता था, कानून बनवाता था। उन्हीं वणिकों से सावधान करता था जिनके ऋण का जवाब दासत्व था, गुलामी।

"भूतकाल के साथ गाँठ बाँधकर बैठे रहने की प्रवृत्ति हमारे राष्ट्र की आत्मा के विरुद्ध है।"[1] यह वक्तव्य कितना सही है इसका पता तो इस ग्रन्थ से ही लग जाता है जो एक पैरा बगैर भूत के आवाहन के नहीं कह सकता। क्षीर-सागर वाले लेख में तो अकर्मण्यता और फ़िलिस्टिनिज़्म की हद हो गई है, उन्माद जैसे बरस पड़ा है। उसके उद्धरण नहीं दिये जा सकते, वह पढ़ने की ही चीज है। दूध की महिमा का गान है, दूध नहीं मिल रहा है इस पर क्रोध है पर न कोई सुझाव है, न विचार-सरणि है। फिर वह सहसा पुकार उठता है—'किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति' और स्थिति दूध की रक्षा के बदले वेदों की रक्षा—'भूत से गठबन्धन'—की आ जाती है।

इसी प्रकार पृष्ठ ६७–६६ में वर्ण-व्यवस्था पर एक नितान्त तर्कहीन प्रवचन है। भला वर्ण-व्यवस्था आज किन उसूलों पर श्लाध्य हो सकती है? किसी मानवीय तर्क्य आधार पर उसका पृष्ठपोषण नहीं हो सकता। लेखक कहता है—'कुछ लोग जाति-पाँति को भारत की समाज-व्यवस्था समझते हैं।' इससे भला किसे इन्कार हो सकता है कि भारतीय व्यवस्था की

---

1. पृष्ठ ७।

आधार-शिला, व्यवहार-सर्वस्व वर्णाश्रम धर्म है, जिसमें आश्रम तो आज सदियों-सहस्राब्दियों से हमारे अध्ययन के विषय हैं (विद्वानों को सन्देह है कि क्या वे कभी भी व्यवहृत हुए), केवल वर्ण-वर्ण को हमने जाना है। कर्म और श्रम के आधार पर वर्णों को पूजना जब हमारे सारे अतीत ने, सारी स्मृतियों ने, उसे जन्मपरक माना है, उसी के आधार पर 'दाय' का विधान किया है, कहाँ तक उन्नित है ? और उदारता की बात तो यह है कि लेखक स्वयं अपनी उसी अछूत-भाव-पद्धति का प्रदर्शन करता हुआ पृष्ठ ७२ और ७३ पर सेमेटिक परिवार की भाषाओं और अरबी को 'म्लेच्छ भाषा', 'म्लेच्छ वंश' कहता है जो और कुछ नहीं उस प्राचीन लोक की व्यवस्था है जिसमें आर्येतर भाषाएँ (कारण कि उन्हें बोलने वाले विधर्मी—विदेशी थे) म्लेच्छ मानी जाती थीं। यह उदार दृष्टिकोण का स्वरूप है! एक स्थल पर उल्लेख हुआ है: "लगभग १००० ई० से १२०० तक मुसलमानों का पहला समागम हुआ।"[1] यह कोई और कहता तो झंल्लाहट की बात न थी पर लेखक इतिहास का पण्डित माना जाता है। १०००–१२०० ई० तक, शायद उसे याद नहीं, सिन्ध पर परमारों-प्रतिहारों-चालुक्यों (राजा भोज आदि के समकालीन) के बीच मुसलमान साढ़े तीन-पौने चार सौ वर्ष राज कर चुके थे। और पहला समागम ? अरबों की बस्तियाँ उससे हजार वर्ष पहले से भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर थीं, इस्लाम के उदय के बाद भी सदियों, और उन्हीं के झगड़ों का अन्त बदले के रूप में हेज्जाज के भतीजे बिनकासिम के सिन्ध पर ७१२ ई० के हमले में हुआ।

इसके बाद तुलसीदास, सूरदास, विविध कलाओं पर ऐसे लेख हैं जो स्कूल के निबन्ध-से लगते हैं, नितान्त घटिया क़िस्म के। तुलसीदास, सूरदास आदि पर आज अत्यन्त समृद्ध अध्ययन पुस्तक और निबन्ध दोनों रूप में हिन्दी में उपलब्ध हैं! ये निबन्ध तो उस दिशा में नगण्य-से हैं। और कला-सम्बन्धी लेख ! चर्वित-चर्वण। हजारों पृष्ठ, सोचे-समझे विचारों के, हिन्दी-अंग्रेजी में इस सम्बन्ध में आज उपलब्ध हैं। 'कटेगरी' और निबन्ध की विचार-सरणि में गुणतः अन्तर है, यह लेखक को कौन बताये ? पृष्ठ १०६ पर पुरानी परम्परा से ही फिर सीखने की बात वह कहता है जब सारा संसार कला के नये-नये प्रयोग कर रहा है, जब स्वयं भारतीय कलाकार (रामकिंकर, हुसेन, धारा, बेन्द्रे, यावड़ा, हेब्बर, धनराज, आदि) उसी दिशा में लंबे डग भर रहे हैं। जैसे जब कवि नई कविताओं का आलोक लिये खड़ा हो कोई उससे उसकी पुरानी चर्वित कविताओं को ही सुनाने का आग्रह करे! पृष्ठ ११० पर लेखक गुप्तकाल की बुद्धिमूर्ति को 'मौलिक' कहता है, भगवान् ही उसका मर्म समझे।

अगले लेख 'पाणिवाद' में तो जैसे उधार लिये हुए माडर्निज़्म के ज़रिये उन्नीसवीं सदी का प्रयास किया गया है। श्रम की महिमा गाई गई है। और यह श्रमवाद फ्रेंच फ़िजियोक्रेट्स की श्रुति तक जा पहुँचा है: "मनुष्य-समाज की अँधेरी कोठरियाँ श्रम के प्रकाश से भर जायँगी। मानवों के मुरझाये हुए अङ्ग श्रम की गरमी पाकर कर्म के लिए पुनः खुल जायँगे।"[2] 'महते जानराज्याय' उन्मादग्रसित लेख है। 'संविधान' में बेकार कोई संविधान-सम्बन्धी विचार ढूँढेगा, उसमें चर्वित-चर्वण है। दूसरों का (अस्वीकृत), और हिन्दू 'पालिटी' का विस्फोट। और 'भारत का विश्वमानस' मन्त्र और व्याख्या है।

---

१. पृष्ठ ६४।

२. पृष्ठ ११९।

लेखक पढ़ता-पढ़ता, गुनता-गुनता, लिखता-लिखता सीखता है, बढ़ता है; पर जिसने इस विद्वान् लेखक के लेख आज से बीस बरस पहले पढ़े हों वह इस पुस्तक को पढ़कर निराश होगा। ग्रन्थकार जीवन के इन बीस वर्षों के बीच बढ़ा नहीं, विकसित नहीं हुआ, ऐसा जान पड़ता है।[1]

वासुदेव उपाध्याय

सार्थवाह

यद्यपि सार्थवाह शब्द से पाठक-वर्ग को पुस्तक में प्रतिपादित विषय का आभास नहीं मिलता, किन्तु यह नाम अत्यन्त सार्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है। इस शब्द का अर्थ उस अगुआ से है, जो पूँजी द्वारा व्यापार करने वाले पान्थों में जाया करता था। सार्थ का अभिप्राय पूँजी वाले व्यापारी-समूह से है। अतः सार्थवाह का नामकरण करके डॉ० मोतीचन्द्र ने पुस्तक में प्राचीन भारतीय व्यापारी, उनकी यात्राएँ, क्रय-विक्रय की वस्तुएँ, व्यापार के नियम तथा पथ-पद्धति का वर्णन किया है।

पहले अध्याय में भारत की प्राचीन पथ-पद्धति के अन्तर्गत दक्षिण भारत तथा उत्तरापथ के व्यापारिक मार्गों का पृथक्-पृथक् वर्णन मिलता है, जिनमें प्राचीन पथ-पद्धतियों का भी उल्लेख है। इनका सुन्दर वर्णन किया गया है। प्राचीन मार्गों के वर्णन के साथ मुग़लकालीन महापथों का भी उल्लेख पाया जाता है जो इस पुस्तक के विषयान्तर्गत रखना उचित नहीं प्रतीत होता।

दूसरे अध्याय में मोहेन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त पुरातत्त्व-सामग्रियों के आधार पर लेखक ने मार्ग तथा व्यापार के विभिन्न साधनों का वर्णन किया है। उस सम्बन्ध में बैलगाड़ी का उल्लेख करना आवश्यक है, जिसका स्वरूप चार हजार वर्षों के बाद भी वैसा ही मिलता है। मिट्टी के जितने खिलौने खुदाई से निकले हैं उनमें बैलगाड़ी की बनावट एक-सी मिलती है। लेखक ने आर्यों के भारत में प्रवेश-मार्ग का जो विवरण उपस्थित किया है, वह सर्वथा विवादरहित नहीं है। तीसरे अध्याय के पाँच उपविभाग किये गए हैं। पहला सर्वथा राजनीतिक है, जिसमें सोलह गणों तथा राज्यों का वर्णन है। अन्य उपविभागों में सेना के साथ सड़क बनाने वालों का वर्णन, जातकों के आधार पर यात्रा की कठिनाइयाँ और अन्तर्देशीय व्यापार तथा समुद्री बन्दरगाहों की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। उसी प्रसंग में बौद्ध-साहित्य में वर्णित समुद्र-यात्रा से हमें ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के भारतीय व्यापार का ज्ञान हो जाता है।

चौथे अध्याय में यूनानी लेखकों तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र के आधार पर मौर्य-युग के व्यापार तथा तत्सम्बन्धी नियमों का वर्णन लेखक ने किया है। इसके बाद ही ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी तक भारत में शासन करने वाले यूनानी, शक तथा पह्लव राजाओं की यात्रा का

---

1. लेखक—डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल, प्रकाशक—चेतना प्रकाशन, हैदराबाद।

वर्णन किया गया है। तत्कालीन विदेशी यात्रियों—पेरिप्लस तथा टालेमी ने भी भारतीय बन्दरगाहों तथा उनके व्यापार का वर्णन किया है। छठे अध्याय में विस्तारपूर्वक रोमन साम्राज्य से भारतीय व्यापार का लेखा मिलता है, जिन बन्दरगाहों पर विदेशी माल उतारा करते थे। विशेषकर पूर्वी समुद्र-तट पर रोमन लोग यात्रा किया करते थे। सातवें अध्याय में संस्कृत तथा बौद्ध-साहित्य के आधार पर महापन्थों तथा यात्रियों का विवरण लेखक ने दिया है और उस साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप देश की पथ-पद्धति और जल तथा थल के अनुभवों की बात अच्छे ढंग से रखी है। आठवाँ अध्याय तमिल साहित्य तथा मणिमेखलै में शादुवन् की कहानी के आधार पर लिखा गया है जिसमें दक्षिण भारत के यात्रियों का वर्णन पाया जाता है। लेखक ने छठे अध्याय में भी भारत से रोमन-व्यापार का विवरण दिया है, जिसका सम्बन्ध दक्षिण भारत से ही था। अच्छा होता दोनों अध्यायों का वर्णन एक स्थान पर ही किया जाता ताकि दक्षिण भारत का सम्बद्ध वर्णन एक साथ पाठकों के सामने आता। नवें अध्याय में डॉ॰ मोतीचन्द्र ने जैन-साहित्य का मंथन करके यात्री और सार्थवाह के विषय में प्रचुर सामग्री दी है। साधु तथा व्यापारियों की यात्रा के अतिरिक्त ज्ञाताधर्म की दो कहानियों के आधार पर जहाजरानी का सुन्दर विवरण सामने रखा है। भारतीय इतिहास में गुप्त काल 'स्वर्ण-युग' के नाम से पुकारा जाता है। इस युग में राजाओं की विजय-यात्राओं के मार्ग का लेखा तत्कालीन प्रशस्तियों के अध्ययन से मिलता है। समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिण विजय-यात्रा में किस मार्ग का अवलम्बन किया था, और चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य ने किस पथ-पद्धति से मालवा में विजय-दुन्दुभी बजाई थी, इन सबका विवरण अगले अध्याय में भी मोतीचन्द्र ने किया है। इसी काल में उपनिवेश स्थापित किये गए, जिसका श्रेय हमारे प्राचीन व्यापारियों को है। फाहियान के यात्रा-विवरण से यह जानकारी होती है कि चीन से भारत की सड़कें मध्य एशिया होकर गुजरती थीं। वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य मार्ग हो गया था।

भारतीय इतिहास में सातवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक का काल अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध है। इस युग के भारतीय समाज में सर्वत्र उथल-पुथल दिखलाई पड़ती है। मुसलमानों के आक्रमण के कारण जहाजरानी का कार्य वृद्धि पर था। भारत से दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा चीन का सम्बन्ध बढ़ता ही गया। मुसलमानों के आक्रमण से इस युग में भारतीय पण्डितों ने नेपाल, तिब्बत तथा चीन में जाकर धर्म तथा साहित्य का प्रचार किया। उस सम्बन्ध में पूर्वी बन्दरगाह ताम्रलिप्ती का विशेष हाथ रहा। डॉ॰ मोतीचन्द्र ने अरब साहित्य तथा चीनी इतिहास की छान-बीन करके इस पूर्व-मध्य-युग का सुन्दर वर्णन किया है। यद्यपि अरब ऐतिहासिकों के विवरण तथा 'युक्ति कल्पतरु' पर लेखक ने अपना वर्णन आधारित किया है, किन्तु तत्कालीन प्रशस्तियों का अध्ययन भी आवश्यक था। भारतीय लेख हमारे इतिहास के भाण्डार हैं। पूर्व-मध्यकाल (७वीं से ११वीं सदी) का इतिहास लेखों के अध्ययन के बिना पूरा नहीं माना जा सकता। बारहवें अध्याय में विभिन्न समुद्री मार्गों में भारतीय बेड़े का वर्णन है जो पूर्वलिखित दक्षिण के चोल राजाओं के जावा विजय तथा शैलेन्द्र शासकों से युद्ध पर आधारित है। इसमें विशेषतया धनपाल-कृत 'तिलक मञ्जरी' के आधार पर सामुद्रिक यात्रा का वर्णन किया गया है। लेखक ने ठीक ही लिखा है कि धनपाल के द्वीपान्तर यात्रा-सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं प्रकट किया जा सकता। किन्तु उसका वर्णन अत्यन्त सजीव है और आँखों-देखी बात ज्ञात होती है।

अन्तिम अध्याय में लेखक ने कला में जहाज-सम्बन्धी चित्रों का वर्णन किया है, जो लगे हुए फलक पर चित्रित या खचित हैं। इन सबे फलकों से पुस्तक की सुन्दरता बढ़ गई है तथा दो मानचित्रों द्वारा सारे मार्ग तथा पथ-पद्धतियों का ज्ञान हो जाता है। हिन्दी क्या अंग्रेजी में भी इस ढंग की कोई पुस्तक नहीं थी। इसके लिए लेखक बधाई का पात्र है।[1]

गंगाप्रसाद पाण्डेय

जिप्सी

'जिप्सी' श्री इलाचन्द्र जोशी का नवीनतम उपन्यास है, यों लेखक के रचना-क्रम का सातवाँ। जोशी जी की यह कृति उन उपन्यासों में से है, जिन्हें वास्तव में नवीन युग की जागरूक चेतना का प्रतीक कहा जायगा। जब हम युग-चेतना, युग-कला अथवा युग-चिन्तना की बात करते हैं तब हमारा आशय अनिवार्यतः किसी एक देश अथवा दल, एवं समाज या व्यक्ति से नहीं होता। वरन् हम विश्व-व्याप्त जीवन के नाना विरोधी क्षेत्रों के विकासोन्मुख समन्वय से ही युग-संज्ञा को पूरा करते हैं। आज अणुबम की खोज और उसकी विनाशकारी लीला से मानवता त्राहि-त्राहि कर उठी है। सारे संसार में भौतिकता का एक ऐसा आतंक छा गया है कि इधर बीसवीं शती में प्रत्येक व्यक्ति में केवल भय का भाव ही प्रमुख है। हर्ष की बात यह है कि बीसवीं शती के अधिकतर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की भाँति चेतन के नाम पर मनोराज्य की एकान्त तथा आबद्ध कारा में कराहती हुई नैतिक पतन की विवशतामयी पीड़ा के प्रदर्शन से यह उपन्यास मुक्त है। उपन्यास की पूरी गतिविधि से अवगत होने के बाद उसे हम 'A story of spiritual progress' ही कह सकते हैं।

उत्तेजना और स्थिर-चेतना जीवन की जुड़वाँ सन्तान हैं। इनका विरोध जीवन का सन्तुलन नष्ट करने वाला और सहयोग उसे सुव्यवस्थित करने वाला होता है। उपन्यास का रंजन उत्तेजना और मनिया स्थिर-चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। उत्तेजना का सबसे बड़ा प्रेरक 'धन' है, शक्ति है और स्थिर-चेतना का आधार 'श्रम' है। रंजन धनी और मनिया श्रमिक है। इस दृष्टि से उपन्यास को सम्पत्ति और श्रम के संघर्ष का महाकाव्य भी कह सकते हैं। कहना न होगा कि भौतिक विज्ञान की प्रगति का आधार भी 'सम्पत्ति' या 'पूँजी' है, किन्तु रंजन के साथ मनिया की भाँति उसमें श्रमिकों का श्रम भी सम्बन्धित है। सच तो यह है कि विज्ञान, राजनीति तथा कला जीवन की व्यापक भाषा की विभिन्न बोलियाँ-मात्र हैं। अलग-अलग सब जीवन को अपूर्णता की ओर ढकेलते हैं और सब मिलकर पूर्णता की ओर चलते हैं।

जोशी जी ने इसी पूर्णता पर बल देकर एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग करने तथा जीवन की विभिन्न स्थितियों और क्षेत्रों के समन्वयात्मक स्वरूप को पहचानने का आग्रह-अनुरोध किया है। तो क्या उपन्यास में सर्वोदय का साधन उपस्थित किया गया है? (स्मरण रहे कि यह सर्वोदय गांधीवाद से संयोजित न होकर भगवान् कृष्ण के अधिकारवाद के अधिक निकट पड़ेगा।)

---

1. लेखक डॉक्टर मोतीचन्द्र, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

उपन्यास का कथानक कुछ इस प्रकार है—'जिप्सी' एक जिप्सी लड़की की रोचक तथा विकासशील कथा है, जिसका नाम मनिया है।

जन्म से ही मनिया जीवन के मानसिक उद्वेगों तथा क्षोभों की एक ऐसी गठरी लादे है जो असाधारण ही कही जायगी। रंजन से वह मसूरी में एक छोटी दुकान की दुकानदार की हैसियत में मिलती है। पहले ही दिन रंजन ने एक चाकू खरीदा और मनिया ने बेचा। दूसरे दिन से प्रायः रोज ही रंजन उसकी दुकान पर आने-जाने लगा और छोटी-मोटी बेकाम की चीजें खरीदने लगा। यहाँ तक कि एक दिन उसने सारी दुकान खरीद ली। मनिया को भी खरीद लिया।

इस विचित्र आकर्षण का एक कारण है। मनिया को देखकर रंजन को उसी दुकान पर बैठने वाली उसीकी तरह एक अद्भुत तथा अद्वितीय सुन्दरी स्त्री की याद आती है, जो उसीकी तरह उस दुकान पर बैठती थी। दोनों की विषमता में भी इतना अधिक साम्य था कि वह सुन्दरी किसी-न-किसी प्रकार मनिया से सम्बन्धित जान पड़ती थी। वस्तुतः मनिया के प्रति रंजन का यह आकर्षण, उस सुन्दरी की याद का, पूर्व-स्मृति का परिणाम था।

मनिया के पहले उसकी माँ उस दुकान पर बैठा करती थी। अपने पति की विलासिता और अकर्मण्यता से खीझकर उसने एक दिन उसकी हत्या कर डाली और मनिया को निराश्रित छोड़कर स्वयं आत्महत्या कर ली। शिशुकालीन उस घटना का प्रभाव मनिया के मन में अमिट रूप से अंकित है। इस समय मनिया अपने कर्मठ जीवन की स्वतन्त्र सत्ता—दुकान—को बेचकर एक अनाथ गुलाम की तरह रंजन की शरण में है। अपनी स्थिति के प्रति रंजन को उत्तरदायी समझकर मनिया बीच-बीच में ऐसे व्यंग्यों का उस पर प्रहार करती है कि वह तिलमिला उठता है। उसकी सम्पत्तिशीलता का ऐसा खाका खींचती है कि उसका अधिकारी अपने को शैतान से कम नहीं पाता। फिर भी मनिया अपनी उस विपन्नता की विवशता में उससे ब्याह करने को राजी हो जाती है, किन्तु भीतरी आक्रोश तथा आत्माभिमान के कारण वह विवाह की एक शर्त यह रखती है कि रंजन ईसाई धर्म स्वीकार कर ले। विवाह करने की विलासिता के साथ धर्म-परिवर्तन में रंजन को एक प्रकार के असमंजस का अनुभव हुआ परन्तु अन्त में उसने अपने मूल-धर्म को पुराने कपड़े की भाँति दूर फेंककर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया।

मनिया के ईसाई धर्म के आग्रह का आधार भी है। मनिया जब सर्वस्व बेचकर रंजन के यहाँ आने-जाने तथा रहने लगी तब रंजन के पड़ोस की एक ईसाई लड़की से उसकी ऐसी घनिष्ठता हो गई कि वह शीघ्र ही ईसाई धर्म तथा ईसा और मेरी के प्रति अनन्य श्रद्धावान् एवं विश्वासी बन बैठी। सभी पापियों के प्रति क्षमा, जीव-मात्र के प्रति दया, सहानुभूति आदि ईसाई धर्म की विशेषताओं ने मनिया के मन में एक ऐसी आस्था जगा दी, जो उसके शैशव में घटी माँ-बाप की दुर्घटना के सँभालने का साधन बनकर उसके मन में जम गई। मनिया स्वयं उससे अपने को अलग कर सकने में असमर्थ थी। ईसा और मेरी के रूप में जैसे उसे अपने माँ-बाप पुनः मिल गए। पत्नी होकर भी वह रंजन के लिए ईसा तथा मेरी को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी।

मनिया के इस दृढ़ विश्वास तथा दृढ़ संकल्प का मुकाबला डरपोक एवं विलासी रंजन किसी प्रकार भी नहीं कर सका। यद्यपि इसके पहले वह मनिया को हिप्नोटाइज भी कर लेता

था। रंजन जैसे व्यक्तियों के विश्वास तथा सिद्धान्त उसकी बाह्य स्थितियों के साथ निम्नगामी जल-पात की तरह प्रभावित होते चलते हैं। कथानक-भर में मनिया अपने आन्तरिक आग्रहों का चाबुक चलाती जाती है और रंजन तिनगता हुआ आगे बढ़ता जाता है। दूसरी ओर मनिया आश्रम की नहीं तो श्रम की पली हुई बालिका, जीवन की विविध विरोधी परिस्थितियों में भी निरन्तर विकास करती चली जाती है। सहज रूप से जीवन की शक्ति तथा उसके विकास की सर्वतोमुखी सम्भावनाएँ श्रमिक वर्ग में अधिक होती हैं। पता नहीं, जोशी जी द्वारा चित्रित रंजन तथा मनिया के जीवन-व्यापी अन्तरीण तथा बाह्य संघर्ष को पूँजीवादी-प्रोलेतेरियत संघर्ष का स्वरूप देना भी चाहिए या नहीं, परन्तु यह संघर्ष सुविधा-प्राप्त तथा सुविधा-हीनों के बीच का है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। दुनिया के दो शिविरों का यह संघर्ष आज की सबसे ज्वलन्त समस्या है।

मनिया शीघ्र ही मातृत्व-पद लाभ करने वाली थी। उसके तन-मन में एक ऐसा निर्मल निखार झलकने लगा था जो अप्रत्याशित किन्तु उसके जीवन के मूल-संस्कारों के अनुकूल था। रंजन अपने स्वभाव के कारण उसके संस्कृत स्वरूप का भी लाभ न उठा सका। मनिया से उसकी और अधिक खटकने लगी। रंजन-जैसे विलासी व्यक्ति पत्नी को यों भी माँ बनने की अनुमति, अज्ञात रूप से ही सही, देना नहीं चाहते। मनिया का दिन-रात पूजा-पाठ में व्यस्त रहना रंजन को और भी उत्तेजित करने में सफल रहा। स्थल-स्थल पर लेखक ने रंजन की सारी बूर्जुआ अहं की मानसिकता एवं उसके वर्ग की व्यापक हीनता का स्पष्ट, स्वाभाविक तथा सजीव चित्र खींचा है। फिर भी कथा की मूल प्रेरणा मनिया का विकास है न कि रंजन का ह्रास?

मसूरी की ठण्ड से बचने के लिए दोनों कुछ दिनों को कलकत्ता चले जाते हैं। वहाँ रंजन के एक बाल-सहपाठी वीरेन्द्र से सहसा भेंट हो जाने के कारण उसीके यहाँ ठहर जाते हैं। वीरेन्द्र, स्वभाव से भिन्न, पर सम्पन्नता में रंजन के समान है। एक ही चेतना के दो स्तरों का रहस्योद्घाटन करने के लिए ही जैसे वीरेन्द्र की सृष्टि की गई हो। वीरेन्द्र का बढ़िया मकान और उसकी सुन्दर सौम्य पत्नी शोभना का आतिथ्य दोनों को भा गया तो आश्चर्य की बात नहीं। मनिया का प्रवेश उस घर में बहू के रूप में हुआ और शोभना उसकी दीदी बनी। उठना-बैठना, घूमना-फिरना प्रारम्भ हुआ नहीं कि रंजन शोभना पर लट्टू हो गए। स्वयं शोभना एक ऐसी विचित्र नारी है कि न केवल निकम्मे रंजन के लिए वरन् कर्मठ वीरेन्द्र के लिए भी उसको समझना सम्भव नहीं था। वीरेन्द्र अपनी संस्था की धुन में मस्त था। उसे शोभना और रंजन की लगा-लगी देखने-समझने का अवकाश ही नहीं था, किन्तु मनिया को रंजन की नई गति-विधि समझने में देर नहीं लगी।

दैवयोग से इसी बीच मनिया का मुँह तेजाब से खराब हो गया और उसका नवजात शिशु भी अचानक मर गया। एक तो बच्चे की मृत्यु से मनिया की आस्था पर यों ही बड़ा भारी आघात लग चुका था, दूसरे रंजन और शोभना की नवीन प्रेम-लीला ने उसको और भी अधिक अनास्थावान बना दिया।

उसने अपने रूखे व्यवहार तथा वचन-संकेतों से रंजन को आगाह तो किया, पर प्रत्यक्ष रूप से मौन ही रही। इस समय वह एक ऐसी मानसिक स्थिति में थी जिसका उद्धार न तो वह अपनी आस्था में खोज पाती थी और न अपने कर्मगत जीवन में। ठीक उसी समय उसका

परिचय वीरेन्द्र की संस्था के एक अधिकारी से हुआ। संस्था के सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों को समझकर मनिया उसके प्रति इतनी आकर्षित हो उठी जितनी एक दिन वह ईसाई-धर्म के प्रति हो उठी थी। आश्चर्य नहीं कि रंजन इस आकर्षण का कारण अपना विलास और दुराचरण न मानकर मनिया पर ही दोषारोपण करने लगा। परिणामस्वरूप मनिया संस्था के प्रति और अधिक आवेग के साथ आकुल हो उठी।

संस्था तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों के प्रति शोभना के द्वारा जगाये गए विरोधी-भाव अपना सन्देहात्मक विकराल रूप लेकर रंजन के सामने खड़े हो गए। उसने मान लिया कि मनिया को संस्था वालों ने बहका लिया है और बहुत सम्भव है कि संस्था बालिका-व्यवसाय ही करती हो। रंजन का यह विलासी, निकम्मा और भीरु-रूप मनिया के लिए इतना अग्राह्य हो उठा कि वह एक दिन रंजन से विदा लेकर, बल्कि उसे धक्का देकर उस घर से निकल गई और चुपचाप उसी संस्था में सम्मिलित हो गई। इसी बीच एक और उल्लेखनीय घटना घटी—वीरेन्द्र का वध। उधर मनिया संस्था में कार्य करती हुई शीघ्र ही सबकी प्रिय और सच्ची सेविका बन गई, क्योंकि उसके जीवन के मूलगत संस्कारों का आधार ही ऐसा कार्य-कलाप था। संस्था से सम्बन्धित एक सज्जन के साथ अमेरिका जाकर प्लास्टिक सर्जरी से अपना मुँह ही नहीं वरन् सारा शरीर सुडौल कराकर मनिया वापस आ जाती है और संस्था में एक नर्स के रूप में सच्ची सेवा-भावना से काम करने लगती है। यहाँ वह उसी तरह सुखी तथा निर्द्वन्द्व है जिस तरह कि रंजन से मिलने के पहले अपने कर्ममय सहज जीवन में थी।

इधर कलकत्ता से कुछ दूर नदी के किनारे की कोठी में रंजन और शोभना एक बहुत बड़ी युवा-युवतियों की मण्डली के साथ केलि-क्रीड़ा के लिए गये कि वहाँ बहुत बड़ी महामारी तथा अकाल का भयानक आतंक आ उपस्थित हुआ और इन विलासियों का वहाँ ठहरना तक कठिन हो गया। बूँआ उपकार की भावना ने रंजन को उकसाया और वह एक मौजी बूढ़े बंगाली के साथ सबको कलकत्ता में भेजकर वहाँ ठहर गया। मनिया वाली संस्था से कुछ डॉक्टर और कुछ नर्सें वहाँ सेवा के लिए पहुँची नहीं कि रंजन का मन उछल पड़ा। उसने सभी नर्सों के प्रति आत्मीयता का हाथ बढ़ाया किन्तु नवीन मनिया की ओर स्वाभाविक रूप से वह अधिक आकर्षित हुआ।

मनिया अपने व्यंग-बाणों से रंजन के मर्म को बराबर बेधती रहती है पर उसकी जड़ता और कामुकता उसे सहज तथा सावधान नहीं होने देती। नर्स की घनिष्ठता के बाद जब रंजन को पता चलता है कि यह प्रबन्ध उसी वीरेन्द्र तथा मनिया वाली संस्था की ओर से हुआ है तब उसके आश्चर्य और आतंक की सीमा नहीं रही। रंजन सहसा संस्था के प्रति बहुत अधिक सहानुभूतिशील हो उठा। नर्स, रंजन से परिचित होने के कारण अपनी चातुरी से उसे अपनी सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग संस्था को दान के रूप में देने को विवश कर देती है।

लिखा-पढ़ी के बाद कलकत्ता वापस आने पर रंजन को संस्था के अन्य अधिकारी व्यक्तियों के साथ मनिया का भी परिचय दे दिया जाता है। रंजन लज्जा से गड़ जाता है, पर कुछ बोल नहीं पाता, क्षमा भी नहीं माँग पाता। मनिया उसका धर्म तथा धन दोनों लेने के बाद भी उसे स्वीकार नहीं करती, क्योंकि वह उसके मूल भावों से परिचित है। इसीलिए सामूहिक सेवा द्वारा अपना संस्कार-परिष्कार करने के लिए वह रंजन को पुनः पहाड़ वापस भेज देती है। वह भी

चुपचाप अपने पापों का फल भोगने के लिए वापस चला जाता है और सम्भवतः परीक्षोत्तीर्ण होने के लिए जीवन का नया अध्याय खोलता है। यही उपन्यास का अन्त है।

नारी-सुलभ कोमलता तथा पूर्व-संसर्ग की मोहान्धता को बरबस दबाकर मनिया रंजन को स्वार्जित मुक्ति के लिए मुक्त कर देती है। रचनात्मक कार्य द्वारा स्वयं अपने जीवन को विश्व-जीवन से नियोजित करने का सफल विधान करती है। यही मनिया की विजय और विकासशील चेतना का अभ्युदय है।

जीवन के इस तुमुल कोलाहल में ऐसे सन्तुलित दृष्टिकोण के साथ जीवन-विकास की सम्भावनाओं का स्पष्ट चित्रण करने वाली कृति जोशी जी की हिन्दी के लिए स्थायी देन है, इसमें सन्देह नहीं।[1]

माताबदल जायसवाल

दखिनी हिन्दी का उद्भव और विकास

'दक्खिनी' (दकनी, दखिनी) खड़ी हिन्दी (स्टैण्डर्ड हिन्दी) के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। खेद है कि पिछले खेवे के किसी भी हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक की दृष्टि विन्ध्याटवी के पार हैदराबाद-राज्य में बिखरी हुई इस सामग्री की ओर नहीं गई। डॉ० ग्रियर्सन ने अपने 'भारतीय भाषा पर्यवेक्षण' में भाषा-विज्ञान के दृष्टिकोण से 'दक्खिनी' पर विचार किया है। उनका मत है कि, "दक्खिनी भ्रष्ट हिन्दुस्तानी नहीं, बल्कि साहित्यिक हिन्दुस्तानी ही भ्रष्ट दक्खिनी का रूप है"[2] जब से दक्खिनी साहित्य प्रकाश में आया है, उर्दू के हिमायती डॉ० मुहीउद्दीन कादिरी[3], प्रो० शेरानी[4], नासिरुद्दीन हाशिमी[5] तथा शम्सुल्ला साहब कादिरी[6] आदि विद्वान् 'दक्खिनी' को 'क़दीम उर्दू' या 'दखनी उर्दू' कहते हैं। रामबाबू सकसेना भी अपने उर्दू साहित्य के इतिहास में इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं, "दकनी भाषा हिन्दुस्तानी की एक शाखा है.........उसको उर्दू की एक भाषा समझना चाहिए।"[7] डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी यही माना है कि "ये सब (रेख्ता, रेख्ती और दक्खिनी) उर्दू के रूप-रूपान्तर हैं।"[8] इस भूल के

---

१. लेखक—इलाचन्द्र जोशी, प्रकाशक—सेण्ट्रल बुक डिपो, प्रयाग।
२. लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ़ इण्डिया—जिल्द ९, भाग १।
३. उर्दू शहपारे—हिन्दुस्तानी लिसानियात।
४. पंजाब में उर्दू।
५. दकन में उर्दू।
६. कदीम उर्दू।
७. उर्दू साहित्य का इतिहास—रामबाबू सक्सेना।
८. हिन्दी भाषा का इतिहास—पृष्ठ ६२।

कुछ विशेष कारण भी थे। एक तो यह समूचा साहित्य फारसी लिपि में है। दूसरे प्राचीन सभी ज्ञात लेखक मुसलमान हैं। तीसरे यह साहित्य दक्षिण के मुसलमानी राज्यों में ही पोषित हुआ। चौथे किसी हिन्दी के विद्वान् द्वारा इसका सम्यक् अध्ययन नहीं हुआ। अतएव इसे 'प्राचीन उर्दू' समझ बैठने की भूल सहज सम्भाव्य है।

'दक्खिनी हिन्दी' में डॉ० बाबूराम सकसेना के दक्खिनी भाषा और साहित्य-सम्बन्धी तीन व्याख्यान संग्रहीत हैं। ये व्याख्यान हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद के निमन्त्रण पर सन् १६४५ में तैयार किये गए और १६ दिसम्बर सन् १६५१ में पुस्तकाकार रूप में एकेडेमी से ही प्रकाशित हुए। इन व्याख्यानों द्वारा डॉ० सकसेना ने प्रथम बार दक्खिनी साहित्य के गम्भीर अध्ययन और विवेचन का श्रीगणेश किया। अध्ययन के आधार पर 'दक्खिनी' के विषय में प्रचलित भूल का निवारण करते हुए इस मत के प्रतिपादन का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है कि 'दखिनी' उर्दू-ए-मुअल्ला की भाषा नहीं, वह 'दक्खिनी उर्दू' नहीं, बल्कि 'दक्खिनी हिन्दी' है।

पुस्तक तीन अध्यायों में विभाजित है: १. 'प्रवेशक', २. 'भाषा', ३. 'शैली'। 'परिशेष' में दक्खिनी हिन्दी-साहित्य के कुछ नमूने और अंत में 'अनुक्रमणिका' दी गई है। प्रथम अध्याय को पुस्तक की भूमिका कहा जा सकता है। इसमें 'दक्खिनी' के भिन्न-भिन्न नामों—'हिन्दी', 'हिन्दवी' और 'दक्खिनी'—की व्याख्या; दक्खिनी हिन्दी की चारों सीमाओं पर बोली जाने वाली भाषाओं—मराठी, कन्नड़, तेलुगु और तमिल—के साहित्य का अति संक्षिप्त परिचय तथा तत्कालीन भारत में उत्तरी भाषाओं की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए खड़ी हिन्दी (स्टैण्डर्ड हिन्दी) की जन्मभूमि, उसके दक्षिण प्रवेश तथा दक्षिणी राज्यों में साहित्य-निर्माण आदि विषयों पर विचार किया गया है। 'दक्खिनी हिन्दी' के कवियों की रचनाओं से हिन्दवी[1], हिन्दी[2], हिन्दी ज़बान[3] तथा दखिनी[4] शब्दों के प्रयोगों के उद्धरण देकर लेखक ने 'हिन्दी' नाम की प्राचीनता भली भाँति प्रमाणित की है। विद्वान् लेखक का वक्तव्य है कि 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग 'भारत की' के अर्थ में किया गया है।[5] यह सत्य है कि तत्कालीन भारत में 'हिन्दी' से 'भारत की' भी तथा 'हिन्दी ज़बान', 'हिन्दी बोल' और 'हिन्दवी' से भारत की देशी भाषा का अर्थ लिया जाता था; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि तब तक 'हिन्दवी' शब्द केवल यौगिक था, जिससे भारत की सभी आर्य तथा आर्येतर भाषाओं का बोध होता था। कई सौ वर्ष पूर्व अवश्य 'हिन्दी' शब्द से यही यौगिक अर्थ 'भारत की' ही लिया जाता था और उसका प्रयोग भारत की किसी भी भाषा के लिए किसी भी वस्तु के लिए होता था। 'क़लेला दमनः' के रचयिता तथा अल्बेरुनी ने भारत की भाषाओं को 'अलहिन्दय' कहकर इसी अर्थ की ओर संकेत किया है; किन्तु प्राचीन 'दक्खिनी हिन्दी' काल में 'हिन्दवी' या 'हिन्दी' का प्रयोग एक विशिष्ट भाषा

---

१. शेख़ अशरफ़—नौसाहार (१५०३), पृष्ठ १८।
२. बुरहानुद्दीन जानम—'इर्शादनामा' (१५८२), पृष्ठ १६।
३. मुल्लावजही—'सब रस' (१६३५), पृष्ठ ११।
४. वजही—कुतुबमुश्तरी, पृष्ठ १६।
इब्ननिशाती—फ़लबन।
रुस्तमी—ख़ाविरनामा।
५. दक्खिनी हिन्दी, पृष्ठ १५।

के लिए होने लगा था जो उस समय भारत के विराट् जन-समुदाय की एक-मात्र अन्तरप्रान्तीय जन-भाषा थी। लेखक द्वारा उद्धृत इन सब लेखकों के पूर्व शाह मीराँ जी (१५वीं सदी) ने फ़ारसी और अरबी के मुक़ाबले में इस 'हिन्दी' या 'भाका' (भाखा) की उसी प्रकार प्रशंसा की है जिस प्रकार उनके समसामयिक संत कबीर ने 'कूपजल' रूपी संस्कृत के मुक़ाबले में 'बहता नीर' रूपी 'भाखा' की प्रशंसा की है :

जे कोई अच्छे खासे। इस बयान केरे प्यासे॥
वे अरबी बोल न जाने। ना फ़ारसी पिछाने॥
तै अरबी बोल केरे। और फ़ारसी भी तेरे॥
यह हिन्दी बोलो सब। इस अरथों के सबब॥

शाह मीरां जी का मत है कि जैसे मिट्टी छानकर सोना निकालते हैं 'भाका' (भाखा) के मग़ज़ (अर्थ) को लो और शब्दों पर ध्यान न दो।

ज्यों 'भाका' माटी जानो। ज़र माने दिल में आनो॥[1]

'दक्खिनी' के उद्गम के विषय में प्रायः विद्वानों में मतभेद रहा है। मालाबार दकन, सिन्ध, गुजरात तथा उत्तरी-पश्चिमी मध्यदेश को इसकी जन्म-भूमि बताया गया है। लेखक के मतानुसार खड़ी बोली क्षेत्र ही दक्खिनी की जन्म-भूमि है। 'खड़ी बोली' की व्यापकता की ओर संकेत करते हुए लेखक का कथन है : "अपभ्रंश उत्तर भारत में सिन्ध से लेकर बंगाल तक और दक्षिण में गुजरात और महाराष्ट्र तक फैली थीं। इनका जो रूप सर्वमान्य हुआ वह उसी प्रदेश का था जो आज मोटे तौर पर खड़ी बोली का क्षेत्र है।"[2] कितना अच्छा होता यदि कोई ऐसा अपभ्रंश-ग्रंथ खोज में मिलता जो केवल 'कुरु जनपद' की बोली में ही लिखा होता। अब्दुर-रहमान (१२वीं सदी उत्तरार्ध) के 'सनेह रासअ' (संदेश रासक) अथवा 'भविसत कल' आदि अपभ्रंश-ग्रंथों में राजस्थानी, गुजराती, खड़ी (कौरवी), व्रज के प्राचीन रूप मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्टैण्डर्ड अपभ्रंश का मूलाधार 'कुरु-जनपद' ही चाहे रहा हो; किन्तु उसमें मत्स्य, पांचाल तथा सूरसेन जनपद की बोलियों के रूप भी सम्मिलित थे। कुछ इसी प्रकार की स्थिति 'खड़ी हिन्दी' की भी है। खड़ी हिन्दी या दक्खिनी हिन्दी के विकास में लेखक ने निष्पक्षता और ईमानदारी के साथ मुसलमानों का आभार स्वीकार किया है : "इस बात को स्वीकार करने में कोई लज्जा की बात नहीं कि हमारी भारतीय बोली 'हिन्दी' को नये आये हुए विदेशियों ने साहित्य का माध्यम बनाया।"[3] लेखक उन विद्वानों के मत का खंडन करता है जो पुष्पदन्त आदि अपभ्रंश के कवियों और बौद्धगान और दोहा आदि के रचयिताओं को आदि हिन्दी का पद देते हैं।"[4] लेखक के अनुसार 'खड़ी हिन्दी' का प्रथम लेखक कोई मुसलमान ही होगा। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि सदैव से भारतीय आर्य-भाषा की धारा धार्मिक आन्दोलनों या विदेशियों के कारण ही दूसरी दिशा की ओर मुड़ी है। आरम्भ में अपभ्रंश को भी नवागत आभीरों की बोली कहा गया था। आश्चर्य नहीं यदि यही स्थिति उस खड़ी हिंदी की

---

१. शहादतुल हक़ीक़त से 'उर्दू' (१८३४) पत्रिका में उद्धृत।
२. दक्खिनी हिन्दी—पृष्ठ २९।
३. वही—पृष्ठ ३२।
४. वही—पृष्ठ ३२।

भी हो जिसका मूलाधार 'कौरवी' है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि निर्गुण संत और जैन-श्रावक भी इस भाषा के अन्तर्प्रान्तीय रूप को व्यापक बनाने में सहायक हुए।

अच्छा होता यदि प्रथम अध्याय के अन्त में लेखक 'दक्खिनी में साहित्य-निर्माण' नामक शीर्षक को साहित्य और शैली नामक अध्याय में सम्मिलित करता और इसी अध्याय में उर्दू के उद्गम के विषय में भी अपना वह विद्वत्तापूर्ण मत प्रकट करता, जिसे उसने द्वितीय अध्याय के आरम्भ में दिया है। लेखक इस बात से सहमत नहीं कि, "उर्दू मुसलमानों और हिन्दुओं के मेल-जोल से बनी है अथवा उर्दू शैली को हिन्दू-मुसलमान दोनों वर्गों के कलाकारों ने मिलकर बनाया।"[1] यह अवश्य है कि मुसलमानों के प्रभाव से 'कौरवी' (कुरु जनपद की बोली) तथा पूर्वी पंजाब की बोली में ध्वनि, व्याकरण-सम्बन्धी कुछ हल्के परिवर्तन हुए, किन्तु उससे 'कौरवी' या खड़ी हिन्दी 'हिन्दी' ही बनी रही, उर्दू नहीं बनी। टी० ग्रेहिम बेली तथा प्रो० शेरानी[2] के विरुद्ध लेखक ने 'हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी और उर्दू' का मूलाधार कुरु जनपद की बोली 'खड़ी बोली' को ही माना है। किन्तु चारों को समानार्थी मान लेना कुछ भ्रामक है। यह अवश्य है कि व्याकरण का सामान्य ढाँचा सबका कुछ समान है, किन्तु उर्दू प्रधानतया 'हिन्दी' या हिन्दवी' की एक शैली है जो शाहजहाँ के समय में कुछ विशिष्ट जनों के आन्दोलन का फल है। उसी समय से फारसी व्याकरण, वाक्य-रचना आदि में फारसी नियमों को स्वीकार करके हिन्दवी का पल्ला छोड़कर 'उर्दू' की शैली सचेत और सचेष्ट रूप में गढ़ी गई। 'उर्दू' का जन्म उर्दू-ए-मुअल्ला अर्थात् शाही क़िला या दरबार में ही हुआ—कुरु जनपद में नहीं। अच्छा होता यदि विद्वान् लेखक इस विवादास्पद विषय पर अपना निश्चित मत प्रकट करता।

दूसरे अध्याय में दक्खिनी हिन्दी के ध्वनि-विधान और रूप-विधान का थोड़ा विवरण दिया गया है। क़ादिरी साहब की 'हिन्दुस्तानी फोनेटिक्स' के आधार पर प्राचीन 'दक्खिनी हिन्दी' साहित्य के ध्वनि-विधान पर प्रकाश डाला गया है, किन्तु लगभग ३०० वर्षों के काल में होने वाले ध्वनि-विकारों के कारणों पर सम्यक् प्रकाश नहीं डाला गया है। सम्भवतः स्थानाभाव के कारण ही ऐसा नहीं किया जा सका। अच्छा होता यदि खड़ी हिन्दी की ध्वनियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए कौरवी या खड़ी हिन्दी के बोल-चाल वाले रूप भी दिये जाते, जिससे दक्खिनी की ध्वनियों के आदि स्रोत और उस पर अन्य बोलियों के प्रभाव पर विशेष प्रकाश पड़ता।

रूप-रचना (संज्ञा, सर्वनाम, संख्यावाचक विशेषण, अव्यय, क्रिया, कृदन्त, परसर्ग आदि) का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दक्खिनी साहित्य के मौलिक अध्ययन के आधार पर ही लेखक ने प्राचीन दक्खिनी हिन्दी का एक साधारण व्याकरणात्मक ढाँचा दे दिया है। सम्भवतः अपने ढंग का यह प्रथम अध्ययन है, किन्तु यहाँ भी तुलनात्मक अध्ययन के अभाव के कारण शब्द-रूपों के परिवर्तन, परिवर्धन के आदि स्रोतों तथा उनके निकास के कारणों को समझने का भार लेखक पाठकों पर ही छोड़ देता है। ३०० वर्षों के काल में दक्खिनी हिन्दी की रूप-रचना में स्वयं क्या परिवर्तन हुआ, क्या धरोहर के रूप में वह उत्तर से लाई थी—उसका क्या मराठी, गुजराती तथा द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव पड़ा, इन बातों का सम्यक् निरूपण नहीं हो सका। सम्भ-

१. दक्खिनी हिन्दी—पृष्ठ ४१, ४२।

२. दोनों पंजाब को उर्दू की जन्म-भूमि मानते हैं—'पंजाब में उर्दू'।

वतः विद्वान् लेखक पुस्तक के आकार-विस्तार को बढ़ाना नहीं चाहता था। लेखक ने स्वयं इसका संकेत किया है। व्याकरण-रूपों की समानता के आधार पर ही प्रो० शेरानी दक्खिनी को पंजाबी के अधिक निकट मानते हैं। लेखक भी—"सी वाले भविष्यत्काल के रूप पंजाबी से लगते हैं" यह कहकर पंजाबी प्रभाव को स्वीकार करता दिखाई पड़ता है; किन्तु बाद में यह कहकर कि "इनकी निस्बत 'गा, गे' रूप ही अधिक हैं जो खड़ी बोली के ही निजी हैं"—वह स्पष्ट शब्दों में कहता है कि "दक्खिनी खड़ी बोली का ही पूर्वकालीन रूप है।" खड़ी बोली (कौरवी) के रूप देकर लेखक अपने मत को अधिक प्रामाणिक कर सकता था। वास्तव में लेखक का मत युक्तियुक्त है, यदि खड़ी बोली में हरियाना प्रान्त की बाँगरू या सरहिन्दी को भी सम्मिलित कर लिया जाय; क्योंकि दक्खिनी हिन्दी में रोहतक, करनाल, हिसार, सिन्ध, अम्बाला, सरहिन्द की बोली के रूप भी अधिक मात्रा में मिलते हैं।

तीसरे अध्याय में दक्खिनी साहित्य और शैली का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दक्खिनी के शब्द-कोष में फ़ारसी और अरबी के रूप कम हैं। जो हैं भी उन्हें लेखकों और कवियों ने तद्भव रूप में ही स्वीकार किया है। अनेक ऐसे तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है जो उर्दू वालों को अज्ञात हैं। शब्दकोष में लेखक ने कुछ आर्येतर भाषाओं का प्रभाव स्वीकार किया है, किन्तु कितने अंश में इसका स्पष्ट विवेचन नहीं किया। लेखक ने अधिक बल देकर यह लिखा है कि उच्चारण, बहुवचन तथा फ़ारसी से संज्ञा, विशेषण लेकर क्रिया बनाने में 'दक्खिनी हिन्दी' हिन्दी के ही नियमों का पालन करती है, फ़ारसी और अरबी का नहीं। अतएव व्याकरण को देखते हुए भी दक्खिनी हिन्दी को उर्दू की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट सिद्ध किया गया है।

शैली के विवेचन में लेखक ने भली भाँति प्रतिष्ठित कर दिया है कि शैली के बाह्य उपकरणों को छोड़कर परम्परा-निर्वाह में, प्रेम-पद्धति के चित्रण में जिन्हें हम शैली की आत्मा कह सकते हैं—दक्खिनी लेखक भारतीय परम्परा या हिन्दी-परम्परा के अधिक निकट है। वली की दिल्ली-यात्रा के बाद शैली-सम्बन्धी जो परिवर्तन हुए, प्राचीन दक्खिनी अर्थात् १५वीं, १६वीं, १७वीं सदी में नहीं मिलते।

इस प्रकार व्याकरण, साहित्य, शैली आदि पर विचार करके लेखक यह प्रतिष्ठित करने में पूर्णतया सफल हुआ है कि 'दक्खिनी' को 'दक्खिनी हिन्दी' ही कहना अधिक न्यायसंगत है, दक्खिनी उर्दू नहीं। परोक्ष रूप से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'क़दीम उर्दू' या 'प्राचीन उर्दू' जैसे नामों में विशेष बल नहीं है। लेखक के मत से ही सहमत होकर हम आशा करते हैं कि यह साहित्य शीघ्र ही नागरी अक्षरों में कर लिया जायगा।[1]

---

१. लेखक—डॉक्टर बाबूराम सक्सेना। प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग।

परशुराम चतुर्वेदी

साहित्य-शास्त्र की तुलनात्मक विवेचना और इतिहास

हिन्दी में आलोचना-साहित्य के सृजन की ओर किये गए विविध प्रयत्नों के इधर अनेक उदाहरण मिलने लगे हैं। काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी एवं निबन्ध से लेकर साधारण वाङ्मय के अन्य अंगों की भी आलोचनाएँ होती जा रही हैं। किन्तु इस विषय की जो पुस्तकें लिखी जाती हैं वे अधिकतर विद्यार्थियों के ही काम की होती हैं और उनमें उच्च स्तर की बातों का समावेश प्रायः नहीं रहा करता। जिस किसी ऐसी पुस्तक में विभिन्न कवियों अथवा लेखकों की कृतियों की चर्चा की गई मिलती है उसमें मानो उनका ऐतिहासिक और व्याख्यात्मक परिचय रहा करता है अथवा उसमें परम्परागत साहित्य-पद्धति के नियमानुसार किये गए मूल्यांकन का एक प्रयत्न-मात्र दीख पड़ता है। इसके सिवाय जो पुस्तकें आजकल आलोचना के विषय का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करती हुई जान पड़ती हैं उनमें भी अभी तक प्राचीन भारतीय अथवा आधुनिक यूरोपीय साहित्य-शास्त्र के अंगों का केवल परिशीलन-मात्र ही लक्षित होता है—उनके तुलनात्मक अध्ययन अथवा साहित्य-सम्बन्धी मौलिक प्रश्नों पर किये गए सुलझे विचारों का प्रायः अभाव-सा ही दीख पड़ता है। इस उद्देश्य से लिखे गए कतिपय निबन्ध अवश्य प्रकाशित होते रहे हैं, किन्तु अभी तक उनकी भी संख्या पर्याप्त नहीं कही जा सकती। फलतः आलोचना के सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक पक्षों में से अभी तक किसी एक पर भी हिन्दी में गवेषणापूर्ण एवं मौलिक कृतियों की रचना होती नहीं दीख पड़ती। श्री एस० पी० खत्री की आलोच्य पुस्तक आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष-विषयक हमारे साहित्य की इस कमी को दूर करने के ही प्रयत्न में लिखी जान पड़ती है।

प्रस्तुत पुस्तक को इसके नामानुसार दो खण्डों में विभाजित करके लिखा गया है और इन में से पहले का सम्बन्ध आलोचना के सिद्धान्तों के आरम्भ एवं क्रमिक विकास से है और दूसरे के अन्तर्गत उनके शास्त्रीय निरूपण तथा प्रतिपादन की चेष्टा की गई है। प्रथम खण्ड में ६ प्रकरण हैं और द्वितीय खण्ड में केवल ५ हैं। प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण का आरम्भ प्राचीन आलोचना के समय को तीन कालों में विभाजित करके किया गया है जिनमें से पहले का सम्बन्ध ईसा के पूर्व वाली पाँचवीं एवं चौथी शताब्दियों से है, दूसरे में तीसरी एवं दूसरी शताब्दियों की बातें आती हैं और, इसी प्रकार, तीसरा इसके आगे वाले उन दो सौ वर्षों तक चला जाता है जब कि यूनान एवं रोम के पारस्परिक सम्बन्धों के कारण पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का आरम्भ होने लगा था। इनमें से प्रथम काल में ही हमें यूनानियों की आलोचना-विषयक प्रतिभा के प्रथम दर्शन हुए और तीसरे काल तक इस प्रकार के साहित्य-सृजन में रोम वालों ने भी अपना हाथ बटाया। लेखक ने प्रथम खण्ड के द्वितीय प्रकरण में काव्यादर्श एवं काव्य-शैली की तत्कालीन प्रेरणाओं तथा प्रवृत्तियों की चर्चा की है और ऐसा करते समय उसने उक्त समय की प्रचलित निर्णयात्मक आलोचना की एक संक्षिप्त कहानी भी दे दी है। इसके तीसरे प्रकरण में अफलातून तथा अरस्तू के काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का परिचय किंचित् विस्तार के साथ दिया गया है और फिर, इसी प्रकार, चौथे एवं पाँचवें प्रकरणों तक भाषण-कला, नाट्य-कला एवं गद्य-शैली के विकास तथा

छन्दों एवं अलंकारों के प्रारम्भिक प्रयोगों का दिग्दर्शन कराया गया है। पाँचवें प्रकरण में लेखक ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि ईसा के आविर्भाव-काल से पीछे तक वस्तुतः यूनानी दार्शनिकों के ही सिद्धान्तों का अधिक प्रचार होता रहा। रोम वालों की देन उतनी बड़ी नहीं रही।

इस खण्ड के छठे प्रकरण के अन्तर्गत लेखक ने भारतीय आलोचना-विषयक सिद्धान्तों के भी आरम्भ एवं विकास की चर्चा की है, किन्तु यह उतनी विस्तृत नहीं है। यहाँ की प्राचीन-कालीन विचार-धारा के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में निश्चित संकेतों के न रहने के कारण, स्वभावतः, भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से ही इस विषय के वर्णन का प्रयत्न लेखक ने किया है और फिर इसके आगे क्रमशः रस-शास्त्र, अलंकार, परम्परा, रीति एवं ध्वनि का प्रसंग छेड़ा है। लेखक ने इन सम्प्रदायों की स्थापनाओं का केवल सांकेतिक परिचय ही दिया है और सबके अंत में वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि भारतीय साहित्य-शास्त्र की प्रायः सहस्रवर्षीय साधना का भी स्वरूप प्रधानतः वही रहा जिस पर पश्चिमी साहित्यिकों ने भी विचार किया था।

प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण के अन्तर्गत लेखक ने सोलहवीं शताब्दी तथा सत्रहवीं के प्रथम चरण तक दीख पड़ने वाले साहित्यिक नवोत्साह और तज्जन्य आलोचना के विकास का वर्णन यूरोप की तत्कालीन सामाजिक स्थिति के ही आधार पर किया है। उसने, इसी प्रकार, आठवें प्रकरण में भी सत्रहवीं शताब्दी के शेष अंश एवं अठारहवीं के भीतर पाई जाने वाली नवीन साहित्यिक प्रेरणाओं का उल्लेख किया है। इस युग में वीर-काव्य, उपहास-काव्य, गीति-काव्य तथा प्राचीन एवं नवीन नाटक-रचना-शैलियों का विशेष प्रचार था और प्राचीन आलोचना-शैली अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी, निर्णयात्मक समालोचना के साथ-साथ तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति भी इस युग में विशेष रूप से लक्षित हुई। उन्नीसवीं शताब्दी तथा उसके आगे की प्रवृत्तियों की चर्चा इस खण्ड के नवें प्रकरण में की गई है और इसीमें पत्रकार-कला के उदय तथा विभिन्न आलोचना-पद्धतियों का भी वर्णन है।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में जो पाँच प्रकरण हैं उनमें से पहले में लेखक ने आलोचना-सम्बन्धी सिद्धान्तों के निर्माण का आधार निरूपित किया है। इस सम्बन्ध में उसने आलोचना की प्रवृत्ति की व्यापकता की ओर संकेत किया है, उसके साहित्यिक रूप के क्षेत्र का परिचय दिया है और इसके साथ ही आलोचक एवं साहित्यकार के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में निर्णय करते हुए कला के लक्ष्य, भाषा, छंद एवं अलंकार के प्रयोग तथा सौन्दर्यानुभूति की क्षमता आदि का भी विवेचन किया है। इस खण्ड के दूसरे प्रकरण में लेखक ने आलोचना-प्रणालियों के वर्गीकरण का प्रश्न उठाया है और इसी प्रसंग में 'आलोचना' शब्द के विभिन्न अर्थों की भी चर्चा की है। तृतीय प्रकरण में आलोचना के वर्गीकरण का प्रयत्न भी किया गया है और इस सम्बन्ध में प्रायः उन सभी वादों के नाम लिये गए हैं जो आजकल प्रचलित दीखते हैं। प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति का वर्णन लेखक ने कुछ विस्तार के साथ इस खण्ड के चतुर्थ प्रकरण में किया है। इसमें मार्क्सवादी आदर्श का परिचय देते हुए उसके अनुकूल साहित्य की रचना एवं तत्सम्बन्धी त्रुटियों का उल्लेख किया गया है और उसके उपयुक्त मानदण्ड की भी कल्पना की गई है। इस खण्ड के अन्तिम अर्थात् पांचवें प्रकरण का शीर्षक 'उपसंहार तथा परिभाषाएँ' दिया गया है और इसके अन्तर्गत लेखक ने आलोचकों के लिए वस्तुतः पथनिर्देश किया है। इसके पूर्वार्द्ध में उसने आलोचकों की योग्यता, उनकी कार्य-प्रणाली एवं उत्तरदायित्व आदि के सम्बन्ध में कतिपय संकेत किये

हैं और इसके उत्तरार्द्ध वाले अंश में यूरोप के प्रमुख कवियों और आलोचकों द्वारा दी गई आलोचना की परिभाषाओं को उद्धृत करके उनकी व्याख्या भी कर देने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक के दोनों खण्डों के विस्तार का अनुपात प्रायः दो तिहाई एवं एक तिहाई का है, जिससे स्पष्ट है कि लेखक ने आलोचना के ऐतिहासिक परिचय को अधिक महत्त्व दिया है और इसके सिद्धान्त एवं कार्य-प्रणाली को इसकी प्रवृत्ति के उद्गम एवं विकास के ही वर्णन द्वारा स्पष्ट करने की उसने अधिक चेष्टा की है, फिर भी इसके ऐतिहासिक परिचय के अन्तर्गत उसने जितना ध्यान यूरोपीय आलोचना-पद्धति की ओर दिया है उतना भारतीय आलोचनात्मक सिद्धान्तों पर विचार नहीं किया है और न उसके विभिन्न सम्प्रदायों के विकास का कोई संक्षिप्त उल्लेख भी किया है। पुस्तक के प्रथम खण्ड के छठे प्रकरण में जहाँ इस विषय की चर्चा आई है, वहाँ लेखक ने इसके प्रायः सभी उल्लेखनीय प्रश्नों को छोड़कर उन्हें चलता कर दिया है। यहाँ पर यदि भारतीय काव्यादर्श तथा रस जैसे विषयों का विस्तृत परिचय उनके विकास-क्रमानुसार दे दिया गया होता तो अधिक अच्छा था। यूरोपीय एवं भारतीय आलोचना-सिद्धान्तों के कई विषय यहाँ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भी स्पष्ट किये जा सकते थे। इस खण्ड में लेखक ने उन सभी प्रमुख आलोचकों के भी नाम नहीं लिये हैं जिनके सिद्धान्तों का उसने विवेचन किया है। अच्छा होता यदि आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों के क्रमिक विकास पर पृथक्-पृथक् तथा अधिक स्पष्ट शब्दों में विचार किया गया होता, जिससे उनके उद्देश्य-विशेष, निर्दिष्ट सीमा तथा वास्तविक देन पर पूरा प्रकाश पड़ता और उनकी पारस्परिक तुलना में पर्याप्त सहायता भी मिलती।

लेखक ने सिद्धान्त वाले द्वितीय खण्ड में जो आलोचना के वर्गीकरण-सम्बन्धी प्रश्न उठाये हैं उनका भी उसने कोई सन्तोषप्रद समाधान नहीं किया है और इस प्रक्रिया का आधार केवल प्रचलित प्रणालियों के अस्तित्व को ही मानकर उनका समाधान कर लिया है। इस प्रकार की समस्या को उठाते समय लेखक का ध्यान आलोचना की दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि की ओर जाना चाहता था। साहित्य यदि सचमुच मानव-जीवन-सम्बन्धी तत्त्वों की अभिव्यक्ति है तो उसकी आलोचना को भी उसका रूप अनिवार्यतः ग्रहण करना पड़ेगा और उन दोनों की सजातीयता ही हमें उनके लिए दार्शनिक आधारों को ढूँढ़ निकालने के लिए भी प्रेरित करेगी। इसके सिवाय आलोचना की विविध प्रणालियों के स्वाभाविक वर्गीकरण की समस्या को इस एक साधारण संकेत के आधार पर भी हल कर सकते हैं कि आलोचक की वास्तविक मनःस्थिति क्या है और किस आदर्श-विशेष को अपने सामने रखकर वह इस कार्य में प्रवृत्त होता है। जिन आलोचना-प्रणालियों के नाम लेखक ने इस खण्ड के तृतीय प्रकरण में गिनाये हैं उनमें से प्रायः सभी पर विचार केवल इस एक आधार पर भी किया जा सकता है और उसकी संख्या को इस प्रकार बहुत-कुछ कम भी किया जा सकता है। इन प्रणालियों में से एकाध अन्य पर भी प्रगतिवादी आलोचना की भाँति, अधिक विस्तृत विचार किया जा सकता था। फिर भी जिन दो-चार बातों की ओर ऊपर संकेत किया गया है उनके कारण आलोच्य पुस्तक की उपयोगिता में कमी नहीं आती। हिन्दी की वर्तमान आलोचना-पद्धति यूरोपीय आलोचना-सिद्धान्तों द्वारा अधिकाधिक प्रभावित होती जा रही है और दोनों परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन एवं विवेचना पर ही हमारे भावी आलोचना-सम्बन्धी आदर्शों के निर्मित होने की सम्भावना है। ऐसी दशा में भी खत्री

जी द्वारा इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया अध्ययन अवश्य उपादेय कहा जा सकता है।[1]

डॉक्टर शैलकुमारी

मध्यकालीन हिन्दी-कवयित्रियाँ

यद्यपि 'स्त्री-कवि-कौमुदी', 'हिन्दी की कलामयी तारिकाएँ', 'हिन्दी काव्य की कोकिलाएँ' आदि के रूप में कवयित्रियों के अध्ययन पहले भी किये गए हैं, किन्तु डॉ० सावित्री सिनहा द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। विदुषी लेखिका के प्रयास से न केवल कुछ अज्ञात कवयित्रियों के नाम सामने आये हैं वरन् कुछ नवीन तथ्य भी प्रकाश में आये हैं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'नारी द्वारा प्रबन्ध-काव्य-रचना का अपवाद प्राचीन काल की नारी की अचेतनावस्था के साहित्य से लेकर वर्तमान युग की जाग्रति तक नहीं मिलता। काव्य की रचना स्त्री ने आत्माभिव्यक्ति के लिए ही अधिक की है, अतः कहानी इत्यादि कहने के लिए उसने काव्य-रचना नहीं की।' इससे एक शाश्वत सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक सत्य की पुष्टि तो होती ही है, साथ ही प्रसंगवश हम यह भी अनुभव करते हैं कि हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत मुक्तक तथा गीति-काव्यों के क्षेत्र में स्त्री कवियों की कितनी प्रचुर देन रही है।

प्रस्तुत पुस्तक बाह्य तथा अन्तर में यद्यपि बहुत आकर्षक है, फिर भी कई स्थलों पर हमारी आशा को पूर्ण करने में असमर्थ रही है। पहली बात तो यह है कि लेखिका ने कहीं भी अपने अध्ययन की काल-सीमा का निर्देश नहीं किया है। यद्यपि शुक्लजी के काल-विभाजन के पश्चात् मध्यकाल की सीमाएँ सर्वथा अज्ञात नहीं रह गई हैं (और मेरा खयाल है लेखिका भी उन्हीं शताब्दियों को लेकर चली हैं) तो भी खोज की वैज्ञानिकता की दृष्टि से तथा स्त्री-कवियों के मध्य-भाव, भाषा तथा शैली के परिवर्तन तथा विकास की दृष्टि से काल-निर्देश का अभाव खटकता है। इसी से मिली-जुली एक कठिनाई और भी है। लेखिका ने मध्य-युग की कवयित्रियों को छः वर्गों में विभाजित किया है। किन्तु वर्गीकरण बहुत स्पष्ट नहीं है। पहला वर्ग भाषा के अनुसार बनाया गया है, बीच के चार विचार-धारा के अनुसार हैं और अन्तिम वर्ग शैली के आधार से है। इसमें बहुत-कुछ पारस्परिक सीमातिक्रमण की सम्भावना है। उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि डिंगल-काव्य की रचयिताओं में एक ओर नाथ-भक्त कवयित्रियाँ दिखाई पड़ती हैं जो सम्भवतः कृष्ण-काव्य-धारा की कवयित्रियों के साथ आसानी से बैठाई जा सकती थीं, तथा दूसरी ओर चम्पादे रानी तथा हरिजी वानी, चावड़ो जी आदि को, यद्यपि रीतिकाल के शास्त्रीय शृङ्गार-काव्य के अन्तर्गत नहीं, तो भी, शृङ्गार-काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता था। आगे चलकर हम देखते हैं कि निर्गुणोपासक प्राणनाथ की पत्नी इन्द्रामती अपने पति के सम्प्रदाय

1. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त, लेखक—डॉ० एस० पी० खत्री, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

में दीक्षित होते हुए भी 'किताब जबूर' में वैष्णव मत की विवेचना करती हैं तथा 'श्री भागवत सार' और 'रामत रहस्य' नामक 'वैष्णव' भक्ति-भावनापूर्ण ग्रन्थों की रचना करती हैं, फिर भी उन्हें निर्गुण धारा की कवयित्रियों के साथ रखा गया है। हम यह नहीं कह सकते कि इन्द्रामन्ती ने अपनी साम्प्रदायिक हठ को तोड़कर कोई गलत काम किया। इसके विपरीत सांस्कृतिक दृष्टि से तो इसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मानना चाहिए। इन्द्रामती ने सगुण और निर्गुण सम्प्रदायों की दीवार को ही नहीं वरन् हिन्दू धर्म और इस्लाम के बीच के पर्दे को भी दूर करने का प्रयास किया। जिस प्रकार दाराशिकोह ने 'मजमा-उल-बहरैं' में हिन्दू धर्म तथा इस्लाम की तुलना करते हुए तथा दोनों के साम्य को प्रकाश में लाते हुए दो विरोधी दलों के विद्वेष को मिटाने की कोशिश की थी, वैसे ही इन्द्रामती ने भी 'सन्नधे', 'खुलासा फुरमान', 'खिलवत', 'परिक्रमा' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना करके अभूतपूर्व विद्वत्ता का तो परिचय किया ही, साथ ही एक महान् सन्देश को भी समाज के सामने रखा। किन्तु इनकी इस प्रवृत्ति के पीछे कौन-सी प्रेरणाएँ थीं, किस भूमि में यह वृक्ष पल्लवित हुआ था—इसको लेखिका ने स्पष्ट नहीं किया। यों इस्लाम के सिद्धान्तों का विवेचन निर्गुण सन्तों के लिए इतना अनोखा नहीं है, किन्तु वैष्णव रागात्मिका भक्ति तथा अनन्य समर्पण की भावना को अपनाकर भी अन्य निर्गुण सन्तों ने कृष्ण या राम की लीलाओं का वर्णन अथवा, राधा-कृष्ण के शृङ्गार का चित्रण सर्वथा त्याज्य समझा था। देखना था कि सन्तों की यह प्रवृत्ति पुरुष निर्गुणोपासकों तक ही सीमित है अथवा स्त्री कवियों में भी पाई जाती है, यदि नहीं (जैसा कि हम प्रस्तुत उदाहरण में देखते हैं), तो क्यों ? साथ ही लेखिका ने यदि सम्प्रदायों के आधार पर मध्ययुगीन स्त्री-कवियों का विभाजन किया होता, उनकी दार्शनिक भावभूमि को स्पष्ट किया होता, तथा पुरुष कवियों की तुलना में उनके अन्तर तथा मौलिकता को स्पष्ट शब्दों में सामने रखा होता तो सारी चीज अधिक सुन्दर और विश्लेषणात्मक होकर हमारे सामने आती, और हम हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्त्रियों की विशिष्ट देन का मूल्यांकन ठीक-ठीक कर पाते। जब पार्वती कहती है "चित्त न राखै कामिनी पास" तो हम स्वभावतः जानना चाहते हैं कि क्या पुरुष कवियों और स्त्री कवियों की धारणाओं में कोई भेद नहीं था, क्या स्त्रियों ने धार्मिक काव्य के क्षेत्र में कोई नया परिच्छेद नहीं जोड़ा ?

एक बात सामग्री के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यद्यपि इस विषय की विशेषज्ञता के अभाव में बहुत अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि लेखिका ने समस्त सामग्री का उपयोग नहीं कर पाया है। कबीर पंथी माई शाखा में, बावरी सम्प्रदाय में तथा उदासी सम्प्रदाय में कुछ संत कवयित्रियाँ अवश्य रही होंगी। उदासी सम्प्रदाय की सुवचना दासी का नाम तो प्रसिद्ध ही है और दादू की भी एक शिष्या का उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार सम्भवतः वृन्दावन के कृष्ण-भक्त सम्प्रदायों में भी दीक्षित कुछ भक्त कवयित्रियाँ अवश्य रही होंगी। इस सम्बन्ध में और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता जान पड़ती है।

अन्त में एक शब्द 'नारी कवि', 'नारी की सामाजिक स्थिति' तथा 'नारी भावना'—इन तीन वाक्यांशों के भेद को स्पष्ट करने के लिए कहना है। वास्तव में ये तीन अलग-अलग अर्थ-व्यंजक अभिव्यक्तियाँ हैं; किन्तु अक्सर होता यह है लोग 'नारी' शब्द-मात्र को इन तीनों

में प्रयुक्त पाकर उन्हें एक ही अर्थ का द्योतक समझ बैठते हैं और प्रायः एक आयतन से दूसरे में संक्रमण कर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि यदि हमें 'नारी कवियों' अथवा 'नारी भावना' को देखना है तो उसकी भूमिका रूप में 'नारी की सामाजिक स्थिति' को नहीं देखेंगे। यह तो आवश्यक ही होगा; किन्तु 'नारी कवियों' पर विचार करते हुए साहित्यगत 'नारी-भावना' पर प्रकाश डालना असंगत-सा है। प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे परिच्छेद का शीर्षक है 'हिन्दी पूर्वकाल में नारी'। प्रसंगानुसार हम इस शीर्षक से यही अनुमान लगाते हैं कि हिन्दी में साहित्य-सृजन प्रारम्भ होने से पूर्व साहित्य-रचना के क्षेत्र में नारी का क्या और कैसा हाथ था, इस परम्परा को लेखिका ने देखा होगा। किन्तु जब हम परिच्छेद के अन्तरंग में प्रवेश करते हैं तो लगता है कि लेखिका अपने विषय को भूलकर 'नारी-भावना' के आयतन में फिसल गई हैं और साथ ही ऋग्वेद के समय से लेकर हर्ष के समय तक की नारी की सामाजिक स्थिति के ऊहापोह पर प्रकाश डालने लगी हैं। यह एक प्रकार से अप्रासंगिक ही है। अच्छा होता यदि लेखिका मीरा, सहजो, इन्द्रामती, ताज और प्रवीणराय की परम्परा को अपाला, घोषा, शीला, विज्जा, इन्दुलेखा, थेरियो आदि की शृङ्खला से सूत्रबद्ध करने का प्रयास करतीं। मध्ययुगीन कवयित्रियों का अध्ययन होने के नाते समाज में नारी की स्थिति, उसके अधिकार तथा शिक्षा के अवकाश आदि पर प्रकाश डालना आवश्यक है। लेखिका ने इस विषय को तीन स्थलों पर उठाया है—प्रथम, तीसरे परिच्छेद के आरम्भ में, दूसरी बार तीसरे परिच्छेद के अन्त में और तीसरी बार सातवें परिच्छेद के आरम्भ में (यद्यपि अन्य स्थलों के समान यहाँ शीर्षक द्वारा निर्देश नहीं है)। कहना अत्युक्ति न होगी कि इन परिचयों में वाञ्छनीय गहराई तथा प्रमाणों की कमी है।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है उससे कृति का महत्त्व घटा हो ऐसी बात नहीं है। अत्यन्त रोचक ढंग से आलोचनात्मक दृष्टिकोण की सजगता के साथ रची गई यह कृति कठिन परिश्रम का फल होगी, इसमें सन्देह नहीं। इसके सभी अध्याय खोजपूर्ण हैं तथा मर्मज्ञता के परिचायक हैं। लेखिका ने इस क्षेत्र को अपनी खोज का विषय बनाकर हिन्दी-साहित्य-संसार के एक अभाव की पूर्ति की है।[1]

राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश

निराशावादी यथार्थ और कल की आशा

"यह परेड ग्राउण्ड", अब्दुल समद ने होंठ भींचकर और धरती पर ज़ोर से हाथ पटकते हुए कहा—"मुहताजों और दुखियों की पनाहगाह है।"

1. लेखिका—डॉक्टर सावित्री सिनहा, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

सच पूछा जाय तो यह एक वाक्य ही उपन्यास की कथा है, विषय है तथा समस्या है। देहली की जामा मस्जिद और किले के बीच में, अन्य आबाद इमारतों से घिरा यह मैदान भी उतना ही अपाहिज और फ़कीर है जितने इसमें रहने वाले; और इन दोनों को पहेली, प्रश्न और समस्या का रूप देकर लेखक ने इस उपन्यास की सृष्टि की है। उपन्यास न कहकर इसे कुछ फ़कीरों के संस्मरण, भेंटें, प्रभाव और वर्णन कहा जाय, जो एक जगह इकट्ठे हो गए हैं—उधर यही सब परेड ग्राउण्ड के भौतिक रूप को बनाते हैं—यहाँ उसके साहित्यिक रूप को। यह साहित्यिक रूप समस्या और वस्तु-स्थिति की सत्यता के बावजूद भी उतना ही अनगढ़, असमतल और अनफ़िनिश है और किसी अच्छे उपन्यास के लिए 'कच्चा माल'-सा लगता है। वह उपन्यास न होकर एक अच्छा रिपोर्ताज ही अधिक है।

परेड ग्राउण्ड में अपनी-अपनी झोंपड़ियों, खाटों या यों ही खुले आसमान के नीचे बसे मुसलमान फ़कीरों के विभिन्न परिवारों—अब्दुल समद, जमाल, मरियम, इब्राहीम, झुनियाँ—में कौशल घुलता-मिलता है—उनसे बातें करता है और सहानुभूति रखता है। वह सभी जगह इतना निर्बाध और निर्विरोध घूमता है; जिससे चाहे उससे ऐसे मिलता है जैसे वह सशरीर व्यक्ति न होकर एक छाया-मात्र है (उपन्यास से ही कोई नाम लेना हो तो कहा जा सकता है, प्रेत है)। बहुत सम्भव है उसे इब्राहीम-जैसे किसी 'पीर' से ऐसी 'सिद्धि' मिल गई हो। "झुनियाँ, अब्दुल समद, उसका साथी और बड़ी बी सब बुझारतें हैं। समय उनकी उपेक्षा करता है···· कोई उन्हें समझने-बूझने की कोशिश नहीं करता।" और कौशल वह दिमाग है जो इन्हें समझने के लिए मँडराता है।

समाज के कुछ अंगों ने काम करना बन्द कर दिया है, उनमें से एक अंग यह भी है—वह पक्षाघात-ग्रस्त अंग है। वह करता कुछ नहीं है—लेकिन इस परोपजीविता के अस्तित्व को दुआओं और चमत्कारों से बनाये रखना चाहता है—'परेड ग्राउण्ड' इस समस्या की ओर बौद्धिक एप्रोच है, निष्क्रिय सहानुभूति अर्थात् उत्तरहीन प्रश्न है, जो दृश्य का चिन्तन बनकर रह गया है। फलस्वरूप फ़कीर कैसे खाते, रहते, बातें करते या लड़ते हैं—इन सभी के अच्छे, सच्चे और ईमानदार 'स्टिल' के अतिरिक्त जो भी कुछ है वह ऊपर से लपेटे हुए डोरे या गिलाफ़ की तरह ही है। हो सकता है दोनों ही एक ही समस्या के दो रूप हों और दोनों अपनी-अपनी जगह सच हों—लेकिन एक-दूसरे के बीच में इतना अन्तराल है कि बहुत से लोगों को तो शायद यह विश्वास ही न आए कि वे सगे भाई भी हैं। यह कलाहीनता जितनी रहबर की असफलता है—उतनी ही आज के समाजद्रष्टा लेखक की विवशता भी। वह ईमानदार भी है और आशावादी भी, लेकिन ईमानदारी उसे प्रकृतिवादी बना देती है, वह दृश्यों का फ़ोटोग्राफ़र बनकर रह जाता है; दूसरी ओर आशावाद उसे उपदेशक और 'प्रोफ़ेट' बना डालता है। यह 'गैप' या अन्तराल आज के हर लेखक में प्रायः मिल जाता है—उस समय लगता है कि क्या सचमुच आज के उपन्यासकार की दृष्टि और सृष्टि प्रेमचन्द की 'आश्रयवादी' रचनाओं से आगे नहीं बढ़ी! उपन्यासकार का 'शिवनेत्र' केवल भविष्य को ही देख पाता है—भूत, भविष्य और वर्तमान के स्वाभाविक, वैज्ञानिक क्रम को क्यों नहीं अपनी तीव्र किरणों से प्रकाश में ला पाता! शिवनेत्र की मर्मभेदी दृष्टि, तीव्रता और शक्ति में हमें अविश्वास नहीं है—लेकिन उसकी व्यापकता अभी पकड़ में नहीं आ पाई है। वह एक निगाह में वर्तमान को देखती है और उसके सूक्ष्म-से-

सूक्ष्म रगरेशों को 'एनलार्ज' कर देती है; दूसरी निगाह में भविष्य पर जा पड़ती है।

कलावादियों को छोड़ दिया जाय तो ऐसा लगता है कि नागार्जुन को छोड़कर परेड ग्राउण्ड की असफलता आज के हर लेखक की सीमा है।

भाषा के मामले में श्री रहबर प्रशंसा और छूट दोनों के इसलिए अधिकारी हैं कि उर्दू से हिन्दी में आये हैं।[1]

यह हरिशंकर पारसाई का पहला कहानी-संग्रह है। संग्रह की अधिकांश कहानियाँ निम्न मध्यवर्ग के जीवन को लेकर लिखी गई हैं। कुछ कहानियाँ प्रतीकात्मक हैं। भूमिका में लेखक ने कहा है कि उसने मनुष्य को जैसे हँसते और रोते देखा है, वैसे ही अपनी कहानियों में चित्रित किया है। परन्तु कहानियों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि उसने मनुष्य को केवल रोते देखा है, हँसते नहीं देखा। हाँ, मनुष्य की परिस्थितियों के वैषम्य में उसने पशु को हँसते देखा है। उसे उसने अपने वर्ग के मनुष्य से अधिक सशक्त और प्रसन्न पाया है—यहाँ तक कि उसके प्रति वह उस वर्ग के मनुष्य की स्पर्द्धा जगाना चाहता है। 'मैं नरक से बोल रहा हूँ' शीर्षक कहानी में इस भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु न जाने क्यों लेखक ने जगह-जगह इस भाव को दोहराना उचित समझा है। इसमें जहाँ पुनरुक्ति दोष दिखाई देता है, वहाँ साथ ही लेखक की अपरिपक्वता का आभास भी मिलता है।

प्रभाव की दृष्टि से इस संग्रह की सबसे सफल कहानी है: 'सेवा का शौक'। इस कहानी का मुख्य पात्र है एक सोलह-सत्रह वर्ष का बाल-नवयुवक, जिसे मैट्रिक करते ही एक गांव के स्कूल की मास्टरी करनी पड़ती है। अपनी निर्धनता और उससे उत्पन्न हीनमन्यता से दबा यह अकालप्रौढ़ शिक्षक, अपने वय की अपेक्षाओं को दबाये हुए, किसी तरह इस कार्य का निर्वहण किये जाता है। पारिवारिक परिस्थितियाँ उसकी विवशता बनकर उसे घेरे हुए हैं। ऐसे में एक शिक्षा-शास्त्री, जो उस स्कूल के संचालक के सम्बन्धी हैं, वहाँ आते हैं और स्कूल का निरीक्षण करते हैं। उन्हें उसकी पढ़ाने की शैली पसन्द नहीं आती। वे चाहते हैं कि वह शिक्षा-शास्त्र की अपेक्षाओं के अनुसार प्रसन्न भाव से बच्चों को पढ़ाया करे। और जब इस दृष्टि से उसकी परीक्षा होने लगती है, तो वह पढ़ाते-पढ़ाते रो देता है····। कहानी की अन्तिम तीन पंक्तियों में प्रकट की गई भावुकता कहानी के प्रभाव में कुछ बाधा डालती है। अच्छा होता यदि लेखक इन पंक्तियों को लिखने के मोह का संवरण कर सका होता।

इस संग्रह की दूसरी सफल कहानी है—'भीतर का घाव', यद्यपि कहानी के वस्तु-संघटन में कुछ शिथिलता आ गई है। कहानी का केन्द्रबिन्दु वही है जो अश्क के एकांकी नाटक 'लक्ष्मी का स्वागत' का है। फिर भी कहानी हृदय-स्पर्शी है और कहानी की अन्तिम पंक्ति में एक आवेश है, जो हृदय पर चोट करता है। निम्न मध्यवर्गीय नैतिकता का जो कुरूप चित्र इस कहानी में दिया गया है, वह इतना परिचित है कि उसके पुनः सामने आने पर 'पुनः' का भाव गौण हो जाता है और उसकी कुरूपता की ही छाप मस्तिष्क पर रह जाती है।

कुछ कहानियों में लेखक ने शैली के नये प्रयोग किये हैं। इन कहानियों में शैली का

1. 'परेड ग्राउण्ड,' लेखक—हंसराज 'रहबर', प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

प्रयोग ही उसका उद्देश्य जान पड़ता है। वस्तु के गौण हो जाने और प्रयोग की अपरिपक्वता के उभर आने से ये कहानियाँ बहुत हल्की पड़ गई हैं। 'रमता जोगी हूँ', 'सुधार', और 'जीवन की कहानी' इसी श्रेणी की कहानियाँ हैं। 'क्या कहा' और 'साड़ी का रंग' ये अन्त को दृष्टि में रखकर लिखी गई कहानियाँ हैं। ऐसी कहानियों में शिल्प पर जिस अधिकार की अपेक्षा होती है, उसके अभाव में ये कहानियाँ अपेक्षित चमत्कार की सृष्टि तो कर नहीं पातीं, और अन्य किसी वस्तु या निरीक्षणगत विशेषता के अभाव में कोरा प्रयास ही होती हैं। 'क्या कहा' शीर्षक कहानी की संघटन-शिथिलता इस बात में भी है कि लेखक ने पाँच पात्रों को एक कमरे में बैठाया है, जिनकी संख्या कहानी का अन्त आने तक अनजाने ही छः हो जाती है। वहाँ उसने निर्मला और शीला के अतिरिक्त चार नाम और गिनाए हैं। ऐसी कहानियों से, निःसन्देह, एक संग्रह का मूल्य बहुत कम हो जाता है।

साधारणतया संग्रह की सभी कहानियों में पराजित मनोवृत्ति की छाप स्पष्ट झलकती है। 'मैं', जो संग्रह की अधिकांश कहानियों का मुख्य पात्र है, एक ऐसा व्यक्ति प्रतीत होता है, जो अपने चारों ओर के वातावरण से निराश होकर हर ओर नकारात्मक भाव से सिर हिला रहा हो। भिन्न-भिन्न नाम और छद्म होते हुए भी उसका अन्तर्व्यक्तित्व एक है। वह मनुष्य में साहस के संचार की कामना करता है, पर मनुष्य को देने के लिए कोई संकेत उसके पास नहीं है। विश्वास भी उसके पास नहीं है। इस तरह, संग्रह की भूमिका को पढ़कर लेखक के जिस दृष्टि-कोण की कल्पना मस्तिष्क में बन आती है, वह दृष्टिकोण कहानियों में व्याप्त नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने भूमिका के रूप में जो कुछ लिखा है, वह वाक्य-रचना के मोह में पड़कर ही—अनुभूति के आधार पर नहीं। अन्यथा, 'पड़ोसी के बच्चे' और 'भूख का स्वर'-जैसी कहानियों में जो चेहरे उसने देखे हैं, उसके अतिरिक्त मनुष्यों की भीड़ में उसे कुछ और भी चेहरे दिखाई देते—अबोध, चंचल, स्मयमान या आवेशयुक्त चेहरे। वह मनुष्य को अवसाद और प्रतारणा के अतिरिक्त और भी स्थितियों में देख पाता।

कहानियों की भाषा के विषय में भी कुछ कहना अपेक्षित है। लेखक ने कहा है कि उसने कहानियों में अपने बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग किया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण के उद्देश्य से या स्थानीय रंग लाने के लिए क्षेत्र-विशेष के मुहाविरे का प्रयोग करना एक बात है। परन्तु बिना ऐसे किसी उद्देश्य के जब बोलचाल की भाषा के नाम पर कोई भाषा में अनगढ़ वाक्यों की भरमार कर देता है तो उसे केवल प्रयोग की दृष्टि से भी स्वीकार्य नहीं समझा जा सकता। "उन्हें क्या मालूम कि दवा अलमारी में पड़े-पड़े असर थोड़े ही कर सकती है," ऐसे-ऐसे वाक्य लेखक के भाषा पर ठीक अधिकार न रखने का ही परिचय देते हैं।[1]

१. 'हँसते हैं-रोते हैं', लेखक—हरिशंकर परसाई, प्रकाशक—सुषमा साहित्य-मन्दिर, जबलपुर।

डॉक्टर त्रिलोकीनारायण दीक्षित

सन्त-काव्य का अध्ययन

सन्त-साहित्य की ओर हिन्दी-जगत् का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग को है। इस प्रेस से सन् १६१५ में सर्वप्रथम 'सन्तबानी संग्रह' का प्रकाशन हुआ था। इन संग्रहों के द्वारा सन्तों के सन्देश और हृदयानुभूति को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया गया था। कालान्तर साहित्य की दृष्टि से भी इनका मूल्यांकन होना प्रारम्भ हुआ। सन्तों की बानियों के साहित्यिक महत्त्व और साहित्य को ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करने की परम्परा का प्रारम्भ 'निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोयट्री,' से प्रारम्भ होता है। डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने अपनी सूझ और खोज के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि साहित्य के अन्य अंगों के सदृश सन्त-साहित्य का भी अपना महत्त्व और अपनी विशेषताएँ हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा तथा श्री परशुराम चतुर्वेदी ने डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल के इस प्रयास को सफल और सम्पन्न बनाने में महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया है। इन विद्वानों के चरण-चिह्नों को अपने मार्ग-प्रदर्शन का माध्यम मानकर अनेक व्यक्ति साहित्य के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। दरिया साहब, मलूकदास, सुन्दर दर्शन, चरनदास, रैदास, जगजीवन साहब और शिवनारायण साहब का अध्ययन इसी परम्परा में हुआ है। सन्तों के सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक महत्त्व ने हिन्दी के विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है।

'सन्त-काव्य' का स्मरण करते ही हमें 'सन्त-जीवन', सन्तों की 'रहनी', करनी, 'कथनी और करनी' का ध्यान होता है। यह सन्त-काव्य सन्त-जीवन का स्पष्ट और उपयोगी शब्द-चित्र है। सन्त-काव्य के अन्तर्गत सरल भाषा, सहज अनुभूतिपूर्ण उद्गाराभिव्यक्ति और जन-कल्याण की तीन विभिन्न धाराओं का सुन्दर समन्वय है। इन्हीं विशेषताओं के कारण वह विशाल, गौरव-सम्पन्न और प्रभावशाली है। सन्त-काव्य प्राणवान्, सबल और निर्दोष जीवन-दर्शन का प्रकाश-पुञ्ज है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'सन्त-काव्य' में इन्हीं विशेषताओं को प्रामाणिक रूप से जनता के समक्ष रखने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ के सम्पादन और रचना का लक्ष्य श्री चतुर्वेदीजी से ही सुनिए : "अपनी पुस्तक 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' की प्रस्तावना में मैंने कहा था कि उसका सम्बन्ध प्रधानतः सन्तों की परम्परा के ही परिचय से है, उनके मत एवं साहित्य का परिचय देने के लिए अन्य दो पुस्तकों की आवश्यकता होगी। इस विचार से मैं 'सन्त-साहित्य की रूपरेखा' नाम से एक पुस्तक लिखने की सामग्री एकत्र करने लगा था। सन्त-साहित्य में·····हस्तलिखित पुस्तकों में से भी अनेक का दुष्प्राप्य होना तथा उपलब्ध प्रतियों का भी अधिकतर संदिग्ध पाठों के ही साथ मिलना इस प्रकार की बाधाएँ हैं, जिनके कारण विलम्ब होना अनिवार्य था।·······मुझे यह उपयोगी जान पड़ा कि सन्तों की काव्य-रचना-शैली का भी एक परिचय दे दिया जाय और इसके लिए उनकी पद्यात्मक रचनाओं में से कुछ को चुनकर तब एक छोटा-सा संग्रह प्रकाशित कर दिया जाय। प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से किये गए प्रयत्न का फल है·········।"

'सन्त-काव्य' के विषय का प्रसार और प्रतिपादन पाँच सौ अस्सी पृष्ठों में हुआ है। इस ग्रन्थ का विषय दो भागों में विभाजित है। प्रथम भूमिका-खण्ड और द्वितीय भाग संग्रह-कोष

है जिसमें सन्तों की बानियों और विचार-रत्नों को बहुत ही सँजोकर रखा गया है। भूमिका में सन्त-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। विद्वान् आलोचक ने इस खण्ड में अपने विचारों का प्रकाशन 'काव्य-परिचय', 'हिन्दी-काव्य-धारा', 'सन्त-परम्परा', 'सन्त-मत', 'सन्त-साहित्य', 'सन्त-काव्य', 'काव्य का आदर्श', 'रहस्यवाद', 'दाम्पत्य-भाव', 'रस', 'अलंकार' 'उलटबासी', 'प्रकृति-चित्रण', 'संगीत-प्रेम', 'छन्द-प्रयोग', 'भाषा' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत किया है। इन शीर्षकों के अन्तर्गत आलोचक ने सन्त-काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। लेखक का विशेष ध्यान संगृहीत पद्यों के सौन्दर्य और रचना-पद्धति पर केन्द्रित है। इस प्रसंग में ऐसे उदाहरणों के द्वारा स्वमत का समर्थन भी किया गया है, जिनका साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन किया जाता है। इस विवेचन से आलोचक का एक ही मत प्रतिभासित होता है कि "सन्तों के अनुसार निश्चित काव्य के आदर्श, उनके संगीत-प्रेम, उनके द्वारा प्रयुक्त छन्दों की विविधता तथा उनकी भाषा के बहुरंगे प्रेमपन की भी चर्चा की गई है और यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार से वे इन सभी बातों के प्रति प्रायः उदासीन-से रहते आए हैं। काव्य के स्वरूप से कहीं अधिक ध्यान उन्होंने उसके विषय की ओर ही दिया था और उसे भी सदा अपने व्यक्तिगत रंग में ही रँगकर दिखलाया।" इस प्रसंग के अन्तर्गत सन्त कवियों के काव्य-बहिरंग पर भी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। लेखक ने इन बानियों में सन्निहित सौन्दर्य, माधुर्य और मर्म-स्पर्शी उक्तियों को अनुभूति की कसौटी पर कसकर उन्हें समाज और धर्म के लिए समान रूप से उपयोगी प्रमाणित किया है। इस विषय में आलोचक का मत निष्कर्ष के रूप में पठनीय होगा। "वास्तव में सन्त लोग साहित्यिक नहीं थे और न उनकी रचनाओं को साहित्यिक मानदण्ड के अनुसार परखना ही उचित है। उनकी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी अनेक दोष मिल सकते हैं और उनके पद्यों में छन्दोनियम का पालन बहुत कम पाया जा सकता है। उनके साधना-सम्बन्धी विवरणों में नीरस पंक्तियों की ही भरमार दीख पड़ेगी और उनके उपदेशों में भी कोई आकर्षण नहीं जान पड़ेगा।" इन पंक्तियों को पढ़ जाने के बाद पाठकों को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह स्थिति सभी सन्तों के साहित्य की नहीं है। सुन्दरदास सन्त-काव्य के श्रेष्ठ कवि हैं, गरीबदास और चरनदास के विषय में यही कह सकते हैं। दादू को भी सरलता के साथ इसी श्रेणी में गिना जा सकता है। इनके काव्य में दोष नहीं के बराबर हैं। सन्तों में बहुत-से ऐसे कवि हैं जिनका साहित्य श्रद्धालु भक्तों की स्मरण-शक्ति पर ही जीवन प्राप्त करता रहा है। इस दशा में छन्दोभंग, भाषा की अनेकरूपता और व्याकरण-विषयक भूलों के लिए ये सन्त कवि ही पूर्णतया उत्तरदायी नहीं हैं। सच तो यह है कि उन्होंने काव्य की रचना सन्देश-प्रसार के लिए की थी, 'यशसेऽर्थकृते' आदि लक्ष्यों से प्रेरित होकर नहीं। संगीत-प्रेम आदि की दृष्टि से सन्तों के साहित्य का अध्ययन शायद हिन्दी में सर्वप्रथम चतुर्वेदी जी द्वारा सम्पन्न हुआ है। सन्तों का रहस्यवाद बड़ा दुरूह विषय बना दिया गया है, यद्यपि वह था नहीं। रहस्यवाद की परिभाषाओं को आलोचकों ने और भी दुरूह और रहस्यपूर्ण बना दिया है। चतुर्वेदीजी ने अपनी सुलझी हुई विचार-धारा और सुसंस्कृत चिन्तन के कारण इसे बहुत सरल स्वरूप प्रदान किया है। मेरी दृष्टि से इस भूमिका-खण्ड का सबसे रोचक और महत्त्व-पूर्ण परिच्छेद है सन्तों की 'दाम्पत्य-भावना'। दाम्पत्य-भाव सन्तों का सबसे प्रिय प्रतीक था। इस

प्रतीक का प्रयोग बड़ा प्राचीन है। उपनिषदों में भी इसके उदाहरणों का उल्लेख मिलता है। सन्तों में इसका प्रयोग सूफी प्रभाव का द्योतक है। प्रभावित होते हुए भी उनमें अपनी मौलिकता थी और उनमें भेद था। इस भेद को चतुर्वेदीजी ने बड़े स्पष्ट रूप से पृष्ठ उनसठ पर अंकित किया है। इसी प्रकार का सूक्ष्म चिन्तन 'रस' उपशीर्षक के अन्तर्गत उपलब्ध होता है।

भूमिका-खण्ड से आलोचक की सुस्पष्ट चिन्तन-धारा, सूक्ष्म पर्यालोचन और बात की तह तक पहुँचने की प्रवृत्ति का ज्ञान हो जाता है। भाषा प्रसंगों और विषयों के उपयुक्त है। सन्तों की पद्धति एवं सन्त-काव्य को समझने में प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका सहायक होगी। सन्तों की भाषा पर आलोचक ने बहुत संक्षेप में अपने मत को प्रकट किया है। कहना न होगा कि यह विषय विस्तार की अपेक्षा रखता है।

संग्रह-खण्ड में सन्त-काव्य के सड़सठ कवियों की बानियाँ और पद संग्रहीत हैं। इस संग्रह का काल-विभाजन चार युगों में किया गया है। प्रथम युग सं० १२०० से १५५० तक माना गया है। इसका नामकरण प्रारम्भिक युग है। इसके प्रमुख कवि हैं नामदेव, पीपा, रामानन्द, कबीर, रैदास, कमाल, धन्ना, त्रिलोचन, सेन आदि। उल्लेखनीय बात इस प्रसंग में यह है कि कमाल, धन्ना, वेणी, रामानन्द तथा सेन नाई आदि की रचनाएँ सामान्यतया कहीं उपलब्ध नहीं होती हैं। रामानन्द के सम्बन्ध में अयोध्या और फैजाबाद जिलों के अनेक भक्तों से कुछ छन्द सुने और पाये जाते हैं। पर उनकी प्रामाणिकता कैसे सिद्ध की जाय? रामानन्द की रचनाओं के सदृश ही वेणी, सेन, धन्ना आदि की रचनाएँ हैं जिन पर हमारा मन जमकर नहीं बैठता है। लेकिन प्रसन्नता की बात है कि चतुर्वेदीजी ने बड़े परिश्रम से उक्त कवियों की रचनाएँ संग्रहीत की हैं। यदि 'भूमिका' में इन कवियों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर भी विचार हो जाता तो और अच्छा होता। संग्रह का द्वितीय युग है संवत् १५५० से १७०० तक, जिसका नामकरण मध्ययुग (पूर्वार्द्ध) हुआ है। शेख फरीद, गुरु अङ्गद, अमरदास जी, रामदास जी, बावरीसाहिबा, आनन्दघन, गुरु तेगबहादुर, हरिदास, अर्जुनदेव, मलूकदास इस युग के उज्ज्वल रत्न हैं। इन सभी कवियों की रचनाएँ अन्यत्र प्रकाशित और संग्रहीत हैं। पर चतुर्वेदी जी को इस बात का श्रेय है कि इसमें उन्होंने प्रत्येक कवि की श्रेष्ठ साखियों का संकलन कर दिया है जो कवियों की आत्मा पहचानने में सहायक होती हैं। साथ ही विषय की दृष्टि से संकलन वैज्ञानिक और प्रत्येक दिशा में प्रकाश फैलाने वाला है। मध्ययुग का उत्तरार्द्ध सं० १७००-१८५० तक है। यह सन्त-काव्य का तृतीय युग है जिसके बाबालाल, तुरसीदास, रज्जबदास, गुरु गोविन्दसिंह, किनाराम, रामचरन, आदि कवियों की रचनाएँ बड़ी कठिनाई से उपलब्ध होती हैं। चतुर्वेदीजी ने इनका संकलन मौलिक आधारों से किया है। इसके लिए उन्हें कितना भटकना पड़ा होगा यह केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है। इन कवियों को सामने लाने का आवश्यक कार्य इस ग्रन्थ द्वारा सम्पन्न हुआ। ग्रन्थ का अन्तिम और चतुर्थ काल है आधुनिक युग; जिसका प्रारम्भ सं० १८५० से होता है। इसमें भी कुछ ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाएँ पहली बार हमारे सामने प्रामाणिक रूप से आ रही हैं; उदाहरणार्थ रामरटसदाउ, निश्चलदास तथा सन्त सालिगराम आदि। इस युग की सूची अत्यन्त संक्षिप्त है। आशा है भविष्य में यह संकलन और भी अधिक धनी बनेगा। इस संग्रह के विषय में चतुर्वेदीजी का कथन है कि "सन्त-परम्परा के अन्तर्गत साधारणतः वे ही सन्त सम्मिलित किये जाते हैं, जिन्होंने कबीर साहब अथवा उनके किसी अनुयायी को अपना

प्रथ-प्रदर्शक माना है और उनमें ऐसे अन्य सन्तों की भी गणना कर ली जाती है जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों को किसी-न-किसी रूप में अपनाया। इसके सिवाय उसमें कभी-कभी ऐसे महात्माओं को भी स्थान दिया जाता है जो सूफी, वेदान्ती, सगुणोपासक, जैन वा नाथपन्थी समझे जाते हुए भी, अपने विचार-स्वातन्त्र्य एवं निरपेक्ष व्यवहार के कारण सन्तवत् माने जाते हैं। इस संग्रह में ऐसे सभी प्रकार के सन्तों की कुछ-न-कुछ बानियाँ संग्रहीत हैं। इनका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न युगों के आधार पर किया गया है और प्रत्येक युग की प्रवृत्ति-विशेष का परिचय देने के लिए उसके पहले सामान्य परिचय जोड़ दिया गया है।" इसमें सन्देह नहीं है कि संग्रह बड़े परिश्रम के साथ किया गया है और इतना सुन्दर सन्त-काव्य-संग्रह अभी तक हिन्दी में सम्पादित नहीं हुआ। एतदर्थ चतुर्वेदीजी धन्यवाद और बधाई के पात्र हैं।[१]

मोतीसिंह

शिक्षा, साहित्य और जीवन

विनोबा का जीवन-दर्शन आज के विभिन्न संघर्षों और विकृतियों से आक्रान्त मनुष्य के लिए एक नया सन्देश है। उस सन्देश में अपूर्व स्फूर्ति और प्रेरणा है जो केवल कोरे उपदेशक में नहीं होती, क्योंकि विनोबा ने जिस सत्य और दर्शन की स्थापना की है उसे उन्होंने जीवन से, उसके अनुभूत प्रत्यक्ष ज्ञान और चिन्तन से पाया है। इसीसे उनकी वाणी और लेखनी में आस्था, विश्वास (conviction) और अधिकार (authority) ध्वनित होती हैं। उनका जीवन-दर्शन है—मनुष्य में पुरुषार्थ का तेज जगाना, व्यक्ति में समष्टि की चेतना पैदा करना और जीवन से बढ़ते हुए पार्थक्य को समाप्त करके उसके प्रति सच्ची निष्ठा और प्रेम पैदा करना। शिक्षा, समाज-दर्शन, काव्य, अर्थ-शास्त्र सभी की परीक्षा करते हुए वे मूल रूप से इन्हीं सिद्धान्तों को लागू करते हैं। "ज़िन्दगी की ज़िम्मेदारी कोई डरावनी चीज़ नहीं है। वह आनन्द से ओत-प्रोत है....।" "जिन्दगी की ज़िम्मेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है।" इसी आधार पर शिक्षण-व्यवस्था या दूसरी प्रकार की योजना बनाने की सलाह वे देते हैं। "शिक्षा कर्तव्य कर्म का आनुषंगिक फल है।" ऐसी ही शिक्षा से आज के जीवन में व्याप्त असन्तुलन, एकांगिता और व्यवहारहीनता दूर हो सकती है। इसी को वे कहते हैं: "अविरोध वृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है।" अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सामंजस्य स्थापित करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। इसीलिए वे कहते हैं कि घर, पाठशाला और समाज तीनों को आधार बनाकर बालकों के चरित्र और विचार का निर्माण होना चाहिए। "मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओर से

१. लेखक—परशुराम चतुर्वेदी, प्रकाशक—किताब महल, प्रयाग।

घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुम्ब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित करे।" ऐसे ही शिक्षा हमारे देश की बेकारी, असंगति और बनावट को दूर कर सकती है। गांधीजी की शिक्षा-पद्धति ने इसी का निर्देश किया था जो बेसिक-शिक्षा, वर्धा-योजना आदि भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित हुई। रूसो, स्पेन्सर, हरबर्ट, पास्टेलाजी, माण्टेसरी और डिवी आदि ने बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ की हैं और वे उपयोगी भी हैं किन्तु उसमें इस देश के काल, परिस्थिति और आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया जा सका है। शिक्षा 'कर्त्तव्य कर्म का आनुषंगिक है' इसका सीधा तात्पर्य यही है कि देश और समाज की आवश्यकता को देखते हुए जो करणीय है, उसी दिशा में शिक्षा की नियोजना होनी चाहिए। शिक्षण का कार्य 'तेजस्वी विद्या' का अर्जन करना है। उस तेजस्वी विद्या से "आप निजाधार बनें, निराधार न रहें।" जो हमारे पुरुषार्थ को उद्दीप्त करे, वही विद्या अपेक्षित है। "बाल तो वह होता है जो बलवान है, जो मानता है कि यह सारी दुनिया मेरे हाथ में मिट्टी-जैसी है, उसकी जो भी चीज मैं बनाना चाहूँगा, बना लूँगा।" इसीलिए शिक्षा और जीवन से परिश्रम की उपादेयता पर बराबर ही विनोबाजी ने जोर दिया है। परिश्रम में उत्साह और लगन रखना ही पुरुषार्थ और तेजस्विता है। इससे भागना कायरता है। प्रतिभा का बीज, व्यक्तित्व का प्रस्फुरण ऐसे ही स्वेच्छा श्रम से होता है। "श्रीकृष्ण बचपन में हाथों से काम करता था, मेहनत-मज़दूरी करता था, इसीलिए गीता में इतनी स्वतन्त्र प्रतिभा का दर्शन हमें होता है। हमें ढेर-की-ढेर विद्या हासिल नहीं करनी है, तेजस्वी विद्या हासिल करनी है।"

शिक्षा विनोबाजी के लिए एक सामाजिक समस्या है और उसीके अनुबन्ध में उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका सामाजिक दर्शन श्रम की समानता और परिणामस्वरूप व्यक्ति की समता पर आधारित है। "मतलब यह कि हर एक उपयुक्त परिश्रम का नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्राचीन धर्म का आचरण तो हमने किया नहीं, पर एक बड़े भारी शूद्र-वर्ग का निर्माण कर दिया।" इस प्रकार सामाजिक तथा आर्थिक समता पर आधारित समाज-रचना ही उनका जीवन-दर्शन है।

विनोबाजी की विचार-सरणी जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण से प्रादुर्भूत है। वह सभी सन्तों की तरह पुस्तकीय ज्ञान को अनावश्यक मानते हैं और ज्ञान को जीवन में ढूँढने का बराबर उपदेश देते हैं। "पुस्तक में अर्थ नहीं रहता, अर्थ सृष्टि में रहता है।" जीवन से ही सत्य को ग्रहण करने का आग्रह इतना प्रबल है कि कभी-कभी आक्रोश के स्वर में विनोबाजी इसकी महत्ता समझाते हैं। "·····जहाँ सम्भव हो, पोथी में आँखें न गड़ाना, या कहिए आँखों में पोथी न गड़ाना, यह सयानेपन की पहली धारा है। शीशी को हम रोगी शरीर का चिह्न मानते हैं। पोथी को भी—फिर वह सांसारिक पोथी हो, चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मन का चिह्न मानना चाहिए।"

साहित्य और कला के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार विनोबाजी के विचार स्पष्ट और प्रखर हैं। साहित्य का उद्देश्य सत्य की अभिव्यक्ति और समाज तथा राष्ट्र की मंगल-साधना है। इसी से साहित्य में शैली-साधना और अलंकरण-विधान के वे विरोधी हैं, क्योंकि वे कहते हैं कि "इन शैली-भक्तों ने राष्ट्र के शील की हत्या का उद्योग शुरू किया है।" उनकी दृष्टि में सच्चा

कवि और कलाकार वही हो सकता है जो 'मन का मालिक' है। "जिसने मन नहीं जीता वह ईश्वर की सृष्टि का रहस्य नहीं समझ सकता। सृष्टि का ही नाम काव्य है।" "कवि में 'लोक-हृदय को यथावत् संप्रकाशित' करने का सामर्थ्य होना चाहिए।" इसके लिए उसे सत्य-द्रष्टा होना पड़ेगा। उस सत्य को पाने के लिए उसे जीवन पर दृष्टि डालनी होगी, उसे 'अध्यक्ष' बनना पड़ेगा अर्थात् उसकी दृष्टि समग्र विश्व पर होनी चाहिए, तब वह अपने साहित्य में अन्तः और बाह्य जगत् में पूर्ण संगति ला सकेगा। सुकरात की तरह इन्होंने भी काव्य को अपने में कोई महत्त्व नहीं दिया है। वह उसी अनुपात से महत्त्वपूर्ण है जिसमें वह जीवन के सत्य का उद्घाटन करता है। यह सत्य ही विश्व-मंगल का पर्याय है।

विनोबाजी के विचारों को थोड़े में व्यक्त करने और कहने में कठिनाई है, क्योंकि उनकी अन्तर्दृष्टि इतनी पैनी और सत्य की पकड़ ऐसी अचूक है जो उनके प्रत्येक वाक्य और शब्द को आवृत किये है। शब्द की मितव्ययता और अर्थ की गहनता का अपूर्व संयोग विनोबाजी की शैली में है। नित्य जीवन के व्यापार में ही उन्होंने बड़े-से-बड़े सत्य को देखा है और इसी से उनके कथन में चमत्कार के साथ ही प्रभावोत्पादन की अपूर्व क्षमता है।

विनोबाजी मूलतः अन्तःशुद्धि और बहिष्कार पर जोर देते हैं। नये समाज की रचना में इसकी उपयोगिता सर्वमान्य है। किन्तु भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों के परस्परावलम्बन की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। नये समाज की भौतिक परिस्थितियों के बदलने के साथ ही हमारे संस्कारों और विचारों को उन्नत बनाने का प्रयास किया जायगा तो सफलता शीघ्र और असंदिग्ध होगी, अन्यथा विनोबाजी का दर्शन सत्य और तपःपूत रहते हुए भी व्यावहारिक नहीं बन पायगा। विनोबाजी के प्रयास की सराहना और उनके दर्शन को स्वीकार करते हुए भी इतना नम्र निवेदन आवश्यक है।[1]

प्रभुदयाल मीतल

भूषण का जीवन-वृत्त और साहित्य

हिन्दी-क्षेत्र के विस्तार और हिन्दी-छात्रों की संख्या-वृद्धि के साथ-ही-साथ हिन्दी-कवियों के जीवन-वृत्तान्त और उनकी कृतियों के आलोचनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति भी बढ़ती जा रही है। प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से प्रकाशित की गई है। इसके लेखक हिन्दी के पुराने साहित्यकार श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित हैं, जो पिछले पच्चीस-तीस वर्षों से भूषण-सम्बन्धी शोध कर रहे हैं। उन्होंने भूषण-सम्बन्धी प्रचलित मान्यताओं के विरुद्ध कई नवीन तथ्य प्रमाणित किये हैं और भूषण के काव्य का नये दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया है। प्रस्तुत पुस्तक एक अधिकारी विद्वान् की कृति है। इसमें जीवनी, रचना, आलोचना और संग्रह नामक चार खण्ड हैं। पुस्तक की आरम्भिक 'अवतरणिका' में प्राचीन साहित्य में वीर-काव्य का अभाव, वीरगाथा-काव्य की

१. लेखक—विनोबा भावे, प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

निरर्थकता और भूषण के काव्य की पृष्ठभूमि पर ऐतिहासिक विवेचन द्वारा विचार किया गया है।

पुस्तक का प्रथम 'जीवनी खण्ड' लेखक-कृत अनेक वर्षों की शोध पर आधारित होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखक के अधिकतर वे ही विचार हैं, जिन्हें वे अपने कई लेखों और 'भूषण-विमर्श' नामक ग्रन्थ में अब से कम-से-कम पन्द्रह वर्ष पूर्व प्रकट कर चुके थे। यद्यपि ये विचार पुराने हैं, तथापि उनके द्वारा भूषण-सम्बन्धी कई प्रचलित किंवदन्तियों का ठोस प्रमाणों द्वारा खण्डन होने के कारण उनका अब भी उतना ही महत्त्व है, जितना पन्द्रह वर्ष पूर्व था। भूषण के विषय में यह किंवदन्ती बड़ी प्रसिद्ध है कि वे औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति के प्रतिकार के लिए शिवाजी महाराज के पास गये थे और उनको अपना सुप्रसिद्ध कवित्त—'इन्द्र जिमि जंभ पर'''त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है'—सुनाया था। इस कवित्त के कारण वे शिवाजी से पुरस्कृत हुए थे और उनके दरबार में रहकर उन्होंने अपने विख्यात ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' की रचना की थी। दीक्षितजी का मत है कि भूषण का जन्म शिवाजी की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् सं० १७३८ में हुआ था, अतः उनका शिवाजी से भेंट करना और उनके आश्रय में रहना भ्रमपूर्ण कथन है। भूषण शिवाजी के पौत्र शाहू महाराज के समकालीन थे और उनको ही उन्होंने अपना वह कवित्त सुनाया था। वे शाहु महाराज से ही पुरस्कृत हुए थे और उन्हींके आश्रय में उन्होंने सितारा नगर में 'शिवराज भूषण' की रचना सं० १७७३ में की थी। अपने इस क्रान्तिकारी मत के समर्थन में दीक्षितजी का सबसे बड़ा तर्क यह है कि भूषण के जितने आश्रयदाताओं के नाम प्रसिद्ध हैं, उनमें से छत्रसाल के अतिरिक्त अन्य सभी शिवाजी महाराज के परवर्ती थे। उन्होंने सन्त तुकाराम के एक पत्र का भी हवाला दिया है, जिसमें भूषण को शाहूजी का आश्रित कवि लिखा गया है। 'शिवराज भूषण' के छन्द सं० २८ से ज्ञात होता है कि चित्रकूट-नरेश हृदयराम ने उनको 'भूषण' की उपाधि दी थी। इससे यह प्रकट है कि भूषण उनका नाम नहीं था। उनका वास्तविक नाम क्या था, इसके उत्तर में कई विद्वानों ने अपने अनुमान उपस्थित किए हैं। पं० बदरीदत्त पांडे-कृत कुमायूँ के इतिहास में वर्णित एक प्रसंग के आधार पर दीक्षित जी का मत है कि भूषण का मूल नाम 'मनिराम' था। प्रचलित मान्यता के अनुसार भूषण के तीन भाई थे—चिन्तामणि, मतिराम और नीलकण्ठ; किन्तु दीक्षितजी का मत है कि चिन्तामणि ही भूषण के सहोदर भाई थे, मतिराम और नीलकण्ठ नहीं। मतिराम तो उनके सहगोत्री भी नहीं थे, किन्तु वे उनके समकालीन और घनिष्ठ मित्र अवश्य थे। सम्भव है, मामा-फूफा के नाते भाई भी हों। दीक्षित जी के मतानुसार भूषण का जन्म-स्थान बनपुर था, जहाँ पर वे सं० १७५८ तक—अपनी २० वर्ष की अवस्था तक—रहे थे। इसके पश्चात् वे त्रिविक्रमपुर (तिकमापुर, जिला कानपुर जाकर बस गए थे। भूषण के जीवन-वृत्तान्त की इस शोध के कार्य से दीक्षित जी को कई लम्बी यात्राएँ करनी पड़ी थीं, इन यात्राओं में उन्होंने जिन प्राचीन प्रमाणों का संग्रह किया था, उनके अध्ययन और अनुसन्धान के अनन्तर उन्होंने अपना मत निश्चित किया है; अतः इस खण्ड की सामग्री महत्त्वपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं।

द्वितीय रचना-खण्ड पहले खण्ड की अपेक्षा बहुत छोटा है। इसमें केवल दो परिच्छेद हैं, जिनके शीर्षक हैं रचनाओं की विचार-धारा और फुटकर कविताएँ। भूषण-कृत दो ग्रन्थ 'शिवाबावनी' और 'शिवराज भूषण' प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त 'भूषण हजारा', 'भूषण उल्लास' और 'दूषण उल्लास' भी उनके ग्रन्थ कहे जाते हैं, किन्तु वे अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। भूषण के दोनों

उपलब्ध ग्रन्थ वीर-रस के हैं, किन्तु उनके रचे हुए शृङ्गार-रस के कुछ छन्द भी प्राप्त हुए हैं। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने भूषण-कृत शृङ्गार-रस के अनेक छन्द खोजकर प्रकाशित कराये थे। इन छन्दों में अधिकांश नायिका-भेद से सम्बन्धित हैं। ऐसा अनुमान होता है कि अपने अग्रज चिन्तामणि के अनुकरण पर उन्होंने आरम्भ में शृङ्गार-रस के छन्दों की रचना की थी, बाद में औरंगजेब के अत्याचारों से उनको वीर-रस के छन्द रचने की प्रेरणा प्राप्त हुई। इस खण्ड में दीक्षित जी ने भूषण के काव्य की आलोचना ही की है, जो वस्तुतः तृतीय खण्ड का विषय है। इस खण्ड को पृथक् रखने की आवश्यकता नहीं थी। इसकी सामग्री सरलतापूर्वक तृतीय खण्ड में मिलाई जा सकती थी।

तृतीय आलोचना-खण्ड सबसे बड़ा है। इसमें भूषण के काव्य की विस्तृत आलोचना की गई है। 'शिवराज भूषण' का निर्माण-काल अधिकांश लेखकों ने सं० १७३० वि० माना है, किन्तु दीक्षितजी ने इस ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य से ही यह सिद्ध किया है कि इसमें वर्णित अधिकांश घटनाएँ सं० १७३० के पश्चात् की हैं, अतः इसका निर्माण-काल उक्त संवत् के बाद का होना चाहिए। दीक्षितजी के मतानुसार इसकी रचना सं० १७७३ वि० में हुई थी। 'शिवा बावनी' की रचना 'शिवराज भूषण' से पूर्व की है, इसमें मतभेद नहीं है। इस खण्ड में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत भूषण के काव्य की विस्तृत आलोचना की गई है।

भूषण कवि उस काल में हुए, जो हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'रीति काल' के नाम से प्रसिद्ध है। उस काल के कवियों ने शृङ्गार-रस की रचनाएँ रीतिबद्ध मुक्तक काव्य के रूप में की हैं। भूषण ने अपने काल की धारा के विरुद्ध अपना काव्य वीर-रस में तो लिखा, किन्तु उसका स्वरूप उन्होंने भी रीतिबद्ध मुक्तक काव्य ही रखा। उन्होंने 'शिवराज भूषण' के आरम्भ में लिखा है :

> सिव-चरित्र लखि यों भयौ, कवि भूषन के चित्त।
> भाँति-भाँति भूषननि सों, भूषित करौं कवित्त॥

उन्होंने शिवाजी के चरित्र का कथन अवश्य किया है, किन्तु उनका लक्ष्य अलंकारों का वर्णन करना भी रहा है। सच बात तो यह है कि 'शिवराज भूषण' वीर-रस का अलंकार-ग्रन्थ पहले है, और शिवाजी का चरित्र बाद में। ऐसी स्थिति में भूषण के काव्य की आलोचना करते समय आलोचक को यह बतलाना चाहिए कि कवि अपनी रचनाओं में वीर-रस की निष्पत्ति करने में कहाँ तक सफल हुआ है और उसका अलंकार-वर्णन किस कोटि का है। दीक्षितजी ने वीर-रस के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखा भी है, यद्यपि इसका और भी विस्तृत विवेचन होना आवश्यक था, किन्तु उनका अलंकार-वर्णन तो बहुत ही संक्षिप्त—केवल साढ़े तीन पृष्ठों का ही है।

चतुर्थ संग्रह-खण्ड में भूषण-कृत कतिपय छन्दों का संकलन है। यह संग्रह अधूरा और छोटा है। इसमें संकलित छन्द इस कोटि के नहीं हैं, जिनसे भूषण के काव्य का यथार्थ महत्त्व ज्ञात हो सके। इन छन्दों को पढ़कर पाठक के मन पर भूषण के काव्य की वैसी छाप नहीं पड़ती, जैसी लेखक ने आलोचना-खण्ड में डालने की चेष्टा की है।

भूषण हमारे राष्ट्रीय कवि थे। उनका काव्य कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है, किन्तु दीक्षितजी ने उसके महत्त्व का मूल्यांकन करने में कुछ अतिशयोक्ति से काम किया है। उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि भूषण ने राष्ट्र-निर्माण के उद्देश्य से समस्त भारत में भ्रमण किया

और अपने समय के समस्त हिन्दू राजाओं को संगठित किया। उन्होंने अपने ओजस्वी काव्य से हिन्दू-नरेशों में नई जान डाल दी और उनके द्वारा शक्तिशाली मुगल-शासन का अन्त करा दिया। यह कथन कुछ अंश में सत्य भी है, किन्तु दीक्षितजी ने इसका जिस प्रकार वर्णन किया है, उसमें अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक है।

भूषण के काव्य का महत्त्व बतलाते हुए दीक्षितजी ने संस्कृत और हिन्दी के शृङ्गारी कवियों के साथ-ही-साथ हमारे सन्त और भक्त-कवियों के साथ बड़ा अन्याय किया है। उनका कहना है कि भास, कालिदास, भवभूति और श्रीहर्ष आदि ने तो देश में स्त्रैणता का प्रसार किया ही, तुलसी और सूर आदि ने भी उसी भावना को बल दिया। उनका यह भी मत है कि सन्त-कवियों ने वैराग्य का महत्त्व बढ़ाकर हमारे उत्साह को मन्द कर दिया!! दीक्षितजी का यह कथन कितना लचर है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। तुलसी-सूर का काव्य स्त्रैणता को बल देने वाला और सन्त-कवियों का काव्य उत्साह को मन्द करने वाला बतलाना सरासर भ्रमात्मक है।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी कमी है—भाषा और छापे की अशुद्धियाँ, इसके लिए लेखक और प्रकाशक दोनों उत्तरदायी हैं। यदि प्रकाशक पुस्तक को शुद्ध रूप में प्रकाशित करने की अपनी जिम्मेदारी समझता है, तो उसके द्वारा लेखक की साधारण अशुद्धियाँ भी दूर हो जाती हैं। इस पुस्तक का प्रकाशक शायद इस प्रकार की अपनी जिम्मेदारी का अनुभव नहीं करता है। इसीलिए इस पुस्तक में लेखक और प्रकाशक दोनों की अगणित अशुद्धियाँ भरी पड़ी हैं। पुस्तक के पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि इसके लेखक शुद्ध भाषा लिखने के अभ्यासी नहीं हैं और विरामादि चिह्नों को यथास्थान लगाना तो शायद उन्होंने सीखा ही नहीं। पुस्तक की आरम्भिक अवतरणिका से अन्त तक का कोई पृष्ठ नहीं जिसमें भाषा और छापे की भूलें न हों। दीक्षितजी-जैसे पुराने लेखक की ऐसी भद्दी भाषा देखकर आश्चर्यपूर्ण खेद होता है। इस पुस्तक की ऊबड़-खाबड़ और अस्तव्यस्त भाषा के कुछ उदाहरण हम आरम्भिक पृष्ठों से ही देते हैं :

"यह चन्दबरदाई का रचा एक बहुत बड़ा ग्रन्थ माना जाता है जो कि पृथ्वीराज का दरबारी कवि और मन्त्री था।"[1]

"अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में औरंगजेबी शासन देश में प्रतिष्ठित होता है इसकी शासन-प्रणाली अपने पूर्वजों से भिन्न थी अतः हिन्दुओं, शिया मुसलमानों और परिवार वालों पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये थे।"[2]

"इसीलिये हम इस महाकवि की रचना का गम्भीर अध्ययन करना चाहिये तभी हमें आगे बढ़ने के लिये पथ पा सकते हैं।"[3]

"इनके पिता रत्नाकर बड़े ही सात्विक ब्राह्मण और तपस्वी वृत्ति से समय यापन करते थे।"[4]

"अन्त में जब कोई उपाय चलता न देखकर भूषण महाकवि से सहायता की

१. अवतरणिका, पृष्ठ ४।

२. अवतरणिका, पृष्ठ ८।

३. विषय-प्रवेश, पृष्ठ ९।

४. पृष्ठ १२।

याचना की।"[१]

"परन्तु अब तक इनके संबंध के कोई छन्द प्राप्त नहीं हो सका है और न उक्त सुरकी विषयक छन्दाँशाही पूरा हो पाया है।"[२]

"कवि ने देह के नाशवान की चर्चा करते हुए पुनर्जन्म में किस रूप में रहें इसकी चिन्ता त्यागकर इससे उत्कृष्ट रूप और परोपकार में संलग्न रहने की शिक्षा दी है।"[३]

"कुछ तथ्य निर्णयात्मक रूप में पाठकों एवं साहित्यिकों के सन्मुख रखी जा सकी हैं।"[४]

पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों के उपयुक्त नमूनों से यह सिद्ध है कि इस पुस्तक की भाषा कितनी अनगढ़, व्याकरण-विरुद्ध और विरामादि चिह्नों से रहित है। इसमें अनेक शब्दों का किस प्रकार अशुद्ध प्रयोग हुआ है, इसके उदाहरण के लिए आरम्भिक 'विषय-प्रवेश' के पृष्ठ १ में 'कलुषितपूर्ण' शब्द द्रष्टव्य है। इसमें छापे की अशुद्धियों के कारण अनेक शब्द किस प्रकार भ्रष्ट हो गए हैं, इसके उदाहरण के लिए केवल दो शब्द दिये जाते हैं। पृष्ठ ३ में 'संस्करण' के स्थान पर 'संस्करक्ष' और पृष्ठ ३५ में 'पेशवा' के स्थान पर 'पेशाव' छपा है!

पुस्तक के अन्तिम खण्ड में दिये हुए काव्य-संकलन में भी अनेक त्रुटियाँ हैं। इसका पाठ अशुद्ध है और इसमें सुसम्पादन का अभाव है। इसकी अपेक्षा 'भूषण-ग्रन्थावली' का पाठ अधिक शुद्ध और सुसम्पादित है। उक्त पुस्तक को श्री व्रजरत्नदास जी ने प्रस्तुत पुस्तक से प्रायः तेईस वर्ष पूर्व प्रकाशित कराया था। श्री दीक्षितजी व्रजभाषा के विद्वान और भूषण के विशेषज्ञ हैं। यदि वे चाहते तो थोड़े परिश्रम से ही भूषण के काव्य को सुसम्पादित रूप में प्रकाशित करा सकते थे। हमको खेदपूर्वक लिखना पड़ता है कि इस पुस्तक की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों और छापे की अशुद्धियों ने दीक्षितजी की पुस्तक के महत्त्व को मिट्टी में मिला दिया है। हम चाहते हैं कि इसके आगामी संस्करण में ये त्रुटियाँ दूर की जायँ, ताकि यह पुस्तक अपना उचित महत्त्व प्राप्त कर सके।[५]

डॉक्टर आद्याप्रसाद मिश्र

विश्वधर्म-दर्शन पर एक दृष्टि

इस अत्यन्त उपादेय विषय पर हिन्दी में अभी बहुत कम ग्रन्थ प्राप्त हैं। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ मूल्यवान है और एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है। सुन्दर तथा उपादेय होने के साथ ही

१. पृष्ठ ३६।
२. पृष्ठ ४१।
३. पृष्ठ ६६।
४. पृष्ठ ७२।
५. 'महाकवि भूषण', लेखक—डॉ० भगीरथप्रसाद दीक्षित, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

विषय के अत्यन्त व्यापक होने के कारण यह भय भी था कि कहीं इसका कोई उपादेय अंग छूट न जाय। मेरा निष्पक्ष मत है कि विद्यानुरागी लेखक के महान् अध्यवसाय एवं उन्हींके शब्दों में उनकी 'मधुमक्षिका वृत्ति' ने प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में उस भय को सत्य नहीं होने दिया। धर्म युगयुगान्तर में बदलते हुए स्वरूपों में समन्वय स्थापित करने के लिए समय-समय पर उसके अभिनव व्याख्यान के जितने भी प्रयास विभिन्न वादों, मतों एवं विचार-धाराओं के आरम्भ के रूप में प्राचीन काल से लेकर अब तक हुए हैं, उन सबका इतिहास इसमें प्रस्तुत है। आठवें खण्ड के 'भारतीय संस्कृति के उन्नायक' नामक तीसरे परिच्छेद में योगी अरविन्द तथा महर्षि रमण इत्यादि के विचारों का, जिनसे अभी तक बहुत कम लोग परिचित हैं, सङ्कलन करने के लिए लेखक महोदय हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

पर इन गुणों एवं विशेषताओं के होते हुए भी इस ग्रन्थ में अनेक दोष हैं जिनको दूर किये बिना यह उतना आकर्षक और मनोहारी नहीं होगा जितना अन्यथा इसे होना चाहिए। हम नीचे कुछ मुख्य दोषों का दिग्दर्शन-मात्र कराएंगे क्योंकि समस्त दोषों का सविस्तर वर्णन न तो सम्भव ही है और न अपेक्षित ही। यह दिग्दर्शन भी दोषोद्भावना की दृष्टि से नहीं, अपितु इस अन्यथा उपादेय ग्रन्थ के दोषों के परिहार द्वारा इसे और भी उपादेय एवं लोकोपयोगी बनाने में सहायक होने की भावना से किया जा रहा है। इन पंक्तियों के लेखक की यह प्रिय अभिलाषा है कि यह आलोचना इसी रूप में ग्रहण की जाय, आक्षेपोक्ति के रूप में नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'विश्वधर्म-दर्शन' है और इसमें धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त अर्थ-शास्त्र, संगीत-शास्त्र, गणित-शास्त्र, आयुर्वेद तथा धनुर्वेद इत्यादि से सम्बद्ध साहित्यों की भी चर्चा की गई है। परन्तु इनका प्रस्तुत ग्रन्थ से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता। फिर यह विषयान्तर लगता है, यद्यपि बात वस्तुतः ऐसी है नहीं। अतएव ग्रन्थारम्भ में 'धर्म' की वह व्यापक व्याख्या प्रस्तुत होनी चाहिए थी जिसको मन में रखकर लेखक ने उनका यहाँ समावेश किया है और ठीक ही किया है। वैसे, इन विषयान्तर लगने वाले विषयों का समावेश न होने पर भी 'धर्म-दर्शन' की पुस्तक में 'धर्म' के विषय में बिना कुछ कहे 'सिन्धु घाटी की सभ्यता' से ग्रन्थ का आरम्भ न जाने कैसा अजीब-सा लगता है।

ग्रन्थ की विषय-सूची तो बड़ी ही आकर्षक और सुन्दर है पर ग्रन्थ पढ़ जाने पर अनेक स्थलों में ऐसा लगा जैसे विषय का यथेष्ठ—यद्यपि संक्षिप्त और निश्चयात्मक—वर्णन करना उतना अभीष्ट नहीं है जितना खानापूरी करना। प्रायः ग्रन्थ सूच्यात्मक ज्ञान देने तक ही सीमित रहा है। इसके कारण कहीं-कहीं भाव स्पष्ट होने के बदले और भी उलझ गए हैं। माना कि विषय की व्यापकता और विविधता तथा स्थानाभाव के कारण बहुत-सी बातें सविस्तर नहीं दी जा सकतीं पर हमारी दृढ़ धारणा है कि ग्रन्थ का आकार बिना बढ़ाये हुए भी बहुत सी मोटी-मोटी बातें स्पष्ट ढंग से कही जा सकती थीं; पर अनवधानवश अथवा आवश्यक-अनावश्यक का पूर्ण तथा स्पष्ट विचार न होने से नहीं कही जा सकीं। हम दो ही तीन स्थल दिखाकर सन्तोष करेंगे।

उपनिषदों के वर्णन में ईशोपनिषद् के अत्यन्त प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण होने पर भी उसका जितना विस्तार दूसरों की उपेक्षा करके किया गया है, वह उचित नहीं जान पड़ता। प्रश्नोपनिषद् के प्रश्नों को दुहराने में आधा पृष्ठ लगा दिया गया है पर उनके उत्तर में—जिनके कारण ही उन प्रश्नों की भी सार्थकता होती—चार पंक्तियाँ भी नहीं लिखी गई। प्रश्नों के

देने-भर से पाठक का क्या लाभ हुआ ? तैत्तिरीय-जैसे महत्त्वपूर्ण उपनिषद् के सम्बन्ध में कुल चार पंक्तियाँ लिखी गईं और उनमें भी दिये गए तथ्य गलत हैं, जैसे उसके शिक्षावल्ली और ब्रह्मानन्द बल्ली नामक दो ही भाग बताये गए हैं, पर उसका भृगुवल्ली नामक एक तीसरा भी भाग है। जितने स्थान में केन, तैत्तिरीय, ऐतरेय तथा माण्डूक्य—चारों का वर्णन समाप्त कर दिया गया है, उतने में प्रश्न के प्रश्नों-भर का उल्लेख किया गया है। उपनिषद्-जैसे संस्कृतवाङ्मय के अद्भुत साहित्य और विश्व के सर्वोच्च दर्शन-ग्रन्थों का प्रायेण नामोल्लेखात्मक विवरण छिछला और हल्का प्रतीत होता है। इसी प्रकार जैन-दर्शन की जीव-विषयक सबसे मोटी बात है उसका जीव को शरीर-परिणामी अर्थात् प्रदीपवत् संकोच-विकासशील बताना; जहाँ शाङ्करमत में जीव विभु तथा वैष्णवमतों में अणु है, वहाँ जैनों का जीव मध्यम परिमाण वाला है। पर इतनी मोटी तथा प्रधान बात का उल्लेख तक नहीं किया गया, जब कि जीव ही समस्त दर्शनों के विचार का मूलाधार है। आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल, अस्तिकाय और अनस्तिकाय-जैसे विशिष्ट अर्थ वाले शब्दों को तो बिना कुछ समझाए छोड़ ही दिया गया है जब कि जैनों की आकाश, धर्म इत्यादि की कल्पना एतद्विषयक अन्य मतों की सामान्य कल्पना से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के वर्णन में जहाँ कणाद के अनुसार अन्तःकरण की शुद्धि के लिए धार्मिक बनना आवश्यक बताया गया, वहाँ उनके द्वारा दी गई धर्म की परिभाषा—जो सम्भवतः 'धर्म' की भारतीय व्याख्याओं में सर्वव्यापक अतश्च सर्वश्रेष्ठ है—देने का कष्ट ही नहीं किया गया। इन वर्णनों में कई स्थलों में कोई विशेष संख्या और क्रम भी नहीं दीख पड़ता। जैसे इस वैशेषिक के ही वर्णन में संयोग के बाद बुद्धि के दो भेद दिये गए हैं। इन दोनों में क्या पौर्वापर्य है, यह समझ में न आया। फिर ये दो ही विषय उल्लेख के लिए क्यों चुने गए ? इनसे अधिक महत्त्वपूर्ण बातें कहने को थीं।

इस सूच्यात्मक वर्णन से जो मन को परितोष नहीं होता वह तो अलग, इन गूढ़ विषयों के अपर्याप्त या अधूरे उल्लेखों से भ्रम भी पैदा होते हैं। जैसे पृष्ठ २८४ पर आचार्य रामानन्द के मत का जो वर्णन दिया गया है, वह जितना है उतना तो ठीक है पर पर्याप्त नहीं, क्योंकि उससे भ्रम को आश्रय मिलता है। रामानुजी वैष्णवों की भाँति रामानन्द को भी तुलसी शालग्राम आदि पर श्रद्धा तथा पृथक् अथवा युगल मूर्त्ति की आराधना इत्यादि करने वाला कहा गया है। पढ़कर कुछ इस प्रकार की धारणा होती है कि दोनों सम्प्रदायों में कोई भेद नहीं है, और है भी तो महत्त्वपूर्ण नहीं; पर बात ऐसी नहीं है। रामानन्द ने निर्गुण और सगुण दोनों ही पक्ष माने हैं। सरल तथा सर्वसाधारण के लिए सुगम होने से सगुण को प्रधानता अवश्य दी है पर निर्गुण का निराकरण या प्रत्याख्यान नहीं किया है। इसीलिए जहाँ उनके अनुयायी कबीर-जैसे 'निर्गुनी' सन्त हैं, वहाँ सम्पूर्ण रामानन्दी सम्प्रदाय सगुणवादी है। इस प्रकार उनके मत में निर्गुण और सगुण अथवा ज्ञान और भक्ति का भागवत-जैसा समन्वय मिलता है। इसीलिए एकमात्र गोस्वामी तुलसीदास ही रामानन्दी विचारधारा के सच्चे प्रतिनिधि हैं। इसके विपरीत रामानुज कट्टर सगुणवादी हैं। उनकी विचार-धारा में निर्गुण को कोई स्थान प्राप्त नहीं है, उनका निर्गुण भी सविशेष और शरीरी है। इसी प्रकार पृष्ठ १५८ पर बौद्ध-दर्शन के निर्वाण को नित्यानन्द रूप कहा है और आगे पृष्ठ १५६ पर माध्यमिक बौद्धों के वर्णन में निर्वाण को शून्यरूप कहा है। इस प्रकार एक ही निर्वाण के सम्बन्ध में दो विरोधी बातों का उल्लेख भर-करके छोड़ दिया गया है। फिर पृष्ठ २१५ तथा २१६ पर तन्त्रों के पञ्चमकारों के विषय में दो विरोधी विचार उल्लिखित हैं। पहले

में मद्यादि को बाह्य माना है पर इनके प्रयोग का लक्ष्य भौतिक तथा लौकिक आनन्द न मानकर परमानन्द माना है, और दूसरे में इन्हें बाह्य न मानकर प्रतीकात्मक माना है। सामान्य पाठक ऐसे विरोधी विचारों में उलझकर निश्चय नहीं कर पाता कि दोनों में कौनसा सत्य है और किसमें आस्था दृढ़ की जाय। दो विभिन्न तथा विरोधी विचारों अथवा मतों को एकत्र रख देने-भर से किसी समन्वयात्मक दृढ़ सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती जो इस जैसे ग्रन्थों का प्रायः लक्ष्य होता है और होना भी चाहिए।

कहीं-कहीं तो लेखक ने ऐसी बातें लिखी हैं जो सर्वथा अपार्थक और भ्रममूलक ही कही जायँगी, जैसे सांख्य के वर्णन में पृष्ठ १६६ पर तत्त्वों की संख्या पचीस बताई गई है और ये तत्त्व प्रकृति, पुरुष, महत् इत्यादि क्रम से कहे गए हैं। यह सर्वथा असत्य है। सांख्य वस्तुतः दो ही तत्त्व मानता है, पचीस नहीं। पचीस संख्या तो उसने 'तत्त्व' की थोड़ी व्यापक दृष्टि रखकर कही है क्योंकि इन दोनों के अतिरिक्त जो तेईस अवान्तर तत्त्व हैं, वे वस्तुतः प्रकृति के ही विकार हैं, उनसे पृथक् नहीं। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ के वर्णन से ये पचीसों सर्वथा स्वतन्त्र लगते हैं जो स्पष्ट ही भ्रम है। फिर प्रकृति के अनन्तर महत्, अहङ्कार इत्यादि को न देकर पुरुष को और उसके बाद महदादि को देने से यह भ्रम और भी दृढ़ होता है। यद्यपि पृष्ठ १६८ पर अन्त में "यह दर्शन द्वैतमत का प्रतिपादन करता है। प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व हैं जिनके परस्पर सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव होता है"—ऐसा लिखा है, पर यह वाक्य पूर्वकथन से बहुत दूर तथा पृथक् आने से उपर्युक्त भ्रम को दूर करने में विशेष समर्थ नहीं है और फिर 'एक तो तितलौकी दूजे नीम चढ़ी' उक्ति के अनुसार इस वाक्य के आगे ही पृष्ठ १६६ पर 'योगदर्शन' के वर्णन में "पतञ्जलि ने भी कपिल के समान ही पचीस 'मूल तत्त्व' स्वीकार किये हैं"—ऐसा लिखा है। इससे यह भ्रम दूर होने के बदले और भी दृढ़ हो जाता है। उपर्युक्त वाक्य में 'मूल' शब्द नहीं आना चाहिए था। यह बड़ा अनर्थकारी है।

सिद्धान्त-विषयक उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे दोष हैं जो दृष्टि-भेद या विचार-वैषम्य के कारण हुए हैं। वस्तुतः इन्हें दोष न कहकर मत-वैषम्य ही कहना चाहिए, पर दोष कहने के लिए हम बाध्य इसलिए हैं कि किसी भी विवादास्पद महत्त्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में एकदेशीय या एकाङ्गीय मत देकर अन्य समानरूपेण महत्त्वपूर्ण मतों की उपेक्षा करना—उल्लेख तक न करना—लेखक को पाठक की दृष्टि में पक्षपातपूर्ण और सदोष ठहराता है। पृष्ठ ४३ पर व्याकरण के विषय में लिखते हुए लिखा गया है कि "पाणिनि के आरम्भ के पहले चौदह सूत्र माहेश्वर सूत्र कहे गए हैं। इससे सहज ही यह अनुमान होता है कि माहेश्वर सूत्र भी किसी और व्याकरण के ही सूत्र होंगे।" पर क्या इन सूत्रों के माहेश्वर सूत्र होने से यह भी अनुमान उतनी ही सहज रीति से नहीं होता कि ये सूत्र पाणिनि को भगवान् महेश्वर (शिवजी) की कृपा से प्राप्त हुए थे जैसी कि वैयाकरणों में पूर्व-प्रचलित परम्परा भी है। क्या कात्यायन, पतञ्जलि, कैय्यट, वामन, जयादित्य आदि किसीको भी उपर्युक्त परम्परा की असत्यता ज्ञात न हो सकी जो अब आविष्कार की जा रही है? इस प्रकार परम्परा परिपुष्ट होने से तो दूसरा ही अनुमान प्रबलतर जान पड़ता है। पर इसका उल्लेख तक भी नहीं किया गया। यही बात पृष्ठ १६ तथा २८ पर वैदिक देववाद, पृष्ठ ३६४ पर वर्ण तथा अस्पृश्यता आदि, एवं अन्यत्र राम और कृष्ण के ऐतिहासिकत्व और उनके विष्णुत्व आदि के विषय में प्रकट किये गए विचारों के

सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि लेखक अपने स्वतन्त्र विचार न प्रस्तुत करे। इसके विपरीत हमारा तो दृढ़ मत है कि जो स्वतन्त्र विचारक नहीं, वह उत्कृष्ट लेखक ही नहीं, पर ये स्वतन्त्र विचार समस्त युक्तियों के साथ दिये जाने चाहिएं और साथ ही यदि अन्य सभी विरोधी मत नहीं तो कम-से-कम एक-दो मुख्य मतों को भी, विशेषकर जो परम्परा से प्रचलित हैं, देना चाहिए और थोड़ा साहस करके उनके द्वारा प्रस्तुत तर्कों तथा युक्तियों को भी काटना चाहिए।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त भाषा-सम्बन्धी भी कई दोष यत्र-तत्र हो गए हैं। वाक्य कई स्थलों पर लद्धड़ तथा शिथिल और कहीं-कहीं पर अशुद्ध भी आये हैं। शब्द भी अशुद्ध हैं, जो सम्भवतः छपाई की अशुद्धि के कारण हैं। गृहासक्ति के लिए गृहाशक्ति (पृष्ठ ३००), श्वेताश्वतर के लिए श्वेताश्वेत (हो सकता हो यह ठीक हो पर ऐसा नाम कहीं देखा हो, ऐसा स्मरण मुझे नहीं है पर ठीक भी हो तो जो अधिक प्रचलित शब्द हैं, उनका प्रयोग ही अधिक उचित होता है) तथा चरित के अर्थ में 'चरित्र' इत्यादि अशुद्ध हैं।

यदि विचारपूर्वक पढ़कर इनमें कुछ उचित लगने वाले दोषों का परिहार किया जा सका तो अपने अगले संस्करण के अनन्तर यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में अमूल्य कृति होगा। ऐसे ग्रन्थ की रचना के लिए हम लेखक को पुनः धन्यवाद देते हैं।[1]

केशवचन्द्र वर्मा

हमारे साहित्य में हास्यरस

हिन्दी में हास्यरस पर अब तक एक परिचयात्मक पुस्तक की जो कमी अनुभव की जा रही थी, किसी सीमा तक प्रस्तुत रचना उस अभाव को दूर कर सकने में समर्थ सिद्ध हुई है। इस दृष्टिकोण से पुस्तक न केवल अन्यतम है, वरन् उपयोगी भी है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि, चूँकि आलोचक स्वयं हास्यरस के कवि हैं, (जैसा कि परिशिष्ट के उनके अपने संकलन से स्पष्ट होता है) सारी आलोचना बातचीत के लहजे में लिखी गई है और उसकी जटिलता एवं हास्य-सिद्धान्तों का दुरूह प्रतिपादन हास्ययुक्त भाषा और छोटे-छोटे चुटकुलों के माध्यम से सहज ही ग्राह्य बना दिया गया है।

पूरी पुस्तक का विभाजन सात फाटकों के अन्तर्गत हुआ है जिनमें भाषा की उत्पत्ति, साहित्य, काव्य और रस आदि के निरूपण, हास्य और उसका प्रयोग, हास्य के रूप, हास्य में भ्रम या धोखा, हिन्दी में हास्य का विकास आदि का संक्षिप्त उल्लेख है। आलोचक ने उर्दू के हास्य-व्यंग को हिन्दी-साहित्य का अविच्छिन्न अंग मानते हुए उसका भी विशद विवेचन किया है और उर्दू तथा हिन्दी के गद्य व पद्य लेखकों का जीवन-परिचय तथा उनकी व्यंग कृतियों के विषय में चर्चा की है।

इस ग्रन्थ की उपयोगिता इस दृष्टि से अधिक है कि जिन लेखकों की चर्चा की गई है,

---

१. लेखक—श्री सांवलिया बिहारीलाल वर्मा, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

उनकी प्रायः एकाध संक्षिप्त कृतियों का भी उदाहरण प्रस्तुत कर दिया गया है जो कि पाठकों को न सिर्फ आलोचना की बोझिल एकरसता से बचाती हैं बल्कि उन्हें आलोचक के वक्तव्य को कसने वाली कसौटी भी साथ ही मिल जाती है। उर्दू और हिन्दी के तमाम हास्य-व्यंग लिखने वाले लेखकों का पूरा ब्यौरा एक साथ उपस्थित करने का यह निश्चित ही स्तुत्य प्रयास है।

दो-एक शब्द इसके बारे में और। पुस्तक में हिन्दी की आधुनिकतम हास्य-व्यंग की प्रवृत्तियों का उल्लेख नहीं के बराबर है। इसके अतिरिक्त आलोचक की सूची से कई प्रमुख हास्य-लेखक छूट भी गए हैं जिनमें बिहार के श्री राधाकृष्ण का नाम उल्लेखनीय है। भाषा की दृष्टि से भी कहीं-कहीं चूक हो गई है जिसे यदि सँवार लिया गया होता तो अच्छा होता। पुस्तक साफ़ छपी है, फिर भी टाइप सुथरे नहीं हैं और कहीं-कहीं तो प्रूफ की बड़ी भ्रष्ट ग़लती भी हो गई है। पुस्तक के अन्त में यदि लेखक अपनी कृतियों का संकलन न देता, तो भी कोई विशेष हानि नहीं थी। वैसे मुखपृष्ठ की कवर डिजाइन का परिवर्तन यदि होता तो सम्भव है इस पुस्तक का 'गेट-अप' भी अधिक सुरुचिपूर्ण हो जाता।

पुस्तक के अन्त में तीन-चार पृष्ठों का एक शब्दकोष भी दिया हुआ है जो उर्दू न जानने वाले पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।[1]

माया भटनागर

कवि आरसी की काव्य-साधना

'कवि आरसी की काव्य-साधना' के लेखक श्री प्रताप साहित्यालंकार ने पुस्तक में कवि की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्यात्मक आलोचना की है। इसके अतिरिक्त कवि के विचार-सौन्दर्य, कला-नैपुण्य और कवि द्वारा रचित बाल-साहित्य की विशिष्टताओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। कवि की प्रगतिवादी रचनाओं के महत्त्व का निरूपण पूर्ण तत्परता से किया गया है, अतः इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इस आलोचनात्मक कृति से कवि आरसी की विविध काव्य-कृतियों और विचार-सरणियों का ज्ञान पाठक को प्राप्त हो जाता है।

नवीन कवियों की कृतियों की आलोचना प्रायः दो उद्देश्यों से की जाती है—प्रथम सहानुभूतिपूर्ण आलोचना द्वारा कवियों को प्रोत्साहित करना, द्वितीय उसकी रचनाओं में पाठकों की अभिरुचि जाग्रत करना। कवि आरसी के सहानुभूतिशील आलोचक का उद्देश्य इससे इतर प्रतीत नहीं होता। प्रथम उद्देश्य की सफलता के सम्बन्ध में तो कवि ही बता सकता है कि उसे अपनी इस आलोचना से कितना प्रोत्साहन और सन्तोष प्राप्त हुआ है। पुस्तक के दूसरे उद्देश्य की सफलता में कुछ बाधाएँ स्पष्ट हैं।

कवि की काव्य-प्रवृत्तियों और विचारशीलता की जैसी व्याख्या की गई है, उससे पाठक के मन में कवि के प्रति भ्रामक धारणा उपजने की बहुत सम्भावना है। पुस्तक पढ़कर यही लगता है कि कवि, जैसे युग के सभी प्रवाहों में बहकर, सभी स्वरों में स्वर मिलाकर अथवा सामयिक

१. लेखक—कृष्णकुमार श्रीवास्तव, प्रकाशक—कृष्णकुञ्ज, फ़ैजाबाद।

प्रबल स्वर का सहयोगी बनकर अपना कवि-धर्म निभा रहा है। जैसे उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति में निजत्व की कहीं कोई स्पष्ट छाप ही न हो। मानो उसकी सम्पूर्ण साधना का यही रूप है—यही विशिष्टता। आलोचक, कवि की स्वानुभूति से अनुप्राणित अभिव्यंजना की विशिष्टता को बहुत कम स्पष्ट कर सका है। कवि के विचार-सौन्दर्य और प्रगतिवादिता के महत्त्व का प्रतिपादन जितनी तत्परता से किया गया है, उतनी तत्परता से कवि की अनुभूति-प्रवणता का निरूपण नहीं हो सका है। इसके अतिरिक्त कवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण धारणा बनने का एक और भी कारण है। विज्ञ आलोचक ने कवि के नितान्त विरोधी विचारों की व्याख्या तो की है किन्तु इसके कारण का विश्लेषण करके किसी प्रकार का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है। किसी कवि की रचनाओं में दो नितान्त विरोधी विचारों का समर्थन न तो अस्वाभाविक ही होता है, न एकदम अनुचित ही। यह तो ठीक है कि कवि की कृतियों में इसी रूप में दोनों विरोधी बातों को स्थान मिला है। किन्तु क्या यही बात कवि की अस्थिर विचार-वृत्ति—अथवा निजत्व-हीन—प्रभावशील प्रकृति की सूचक नहीं, जो सामान्य पाठक की दृष्टि में अश्रद्धा का कारण बन सकती है? इसीलिए कवि के ऐसे विरोधी विचारों का व्याख्यात्मक परिचय देना ही पर्याप्त नहीं होता; इस विरोध के अन्तर्भूत कारण को भी समझना-समझाना चाहिए। यदि कवि आरसी के आलोचक ने कवि की इस विरोधात्मक विचारशीलता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उसके विचारों के विकास-क्रम का निरूपण किया होता तो पाठक के हृदय से कवि के प्रति उठने वाली अश्रद्धा का निराकरण होना सहज होता। कवि की रचनाओं में पाठकों की रुचि को सजग बनाये रखने के लिए, कवि की विचारशीलता और विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या से अधिक उसकी भाव-प्रवणता और अनुभूति-सजगता का विशदीकरण आवश्यक होता है, जिसका 'कवि आरसी की काव्य-साधना' में अभाव तो नहीं, पर कमी अवश्य है। कवि की अनुभूति-प्रवणता में यदि स्वानुभूति का बल है तो, चाहे शुद्ध अध्यात्मवादी तथ्य से अनुप्राणित हो, या घोर भौतिकतावादी सत्य से, वह सहृदय को सहज ही प्रभावित करेगी। स्वानुभूति सफल काव्य की अमर चेतना है जिसकी कुशल अभिव्यंजना में अनुरंजनकारी गुण स्वतः विराजता है। अतः आलोचक को कवि की रचनाओं के ऐसे स्थलों को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए। आलोचक ने कवि के इस पक्ष के स्पष्टीकरण की ओर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया है। फलस्वरूप पाठक की अभिरुचि कवि की विभिन्न कृतियों की सतह पर उतरकर भटक-सी जाती है। अतः अभिप्रेत उद्देश्य की सिद्धि कठिन-सी हो गई है। फिर भी कवि की प्रमुख प्रवृत्तियों के सामान्य परिचय की दृष्टि से यह पुस्तक उपयोगी है। लेखक की भाषा सरल तथा शैली सुबोध है।[1]

---

१. लेखक—प्रताप साहित्यालंकार, प्रकाशक—तारा मण्डल, पटना।

परिचय

देश की हत्या

लेखक — गुरुदत्त, प्रकाशक — भारतीय साहित्य सदन, नई दिल्ली।

इस उपन्यास का कथानक १९४७ के देश-विभाजन पर आधारित है। लेखक ने उस समय की अनेक घटनाओं को लेकर उनकी विवेचना तथा विश्लेषण किया है। वह पहले गांधीवाद का प्रशंसक था। किन्तु पिछले लगभग तीस वर्षों का राजनीतिक इतिहास, लेखक की दृष्टि में, इस बात का साक्षी है कि गांधीजी तथा उनके नेतृत्व में कॉंग्रेस की सभी नीतियाँ देश के लिए हितकर सिद्ध नहीं हुईं। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य-सम्बन्धी नीति ऐसी ही है जिसके बारे में देश के विद्वानों में काफ़ी मत-भेद है। पिछले लगभग पचास वर्षों का इतिहास यह बतलाता है कि किसी-न-किसी प्रकार अल्प-संख्यकों के साथ रियायत करके देश में स्वतन्त्रता-संग्राम के लिए एक संयुक्त मोर्चा तैयार किया जाता था। इस नीति के फलस्वरूप बहुसंख्यकों के हितों को आघात भी पहुँचा। यही दृष्टिकोण देश के विभाजन के समय था और इसी दृष्टिकोण ने वह विषम और दूषित वातावरण उत्पन्न किया जिसमें गांधीजी की हत्या का जघन्य कार्य किया गया। श्री गुरुदत्त ने अपने इस उपन्यास के 'पाप का प्रायश्चित', 'डायरेक्ट एक्शन लाहौर में', 'जौहर', 'प्रतिकार', 'भारत की ओर प्रयाण' और 'हत्या' नामक परिच्छेदों में मुस्लिम लीगी और कॉंग्रेसी नीति के फलस्वरूप उत्पन्न भीषण आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों तथा घटनाओं का चित्रण प्रस्तुत किया है और अपनी दृष्टि से उनकी समीक्षा की है। हम उनके मत और निष्कर्षों से असहमत हैं, किन्तु उपन्यास भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिए प्रेरणा देता है। इस समस्या से बचने या उसे टाल देने से काम नहीं चल सकता। प्रस्तुत उपन्यास भविष्य के इतिहास-लेखकों के लिए बहुमूल्य सामग्री संकलित करता है। भले ही हम लेखक के दृष्टिकोण और समस्या के विश्लेषण से सहमत न हों, उसका यह उपन्यास आधुनिक काल के इतिहास के लिए निश्चित रूप से उपयोगी सिद्ध होगा।

पंजाब के भीषण नर-हत्या-काण्ड के बीच चेतनानन्द, महेश, पार्वती, रामचन्द्र राव, नीना, राधा, जगदेवसिंह आदि वे आदर्श स्त्री-पुरुष हैं जिन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगाकर पीड़ित मानवता की सहायता की थी। कॉंग्रेस की 'दब्बू नीति' की परवाह न करते हुए उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया। उपन्यास में वर्णित प्रेम लोक-सेवा के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। चेतनानन्द तथा उसके साथियों को इतिहास स्मरण करेगा। प्रस्तुत

उपन्यास का निस्सन्देह ऐतिहासिक महत्त्व है। लेखक ने उसके कलात्मक पक्ष की ओर और ध्यान दिया होता तो अच्छा था। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है, किन्तु 'मैंने जाना है' जैसे प्रयोग हिन्दी की दृष्टि से अशुद्ध हैं।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

राधा और राजन

लेखक—बलभद्र ठाकुर, प्रकाशक—ग्रामोत्थान विद्यापीठ, संगरिया।

इस उपन्यास का राजनीतिक के साथ सांस्कृतिक महत्त्व भी है। राजन विदेशी शासन-सत्ता को मिटाने के लिए अपने प्राणों की आहुति देने वाला देश-भक्त है। उपन्यास-घटना-काल सन् १९२६ से सन् १९४० के बीच का है। राजन कुरूप है, किन्तु वह मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति है। राजनीतिक दृष्टि से गान्धीजी के आन्दोलन में भाग लेने पर भी वह अहिंसावादी नहीं है। सांस्कृतिक दृष्टि से वह भारतीय रीति-नीति, आचरण, सहज-सरलता आदि का पक्षपाती है, किन्तु वह पोंगा-पन्थी नहीं है और हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव का हामी नहीं है। काशीनाथ और राधा के साथ उसकी घनिष्ठता है, तो रहीमखाँ तथा उसके परिवार को वह अपना ही परिवार समझता है। आगे चलकर राजन एक समाज की स्थापना करता है। समाज में 'पोंगापन्थी के लिए गुन्जाइश नहीं। न वह आर्य-समाज है, न देव-समाज और न अग्नि-समाज। वह तो केवल 'समाज' है—मानव-मात्र का समाज। जाति-धर्म की सीमाओं से परे भावी समाज का एक आदर्श-मात्र।' समाज का आदर्श है—'अपने-अपने व्यक्तित्व में बँधे रह कर भी अपने समस्त स्वार्थ को समाज के हित पर उत्सर्ग कर देना।' यह आदर्श कम्युनिस्ट लेखकों के लिए सोचने की प्रेरणा दे सकता है। राज-सत्ता का प्रहार सहन करके वह फाँसी के तख्ते पर झूल जाता है। वह मनुष्य की तरह जिया और मनुष्य की तरह मरा।

लेखक का दृष्टिकोण आदर्शवादी है—सभी विचारधाराएँ अन्तिम परिणाम की दृष्टि से आदर्शवादी होती हैं। किन्तु उसने समाज का जो आदर्श पाठकों के सामने रखा है वह आज की दो विचारधाराओं के संघर्षपूर्ण वातावरण में विचारणीय है। सांस्कृतिक दृष्टि से लेखक ने यूरोपीय रहन-सहन, रीति-रस्म और आचार-विचारों का खोखलापन, उनकी कृत्रिमता आदि का चित्रण किया है—काशीनाथ, लूथरा आदि के माध्यम द्वारा। लेखक के अनुसार राधा और काशीनाथ अन्त में उस कीचड़ से निकल आते हैं। किन्तु लेखक का यह दृष्टिकोण विवादास्पद है।

कला की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास भी श्रेष्ठ रचना नहीं है। भाषा शिथिल और कथोपकथन अनावश्यक रूप से विस्तृत है। कहीं-कहीं तो अनावश्यक बातों का भी वर्णन कर दिया गया है। आर्य-समाज और बौद्ध-धर्म की आलोचना करते समय लेखक को कुछ और संयम से काम लेना चाहिए था। अन्त में एक असंगति की ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। 'निवेदन' में उपन्यास का घटना-काल १९२६ और १९४० के बीच का बताया गया है। किन्तु पृष्ठ ४४ पर उसने 'हिन्दुस्तान के दो टुकड़े' हो जाने तथा तत्सम्बन्धी कुछ बातों का उल्लेख किया है। अगले संस्करण में इस दोष का निवारण हो जाना चाहिए।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

भारतेन्दु कृत चन्द्रावली नाटिका

सम्पादक—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, प्रकाशक —विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।

श्री 'चन्द्रावली नाटिका' भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की एक मौलिक अमर रचना है। प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन हिन्दी के एक सुयोग्य एवं अधिकारी विद्वान् डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने किया है। सम्पादक महोदय ने आरम्भ में ४० पृष्ठों की भूमिका में नाटिका-सम्बन्धी विविध समस्याओं पर विद्वत्तापूर्वक पर्याप्त प्रकाश डाला है। भूमिका के उपरान्त नाटिका का अविकल मूल पाठ दिया गया है। अन्त में क्लिष्ट शब्दों के अर्थों की एक टिप्पणी जोड़ दी गई है, जिससे नाटिका साधारण पाठक के लिए भी अधिक बोधगम्य हो गई है।

—डॉक्टर टीकमसिंह तोमर

शिवालक की घाटियों में

लेखक—विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार, प्रकाशक —आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

श्री निधिजी आरण्यक संघ के प्रमुख मेम्बर हैं। निधिजी ने देहरादून के आस-पास स्थित 'शिवालक की घाटियों में, जो कुछ घूम-घामकर देखा तथा अनुभव किया है वही इस पुस्तक का वर्ण्य विषय है। ये निबन्ध बड़े ही रोचक, रोमांचकारी तथा भावपूर्ण हैं। शैली के निखार के कारण ये निबन्ध यात्रा-साहित्य की हृदयग्राही स्थायी सम्पत्ति हैं। लेखक ने सच्चे यायावर के रूप में जंगल के सौन्दर्य और उसके जीवन के उल्लास का आनन्द रसग्राही बनकर ग्रहण किया है। वन-जीवन के प्रति अडिग विश्वास के साथ लेखक कहता है—"हमें वनों को संसार की दिव्यतम विभूति मानकर ही उनमें प्रवेश करना होगा। वन-देवता को अप्रसन्न करने का एक भी कार्य वहाँ न होना चाहिए। वन-भूमियाँ सौन्दर्य के अक्षय भण्डार हैं; अहिंसा, प्रेम और शान्ति के प्रतीक हैं; वैराग्य के उद्दीपक हैं; आनन्द के स्रोत हैं; पवित्रताओं के निकेतन हैं""उनके लिए हमारे हृदय में ऐसी ही सम्मान-भावना रहनी चाहिए। तभी तो रस आयगा।"

प्रकृति के टेढ़े-मेढ़े रास्ते, ऊँचे-नीचे पर्वत और घाटियाँ, नदियों की तीव्र गति तथा समुद्र का तूफ़ान इनके डर के कारण नहीं हैं बल्कि ये सब वस्तुएँ—यह वातावरण इनके भावों को और उद्दीप्त करता है। कठोर जीवन व्यतीत करने में ही ये रस पाते हैं। जंगल में छोटे-बड़े सभी प्रकार के जीव-जन्तु तथा पशु एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। साधारणतः जानवरों को मूर्ख समझा जाता है किन्तु जानवर कितने अक़्लमन्द होते हैं, किस प्रकार एक-दूसरे को घेरते हैं, किन-किन उपायों से अपनी आत्म-रक्षा करते हैं, उनमें किस प्रकार का प्रेम तथा जातीय एकता होती है, यह सब हम इस पुस्तक से समझ सकते हैं।

यदि इस पुस्तक की घटनाएँ सच्ची न भी होतीं, तो भी वातावरण की सजीवता, घटनाओं की मार्मिकता तथा शैली के निखार के कारण यह पुस्तक अपने-आपमें पूर्ण सफल होती और पाठकों को पूर्ण रूप से आनन्द पहुँचाती। किन्तु इन सब घटनाओं के सच्चे होने के कारण स्थल-स्थल पर शरीर रोमांचित हो उठता है। लेखक ने suspense निरन्तर बनाये रखा है; इससे ये वर्णन और भी सजीव हो गए हैं। 'हरिण का बलिदान', 'हाथी की प्रेमिका' तथा 'दुखद अन्त' इन तीन निबन्धों में लेखक ने पशुओं के प्रेम का जो चित्रण किया है, वह कितना निःस्वार्थ, गहरा तथा आदर्श है, यह उनके निरीक्षण करने पर ही जाना जा सकता है। पशु-जीवन में जो पारिवारिक स्नेह तथा

उत्सर्ग का भाव इन यात्रा-वर्णनों में चित्रित किया गया है, वह अपनी अन्तर्दृष्टि तथा सहानुभूति में अनुपम बन पड़ा है। हरिणी तथा हथिनी के चरित्रों का वर्णन बहुत सजीव शैली में अंकित किया गया है। इनका जीवन भी पारिवारिक स्नेह में पलता है। एक-दूसरे के प्रेम तथा प्राणों की रक्षा के लिए तन-मन से लगे हुए हैं और उसी प्रेम के सम्मुख अपने प्राण तक खो देते हैं।

'शेष यात्रा' में निधिजी ने गंगाजी की चार-पाँच धाराओं, घने जङ्गलों, पथरीले-रेतीले मैदानों और कंटीले झाड़-झंखाड़ों के मार्ग का सजीव चित्रण तो किया ही है किन्तु इसमें दो घटनाएँ इतनी भयानक हैं कि मन एक बार ही भय से रोमांचित हो जाता है। 'दैत्य की गुफा' में आरण्यक संघ के आठों मेम्बरों द्वारा खूनी रीछ का ढूँढ़ना तथा रीछ को भालों से मारना, 'जलदस्यु' में कुमार के मगरमच्छ के फन्दे में फंसे रहने पर भी होश में रहना, शेर का मचान की छत पर छलांग मारना—ये सब आश्चर्य में डालने वाली रोमांचक घटनाएँ हैं। ये सब घटनाएँ कभी-कभी तो कल्पना द्वारा लिखी गई जान पड़ती हैं।

'मल्लयुद्ध' में गोह और अजगर के मल्ल-युद्ध का वर्णन अत्यन्त सजीव है। गोह और अजगर के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म हाव-भाव तथा चेष्टा को काव्यमयी भाषा में व्यक्त किया गया है।

'प्रणाम, हे कण्वाश्रम' में लेखक ने कितनी ही छोटी-छोटी घटनाओं को लिया है। आरण्यक संघ वाले जङ्गल के जीवन का रहस्य जानना चाहते हैं। अतः जहाँ उन्हें किसी भी प्रकार का कोई चिह्न मिलता है तो सम्बन्ध अन्यान्य बातों तथा घटनाओं से लगाने में तनिक भी नहीं थकते हैं। इसी में उनको आनन्द आता है। कण्वाश्रम-सम्बन्धी अनेक खोजपूर्ण बातें लिखकर अन्त में लेखक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि हस्तिनापुर के पास जो चौकी घाटी है, वही अतीत काल में कण्वाश्रम रहा होगा और इसीका वर्णन कालिदास ने अपनी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में किया है। जयहरी के आस-पास वाला कण्वाश्रम उनके मत में ठीक नहीं है।

इस प्रकार यह पुस्तक अत्यधिक रोचक, रोमांचकारी तथा जंगल के उपयोगी रहस्यों का उद्घाटन करने वाली है। जङ्गल के सौन्दर्य और उसके जीवन के सौन्दर्य का सूक्ष्म निरीक्षण है। आरण्यक संघ के कार्य, साहस और लगन सराहनीय हैं। इस पुस्तक की घटनाएँ सच्ची होने के कारण यह अपने-आपमें नवीन और हिन्दी साहित्य के लिए अमर देन है।

—बिन्दु अग्रवाल

साहित्य-साधना की पृष्ठ-भूमि

लेखक—बुद्धिनाथ झा 'कैरव', प्रकाशक—ज्ञानपीठ लिमिटेड, पटना ४।

कैरव ने साहित्य को व्यापक अर्थ में ग्रहण करके पहले उसकी व्याख्या और समीक्षा की है। धर्म, विज्ञान, जीवन और दर्शन को साहित्य-साधना की पृष्ठ-भूमि बतलाया है और इसके उपरान्त के रस-छन्द-अलंकार, कविता, कहानी, उपन्यास और नाटकों के उद्भव, विकास और प्रवृत्तियों की चर्चा की है। पर रस-छन्द-अलंकार खण्ड को छोड़कर अन्य खण्डों के विवेचन में उदाहरणों का नितान्त अभाव है और विवेचना भी बहुत हल्के ढंग से की गई है।

इधर हिन्दी-साहित्य ने गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में काफी उन्नति की है तथा कई नवीन शैलियों, पद्धतियों और रूपों का समावेश हो गया है। पर लेखक ने इनकी कोई चर्चा नहीं की। पुस्तक के आरम्भ में, प्राक्कथन में ही, लेखक ने यह स्वीकार कर लिया है कि ग्रन्थ सन् १९४२ के जेल-जीवन-काल में लिखा

गया था। तदनन्तर वर्षों तक कार्याधिक्य के कारण पड़ा रहा और बिना संशोधन के ही प्रकाशित हो गया।

इस जल्दबाजी में नवीनतम साहित्य-रूपों की चर्चा का अभाव खटकने लगता है। अंकन की अशुद्धियाँ भी पर्याप्त हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जितना व्यापक क्षेत्र उन्होंने लिया है उसका वे निर्वाह नहीं कर पाए हैं।

—हेमलता जनस्वामी

साहित्य-विवेचन

लेखक—क्षेमचन्द्र 'सुमन' और योगेन्द्रकुमार मल्लिक, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

क्षेमचन्द्र 'सुमन' और योगेन्द्रकुमार मल्लिक ने सम्मिलित प्रयत्न से साहित्य का नवीनतम विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें लेखकद्वय ने हिन्दी की नवीनतम प्रवृत्तियों की—जैसे गद्य-गीत, स्केच, रिपोर्ताज, समालोचना, जीवनी, संस्मरण—सम्यक् समीक्षा की है। पुस्तक आदि से अन्त तक परिभाषाओं, विविध लेखकों के मत और मतभेदों तथा उदाहरणों से परिपूर्ण है। तुलनात्मक दृष्टि से पिछली पुस्तक की अपेक्षा इसमें भाषा अपेक्षाकृत सरल, रोचक और शैली प्रवाहयुक्त है। अंकन की अशुद्धियाँ काफी कम हैं। गेट-अप अच्छा है।

आज जब हिन्दी का क्षेत्र विस्तृत हो गया है, तब अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों के लिए ऐसी पुस्तकें बड़ी उपादेय हैं। पर साथ ही इन लेखकों ने अपने ग्रन्थ का शीर्षक 'साहित्य' से प्रारम्भ न करके 'हिन्दी-साहित्य' से प्रारम्भ किया होता तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि साहित्य का अर्थ केवल 'हिन्दी-साहित्य' ही तो नहीं है।

'साहित्य-विवेचन' के लेखकों ने पाश्चात्य साहित्य और हिन्दी पर उसका प्रभाव प्रदर्शित किया है। पाश्चात्य साहित्य ने भारत के प्रायः सभी प्रान्तीय साहित्यों को प्रभावित किया है। अतः ऐसे ग्रन्थों में, जिनमें 'साहित्य' शब्द व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, भारत के विभिन्न प्रान्तीय साहित्यों का भी तुलनात्मक उल्लेख आवश्यक लगता है, क्योंकि सुमन जी और मल्लिक जी ने अपनी पुस्तक हिन्दी की नई पीढ़ी को समर्पित की है, जिसे अपनी समधीत समीक्षाओं से सुदृढ़ साहित्य का निर्माण करना है। हिन्दी की नई पीढ़ी का अध्ययन-क्षेत्र अब बढ़ गया है। समग्र भारत की भाषा हिन्दी है, अतः भारतीय सभ्यता और संस्कृति की छाप लिये और उसीके अंक में पलने वाला साहित्य इस नई पीढ़ी के अध्ययन का क्षेत्र होगा।

'साहित्य-विवेचन' में हिन्दी-साहित्य की नवीनतम धारा का निर्वाह नहीं है, और वह है रेडियो के लिए लिखित साहित्य और पद्धतियाँ। रेडियो नाटक और एकांकी, रेडियो उपन्यास, एकालाप और कहानी साहित्य के नये अंग होंगे। इनकी अपनी अलग टेकनीक है।

—हेमलता जनस्वामी

प्राप्ति-स्वीकार

१. गौतम : श्री वीरेन्द्र मिश्र, ज्ञानवीर बन्धु कार्यालय, लश्कर, ग्वालियर। २. वनवासी भारत : श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित, श्रीमती कृष्णा दीक्षित, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। ३. अमर बेल : श्री वृन्दावनलाल वर्मा, मयूर प्रकाशन, झाँसी। ४. धरती की करवट : 'फ़िराक़' गोरखपुरी, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। ५. जंजीरें टूटती हैं : 'फ़िराक़' गोरखपुरी, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। ६. राग-विराग : 'फ़िराक़' गोरखपुरी, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद। ७. हिन्दू-विवाह में कन्या-दान का स्थान : श्री सम्पूर्णानन्द, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। ८. खेल-खिलौने : श्री राजेन्द्र यादव, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। ९. जिन्दगी मुस्कराई : श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। १०. भारतीय शिक्षा-सिद्धान्त : डॉ० सुबोध अदावाल, गर्ग ब्रदर्स, प्रयाग। ११. हिन्दी कहानियों में शिल्प-विधि का विकास : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग। १२. शब्दों का जीवन : श्री भोलानाथ तिवारी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १३. मेघदूत : श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १४. तेलुगु और उसका साहित्य : श्री हनुमच्छास्त्री 'अयाचित', सम्पादक—श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १५. मालवी और उसका साहित्य : श्री श्याम परमार, सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। १६. लोहे की दीवार के दोनों ओर : श्री यशपाल, विप्लव कार्यालय, लखनऊ। १७. रूसी क्रान्ति के अग्रदूत : श्री राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। १८. युग पुरुष राम : श्री अक्षयकुमार जैन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। १९. तुलसी और उनका काव्य : श्री सत्यनारायणसिंह, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। २०. विन्ध्य-भूमि की लोक-कथाएँ : श्रीचन्द्र जैन, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। २१. सुन्दर कहानियाँ : श्री राजबहादुरसिंह, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली। २२. बाल सेवा : श्री शम्भूनाथ 'शेष', आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. रघुवंश
डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा, श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ३ अंक ४ पूर्णांक १२ जुलाई, १९५४

वार्षिक मूल्य १२) इस अंक का ३)

आलोचना

सम्पादकीय

इतिहास का पुनर्नवीकरण

प्रत्येक युग की समस्याओं के निदान और समाधान के लिए परम्परा और परिस्थिति के समन्वित पर्यवेक्षण की आवश्यकता होती है। अतः प्रत्येक युग नये सिरे से विगत जीवन का अनुशीलन और पुनर्निर्माण करता है और इस प्रकार इतिहास-लेखन का क्रम निरन्तर जारी रहता है। सामान्य सामाजिक इतिहास की भाँति साहित्य के इतिहास का भी, जो अन्य कला-कृतियों के साथ मानव-जीवन का आन्तरिक इतिहास निर्मित करता है, युग-युग में पुनर्नवीकरण होता रहना आवश्यक है। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन की प्रगति युग-जीवन की प्रगति के साथ नहीं चल सकी है। वस्तुतः, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं,[1] हमने अपने साहित्य के इतिहास का प्रथम वाचन भी अभी पूरा नहीं कर पाया है। इतिहास का प्रथम वाचन उसकी सामग्री के अनुसन्धान, प्रमाण-परीक्षण और संकलन-विश्लेषण से सम्बन्ध रखता है। यह सही है कि इतिहास के प्राथमिक उपादानों को जुटाने का कार्य प्रत्यक्षतः इतिहासकार का नहीं, अन्वेषक, अनुसन्धानकर्ता, पाठालोचक और पाठ-सम्पादक का है। किन्तु इतिहासकार का यह उत्तरदायित्व अवश्य है कि वह इस कार्य की नवीनतम प्रगति से पूरा लाभ उठाते हुए ही इतिहास को युगानुकूल नवीन रूप में उपस्थित करे। हिन्दी-साहित्य की नई ऐतिहासिक समीक्षाओं में इस बात का पूरा ध्यान नहीं रखा गया है।

यद्यपि हिन्दी-साहित्य का जीवन लगभग एक हजार वर्ष का ही है, फिर भी, क्योंकि उसका जन्म प्रागैतिहासिक काल तक जाने वाली एक लम्बी परम्परा की ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में हुआ था, उसके इतिहास की पृष्ठभूमि कहीं अधिक पुरातन और दीर्घ है। इस भूमिका के अनेक पृष्ठ अभी खोले तक नहीं जा सके और जो खोले गए हैं उनके भी अर्थानुध्याय और अनुचिन्तन का कार्य बहुत कम हुआ है। किन्तु हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार के लिए यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि इस भूमिका के बिना उसका इतिहास

---

1. 'आलोचना अंक' १०, सम्पादकीय।

बाज़ारू चित्रों की भाँति प्राणहीन रहेगा। साथ ही, यह भी स्मरणीय है कि हिन्दी-साहित्य के साथ अन्य आधुनिक भाषाओं के साहित्य भी देश की पुरातन परम्परा के साझीदार हैं। अतः उनके तुलनात्मक विवेचन से ही हिन्दी-साहित्य की परम्परा से सम्बद्ध अनेक अंगों का पूर्ण स्पष्टीकरण सम्भव है। हिन्दी के पार्श्ववर्ती साहित्यों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्वयं उसकी जनपदी बोलियों की अतुल साहित्य-सम्पत्ति है जो स्वतः साहित्य के इतिहास का अनुपेक्षणीय उपकरण होने के साथ इतिहास की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में सहायक हो सकती है।

इन उपादानों के अतिरिक्त साहित्य के इतिहास-लेखन में समाज और संस्कृति के प्राचीन तथा तत्कालीन इतिहास—राजनीतिक परिस्थिति, आर्थिक व्यवस्था, कला-कौशल, व्यापार-विनिमय विविध ज्ञान-विज्ञान आदि की प्रगति की सहायता भी अनिवार्य है। इन सहायक उपादानों के द्वारा ही साहित्य का इतिहास सामान्य इतिहास के साथ संपृक्त होता है और उसका समाज की सामूहिक उपलब्धि के रूप में मूल्यांकन किया जाता है। यद्यपि, जैसा कि हमने पहले कहा है, हमारा सामान्य सामाजिक इतिहास अभी अनेक दिशाओं में अपूर्ण और अन्धकार-ग्रस्त है, फिर भी हमारे साहित्य के इतिहासकारों ने हिन्दी-साहित्य को ऐतिहासिक संदर्भ में बिठाने की बहुत कम चेष्टा की है। और जहाँ कहीं व्यक्तिगत कवियों और लेखकों अथवा साहित्यिक प्रवृत्तियों की ऐतिहासिक समीक्षा की भी गई है, वहाँ प्रायः यह भुला दिया गया है कि साहित्य एक सीमा तक ही सामाजिक प्रक्रिया है। अधिकांश में तो वह व्यक्तियों की, जो सृजन के महत्क्षणों में प्रायः देश-काल की सीमा के ऊपर उठ जाते हैं, एक सृष्टि है जिसका अपना निजी व्यक्तित्व और स्वतन्त्र सत्ता है। उसकी उपलब्धि, अभिव्यक्ति और प्रतिफलन के अपने सिद्धान्त और नियम हैं। परम्परा और परिस्थिति के साथ उसका सम्बन्ध इतना सूक्ष्म और कोमल होता है कि दोनों के सूत्रों को मिलाना कभी-कभी कठिन ही नहीं असम्भव-सा लगता है। ऐसी स्थिति में साहित्य का वह इतिहासकार जो भाषा-विकास, सौन्दर्य-बोध, भावानुभूति, रूप-विधान और अभिव्यंजना-शिल्प के सिद्धान्तों से परिचित नहीं है, साहित्य की सामाजिक समीक्षा करते समय अनुमान और कल्पना की सीमा में पहुँचकर मिथ्या और भ्रम की सृष्टि कर सकता है और जहाँ निष्कर्ष और निर्णय का आधार साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को बनाना चाहिए, वहाँ वह नीति-धर्म, समाज-शास्त्र आदि के सिद्धान्तों की अवतारणा करके अपने पूर्वाग्रहों का आरोप कर सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में दूसरी दिशा में भी भूल हो सकती है और साहित्य का इतिहास शुद्ध शास्त्रीय समालोचना का रूप ले सकता है। इस प्रकार साहित्य के इतिहास में एक ओर सामाजिक इतिहास तथा इतर ज्ञान-विज्ञान और दूसरी ओर साहित्य के सिद्धान्तों का समन्वित उपयोग कर सकना अत्यन्त कठिन कार्य है। यहीं इतिहास-लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि इतिहास के युग सापेक्ष पुनर्नवीकरण की आवश्यकता का कारण उसके उपादानों के नये-नये अनुसन्धान तो होते ही हैं, इससे कहीं अधिक उसकी नवीन समीक्षा होती है। संक्षेप में, इतिहास के नवीकरण का प्रश्न समीक्षा के नवीकरण का प्रश्न हो जाता है। और, समीक्षा का नवीकरण उपर्युक्त द्विविध सिद्धान्तों के प्रयोग पर निर्भर रहता है। किन्तु अन्ततोगत्वा इन सिद्धान्तों के प्रयोग का निर्धारण इतिहास-लेखक के दृष्टिकोण के आधार पर होता है। अतः इतिहास-लेखन में दृष्टि-

कोण का प्रश्न सबसे पहले उठता है। यद्यपि इसके सम्बन्ध में स्पष्ट आग्रह पुराने इतिहासकारों में इतना नहीं था, फिर भी कोई इतिहास ऐसा नहीं है जिसे दृष्टिकोण-विहीन कहा जा सके। सच तो यह है कि ऐसा इतिहास लिखना यदि सम्भव भी हो, तो भी उससे इतिहास का वास्तविक उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। भारतीय इतिहास के लेखकों में निरन्तर दृष्टिकोण-सम्बन्धी संघर्ष चलता रहा है, प्रत्येक परवर्ती इतिहासकार अपने पूर्ववर्तियों के दृष्टिकोण में संशोधन करने और अपने नये दृष्टिकोण की आवश्यकता और समीचीनता दिखाते हुए उसी के आधार पर इतिहास-सामग्री को उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण के इतिहास का अवलोकन प्राचीन काल से किया जा सकता है, जब भारत में आधुनिक अर्थ में इतिहास-लेखन की प्रथा नहीं थी।

प्राचीन भारतीयों की इतिहास के प्रति उदासीनता का कारण प्रायः भौतिक जीवन के प्रति उनकी उदासीनता बताया गया है। किन्तु बात बहुत गलत ढंग से कही गई है, जिसके परिणामस्वरूप प्रायः यह समझ लिया गया कि हमारी समूची जाति जीवन से विमुख संन्यासियों की जाति थी। भौतिक जीवन के प्रति हमारे प्राचीनों की उदासीनता का वास्तविक कारण उनका जीवन-दर्शन तथा जीवन के स्थायी मूल्यों और परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच उनका विवेक था। प्राचीनों के सम्मुख इतिहास और पुराण में कोई अन्तर न था, इसी कारण पुराणों में आधुनिक अर्थ में बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री कल्पना-लोक की अद्भुत सृष्टि में विलीन हो गई है। आधुनिक इतिहासकार उसमें से तथ्य संकलन करने का परिश्रम करता है, किन्तु उसे कितनी सफलता मिलती है? पुराणकार भौतिक तथ्यों का आकर्षक वर्णन करता है, भोग के शारीरिक सुख से वह भली भाँति परिचित है, साधना की उपलब्धियों में वह उसे स्थान देता है। फिर भी, वह भौतिक तथ्यों की पूजा नहीं करता। सत्य के अन्वेषण में भौतिकता का क्या महत्त्व है यह उसने निश्चित कर रखा है। इसी कारण तथ्यों में वह मनमाने संशोधन और परिवर्तन करते हुए जीवन के नैतिक मान तथा स्थायी मूल्यों की खोज करना चाहता है। प्राचीन भारतीयों की यह विशेष प्रकार की इतिहास-प्रतिभा कितनी सजग और क्रियाशील थी यह, उनके पुराण-साहित्य की विपुलता से सिद्ध होता है। किन्तु यह इतिहास-प्रतिभा तभी जाग्रत होती थी जब प्राचीन मूल्यों के पुनरावलोकन, नवीन मूल्यों की स्थापना तथा जीवन की नई मान-मर्यादा का निर्देश करना अभीष्ट होता था। पुराण-प्रणाली का प्रयोग उन लोक-प्रचलित किंवदंतियों में भी पाया जाता है जिनका आधार प्राचीन या समकालीन इतिवृत्त होते थे। लिखित रूप में इसके अन्तिम उदाहरण मध्ययुगीन भक्तमाल-वार्ता और ख्यात साहित्य हैं। इन्हीं में हिन्दी-साहित्य के प्रथम इतिहास का दर्शन होता है जिसमें भक्त कवियों के जीवन के चुने हुए, अंशतः कल्पित और प्रायः अत्युक्तिपूर्ण घटना-प्रसंग केवल जीवन के उन सत्यों के उद्घाटन के लिए प्रसिद्ध किये गए हैं जिन्हें उन्होंने अपने जीवन और कृतित्व में उतारने के प्रयोग किये थे। हम कह सकते हैं कि हमारे प्रथम इतिहास केवल दृष्टिकोण-प्रधान थे, उनके निकट इतिवृत्त, देश और काल का स्वतः कोई मूल्य न था।

पौराणिक प्रणाली का यत्किंचित् प्रभाव मध्ययुग के कुछ फ़ारसी इतिहासकारों पर भी पाया जाता है जो कभी नैतिक दृष्टिकोण के, कभी वीर-पूजा की भावना से आग्रहवश, और

कभी मनोरंजन-मात्र के लिए ऐतिहासिक तथ्यों को औपन्यासिक रूप में उपस्थित करते हैं। कुछ फ़ारसी इतिहासकारों ने कट्टर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से मुस्लिम शासन का इतिहास लिखते हुए अनेक ऐतिहासिक तथ्यों की निर्मम हत्या और अनर्गल कल्पनाओं की सृष्टि की है। अकबर का इतिहासकार बदाऊँनी ऐसा ही है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का दूसरा चरण प्राकृत काव्य-रचने वाले कवियों से सम्बन्धित अनुश्रुतियों और कविता-संग्रहों के रूप में मिलता है। अनुश्रुतियों के प्रचलन का उद्देश्य या तो नीति-शिक्षा है अथवा कवियों तथा उनके कृतित्व की सराहना और प्रशंसा। कविता-संग्रहों का उद्देश्य सराहना, मनोरंजन और अपने साहित्य के प्रति आत्मगौरव की भावना है। आधुनिक काल का 'शिवसिंह सरोज' इस प्रवृत्ति का अन्तिम उदाहरण कहा जा सकता है।

आधुनिक युग में 'भारतीय इतिहासों' में, जो सबसे पहले अंग्रेजों द्वारा लिखे गए, स्वभावतया साम्राज्यवादी दृष्टिकोण की प्रधानता है। उनका उद्देश्य स्पष्ट था और उसकी पूर्ति के लिए तथ्यों की विकृति, अत्युक्ति, अवहेलना और कभी-कभी कल्पना करने में भी उन्हें संकोच न होता था। यद्यपि भारतीय इतिहास के अन्वेषण और अनुसन्धान में उन्होंने जो कार्य किया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा, फिर भी भारतीय जीवन की दुर्बलताओं को उभारने, विभेदों को गहराई से रेखांकित करने तथा आत्म-सुख और मोह-निद्रा में निमग्न करने वाले गुणों की प्रशंसा करने में उन्होंने अपनी दृष्टि से अपनी जाति के प्रति अपने सामयिक कर्तव्य को खूब निबाहा। कुछ थोड़े-से विदेशी पुरातत्त्वान्वेषियों ने हिन्दी की ओर भी ध्यान दिया और दलितोद्धार तथा प्रतिपालन की भावना से संग्रह तथा इतिहास की प्रारम्भिक पुस्तकें लिखीं। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में विभेदों को उभारने और जातीय अन्तर्वैमनस्य को प्रोत्साहन देने के प्रयत्नों में जॉन गिल क्राइस्ट की फोर्ट विलियम कॉलेज की कार्य-प्रणाली तथा सर जार्ज ग्रियर्सन के भाषा-सर्वे का उदाहरण दिया जा सकता है। भाषाओं, उपभाषाओं और बोलियों के इस महान् एवं अद्वितीय अनुसन्धान में एकता और समानता पर भी जोर दिया जा सकता था। किन्तु यह तो राष्ट्रीय दृष्टिकोण की बात है।

जब राष्ट्रीय इतिहास-रचना के प्रयोग प्रारम्भ हुए, तब भी तथ्य-निरूपण और सत्यान्वेषण सम्भव न हो सका; क्योंकि भारतीय इतिहासकारों को विदेशियों द्वारा आरोपित लाञ्छनों के निराकरण की चिन्ता अधिक थी। फलतः एकता, मैत्री और सहयोग का समर्थन करने वाले तथ्यों की अतिरंजना तथा इनके विपरीत तथ्यों की अवहेलना स्वाभाविक-सी हो गई। मध्ययुग के राष्ट्रीय इतिहासकार की योग्यता और विद्वत्ता का अधिकांश यही सिद्ध करने में व्यय होने लगा कि हिन्दू और मुसलमानों का विभेद मौलिक नहीं है, उनका वैमनस्य सनातन नहीं है, अपितु वह साम्राज्यवादी भेद-नीति का परिणाम-मात्र है। सामयिक राष्ट्रीय आवश्यकता की इससे भले ही आंशिक पूर्ति हुई हो, इतिहास का तो अहित ही हुआ और हमारी इतिहास-दृष्टि संकुचित और सीमित रह गई। किन्तु साहित्य के इतिहास पर इस प्रकार के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का प्रभाव नहीं पड़ा। ऐसा जान पड़ता है कि साहित्य ने विभेद और विभाजन को सत्य मानकर स्वीकार कर लिया था, यद्यपि हिन्दी-साहित्य में हिन्दू और मुसलमानों की एकता, मैत्री और सम्मिलन के अनेक प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। विदेशी इतिहासकारों ने राष्ट्रवादी भारतीय

इतिहासकारों को केवल प्रतिक्रिया के ही रूप में प्रभावित किया हो ऐसी बात नहीं है। अनेक बातों में पद्धति और प्रणाली ही नहीं, अपितु दृष्टिकोण में भी भारतीय इतिहासकारों ने विदेशियों का अनुकरण और अनुगमन किया है। विदेशी इतिहासकारों ने अपने ईसाई पवित्रतावादी दृष्टिकोण से अनेक प्रचलित परम्पराओं और प्रथाओं की आलोचना की थी और प्रतिपालन की भावना से सुधार के संकेत किये थे। भारतीय इतिहासकारों ने इस दृष्टिकोण को अपनाकर, ऐसे तथ्यों की, जो सतही दृष्टि से पवित्रतावादी भावना के विरुद्ध पड़ते थे, गूढ़-गम्भीर समालोचना करने के स्थान पर या तो उनकी उपेक्षा कर दी अथवा उनके सम्बन्ध में क्षमा-याचना-जैसा भाव विकसित कर लिया। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में पवित्रतावादी सुधारवाद का दृष्टिकोण बहुत स्पष्टता के साथ दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, विदेशी समीक्षकों द्वारा प्रशंसित सुधारक तुलसीदास की आचार्य शुक्ल ने विशद व्याख्या की, उनके वर्णाश्रम धर्म पर आश्रित सुधारवाद को त्रिकालाबाधित आदर्श के रूप में उपस्थित किया। शुक्लजी की प्रतिभा तथा सुधारवाद के वातावरण के सम्मिलित प्रभाव से हिन्दी के समीक्षकों पर तुलसी के 'लोक-संग्रह' का ऐसा आतंक छा गया कि हिन्दी के सबसे अधिक प्रचुर और सम्पन्न साहित्य—कृष्ण-भक्ति-साहित्य—का सामाजिक मूल्य शून्य में ही विलीन रह गया, उसे अँधेरे कुएँ से निकालने का साहस किसी कृष्ण ने न कर पाया। कृष्ण में लोक-संग्रह का भाव ही कहाँ था? और उनकी लोक-रंजक लीला के रस और आनन्द को सुधारवादी समीक्षक क्षमा-याचना के साथ ही ग्रहण कर सकता था, क्योंकि उसे स्मरण था कि एक अंग्रेज कृष्ण-भक्ति-काव्य को 'चकले खाने' की भाषा कह चुका है।

किन्तु भारतीय इतिहासकारों का राष्ट्रीय दृष्टिकोण समकालीन वर्द्धमान राष्ट्रीयता की उग्रता को नहीं अपना सका। इसका कारण शुद्ध विद्या-प्रेम उतना नहीं जितना आत्मीय सुरक्षा के भंग होने का भय है। हमारे अधिकांश विद्वान् इतिहासकार जिस वर्ग के थे, उसमें अधिक-से-अधिक 'लिबरल' राजनीति अपनाई जा सकती थी। ज्यों-ज्यों राजनीतिक खतरे कम होते गए, त्यों-त्यों उनके दृष्टिकोण की राष्ट्रीयता में प्रखरता की मात्रा अत्यन्त सावधानी के साथ बढ़ती गई। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी राष्ट्रीय दृष्टिकोण पूर्णतया नहीं अपनाया जा सका, यद्यपि युग की राष्ट्रीय भावना हिन्दी-भक्त-कवियों के वैष्णव और मानवतावादी आदर्शों से समन्वित थी। हमारे समर्थ इतिहासकार आचार्य शुक्ल ने कबीर आदि सन्त कवियों के प्रति वैसा ही तीखा भाव व्यक्त किया है जैसा 'तुलसी अलखहिं का लखै राम नामु जपु नीच' अथवा 'सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रवीना' में प्रकट हुआ है। शुक्लजी की राष्ट्रीयता ऊँच-नीच के (उदारता-समन्वित) भेद-भाव-सहित सनातन वर्ण-धर्म पर आश्रित थी, अतः उनके दृष्टिकोण के अनुसार सिद्ध, नाथ और जैन-साधकों को आसानी से साम्प्रदायिक कहकर टाला जा सकता था। कदाचित् वर्ण-धर्म की रूढ़ मर्यादा का उसके प्रचलित रूप में आदर न कर सकने के कारण ही वे स्वामी दयानन्द सरस्वती और महात्मा गांधी तक की उससे अधिक सराहना न कर सके जितनी उन्होंने रामप्रसाद निरंजनी और श्रद्धाराम फुल्लौरी की की है। शुक्लजी की राष्ट्रीयता के अन्तर्गत उनकी अपनी परिभाषा की 'भारतीयता' के प्रति आग्रहपूर्ण श्रद्धा-भावना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि जायसी के अत्यन्त

प्रशंसक होते हुए भी उन्हें सूफ़ी विचारधारा में ऐसा कुछ न मिला जिसे 'हमारे यहाँ' स्वीकार किया गया हो। इसी प्रकार स्वयं अंग्रेज़ी की मान्य शास्त्रीय समीक्षा से बहुत-कुछ ग्रहण करते हुए भी वे साहित्य में पाश्चात्य प्रभावों के सम्बन्ध में सदैव सशंक रहते थे। यहाँ शुक्ल जी के ऐतिहासिक दृष्टिकोण की विस्तृत चर्चा करने का अभिप्राय उनके अद्वितीय व्यक्तित्व और चिरस्मरणीय साहित्यिक कार्य को किसी प्रकार घटाकर प्रदर्शित करना नहीं है। हमारा उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण का निर्माण सही ढंग से न किया जाय तो दृष्टिकोण विशिष्ट इतिहास-लेखन में ऐसे महान्: प्रतिभाशाली साहित्यिक के लिए भी असंदिग्ध सफलता पाना कठिन हो जाता है। साथ ही इस विस्तृत चर्चा का इस कारण भी औचित्य है कि शुक्ल हिन्दी-साहित्य के राष्ट्रीय इतिहासकारों के अग्रणी और प्रतिनिधि हैं, हमारे बहुसंख्यक परवर्ती इतिहासकार और समीक्षक उनके अत्यधिक ऋणी हैं।

इतिहास-रचना में 'वैज्ञानिक' दृष्टिकोण, जिसके अनुसार तथ्य अत्यन्त पवित्र और पूजनीय माने जाते हैं तथा उनके सम्बन्ध में व्याख्यात्मक मत-प्रदर्शन वर्जित होता है, सम्भवतः एक सदिच्छापूर्ण सिद्धान्त होकर ही रह गया। वस्तुतः मानवीय संस्थाओं का भौतिक विज्ञानों-जैसा सर्वथा निर्वैयक्तिक अध्ययन सम्भव नहीं है तथा ऐतिहासिक तथ्यों में निहित मानवीय सत्यों के अन्वेषण से हीन तथ्य-निरूपण निरर्थक है। हिन्दी-साहित्य में कुछ कवियों, काव्य-धाराओं और विशिष्ट कालों पर लिखे गए शोध-प्रबन्धों में ही ऐसे 'वैज्ञानिक' अध्ययन की प्रणाली अपनाई गई, सम्पूर्ण इतिहास लिखने का प्रयोग नहीं किया गया। यह सम्भव भी न था।

मार्क्सीय द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का दृष्टिकोण उसके समर्थकों द्वारा इतिहास की व्याख्या का 'नया' और 'एक-मात्र वैज्ञानिक' दृष्टिकोण कहा जाता है, यद्यपि अब वह लगभग सौ वर्ष पुराना हो चुका है तथा विचार और व्यवहार दोनों क्षेत्रों में उसकी 'वैज्ञानिकता' को गम्भीर चुनौती मिल चुकी है। विविध घटनाओं, भावनाओं और विचारों से संकुल, अनेक उतार-चढ़ाव, मोड़ और घुमावों से युक्त, देश और काल की विभिन्नताओं से परिपूर्ण अगणित मानव-जातियों को रेखा खींचकर दो वर्गों में विभाजित कर देना क्रीड़ा-कौतुक-जैसा लगता है। इतिहास के अध्ययन की यह अति सरलीकृत प्रणाली भारतीय इतिहास की व्याख्या में केवल विच्छिन्न रूप में ही प्रयुक्त हुई। हिन्दी-साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास को भी कोई 'प्रगतिशील' समीक्षक इस यान्त्रिक व्याख्या के खराद पर नहीं चढ़ा पाया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मनुष्य की सृजनात्मक उपलब्धियों का निर्वचन कैसा कृत्रिम और हास्यास्पद हो जाता है यह व्यक्तिगत हिन्दी-कवियों और लेखकों की 'प्रगतिशील' समीक्षा से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। फिर भी, मार्क्सवाद-समीक्षकों ने साहित्य को सामाजिक यथार्थ के दृष्टिपथ में उपस्थित करके निश्चय ही नवीन निर्देश किया, जिससे साहित्य-समीक्षा की नई पद्धति का विकास सम्भव हो सका।

सामान्य इतिहास-लेखन में तो नहीं, हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'नव मानवतावादी' दृष्टिकोण का निर्देश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है और इस मानवतावाद को उन्होंने एक विस्तृत आधार देने की स्वयं हिन्दी-साहित्य और उसकी दीर्घकालीन पृष्ठभूमि से उसे विकसित और समर्थित करने की चेष्टा की है। फलतः वे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से

लिखे गए इतिहास की अनेक भ्रान्तियों और त्रुटियों को दूर करने का प्रस्ताव कर सके। हिन्दी-साहित्य भारतीय जीवन और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के एक बहुत बड़े मोड़ का परिचय देता है तथा हिन्दी के भक्त-कवियों ने—और उनमें सिद्ध और नाथों की परम्परा वाले सन्त-साहित्य का अन्यतम स्थान है—उसी प्रकार जीवन के प्राचीन मूल्यों को नया अर्थ तथा नवीन मूल्यों को नई भाषा दी थी, जिस प्रकार प्राचीन काल में बुद्ध और महावीर ने, इस तथ्य को द्विवेदी जी ने योग्यतापूर्वक उद्‌घाटित किया है। वस्तुतः हिन्दी-भाषा और साहित्य अन्य आधुनिक भाषा-साहित्यों के साथ, एक मार्ग, नैतिकता और व्यवहार के नये मानदण्ड तथा एक नया सन्देश लेकर इतिहास के मंच पर अवतरित हुआ था। स्मरणीय यह है कि उसका यह 'मिशन' अभी पूरा नहीं हुआ है। इतिहासकार भले ही सत्रहवीं शताब्दी में भक्तिकाल का अन्त करके उस 'मिशन' की निरन्तरता भुला दें और उसे प्रगति देने वाले कवियों और लेखकों को 'फुटकर' खाते में डालते रहें, पर हमारे भाव-स्रष्टा, विचारक और चिन्तक एक हजार वर्ष से आज तक उसमें निहित मानवीय आदर्श को व्यक्त करते आ रहे हैं। नये दृष्टिकोण से सम्पन्न हमारा नया इतिहास साहित्य की इसी एकता के आधार पर व्याख्या करेगा।

इस प्रकार इतिहास के उपकरण तो अनुसन्धान और अनुशीलन के विषय हैं तथा उनका विन्यास और नियोजन यथासम्भव तटस्थ और वैज्ञानिक पद्धति की अपेक्षा रखता है, किन्तु इस क्रम में उसकी व्याख्या और परिभाषा के नये दृष्टिकोण की प्राप्ति के बिना नया इतिहास नहीं लिखा जा सकता। जैसा कि हमने प्रारम्भ में कहा है, प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्याओं के समाधान के लिए इतिहास के पुनर्निर्माण की अपेक्षा रखता है और इस कारण इतिहास का दृष्टिकोण स्वभावतया युगीन आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। किन्तु युग की समस्याओं का यथातथ्य निदान तथा उनका युक्तियुक्त समाधान स्वयं एक कठिन समस्या है। हम देख चुके हैं कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखा गया इतिहास भी हमारे संघर्षपूर्ण राष्ट्रीय जीवन में युग-पुरुष द्वारा विमुक्त की गई मानवता की व्यापक भावना आत्मसात् नहीं कर सका। इसी प्रकार 'प्रगतिवादी' दृष्टिकोण राष्ट्रीय दृष्टिकोण की त्रुटियों को दूर करने का दावा लेकर आया, किन्तु उलटे उसने एक नई 'साम्प्रदायिकता' खड़ी कर दी। वस्तुतः साहित्य के इतिहास का वही दृष्टिकोण सार्थक हो सकता है जो जीवन के स्थायी मूल्यों के द्वारा समर्थित हो, और उन मूल्यों को युगानुकूल रूप और जीवन दे सकने की उसमें सामर्थ्य हो। जीवन के मूल्यों का युगानुकूल रूप मानव की अनुभूति, चिन्ता और, यदि कह सकें तो, साधना से सम्बन्धित विविध क्षेत्रों के ज्ञान-विज्ञान की नवीनतम प्रगति के संघात के द्वारा निर्धारित होता है। अतः इतिहासकार के लिए उस प्रगति तथा उन मूल्यों के निहितार्थ को समझना आवश्यक है, किन्तु साहित्य के सही ऐतिहासिक दृष्टिकोण के निर्माण में इसके साथ-साथ साहित्य के उन नवीकृत शाश्वत सिद्धान्तों का भी महत्त्वपूर्ण हाथ होना चाहिए, जिन्हें प्राचीन सिद्धान्तों और साहित्य की नवीन आवश्यकताओं के समन्वय द्वारा विकसित किया गया हो। वस्तुतः इतर ज्ञान-विज्ञान की मानवतामूलक उपलब्धियाँ साहित्य में उसके अपने नियमों और सिद्धान्तों के अधीन ही व्यक्त होती हैं। शर्त केवल यह है कि ये नियम और सिद्धान्त रूढ़िगत न हों, युग-जीवन को व्यक्त करने वाले साहित्य से ही उन्हें निकाला

गया हो। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे साहित्य के स्थायी सिद्धान्तों के विपरीत होंगे। जिस प्रकार सौन्दर्य अनेक माध्यमों के द्वारा, अनेक रूपों में व्यक्त होते हुए भी अपनी भावात्मक एकता को अक्षुण्ण रखता है, उसी प्रकार सौन्दर्याभिव्यक्ति के सिद्धान्त भी अनेक शब्दा-वलियों और अनेक शैलियों में व्यक्त होकर भी मूलतः एक रहते हैं। अतः साहित्य का जो इतिहासकार शाश्वत सत्य के अविरोधी युग-सत्य को जितना ही आत्मसात् करके उसे शाश्वत सौन्दर्य-सिद्धान्तों के अविरोधी युगीन सिद्धान्तों से समन्वित करने में सफल हो सके, उसका ऐतिहासिक दृष्टिकोण उतना ही सार्थक होगा। ऐसा इतिहासकार ही इति-हास के पुनर्नवीकरण का दायित्व सँभाल सकता है।

डॉक्टर रघुवंश

हिन्दी का यात्रा-साहित्य

कवि और कलाकार की आत्मा यायावर होती है। कहते हैं कवि और साहित्यकार जीवन के अन्ततम स्वरों को पहचानता है। और यह जगत् है क्या, जो जीवन की संज्ञा से अभिहित है। जीवन में एक गति, निरन्तर प्रवहमान गति है, जो अबाध रूप में बहती रहती है। शिशु पैदा होता है; बढ़ता जाता है; दिन-रात में बदलते-बदलते ऋतुएँ परिवर्तित हो जाती हैं; पृथ्वी घूमती जाती है, प्रातः-सायं सन्ध्याएँ अपना राग बिखेरती हैं; दिन अपने प्रकाश से आलोकित होता है; रात अपने अन्धकार में चन्द्र-तारकों से नानाविध शृङ्गार करती है; यही नहीं—नाचती पृथ्वी फिर घूमती रहती है—वसन्त के उल्लास में वनस्पति लहलहाकर पुष्पित और पल्लवित हो जाती है; ग्रीष्म की चोटों से सारा प्रकृति-विस्तार मुरझा जाता है; वर्षा के आलोड़न से तृण-तृण अंकुरित हो जाता है और जाड़े में पाले से आहत वृक्ष-पादप-लताएँ सभी अपने पीले नीरस पत्तों को गिराने लगती हैं और वसन्त की भूमिका में पतझड़ मर्मर संगीत में मुखरित हो जाता है; और फिर सारा नक्षत्र-तारालोक गतिशील है, अणु-परमाणु उसी ताल पर थिरककर नाच रहे हैं।

साहित्यकार अनजाने ही इस गति को पहचानता है और अपने अन्दर स्पन्दित साँसों के माध्यम से वह इसी गति-संचरण का आवाहन करता है। फिर उसकी यायावर आत्मा संसार की गति के साथ, विश्व के संचरण के साथ होड़ लगा देती है। एक अद्भुत आकर्षण उसको अपनी ओर खींचता है, वह मंत्रमुग्ध होकर उसकी ओर बरबस खिंचता आता है। और एक दिन संसार देखता है कि वह यायावर हो गया है। संसार के लोग तो इस पुकार को सुन नहीं पाते या सुनकर भी अनसुनी कर देते हैं। वे चलते तो रहते हैं, क्योंकि यहाँ रुककर खड़ा होना सम्भव नहीं; पर वे तेली के बैल की तरह कोल्हू के चारों ओर घूमने में अपने परिश्रम की सार्थकता मान बैठते हैं। पूछा जा सकता है, आखिर इसका उद्देश्य क्या है ? इस यात्रा, इस घुमक्कड़ी का अर्थ क्या है ? उत्तर देना कठिन है। पर क्या कोई नक्षत्रों से पूछता है कि उनकी गति का लक्ष्य क्या है ? क्या कोई ब्रह्माण्ड के लक्ष-लक्ष तारकों से पूछता है कि उनके घूमते रहने का उद्देश्य क्या है ? पूछने से उत्तर मिलेगा भी नहीं।

संसार के बड़े-बड़े यायावर अपनी मनोवृत्ति में साहित्यिक थे। फाहियान, ह्वानसाँग, इब्नबतूता, बर्नियर आदि जितने प्रसिद्ध घुमक्कड़ हुए हैं अथवा देश-विदेश के जितने साहसी अन्वेषक हुए हैं सबमें साहित्यिक यायावर का रूप रक्षित है। उन्होंने अपनी यात्राओं में उद्देश्य को प्रधानता नहीं दी। वे निःसंग भाव से घूमते रहे हैं, घूमना ही उनके लिए प्रधान उद्देश्य रहा है। वे देश-देश के पर्वत, उपत्यका, घाटी, नदी, सरोवर, नगर और गाँव की पुकार सुनकर ही उनकी ओर आकर्षित हुए हैं। परन्तु यात्रा करने-मात्र से कोई साहित्यिक यायावर की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता, और न यात्रा का विवरण प्रस्तुत कर देना-मात्र यात्रा-साहित्य है। पिछले युगों में अनेक यूरोपीय तथा चीनी यात्रियों ने यात्रा-विवरण प्रस्तुत किये हैं, और उनके इन विवरणों के बीच कुछ ऐसे संस्मरणीय अंश अवश्य हैं जिनसे प्रत्यक्ष हो जाता है कि इनमें अधिकांश यात्रियों की आंतरिक प्रेरणा साहित्यिक यायावर की है। पर इनके विवरणों में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि को प्रधानता दी गई है, कुछ ने भौगोलिक निर्देशन का भी ध्यान रखा है।

भारत में यात्रियों की कमी रही हो, ऐसी बात नहीं; क्योंकि तिब्बत, चीन, ब्रह्मा, मलाया और सुदूर पूर्व के द्वीपों में भारतीय धर्म और संस्कृति का सन्देश इन यात्रियों के पीछे गया होगा। यात्रा का मोह और आकर्षण मानव-मात्र का स्वभाव है, और भारतीय उससे अलग नहीं रह सकते थे। पर भारतीय दृष्टि में इतिहास, विवरण, संस्मरण तथा आत्मचरित के प्रति विचित्र अनास्था आरम्भ से रही है। सम्भवतः यही प्रधान कारण है कि भारतीय साहित्य में उपर्युक्त अंगों के साथ यात्रा-विवरणों का नितान्त अभाव है। आधुनिक अर्थ में यात्रा-साहित्य की कल्पना तो उस युग में की ही नहीं जा सकती थी। पर इसका अर्थ यह नहीं कि संस्कृत के कवियों में साहित्यिक यायावर की मनोवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। प्रकृति का जो व्यापक सौंदर्य और देश-काल का जो सूक्ष्म ज्ञान इन कवियों में पाया जाता है उससे प्रकट होता कि इन कवियों ने प्रकृति-आह्वान को सुनकर अनसुना नहीं किया है। विशेषकर कालिदास और बाण का इस दिशा में निर्देश किया जाना आवश्यक है। कालिदास के 'कुमार सम्भव' में हिमालय का वर्णन अलंकृत होकर भी नितांत काल्पनिक नहीं है, 'रघुवंश' में देश विदेश का वर्णन बिना अनुभव के सम्भव नहीं और इन सबसे अधिक 'मेघदूत' में मेघ की जिस काल्पनिक यात्रा का वर्णन है, वह कवि की यात्रा का मनस्परक अध्यन्तरित रूप (subjective transferred) ही जान पड़ता है। भारतीय कवि और साहित्यकार को अपनी बात को अपनी प्रगति-जैसी लिखने की छूट नहीं थी। कालिदास-जैसे भावुक और रोमाण्टिक कवि को 'मेघदूत'-जैसे मनस्परक प्रगीत (subjective lyric) के लिए इसी कारण यक्ष की अलकापुरी का कथा-सूत्र ग्रहण करना पड़ा; तो इसमें आश्चर्य क्या कि इस दूत-काव्य में कवि की यायावर आत्मा इस प्रकार अभिव्यक्त हो सकी है। नहीं तो मेघ की यात्रा में वही निःसंग भाव है, वही मस्ती है और वही सौंदर्य-बोध है जो आज के साहित्यिक यात्रा-संस्मरणों में या विवरणों में। साथ ही बीच-बीच में यक्ष मेघ को अपनी विरहाकुल स्थिति की याद दिलाकर इन वर्णनों को भावाविष्ट भी कर देता है। महाकवि प्रकृति के आकर्षण से, उसके सम्मोहन से परिचित है, तभी तो वह मेघ को विरम न जाने के लिए सचेत करता चलता है—"हे मेघ, कुटज-पुष्पों से लदे उस सुगन्धित पर्वतों पर तुम ठहरते जाना, वहाँ मोर नेत्रों में आँसू भरकर अपनी केका से तुम्हारा स्वागत कर रहे

होंगे। लेकिन तुम वहाँ रुकना मत।"[1]

और बाण। उसको तो अपनी घुमक्कड़-प्रवृत्ति के कारण कान्यकुब्जाधीश्वर हर्षदेव ने भरी सभा में 'भंड' कहकर पुकारा था। 'हर्षचरित' में बाण ने अपने विषय में जो-कुछ लिखा है, वह इस बात का साक्षी है कि बाणभट्ट घुमक्कड़ थे और उसके अनुरूप निर्द्वन्द्वता तथा मस्ती भी उनमें थी। 'हर्षचरित' के 'आत्मचरित' अंश में इन यात्राओं का किंचित् उल्लेख-भर हुआ है। बाणभट्ट के सामने भी भारतीय साहित्य के आदर्श की मर्यादा थी, जिसने अपने विषय में अधिक कुछ कहने से उसे रोक दिया है। फिर भी 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' में जो देश-देश की प्रकृति और विभिन्न प्रकार के लोगों का वर्णन मिलता है, वह उसी यायावरी मनोवृत्ति की देन है। कहीं श्रीकंठ देश है—"इस देश में, प्रत्येक दिशा में एक-दूसरे के खलिहानों द्वारा विभक्त वहाँ के सीमान्त अपूर्व पर्वतों के समान शस्य-पुन्ज से भरे रहते हैं। चारों ओर नहरों से सींचे जाते हुए जीरों के पौधों से वहाँ की भूमि उलझी रहती है।''''भैंस की पीठ पर बैठे गोपाल गीत गाते हुए गौओं को चराते हैं। उनके पीछे कीटों के लोभी चटक जाते हैं।"[2] अन्यत्र विन्ध्य के मार्ग का वर्णन यात्री बहुत ही मनोयोग के साथ करता है''''"वन्य मार्गों में जंगली धान के खलिहानों पर सारी के जलते हुए भूसे के ढेरों से धुआँ निकल रहा था। विशाल वट-वृक्षों के चारों ओर सुरती शालाओं से गो-चोट बने हुए थे। अधिक आना-जाना न होने से भूमि पददलित नहीं हुई थी, खेत छोटे-छोटे और दूर-दूर थे, उनकी मिट्टी लोहे की तरह काली और कड़ी थी, स्थान-स्थान पर रखे गए स्थाणुओं से मोटे पल्लव निकल आए थे, श्यामक नामक घास पर चलना कठिन था।" ऋतु, कालों, वन-प्रदेशों, सर-सरोवरों के वर्णनों में बाण की यायावरी प्रवृत्ति के साथ काव्यात्मक कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है। यही कारण है कि प्रकृति के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रंगों को, छायातपों (shades) को तथा उसके विराट् और अद्भुत रूप-शृङ्गार को बाण बड़ी ही सजीवता से प्रस्तुत कर सके हैं।

इसके बाद भारतीय साहित्य में एक लम्बा युग आता है जब साहित्यकार के लिए प्रकृति जड़ हो गई, उसके लिए उसका सारा आकर्षण नष्ट हो गया। और यहाँ यह स्वीकार कर लेने में मुझे कोई संकोच नहीं कि यात्रा का बहुत बड़ा आकर्षण प्रकृति की पुकार में है। मैं यह नहीं कहता कि यात्रा-साहित्य के अन्तर्गत देश-विदेश का जीवन नहीं आता, उसके नगर और गाँव नहीं आते। पर यह भी ठीक है कि यदि यात्री गाँव-नगर के जीवन में इस क़दर उलझ जाय कि उसे अपनी यात्रा का स्मरण ही न रहे तो मैं कहूँगा कि वह अपने प्रधान उद्देश्य से विमुख हो गया। यायावर वही है जो चलता चला जाय, कहीं रुके नहीं, कोई बन्धन उसे कसे नहीं, और वह जो दर्शनीय है, ग्रहणीय है, स्मरणीय है अथवा संवेदनीय है उसका संग्रह करता चले। ऐसे भी हैं जो नाप-जोख करते हैं, हिसाब लगाते हैं, विवरण प्रस्तुत करते हैं; और ऐसे भी हैं जो यात्रा के नाम पर भोग-विलास का सुख लूटने के लिए ही चल पड़ते हैं। साहित्यिक अर्थ में इनको यात्री मानना, यायावर कहना, घुमक्कड़ स्वीकार करना यात्रा का अपमान है। यह सब और कुछ भी हो सकता है, पर साहित्यिक नहीं हो सकता। या यों कहें कि जो मुक्त भाव से, अनुभूतियों को सँजोता हुआ, देश-काल में फैले हुए अनन्त जीवन में साँसें

१. 'मेघदूत', पृष्ठ २४।

२. 'हर्षचरित', ३०३, पृष्ठ १४।

लेता हुआ यात्रा नहीं करता, वह यात्रा का साहित्य नहीं दे सकता, विवरण प्रस्तुत करता है। ये विवरण कभी भूगोल, इतिहास, समाज-शास्त्र आदि की सीमाएँ स्पर्श करते हैं और कभी राजनीति, अर्थनीति अथवा संस्कृति के अर्थ की सिद्धि करते हैं। ऐसा नहीं कि इनका महत्त्व नहीं है, इनका अपने-आपमें अत्यधिक महत्त्व है; पर इनको शुद्ध साहित्य की कोटि में रखा नहीं जा सकता।

मैं कह रहा था कि भारतीय साहित्य के इतिहास में एक लम्बा युग आया, या यों कहें कि कितने ही लम्बे युग बीते जिनमें साहित्यकार अपनी परम्परा का कठिन वन्दी रहा। एक या किसी दूसरे कारण से भारतीय कवि इन युगों में मुक्त और स्वच्छन्द नहीं हो सका, वह अपनी परम्पराओं, रूढ़ियों और अपने सम्प्रदाय के बन्धनों में ही व्यस्त और संतुष्ट रहा। अपभ्रंश-साहित्य में यत्किंचित् मुक्ति दिखाई देती है, हिन्दी के भक्ति-साहित्य में उल्लास की स्वच्छन्दता प्रकट होती है। पर साहित्यिक रूढ़ियों, धार्मिक दुराग्रहों तथा साम्प्रदायिक परम्पराओं ने साहित्य में मुक्ति और उल्लास के इस स्वच्छन्द स्वर (romantic tone) को उभरने नहीं दिया। ऐसे वातावरण में व्यक्तिपरक प्रगीतों (subjective lyric) को ही अनुरूप वातावरण नहीं मिल सका, यात्रा-साहित्य का प्रश्न क्या! हिन्दी में तो संयत गद्य के अभाव में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पूर्व यात्रा-साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती।

वास्तव में यात्रा-साहित्य के विभिन्न रूपों का विकास गद्य-शैली के विकास के साथ ही सम्भव हो सका है। जिस प्रकार आधुनिक साहित्य के अन्य विभिन्न अंगों पर पाश्चात्य साहित्य का किसी-न-किसी रूप में प्रभाव है, उसी प्रकार हिन्दी के आधुनिक यात्रा-साहित्य पर भी उसका ऋण स्वीकार करना चाहिए। प्रारम्भिक लेखकों ने यात्रा-विवरण लेख रूप में प्रस्तुत किये। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस प्रकार के उल्लेख किये हैं। परन्तु यात्रा-साहित्य का विकास शुद्ध निबन्धों की शैली से माना जा सकता है। अंग्रेजी का प्रसिद्ध निबन्धकार स्टीवेन्सन घुमक्कड़-शास्त्री ही था। निबन्ध-शैली के व्यक्तिपरकता, स्वच्छन्दता तथा आत्मीयता आदि गुण यात्रा-साहित्य में भी पाये जाते हैं। निबन्धकार जिस प्रकार अपने विषय को अपनी मानसिक संवेदक स्थिति के अनुरूप ही ग्रहण करता है और उसी की प्रेरणा से विस्तार भी देता है, बिलकुल उसी प्रकार यात्री भी अपनी यात्रा के प्रत्येक स्थल और क्षणों में से उन्हीं संवदेक क्षणों को संजोता है जिनको वह अनुभूत सत्य के रूप में ग्रहण करता है। वह सर्वसाधारण की दृष्टि से प्रत्येक बात का विवरण देकर ही नहीं चलता; और यदि विवरण तथा विस्तार देना ही होता है तो वह उन्हें अपने भावावेश में प्रस्तुत करता है अथवा आत्मीयता के वातावरण में उपस्थित करता है। एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है, यात्री को अपने वर्णन में संवेदनशील होकर भी निरपेक्ष रहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से ही न्याय की अधिक सम्भावना है; नहीं तो यात्री यात्रा के स्थान पर प्रधानतः अपने को ही चित्रित करने लगेगा। यात्रा में स्वतः स्थान, दृश्य, प्रदेश, नगर और गाँव मुखरित होते हैं, उनका अपना व्यक्तित्व उभरता है। इनमें मिलने वाले नर-नारी, बच्चे-बूढ़े अपने नानाविध चरित्रों के साथ उनके व्यक्तित्व को अधिक स्पन्दित और मुखरित करते हैं। मार्ग में पड़ने वाले मन्दिरों, मसजिदों, मीनारों, विजय-स्तम्भों, स्मारकों, मकबरों, किलों और पुराने महलों से संस्कृति, कला और इतिहास की सम्मिलित पीठिका तैयार होती है। अपने को अदृश्य भाव से सर्वत्र रखना ही होता है, यात्री अपनी यात्रा को मानसिक प्रतिक्रियाओं के रूप में ही ग्रहण करता है। पर अपने को केन्द्र में रखकर भी प्रमुख न होने देना साहित्यिक यायावर

का कठिन कर्तव्य है, क्योंकि लेखक का व्यक्तित्व उभरेगा तो अन्य सब गौण हो जायगा और फिर वह यात्रा-साहित्य न होकर आत्मचरित हो रह जायगा, यात्रा-संस्मरण न रहकर आत्म-संस्मरण हो जायगा।

कहा गया है कि यात्री में प्रगीतों के गायकों का भावावेश रहता है और निबन्धकार की मस्ती। वह अल्हड़ लापरवाही से जीवन को एक विशेष दृष्टि से देखता है। यात्रा को जो आकर्षण मानकर नहीं चलता, मस्ती के साथ निश्चिन्त होकर जो यायावर नहीं बनता, जिसे आगे की सीमाएँ क्रमशः आगे की ही ओर बरबस खींचती नहीं रहतीं, वह यात्रा करके भी यात्री कहलाने का अधिकारी नहीं। पता नहीं, परियों के किस नीलम देश के लिए मनुष्य का बच्चा घुमक्कड़ बन जाता है, और फिर उसके मन के आकर्षण को कोई मिटा नहीं सकता। चिरकाल की संचित अभिलाषा उसको निरन्तर भटकाती रहती है, और परियों का वह नीलम देश मिलकर भी उसे नहीं मिलता, अथवा मिलकर भी उसे घेर नहीं पाता। इस आकर्षण को वह इतनी गहराई से महसूस करता है कि वह मार्ग के बीच से अन्यों को भी बढ़ते आने के लिए पुकारता है। राहुल जी के लिए यह पुकार एक जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है—

"जिसने एक बार घुमक्कड़-धर्म अपना लिया, उसे पेंशन कहाँ, उसे विश्राम कहाँ? आखिर में हड्डियाँ घुमक्कड़ी करते ही कहीं बिखर जायँगी। मुझे जान पड़ता है 'अथा तो घुमक्कड़जिज्ञासा' कहते घुमक्कड़-शास्त्र लिखना पड़ेगा। मेरी यात्राओं को पढ़कर कितने ही माता-पिताओं को अपने सपूतों से वंचित होना पड़ा होगा। (किन्तु अब तो मैंने शास्त्र लिख लिया है और उसमें) मैंने खुले-आम घुमक्कड़-धर्म का प्रचार किया है। मैं हर घूमने वाले याचक या अयाचक को घुमक्कड़ नहीं मानता। सच्चा घुमक्कड़ धर्म, जाति, देश-काल सारी सीमाओं से मुक्त होता है, वह सच्चे अर्थों में मानवता के प्रेम का उपासक होता है। यह घुमक्कड़ दुनिया से लेता कम और देता अधिक है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में यात्रा-साहित्य की मूल प्रवृत्ति का निर्देश राहुलजी ने किया है। साहित्यिक यात्री के स्वरों में यात्रा के प्रति यही उल्लास और उमंग रहती है। यात्रा को वह केवल माध्यम के रूप में स्वीकार नहीं करता, उसके लिए वह लक्ष्य है, अपने-आपमें उद्देश्य है। जन-जीवन के भाव-स्रोत से निःसरित लोक-गीतों को चुनने वाले देवेन्द्र सत्यार्थी के मन में यात्रा का सहज आकर्षण है—

"मेरा पथ मेरे सामने है। मैं जीवित मानव का पथ लेता हूँ। मैं मानव की भावनाओं और अनुभूतियों में असंख्य पीढ़ियों को लाँघकर आते हुए जीवन की गाथा सुनूँगा। मैं मानव के दृढ़ संकल्पों में भविष्य की मुखाकृति देखूँगा। मैं उसके साथ चलूँगा। जीवन आज उसी यात्रा के लिए आह्वान कर रहा है।"[2]

अपने एक पात्र के मुख से लेखक ने अपना ही विश्वास व्यक्त किया है। वह यात्रा में जीवन की शाश्वत पुकार का आकर्षण पाता है। इस प्रकार मोह की सीमा तक पहुँचा हुआ आकर्षण यात्रा-साहित्य की विशेषता है। आज के कार्य-भार से व्यस्त जीवन में यह आह्वान यात्री के मन को अधिक उत्सुक और उद्वेगशील बना देता है। देवेश दास यात्रा के अवसर को

१. 'किन्नर देश में'।
२. 'रथ के पहिये'।

पाकर ही उच्छ्वसित हो उठते हैं—

"आज छुट्टी है, छुट्टी। मन-ही-मन जिस वसन्त-व्याकुलता का अनुभव करता था उससे आज बन्धन-मुक्त होऊँगा। काम की बाधा दूर हो गई, वह किसी प्रकार भी क्यों न हुई हो.......आँधी में उड़कर अथवा वर्षा में घुलकर.......और मैं अनिर्दिष्ट पथ पर बाहर निकल आया हूँ।"[1]

इस उल्लास में यात्रा के प्रति लेखक का आकर्षण और अटूट विश्वास ही व्यक्त हुआ है। जैसे बच्चा घर की तमाम उलझनों से मुक्त होकर खेलने के लिए उत्सुक और व्यग्र रहता है, उसी प्रकार यात्री का मन सांसारिक उलझनों के बीच यात्रा के सम्मोह का अनुभव करता है। वह संसार के विस्तार को आश्चर्य, कौतूहल और जिज्ञासा-भरी दृष्टि से देखता है। वह सृष्टि के सौन्दर्य को भाव-विह्वल तथा आनन्द-विभोर होकर देखता है। श्रीनिधि वन से आत्मीयता का अनुभव करते हैं और नगर के कृत्रिम जीवन के समकक्ष वन के मुक्त जीवन का जय-घोष करते हैं—

"इन एकान्त द्रुम-छायाओं में, इन पक्षियों के वन्य गीतों में, इन गिरि-नदियों के शून्य प्रवाहों में, इन निर्झरों के अश्रान्त नादों में, इन निर्मल सूर्यास्तों में, इन जन-संचार-शून्य सैकत-पुलिनों में, इन एकान्तवासी हरिणों में, इन पुष्प-विकासों में, इन घाटियों में, परम आलन्द का जो पावन सन्देश भरा है, संसार में कहीं भी उसकी तुलना नहीं।"[2]

इस प्रकार प्रकृति के अनन्त शृङ्गार को, उसके विराट्-कोमल रूपों को, जीवन के विभिन्न स्तरों को तथा देश-देश के नर-नारियों के जीवन को यात्री तन्मय होकर ग्रहण करता है। और आनन्द के इस तन्मय उन्मेष में यात्री जीवन को विरामहीन यात्रा मानता है और मनुष्य को चिरंतन यायावर। 'अज्ञेय' जीवन को यायावर का चिरन्तन पथ मानकर कहते हैं—

"यायावर को भटकते चालीस बरस हो गए, किन्तु इस बीच न तो वह 'अपने पैरों-तले घास जमने दे सका है, न ठाठ जमा सका है, न क्षितिज को कुछ निकट ला सका है'.... उसके तारे छूने की तो बात ही क्या।....यायावर ने समझा है कि देवता भी जहाँ मन्दिरों में रुके कि शिला हो गए, और प्राण-संचार की पहली शर्त है गति! गति! गति!"[3]

इस प्रकार यात्रा-साहित्य में व्यक्तिपरक भावावेश, उन्मुक्त मस्ती और अल्हड़ उल्लास मूलतः सन्निहित रहता है। कहा गया है कि यात्रा ही यात्री का लक्ष्य होना चाहिए, ऊपर के साहित्यिक यायावरों ने यात्रा को जीवन-दर्शन के रूप में ग्रहण भी किया है। पर इसका मतलब यह नहीं कि यह सारी गति निरुद्देश्य ही प्रवाहित रहती है। यायावर का पथ शून्य की रेखा नहीं है। यात्रा के कष्ट, असुविधाएँ, उसकी साहसिकता इतने आकाशी सन्तोष पर टिक भी नहीं सकते। इसका अभिप्राय है कि जो व्यावसायिक उद्देश्य से, प्रयोजन-सिद्धि के भाव से, देश-विदेश, वन-पर्वत घूमते हैं उनके दृष्टि-पथ पर जीवन का स्वच्छन्द और मुक्त प्रवाह आ ही नहीं सकता और यही साहित्यिक यायावरों की पहली शर्त है। जीवन के किनारे से निकल जाने पर भी इनके लिए जीवन अननुभूत सत्य रह जाता है। और यात्री जीवन के इस स्रोत को पहचानता है, उसके उद्गम पर विचार करता है, उसके अन्दर पैठकर अनुभूति प्राप्त करता है और उसकी

१. 'यूरोपा'।
२. 'शिवालक की घाटियों में'।
३. 'अरे यायावर, रहेगा याद!'

आर्द्रता का अनुभव भी करता है। फिर वह अपनी इन समस्त संवेदनाओं को साहित्य में अभिव्यक्ति का रूप देता है।

यात्रा-साहित्य विभिन्न शैलियों में लिखा गया है और इस कारण वह विभिन्न रूपों में बिखरा है। इस विषय का कुछ ऐसा साहित्य है जो केवल यात्रोपयोगी साहित्य कहा जा सकता है और जिसका उद्देश्य यात्रियों के लिए स्थान या देश विशेष की समस्त ज्ञातव्य बातों को संग्रहीत कर देना है। वैसे तो प्रत्येक यात्रा-विवरण से यात्रियों को प्रेरणा और कुछ अंशों में सहायता मिलती है, पर इस प्रकार के साहित्य का एक-मात्र उद्देश्य यही है। इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य राहुल सांकृत्यायन तथा स्वामी प्रणवानन्द ने किया है। वेणी शुक्ल, सूर्यनारायण व्यास, तथा श्रीगोपाल नेवटिया आदि लेखकों ने सरल वर्णनात्मक शैली में अपनी यात्राओं का क्रमिक विवरण प्रस्तुत किया है। ऐसा नहीं कि इनमें केवल वर्णन प्रस्तुत करने-भर की प्रवृत्ति पाई जाती है। इनकी शैली सीधी, सरल जरूर है; पर अपनी यात्रा के प्रति इन यात्रियों में उल्लास और आवेग है जो इनके वर्णनों में यत्र-तत्र प्रकट हुआ है। जहाँ परिचय देने का प्रयत्न लेखक करता है, वहाँ भी चित्र सहज और स्पष्ट सामने आ जाता है। वेणी शुक्ल ने सर्वथा इसी प्रकार के वर्णन प्रस्तुत किये हैं—

"गाड़ी चल पड़ी। फ्रांस की ऊँची-नीची भूमि (जैसी गरमियों में रहती है) सुसज्जित रमणी की तरह न थी। उस समय पेड़ों में पत्तियाँ न थीं; मैदान, पहाड़ इत्यादि बरफ़ से सफ़ेद हो रहे थे। सूर्य का प्रकाश भी न था। कोहरा और धुँधलापन न था।"[1]

इन विवरणों में लेखक की जिज्ञासा व्यक्त होती है, उल्लास या आवेश नहीं पाया जाता। व्यास में अपेक्षाकृत उल्लास की भावना भी परिलक्षित होती है—

"दोपहर का समय था। ट्रेन अपनी पूरी ताकत से स्विटज़रलैण्ड की स्वर्ग-भूमि पर भागी जा रही थी। कभी पहाड़ियों को चीरती हुई, कभी पर्वत-शिखर पर सरपट भागती हुई और कहीं गिरि-कन्दराओं में लुका-छिपी करती हुई, एक अजीब दृश्य उपस्थित करती रेल चली जा रही थी।..............मैं अतृप्त नयनों से इस शोभा को देख रहा था।"[2]

पर इन वर्णनों में वह मस्ती और स्वच्छन्द भावना नहीं है जो आगे की प्रौढ़ कृतियों में पाई जाती है। अधिकतर लेखक परिचयात्मक विवरणों में उलझ जाता है।

नेवटिया की शैली अधिक प्रौढ़ है और वे अपनी यात्रा के साथ कुछ रम सके हैं। इन्होंने अपनी यात्रा-भूमि का विस्तार के साथ विवरण दिया है और इनकी शैली भी प्रधानतः वर्णनात्मक ही है। फिर भी लेखक अपने चतुर्दिक् को अधिक गहराई से देख सका है और उससे अधिक आत्मीयता स्थापित कर सका है—

"हरित और धवल गलीचे से आच्छादित पहाड़ी समतल भूमि के इस ओर बहुत दूर क्षितिज पर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-धवल पर्वतों की वह पतली-सी रेखा, शीतल और मन्द पवन का वह प्रवाह, विविध वर्णों से विभूषित नभ का वह रूप, ये सब

१. 'लन्दन-पैरिस की सैर'।

२. 'सागर-प्रवास'।

मन को मत्त बनाने में पूर्ण समर्थ थे।"

यही नहीं लेखक के मन में वर्तमान के साथ अतीत भी प्रतिघटित होने लगता है। यात्री अपने वर्ण्य-विषय को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करता है, यही कारण है कि उच्चकोटि के यात्रा-साहित्य में दृश्य-सौन्दर्य, जीवन का रूप, इतिहास, पुरातत्त्व और अर्थनीति सब मिल-जुलकर एकरस हो जाते हैं। लेखक के मन में सहज उत्सुकता जागती है—

"सुदृढ़ परकोटे की भाँति काश्मीर की रक्षा करने वाली गिरि-पंक्ति ने काश्मीर के जिन परिवर्तनों को देखा है उन्हें जानने के लिए, उन गिरि-शिखरों के चरणों में खड़ा होकर, कौन उत्सुक न होगा ? वे पर्वत मूक हैं, जल-स्रोत की वह ध्वनि भी अस्पष्ट है, पर तो भी उनकी ओर देखने से काश्मीर के प्राचीन वैभव का आभास होता है।"[१]

इस प्रसंग में स्वामी सत्यदेव का नाम भी उल्लेखनीय है। वे हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक घुमक्कड़ों में हैं। इन्होंने अपनी यात्रा विवरणों तथा डायरी के रूप में भी लिखी है। ये उन साहसिक यात्रियों में से हैं जिन्होंने यात्रा के मोह और आकर्षण में किसी बाधा को स्वीकार नहीं किया। सारे संसार का चक्कर इन्होंने बिना पैसे के लगाया है, यह बात उनके अदम्य उत्साह की द्योतक है। शैली के अभाव में वे उच्च यात्रा-साहित्य का निर्माण तो नहीं कर सके हैं, पर अनेक देशों का, अनेक आकर्षक चरित्रों का प्रभावोत्पादक चित्र खींचने में इनको सफलता मिली है। राहुलजी ने यात्रा-साहित्य के लिए विभिन्न माध्यम अपनाये हैं, शायद उनसे अधिक इस विषय पर इतने विविध रूपों में अन्य किसी ने नहीं लिखा है। वे 'हिमालय-परिचय' नाम से कई भागों में हिमालय-सम्बन्धी समस्त ज्ञातव्य बातों और विवरणों को प्रकाशित करा रहे हैं। इसके अतिरिक्त 'किन्नर देश में', 'यात्रा के पन्ने' आदि में इन्होंने अधिक साहित्यिक रूप में यात्राओं का वर्णन दिया है। इनमें डायरी-शैली है, पत्र-शैली है और साधारण वर्णनात्मक शैली भी। राहुलजी ने अपने यात्रा-साहित्य में (यहाँ मैं यात्रोपयोगी विवरणों को छोड़ देता हूँ) देश की स्थिति, उसके प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ वहाँ के जीवन, इतिहास और पुरातत्त्व पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। उनकी तिब्बत तथा नेपाल की यात्राओं का उद्देश्य प्राचीन हस्तलिखित पोथियों की खोज भी रहा है, जैसे उन्होंने रूस की यात्रा वहाँ अध्यापन-कार्य करने के लिए की थी। पर हमारे यात्री की दृष्टि सभी तरफ फैली रहती है। वह देश-काल-वस्तुओं के विशद विवरण के साथ स्थान विशेष के जीवन, उसके रीति-रिवाज, त्योहारों और उत्सवों का भी सजीव चित्र उपस्थित करता है—

" गुम्बा के मेले में सब बने-ठने थे। एकाध प्रौढ़-वयस्क स्त्री शमलानुमा पुरानी टोपी पहने थी।.........सभी की टोपियों के उलटे कनपटों में सफ़ेद फूलों के गुच्छे भी लटके हुए थे। किन्नर-किन्नरियाँ फूल के बड़े शौकीन होते हैं। फूल मौजूद हो और फूलों का गुच्छा उनकी टोपियों में न लगा हो ?"[२]

यही नहीं यात्री वर्तमान को अतीत से मिलाकर देखने और खण्डहरों में इतिहास को खोज निकालने का कार्य भी करता है। वह पुराने मन्दिरों, मूर्तियों तथा पोथियों को देखकर अपने मन के अन्दर एक झंझा को झकझोरते हुए पाता है—

---

१. 'काश्मीर'।

२. 'किन्नर देश में'।

"कोठी के देव-मन्दिरों से लौटते समय मस्तिष्क में तूफ़ान उठने लगा, और वह क्षणिक तूफ़ान नहीं था। देवी से मुझे कुछ लेना-देना नहीं था, सवाल था भैरव जी और उनके साथियों का। यह यहाँ कहाँ से आये ? किसने इन्हें बनाया ? उस घोर स्वार्थी देश में परमार्थी अचल देव-मण्डली कहाँ से आ धमकी ?"[1]

इन समस्त विवरणों, इतिहास-पुराण के तर्क-वितर्कों में उलझकर हमारा यात्री चतुर्दिक् के बिखरे हुए प्रकृति-सौन्दर्य को बिलकुल भूल नहीं गया है। यह ठीक है कि उसकी शैली में काव्यात्मक भावशीलता को स्थान नहीं मिल सका है। वह प्रकृति के रूप को सीधे ढंग से संक्षिप्त संकेतों में उपस्थित करके आगे बढ़ जाता है—

"अब भी काशी के किनारे-किनारे कभी उसके एक तट पर कभी दूसरे तट पर आगे बढ़ना था। रास्ते में लाल, गुलाबी और सफेद कई रंगों के फूलों वाले गुरास के पेड़ थे। बहुत से पेड़ तो आजकल अपने फूलों से ढक गए थे। एक वृक्ष तो अपने फूलों से ढका इतना आकर्षक था कि उसने मुझे ठहरने को विवश कर लिया।"[2]

व्यक्तिगत पत्रों में भी यात्रा-साहित्य का सर्जन हुआ है। अनेक विदेश-यात्रियों ने अपने पत्रों में अपनी यात्राओं का विवरण दिया है। ऐसी सामग्री पत्र-पत्रिकाओं में अधिक प्रकाशित होती रही है और अधिकतर उन्हींमें रक्षित है। पत्र-शैली में वैयक्तिक स्पर्श अपने-आप आ जाता है और इस कारण यात्रा-सम्बन्धी वर्णनों में भावशीलता और आत्मीयता का वातावरण प्रस्तुत हो जाता है। विशेषकर यह बात व्यक्तिगत पत्रों में होती है, पत्र-पत्रिकाओं में छपने के उद्देश्य से, अथवा प्रकाशित कराने के उद्देश्य से लिखे गए पत्रों में वह बात नहीं आ पाती, क्योंकि उनमें सचेष्ट प्रयत्न रहता है। कभी-कभी ऐसे पत्र डायरी-शैली के समान ही हो जाते हैं, क्योंकि अपने आत्मीय व्यक्ति के सामने यात्री अपने समस्त ऊहापोह को निःसंकोच रख सकता है। कई लेखकों ने अपने पत्रों में यात्रा का विवरण दिया है जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा, क्योंकि उनके संस्मरण आदि भी हमारे सामने हैं। यहाँ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के 'यूरोप के पत्र' की चर्चा करना आवश्यक है। इन पत्रों की विशेषता यही है कि ये बिलकुल पारिवारिक शैली में यात्रा का विवरण प्रस्तुत करते हैं। इनमें कहीं भावावेश अथवा आत्मिक उल्लास नहीं व्यक्त हुआ है। लेखक ने सीधे-सरल ढंग से, बड़े ही असम्पृक्त भाव से अपनी यात्रा और उसके जीवन का विवरण प्रस्तुत किया है, इस दृष्टि से कि पत्र को पढ़ने वाला भी उन परिस्थितियों की कल्पना कर सके—और यह भी स्पष्ट है कि हमारे यात्री के सामने पारिवारिक स्तर का ही पाठक है। इसी कारण लेखक बीच-बीच में अपने देश की याद दिलाता चलता है—

"नील नदी बरसाती गंगा से आधी होगी। यह मिस्र देश की प्राण है। इसकी तीन-चार मील चौड़ी घाटी में ही सब-कुछ है—हरियाली है, खेती होती है, मनुष्य रहते हैं। कैरो नगर इसीके किनारे बसा है। उसके बाहर चारों ओर वीरान पहाड़ियाँ और रेगिस्तान है।"[3]

यशपाल की 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' और गोविन्ददास की 'सुदूर दक्षिण-पूर्व'

---

१. 'किन्नर देश में'।
२. 'यात्रा के पन्ने'।
३. 'यूरोप के पत्र'।

में उनकी यात्राओं के विस्तृत और व्यापक वर्णन हैं। आगे हम यात्रा-सम्बन्धी संस्मरण-साहित्य पर विस्तार से विचार करेंगे, पर इसके पूर्व इन विस्तृत यात्रा-विवरणों का विवेचन कर लेना उचित होगा। राजनीतिक उद्देश्य से की गई इन यात्राओं में लेखकों ने अपने चतुर्दिक् के जीवन-जगत् को देखने का सम्पूर्ण प्रयत्न किया है और ये विभिन्न देशों के जीवन को सामने रखने में सफल भी हुए हैं। यशपाल अपनी यात्रा में पड़ने वाले प्रत्येक स्थान का पूरा विस्तार देते हैं—

"साढ़े ग्यारह के लगभग गाड़ी वियाना स्टेशन से चली। वियाना नगर का आँचल अंगूर की खेतियों, दो-मंजिली बस्तियों और छोटे-छोटे कारखानों से घिरा है।....खेती की भूमि प्रायः बरफ़ के टुकड़ों और कोहरों से ढकी हुई थी। वृक्षों के पत्ते हेमन्त और बरफ के कारण झड़े हुए थे।"

यह यात्री बिना किसी जल्दी के क्रमशः एक बात के बाद दूसरी बात को लेता चलता है। उसमें न भावावेश है और न उत्तेजना, सीधे तर्क और यथार्थ चित्रण पर ही उसकी दृष्टि है। के आकर्षण में यह यात्री कम उलझता है, पर स्थान, संस्थाओं आदि के विशद वर्णन प्रस्तुत यात्रा करता है। जोलशाई थियेटर का वर्णन करते हुए वह लिखता है—

"बैले का विषय 'स्वान लेक' (हंस झील) की कहानी थी। यवनिका उठती है। झील और जंगलों का प्राकृतिक दृश्य इतने मोहक और यथार्थ रूप में सामने आया कि यह जानते हुए कि हम हिमाच्छादित पर्वतों की उपत्यका में घूम नहीं रहे, थियेटर में बैठे हैं, मन में तरावट आ गई।"

इसी प्रकार 'सुदूर दक्षिण-पूर्व' में लेखक ने देश की प्रकृति, उसके निवासी, तथा उसके रीति-रिवाजों आदि का विस्तृत वर्णन किया है। इन विवरणों के बीच कहीं-कहीं लेखक का कौतूहल और उल्लास भी व्यक्त हुआ है—

"गुफाओं में घूमते हुए हमें ऐसा जान पड़ा जैसे कोई स्वप्न देख रहे हों और यह स्वप्न देखते-देखते जब हम नाव पर बैठकर ग्लोवर्म से भरे स्थान को देखने अँधेरा करके बिना एक शब्द भी बोले रवाना हुए तब तो इस स्वप्न की गहरी-से-गहरी स्थिति थी। अँधेरा करके चुपचाप इस दृश्य को देखने का कारण यह था कि उजेला और शोरगुल होने पर ग्लोवर्म अन्तर्धान हो जाते हैं, यह कहा गया था।"

परन्तु अधिकतर लेखक भिन्न-भिन्न प्रकार के विवरणों में ही उलझा रहा है। वैसे ये दोनों ही पुस्तकें उपयोगी हैं। इनसे विभिन्न देशों की भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का ज्ञान होता है।

प्रारम्भ में ही कहा गया है कि यात्रा-साहित्य की प्रवृत्ति निबन्ध-शैली के निकट है और वह इस सीमा पर संस्मरण का रूप ग्रहण कर लेती है। अधिकतर साहित्यिक यात्रा-विवरण संस्मरण के समान ही होते हैं। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय की 'वो दुनिया' में उनकी पिछली अमरीका और यूरोप-यात्रा के संस्मरण हैं। इस यात्री ने इनमें अमरीका (प्रमुखतः) और यूरोप की आत्मा को स्पर्श करते हुए देखने की कोशिश की है। उसने यात्रा का वर्णन गौण रखकर अमरीका के प्रवाहित जीवन को पकड़ने की कोशिश की है। साथ ही वह अपनी व्याख्या पूरे बल और आक्रोश के साथ करता चलता है—

"वह पिछली सन् ५० की रात, ३१ दिसम्बर को न्यूयार्क की।....शोर फिर होने

लगा। आकाश-पाताल गूँजने लगे। मनुष्य हँस रहा था—बर्बर मनुष्य, और उसके अट्टहास को दिशाओं ने पश्चिम, दूर पश्चिम, सिंधु-पार कोरिया के मैदानों में, जहाँ रात ठमकी हुई है, जहाँ नया सवेरा रात का मुँह नहीं देखना चाहता, पहुँचा दिया।"

इस प्रकार ओज के साथ स्थितियों तथा चरित्रों को वह अंकित करता है। ऐतिहासिक व्यक्तित्वको गहरी दृष्टि से देखने और उनका शब्द-चित्र उतारने में इस यात्री को कमाल हासिल है। इन संस्मरणों में अनेक चरित्रों की उद्भावना लेखक ने सजीव शैली में की है। जिस क्षिप्र तथा संयत शैली में यह यात्री व्यक्तित्व का चित्र अंकित करता है, उसी संक्षेप से वह दृश्यों के वर्णन में भी काम लेता है। और इन संकेतों में दृश्य का एक रूप जरूर सामने आता है—

"दोनों ओर रुई की तरह फैले हुए सफेद धुँधले मैदान, शायद चारों ओर, पर सामने-पीछे देख नहीं सकता। हमारा जहाज़ उड़ा जा रहा है, प्रायः ३०० मील प्रति घंटे की रफ़्तार से, पूर्व की ओर। यह मैदान ज़मीन का नहीं, रेत का भी नहीं, यद्यपि यह जहाज़ से दूर रेतीला-सा दीखता है। है यह बादलों का—उन बादलों का, जो हम से हज़ारों फीट नीचे हैं, जिन पर धूप चमक रही है।"

इसी प्रकार देश के सामाजिक जीवन को प्रधानतः दृष्टि-पथ में रखकर यात्रा-संस्मरण लिखने वाले दूसरे लेखक हैं अमृतराय। नये चीन ने सैकड़ों वर्षों की नींद के बाद सुबह की लाली देखी है, और तेजी से निर्माण-पथ पर बढ़ते हुए इस राष्ट्र को देखकर हमारा यात्री उल्लास में खो जाता है—

"सम्मेलन का आखिरी दिन था। रात का तीन बजा होगा। सम्मेलन की कार्यवाही अभी खतम हुई थी कि न जाने कहाँ से सैकड़ों बच्चे फूलों की डालियाँ लिये हॉल में घुस आए और प्रतिनिधियों पर पुष्प-वर्षा करने लगे।....ये बच्चे हमारी शान्ति-शपथ की साकार मूर्ति थे—उस शपथ की, जिससे हम उनको और खुद अपने बच्चों को युद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए संघर्ष करेंगे।"[1]

हमारे लेखक की कठिनाई यही है कि वे अपने उल्लास के प्रवाह में चीन के जीवन के नानाविध रूपों और स्पन्दनों को प्रत्यक्ष करने के बजाय अनेक तर्क-वितर्कों के ऊहापोह में फैल जाते हैं। उनका आवेश संस्मरण के अनुरूप है, पर यात्रा-साहित्य की संज्ञा पाने के लिए लेखक को किंचित् असम्पृक्त भी रहना चाहिए। ऐसा नहीं कि यात्री तर्क-वितर्क में पड़ता नहीं, या वह अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं की अवज्ञा ही करेगा। पर जहाँ सामने बिखरे हुए जीवन की अनुभूति के मार्ग में वह बाधा बन जाय....सामने से देश विलीन हो जाय और यात्री के विचार तथा आवेग ही प्रधान हो जायँ, वहाँ जान पड़ता है कि यात्री ने अपने धर्म की अवहेलना की है।

दूसरी ओर ऐसे भी यात्री हैं जिन्होंने चिन्तन और ऊहापोह के आवेग के साथ जिन्दगी की साँसों को मिला-जुला दिया है। रांगेय राघव ने 'तूफानों के बीच' में अकाल-पीड़ित बंगाल की अपनी यात्राओं के संस्मरण इसी शैली में प्रस्तुत किये हैं। उसने अकाल-पीड़ित बंगाल में घूमते हुए, मानवता की कराह का अनुभव किया है और उस पीड़ा की अनन्त वेदना में भी उसने मानव-आस्था को पहचाना है—

"युगान्तर से दलित बंगाल का मानव पतित नहीं हुआ। अपराजित मानवता हुंकार उठी। चण्डीदास की वह पुकार....सवार अपरे मानुष सत्य, ताहार अपरे नाई......

---

१. 'सुबह के रंग'।

माझी का धर्म है अपने ऊपर निर्भर रहने वालों को अपने से पहले बचाना। जब बंगाल के माझी का जीवन खतरे में था, किसी ने नहीं बचाया उसे। किन्तु आज जीवन की बाज़ी लगाये दाँव पर खेल रहा है। माँ, पिता, सब मेरे हैं....माझी भी मेरा है। बंगाल की मानवता मेरी है।"

बंगाल के क्षत-विक्षत जीवन को देखकर लेखक का मन उमड़-उमड़ आता है और सामने उभरते हुए चित्रों के साथ उसका आक्रोश व्यक्त हो उठता है।

अभी तक जिन यात्रा-संस्मरणों का ज़िक्र किया जा रहा था, वे उन यात्रियों के हैं जो जीवन की पुकार से आकृष्ट होकर यात्रा करने वाले यायावर हैं। पर कुछ ऐसे भी यात्री हैं जो यात्रा की मस्त राहों पर भटकते हुए जीवन की पुकार सुन लेते हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोक-जीवन के गीतों को बटोरने के लिए ख़ानाबदोशों का जीवन बिताया है। यही कारण है कि इस यात्री के स्वर में लोक-गीतों की ताज़गी और उल्लास झलकता रहता है—

"नेपाल संगीतमय है। वहाँ सभी मुखरित हो उठते हैं। जाड़े में हिमालय की बरफ़ीली हवाएँ और ग्लेसियर राग की सृष्टि करते हैं। वसन्त में वृक्षों पर बसने वाले असंख्य पक्षी अपने कलरव से उपत्यकाओं को कूजित करते हैं। वर्षा में चार दिन के अतिथि बादल, अपना मेघ-मल्हार सुनाने के लिए फेरी लगाया करते हैं। इन सबके साथ स्वर-में-स्वर मिलाकर नाचता-गाता है, नेपाल।"[1]

इसी कोटि के दूसरे यात्री देवेश दास हैं। गुरुदत्त के शब्दों में इस यात्री ने देश-देश के माहात्म्य और सौन्दर्य को सर्वान्तःकरण से स्वीकार किया है। देश-देश की बिखरी हुई प्रकृति और खुले हुए जीवन के सम्मुख इनकी मुक्त यायावर आत्मा आकाश में पींगें भरने लगती है। यही कारण है कि इन्होंने अपनी 'यूरोपा' तथा 'रजवाड़े' नामक पुस्तकों में देश-देश के सौन्दर्य और जीवन को स्वप्निल नेत्रों से देखा है।

"पिरेनीज़ शैलमाला की कितनी ही चोटियों पर एक अपूर्व नील आभा मूर्छित पड़ी रहती है, मानो निशान्त की झुटपुटी स्मृति। कितने दिन से ऐसा स्निग्ध नील प्रकाश से भरा उषा का रूप नहीं देखा था।"

आगे इस स्वप्नशील यात्री का मन वर्तमान से अतीत की ओर भागने लगता है। प्रकृति-सौन्दर्य के मध्य भग्नावशेषों के सहारे इस यात्री के मन पर अतीत अपनी घटनाओं तथा व्यक्तित्वों के साथ उभरने लगता है और लेखक अभिभूत होकर गत को अपनी कल्पना के रंगों में चित्रित करने लगता है—

"यह स्कॉट का सीमान्त देश है। स्कॉट की लेखनी ही इसको इतना विचित्र, रोमांचकारी और प्राणवन्त कर गई है। स्कॉट के वर्णनों में जिस देश और दृश्य को पाता हूँ वह अब भी अटूट है, केवल नहीं है उसका अद्भुत मनुष्य। मैलरोज़ ऐली के भग्न स्तूप अब भी खड़े हैं, शेष चारणों के गीतों में ज्योत्स्ना में इसका जैसा सुन्दर वर्णन है, वह सुन्दर म्लान महिमा अब भी इस स्तूप की है।"

'रजवाड़े' की राजस्थान-सम्बन्धी यात्राओं में हमारे यात्री के मन में वीरों की अनेक गाथाएँ, इतिहास की अनेक घटनाएँ और प्रेम तथा उत्सर्ग की अनेक कहानियाँ गूँज-गूँज जाती हैं। इस

१. 'धरती गाती है'।

लेखक के लिए वर्तमान अतीत से विच्छिन्न कोई संज्ञा नहीं रखता। 'शिवालक की घाटियों में' यात्रा करने वाले श्री निधि में प्रकृति और उसके जीवन के प्रति बहुत अधिक आत्मीय भाव है। अपनी व्यापक सहानुभूति के कारण ही उसने वन्य जीवन का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण किया है। इस जीवन के हल्के-से-हल्के चढ़ाव-उतार से वह परिचित है—

"देखा, मण्डली से २५-३० हाथ दूर एक हरिण बैठा सो रहा है। बाघ उधर ही आ रहा है। एक ही दृष्टि में पहचान गया, यह मेरा पालकर छोड़ा गया चंचल था। ऊपर कोमल दीखने वाले इन हरिणों ने उसे अब तक अपनी मण्डली में नहीं मिलाया है। शायद, उनके जंगली नियमों में उसके लिए प्रायश्चित्त की कोई व्यवस्था नहीं है।"

कौतूहल और जिज्ञासा के बीच यह अपने पाठकों के सम्मुख जंगल के अद्भुत रहस्यों का उद्घाटन करता है और पाठक आश्चर्य-चकित होकर सुनता है।

अन्त में उस साहित्यिक यायावर का उल्लेख करना है, जिसके असम्पृक्त और निःशंक भाव को देखकर प्रकृति पुकार उठती है—'अरे यायावर, रहेगा याद'। पर 'अज्ञेय' का यह निरपेक्ष भाव अपने यात्रा-स्थलों के कोमल-विराट् सौन्दर्य तथा जीवन की ऊम चूम को अत्यन्त गहराई से अनुभव करता है। यह यात्री अपने को अपने-आपसे रिक्त करता है, इसलिए कि चतुर्दिक् से उसे भर सके, आस-पास के जीवन की संवेदनाओं को गहराई से महसूस कर सके। यात्री अपने चारों ओर कवि की दृष्टि से देखता है, उसकी दृष्टि में पुराण, इतिहास, पुरातत्त्व सभी-कुछ आ जाता है, पर उसकी मूल आत्मा सच्चे यायावर की ही है। भारत के सीमान्त पर खड़ा है, उसकी आँखों के सामने तूरखम का गर्वीला उभार है—

"इससे क्या कि इस मर्यादा पर्वत का नाम तूरखम है। इससे क्या कि उससे भी परली तरफ जो गान्धार-युगीन दुर्ग है, वह अब काफ़िर-कोट के नाम से प्रसिद्ध है। उठना और गिरना, बनना और मिटना, पाना और खोना, हर पारमिता की साधना में निहित है।"

प्रकृति के कोमल और विराट् सौन्दर्य को हमारा यात्री कल्पना की कोमल तूलिका से अंकित करता है। वह सौन्दर्य को जिस प्रकार चित्रित करने में सफल हुआ है उसी प्रकार उसके निर्भर आनन्द और उल्लास को भी व्यंजित कर सका है। काश्मीर के कौंसर नाग पर्वत की शिरोरेखा पर यायावर के सामने विराट् सौन्दर्य आविर्भूत होता है—

"सौन्दर्य को, रंग-रूप को, हम पीछे छोड़ आए थे। सामने था विराट्; और उसके साधन रंग नहीं थे, केवल श्वेत और कृष्ण, केवल प्रकाश और छाया, केवल आलोक और निरालोक। यों जहाँ हम थे, वहाँ की काली या धूसर चट्टानों पर, जहाँ-तहाँ काही की मिश्र-हरित, ताम्र-लोहित रंगत थी ही, जल में घुली नीलिमा भी थी ही, और दूर उस पार की निस्संग चोटियों को हिम-शीतल निर्मोह में लपेट रखने वाली बरफ की चादर में गैरिक भाव भी था ही।

अपने यात्रा-क्रम में आने वाले चरित्रों को वह उनकी व्यक्तिगत रेखाओं के साथ उभार देता है। व्यक्तिगत चरित्रों के साथ यात्री ने देशगत चरित्रों की अवतारणा भी सफलतापूर्वक की है। और जब कभी यात्री की पुरातत्त्व-दृष्टि के सामने कोई प्राचीन इमारत, मन्दिर, मूर्ति अथवा उनका भग्नावशेष बीते युगों का इतिहास खोलने लगता है, उस समय लेखक का भावावेश किंचित् मुक्त हो जाता है। उसकी यात्रा में अनेक क्षण ऐसे आये हैं।

हर्षनारायण

मार्क्सवाद और साहित्य के स्थायी तत्त्व

क्लासिक साहित्य की चाहे जो भी परिभाषा की जाय, इसमें विवाद नहीं हो सकता कि अपेक्षाकृत स्थायित्व एवं शाश्वतता उसका प्रधान गुण है।[1] सफल रचनाएँ दो प्रकार की होती हैं : श्रेष्ठ अथवा सुन्दर और महान्। श्रेष्ठ अथवा सुन्दर रचनाएँ देश-काल-पात्र की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण होती हैं, जब कि महान् रचनाओं को इस प्रकार की अपेक्षा नहीं होती, वे देश-काल-पात्र को अतिक्रान्त करके सार्वदेशिक, सार्वकालिक तथा सार्वजनीन हो जाती हैं। जब सुदीर्घ काल तक उनकी महत्ता अक्षुण्ण रह जाती है और वे 'आउट ऑव डेट' नहीं हो पातीं, तब उन्हें हम क्लासिक घोषित कर देते हैं। असाधारण रूप में महान् रचनाएँ कभी-कभी रचयिता के जीवन-काल में ही क्लासिक का महनीय अभिधान प्राप्त कर लेती हैं। जो साहित्य कभी पुराना नहीं पड़ता, जिसकी अर्थवत्ता युग-परिवर्तन के बावजूद अक्षुण्ण रहती है, जिसमें मानवीय अनुभूतियों, कल्पनाओं, विचार-पद्धतियों, शैलियों आदि के ऐसे प्रतिमान एवं टाइप उपलब्ध होते हैं जो नई अनुभूतियों, कल्पनाओं, विचार-पद्धतियों, शैलियों आदि की उद्भावना के लिए पृष्ठभूमि का काम करते हैं, उस साहित्य को हम क्लासिक साहित्य की कोटि में रखते हैं।

उपर्युक्त विवरण से क्लासिक साहित्य की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है, यद्यपि उसमें हमें उसकी कोई सर्वांगपूर्ण परिभाषा नहीं मिलती। किन्तु हमें यहाँ इस विषय की गहराई में जाने का अवकाश नहीं है। हम यहाँ क्लासिक की परिभाषा करने नहीं अपितु मार्क्सवाद के साथ उसके महत्त्व का सामंजस्य दिखलाने चले हैं।

मार्क्स क्लासिक साहित्य के मूल्यांकन में किसी से पीछे नहीं है। अपने पूर्ववर्ती महान् बूर्ज्वा लेखकों के अध्ययन की वह जोरदार सिफ़ारिश करता है। वेडमेयर को उसने एक बार लिखा था, "अन्त में, आपके स्थान पर जनतन्त्रवादी सज्जनों से मैं सामान्यतः कहूँगा कि ज्यादा अच्छा यह होगा कि, इसके पूर्व कि वे (कुत्तों के समान) भौंक-भौंककर बूर्ज्वा साहित्य का खण्डन करें, पहले इससे परिचित हो लें। उदाहरणार्थ, इन सज्जनों को थियरे, गिज़ॉट, जॉन वेड आदि की ऐतिहासिक रचनाएँ पढ़नी चाहिएँ, ताकि वे वर्गों के अतीत

1. तुलना कीजिए : "आधुनिक काल में 'क्लासिक' शब्द साधारणतः किसी भी ऐसे लेखक के लिए प्रयुक्त होता है जो शताब्दियों के न्यायालय में खरा उतर चुका है अथवा उसके लिए भी जो अपने ही समय में उनकी कोटि में रखा जाता है जो इस प्रकार खरे उतर चुके हैं" : मैकाले, *बॉसवेल्स लाइफ़ ऑफ़ जॉनसन* : "इस अद्भुत व्यक्ति का क्या ही अनोखा भाग्य रहा है ! अपने ही युग में क्लासिक समझा जाना और हमारे युग में साथी !" (इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका)।

इतिहास से अवगत हो सकें।"[1] एंगेल्स को लिखे एक पत्र में वह अपने समकालीन चर्मकार-विचारक डीट्ज़गेन की आलोचना करते हुए कहता है, "यह उसका दुर्भाग्य है कि ठीक हीगेल ही को उसने नहीं पढ़ा है।"[2] (और मार्क्स का) मार्क्स स्वयं क्लासिक साहित्य का अनन्य अध्येता था। कहा जाता है कि हाइन और गेटे उसे कण्ठस्थ थे। वह ईस्किलस (Aeschylus) और शेक्सपियर को विश्व के सर्वश्रेष्ठ नाटककार मानता और बार-बार उनकी आवृत्ति करता रहता था। दाँते और बर्न्स उसके प्रिय कवि थे। उसे अठारहवीं शताब्दी के उपन्यास बहुत रुचते थे। वह ड्यूमा और सर वाल्टर स्कॉट को भी बड़े चाव से पढ़ता था। स्कॉट की कृति 'ओल्ड मॉर्टलिटी' (Old Mortality) को वह एक ग्रन्थ-रत्न समझता था। बालज़क पर तो उसने एक पूरी पुस्तक ही लिखने की योजना बनाई थी, जो अभाग्यवश पूरी न हो सकी। इसके अतिरिक्त मार्क्स हीगेल, फायरबाख, रिकार्डो आदि की महत्ता को किस प्रकार मुक्त कण्ठ से स्वीकार करता है, यह सर्वविदित ही है।

तथापि कुछ लोगों की धारणा है कि अतीत के बूर्जुआ साहित्य की महत्ता का स्वीकार किया जाना मार्क्सवाद के लिए सर्वथा असम्भव है।[3] कहा जाता है कि मार्क्सवाद साहित्य को युग के साथ खूब कसकर बाँध देना चाहता है। उसके अनुसार साहित्य अन्ततोगत्वा युग के साथ पूर्ण निष्ठावान होने को बाध्य है और ऐसा होना उचित भी है। हीगेल का दावा है कि जो-कुछ है सब ठीक ही है, जो जैसा है वह वैसा होने योग्य भी है, सत्तावान-मूल्यवान है, अथवा यथार्थ बुद्धि-संगत होता है[4]—कम-से-कम यहाँ पूरी तौर पर चरितार्थ होता दीखता है। साहित्य का मूल्य युगमात्रावस्थायी होता है, युगान्तर में उसका विशेष मूल्य नहीं होता। यातायात के लिए कभी बैलगाड़ी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी आज रेलगाड़ी है। किन्तु अब बैलगाड़ी दो कौड़ी की वस्तु होकर रह गई है। यही हाल तथोक्त मार्क्सवाद के अनुसार, साहित्य का भी होना चाहिए। किन्तु सभी जानते हैं कि साहित्य-सम्बन्धी यह दृष्टिकोण सर्वथा असमीचीन है। आज बैलगाड़ी चाहे कोई महत्त्व न रखती हो, परन्तु बैलगाड़ी-युग के साहित्य का एक बड़ा भाग हमें अब भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लगता है।

यह भी कहा जाता है कि मार्क्सवाद परम्परा का कट्टर विरोधी है। उसके अनुसार सभी प्रकार की विचार-परम्पराएँ (आइडियॉलोजीज़) परस्पर संघर्षमाण वर्ग-हितों की पैदावार हैं, अतः उनकी महत्ता सर्वतोभावेन वर्ग-सापेक्ष ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्ग-समाज में उत्पन्न सभी ज्ञान-विज्ञान, सभी कला-कृतियाँ, सभी साहित्यिक रचनाएँ, वर्ग-विशेषों की अपेक्षा से ही मूल्य रखती हैं, सम्बन्धित वर्गों के बाहर उनका विशेष मूल्य नहीं। साम्यवादी क्रान्ति के उपरान्त इन वर्ग-मूलक विचार-सन्ततियों का अन्त हो जायगा और तभी वर्ग-विरहित विचार-धाराओं का सूत्रपात सम्भव होगा। अतएव सही मानों में क्लासिक अथवा शाश्वत साहित्य का आविर्भाव भावी वर्ग-विहीन समाज में ही हो सकता है। आजकल जिन कृतियों को हम क्लासिक

१. मार्क्स द्वारा वेडमेयर को लिखा पत्र, दिनांक ५ मार्च, १८५२।

२. मार्क्स द्वारा एंगेल्स को लिखा पत्र, दिनांक ७ नवम्बर, १८६८।

३. २२ जून, १९५३ के 'नेशनल हेराल्ड' में प्रकाशित लेख, 'मॉडर्निटी एण्ड द क्लासिक्स', में डॉ० देवराज ने ऐसा ही मत प्रकट किया है।

४. 'द रियल इज़ द रैशनल'—(हीगेल)

साहित्य कहकर पुकारते हैं वे वस्तुतः श्रेष्ठ वर्ग-साहित्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

मार्क्सवाद की उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर यह कहा जाता है कि वह यह नहीं बतला सकता कि वर्तमान बूर्जुआ-युग में सामन्तयुगीन कालिदास की रचनाओं में क्यों रस मिलता है और शंकर के भाष्यों में विचारोत्तेजकता। क्या बात है कि कालिदास एवं शंकर के समय की अर्थ-व्यवस्था तो मर चुकी किन्तु उनकी रचनाएँ अभी भी जीवन्त हैं?

उपर्युक्त विचार-सरणी आमूल भ्रान्त है। भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच जिस दुर्लंघ्य खाई की कल्पना की गई है, वह सर्वथा असंगत है। वर्गों के बीच उतना भेद नहीं जितना समझा जाता है। एक वर्ग दूसरे वर्ग से भिन्न अवश्य है, किन्तु इस भिन्नता की तह में मानवत्व नामाख्य जो एकता है उसको कम महत्त्वपूर्ण समझना भूल है। मार्क्स और एंगेल्स ने वस्तुओं के बीच आत्यन्तिक भेद की कल्पना के विरुद्ध बार-बार चेतावनी दी है। एक पात्र में एंगेल्स कहता है, "इस प्रकार के अलौकिक, ध्रुवद्वय के समान प्रतियोगी केवल संकट (क्राइसिस) के समय ही वास्तविक जगत् में अस्तित्व में आते हैं, जब कि समस्त विराट् प्रवाह अन्तर-क्रिया के रूप में ही प्रवहमान है.........और यहाँ प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है, निरपेक्ष कोई वस्तु नहीं.........।"[१] यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्गों के बीच पूर्व और पश्चिम के भेद प्रायः संकट-काल में ही परिलक्षित होते हैं। वर्गों को योनियाँ (स्पीशीज) मान लेने की भूल नहीं करनी चाहिए। वर्ग-समाज का व्यक्ति पहले मानव-व्यक्ति है फिर वर्ग-व्यक्ति। वर्ग हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर कभी हावी नहीं हो सकता। वर्ग-सम्बन्धों में हमारे व्यक्तित्व की परिसमाप्ति नहीं हो जाती। वे उसका केवल आंशिक प्रतिनिधित्व करते हैं। मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है, "लेकिन ऐतिहासिक विकास के दौरान में, और ठीक इस अपरिहार्य तथ्य के कारण कि श्रम-विभाजन के बीच सामाजिक सम्बन्ध स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर लेते हैं, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक विभाजन प्रकट हो जाता है, जहाँ तक वह (जीवन) वैयक्तिक है और जहाँ तक वह श्रम की किसी शाखा एवं उससे सम्बद्ध अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होता है। (हमारा मतलब यह नहीं है कि इस बात से यह समझा जाय कि, उदाहरणार्थ, महाजन (राँतिये), पूँजीपति, आदि व्यक्ति नहीं रह जाते; बल्कि नियत वर्ग-सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व का नियमन एवं निर्धारण करने लगते हैं, और केवल अन्य वर्ग से संघर्ष के समय विभाजन प्रकट होता है और, अपने लिए, तभी जब वे दिवालिये हो जाते हैं।)"[२] 'फ़ायरबाख़ पर लिखे छठे सूत्र में मार्क्स व्यक्तित्व को 'सामाजिक सम्बन्धों की समष्टि' बतलाता है, वर्ग-सम्बन्धों की समष्टि नहीं, जिसका मतलब यह है कि व्यक्ति वर्ग-सम्बन्धों के अतिरिक्त कुछ और भी है। ट्राट्स्की ने व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए लिखा है, "व्यक्तित्व जातीय, राष्ट्रीय, वर्ग-सम्बन्धी, अल्पकालीन और संस्थात्मक तत्त्वों का जोड़ है और, वस्तुतः, इस जोड़ के अनूठेपन में, इस मानसिक-रासायनिक मिश्रण में, ही व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है।"[३] यहाँ वर्ग-सम्बन्धों को स्पष्टतया व्यक्तित्व का अंश-मात्र माना गया है।

इस सम्बन्ध में मार्क्स की एक और उक्ति विचारणीय है। बेंथम के उपयोगितावाद की

१. एंगेल्स द्वारा कॉनराड स्क्मिट को लिखा पत्र, दिनांक २७ अक्तूबर, १८९०।
२. मार्क्स और एंगेल्स, जर्मन आइडियॉलोजी, पृष्ठ ७१-७४ (भारतीय संस्करण)।
३. लियोन ट्राट्स्की, लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन, पृष्ठ ६१।

आलोचना करते हुए मार्क्स लिखता है, "यह जानने के लिए कि श्वान के लिए क्या उपयोगी होगा, श्वान-प्रकृति का अध्ययन करना ही होगा। यह प्रकृति स्वयं उपयोगिता के सिद्धान्त से अनुमित नहीं हो सकती। इसे मनुष्य पर लागू करने पर, जो कोई सभी मानवीय कार्यों, गति-विधियों, सम्बन्धों, आदि की आलोचना उपयोगिता-सिद्धान्त के आधार पर करेगा, उसे पहले सामान्य मानव-प्रकृति की मीमांसा करनी होगी, और तब प्रत्येक ऐतिहासिक युग में परिवर्तित मानव-प्रकृति की। बेंथम इसे यों ही चलता करता है। शुष्कतम अनाड़ीपन दिखलाते हुए, वह आधुनिक दुकानदार, विशेषतः इंग्लैण्ड के दुकानदार को सामान्य (नॉर्मल) मनुष्य समझता है।"[1] इस उक्ति से भी पता चलता है कि मार्क्स वर्ग-सम्बन्धों को मानव-प्रकृति की पूर्ण अभिव्यक्ति मानने के पक्ष में नहीं था। उसके अनुसार मनुष्य की वर्ग-प्रकृति के अतिरिक्त एक सामान्य प्रकृति भी होती है।

वस्तुतः वर्ग-तत्त्व में मानव-तत्त्व अनुस्यूत रहता है। सच तो यह है कि अपर के बिना पूर्व की कल्पना ही नहीं हो सकती। यह वर्ग-तत्त्व हमारे मानस-नेत्र के लिए रंगीन चश्मे का काम करता है। हम जिस रंग का चश्मा लगायँगे उसी रंग का दर्शन कर सकेंगे, अन्य रंगों का नहीं। सफ़ेद वस्तु भी हरे चश्मे से हरी दिखाई देगी। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उस अवस्था में वस्तुएँ हमें सोलहों आने अयथार्थ रूप में ही दिखाई देंगी। उनका आयाम, उनकी अवस्थिति, उनकी हमसे दूरी, उनकी बनावट आदि-आदि के सम्बन्ध में हमें उस रंगीन चश्मे से यथार्थ ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है। इतना ही नहीं, यदि हमें उसकी वास्तविकता का पहले ही से पता हो तो हम दृश्य में से हरे रंग को कल्पना-शक्ति से छाँट करके धोखे से बच भी सकते हैं। इसी प्रकार वर्ग-व्यक्तियों को सभी पदार्थ, सभी ज्ञेय, अवास्तविक रूप में ही नहीं भासते। और जानकार व्यक्ति को—उस व्यक्ति को जो यह जानता है कि वर्गमूलक पूर्वग्रह हमारे ज्ञान को किस प्रकार विकृत कर देते हैं—वर्गमूलक पूर्वग्रहों पर बहुधा विजय भी प्राप्त हो जाती है। कार्ल मैनहाइम का यह कहना बिलकुल दुरुस्त है कि जो व्यक्ति फ्रायड के इच्छानुगामी चिन्तन (रैशनलाइज़ेशन) का रहस्य समझ लेता है वह इसके कुपरिणामों से अपने को बहुत-कुछ मुक्त कर लेता है, उसी प्रकार आत्म-पर्यवेक्षण द्वारा अपने वर्गमूलक पूर्वग्रहों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उन पूर्वग्रहों को वशीभूत कर लेना सरल हो जाता है। आत्म-चेतना वर्ग-चेतना पर वश प्राप्त करा देती है। कहना न होगा कि यह आत्म-चेतना विचारकों, कवियों आदि बुद्धिजीवियों में विकसित होती है। अतः श्रेष्ठ लेखक वर्ग-चेतना से उतने आक्रान्त नहीं होते जितने साधारण व्यक्ति। अतः क्लासिक अथवा अनीति के साहित्य को निरा वर्ग-साहित्य कहकर नहीं उड़ाया जा सकता।

मानव-मात्र की तात्त्विक एकता का यह परिणाम है कि व्यक्ति बहुधा अपने वर्गगत स्वार्थों के विपरीत भी आचरण करते देखे जाते हैं, अनजाने ही नहीं जान-बूझकर भी। मार्क्स और एंगेल्स स्वयं बूर्ज्वा वर्ग में उत्पन्न हुए थे। एंगेल्स लासाल के इस वाक्य को, कि श्रमिक-वर्ग की अपेक्षा से सभी अन्य वर्ग एक प्रतिगामी समुदाय-मात्र हैं, "ऐतिहासिक दृष्टि से ग़लत" बताते हुए लिखता है, "यह वक्तव्य केवल विशिष्ट एवं अपवादात्मक हालतों में ही सत्य है : उदाहरणार्थ, कम्यून-जैसी सर्वहारा क्रान्ति में, अथवा ऐसे देश में जहाँ न केवल राज्य एवं

१. मार्क्स, 'कैपिटल', भाग १, पृष्ठ ६७१, पाद-टिप्पणी (एवरीमैन संस्करण)।

समाज बूर्ज़ुआ वर्ग द्वारा अपने ही रूप में ढाले जा चुके हैं बल्कि जहाँ जनतांत्रिक लघु बूर्ज़ुआ वर्ग इस ढलाई को अपने अन्तिम परिणाम तक ले जाकर पहले ही उसका (बूर्ज़ुआ वर्ग का) अनुसरण कर चुका है।"[1] एक अन्य स्थान पर उस प्रक्रिया की ओर भी इंगित किया गया है जिसके द्वारा सर्वहारा से इतर वर्गों में भी 'साम्यवादी चेतना' का अवतरण होता है। मार्क्स और एंगेल्स लिखते हैं, "......निस्सन्देह साम्यवादी चेतना इस (सर्वहारा) वर्ग की स्थिति पर मनन करने से अन्य वर्गों में भी जाग्रत हो सकती है।"[2] इसी प्रकार, "इसलिए जिस प्रकार पिछले समय में सामन्तों का एक भाग बूर्ज़ुआ वर्ग में मिल गया, उसी प्रकार बूर्ज़ुआ वर्ग सर्वहारा में मिल जाता है, और विशेषतः बूर्ज़ुआ विचारकों का एक भाग, जिसे ऐतिहासिक प्रगति को उसकी समग्रता में समझने के तल तक अपने को उठा लिया है।"[3] एंगेल्स बालज़क को प्रतिक्रियावादी वर्ग का बतलाते हुए कहता है कि वह अपनी रचनाओं में अपने ही वर्ग के विरुद्ध हो जाता है। उसके शब्द सुनिए :

"अच्छा, राजनीतिक दृष्टि से बालज़क राज-सत्ता का पक्षपाती (लुई १४ के वंश का समर्थक) था; उसकी महान् कृति श्रेष्ठ समाज के असाध्य क्षय पर एक लम्बा मर्सिया है; उसकी सहानुभूति उस वर्ग के साथ है जिसका विनाश निश्चित है। किन्तु यह सब होते हुए भी, उसका कटाक्ष सर्वाधिक तीव्र, उसका व्यंग सर्वाधिक कटु, तब हो जाता है जब वह उन्हीं स्त्रियों और पुरुषों (सामन्तों) को छेड़ता है जिनके साथ वह गहरी सहानुभूति रखता है। और केवल उसके कटुतम राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी,..........सर्वसाधारण प्रतिनिधि, ही ऐसे हैं जिनकी वह अप्रच्छन्न रूप से प्रशंसा करता है।

"मैं यथार्थवाद की एक महानतम विजय और बूढ़े बालज़क का एक महानतम गुण यह समझता हूँ कि बालज़क इस प्रकार अपनी ही वर्गगत सहानुभूति और राजनीतिक पक्षपातों के विरुद्ध जाने पर बाध्य हुआ कि उसने अपने प्रिय सामन्तों के पतन की आवश्यकता देखी और बतलाया कि वे इससे अच्छी भवितव्यता के पात्र नहीं थे; कि उसने भविष्य से सच्चे मनुष्यों को देखा..........।"[4] (ज़ोर एंगेल्स का)

"वर्ग-सम्बन्ध तत्त्वतः आर्थिक सम्बन्ध हैं, और मार्क्स के अनुसार मनुष्य केवल आर्थिक आवश्यकतानुसार या आर्थिक नियमानुसार ही उत्पादन नहीं करता प्रत्युत वह सौन्दर्य के नियमों के अनुसार भी उत्पादन करता है। यही मनुष्य की पशुओं से विशेषता है।"[5]

मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं में यत्र-तत्र ऐसे भी इंगित मिले हैं कि वर्गों की सीमा-रेखाएँ आज जितनी स्पष्ट हैं उतनी पहले नहीं थीं। आज का युग वर्ग-भेद का चूड़ान्त निदर्शन है। शायद तभी इसका अन्त शीघ्र होने वाला है। मात्र-भेद से गुण-भेद का नियम

१. एंगेल्स द्वारा बेवेल को लिखा पत्र, मार्च १८७५।
२. मार्क्स और एंगेल्स, जर्मन आइडियॉलोजी, पृष्ठ ६६ (भारतीय संस्करण)।
३. मार्क्स और एंगेल्स, कम्युनिस्ट मैनिफ़ैस्टो।
४. एंगेल्स द्वारा मार्गरेट हार्कनेस को लिखा पत्र, अप्रैल, १८८८।
५. मार्क्स, इकॉनामिक-फ़िलॉसॉफ़िक मैनुस्क्रिप्ट।

यही बतलाता है। मार्क्स और एंगेल्स लिखते हैं :

"बूर्जुआ वर्ग जहाँ-जहाँ विजयी हुआ है वहाँ-वहाँ इसने सभी सामन्ती, पारिवारिक एवं ग्राम्य सम्बन्धों का अन्त कर दिया है। इसने मनुष्य-मनुष्य के बीच नग्न स्वार्थ, निष्ठुर नक़द लेन-देन के अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध-सूत्र नहीं रहने दिया है।"[1]

इसका अर्थ यह है कि पूँजीवाद के पूर्व अल्प वर्ग-समाजों में द्रव्य-सम्बन्धों एवं 'नग्न-स्वार्थ' के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध, मानवीय सम्बन्ध, पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे, अर्थात् वर्गों की प्रभविष्णुता एवं भीषणता आज की अपेक्षा पहले काफ़ी कम थी।

इसी प्रकार एंगेल्स एक अन्य स्थान पर कहता है, "अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहार में शुद्ध मानवीय भावनाओं की सम्भावना आजकल काफी कम (समाप्त नहीं—लेखक) हो गई है............।"[2] मार्क्स और एंगेल्स ने 'होली फ़ैमिली' में इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं, "सम्पत्तिशाली वर्ग और सर्वहारा उसी मानवीय आत्म-विमुखता का प्रतिनिधित्व करते हैं.........। पहले वर्ग को इस (आत्म-विमुखता) के कारण मानवीय अस्तित्व की भ्रान्ति होती है।" (ज़ोर लेखकद्वय का)। अर्थात् बूर्जुआ व्यक्तियों की मानवता शुद्ध मानवता नहीं है तथापि वे अपने को शुद्ध मानवता का प्रतिनिधि समझते हैं। पूँजीवादी समाज में "मानवीय व्यक्तित्व, मानवीय नैतिकता स्वयं एक ही साथ बाज़ार की चीज़ और वह ढाँचा, जिसमें द्रव्य काम करता है, बन जाती है।" पूँजीवाद "मनुष्य को प्रकृति से, स्वयं अपने से तथा अपने सार्वभौम तत्त्व से विमुख कर देता है" (ज़ोर मेरा)। "यह मानव-तत्त्व को अपने अस्तित्व का एक साधन-मात्र बनाकर छोड़ देता है" (ज़ोर लेखकद्वय का)। "यह उसे उसके आध्यात्मिक, उसके मानवीय सार-तत्त्व से विमुख कर देता है" और "मनुष्य को मनुष्य से विरक्त करके छोड़ता है" (ज़ोर लेखकद्वय का)। मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार पूँजीवाद इसीलिए हेय है कि वह मानव-प्रकृति के विरुद्ध जाता और 'मानव-व्यक्ति' को 'वर्ग-व्यक्ति' के रूप में परिणत कर देता है। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि आज इस पूँजीवादी समाज में वर्ग-सत्ता अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुकी है और वर्ग-तत्त्व के परे जो मानव-तत्त्व है उसकी रक्षा होनी चाहिए।[3]

वस्तुतः वर्ग-समाज में मनुष्य का चिरन्तन एवं मौलिक स्वरूप बहुत-कुछ तिरोभूत हो जाता है, किन्तु उसका समूल नाश नहीं हो पाता और वह विचारकों, कलाकारों एवं साहित्यकारों द्वारा जगाया जा सकता है। कला एवं साहित्य का हमारे व्यक्तित्व की जिस अन्तरतम तह से सम्बन्ध है उसे वर्ग-निष्ठा आदि ऊपरी तह की वस्तुएँ बहुत कम छू पाती हैं। रसेल के अनुसार "कला मानव-प्रकृति के अनियन्त्रणीय (वाइल्ड) पक्ष से निःसृत होती है,"[4] जिस पक्ष को आर्थिक सम्बन्धों के नियन्त्रण में लाना कठिन है। कार्ल मैनहाइम

१. कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो।

२. एंगेल्स, फ़ायरबाख़ ऐंड द एण्ड ऑफ़ क्लासिकल जर्मन फ़िलॉसॉफ़ी, मा० एं० से० व०, भाग २, पृष्ठ ३४४।

३. 'होली फ़ैमिली' के वाक्य जैक लिंडसे की 'मार्क्सिज़्म एण्ड कॉन्टेम्पोरेरी साइंस' नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ से उद्धृत किये गए हैं।

४. बर्ट्रेंड रसेल, रोड्स टु फ़्रीडम।

मार्क्स से ज़रा आगे बढ़कर बुद्धिजीवी वर्ग को अपेक्षाकृत वर्गहीन बतलाता है, जिसमें गहरी सच्चाई जान पड़ती है। जो कवि, कलाकार या विचारक अपनी अन्तरात्मा की गहराइयों में जितना ही डूब सकेगा वह उतना ही वर्ग-निरपेक्ष हो सकेगा। प्रश्न हो सकता है कि तब मार्क्स की कला एवं साहित्य, तथैव सभी प्रकार की विचार-परम्पराओं (आइडियॉलॉजीज़) की वर्गवादी व्याख्या का क्या होगा? इस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

यहाँ एक बात बड़े मार्के की है। वर्गों की उपलब्धियाँ अथवा उपार्जित संस्कृति को सर्वथा वर्ग-सापेक्ष समझकर त्याज्य मान लेना द्वन्द्ववाद के भी विरुद्ध पड़ता है। द्वन्द्व-न्याय के अनुसार स्थापना-प्रतिस्थापना-समन्वय का चक्र सर्वतोभावेन प्रतिषेधात्मक नहीं है। स्थापना प्रतिस्थापना द्वारा प्रतिषिद्ध अवश्य हो जाती है, किन्तु तृतीयावस्था में दोनों का समन्वय हो जाता है। समन्वय में दोनों के मूल तत्त्व विद्यमान रहते ही हैं। ऐसा लगता है कि स्थापना और प्रतिस्थापना यद्यपि पूर्ण सत्य नहीं तथापि वे शत-प्रतिशत असत्य अथवा असाध्य भी नहीं हैं। वे सत्य की एक निश्चित मात्रा अवश्य प्रकट करती हैं, तभी तो उनका समन्वय हो पाता है; अन्यथा तृतीयावस्था में उनका बाध या अपलाप ही हो जाय। अतः यदि मान भी लें कि अतीत का साहित्य वर्ग-सापेक्ष ही है, तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि हमारे लिए उसका कोई महत्त्व ही नहीं। वस्तुतः उसके भी स्थायी तत्त्व आज के ही नहीं, वरन् भावी महा समन्वय—वर्ग-विहीन समाज—में अपनाने होंगे। एंगेल्स लिखता है, "अतः प्राचीन भौतिकवाद प्रत्ययवाद द्वारा प्रतिषिद्ध हुआ। परन्तु दर्शन के आगे के विकास के दौरान में, प्रत्ययवाद भी असान्य होकर आधुनिक भौतिकवाद द्वारा प्रतिषिद्ध हो गया। यह आधुनिक भौतिकवाद, प्रतिषेध-का-प्रतिषेध, प्राचीन की पुनःस्थापना-मात्र नहीं है, बल्कि वह उस प्राचीन भौतिकवाद के स्थायी मूलाधारों की अभिवृद्धि करता है....। अतः इस प्रगति में दर्शन का 'कायाकल्प' हो जाता है, अर्थात् उसका 'उन्मूलन एवं परिरक्षण दोनों हो जाता है'; रूप की दृष्टि से उन्मूलन और विषय-वस्तु की दृष्टि से परिरक्षण"[1] (ज़ोर मेरा)। यह उद्धरण बड़े महत्त्व का है और इसे अच्छी तरह हृदयंगम किये बिना मार्क्सवाद को ठीक-ठीक समझना कठिन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद के अनुसार अतीत का साहित्य केवल कूड़ा-कचरा नहीं है; वह आज के लिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऐसा लगता है कि वर्ग-सत्य भी तत्त्वतः सत्य—हाँ आंशिक सत्य—ही हैं। अन्तर केवल ज़ोर देने में होता है। एक ही सत्य भिन्न वर्गों के हाथ में पड़कर भिन्न रूप धारण कर लेता है। किन्तु उसका सार अक्षुण्ण रहता है; केवल उसका बाह्य रूप एवं उस पर ज़ोर देने की क्रिया में हेर-फेर होता रहता है। अतः प्रत्येक महान् साहित्य, दर्शन और कला-कृति के दो पक्ष होते हैं—प्रथम स्थायी और अन्य अस्थायी; प्रथम सापेक्ष और अन्य निरपेक्ष; प्रथम देश-काल-पात्रनिष्ठ और अन्य वस्तुनिष्ठ। क्लासिक की कोटि में वही कृतियाँ आती हैं जिनमें पूर्व की अपेक्षा अपर पक्ष का प्राधान्य होता है। एंगेल्स ने भी विचार-पद्धतियों के स्थायी एवं अस्थायी दो पक्ष माने हैं—"जो व्यक्ति प्रत्येक दार्शनिक पर उसके कार्य के टिकाऊ एवं प्रगतिशील भाग के आधार पर नहीं बल्कि जो अनिवार्यतः अल्पकालीन एवं प्रतिगामी होता है उसके आधार पर—(उसके) विचार-संस्थान (सिस्टम) के आधार पर—फ़ैसला देता है वह मौन ही रहे तो

1. एंगेल्स, एंटी-डुहरिंग, पृष्ठ ११९-६।

ज़्यादा अच्छा है"[1] (ज़ोर एंगेल्स का)।

यहाँ एंगेल्स के 'टिकाऊ' शब्द पर ध्यान देना चाहिए। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि वर्गवाद की मैंने जो व्याख्या की है वह निराधार नहीं है। सब-कुछ वर्ग-सापेक्ष नहीं, बहुत-कुछ वर्ग-निरपेक्ष भी है। क्लासिक साहित्य में इस वर्ग-निरपेक्ष अंश का प्राधान्य होता है। एंगेल्स ने प्राचीन यूनानी दर्शन की विश्व-दृष्टि को 'आदिम, अनाड़ीपन लिये हुए' बताकर भी जो उसे 'तत्त्वतः ठीक'[2] कहा है उसकी भी संगति उपर्युक्त दृष्टि से ही लगाई जा सकती है।

यहाँ कुछ लोग एण्टी-डुहरिंग में प्रतिपादित सत्य, नीति-नियमों तथा राज-नियमों की वर्ग-सापेक्षता की दुहाई देकर यह सिद्ध करना चाहेंगे कि या तो मार्क्स और एंगेल्स की उपर्युक्त व्याख्या ही भ्रान्त है या उनके सिद्धान्त अन्तर्विरोधग्रस्त हैं। एंगेल्स कहता है, "नैतिकता सदैव वर्ग-नैतिकता रही।"[3] वह यहाँ एक मनोरंजक प्रश्न उठाता है, "परन्तु फिर भी, कोई व्यक्ति आपत्ति कर सकता है, शुभ अशुभ नहीं है और अशुभ शुभ नहीं है : यदि शुभ और अशुभ में गड़बड़-घोटाला कर दिया जाय तो सारी नैतिकता का अन्त हो जायगा और प्रत्येक व्यक्ति जो करना चाहेगा वही करेगा और जो नहीं करना चाहेगा उसे नहीं करेगा।"[4] एंगेल्स ने आगे चलकर इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसे आलोचकों ने प्रायः निहायत ग़लत ढंग से समझा और समझाया है। एंगेल्स कहता है :

"किन्तु मामले को इतनी आसानी से ख़त्म नहीं किया जा सकता। यदि यह इतनी आसान बात होती तो निश्चय ही शुभ और अशुभ के सम्बन्ध में कोई झगड़ा ही न रहता; प्रत्येक व्यक्ति जानता होता कि क्या शुभ है और क्या अशुभ। पर आज वस्तुस्थिति क्या है ? एक तो ईसाई-सामन्ती नैतिकता है....। साथ-ही-साथ हमें आधुनिक बूर्ज्वा नैतिकता देखने को मिलती है और इसके साथ भविष्य की सर्वहारा नैतिकता भी, यहाँ तक कि अभी समुन्नततम यूरोपीय देशों में ही भूत, वर्तमान और भविष्य नैतिक सिद्धान्तों के तीन ऐसे समूह प्रस्तुत करते हैं जो एक ही काल में साथ-ही-साथ प्रचलित हैं। तब सच्ची नैतिकता कौन-सी है ? निरपेक्ष सत्य के अर्थ में, इनमें से कोई नहीं; किन्तु निश्चय ही वह नैतिकता जिसमें अधिकतम टिकाऊ तत्त्व पाए जाते हैं वही है, जो वर्तमान काल में वर्तमान के ध्वंस का प्रतिनिधित्व करती है, भविष्य का प्रतिनिधित्व करती है : अर्थात् सर्वहारा (नैतिकता)।"[5]

एंगेल्स के कहने का तात्पर्य यह है कि शुभ-अशुभ-सम्बन्धी सीधी-सादी एवं मौलिक धारणाओं को कोई नहीं चुनौती दे सकता; शुभ-अशुभ की कल्पना का महत्त्व सर्वथा निर्विवाद है। किन्तु बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती। व्यवहार की जटिलता में पड़कर ये धारणाएँ अत्यन्त जटिल हो जाती हैं; क्या शुभ है और क्या अशुभ है इसका निर्णय टेढ़ी खीर है। यहीं

१. एंगेल्स द्वारा कॉनराड स्मिट को लिखा पत्र, दिनांक १ जुलाई, १८९१।
२. एंगेल्स, एण्टी-डुहरिंग, पृष्ठ १८ (बनारस-संस्करण)।
३. वही, पृष्ठ ७६ (बनारस-संस्करण)।
४. वही।
५. वही।

आकर शास्त्रीय पद्धतियों, संघटित (ऑर्गनाइज्ड) नैतिकता का जन्म होता है। जब एंगेल्स कहता है "नैतिकता सर्वदा वर्ग-नैतिकता हुआ करती है" तो उसे संघटित नैतिकता ही अभिप्रेत होती है, नैतिकता-सम्बन्धी उपर्युक्त मौलिक धारणाएँ नहीं। इस संघटित नैतिकता की विशाल अट्टालिका उन सीधे-सादे, मौलिक नीति-नियमों की भित्ति पर ही आधारित होती है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि संघटित नैतिकता के निर्माण में ये नियम बहुत-कुछ तोड़-मरोड़-कर बिगाड़ दिए जाते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी उनका रूप सर्वथा विलोम भी हो जाता है। हाँ, जिस नैतिकता में इस प्रकार का बिगाड़ जितना ही कम हुआ रहता है वह उतनी ही स्थायी होती है। जब एंगेल्स कहता है कि सर्वहारा-नैतिकता में स्थायी तत्त्व अन्य सारी नैतिकताओं से अधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि उसमें बिगाड़ की आशंका बहुत कम है। अच्छा, यह बिगाड़ अन्य नैतिकताओं में आवश्यक क्यों हो जाता है? इसलिए कि उनका प्रवर्तन वर्ग-विशेषों के हित में हुआ होता है, मानव-मात्र के हित में नहीं। सर्वहारा-नैतिकता में शाश्वत तत्त्वों के आधिक्य का एक-मात्र कारण यह है कि वह सार्वजनीन होती है। आइए, यहाँ एक अन्तरिम प्रश्न पर विचार करते चलें। यह आपत्ति की जा सकती है कि सर्वहारा भी तो एक वर्ग ही है, पुनः उसकी नैतिकता सार्वजनीन कैसे कही जा सकती है? मार्क्स और एंगेल्स ने स्थान-स्थान पर इस बात को स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि सर्वहारा वर्ग को साधारण अर्थ में वर्ग समझना भूल है। वस्तुतः उसमें और मानवता में केवल शब्दों का भेद है। उनके अनुसार सर्वहारा वर्ग के पास "शासक-वर्ग के विरुद्ध स्थापित करने के लिए कोई विशिष्ट वर्ग-स्वार्थ नहीं होता।"[1] वह "सभी वर्गों के ध्वंस की अभिव्यक्ति है।"[2] "यह (वर्ग-) संघर्ष अब उस अवस्था को पहुँच चुका है जहाँ शोषित और उत्पीड़ित वर्ग (सर्वहारा), समस्त समाज को शोषण, उत्पीड़न और वर्ग-संघर्ष से सदा के लिए मुक्ति दिलाए बिना, अपने को उस वर्ग से मुक्त नहीं करा सकता जो उसका शोषण और उत्पीड़न करता है'''।"[3] अतः उपर्युक्त आपत्ति निराधार है।

हाँ, एक बात रह गई। वर्ग-नैतिकता में भी कुछ-न-कुछ स्थायी तत्त्व निहित रहते ही हैं, तभी एंगेल्स आगे चलकर स्वीकार करता है कि वर्ग-नैतिकताओं द्वारा भी वास्तविक, मानवीय नैतिकता की उपलब्धि की दिशा में प्रगति ही हुई है। "इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि इस प्रवाह में नैतिकता में कुल मिलाकर प्रगति ही हुई है, जैसा कि मानवीय ज्ञान के अन्य सभी क्षेत्रों में हुआ है।"[4] इस वाक्य में एक और बात स्मरणीय है। एंगेल्स कहता है कि नैतिकता में ही नहीं वरन् ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं में वर्ग-सापेक्ष की ज्ञान-राशि में प्रगति हुई है। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स वर्गों द्वारा उपार्जित ज्ञान-राशि को एकदम त्याज्य एवं गर्हित समझने के पक्ष में कदापि नहीं थे।

एक स्थान पर मार्क्स ने तो सरल नीति-नियमों की इतने स्पष्ट शब्दों में मान्यता प्रकट की है कि उसका अभिप्राय समझने में किसी को शंका हो ही नहीं सकती। वह कहता है कि

१. जर्मन आइडियॉलॉजी, पृष्ठ ७३ (भारतीय संस्करण)।
२. वही, पृष्ठ ६७।
३. कम्युनिस्ट मैनिफ़ेस्टो, १८८३ के जर्मन-संस्करण का एंगेल्स-लिखित आमुख।
४. एण्टी-डुहरिंग, पृष्ठ ७७।

"नैतिकता और न्याय के सरल नियमों.......को, राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहार के विराट् नियमों के समान, साधारण व्यक्तियों के सम्बन्धों का नियमन करना चाहिए।"[1]

इसी प्रकार दसियों उद्धरण देकर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि मार्क्स और एंगेल्स सत्य-मात्र को नहीं अपितु अब तक के संघटित सत्यों, दर्शन-पद्धतियों, को ही वर्ग-सापेक्ष मानते हैं। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स अधिक-से-अधिक और वह भी शुद्ध व्यावहारिक अर्थ में—तात्त्विक अर्थ में नहीं—परिमित सापेक्षवादी ही कहे जा सकते हैं। उनका सापेक्ष निरपेक्ष का प्रतियोगी नहीं अपितु निर्माता है : निरपेक्ष सापेक्ष में अंशतः अभिव्यक्त होता है। इस उक्ति को संध्या-भाषा समझने की आवश्यकता नहीं। लेनिन इस समस्या पर मार्क्स और एंगेल्स के विचारों का सारांश इस प्रकार देता है—

"तब मानवीय चिन्ता स्वभावतः ही निरपेक्ष सत्य प्रस्तुत करने में समर्थ है, और प्रस्तुत करती भी है, जो सत्य कि सापेक्ष सत्यों के योग से बनता है।"[2]

अनातोले फ्रांस के किसी उपन्यास में शैतान ने कहा है कि निरपेक्ष एवं पूर्ण सत्य का रंग 'सफ़ेद' है, जो सब रंगों के मिश्रण से बना है।

उपर्युक्त विचारणाओं से स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स का वर्गवाद वर्ग-निरपेक्ष, शाश्वत अथवा स्थायी सांस्कृतिक तत्त्वों का विरोधी नहीं है। अतः ऐसा साहित्य सर्वथा सम्भव है जो युग-विशेष का न होकर युग-युग का माना जा सके।

मार्क्सवाद के अनुसार वर्गों के साथ कला तथा साहित्य का सम्बन्ध यान्त्रिक नहीं है। दोनों के बीच भारी भेद एवं विषम अनुपात भी पाया जाता है। मार्क्स ने, प्राचीन यूनानी कला एवं सामाजिक विकास के बीच जो असामंजस्य एवं असंगति पाई जाती है, उसे मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, उसे यह भी मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि कभी-कभी युग-विशेष की कला अन्य युगों की कला के लिए आदर्श एवं प्रतिमान का काम करती है।[3] यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि तब मार्क्स के आधार (सबस्ट्रक्चर) और प्रासाद (सुपरस्ट्रक्चर) वाले रूपक की क्या गति होगी? आधार ही प्रासाद का नियमन करता है, अतः प्रासाद-स्थानी साहित्य को बरबस आधार-स्थानी अर्थ-व्यवस्था अथवा वर्ग-सत्ता का अनुसरण करना होगा। यह धारणा ठीक नहीं। मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात को स्थान-स्थान पर स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि प्रासाद सर्वथा निष्क्रिय नहीं होता; जब एक बार वह उत्पन्न हो जाता है तो काफ़ी हद तक स्वयं आधार का नियमन करने लगता है। आधार और प्रासाद के बीच चलने वाली इस प्रभाव-विनिमय-प्रक्रिया को आधुनिक मार्क्सवादी, कम-से-कम व्यवहार में, सर्वथा भूल चुके हैं। तथापि इसे समझे बिना मार्क्स के संस्कृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को ठीक-ठीक समझना नितान्त असम्भव है। अच्छा, आगे चलिए। एंगेल्स कहता है कि प्रत्येक विचार-परम्परा अपने को आर्थिक आधार से न्यूनाधिक स्वतन्त्र कर लेने में अवश्य सफल हो जाती है।

१. मार्क्स, वर्किंगमेन्स इण्टरनेशनल एसोसिएशन के उद्घाटन के अवसर पर दिया गया भाषण, मा० एं० से० व०, भाग १, पृष्ठ ३४६।

२. लेनिन, मैटीरियलिज़्म एंड एम्पिरियो-क्रिटिसिज़्म, पृष्ठ १३३।

३. मार्क्स, ए कण्ट्रिब्यूशन टु द क्रिटिक ऑफ़ पोलिटिकल इकॉनॉमी, परिशिष्ट, पृष्ठ ३०६—१२।

अपने ऐतिहासिक विकास के दौरान में वह अपनी स्वतन्त्र नियमावली भी उद्भावित कर लेती है और उससे शासित होने लगती है। विचार-परम्पराएँ आर्थिक आधार से जितनी ही अधिक दूर होंगी उतनी ही अधिक वे उससे स्वतन्त्र भी होंगी। राज्य और कानून, आर्थिक आधार से निकटतम और दर्शन तथा धर्म से सुदूरतम विचार-परम्पराएँ हैं।[1] श्री विजयदेवनारायण साही ने ठीक ही लिखा है कि अर्थ-व्यवस्था-जन्य धर्म से उत्पन्न होने के कारण कला तथा साहित्य अर्थ-व्यवस्था से सर्वाधिक स्वतन्त्र हैं।[2] अतः आधार एवं प्रासाद वाले रूपक द्वारा भी कला एवं साहित्य के वर्गों के साथ अयांत्रिक सम्बन्ध की पुष्टि ही होती है।

हमने ऊपर दिखलाया है कि मार्क्स के अनुसार मनुष्य सौन्दर्य के नियमों के अनुसार भी उत्पादन करता है, केवल आर्थिक नियमों के अनुसार नहीं। वह एक स्थान पर लेखक को अपनी रचना को साधन नहीं वरन् साध्य मानने की जोरदार सिफ़ारिश करते हुए लिखता है, "लेखक अपनी रचनाओं को किसी प्रकार साधन नहीं मानता। वे स्वयं साध्य हैं; वे उसके तथा अन्यों के लिए इतने कम साधन हैं कि, आवश्यकता पड़ने पर, वह अपना अस्तित्व उनके अस्तित्व पर उत्सर्ग कर देता है और धर्मोपदेशक के समान, उसका सिद्धान्त होता है : 'मनुष्यों से अधिक ईश्वर की आज्ञा मानो,' उन मनुष्यों से जिनमें वह अपनी मानवीय आवश्यकताओं एवं इच्छाओं के साथ स्वयं सम्मिलित है।"[3] (जोर मार्क्स का)। यहाँ साफ़ शब्दों में साहित्य को वर्गगत स्वार्थों से ऊपर माना गया है। वस्तुतः मार्क्स और एंगेल्स को साहित्य के समाज-शास्त्रीय प्रतिमानों के साथ-साथ कलात्मक सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रतिमान भी मान्य हैं, जो पूर्व की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रतिमानों को माने बिना मार्क्स की बालज़क-जैसे 'प्रतिक्रियावादी' में गाढ़ी अभिरुचि, ट्राट्स्की का ब्लॉक-जैसे अबोल्शेविक कवि की कविता 'द ट्वेल्व' को 'सदा जीवित रहने वाली' बतलाना, लेनिन द्वारा पुश्किन, गेटे एवं हाइना को प्रशंसा आदि महत्त्वपूर्ण तथ्यों की व्याख्या सम्भव नहीं है। ट्राट्स्की ने सर्वहारा के सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रशिक्षण पर बड़ा जोर दिया है।[4]

वस्तुतः एक-एक कला-कृति की आर्थिक व्याख्या नहीं हो सकती। हाँ, युग-विशेष की कला एवं साहित्य की ऐसी व्याख्या एक सीमा तक अवश्य सम्भव है। मार्क्सवाद ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की व्याख्या करने का दावा करता है, व्यक्तिगत प्रवृत्तियों की नहीं। एंगेल्स कहता है कि हम किसी विचार-परम्परा का जितना ही बड़ा क्षेत्र चुनेंगे और उसके कितने ही बड़े युग की समीक्षा करेंगे वह अपनी प्रगति से आर्थिक आधार की उतनी ही अधिक अनुवर्तिनी सिद्ध होगी।[5] अर्थात्

१. एंगेल्स के आधार-प्रासाद-सम्बन्धी आलोच्य दृष्टिकोण के लिए निम्नलिखित देखिए—फ़ायरबाख़, मा० एं० से० व०, भाग २, पृष्ठ ३५६-६०, एंगेल्स द्वारा स्मिट को लिखा पत्र, दिनांक २७ अक्तूबर, १८६० और स्टार्केनबर्ग को लिखा पत्र, दिनांक २५ जनवरी १८६४।

२. 'आलोचना', अंक ६।

३. प्रेस की स्वतन्त्रता पर वाद-विवाद, करेण्ट बुक हाउस बम्बई, द्वारा १६५२ में प्रकाशित 'लिटरेचर एण्ड आर्ट' नामक संकलन के पृष्ठ ५५ पर उद्धृत।

४. लिटरेचर एण्ड रिवोल्यूशन, पृष्ठ २६।

५. एंगेल्स द्वारा स्टार्केनबर्ग को लिखा पत्र, दिनांक २५ जनवरी, १८६४।

व्यक्ति-व्यक्ति की अथवा एक-एक कला-कृति की आर्थिक व्याख्या सम्भव नहीं है; आर्थिक व्याख्या कला के विशिष्ट युग एवं इतिहास की ही हो सकती है। यही कारण है कि मार्क्सवाद साहित्य के इतिहास की मीमांसा में जितना सफल सिद्ध हुआ है उतना उसकी आलोचना के क्षेत्र में नहीं। अतएव अतीत के साहित्य के मूल्यांकन में मार्क्सवाद किसी अन्य वाद से पीछे नहीं है।

हाँ, यहाँ एक और बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है। हमने ऊपर दिखलाया है कि पूँजीवाद वर्गवाद का चूड़ान्त निदर्शन है; इसके पूर्व वर्गों का उतना ज़ोर नहीं था। अतः प्राचीन लेखकों को प्रतिगामी शक्तियों के साथ होते हुए भी उत्तमोत्तम एवं युग-युग के लिए अर्थवती रचनाएँ प्रस्तुत करने में विशेष बाधा नहीं हुई। मिखायल लिफ़शित्स इस बात का आधार लेते हुए कहता है कि आज, विकसित वर्गवाद-युग के लेखक पर वर्गों का आधिपत्य पहले की अपेक्षा कहीं अधिक है; अतः ऐसा होना कठिन है कि वह, प्राचीन लेखकों के समान, प्रतिगामी शक्तियों का साथ भी देता रहे और शाश्वत, चिरन्तन दृष्टियों से ओत-प्रोत, कृति भी भेंट कर सके। उसमें पूर्वापेक्षया वर्ग-चेतना अधिक विकसित है, जिससे उसकी रचना अछूती नहीं रह सकती।[1] किन्तु इस तर्क में उतनी गहराई नहीं जितनी आपाततः जान पड़ती है। यह सत्य है कि आज वर्गवाद अपनी चरम सीमा को पहुँच गया है, जिसका प्रभाव लेखक पर पड़ना स्वाभाविक है। आज का युग वर्ग-चेतना का युग है। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि आज वर्ग-चेतना बढ़ गई है तो इस वर्ग-चेतना की चेतना भी बढ़ती जा रही है। चेतना एक बात है और चेतना की चेतना दूसरी। वर्ग-सत्ता जिस प्रकार व्यक्तित्व को अपने साँचे में ढालती है उसका परिज्ञान प्राचीन काल में उतना नहीं था जितना आज है। और, जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं, वर्ग-चेतना की चेतना, आत्म-चेतना द्वारा लेखक अपने को एक सीमा तक वर्ग से विच्छिन्न कर लेता है। अतः आज एक ओर यदि सामान्य मनुष्यों के बीच वर्ग-चेतना पूरे ज़ोर के साथ फैल रही है तो दूसरी ओर चिन्तकों एवं साहित्यकारों द्वारा उसकी गति-विधि का पर्यवेक्षण भी चल रहा है, जो वर्ग-चेतना को हमारे नियंत्रण में लाने में सहायक सिद्ध हो रहा है। आज मनोविश्लेषण—वैयक्तिक और सामुदायिक दोनों—प्रक्रिया द्वारा हम सही मानों में आत्म-साक्षात्कार करने में सफल होते जा रहे हैं जो वर्ग-चेतना के विरुद्ध एक अत्यन्त सबल शस्त्र सिद्ध हो रहा है। अतः आज भी महान् साहित्य का निर्माण सर्वथा सम्भव है। मालूम होता है कि वर्तमान काल में अतीत के साहित्य, क्लासिक साहित्य, के टक्कर के साहित्य का प्रायः अभाव देखकर ही लिफ़शित्स ने आलोच्य धारणा बनाई थी। किन्तु महान् साहित्य की जो कमी दिखाई देती है उसका कारण कुछ और ही है, जिसके निरूपण के लिए एक स्वतन्त्र लेख की आवश्यकता है।

---

१. आजेल फ़्लोर, लिटरेचर एण्ड मार्क्सिज़्म, पृष्ठ २६-२७ (इलाहाबाद-संस्करण)।

मसीहुज़्ज़मा

उर्दू-आलोचना का विकास

उर्दू भाषा जब बोली से विकसित होकर रचनात्मक साहित्य के रूप में आई तो उसमें आलोचनात्मक तत्वों का विकास भी साथ-साथ हुआ, किन्तु इसका लिखा हुआ प्रमाण हमको सत्रहवीं शताब्दी के पहले नहीं मिलता। उर्दू में आलोचना की चर्चा करने से पहले अरबी और फारसी-आलोचना के नियमों पर विचार कर लेना उचित होगा। जब तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में उर्दू में छोटी-छोटी पुस्तकों और काव्य की रचना होने लगी, उस समय शासकों की भाषा फारसी थी। पढ़े-लिखे और ऊँचे वर्ग के लोग फारसी बोलते थे और फारसी शायरी को विविध शैलियों से प्रसन्न होते थे। अतः गद्य को छोड़कर पद्य पर फारसी का प्रभाव अधिक पड़ा।

फारसी से बहुत पहले अरबी साहित्य ने बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था। अरब में हर साल एक मेला लगता था जिसे अक्काज कहते थे। उसमें बड़े-बड़े कवि आकर अपनी-अपनी कविताएँ सुनाया करते थे और इन पर लोग बहस भी करते थे। सब कविताओं में जो सात सबसे अच्छी ठहरती थीं उनको लिखवाकर एक दीवार पर लटका दिया जाता था और साल-भर तक वे लटकी रहती थीं। यह रीति अरब में इस्लाम के जन्म से पहले से थी, जो बाद को भी बाकी रही। अरबी में आलोचना पर बहुत-सी पुस्तकें भी लिखी गईं; जिनमें अबुलफ़र्ज इब्ने जाफ़र क़दामा, इब्ने रशीक, सुआलबी, अब्दुल कादिर जरजानी, इब्ने खलदून की लिखी हुई बहुत मशहूर हैं। इन लोगों की दृष्टि में बहादुरी और जोश पैदा करने वाले शेर अच्छे होते हैं, मगर ये लोग विषय से अधिक शब्दों पर जोर देते हैं। और शेर में form को matter से ज़्यादा जरूरी समझते हैं। इब्ने खलदून ने शेर को पानी के गिलास की उपमा दी है। पानी अगर सोने, चाँदी या शीशे के गिलास में है तो वह भला मालूम होगा और मिट्टी के कुल्हड़ में इसकी शान घट जायगी। इसी तरह जो बात सुन्दर शब्दों में व्यक्त की जाती है वह भली लगती है और भोंडे शब्द शेर को बिगाड़ देते हैं।

इब्ने खलदून का जो खयाल ऊपर बयान हुआ है वही लगभग अरबी और फ़ारसी के तमाम आलोचकों का है। वह शेर के लिबास को बहुत महत्त्व देते हैं। Matter को यह लोग दूसरा दर्जा देते हैं। इसी कारण अरबी और फारसी में जो आलोचना की किताबें बाद को लिखी गईं उनमें rhetorics, क़ाफ़िया, रदीफ़ और पिंगल पर जोर देने के साथ-साथ मुहाविरों के ठीक प्रयोग की चर्चा अधिक होती है।

उर्दू में कोई आलोचनात्मक लेख सत्रहवीं शताब्दी से पहले नहीं मिलता। जहाँ तक हमें पता चल सका है सबसे पहले वजही ने अपनी मसनवी क़ुतुब-मुश्तरी में यह बताया है कि शेर को कैसा होना चाहिए। अच्छा शेर किसको कहेंगे और बुरा किसको? उनके विचार में

शब्द और अर्थ में इतना गहरा सम्बन्ध होना चाहिए कि एक की आत्मा दूसरे में आ जाय। ऊँचे लेख के लिए बात ऊँची होने के साथ उसमें असर पैदा करने के लिए सुन्दर शब्द भी होनी चाहिएँ।

वजही के बाद उत्तरी भारत के फाएज और दक्षिण के बाकर आगाह (१७७०) ने भी आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। उनमें कविता के नित्य नये रूपों एवं नियमों का वर्णन किया गया है। किन्तु यह लेख अलग से आलोचना के नियमों पर नहीं लिखे गए बल्कि अपने दीवान या संग्रह की भूमिका में हैं। इन लेखों से यह पता चलता है कि उर्दू काव्य के भिन्न-भिन्न रूपों—जैसे ग़ज़ल, कसीदा, दोहरा कवित्त, मसनवी आदि—के नियम निश्चित थे और कवि उन्हीं नियमों का प्रतिबन्ध मानते थे।

उर्दू की आलोचना को पूरी तरह से जानने के लिए आवश्यक है कि हम लेखों के अतिरिक्त उस परम्परा को भी समझ लें जो उर्दू की कविता और आलोचना की उन्नति में भाग ले रही थी। यह परम्परा उस्ताद-शागिर्द और मुशायरों की परम्परा है।

मुशायरों और उस्ताद-शागिर्द की परम्परा ने उर्दू-कविता पर गहरा प्रभाव डाला है। ऐसे समय में, जब प्रेस नहीं थे, रिसाले और किताबें नहीं छपती थीं, साहित्य-प्रसार के साधनों का अभाव था, मुशायरे ही वह माध्यम थे जिनसे शायर एक-दूसरे की वाणी से परिचित होते थे। जब सुनने वाला किसी शैर पर 'वाह-वाह' या 'बहुत खूब' कहता है तो यह सिर्फ बनावट नहीं होती बल्कि सुनने वाले के मस्तिष्क में शैर का कोई स्तर और उसकी कोई परख अवश्य रहती है। और जब वह प्रशंसा करता है तो यह स्पष्ट होता है कि जो शैर पढ़ा गया है वह उसकी कसौटी पर खरा उतरा है। आज 'वाह-वाह' और 'सुभान-अल्लाह' का कोई महत्त्व चाहे न रह गया हो लेकिन हमें यह बात अच्छी तरह मालूम है कि पहले जमाने में मुशायरे के हर शैर की प्रशंसा नहीं की जाती थी। यहाँ पर उर्दू के महाकवि मीर तक़ी 'मीर' की एक घटना याद आती है। वह मुरव्वत या मित्रता में किसी की प्रशंसा नहीं करते थे, बल्कि इस मामले में बड़े सख्त थे। मशहूर है कि ग़ालिब लड़के ही थे कि उन्होंने अपनी ग़ज़ल मुशायरे में पढ़ी और उसे सुनकर 'मीर' ने कहा कि इस लड़के को अगर कोई ठीक बताने वाला मिल गया तो यह मशहूर कवियों में जगह लेगा, वरना बहक जायगा।

मुशायरों में केवल तारीफ़ ही नहीं की जाती थी बल्कि आपत्तियाँ भी होती थीं और लोगों का ज़रा-सी चूक हो जाने पर बहुत अपमान किया जाता था। ऐसी आपत्तियों की बहुत-सी घटनाएँ किताबों में मिलती हैं। ये आपत्तियाँ और शैरों पर टीका-टिप्पणियाँ उस समय की आलोचना के नमूने हैं। ये आपत्तियाँ अधिकतर निम्न लिखित रूप की होती थीं—

(१) क़ाफ़िया, रदीफ़ अथवा वज़न में कवि ने कोई चूक की।

(२) शब्द या मुहाविरे का उचित प्रयोग नहीं हुआ।

(३) शैर का मतलब साफ़ नहीं है अर्थात् शैर सन्दिग्ध है।

(४) शैर में ऐसी बात बयान की गई है जो परम्परा या अनुभव के विपरीत है।

मुशायरों से मिली हुई उस्तादी-शागिर्दी की परम्परा थी। यह परम्परा भी फ़ारसी की थी। जब कोई शैर कहना शुरू करता था तो किसी उस्ताद के पास जाता था और वह उसको शैर के नियम बतलाता था, उसकी त्रुटियों को ठीक करता था और शैर में काट-छाँट करता था।

इसको 'इसलाह लेना' कहते थे। शागिर्द की ग़ज़ल पर यदि कोई एतराज़ होता तो उसका उत्तर देना भी उस्ताद ही का काम होता था। इस तरह के मुशायरों के स्कूल भी बन गए थे जिनकी विशेषताएँ अलग-अलग होती थीं।

भूमिकाओं के अतिरिक्त उर्दू में नियमित आलोचना तज़किरों में मिलती है, जिनमें शायरों की चर्चा वर्ण-क्रम से होती है और शायर के जीवन तथा शायर-सम्बन्धी कुछ वक्तव्य दिये जाते हैं। इसके बाद कवि के कुछ शेर दे दिये जाते हैं। भिन्न-भिन्न तज़किरों में कथाएँ और आलोचना, शायरों के बारे में, अलग-अलग हैं—किसी में कम, किसी में अधिक। आलोचना भी इनमें लिखने वाले के स्वभाव के अनुसार रंग-रंग की है। ऐसे तज़किरे तो बहुत हैं, लेकिन इनमें सबसे पहला मशहूर तज़किरा प्रसिद्ध उर्दू-कवि मीर तक़ी 'मीर' का 'निकातुश-शुअरा' है जिसके देखने से यह जान पड़ता है कि 'मीर' अच्छे कवि होने के साथ-साथ अच्छे आलोचक भी थे। अठारहवीं शताब्दी में इनके बाद के जो तज़किरे उर्दू में विशिष्ट स्थान रखते हैं वे हैं क़ुदरतुल्लह 'क़ासिम' का 'मजमूअए-नग़ज़', 'क़ायम' का लिखा हुआ 'मख़ज़ने-निकात', मीर हसन का 'तज़किरए-शोअराये-उर्दू', 'मुसहफ़ी' का 'तज़किरए-हिन्दी' और अली इबराहीम ख़लील का 'गुलज़ारे ख़लील।'

इन तज़किरों में आलोचना बहुत संक्षिप्त है और अधिकतर यह होता है कि तज़किरा लिखने वाला कवि के विषय में अपने विचार लिख देता है। यह राय आम तौर पर बे-लाग होती है, विशेषकर 'मीर' तो बहुत साफ़-साफ़ बे-धड़क कह देते थे और चाहे शायर के व्यक्तित्व के बारे में हो या उसके शेर के बारे में, आलोचना करने में कभी लगी-लिपटी नहीं रखते थे। जिनसे मित्रता होती थी उनकी बुराइयाँ करने से नहीं हिचकते थे और जिनसे विरोध होता उनकी अच्छाइयाँ बयान करना नहीं भूलते थे। यह बात 'मीर' को बहुत बड़ा बना देती है। दूसरे तज़किरा लिखने वाले साफ़ बात बे-धड़क कहने में 'मीर' तक तो नहीं पहुँचते लेकिन उनमें भी नँची-तुली रायें मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं उर्दू-शायरी की फ़ारसी-शायरी से तुलना भी कर देते हैं और कुछ शेरों में अपनी इसलाह भी प्रस्तुत कर देते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में ग़दर से पहले तक जो तज़किरे लिखे गए उनमें प्रसिद्ध ये हैं—मिर्ज़ा अली लुत्फ़ का 'गुलशने-हिन्द', शेफ़्ता का 'गुलशने-बे-ख़ार' और करीमुद्दीन का 'तबक़ाते-शोअरा'। घटनाएँ एवं चरित इनमें अधिक विस्तार से दिये हुए हैं, लेकिन आलोचनात्मक दृष्टि से उनमें और इनमें अधिक अन्तर नहीं है।

आधुनिक युग के स्वतन्त्रता-संग्राम ने हिन्दुस्तान के रहने वालों में बड़ा परिवर्तन पैदा कर दिया। कहने को तो दिल्ली के बादशाह बस नाम ही के बादशाह रह गए थे। अंग्रेज़ों का हुक्म हर जगह चलता था, लेकिन बहादुरशाह के कैद होकर रंगून चले जाने से हिन्दुस्तानियों को बड़ा मानसिक आघात लगा और वह अपने को ग़ुलाम महसूस करने लगे। इसके बाद से अंग्रेज़ी प्रभाव से जीवन के मूल्य बदलने लगे और कुछ ही वर्षों में समाज का ढाँचा ही बदल गया। एक नया मध्य-वर्ग पैदा हो गया, जिसकी समस्याएँ दूसरी थीं और जो अंग्रेज़ों से मित्रता करने और उनसे प्रभाव ग्रहण करने को विवश था। लोग अंग्रेज़ी पढ़ने लगे, अंग्रेज़ी सभ्यता से असर लेने लगे। अंग्रेज़ी के रास्ते नये-नये विचार साहित्य में आने लगे और उर्दू-साहित्य

की दूसरी धाराओं की तरह आलोचना ने भी फ़ारसी से अपना मुँह मोड़कर अंग्रेजी की तरफ़ कर लिया और एक ठहरे हुए सामाजिक संगठन ने आलोचना में ऊपरी सुन्दरता की जो विशेषता दे रखी थी वह समाप्त होनी शुरू हुई। साहित्य के अर्थपूर्ण भाग पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा। लोग साहित्य को नैसर्गिक अथवा आध्यात्मिक वस्तु समझने के बजाय उसे समाज की पैदावार समझने लगे, जिसमें समय की माँगों का ध्यान रखा जाय और ऐसी चीजें लिखी जायँ जिनसे राष्ट्रीय जीवन का उत्थान हो। साहित्य केवल मनोरंजन का आधार नहीं, बल्कि इसका उद्देश्य समाज का सुधार है। इन विचारों को उर्दू में फैलाने का श्रेय जिन दो व्यक्तियों को है, वे हैं 'आजाद' और 'हाली'।

मुहम्मद हुसैन 'आजाद' ने सबसे पहले इसकी ओर ध्यान दिया और 'आबे-हयात' लिखकर उन्होंने नई आलोचना की नींव डाली। वैसे तो करीमुद्दीन के 'तबक़ाते-शोरा' (१८४८) में भी उर्दू-भाषा के इतिहास पर लिखा गया है लेकिन 'आबे-हयात' को उर्दू-काव्य का पहला इतिहास भी कहा जा सकता है। इसके आरम्भ में उर्दू-भाषा के उद्‌भव का वर्णन है और ब्रज-भाषा का उर्दू पर प्रभाव भी दिखाया गया है। फिर उत्तरी भारत के उर्दू-काव्य के अलग-अलग युग बनाकर उनकी अलग-अलग विशेषताएँ तथा उनके कवियों का हाल लिखा है और उनकी शायरी पर आलोचना लिखी है। इसमें जबान की सफ़ाई पर अधिक जोर दिया गया है, लेकिन अर्थ को टाला नहीं गया है। जगह-जगह शायरी और समाज में जो सम्बन्ध होता है उसको स्पष्ट किया है, और यह बताया है कि कवि पर अपने वातावरण का क्या प्रभाव पड़ा है। आलोचना के सम्बन्ध में 'आबे-हयात' के अलावा आजाद के कुछ व्याख्यान भी हैं, जो उन्होंने १८६८ और १८७४ में दिये थे।

'हाली' ने १८६३ में अपने संग्रह की बहुत लम्बी भूमिका लिखी थी, जिसका शीर्षक 'शैरो-शायरी' है। इसको अब इतनी विशेषता प्राप्त हो चुकी है कि इसे अलग किताब समझा जाता है। इस भूमिका के दो भाग हैं। पहले में 'हाली' ने शायरी के नियमों पर बहस की है और 'शायरी पर सोसाइटी का असर', 'शायरी और समाज', 'अच्छा शैर किसे कहते हैं', 'शैर के लिए क़ाफ़िया जरूरी है या नहीं', 'नजमो-नस्र का फ़र्क', 'शैर का मक़सद' आदि-आदि शीर्षक बनाकर उन पर अपनी राय लिखी है और अरबी, फ़ारसी, अंग्रेजी और यूनानी कवियों के कुछ उदाहरण भी दिये हैं। दूसरे भाग में उन्होंने उर्दू-ग़जल, क़सीदा, मसनवी तथा मरसिये पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली है और यह दिखाया है कि उर्दू-शायरी पुरानी लकीर पर आँखें बन्द किये आगे बढ़ती जा रही है तथा इससे अनजान है कि समय के बदले हुए रंग के कारण शायरी को भी अपना रूप बदल देना चाहिए और विलास के राग गाने के बजाय समाज को उभारने का काम सँभालना चाहिए।

'हाली' का उद्देश्य इस लेख से यह था कि उर्दू-ग़जल अपनी पुरानी डगर को छोड़कर नये रास्ते पर आ लगे। इसलिए उन्होंने इसकी केवल बुराइयाँ-ही-बुराइयाँ बयान की हैं और लोगों को उसे छोड़ देने को कहा है। उस दृष्टि से तो उनकी किताब ठीक है, लेकिन जहाँ तक शायरी की आलोचना का प्रश्न है, किताब का दूसरा भाग एक-पक्षीय होकर रह गया है। इस कमी को बाद में लखनऊ-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर सय्यद मसूद हसन रिजवी ने अपनी किताब 'हमारी शायरी' (१९२८) में पूरा किया; जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

शिबली भी 'हाली' और 'आज़ाद' के सहयोगी हैं, किन्तु आलोचना की ओर उन्होंने बीसवीं शताब्दी से पहले ध्यान नहीं दिया। उन्होंने फ़ारसी-साहित्य का इतिहास 'शैरुल-अजम' लिखा है, जिसमें शायरी पर साधारण बहस भी की है। इसके अलावा एक किताब में उन्होंने 'अनीस' और 'दबीर' की तुलना भी की है। शिबली ने 'हाली' और 'आज़ाद' के विचारों को ज़रा ज़्यादा स्पष्ट करके बयान किया है; लेकिन उनमें एक बड़ी कमज़ोरी यह है कि जब वह नियमों की स्थापना करके आलोचना लिखते हैं तो उन नियमों को भूल जाते हैं। 'मुवाज़नए-अनीस-व-दबीर' में उन्होंने दोनों शायरों की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ सामने रखकर उनकी तुलना करने के बजाय पक्षपात से काम लिया है।

उसी काल में पटना के इमदाद इमाम 'असर' ने दो भागों में एक किताब 'काशिफ़ुल हकायक़' लिखी। पहले भाग में संस्कृत, यूनानी, अरबी आदि के काव्य का संक्षिप्त वर्णन किया है और दूसरे भाग में उर्दू-साहित्य का विवेचन है तथा उसके काव्य के भिन्न-भिन्न भेदों पर विचार प्रकट किया है। वह हर राष्ट्र और देश के लिए शायरी को आवश्यक समझते हैं। इससे आत्मा को सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है और साथ-साथ इसको लोगों की आदतें सुधारने में भी भाग लेना चाहिए। वह इस बात पर दुखी होते हैं कि उर्दू-शायरी अधिकतर फ़ारसी की डगर पर चली है। उनके विचार में इसे संस्कृत-काव्य का रंग पकड़ना चाहिए था, इस कारण से कि राष्ट्रीय विशेषताएँ उसमें अधिक थीं।

अनुशीलन (research) और आलोचना (criticism) दो अलग-अलग चीज़ें हैं; लेकिन दोनों का सम्बन्ध ऐसा है जैसे चोली-दामन का साथ। एक को दूसरे का सहारा लेना पड़ता है। उर्दू-साहित्य में तज़किरों के समय से अनुशीलन की एक परम्परा मिलती है, लेकिन ग़दर से पहले इसका आग्रह मुहाविरों और भाषा पर रहा। ग़दर के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में 'आज़ाद' के सिवा और किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। हाँ, बीसवीं शताब्दी के शुरू ही से अंग्रेज़ी प्रभाव से ऐसे लोग पैदा हो गए जिन्होंने दूसरे साहित्यिक कार्यों के साथ साहित्यिक खोज की ओर भी ध्यान दिया। इन लोगों के परिश्रम से बहुत-सी नई बातें ज्ञात हुईं तथा ऐसी किताबों का परिचय मिला जिनके विषय में लोग नहीं जानते थे और उर्दू साहित्य का इतिहास बहुत आगे बढ़ गया।

डॉक्टर अब्दुल हक़ की कोई अलग किताब नहीं है। वह हैदराबाद में उर्दू के प्रोफ़ेसर थे। अञ्जुमने-तरक़्क़ी-ए-उर्दू के मन्त्री होकर वह इस काम से अलग हो गए और अपना सारा समय अञ्जुमने-तरक़्क़ी-ए-उर्दू को देने लगे। उन्होंने बहुत सी पुरानी किताबों को अञ्जुमन की ओर से छापा है और उन पर भूमिकाएँ भी लिखी हैं। यही उनकी आलोचना की पूँजी है। अब्दुल हक़ वर्तमान के मानने वाले हैं और वर्तमान से हाली से अधिक परिचित हैं, इसीलिए उनकी आलोचना में सन्तुलन हाली से अधिक मिलता है। वह इसको अनुचित समझते हैं कि पश्चिम की कसौटी पर पूर्व के साहित्य को जाँचा जाय। हर साहित्य का एक अलग स्वभाव होता है जो उसकी परम्परा के साथ जुड़ा होता है।

पंडित ब्रजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' की दो किताबें 'मंशूरात' और 'कैफ़िया' हैं, जो उर्दू-साहित्य के कुछ भागों पर प्रकाश डालती हैं। इसके अतिरिक्त उनके लेख भी हैं। उनका यह विचार कि अंग्रेज़ी पढ़ने वाले उर्दू-साहित्य को अंग्रेज़ी नियमों पर जाँचते हैं, ग़लत है।

वह नियम अच्छे अवश्य हैं मगर तमाम-के-तमाम को उर्दू पर लागू कर देना अनुचित है। साहित्य एवं काव्य पंडित 'कैफ़ी' के विचार में कलात्मक उत्कृष्टताओं का संग्रह-मात्र नहीं है, बल्कि इसमें जीवन का अनुवाद भी होना चाहिए। ओरिएण्टल कॉलिज लाहौर के प्रोफ़ेसर महमूद शीरानी की विशेष रुचि अनुशीलन की ओर है। उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो', 'खालिक बारी, और 'फ़िरदौसी' पर बहुत समय लगाकर महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उनकी पुस्तक 'पंजाब में उर्दू' भी अनुशीलन का अच्छा उदाहरण है, लेकिन आलोचना का पहलू इन सबमें बहुत कमजोर है।

लखनऊ-यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर सैयद मसूद हसन रिजवी ने अपने जीवन का अधिकतर समय पुराने साहित्य के अध्ययन में बिताया है और लगभग एक दर्जन पुस्तकों को सम्पादित करके प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त उनकी किताब 'हमारी शायरी' उर्दू शायरी के उन अंगों की व्याख्या करती है जिनकी तरफ 'हाली' ने ध्यान नहीं दिया था। 'हमारी शायरी' के भी दो भाग हैं—एक में शायरी पर साधारण बहस है और उसकी विशेषताएँ बयान की गई हैं, दूसरे में उर्दू की शायरी के कुछ अच्छे पहलुओं का वर्णन किया गया है। शायरी में मसूद साहब भावों (जज़्बात) को अधिक महत्त्व देते हैं और उनके विचार में यही भाव जब शब्दों का रूप धारण कर लेते हैं तो शैर कहलाते हैं। वह शायरी का उद्देश्य किसी विचार-धारा का प्रचार नहीं समझते। इनके विचार में यदि एक कविता पढ़कर किसी को आनन्द मिल जाय और उसकी आत्मा जाग उठे तो वही उसका उद्देश्य है। उन्होंने बहुत-सी ऐसी बातों की खोज की जिनसे लोग परिचित नहीं थे और उन पर लेख लिखकर उर्दू-साहित्य के इतिहास को अधिक उन्नति दी। इसके अतिरिक्त उनका आलोचना लिखने का ढंग पूर्वीय और पाश्चात्य नियमों का अच्छा सन्तुलन प्रस्तुत करता है।

प्रभाववादी आलोचना का उदाहरण 'नियाज़' फ़तेहपुरी हैं। उन्होंने १९२२ से एक रिसाला 'निगार' भोपाल से निकालना शुरू किया, जिसे बाद को लखनऊ ले आए तथा अब वहीं से निकालते हैं, और अधिकतर उसीमें लिखते भी हैं। शायरी के विषय में उनके विचार स्पिनगार्न (Spingarn) से मिलते हैं। उनका कथन है : "मिस्टर स्पिनगार्न लिखता है कि नज़्म न अख़लाक़ी होती है न ग़ैर-अख़लाकी, बल्कि वह सिर्फ आर्ट का एक नमूना होती है।" यानी वह शायरी की सामाजिक विशेषता के कायल नहीं हैं तथा उसको केवल सौन्दर्यात्मक वस्तु समझते हैं और अपनी पसन्द को आलोचना की कसौटी समझते हैं।

'कला कला के लिए' के मानने वालों में 'नियाज़' फ़तेहपुरी हैं और उनकी आलोचना में अधिकतर यही रंग मिलता है।

आगरा-कालिज के भूतपूर्व प्रोफ़ेसर हामिद हसन क़ादिरी पुरानी परम्परा के समर्थक अधिक हैं। उनके विचार से साहित्य में नये अनुभव अधिकतर अच्छे नहीं। वह उस साहित्य को भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखते जो साहित्य के लिए ही हो। उनकी राय में साहित्य में सुन्दरता (Asthetics) का महान् स्थान है और शायर का कमाल यही है कि वह ऐसे ठीक और उचित शब्द अपनी कविता में लाए कि उसकी कविता सुन्दर हो। शायर क्या बात कहता है इसका महत्त्व उनके निकट अधिक नहीं।

मौलाना सुलेमान नदवी और अब्दुल माजिद दरियाबादी भी उर्दू-साहित्य के अनुशीलन

और आलोचना में रुचि रखते हैं। इन लोगों पर धार्मिक साहित्य का अधिक प्रभाव है और उर्दू में ज़्यादा काम इनका धर्म-शास्त्र ही से सम्बन्धित है।

इन लिखने वालों के साथ-साथ आलोचकों का एक ऐसा वर्ग था जो पश्चिम से प्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण कर रहा था। इन लोगों ने अफ़लातून से लेकर बाद तक के पाश्चात्य आलोचकों के सिद्धान्तों का उर्दू में अनुवाद किया और साथ ही कुछ अपने विचार भी प्रकट किये। फिर उन भावों से प्रभाव लेकर इन्होंने जो आलोचना लिखी उसका रंग उन लेखकों से भिन्न है जिनके सम्बन्ध में हम ऊपर लिख चुके हैं।

हैदराबाद के डॉक्टर महीउद्दीन 'ज़ोर' ने आठ-दस किताबें प्रस्तुत की हैं, जिनमें हमारे विचार से 'रूहे तनक़ीद' सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने जो अध्याय बनाये हैं उनसे इस पुस्तक का अनुमान हो जायगा। वह हैं आलोचना की विशेषता, उसका उद्देश्य, आलोचना की परिभाषा, उसकी आवश्यकता, साहित्य से उसका सम्बन्ध, उसका जन्म आदि। इसके बाद पाश्चात्य साहित्य में अरस्तू से लेकर मैथ्यू आर्नल्ड तक के आलोचनात्मक विचारों की विवेचना की गई है।

डॉक्टर 'ज़ोर' ने लिखा है कि आलोचना को लोग हर ज़रा-सी बेतुकी बात की पकड़ और बुराई खोजना समझते हैं, जो ग़लत है। यह उस कला का नाम है जिसमें खरे और खोटे को परखा जाता है और किसी चीज़ की अच्छाइयाँ तथा बुराइयाँ दोनों का विवेचन करके उसका ठीक स्थान बताया जाता है। उन्होंने आलोचना की इस बहस में अनातोले फ्रान्स, स्विनबर्न, वाल्टर राली, सांत-बाफ़ आदि के विचार बयान किये हैं। डॉक्टर 'ज़ोर' के अपने विचार तो कम ही हैं; उन्होंने अंग्रेज़ी की किताबों को सामने रखकर उनके बयानों को अपने शब्दों में दोहरा दिया है। 'रूहे तनक़ीद' में बहुत से पाश्चात्य समीक्षकों के विचारों का वर्णन किया गया है और इसके कारण यह किताब कुछ उलझ-सी गई है। इसमें गहराई, चिन्तन और उपज की कमी है।

डॉक्टर 'ज़ोर' ने 'रूहे तनक़ीद' १९२७ में लिखी थी। इसके बाद उन्होंने अपनी और किताबें भी प्रकाशित कीं, जिनमें इन्हीं नियमों को सामने रखकर उर्दू की कुछ किताबों पर आलोचना लिखी गई है। इन किताबों की आलोचना नियमों के प्रतिबन्ध के कारण यान्त्रिक होकर रह गई है।

डॉक्टर 'ज़ोर' के बाद हामिदुल्लाह 'अफ़सर' ने भी 'नक़्दुल-अदब' के नाम से समीक्षात्मक नियमों पर एक पुस्तक लिखी। इस किताब के आरम्भ में बड़े लम्बे-लम्बे विवाद किये गए हैं, लेकिन वास्तव में इसका अधिकतर भाग हडसन के 'Introduction to the Study of Literature' और वर्स फोल्ड के 'Judgement in Literature' के भिन्न-भिन्न भागों का अनुवाद या सारांश है।

हैदराबाद के प्रोफ़ेसर अब्दुल क़ादिर 'सरवरी' के लेखों में भी पाश्चात्य प्रभाव पाया जाता है। उन्होंने अलग से आलोचना पर तो कोई किताब नहीं लिखी लेकिन उनकी पुस्तक 'जदीद उर्दू शायरी' (१९२८) के आरम्भ में विशेषतः समीक्षा के सिद्धान्तों की विवेचना है। इसके अतिरिक्त भी उनकी तीन किताबों में उनके भाव मिलते हैं। इन विचारों में पश्चिम का प्रभाव अधिक मिलता है। उन्होंने उर्दू में कथा-साहित्य से सम्बन्धित आलोचना प्रस्तुत की और इसी क्रम में यूरोप के आलोचकों के विचार प्रस्तुत किये; नहीं तो और लोग तो अब तक केवल कविता

ही की चर्चा करते थे।

उर्दू-साहित्य का इतिहास लिखने वालों का भी एक दल है। इसमें कुछ तो पुराने लोग हैं, जिन्होंने 'आबे-हयात' को सामने रखकर केवल उसकी नकल उतारी है। ऐसे लोगों में 'गुले राना' के लेखक अब्दुल हई, 'सैरुल मुसन्निफ़ीन' के लेखक मुहम्मद यहया और 'शैरुल-हिन्द' के लेखक अब्दुस्सलाम हैं। अब्दुल हई का आलोचना से कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, अब्दुस्सलाम पुराने ढंग से आलोचना करते हैं और कवियों के अच्छे-बुरे दोनों पहलू दिखाते हैं। इन लोगों से अलग रामबाबू सक्सेना, एजाज़ हुसैन, नसीरुद्दीन हाशिमी, आग़ा मुहम्मद-बाक़र, सय्यद मुहम्मद आदि हैं, जिन्होंने या तो पूरे साहित्य का या किसी विशेष काल का इतिहास लिखा है और इसमें नये तथा पुराने नियमों को मिला दिया है। ये लोग एक-एक युग को लेकर उस समय के कवियों का हाल तथा उन पर आलोचना लिखते हैं और उसमें उन कवियों अथवा लेखकों की विशेषताएँ बयान करते हैं जिनसे उनके पद का अनुमान हो जाता है। मगर उर्दू-साहित्य के आधे दर्जन इतिहास होते हुए भी यह अंग्रेजी की पुस्तकों से घटिया हैं और इस क्षेत्र में अभी उन्नति की अधिक आवश्यकता है।

प्रस्तुत प्रश्न

गिरिजाकुमार माथुर

नई कविता का भविष्य

: १ :

आज हिन्दी की नई कविता उस स्थिति में पहुँच चुकी है जब हमें पिछले चौदह-पन्द्रह वर्षों के उसके विकास और तीव्र आवर्तनों का बारीकी से विश्लेषण और मूल्यांकन करना होगा। हमें देखना होगा कि जिन तत्त्वों को लेकर तेज़ी से परिवर्तन हुए हैं उनका साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्त्व कितना है, हिन्दी-काव्य के विकास में वे सहायक हुए अथवा बाधक, उनके द्वारा नई कविता उस विकास की ऐतिहासिक कड़ी बन सकी या नहीं, इन तत्त्वों में से कौन-से तत्त्व जीवित रह सकेंगे और भविष्य की कविता के बीज साबित होंगे अथवा पिछले पन्द्रह वर्षों की कविता का संक्रान्तिकालीन साहित्य से अधिक कुछ महत्त्व नहीं होगा तथा आगे चलकर वह इतिहास और शोध की सामग्री-मात्र बनकर रह जायगी। सारांश यह कि सन् सैंतीस से जो प्रयोग शुरू हुए और सन् तैंतालीस-चवालीस से आज तक आकर जिनका रूप स्थिर हुआ उनमें भविष्य की कविता का कोई पूर्वाभास भी है या वह तत्कालीन परिस्थिति-जन्य काव्य की एक विशेषावस्था थी जो अधिक दिन नहीं टिक सकी और जैसे आई थी वैसे ही खत्म हो गई। इन सभी मौलिक प्रश्नों पर विचार करना आज आवश्यक है जिससे एक ओर हम नई कविता को अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से देखें और दूसरी ओर उन चीज़ों पर नज़र जमा सकें जिनमें भविष्य की सम्भावनाएँ हैं और जिनके संरक्षण तथा अंगीकरण से हम आगे का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

पिछले पन्द्रह वर्षों में किस तरह की कविता हमारे सामने आई है और उसके मूल में कौन-से विशेष कारण रहे हैं, पहले हम इस पर विचार करेंगे। छायावादोत्तर-काल में हिन्दी-कविता में जितनी उथल-पुथल हुई और जिन विविध रीतियों से वह झकझोरी गई उतना आलोड़न पहले किसी काल में नहीं हुआ। आरम्भ के अकेले वैयक्तिक प्रयत्नों से लेकर बड़े व्यापक ढंग के सामूहिक प्रयत्न इस काल में हुए। समर्थकों और विरोधियों ने इन नये प्रयत्नों को विभिन्न, विचित्र और तरह-तरह के फैन्सी नाम दिये। हर नये प्रयत्न और प्रयोग को किसी-न-किसी 'वाद' में फिट कर दिया गया। हृदयवाद, अभिव्यञ्जनावाद, भोगवाद, यौनवाद, वस्तुवाद, संकेतवाद, प्रतिक्रियावाद, प्रगतिवाद, अभिनववाद, प्रतीकवाद, प्रयोगवाद, रूपवाद, प्रपद्यवाद

आदि-आदि दर्जनों वादों का हिन्दी में तूफान उठ खड़ा हुआ। हिन्दी के लेखक और आलोचक दोनों ही समान रूप से इसके लिए उत्तरदायी रहे। इतने सभी 'वाद' हिन्दी में अचानक कहीं ऊपर से आ टपके और यह सभी 'स्कूल' ऐतिहासिक परम्परा में अपनी स्थायी जगह बना सके, यह सोचना भूल है। सारे 'वादों' के बवंडर में केवल एक बात स्पष्ट रही कि इन वर्षों में हिन्दी-कविता को विविध तरीकों से बदलने का अथक प्रयत्न किया गया है। ये 'वाद' असलियत में और कुछ नहीं हैं बल्कि जितने नये विषयों को जितने नये तरीकों से लिखा गया और काव्य के विविध पक्षों पर जितने प्रयोग किये गए सबको एक-न-एक नये वाद की संज्ञा दे दी गई। हरेक नई चीज को हिन्दी में 'वाद' कह देने का चलन-सा हो चुका है, 'छायावाद' के नाम से लेकर आज तक के वादों में यही मनोवृत्ति काम करती रही है। फिर इधर का जमाना तो और भी नारों तथा इश्तहारों का रहा है। धीरे-धीरे नई कविता को गुटों में बाँट दिया गया और उस पर तरह-तरह के लेबिल चिपका दिये गए। कविता को नये रूप में ढालने के लिए जो प्रयत्न और प्रयोग आरम्भिक अवस्था में मुक्त स्वेच्छा से किये गए थे उन्हें वाद में जबरन अलग-अलग कटघरों में खड़ा करने की कोशिश की जाने लगी। गिने-चुने वैयक्तिक प्रयत्न जितने व्यापक और सामूहिक होते गए उतनी ही गुटों की गिनती बढ़ती चली गई। लेकिन परिवर्तन इतनी तेजी से होते जा रहे थे कि इन डिब्बों में नई कविता को समेटे रहना आसान नहीं था। इसलिए कुछ ही दिनों के बाद यह कृत्रिम सीमाएँ चटखने लगीं और नई कविता फूटकर चारों तरफ फैलने लगी। आज नई कविता की यही स्थिति है कि वह गुटों की सीमाओं से छितर-छितरकर फैल रही है, उसकी धाराएँ आपस में मिल रही हैं, और एकबारगी बाँध टूटकर महान् शक्ति से एकसार बहने का वक्त पास आता जा रहा है।

छायावाद-काल के बाद से अब तक के सारे प्रयत्न और परिवर्तन तीन-चार मुख्य विभागों में रखकर देखे जा सकते हैं। पहला वर्ग उन सभी रचनाओं का हो सकता है जिनमें विशेष रूप से नये सामाजिक यथार्थ को पकड़ने का आग्रह रहा है, और जिनका मुख्य प्रेरणा-स्रोत देश-विदेश की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ तथा तज्जनित वर्ग-संघर्ष हैं। इस विभाग में हम उन रचनाओं को भी ले सकते हैं जिनमें उपरोक्त प्रेरणा के विभिन्न रूपान्तर वैयक्तिक और सामूहिक दोनों ही ढंग से प्राप्त होते हैं।

दूसरा विभाग उन रचनाओं का है जिनका प्रेरणा-स्रोत व्यक्तिगत परिस्थितियों से उत्पन्न मानसिक अन्तर्द्वन्द्व है, और जिनकी मुख्य गूँज रोमानी असन्तोष, अनास्था, द्विविधा, सन्देह और सामाजिक अवस्था की 'पैसिव' स्वीकृति रही है। इन रचनाओं का केन्द्र व्यक्तिमूलक रहा है और इसीलिए इन रचनाओं में व्यक्ति-संघर्ष की अधिकतर झलक दिखाई देती है। यह इस बात का सबूत है कि आज के युग का व्यक्तित्व खण्डित है और जो कवि उस खंडितावस्था से ऊपर उठने में विवश होते हैं या उठना नहीं चाहते, या उस अवस्था को स्वीकार किये रहना चाहते हैं जो उनके सामाजिक सम्बन्ध-विशेष और स्थिति-विशेष को निर्धारित करती है, या उनकी तत्कालीन स्थिति को सुरक्षित रखती है, ऐसे कवियों का व्यक्तित्व भी समाजोन्मुखी न होकर वैयक्तिक और एकांतिक हो गया है। इस वर्ग के कवि यद्यपि विशिष्ट समाजवादिता और वर्ग-संघर्ष की सीधी अभिव्यक्ति का विरोध करते प्रतीत होते हैं फिर भी अपने को प्रत्यक्षतः सामाजिकता का विरोधी नहीं कहते।

तीसरा विभाग उन रचनाओं का है जिनमें परिस्थिति-जन्य असन्तोष और उदासी है, जीवन-संघर्ष के कारण थकान, हार……और पस्ती भी अक्सर झलकती है। लेकिन फिर भी सामाजिक चेतना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इन कविताओं में जीवन के रस और रंग के प्रति मोह दिखाई देता है, इसीलिए इन्सानी जीवन के भविष्य में विश्वास भी। ऐसी रचनाओं में एक विशेष प्रकार का समन्वय नज़र आता है जो इस बात का प्रमाण है कि मानवता में गहरा विश्वास रखने वाले ये कवि मौजूदा परिस्थितियों के विरोधी तत्त्वों के बीच समाधान पाने का यत्न कर रहे हैं।

चौथे विभाग में वे सद्यजात रचनाएँ आती हैं जिनमें कवि या तो वादों और संघर्ष-रत विचार-धाराओं से अछूता रहने के प्रयत्न में रोमानी गीतात्मकता की पृष्ठभूमि पर लोकप्रिय (पापुलर) चीजें लिखने का प्रयास करते रहे हैं या ताज़गी लाने के लिए प्रकृति के यथातथ्य चित्रण ग्राम लैण्डस्केप, जनपदीय शब्दावली, बोल-चाल की भाषा के प्रयोग और लोक-गीतों के प्रकारों को अंगीकार करके नई कविता में स्थानीय रंग भर रहे हैं। ये कवि परिस्थितियों की कटुता से आँख मिलाते हुए कुछ घबराते प्रतीत होते हैं इसीलिए या तो 'नेचर' की रंगीनी की तरफ़ मुड़ते हैं, ऋतुओं के रसमय परिवर्तनों में नये ढंग और शैली से मन रमाते हैं या यथार्थ के पास पहुँचने की कोशिश में जनपदों के रम्य, विशद और 'डिटेल' से भरे चित्र आँकते हैं। 'डिटेल' देने से ही उनके यथार्थ-बोध की तुष्टि हो जाती मालूम पड़ती है, इसलिए वे इस यथातथ्यता से आगे बढ़कर वर्तमान की विविध भावनाओं तथा समस्याओं से अपने कृतित्व का सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते।

नई कविता की ये चारों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से कहीं-न-कहीं निकट होते हुए भी एक-दूसरे का खुलकर विरोध करती हुई पिछले पन्द्रह वर्षों से अग्रसर होती जा रही हैं।

इन्हीं कुछ मुख्य दृष्टियों (एप्रोच) से आज की सारी नई कविता देखी-समझी जा सकती है। पिछले पन्द्रह वर्षों में इन विभागों के अन्तर्गत विषय-वस्तु और रूप-विधान दोनों ही प्रकार के नये प्रयत्न और प्रयोग किये गए हैं। अब तक आलोचकों द्वारा बनाये हुए नई कविता के प्रचलित वर्गीकरण से हम मोटे तौर पर यह समझते रहे हैं कि जो रचनाएँ समाजवादी-मार्क्सवादी दृष्टिकोण के साथ सामाजिक आग्रह लेकर चलती हैं वे सब प्रगतिवादी हैं और जिनमें व्यक्तिगत रोमानी भावना की प्रधानता के साथ रूप-विधान के नये प्रयोग किये गए हैं वे सब या तो रूपवादी और प्रयोगवादी हैं और यदि कुछ नहीं तो कम-से-कम प्रतिक्रियावादी तो जरूर ही हैं। ऐसा वर्गीकरण त्रुटिपूर्ण और भ्रामक है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार की दृष्टि से नई कविता का सही-सही मूल्यांकन नहीं हो सकता, क्योंकि संक्रान्ति-काल में विशेष रूप से जब कि समाज नये परिवर्तनों के बीच से गुजर रहा होता है तब अधिकांश विचार-धाराएँ एक-दूसरे में मिल-गुँथकर, एक-दूसरे से कमो-बेश प्रभावित होकर चलती रहती हैं। इन धाराओं के विभिन्न रूप और गुण जरूर होते हैं लेकिन वे सब-की-सब पुरानी धारा के ही विरोध में उठती और आगे बढ़ती हैं, इसलिए पुराने और नये के दो पूर्णतया विपरीत ध्रुवों के बीच दर्जनों नये तत्त्व विभिन्न होते हुए भी एक अस्पष्ट और मिली-जुली गति से चलते रहते हैं। परिणामतः उन सब तत्त्वों को निश्चयात्मक रूप से अलग-अलग बाँटकर देखना न सिर्फ गलत है बल्कि खतरे से भरा हुआ है, क्योंकि इन्हीं विभिन्न तत्त्वों के सामञ्जस्य

से नई विचार-धारा का रूप आगे चलकर संगठित और व्यवस्थित होता है। जब वे बीज-रूप में हों या अभी अंकुरित ही हो रहे हों तब उन्हें वादों के छोटे-छोटे घेरों में बाँटकर बाँध देना श्रेयस्कर नहीं है। इस बीच वाली 'फ्लूइड' (fluid) अवस्था की धाराओं के जो तत्त्व जन-समाज के लिए स्वस्थ और कल्याणकारी नहीं होते तथा असल जीवन से जिनका लगाव कम होता है वे कमजोर पड़ते जाते हैं और धीरे-धीरे मुख्य वृन्त से छूटते जाते हैं। और चूँकि विचार-धाराएँ प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली स्थूल चीजों की तरह नहीं होतीं इसलिए कमजोर तत्त्व काफी समय तक अटके रहते हैं। वे एकदम टूटकर न तो गिरते ही हैं न काम ही आते, बल्कि पीले पत्ते की तरह मुख्य सूत्र के साथ हिलगे हुए चलते रहते हैं। समय और परिस्थितियों के शक्तिशाली दबाव के कारण उनका गिरकर विलीन हो जाना अवश्यम्भावी होता है। केवल वही तत्त्व बाकी रह जाते हैं जो उन दोनों के अनुकूल होते हैं। ऐसे सभी तत्त्व भिन्न विचार-दिशाओं से आकर इकट्ठे होते जाते हैं और अन्ततः एक स्पष्ट, शक्तिशाली और जीवन्त विचार-धारा को सामने लाते हैं जो टिकाऊ होती है और स्थायी रूप से आगे की प्रक्रियाओं पर असर डाल सकती है।

नई कविता के आलोचकों और प्रत्यालोचकों ने अब तक काफ़ी संकीर्णता से काव्य की नई प्रवृत्तियों को जाँचा-परखा है और दुनिया के सामने प्रकृत रूप के बजाय विकृत रूप को उभारा है। सन् चालीस से छियालीस के बीच समाजोन्मुखी काव्य-प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट हुआ, जो नई कविता में प्रगतिवाद के नाम से प्रतिष्ठित हुई। धीरे-धीरे दूसरी ओर 'प्रयोगवादी' कहलाने वाली प्रवृत्ति स्पष्टतया अलग होकर सामने आई। उसके बाद दोनों प्रवृत्तियों की ओर से आलोचना का एक समूचा युद्ध नई कविता की दिशा, स्वरूप, उद्देश्य, प्रतिपाद्य विषय-वस्तु, काव्यगत मूल्य, मान्यताओं, रागात्मक सम्बन्ध, यहाँ तक कि कवि-कर्म, उपकरण और शब्दों के प्रयोगों तक चल पड़ा।

इन दोनों ही पक्षों के कवि और आलोचक बड़े जोर-शोर और विस्तार के साथ दूसरे पक्ष यानी असलियत में दूसरे प्रकार की रचनाओं के रेशे-रेशे उधेड़कर, अपने तर्क के समर्थन और सबूत में उन रचनाओं से सम्बन्धित या असम्बन्धित चीजें निकालकर यह बताने की कोशिश करते रहे हैं कि दूसरे पक्ष की चीज बिलकुल गलत, अस्वस्थ और अकल्याणकारी है। इसलिए दोनों के मत में ऐसी चीजें लिखकर दूसरा पक्ष हिन्दी-कविता को पीछे हटा रहा है, युग-सत्य का विरोध कर रहा है, साहित्य का अहित कर रहा है, ध्वंसात्मक अराजकता फैला रहा है, गलत वैचारिक रास्ता दिखा रहा है और समाज को बरबाद कर रहा है। बड़े-बड़े तर्क प्रत्येक के समर्थन में पेश किये गए हैं। दोनों युद्ध-रत पक्षों के बीच नई कविता के जो अन्य दो विभाग हमने अभी इंगित किये वे सक्रिय रूप से लड़ाई में भाग न लेते हुए भी दूसरे रूप में इनसे सम्बन्धित रहे हैं। इन विभागों की रचनाओं को भी उपरोक्त तर्क-युद्ध में अक्सर शामिल किया जाता रहा है। जीवन के रस-रंग से मोह रखने वाले, पर साथ ही इंसानी भविष्य में विश्वास रखने वाले कवियों को कभी इस पाली में और कभी उस पाली में खींच लिया जाता है। यदि रचना में मानवता और इंसानी भविष्य की अधिक गूँज हुई तो उसे प्रगतिवादी खेमा अपना कहने लगता है और कभी जब रचना में जीवन का रस और रंग बढ़ गया, 'इंसान' और 'मानवता' कुछ कम हो गई तो वह प्रयोगवादी शिविर में घसीट लिया जाता है। यही हाल चौथे विभाग का भी रहा है। जहाँ बोल-चाल की भाषा में सीधे, सच्चे और खरे विचारों की झलक हुई या गाँवों के जीवन का

कुछ अधिक यथार्थ वर्णन हुआ तो वह पहले खेमे की चीज़ कही गई और जहाँ रम्य लैंडस्केप-भर रह गया अथवा लोक-गीतों-जैसा रोमानी रंग ज़्यादा उभर आया वहाँ दूसरे तम्बू में वह आ गई।

लेकिन किनारे पर खड़े होकर बारीकी से देखने वाले को यह समझते देर नहीं लगेगी कि दोनों ओर से अपने को सच्चा और दूसरे को झूठा या गलत साबित करने का अथक प्रयत्न कोई बहुत रचनात्मक या कल्याणकारी नहीं हुआ। पिछले सात-आठ साल का यह आपसी तर्क-युद्ध और एक-दूसरे को नीचा दिखाने का यत्न नई कविता को लगभग आत्मरोध के खतरनाक कगार तक ले आया था। आप चाहे किसी खेमे में हों पर यदि आपको इस आलोडन-प्लावन का सही-सही अन्दाज़ा लगाना है और अच्युत मूल्यांकन करना है तो थोड़ी देर को इस आलोडन से अपने को अलग करना होगा, थोड़ा ऊपर उठकर सर्वशः उसे देखना होगा। इस नज़र से यदि हम देखें, तो पाएँगे कि यद्यपि कठिन विरोध पाकर कोई भी चीज़ ज़्यादा मज़बूती से पनपती, बढ़ती और फैलती है; पर हमारी नई कविता में वैसा पूर्णतया नहीं हो पाया। वह फैली तो ज़रूर पर मज़बूती से नहीं, उस शान और गरिमा से नहीं जैसा कि उसे सचमुच बढ़ना, फैलना चाहिए था। पिछले पन्द्रह सालों के बीच हमने कोई महान् कविता का निर्माण कर लिया हो या उसका सूत्रपात ही किया हो ऐसा कुछ नहीं हो सका। इसका कारण आपस का सैद्धान्तिक विरोध नहीं है, क्योंकि ऐसा विरोध कल्याणकर भी हो सकता है, बल्कि वह प्रवृत्ति है जो ठोस काव्य-निर्माण छोड़कर अपने मत-प्रचार के लिए स्पष्टीकरण करते-करते कुत्ता-घसीटन में लग गई और लगभग वहीं लगी रह गई। शायद यही कारण है कि इस समय हिन्दी में नई कविता के आलोचक संख्या में अधिक हैं बनिस्बत ठोस रचयिताओं के। इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि किसी नई वस्तु या विचार-धारा के विषय में स्पष्टीकरण, विश्लेषण और मूल्यांकन किया ही नहीं जाना चाहिए, अथवा यह कि हमारी नई कविता पर जहाँ भी जो-कुछ आलोचना के रूप में लिखा गया है वह सब बेकार था और वैसा होना ही नहीं चाहिए था। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि नई चीज़ का पूरी तरह स्पष्टीकरण होना ही चाहिए ताकि हम उसके स्वरूप को भली भाँति समझकर उसे उतना पूरा अपनाएँ, जितना स्वस्थ और श्रेयस्कर है बाकी जो नहीं है उसको त्याग दें। नये रास्ते की उचित और अनुचित बातों से हम परिचित रहें, उसके खड्ड-खाइयों को देख-समझकर पैर बढ़ाएँ। लेकिन नई कविता पर पिछली समस्त आलोचना की व्यापक दृष्टि से समीक्षा करते हुए हम पाते हैं कि कविता के भविष्य में कोई विश्वास या गहरी आशा दिलाने और हाल के उठने वाले कवियों को स्पष्ट दिशा-निर्देशन के बदले उसने प्रगति और प्रयोग का एक विचित्र गोरखधन्धा सामने खड़ा कर दिया। इसका सबूत यह है कि उठती हुई सद्यजात पीढ़ी फिर से काल्पनिक रोमान और दुःखवाद की ओर झुकती दिखाई दे रही है। पत्र-पत्रिकाओं में आये-दिन प्रकाशित होने वाली नये कवियों की कोई भी रचना उठाकर यह बात साफ तौर से देखी जा सकती है। इन बिलकुल ही नये कवियों के कुछ पहले वाले कवि भी, जो अब धीरे-धीरे अपना स्थान बनाते जा रहे हैं अधिकांश गहरी अनास्था से आक्रांत नज़र आते हैं। माना कि इस अनास्था के पीछे बड़े सामाजिक कारण हैं, फिर भी यह बात आँखों की ओट नहीं की जा सकती कि पिछली सारी आलोचना ने स्पष्ट 'नेतृत्व' देकर अनास्था कम करने की अथक कोशिश नहीं की। संकुचित आलोचना-प्रत्यालोचना में ही वह लगी रही। सारांशतः

सामाजिक और साहित्यिक दोनों परिस्थितियों का यह परिणाम हुआ कि उत्तर-छायावाद-काल के जो कवि सामाजिक यथार्थ की ओर तेजी से बढ़कर आये थे वे मिटने लगे, प्रगति-प्रयोग के सन्धि-काल वाले अधिकांश कवि बुझ गए और नई पीढ़ी के अधिकतर कवि दुःखवाद, अनास्था तथा पलायनवाद के शिकार होने लगे। एक ओर सामाजिक समस्याएँ प्रश्न-चिह्न बनी रहीं, दूसरी ओर साहित्यिक विवादों ने सही दिशा-संकेत देने के स्थान पर तत्कालीन वैचारिक गतिरोध उत्पन्न कर दिया। सैद्धान्तिक विरोध का जो दूसरा स्वस्थ तरीका हो सकता था, जिसमें दोनों प्रकार की कविताओं के मेहनत और विस्तार से गुणावगुण देखे जाते, एक-एक कवि को लेकर उसकी पूरी तरह छान-बीन की जाती या कि दोनों पक्ष अपनी-अपनी पुष्टि के निमित्त अपने-अपने ढंग का उत्कृष्ट और महान् साहित्य सोत्साह रचते और सबूत में पेश करते। वह तरीका छोड़ दिया गया। उसे दोनों ही पक्ष भूल गए। यदि वह तरीका अपनाया गया होता तो हम अब तक नई महान् कविता और दो-चार नये महान् काव्यों की नींव खोदकर उसमें ईंट भर चुके होते।

यह कठिन काम अभी बाकी है, जिसे हमें तन तोड़कर करना है। अभी तो पन्द्रह साल में जमीन की पूरी गुड़ाई ही नहीं हुई, जिस पर नई कविता की विराट् खेती क्षितिज-से-क्षितिज तक लहलहाती उठेगी। अभी तो जमीन ही सँवरनी बाकी है। पन्द्रह साल पहले हम एक साथ गेंती-कुदाल लेकर काव्य-भूमि को नये सिरे से खोदने खड़े हुए थे। खुदाई शुरू करते ही बीच में इस बात पर झगड़ने लगे कि जमीन किसकी रहेगी और फसल किसकी उगेगी। जरा मेहनत करते, भूमि को एकसार बनाते, शक्तिशाली बीज डालते और फसल उगने तक प्रतीक्षा करते, फिर जब वह उगती तब प्रत्यक्ष हो जाता कि कौन-से बीज उगे, कौन-से मिट्टी में मिल गए। समय अपने ऐतिहासिक विकास के थपेड़ों से कमजोर बीजों को खुद खत्म कर देता, शक्तिशाली और कल्याणकारी बीज ही उगते। हाँ, उस तरह के मजबूत बीज डालते जाना हमारा उत्तर-दायित्व था। इसलिए अब कम-से-कम इतना ही साथ बैठकर देख लिया जाय कि हमने जो-कुछ अब तक भला-बुरा किया उसका नतीजा क्या है और उसमें भविष्य के लिए कुछ रास्ता नजर आता है या नहीं। आज ऐसे मूल्यांकन के लिए सही वातावरण भी उपस्थित हो गया है। दलीय आलोचना-संग्राम अब करीब-करीब नहीं के बराबर रह गया है। दोनों ही पक्ष या तो यह समझ चुके हैं कि जितने तीर छोड़े जा सकते थे वह छोड़ दिये गए और अब कुछ नया कहने को नहीं रहा या फिर थककर अपनी गलती समझ रहे हैं या यों कहना चाहिए कि परिस्थितियों के ऐतिहासिक विकास और दबाव के कारण वह एक-दूसरे से स्वतः आकर्षित होकर, अन्यमनस्क होते हुए भी, एक-दूसरे के क्रमशः निकट आते प्रतीत होते हैं। इतना अवश्य है कि जहाँ इस तर्क-युद्ध ने एक तात्कालिक गतिरोध पैदा किया वहाँ विचारों का मन्थन भी खूब किया। कम-से-कम चेतन और तटस्थ कृतिकारों का उससे भला ही हुआ, क्योंकि विपक्षी दल की काट करने के लिए जितने ही अधिक विस्तार से तर्क दिये गए उतनी ही खुद उस पक्ष की असलियत खुली, उसके स्वरूप पर से ऊपरी घूँघट हटे, उसके लक्ष्य और उद्देश्य ज्ञात हुए, साथ ही उन दोनों के मर्म-स्थल और कमजोरियाँ तथा अब तक के अज्ञात और सम्भावित गड्ढे नजर के सामने आ गए। इस पिछले मन्थन से आज जो स्थिति पैदा हुई है वह एक सन्तुलित और यथातथ्य मूल्यांकन के लिए अनुकूल है, और आज ही वह पड़ाव आया है जिस बिन्दु पर खड़े होकर हम अपनी सारी सम्भावनाओं को समझते हुए आगे देख सकते हैं, भविष्य में झाँक सकते हैं।

: २ :

नई कविता के प्रादुर्भाव में कौन-कौन-से कारण थे इस पर अब तक आलोचक काफी विचार कर चुके हैं। आज इसे सभी स्वीकार करते हैं कि नई कविता छायावाद के काल्पनिक रोमान, व्यक्तिवादी निराशा और आध्यात्मिक पलायन की प्रतिक्रिया बनकर आई थी। सन् तीस से पैंतीस तक जो सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक परिवर्तन हमारे देश के क्षितिज पर उदित हो रहे थे उन्हें यहाँ ध्यान में रखना आवश्यक है। साम्राज्यवाद के प्रति विरोध और विद्रोह का रूप सुधार और क्रान्ति के दो भिन्न बिन्दुओं का एक समन्वय लेकर शुरू हुआ था। सामाजिक चेतना को व्यापक रूप से जाग्रत करके भी वह उन प्रश्नों का उस समय तक कोई हल नहीं दे पाया था। राष्ट्रीय आजादी का अहिंसात्मक आन्दोलन अभी सफल नहीं हुआ था और साम्राज्यवादी भीषण दमन ने अपना क्रुद्ध फन कुछ और फैला दिया था। संसार-व्यापी मन्दी और आर्थिक संक्रान्ति से बड़े-बड़े देशों की चूल ढीली हो रही थी। बेकारी ने दुनिया को दबोच रखा था, बड़े-बड़े शिक्षितों को नौकरी तथा व्यवसाय मिलना दूभर था। ग्रेजुएट और पोस्ट ग्रेजुएट पच्चीस-तीस रुपये माहवार की नौकरी ढूँढते फिरते थे और वह भी मिलती न थी। आर्थिक संकट से कारखाने चौपट हो गए, औद्योगिक हड़तालें हुईं और देशी पूँजीपति राष्ट्रीय आन्दोलन से तटस्थ होने लगे। उस स्थिति ने समाज में एक भयावह निराशा फैला दी। साहित्य में उसके परिणामस्वरूप घोर मुर्दनी, पस्ती, पराजय, भ्रम, मृत्यु-उपासना, रुग्ण रोमान, क्षयग्रस्त कुण्ठा और अहंवाद की कालिमा छा गई। उत्तर-छायावाद-काल में इसी 'डिकेडेन्स' के प्रत्यक्ष दर्शन हमें होते हैं। 'बच्चन', नरेन्द्र और 'अंचल' की तत्कालीन रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। रोमानी विद्रोह के कवि और अधिक तेजी से आत्मचिन्तन, अध्यात्म तथा दर्शन की ओर मुड़ गए थे। 'नवीन'-जैसे विद्रोह के कवि "आज खड्ग की धार कुण्ठिता, है खाली तूणीर हुआ; विजय-पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ" लिखने पर विवश हो गए थे। राष्ट्रवादी कवि भारत के प्राचीन इतिहास के गौरव की याद करके वर्तमान काल की दुर्दशा पर आँसू बहा रहे थे। 'दिनकर' की सन् पैंतालीस में प्रकाशित 'रेणुका' में यही हाहाकार उतरा था।

लेकिन उत्तर-छायावाद-काल की इस पस्ती और पराजय के साथ ही एक दूसरी विचार-धारा का उदय होना आरम्भ हो गया। देश की आर्थिक और राजनीतिक अवस्था में अन्तर्निहित अन्तर्द्वन्द्व अब स्पष्टतर होते जा रहे थे। देशी पूँजीवाद ने अपनी जड़ें जमा ली थीं और साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद से उसका गठबन्धन हो रहा था। धीरे-धीरे राजनीति में समाजवादी विचार-धारा पनपने लगी और सन् चौंतीस में कांग्रेस-समाजवादी दल की स्थापना हुई। साहित्य में भी इस नवीन सामाजिक दृष्टिकोण का असर पड़ा। इसके साथ ही रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से जिस मानवतावादी दार्शनिकता, सामाजिक न्याय, विश्व-प्रेम, अन्तर्राष्ट्रीयता, पूर्व-पश्चिम के अध्यात्म और भौतिकता के समन्वय का वातावरण वैचारिक जगत् में फैला था उसे लेकर कुछ कवि आगे बढ़े। समाजवाद ने सामाजिक न्याय का एक नया रास्ता दिखाया था, दूसरी तरफ गांधीवाद ने रूढिग्रस्त मानव-आत्मा के संस्कार का। इन्हीं दोनों का मानवतावादी आधार लेकर श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने छायावादी विषय-वस्तु छोड़कर 'युगान्त' की रचना की और नवमानव का प्रथम अभिनन्दन किया। 'युगान्त' की रचनाओं में इस मानवतावादी समन्वय का रूप स्पष्ट देखने को मिलता है।

'युगान्त' की रचनाएँ सन् चौंतीस से छत्तीस के बीच की हैं। पुस्तक का प्रकाशन सन् छत्तीस में हुआ था। उसके बाद पन्तजी की 'युगवाणी' में संग्रहीत रचनाएँ सन् सैंतीस-अड़तीस के बीच पत्रों में प्रकाशित हुई, विशेष रूप से 'रूपाभ' में, जिसका जिक्र हम आगे चलकर करेंगे। 'युगवाणी' सन् उन्तालीस में प्रकाशित हुई थी। इसमें पन्तजी के अनुसार युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया गया था। जिस 'युग की मनोवृत्ति' के मिलने का संकेत पन्तजी ने इसकी भूमिका में किया था वह इसमें एक विशिष्ट रूप में देखने को मिलती है। 'युगवाणी' में नवमानवता, साम्राज्यवाद, धनपति, मध्यवर्ग, कृषक, श्रमजीवी, मार्क्स आदि विषयों के साथ समाजवादी-गांधीवादी दृष्टिकोण का समन्वय नजर आता है। नई कविता की समाजोन्मुखी धारा, जो आगे चलकर प्रगतिवाद कहलाई, उसके प्रथम सोपान में 'युगवाणी' का प्रमुख स्थान स्वीकार किया जाना चाहिए।

नये परिवर्तन के प्रथम चरण में इस प्रकार मानवतावाद का तत्त्व सबसे पहले आया जो कहीं मार्क्स के समाजवाद की ओर उन्मुख था, कहीं सीधा प्रकृतवादी यथार्थ की ओर। सन् चौंतीस से उन्तालीस के बीच कितने ही अन्य कवियों में यह नवीन मानवतावाद दृष्टिगोचर होता है। ऐसे कवियों में 'निराला', 'नवीन', 'दिनकर', भगवतीचरण वर्मा और सियारामशरण गुप्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें 'निराला' का स्थान भिन्न है, क्योंकि उनका छायावादकालीन रूढ़ियों से विद्रोह अब व्यंग्य और विद्रूप में बदल रहा था। राष्ट्रवादी विचार के कवियों में मानवतावाद आवेग से उठकर सामने आया था यद्यपि उसमें पुराना व्यक्ति-विद्रोह भी मौजूद था :

नवीन :

लपक चाटते जूठे पत्ते
जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा क्यों न लगा दूँ
आग आज इस दुनिया-भर को
—'झूठे पत्ते'

दिनकर :

गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो
लगे आग इस आडम्बर में
वैभव के उच्चाभिमान में
अहंकार के उच्च शिखर में
स्वामिन् अंधड आग बुला दे
जले पाप जग का क्षण-भर में
—'तांडव'

भगवतीचरण वर्मा :

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे
कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर

पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ
नारियाँ जन रही हैं गुलाम
पैदा होना फिर मर जाना
यह है लोगों का एक काम।
—'भैंसागाड़ी'

भगवतीचरण वर्मा ने जीवन की असफलता और सियारामशरण गुप्त ने दलित वर्ग की करुणा का चित्र उपस्थित किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद की अध्यात्मपरक और राष्ट्रवादी दोनों प्रवृत्तियाँ मानवतावाद की ओर इस काल में उन्मुख हो गई थीं। तीसरी प्रवृत्ति स्वच्छन्दता और रूढ़ि-विद्रोह की थी जिसके परिणामस्वरूप माध्यम और प्रकारों में उथल-पुथल की गई थी और जिसका प्रतिनिधित्व 'निराला' जी करते थे। सन् पैंतीस के बाद की उनकी कविताओं में नये परिवर्तन के धक्के लग रहे थे। छन्द, उपमान आदि के अपने ताजे प्रयोगों में 'निराला' भी नवीन आशय लाने का यत्न कर रहे थे, यद्यपि वे समाजवादी वर्ग-भावना तथा यथार्थवाद को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाते थे। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की प्रथम कविता-पुस्तक 'मंजीर' (रचना-काल १६३४-३६) की भूमिका में उन्होंने सन् चालीस के प्रारम्भ में स्पष्ट लिखा था :

"इस समय गांधीवाद, समाजवाद, प्रगतिवाद और अत्याधुनिकवाद का हिन्दी-साहित्य में तूफान उठा हुआ है। काव्य में इसके धक्के तेज़ी से लग रहे हैं। बहुतों का ख़याल है कि कुल छायावादी मकान उड़ गए। मैं ऐसे प्रत्यक्षदर्शियों को पहले भी देख चुका हूँ, इस समय भी देखता हूँ। पहले तो यह कहता हूँ कि जो छायावादी थे उनके मकान थे ही नहीं, फलतः तूफान से कायावादी ही उड़े हैं। उन्हें पहले भी छायावाद का ज्ञान नहीं था। इस समय भी उड़ते फिरने वाली हालत में बेहोशी के कारण नहीं। उदाहरण के लिए पहले जीवन की सार्थकता को लेता हूँ। 'जीव' का 'जीवत्व' या 'जीवन' दार्शनिक दृष्टि से बहुत छोटी चीज़ है। उसकी प्राप्ति या बढ़ने की प्रार्थना अज्ञता है। छायावाद इसी सत्याश्रय से निर्गत और इसीमें पर्यवसित है।

"इसके बाद धकापेल, वीर-भाव की रेलगाड़ी चलने लगी, एक-से-एक बढ़कर कर्कश शब्द, भाव का पता नहीं''''जो कलम की नोक से निकल गया वही भाव। कला? जिस तरह भी कहिए कला है। दूसरी तरफ से प्रगतिशील आ गए, गांधीवादी जहाँ नाक सिकोड़कर दया-प्रेम-करुणा का पाठ पढ़ा रहे थे वहीं समाजवादी बिना हिचक के टाट उलटने लगे। देखते-देखते हिन्दी-साहित्य में इस तरह काव्य-साहित्य में भी अकाल ताण्डव शुरू हो गया।

"हमारे काव्य-साहित्य में जो प्रश्न हल होने को हैं वे एक तरह के नहीं। हमारा समाजवाद भी एक सीमा में ही बँधा है, क्योंकि देश परतन्त्र है। समाजवाद लिया जाय तो प्रश्न उठता है अध्यात्मवाद को कहाँ जगह मिलेगी? नग्नता को प्रश्रय देते हैं तो देश के सन्त-चरित्र सामने आकर खड़े हो जाते हैं। नये स्वरों की चीज़ अलापी जाती है तो पुराने गाने राग-रागिनियाँ देख देखकर मुस्कराते रहते हैं।"[1]

१. निराला : ('मंजीर' की भूमिका में)।

'निराला' जी के इस वक्तव्य से सन् चालीस के आस-पास का उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। उन दिनों 'निराला' जी का मन 'ऑडेन' से विशेष प्रभावित था। नया यथार्थ उन्हें भोंड़ा, कर्कश, नग्न और कलाहीन ज्ञात होता था, यथार्थ जीवन के उत्कर्ष की कामना अज्ञता। नये स्वरों की चीज पर पुरानी राग-रागिनियों का व्यंग्य से मुस्कराना उनकी आगामी कविताओं के व्यंग्य विद्रूप का पूर्वाभास था, लेकिन यथार्थ के प्रति यह उदासीनता बहुत देर न रह सकी। उनकी सामाजिक चेतना इसी व्यंग्य विद्रूप के माध्यम से निःसृत हुई। सन् चालीस में उन्होंने 'कुकुरमुत्ता' लिखा; जिसे उन्होंने निम्न वर्ग के प्रतीक के रूप में देखा था और उच्च वर्ग को गुलाब के रूप में। 'कुकुरमुत्ता' का प्रकाशन सन् बयालीस में हुआ। इस काल में उनकी जो व्यंग्यात्मक रचनाएँ हुईं उनमें एक ओर वर्ग भावना का छायाभास नजर आता है, दूसरी ओर नवीन यथार्थ के ऊपर ही कटाक्ष और व्यंग्य भी। इन रचनाओं में यथार्थ का नग्न स्वरूप हमारे सामने आता है। 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम-संगीत', 'खजोहरा', 'रानी और कानी', 'मास्को डायलाग्ज'-जैसी रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। इन कविताओं को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे कवि ने यथार्थ का अर्थ भोंड़ापन, फूहड़पन, कुरूपता, नग्नता, कर्कशता समझा है और यथार्थ को पकड़ने के यत्न में उसने यही चित्रित किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ इसी प्रकार की नग्नता, कुरूपता, कर्कशता राष्ट्रीय धारा के कवियों में भी प्रस्तुत सन्धि-काल में आई थी और इसी के साथ व्यक्तिवादी कुण्ठा भी सम्मिलित थी।

अन्य कवियों की भाँति 'निराला' का यह अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट है। वह छायावादकालीन व्यक्तिवादी विद्रोह की भावना ही थी जो एक ओर तो पुरानी परम्पराओं को तोड़-फोड़कर माध्यमों के नये-से नये प्रयोग करती थी, दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ को पूरी तरह स्वीकार भी नहीं करना चाहती थी। 'पन्त' जी में यह अस्वीकृति भौतिकता का आत्मसंस्कार के साथ समन्वय करने के यत्न में दिखाई देती है, 'निराला' में ऐंद्रियता के आग्रह और यथार्थ पर बढ़ते हुए व्यंग्य-विद्रूप में। पर दोनों ही में इस आंशिक अस्वीकृति के बावजूद मानवतावाद के तत्त्व पर्याप्त मिलते हैं। सन् उन्तालीस तक निराला 'दान', 'एडवर्ड अष्टम', 'तोड़ती पत्थर', 'बन बेला', 'कुछ न हुआ न हो', 'नर्गिस', 'खुला आसमान', 'किसान की बहू की आँखें', 'नयनों के डोरे लाल'-जैसी कविताएँ लिख चुके थे। इन सबमें नवीन युग की झलक दिखाई दे जाती है। सामाजिकता का आधार यहाँ सीधी मानवता है और दीन-दुखियों के प्रति सहानुभूति। सन् इक्कीस में लिखी गई 'भिखारी' नामक प्रसिद्ध रचना से लेकर 'वह तोड़ती पत्थर' तक 'निराला' जी में मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है। परिवर्तन-काल तक आते-आते 'निराला' जी की कविता के तीन मुख्य तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं—एक तो माध्यम के नये प्रयोग और फलतः रूप-विधान का प्रसार, दूसरे ऐंद्रियता, तीसरे व्यक्तिमूलक कुण्ठा के साथ सामाजिक व्यंग्य। इन तीन तत्त्वों में से केवल प्रथम तत्त्व का प्रभाव आगे की कविता पर अधिक पड़ा, शेष दो का तात्कालिक महत्त्व ही रहा। आगे चलकर प्रयोगशील कवियों ने 'निराला' जी से प्रेरणा पाकर ही रूप-विधान में सचेष्ट परिवर्तन किये।

इन पाँच-छः वर्षों के बीच छायावादी डिकेडेन्स की एक और प्रवृत्ति दृष्टि में आती है जिसमें चरम निराशा, मृत्यु-उपासना और रुग्ण-रोमान की प्रधानता थी। साथ ही छायावाद की सीमाओं में रहते हुए भी भाषा का एक नयापन इस प्रवृत्ति की विशेषता थी। कविता

की भाषा को सरल और बोल-चाल के निकट लाने में बच्चन की काफी बड़ी देन है। 'बच्चन' की तत्कालीन लोकप्रियता का यही राज था। यह केवल इस बात का सबूत है कि किस प्रकार उस समय का साधारण पाठक या श्रोता भावनाओं को अपनी यथार्थ भाषा में व्यक्त होते देखने के लिए तरस रहा था। इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधि रूप 'बच्चन', नरेन्द्र और 'अंचल' की कविताओं में मिलता है। 'बच्चन' के लोकप्रिय संग्रह 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' के गीतों में मरण-भावना का प्राबल्य है। उसका व्यक्तिगत कारण अवश्य है, किन्तु मृत्यु-उपासना को यहाँ एक दर्शन के रूप में स्वीकार किया गया था। "एक मुर्दा रो रहा था बैठकर जलती चिता पर" यह पंक्ति केवल किसी एकान्त घटना की प्रतिक्रिया न होकर इस समस्त गीति-धारा की सार-प्रतीक है। मुर्दनी, रुदन और दहन का वातावरण इन कविताओं को समोये हुए है। अपने काव्य-संग्रह 'प्रवासी के गीत' (प्रकाशित १९३९) में नरेन्द्र ने काव्य की इस क्षयग्रस्त स्थिति और तत्कालीन कवि की चरम विवशता का स्पष्टीकरण किया था। उनकी भूमिका की ये पंक्तियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं :

" 'प्रवासी के गीत' में संग्रहीत रचनाएँ आधुनिक हिन्दी-गीति-काव्य के उत्तरार्ध के अन्तर्गत आती हैं। पूर्वार्ध के कवि प्रधानतया सौन्दर्योपासक और असीम तथा अनन्त के अनुरागी थे। सौन्दर्योपासकों में से कुछ की रुचि काव्य की प्रकार-योजना में नयेपन तथा विलक्षणता की ओर भी गई।"

प्रकार-योजना अर्थात् रूप-विधान में नवीनता लाने का यत्न और इस काल में उसका प्रारम्भ एक महत्त्वपूर्ण बात है। नरेन्द्र ने संक्रान्तिकालीन सामाजिक अवस्था और तज्जनित निराशा तथा असन्तोष का संकेत 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में किया था और अपनी पुस्तक को मानसिक क्षयग्रस्त युवक कवि के गीतों का संग्रह कहा था।

यह भावना तत्कालीन परिस्थिति का पर्याप्त स्पष्टीकरण करती है। एक ओर इस काल की व्यक्तिवादी निराशा चरम 'फ्रस्ट्रेशन' और ह्रासोन्मुख भावना हमें दिखाई दे जाती है, दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि जिस प्रकार उस समय के सौन्दर्योपासक कवि रूप-प्रकारों के लिए यत्नशील हो गए थे। नरेन्द्र की ही रचनाओं में हमें इसका प्रमाण मिलने लगता है। प्रधानतया गीत-कवि होते हुए और फलस्वरूप सधी-जमी परिपाटीगत रूप-योजना को स्वीकार करते हुए भी उनकी रचनाओं में नये प्रयोगों के उदाहरण मिलते हैं। यह प्रयोग उपकरण, भाषा, छन्द और उपमान चारों दिशाओं में परिलक्षित होते हैं। एक-दो उदाहरण देना उचित होगा :

नवीन छवि-चित्र :

गृहिणियों के हेतु ले धन-धान्य आती
हो नगर की ओर जब गोधूलि वेला
देख पाओ यदि कदाचित् क्षितिज-तट पर
कहीं मिटता धूल का बादल अकेला।

फिर धधक बुझ जाय जब दिन की चिता भी
अस्थि-फूलों से खिलें जब शून्य नभ में कुन्द तारक
व्यर्थ भर लाना न लोचन।

नये उपमान :

जग में तो पूर्ण पुष्प-सी यह पूनो, मन आज खिन्न क्यों,
प्रिय भग्न हृदय मेरा देखो तरु छाया छिन्न-भिन्न ज्यों।

पूर्ण पुष्प-सी पूनों की उपमा में एक ताजगी है, साथ ही कविता के छंद को स्वीकृत परिपाटी के बाहर खींचने का प्रयत्न किया गया है। छंद सोलह मात्रा का है जो उच्चरित (एक-सेण्टेड) प्रथमाक्षर से आरम्भ होता है। टेक की पंक्ति को छोड़कर बीच वाले चार-चार पंक्तियों के बंद सोलह मात्रा के तथा उपरोक्त वजन पर लिखे गए हैं, केवल मात्राएँ दुगुनी रखी गई हैं....

सौंदर्य सिंधु में सूनेपन की प्रतिमा-सी शशि-सी नभ में,
तुम, मैं भूपर के विजन विपिन के तरु-सा ही अपलक उदास।

रीत्यनुसार टेक की पंक्तियाँ भी इसी वजन की होनी चाहिए थीं, पर वह भिन्न हैं। उनमें पहले तो दो मात्राओं की कमी है, दूसरे लय-गति का स्पष्ट अन्तर भी है। प्रचलित छंदों की कैद से छूटने का इसमें प्रयास किया गया है।

शैली और प्रकार-योजना :

१. कल दिन में मैं कमरे में था, था चित्र तुम्हारा सन्मुख
क्षण-भर को तो दिन-भर के सब था भूल गया श्रम-सुख-दुख,
सहसा सफेद दीवारों पर आई हल्की-सी छाया
तुम द्वार खड़ी हो, प्राण, तड़ित-सा ध्यान तुरत यह आया,
पर मुड़कर जब देखा बाहर फिर धूप विहँसकर निकली
मेरे मन में सुधि आई थी, छाई थी रवि पर बदली।[1]

२. तुम्हें याद है क्या उस दिन की
नए कोट के बटन-होल में
हँसकर प्रिये लगा दी थी जब
वह गुलाब की लाल कली।
फिर कुछ शरमाकर, साहस कर
बोली थीं तुम, इसको यों ही
खेल समझकर फेंक न देना
है यह प्रेम-भेंट पहली।
कुसुम-कली वह कब की सूखी
फटा ट्वीड का नया कोट भी
किन्तु बसी है सुरभि हृदय में
जो उस कलिका से निकली।[2]

इन उद्धरणों का मिलान यदि आज की प्रयोगशील कविता से किया जाय तो बहुत अधिक अन्तर नज़र नहीं आयगा। सिर्फ आज भावुक उदासी की जगह उलझाव कुछ अधिक गहरा है,

१. जुलाई १९३७।
२. फरवरी १९३७।

सूक्ष्मता और तीखापन भी अधिक, साथ ही बौद्धिकता भी कुछ विशेष। प्रस्तुत कवितांश उद्धृत करने का उद्देश्य केवल यही है कि हम अपनी नई कविता को बीच वाली कड़ियों के सन्दर्भ में देख सकें। आगे चलकर जब इस निराशा, पराजय, दुःखवाद, नियतिवाद और अहंवाद के साथ छन्द और माध्यम के प्रयोगों का गठबन्धन हुआ तब वह उस नाम से जानी गई जिसे हम अब प्रयोगवाद कहने के आदी हो गए हैं, यद्यपि समस्त प्रयोगशील कविता के लिए यह परिभाषा नहीं दी जा सकती।

सन् चौंतीस से चालीस के बीच इस प्रकार तीन-चार मुख्य तत्त्व उभर आए थे यानी एक तो मार्क्सीय विचार-धारा का प्रारम्भिक समन्वित रूप, दूसरा मानवतावाद, तीसरे संक्रांतिजन्य असन्तोष और अहंवाद, जो एक ओर माध्यमों के प्रति व्यक्ति-विद्रोह में प्रकट हुआ और दूसरी ओर रुग्ण रोमान, अस्वस्थ ऐंद्रियता और चरम निराशायुक्त गीतात्मकता का रूप रखकर आया। इन्हीं तत्त्वों के विभिन्न रूपान्तर हमारी नई कविता में अब तक विद्यमान हैं। मार्क्सीय समन्वययुक्त सामाजिक दृष्टिकोण परिवर्द्धित और विकसित होकर वर्ग-संघर्ष-प्रधान कविता में उतरा; जिसमें 'निराला' के छन्द और प्रकार के प्रयोगों को भी आगे बढ़ाया गया और छंदोबद्ध योजना में माखनलाल, 'नवीन', 'दिनकर'-जैसे राष्ट्रीय धारा के कवियों की प्रवहमान (ड्राइवयुक्त) बोलचाल की शैली भी अपनाई गई। यथातथ्य मानवतावादी 'एप्रोच' विकसित होकर यथार्थ से अधिकाधिक सम्बद्ध हुआ और साधारण जन के सुख-दुःख, आशा-विश्वास को लेकर मानवतावादी दृष्टिकोण में बदला। संक्रांतिजन्य अहंवाद और 'फ्रस्ट्रेशन' व्यक्ति-विद्रोह की नींव पर माध्यमों के नये प्रयोगों से उलझा और आगे बढ़कर उसने 'फ्राइड' से नाता जोड़ा। या यों कहना चाहिए कि व्यक्तिमूलक समस्याओं का समाधान फ्राइडवादी मनोविश्लेषण द्वारा खोजना आरम्भ किया। दुःखवाद, नियतिवाद और ऐंद्रियता-प्रधान गीतात्मकता रोमानी ढंग के नये गीत-प्रयोगों में परिवर्तित हुई और लोक-गीतों के छंद, लय तथा स्थानीय रंग लेकर सामने आई। अन्तिम दोनों प्रवृत्तियों का एक दूसरा मिश्रित रूप इधर की कुछ ताजी रचनाओं में मौजूद है जिनमें अनास्था का तत्त्व प्रधान है। दो महायुद्धों के विनाशकारी प्रभाव से विदेशों की विचार-धारा में अनास्था का अवतरण हुआ था। टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' और 'हालोमैन' से लेकर सार्त्र के अस्तित्ववाद की पीड़ा तक जीवन के प्रति इसी अनास्था से निःसृत हुई। हिन्दी-कविता की यह नई प्रवृत्ति भी इलियट और सार्त्र के विचारों से मेल खाती है।

: ३ :

हमने अब तक यह देखा कि छायावादी परिपाटी के ह्रास-काल में किस प्रकार तात्त्विक परिवर्तन हुए जिससे हिन्दी-कविता में एक नया मोड़ आया। हमने यह भी देखा कि नई कविता अब तक किन-किन मंजिलों से होकर गुजरी है और आज ही मुख्य प्रवृत्तियाँ संधि-काल में किस तरह बीज-रूप या पूर्वरूप में मौजूद थीं। विभिन्न तथ्यों से यह भी प्रत्यक्ष है कि सन् पैंतीस से सैंतीस के बीच पुरानी धार ने मोड़ खाया और सैंतीस के बाद वह स्पष्ट रूप से उभरने लगी। 'रूपाभ' का प्रकाशन सैंतीस से शुरू हुआ था। उस समय कितने ही नये कवि सामने आये थे। 'युगवाणी की लगभग सारी कविताएँ 'रूपाभ' में प्रकाशित हुईं, साथ ही नरेन्द्र की नई रचनाएँ, 'बच्चन' के नये गीत, रामविलास शर्मा के सानेट तथा लैंडस्केप, शमशेर बहादुरसिंह के

प्रतीक चित्र और मुक्तगीत, वीरेश्वरसिंह के ग्राम-चित्र, केदारनाथ अग्रवाल की कतिपय रचनाएँ और भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' 'रूपाभ' में प्रकाशित हुई थीं। और भी कुछ नये कवि थे जो 'पन्त' जी के कथनानुसार उस काल में उदय हुए थे, पर अब बहुत दिनों से अस्त हो चुके हैं। 'रूपाभ' का दृष्टिकोण अधिकांश रूप से सामाजिक यथार्थ का था। उसमें मार्क्स का प्रभाव गांधीवादी सांस्कृतिक चेतना के साथ मिलकर चला था। सन् उन्तालीस के लगभग 'रूपाभ' बन्द हुआ। इसी बीच फ्राइडवादी मनोविश्लेषण का तेजी से हिन्दी-साहित्य पर असर होने लगा, विशेष रूप से व्यक्तिवादी लेखकों पर जिन्हें व्यक्ति-समस्याओं का उद्गम मानसिक वर्जनाओं में नजर आया और उन्हें लगा कि मानसिक कुण्ठाओं और 'कम्प्लेक्सेज' का परिष्कार ही सारी भौतिक समस्याओं का समाधान है। यौन-सम्बन्धों पर आधारित इस सिद्धान्त में एक थ्रिल थी, रोमांस और रोमांच दोनों ही थे। प्रणय, ऐन्द्रियता और अहं की तुष्टि उसमें थी, इसलिए जिन कवि-लेखकों का प्रेरणा-स्रोत वहाँ था वह मनोविश्लेषण की ओर तीव्रता से झुके। सन् उन्तालीस में नरोत्तमप्रसाद नागर के सम्पादकत्व में एक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ था जिसका नाम था 'उच्छृङ्खल'। इस पत्र का उद्देश्य मनोविश्लेषण के अस्त्र द्वारा एक साहित्यिक सनसनी मचाना था। हिन्दी के लिए फ्राइड के सिद्धान्तों की साहित्य में अवतारणा उस समय नई चीज थी। छायावादी प्रणय-केलि के रहस्यात्मक प्रतीकों का पर्दा उठाकर यौन-सम्बन्धों को उनके प्रकृत, नग्न स्वरूप में प्रदर्शित कर देना उस समय 'सेन्सेशन' की बात थी। यद्यपि 'उच्छृङ्खल' का महत्त्व या स्थान साहित्यिक इतिहास में नहीं के बराबर है और आज उसका कहीं उल्लेख तक नहीं मिलता फिर भी वह सन्धि-काल की एक विशिष्ट प्रवृत्ति का परिचायक तो है ही। रामविलास शर्मा की कई चीजें इस पत्र में निकली थीं और केदारनाथ अग्रवाल की 'देवताओं की आत्महत्या', 'ग्राम लैंडस्केप' आदि उसमें प्रकाशित हुए थे। अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी इस समय नये ढंग की रचनाएँ निकलने लगी थीं। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक की प्रयोगात्मक कविताएँ, मुक्तछन्द और नये ढंग के गीत-प्रयोग प्रकाशित हो रहे थे। प्रभाकर माचवे के सानेट व्यंग्य-चित्र और 'गा रे हरवाहे, दिलचाहे वही तान'-जैसे ग्राम-गीत दिखाई देने लगे थे। अड़तीस से लेकर चालीस तक कितने ही नये कवि काव्य-क्षितिज पर उदित हुए। सन् चालीस में 'पन्त' जी की रोमानी भावना सामाजिक यथार्थ को साथ लेकर नये छन्द और माध्यमों द्वारा 'ग्राम्या' में संग्रहीत होकर आई। 'ग्राम्या' की कविताएँ उन्तालीस के अन्त से चालीस की फरवरी के बीच लिखी गई थीं। हमारी राय में 'ग्राम्या' 'पन्त' जी की रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट और संधि-काल की कविता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

इसी समय देश के सामाजिक और राजनीतिक आकाश में काली घटाएँ उमड़ने लगीं। सन् उन्तालीस में विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। सन् चालीस के बाद देश पर उसके धक्के बड़ी तेजी से लगने आरम्भ हुए और सामाजिक विपत्ति आरम्भ हुई। सन् बयालीस-तैंतालीस तक आते-आते उसने अपने भीमकाय पंजों में देश को जकड़ लिया। जिन्दगी की जरूरी चीजों की जोरों से कमी होने लगी; अन्न-संकट मुँह फैलाकर सामने आया; कपड़ा, तेल, चीनी, नमक, ईंधन दुर्लभ हो गया; चोरबाजारी, मुनाफाखोरी आसमान को छूने लगीं···भुखमरी फैली, चीजों के दाम इतने आश्चर्यजनक हो गए कि सुनकर विश्वास नहीं होता था। एक व्यापक महानाश उपस्थित हो गया। बंगाल का भीषण अकाल पड़ा, हड़तालें हुईं, हिन्द-सेना बनी, बयालीस का भारी

विप्लव हुआ, नौसैनिकों का विद्रोह हुआ, सैकड़ों प्रकार की सामाजिक हलचलें और उथल-पुथल मचीं। यथार्थ का तूफ़ान एक साथ ही सतह पर आ गया। उसने सबकी नजर बड़ी तेजी से अपने पर केन्द्रित कर दी। कविता के क्षेत्र में इसके पहले प्रचलित परिपाटी से छन्द और माध्यमों का विद्रोह चल ही रहा था, उसे अब फूट पड़ने का रास्ता मिल गया। नये ढाँचे को नई आत्मा प्राप्त हुई, रूप-विधान के प्रयोगों को विषय-वस्तु की नई जमीन मिली।

इस तूफ़ान में छायावाद बह गया और पुराने कवियों की चमक उतर गई। कविता की पुरानी धातु अपने रूढ़िग्रस्त आवरण और युग-विमुख दृष्टि से यथार्थ की तेज आँच न सह सकी। 'बंगाल के अकाल' और बयालीस-तैंतालीस की उथल-पुथल पर बहुत-सी कविताएँ पुरानी शैली में लिखी गईं, पर सबके जैसे रंग उड़े हुए थे।

नतीजा यह हुआ कि छन्द और प्रकारों के प्रयोग करने वाले अधिकांश कवि, जो अब तक नये विषयों के लिए खेत, खलिहान, ग्राम-चित्र या प्रणय-व्यापारों को टटोल रहे थे, वे एक साथ इस यथार्थ की ओर बढ़े। समाज की तत्कालीन दुर्दशा और उसकी महाजटिल समस्याओं का हल समाजवाद में उन्हें नजर आया। इस गठबन्धन से ही प्रगतिवादी कहलाने वाली कविता-धारा का प्रारम्भ हुआ। माध्यमों पर प्रयोग करने वाले शुरू के बहुत-से कवि इस प्रभाव-वृत्त में आ गए। नरेन्द्र, रामविलास, शमशेर, केदार, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध और कुछ बाद के त्रिलोचन, रांगेय राघव, 'नागार्जुन', 'अंचल', 'बच्चन', सोहनलाल, उदयशंकर भट्ट, सुमन-जैसे गीत-कवि भी इससे अछूते न रहे। 'अंचल' का 'करील' और 'किरणवेला', जिनमें उनकी प्रगतिशील रचनाएँ संग्रहीत हैं, उसी काल में प्रकाशित हुई थीं। इस नई धारा में एक ओर माध्यमों के प्रयोग थे, दूसरी ओर नवीन सामाजिक चेतना। दोनों ही तरह की रचनाएँ फुटकर रूप से इधर-उधर प्रकाशित हो रही थीं पर संग्रहीत रूप से उनका प्रकाश में आना कठिन था। लड़ाई के कारण काग़ज की अत्यन्त कमी थी, हिन्दी की पुस्तकों का प्रकाशन लगभग स्थगित था। काग़ज की सप्लाई और पुस्तक के प्रकाशन के लिए सरकारी आज्ञा जरूरी थी। नियन्त्रण कड़े थे। नये कवियों की कविताएँ, खासकर ऐसी कविताएँ, जो प्रतिष्ठित लेखकों, आलोचकों और प्रकाशकों की नजर में ऊल-जलूल थीं, कौन छापता। परिणामतः सहकारिता के आधार पर कवि-लेखकों द्वारा ही एक संग्रह छपाने का विचार किया गया। हालाँकि बाद में यह सहकारिता नहीं चल सकी। इस स्थिति में सन् तैंतालीस में 'अज्ञेय' द्वारा ग्रहीत 'तार सप्तक' में सात नये कवियों की रचनाएँ एकत्र रूप से प्रकाश में आईं। इन सात कवियों में से पाँच में समाजवादी दृष्टिकोण साफ नजर आता है, जो इस बात का सबूत है कि किस प्रकार माध्यमों पर प्रयोग करने वाले कवियों ने नवीन वस्तु-स्थिति और यथार्थ समस्याओं का सामञ्जस्य रूपगत प्रयोगों के साथ किया था। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि प्रारम्भ में प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर चली थीं। इन तथ्यों की रोशनी में यह समझना और कहना बिलकुल गलत है कि स्वयं 'तार सप्तक' ने 'प्रयोग' नाम के किसी 'वाद' को जन्म दिया अथवा यह कि कोई एक कवि उसका प्रवर्तक हुआ। 'तार सप्तक' के सम्पादन और संग्रहीकरण का यही ऐतिहासिक महत्त्व है कि उसके द्वारा काफी वर्षों से कितने ही कवियों के प्रयत्न एकत्र होकर सामने आए, उनकी ओर लोगों का ध्यान खिंचा तथा नई कविता पर केन्द्रित हुआ। यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। प्रयोगों को 'वाद' की संज्ञा देने का श्रेय बाद के प्रगतिशील आलोचक-

प्रत्यालोचकों को है, जिसका प्रचलन 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के बाद ज़्यादा जोरों से हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि एक ओर समाजवादी आलोचकों ने उन प्रयोगों को प्रतीकवादी, रूपवादी (फारमेलिस्ट) कहना शुरू किया; जिनमें व्यक्तिगत कुण्ठा, यौन वर्जना, सूक्ष्म अन्तर्चेतना आदि की छाप थी, दूसरी ओर खुद कुछ नये प्रयोगशील कवियों ने रचना-वैचित्र्य और विलक्षणता की झोंक में प्रयोगों को एक नारे के रूप में ग्रहण करना शुरू किया। 'नकेन'-वाद या प्रपद्यवाद इसीका एक उदाहरण है। असलियत में प्रयोग-'वाद' शब्द ही गलत है; क्योंकि एक तो किसी भी सचमुच के 'वाद' के पीछे एक समूचा दर्शन होता है, दूसरे प्रयोग समाजोन्मुख और आत्मपरक दोनों ही पक्षों में किये जा सकते हैं, इसलिए एक ही प्रकार के प्रयोगों को 'प्रयोग' मानकर उन्हें 'प्रयोगवाद' कहना फिजूल की बात है।

हम अब तार-सप्तकों की रचनाओं के तत्त्वों का लेख के आरम्भ में बताये हुए विभाग और उनकी कसौटी पर मूल्यांकन करेंगे। इसके साथ ही हम इस काल के उन नये कवियों को भी सामने रखेंगे जो 'सप्तकों' में नहीं आए थे, पर नई शैली की रचनाएँ कर रहे थे। हम यह देख चुके हैं कि सन् तैंतालीस में 'तार सप्तक' के द्वारा नई कविता का एकत्र प्रकाशन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी। पिछले पाँच-छः वर्षों से विभिन्न शैलियों के जो नवीन प्रयोग किये जा रहे थे वे प्रकाश में आए। सम्पादकीय वक्तव्य में कहा गया था कि ये सात कवि किसी एक ग्रुप या स्कूल के नहीं हैं; वे मंजिल पर पहुँचे हुए भी नहीं हैं, बल्कि राहों के अन्वेषी हैं; यानी कविता के प्रसार के लिए नये रास्ते या 'चैनल' खोज रहे हैं। 'तार सप्तक' की कविताओं में हमें कितने प्रकार के ऐसे रास्ते नजर आते हैं ? और वे रास्ते वस्तु और रूप की किन-किन दिशाओं की ओर उन्मुख होते जान पड़ते हैं ? छायावाद के ह्रास-काल में जो नवीन तत्त्व उभरे थे उनसे वे कहाँ तक सम्बन्धित हैं ? 'तार सप्तक' के बाहर जो नये कवि थे उनकी क्या स्थिति थी ?

'तार सप्तक' में हमें तीन मुख्य अन्तर्धाराएँ नजर आती हैं। एक तो समाजवादी यथार्थ की प्रवृत्ति जो रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, गजानन मुक्तिबोध की रचनाओं में मिलती है। इनमें से अन्तिम अर्थात् मुक्तिबोध की रचनाएँ व्यक्ति-प्रधान, अन्तर्मुखी दार्शनिकता, निराशा तथा समाजोन्मुख यथार्थ बोध के संधि-स्थल पर खड़ी थीं और नेमिचन्द्र की प्रधानतः रूपासक्ति, रोमान, व्यष्टि और समष्टि के अन्तर्द्वन्द्व पर। दूसरी प्रवृत्ति व्यक्ति-विद्रोह के अहं और 'फ्रस्ट्रेशन' तथा उसकी वैयक्तिक, दैहिक, वर्गगत और 'काम'-समस्याओं पर आधारित है, जिसकी मुख्य गूँज आन्तरिक यौन-संघर्ष और बाहरी वर्ग-संघर्ष से उत्पन्न कुण्ठाओं और वर्जनाओं की है। इसके साथ ही बौद्धिक आत्मानुभूति, सूक्ष्म मनोभावों और राग-रेखाओं की अभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य-बोध इसका दूसरा पक्ष है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'अज्ञेय' की रचनाएँ आती हैं। तीसरी प्रवृत्ति मध्यवर्गीय, अन्तर्द्वन्द्व, रोमानियत, मानसिक प्यास, स्थूल ऐन्द्रियता, चित्रमयता, भौतिक जीवन के रसमय और रंगीन पक्ष के प्रति लालसा तथा मोह की है। साथ ही इतिहास की 'आब्जेक्टिव' चेतना और विज्ञान-सम्मत आधुनिकता का एक तत्त्व भी इस प्रवृत्ति में दिखाई देता है। यह प्रवृत्ति गिरिजाकुमार माथुर की रचनाओं में हमें मिलती है। 'तार सप्तक' की इन तीनों प्रवृत्तियों का आगे चलकर विकास और रूपान्तर हुआ। पहली प्रवृत्ति प्रगतिवाद के रूप में प्रतिष्ठित हुई, दूसरी 'अज्ञेय' की प्रवृत्ति उपचेतना, सूक्ष्म बौद्धिकता, सन्देह-द्विविधा और नई सौन्दर्य-सृष्टियों में परिवर्तित हुई, तीसरी गिरिजाकुमार माथुर

की प्रवृत्ति आगे सामाजिक यथार्थ से सम्बद्ध होकर नई रोमानियत, रंग-रसमयता, मानवतावाद और भविष्य के विश्वास में परिणत हुई। एक ओर रंग-रोमान और दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ का उसमें समन्वय हुआ। तीनों प्रवृत्तियों के उदाहरण देना उपयुक्त होगा....

पहली प्रवृत्ति : सामाजिक यथार्थ

१. *विश्व-शान्ति :*

ईश के सुवर्ण सिंहासन के पार्श्व से
उड़ चले पुष्पक-विमान पृथिवी की ओर
करते हैं पुष्प-वृष्टि
नष्ट करते हैं नर-सृष्टि कर अग्नि-वृष्टि
दुर्दम नृशंस आततायियों के ध्वंसकारी वायुयान
हरे-हरे खेतों के
काले-काले लोहे के कल-कारखानों के
नीचे कहीं दबा था भूकम्प एक चुपचाप।
हड्डियों का ताप :[1]

२. *निम्न-मध्यवर्ग :*

नोन तेल लकड़ी की फ़िक्र में लगे घुन-से,
मकड़ी के जाले-से, कोल्हू के बैल-से,
मकां नहीं रहने को, फिर भी ये धुन से
गन्दे, अंधियारे और बदबू-भरे दड़बों में
जनते हैं बच्चे।

बीसवीं सदी ने हमें क्या दिया
मोटर, रेल, विमान, क्रांतियाँ
यह बेतार, सवाक् चित्रपट
काग़ज मुद्रा, आर्थिक संकट
गति अतिशयता, वेगातुरता
कहीं प्रपीड़न कहीं प्रचुरता।

बीसवीं सदी ने यही दिया
मानव को मानव का भक्षण
मानव को निज संरक्षण का
परवाना सबको बाँध दिया
जीवन-संघर्ष बढ़ा याँ तक
उस हाथ दिया इस हाथ लिया

---

१. रामविलास शर्मा।

देखा न पुण्य अथवा पातक
जिसने मारा बस वही जिया ।[1]

२. पूँजीवादी समाज के प्रति :

तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तेरे हास में भी रोग-कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चले अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ ।[2]

दूसरी प्रवृत्ति : 'अज्ञेय'

१. अहं और वर्गीय अन्तर्द्वन्द्व :

अवतंसों का वर्ग हमारा
खड्ग-धार भी न्यायकार भी
हमने क्षुद्र तुच्छतम जन से
अनायास ही बाँट लिया
श्रम-भार भी सुख-भार भी
हम लोगों का एक-मात्र श्रम है, सुरति-श्रम
उस अन्त्यज का एक-मात्र सुख है····मैथुन-सुख :[3]

..

नूतन प्रचण्डतर स्वर से
आतताई आज तुझको पुकार रहा मैं
रणोद्यत दुर्निवार ललकार रहा मैं
कौन हूँ मैं ?
तेरा दीन, दुखी, पददलित, पराजित
आज जो कि क्रुद्ध सर्प से अतीत को जगा
मैं से हम हो गया ?

मैं ही हूँ वह पदाक्रांत रिरियाता कुत्ता
मैं ही हूँ वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला
मैं वह छप्पर तल का अहं-लीन शिशु भिक्षुक ।[4]

---

१. प्रभाकर माचवे ।
२. मुक्तिबोध ।
३. 'वर्ग भावना'—'अज्ञेय' ।
४. 'अज्ञेय' ।

२. सूक्ष्म बौद्धिक आत्मानुभूति :

नहीं मुझमें तीव्र कोई अहं की अभिव्यंजना जागी
नहीं चाहे प्राण तुम प्रत्येक स्पंदन की
बनो बेबस फेन-सी उच्छ्वसित समभागी
चेतना की दो प्रवाहित पृथक् धारों-सी
जो कि संगम के अनन्तर भी
रंग अपने पृथक् रखती हैं

और जिनके
घुले उलझे, परस्पर वलयित
द्रवित देहों में
शांति में गति से परम कैवल्य में संवेदना से
भँवर हैं उद्भ्रांत मँडराते······।[1]

उस महा व्याकुल अनावृत ज्ञान-लिप्सा
के क्षितिज पर
जो खिंचा है स्वप्न
श्रावण-साँझ के वितरित घनों पर
अमित नीला, जामुनी, अतिलाल, सुन्दर
दिवस की बरसात का सूर्यास्त का चुम्बन
वह ज्ञान-लिप्सा क्षितिज-सपना
रे वही तुझमें अनेकों स्वप्न देगा।
औ' अनेकों सत्य के शिशु
नव हृदय के गर्त में द्रुत
आ चलेंगे।
आत्मा मेरी
उस ज्वलन की भूमि में तू स्वयं बिछ जा
देख, जलते स्पन्दनों में क्या उलझता ही गया है।[2]

३. यौन-प्रतीक और सौंदर्य-बोध

जब कि सहसा तड़ित के अघात से घिरकर
फूट निकला स्वर्ग का आलोक
बाध्य देखा···
स्नेह से आलिप्त
बीज के भवितव्य से उत्फुल्ल

---

1. 'अज्ञेय'।
२ 'खोल आँखें'—मुक्तिबोध।

वह
वासना के पंक-सी फैली हुई थी
धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी,
औ' समर्पित।[1]

चरण पर धर
सिहरते-से चरण
आज भी मैं इस सुनहले मार्ग पर
पकड़ लेने को पदों से
मृदुल तेरे पद-युगल के अरुण तल की
छाप वह मृदुतर
जिसे क्षण-भर पूर्व ही निज
लोचनों की उझरती-सी बेकली से
मैं छुका हूँ चूम बारम्बार।[2]

तीसरी प्रवृत्ति : गिरिजाकुमार माथुर

१. रंग, रस, रोमान

उन्हीं रेडियम के अंकों की लघु छाया पर
दो छाँहों का वह चुपचाप मिलन था
उसी रेडियम की हल्की छाया में
चुपके का वह रुका हुआ चुम्बन अंकित था
कमरे की सारी छाँहों के हल्के स्वर-सा
पड़ती थीं जो एक-दूसरे से मिल-गुँथकर
सूनी आधी रात।[3]

एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहने थीं
रंग-भरी उस मिलन-रात में

दूज कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तसवीरें
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का भर जाना।[4]

---

१. 'सावन मेघ'—'अज्ञेय'।
२. 'चरण पर धर चरण'—'अज्ञेय'।
३. 'रेडियम की छाया'।
४. 'चूड़ी का टुकड़ा'।

जीवन में फिर लौटी मिठास है
गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी बाँहों में
ओठों में आँखों में
फूलों में डूबे, ज्यों
फूल की रेशमी-रेशमी छाँहें।

२. *चित्रमयता :*

सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में
झाड़ी झुरमुटों से उठे लम्बे मैदान में
रूखे पतझार-भरे जंगल के टीलों पर
काँपकर चलती समीर हेमन्त की
लम्बी लहर-सी
दूरी के ठिठुरे-से भूरे-भूरे पेड़ों पर
ठंडे बबूले बना धूल छा जाती थी।[1]

३. *आकांक्षा और उदासी :*

सुन्दर चीजें ही मिटती हैं सबसे पहले
यह फूल, चाँदनी, रूप, प्यार
आँसू के अनगिन ताजमहल
रागों की ठहरी गूँज
असम्भव सपनों की मनहर मिठास
स्रष्टा तक मिटता कलाकार के मिटने से
पर गीतों के इन पिरामिडों,
इन धौलागिरि, सुमेरुओं पर
मिट जाती स्वयं मृत्यु आकर।

ऐतिहासिकता :

'अधूरा गीत', 'विजय दशमी', तथा 'बुद्ध' में ऐतिहासिक दृष्टि का उदाहरण मिलता है।

'तार सप्तक' की इन तीनों प्रवृत्तियों का आगे की कविता पर असर पड़ा।

रूप-विधान की दृष्टि से भी 'तार सप्तक के कवियों की महत्त्वपूर्ण देन है। नये विषयों के साथ उपमान, प्रतीक, चित्र, रंग, छंद, लय, अन्तःसंगीत, भाषा और शब्द-योजना के नवीन प्रयोग स्थिर हुए। इन कवियों ने एक विस्तृत कैनवेस काव्य-प्रयोगों के लिए प्रस्तुत किया। उपमान यथार्थ जीवन से लिये गए, उनमें आधुनिक युग का वातावरण उतरा, परिपाटीगत प्रतीकों को ठुकराकर ताजे नये प्रतीक और प्रतीक-चित्र जुटाये गए, भाषा की सधी-जमी संकीर्णता का कलेवर चीरकर दैनिक बोल-चाल की भाषा, मुहावरे, पेरेन्थेसेस, जनपदीय-स्थानीय शब्द, उर्दू-अँग्रेजी के प्रचलित शब्द, नाम आदि अंगीकार किये गए और नये शब्द भी गढ़े गए, छंदों में मुक्त

१. 'कुतुब के खण्डहर'।

छंद, छंदमुक्त (फ्रीवर्स), नई मात्रिक छंद-योजना, रूबाई के ढंग के प्रयोग, लोक-गीत और वन-गीतों के छंद, कवित्त और सवैये को तोड़कर नये मुक्त छंद आदि प्रयोग में लाये गए, प्रकारों में सानेट, बैलेड, एकालाप (मोनोलॉग), परिसंवाद, मुक्त-गीत, ग्राम-गीतों की योजनाएँ अपनाई गईं।

इन सबने मिलकर रूप-विधान की दिशा में एक व्यापक क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

'तार सप्तक' से बाहर के कवि भी सचेतन दृष्टि से नये विषयों और शैलियों की रचना में यत्नशील थे। नरेन्द्र में प्रगतिशीलता की लहर वेग से आई थी और वे "नील लहरों के पार, लगी है चीन देश में आग"-जैसी कविताएँ लिख रहे थे। 'अंचल' में भी सामाजिकता, साम्राज्य-विरोध और वर्ग-भावना तेजी के साथ आई थी, उधर उनके गीतों की रंगीन भावुकता और ऐन्द्रियता में भी निखार बढ़ रहा था, नये 'शरबती' प्रतीक और उपमान आ रहे थे। राष्ट्रीय कवियों की प्रवहमान शैली और विद्रोह की ललकार के साथ समाजवादिता, साम्राज्य-विरोध तथा वर्ग-संघर्ष की भावना मिलाकर 'सुमन' प्रगतिशील कवियों में स्थान बना रहे थे। शमशेरबहादुर-सिंह ने 'फ्रीवर्स' में कितनी ही नई रचनाएँ, प्रतीक-चित्र, तथा मनोविज्ञान के 'फ्री-एसोसिएशन' का टेक्नीक लेकर कविताएँ लिखी थीं। भवानी मिश्र व्यावहारिक बोल-चाल की चुभती हुई भाषा में 'सतपुड़ा के जंगल'-जैसे रम्य विशद वर्णन, 'सन्नाटा'-जैसे बैलेड प्रकार और "पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री"-जैसे गीत रच रहे थे। त्रिलोचन शास्त्री गेय गीतों के ढंग की कविताएँ लिखकर उनमें गाँव, खेत, खलिहान, फसलों की ताजगी और जीवन लाने का यत्न कर रहे थे। केदारनाथ अग्रवाल ने प्रकृति-चित्रण, लैंडस्केप, दैनिक जीवन के यथार्थ चित्रों के साथ वर्ग-संघर्ष-सम्बन्धी व्यंग्य आदि लिखे थे। रांगेय राघव की मुक्त छन्द में लिखी कितनी ही शक्तिशाली रचनाएँ सामने आ रही थीं। नागार्जुन सीधी अभिधायुक्त भाषा में व्यंग्य-चित्र लिखकर कविता को उसके ऊँचे शासन से नीचे उतार रहे थे। और भी कितने ही कवि इस उथल-पुथल से प्रभावित हो रहे थे तथा उनके काव्य की मूरत के हाथ-पाँव बन रहे थे। सन् तैंतालीस के बाद के छः वर्षों में नई कविता का प्रसार तेजी से बढ़ता गया।

इन वर्षों के बीच 'तार सप्तक' की मुख्य धाराओं का रूप और अधिक स्पष्ट हुआ तथा निखरा।

उनकी शैलियाँ अधिक प्रौढ़ तथा परिपक्व होकर सामने आईं। 'अज्ञेय' की रचनाओं में एक ओर ज्यादा गहनता, सूक्ष्मता और गूढ़ता आई, दूसरी ओर नई सौन्दर्य-सृष्टियाँ उसमें हुईं। 'कलगी बाजरे की', 'माघ-फागुन-चैत','आषाढस्य प्रथम दिवसे', 'ओ पिया पानी बरसा', 'छिटक रही है चाँदनी', 'भेड़ा घाट की साँझ', 'हवाई यात्रा'-जैसी रचनाओं में पहले की बनिस्बत अधिक निखार उतरा। गिरिजाकुमार माथुर में मानवता, आशावादिता, इन्सानी जीवन और भविष्य में विश्वास का स्वर ज्यादा उभरकर रंग-रोमान के समन्वय के साथ आया।

उधर प्रगतिशील कविता कट्टरपन्थी उसूलों के कारण नारों के वाग्जाल में सीमित होती गई, और केवल 'रियलिज़्म' का एक तत्त्व अपने दायरे के बाहर छोड़कर स्वयं संकुचित और संकीर्ण हो गई।

इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त इस ज़माने में गीति-काव्य के माध्यम से भी नये प्रयोग किये गए। ऐसे कवियों में हम जानकीवल्लभ शास्त्री, शंभूनाथसिंह, ठाकुरप्रसादसिंह, हंसकुमार तिवारी और इधर बिलकुल ही नये नीरज तथा वीरेन्द्र मिश्र आदि को ले सकते हैं। इन कवियों के

गीतों में अधिकांश रूप से रोमानी भावना के दर्शन हमें होते हैं। इनमें से रंग-योजना तथा नये उपमानों का प्रयोग शम्भूनाथसिंह में सबसे अधिक मिलता है, और गीतों को बोल-चाली चलताऊ भाषा में लिखने का प्रयोग 'नीरज' में।

: ४ :

शताब्दी के अर्ध चरण तक आते-आते नये कवियों की एक और पीढ़ी उठकर साहित्य-क्षितिज पर आई। धर्मवीर भारती, हरि व्यास, नरेश मेहता, रघुवीरसहाय, शकुन्त माथुर, महेन्द्र भटनागर, सर्वेश्वरदयाल, मदन वात्स्यायन, विजयदेव साही, नामवरसिंह, सिद्धनाथ 'कुमार' तथा राजनारायण बिसारिया आदि कितने ही नये कवि हमारे सामने हैं। और बहुत-से सद्यः कवि हैं जिनकी रचनाएँ अक्सर पत्रों में आजकल प्रकाशित होती रहती हैं तथा जिनमें नई कविता के तत्त्व झलकते हैं। हालाँकि ये कवि अभी निर्माणावस्था में ही हैं। नाम गिनाना यहाँ इष्ट नहीं है और न ही वह सम्भव है; क्योंकि यह पीढ़ी आजकल ही उठ रही है। नाम गिनाने में दो कठिनाइयाँ हैं। एक तो वह सूची कहाँ तक बढ़ाई जाय तथा उसको खत्म कहाँ किया जाय? दूसरे आज नये कवियों की हालत यह है कि जहाँ एक बार नाम लिया या कुछ ताजगी अथवा नयापन देखकर लोगों ने नई कविता से सम्बन्धित पत्रों में उनकी रचना प्रकाशित की वहाँ उन्हें अपने बारे में गलतफहमी होने और गलत रास्तों पर चले जाने की पूरी सम्भावना होती है। नई उठान के कवियों में से सात को फिर लेकर 'अज्ञेय' ने 'दूसरा सप्तक' का संकलन किया। 'दूसरा सप्तक' सन् इक्यावन में प्रकाशित हुआ और उसमें दो पिछली पीढ़ी के तथा पाँच नये कवियों की रचनाएँ संग्रहीत की गईं। पिछली पीढ़ी के शमशेर और भवानी मिश्र तथा नई पीढ़ी में से शकुन्त माथुर, हरि व्यास, नरेश मेहता, रघुवीरसहाय, धर्मवीर भारती इस सप्तक में रखे गए। कवि किस दृष्टिकोण से संग्रहीत किये गए थे इस पर हम न जाकर स्वयं उन कवियों के कृतित्व को देखेंगे और इस बात का विश्लेषण करेंगे कि ऐतिहासिक परम्परा की कड़ी में इस कृतित्व का क्या स्थान है, पिछले किन तत्त्वों पर वे आधारित हुए हैं, तथा 'दूसरा सप्तक' में उन तत्त्वों का विकास हुआ या नहीं। आखिर में यह कि इस समस्त नई पीढ़ी की कविता जिन्दा रहेगी या नहीं और यदि रहेगी तो उसकी कौन-सी चीजों के विकसित होकर रह जाने की सम्भावना है।

इसके लिए हम 'दूसरा सप्तक' की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके सप्तक के बाहर वाले कवियों को भी परखेंगे। दूसरे सप्तक में यद्यपि प्रगतिशील धारा का भी प्रमाण मिलता है, 'अज्ञेय' की सूक्ष्म आत्मानुभूति तथा बौद्धिकता और उनसे भी पिछले, कुण्ठाग्रस्त तथा अर्ध-समाजोन्मुखी, अर्ध-व्यक्तिवादी कवियों-जैसी शैली के प्रयोग, और गिरजाकुमार माथुर-जैसी रंगीनी, प्रतीक-योजना चित्रमयता और आधुनिकता भी मिलती है, फिर भी यह कहना पूरी तरह ठीक न होगा कि 'दूसरा सप्तक' पहले 'तार सप्तक' के कवियों का सिर्फ 'फॉलो ऑन' है। इसके विपरीत यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि 'तार सप्तक' के कवियों ने कविता-क्षेत्र का नई दिशाओं में प्रसार बढ़ाने के जो अभिनव यत्न किये थे उसका आने वाली पीढ़ी पर स्पष्टतया गहरा असर पड़ा और बहुत-से कवि अपनी-अपनी रुचि, सामर्थ्य तथा मानसिक स्थिति के अनुसार इस प्रयत्न-भूमि पर आकर इकट्ठे होने लगे। 'दूसरा सप्तक' के दो कवि यानी भवानी मिश्र और शमशेर पहले ही से अपनी स्वतन्त्र शैली स्थापित कर चुके थे, अन्य पाँच कवि 'तार सप्तक' का दिशा-संकेत लेकर अग्रसर हुए। इन

पाँच कवियों ने अवश्य ही पिछली नई कविता से प्रेरणा ली और सीखा भी, विशेषकर 'अज्ञेय' और गिरिजाकुमार माथुर के प्रयोगों से। इसका सबूत इन कवियों के वक्तव्य और कृतित्व दोनों से प्राप्त होता है। रघुवीरसहाय में पूर्णतया और एक सीमा तक हरि व्यास में बौद्धिक आत्मानुभूति, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सूक्ष्म विवेचन, अन्तर्मुखी चेतना और व्यक्तिगत कुण्ठाओं का आभास 'अज्ञेय' की याद दिलाता है। धर्मवीर भारती के सिर्फ वक्तव्य में 'अज्ञेय' की मान्यताओं-जैसी गूँज है''''यद्यपि कृतित्व में उनसे विभिन्नता है। भारती में रोमानियत और प्रणयासक्ति के साथ सामाजिक चेतना तथा यथार्थ की कटु अनुभूति काफी तीव्रता से मिलती है, जिन चीजों के कारण यह अन्तर स्पष्ट होता है। आगे चलकर भारती तथा अन्य कुछ कवियों—जैसे सर्वेश्वरदयाल और विजयदेव साही—में अनास्था का प्रवेश हुआ। दूसरी ओर नरेश मेहता में नये उपमानों की खोज, छवि, रचना का प्रयास, शिल्प-योजना, रूमानियत के साथ सामाजिक यथार्थ का समन्वय, शकुन्त माथुर की रंगीनी और चित्रमयता, हरि व्यास की रोमानी मोहासक्ति से गिरिजाकुमार माथुर का ध्यान आ जाता है। लेकिन इन कवियों में 'तार सप्तक' की उपरोक्त शैलियों का अनुकरण-मात्र ही है और कुछ नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। रचना-काल की आरंभिक अवस्था में सभी कवि अपने पिछले कवियों से प्रभावित होते हैं, उनसे प्रेरणा पाते हैं, अपनी मनोनुकूल शैलियों के कई तत्त्व लेकर अपनी-अपनी मिट्टी की मूरत गढ़ने की कोशिश करते हैं, अपनी अनुभूतियों का रंग उसमें भरते हैं और इस प्रकार अपनी विशिष्टता की छाप उन शैलियों पर लगाते हैं। 'दूसरा सप्तक' के कवियों की रचनाओं में पिछले प्रयोगशील कवियों की दी हुई शैली और शिल्प का यदि स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है तो इसका कारण यही है कि इस संग्रह में उनके प्रारम्भिक प्रयोग ही थे। प्रारम्भिक होने के कारण उनकी रचनाओं में वह प्रौढ़ता नहीं थी जो 'तार सप्तक' के कवियों में थी। उनकी शैलियाँ अभी स्थिर नहीं हो पाई थीं और उनमें कच्चापन नजर आता है। इसलिए 'दूसरा सप्तक' बहुत-से कवियों में से कुछ नये कवियों की कविताओं का संग्रह-मात्र है, वह समस्त नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व नहीं करता और पहले सप्तक की तरह उसका ऐतिहासिक महत्त्व भी नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि पहले सप्तक के संग्रहीकरण और प्रकाशन से हिन्दी-काव्य की एक नूतन धारा स्पष्ट रूप से अलग होकर सामने आई थी, जिसने आगे की कविता पर अपना प्रभाव डाला। उस रूप में 'दूसरा सप्तक' के द्वारा ऐसा कुछ नहीं हुआ, क्योंकि 'दूसरा सप्तक' के बाहर नये प्रयत्न और प्रयोगों की अब तक एक पूरी परम्परा खड़ी हो चुकी थी।

इस निर्णय के बाद हम 'दूसरा सप्तक' के अन्य पक्षों पर विचार करेंगे। 'दूसरा सप्तक' में पहले की प्रयोगशीलता का परिमार्जित और परिष्कृत रूप है, यह कहना यद्यपि ठीक नहीं है तथापि इन कवियों में कुछ और चीजें देखने को मिलती हैं। सबसे पहली बात जो हमारी दृष्टि खींचती है वह इन रचनाओं की शब्द-योजना और भाषा की है। भवानी मिश्र से लेकर धर्मवीर भारती में भाषा और शब्द-योजना का पहले से कहीं अधिक अन्तर नजर आता है। 'दूसरा सप्तक' के कवियों में भाषा को अधिकाधिक दैनिक यथार्थ के पास लाने का स्पष्ट प्रयत्न है। 'तार सप्तक' के कितने ही कवियों पर छायावादकालीन भाषा और शब्द-योजना का प्रभाव था। 'दूसरा सप्तक' के कवियों की भाषा अधिक सरल और सीधी है। वह बोल-चाल के शब्दों से अनुप्राणित है और उसमें दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा के निकट आने का स्पष्ट यत्न है। भवानी मिश्र की चुभती हुई सीधी शैली का यही मर्म है। 'दूसरा सप्तक' में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं :

गीत फरोश : जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ
मैं तरह-तरह के
किसिम-किसिम के
गीत बेचता हूँ
जी बहुत ढेर लग गया हटाता हूँ
गाहक की मर्ज़ी...अच्छा, जाता हूँ
मैं बिल्कुल अन्तिम और दिखाता हूँ
या भीतर जाकर पूछ आइए, आप।[1]

आज मुझे लगता संसार खुशी में डूबा
माँ ने पाया अपना धन ज्यों
बहुत दिनों का खोया
बहुत बड़ी कुँवारी लड़की को
सुघर मिला हो दूल्हा
मैल-भरी दीवारों पर राजों ने फेरा चूना
किसी भिखारिन के घर में
बहुत दिनों पीछे, मंद जला हो चूल्हा।[2]

उधर उस नीम की कलगी पकड़ने को
झुके बादल
नई रंगत सुहानी चढ़ रही है
सबके माथे पर
उड़े बगले, चले सारस
हरस छाया किसानों में
बरस-भर की नई उम्मीद
छाई है बरसने के तरानों में।[3]

कौन आज मुझे खास बात समझाने को
दिल में आता है
और दूर से यह गाता है
सुनता हूँ, साह कोई मरा
और एक चोर नहीं डरा, नहीं डरा
रात हुई खतम, दिन जब आलोक से भर।
उतरी एक लाल परी।
सुनकर मन पछताता है

---

१. भवानी मिश्र।
२. शकुन्त माथुर।
३. हरि व्यास।

आह, मैं चोर न हुआ
हाय, मुझे कुछ नहीं आता है
जग से मरने का ही मेरा नाता है ।[1]

काला गगन, हवा साँवली, ज़हरीले धुएँ के बादल
चीख़ रही सीटी जिनमें मिल
भद्दी मोटी लालटेन ले घूम रहे गोदामों में ये मोटे वार्डर
जाँच रहे रेलों के पहिये हथौड़ियों से घन-घन करके
मोटे ओठों में चुरुट जल रहा
आसमान की छाती में इंजन का सारा शोर भर रहा
जाने किस राक्षस की आँखों-जैसी लाल हरी लाइटें चमक रहीं
सिगनल-खम्भों की........[2]

मैं कभी-कभी कमरे के कोने में जाकर
एकान्त जहाँ पर होता है
चुपके से एक पुराना काग़ज़ पढ़ता हूँ
वह एक पुराना प्रेम-पत्र है जो लिखकर
भेजा ही नहीं गया, जिसका पाने वाला
काफी दिन पीछे गुज़र चुका ।[3]

हर घर में सिर्फ़ चिराग़ नहीं, चूल्हे सुलगे
लेकिन फिर भी
जाने कैसा सुनसान अंधेरा
रह-रहकर धुँधुआता है
छप्पर से छनता हुआ धुआँ
हर ओर
हवा की पर्तों पर छा जाता है
बढ़ जाती है तकलीफ़ साँस तक लेने में
हर घर में मचता हंगामा
दफ़्तर के थके हुए क्लर्कों की डाँट-डपट
बच्चों की चीख-पुकारें
पत्नी की भुन-भुन........[4]

भूख ने उसकी जवानी तोड़ दी
यों बड़ी ही नेक थी कविता

१. शमशेर ।
२. नरेश मेहता ।
३. रघुवीर सहाय ।
४. धर्मवीर भारती ।

मगर धनहीन थी, कमज़ोर थी
और बेचारी गरीबन मर गई ।[१]

भाषा का 'रियलिज़्म' और उसे व्यावहारिक बोल-चाल से एक कर देने का प्रयत्न इन सभी नये कवियों की एक विशिष्टता है । इसका अर्थ यह है कि हिन्दी की नई कविता अब अधिकाधिक साधारण जीवन के निकट आती जा रही है, उसके उपकरण और माध्यम दोनों ही सामाजिक यथार्थ की ओर तेज़ी से अग्रसर हो रहे हैं । नई पीढ़ी में भाषा, शब्द-योजना, उपमान, प्रतीक, चित्रों का यह 'रियलिज़्म' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो भविष्य की काव्य-प्रक्रियाओं पर असर डालेगा । भाषागत यथार्थ गद्य में और विशेषकर कहानी-उपन्यास में प्रेमचन्द के बाद से काफी आ चुका था । कविता में अब वही चीज़ बोल चाल की भाषा को लेकर आ रही है ।

दूसरे सप्तक और उसके बाद के लगभग सभी कवियों में भाषा की यह विशेषता मौजूद है । आज के किसी भी कवि की रचनाओं से ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं । सभी में बोल-चाल की भाषा का प्रयोग मिलता है । जनपदीय शब्द, प्रान्तीय पर्याय, प्रादेशिक मुहावरे, स्थानीय, प्रयोग, लटक (मेनेरिज़्म), आधे वाक्य (पेरेन्थेसिस) बड़ी तेज़ी से आते जा रहे हैं, और इस तरह काव्य की भाषा का प्रसार बढ़ता जा रहा है ।

पिछले प्रयोगशील कवियों ने यदि कविता के क्षेत्र का एक व्यापक रूप से फैलाव बढ़ाया था तो अब नई पीढ़ी के कवि उसकी भाषा और उपकरणों पर विशिष्ट रूप से काम कर रहे हैं ।

इससे स्पष्ट है कि एक ओर तो तथाकथित साहित्यिक भाषा और बोल-चाल की भाषा का व्यवधान बहुत-कुछ मिट जायगा, दूसरी ओर बोल-चाल की भाषा जो हमें असंस्कृत, निम्न और काव्य की गरिमा के अयोग्य लगती है और जिसका उपयोग करने से यह समझा जाता है कि साहित्य या काव्य नीचा और अभद्र हो जायगा । वह जब स्वयं कविता की भाषा बन जायगी तो अपने-आप प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता प्राप्त करेगी ।

मैं समझता हूँ भाषा का यह 'रियलिज़्म' भविष्य की कविता का एक प्रधान बीज है, और आने वाली महान् कविता इसी जीवन-यथार्थ की भाषा को ग्रहण करके उस पर अपना भवन उठायगी । भविष्य के महाकाव्य जन-साधारण की इसी बोल-चाली भाषा में यदि लिखे जायँ तो कोई अचरज की बात नहीं होगी । हमारे विचार में कविता के भाषागत विकास का वही स्वाभाविक, आवश्यक और ऐतिहासिक चरण होगा ।

नई पीढ़ी की दूसरी विशेषता उसकी सामाजिक अनुभूति है । यह अनुभूति विश्वास, अनास्था और कटुता तीनों ही रूपों में प्राप्त होती है । 'तार सप्तक' और उसके अन्य समकालीन कवियों में नई सामाजिक चेतना का उदय एक व्यापक ढंग से हुआ था । सामाजिक अर्थ-व्यवस्था की समझदारी, जीवन की विषमता और जटिलता, मध्यवर्ग की मनोवृत्ति, मुसीबत और छीछालेदर, किसान, मजदूर, धनिक, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीयता आदि की चेतना 'तार सप्तक' के कई कवियों में हम स्पष्ट पाते हैं । इन बातों का जैसे सहसा उन्हें अपने जीवन में ज्ञान हुआ हो और आँखें खुली हों । नई पीढ़ी के कवियों में यह चेतना ज़्यादा उलझी हुई अनुभूति के रूप में आई है । यद्यपि जीवन के विरोधी और अनुकूल तत्त्व आज बहुत साफ होकर सतह पर

१. धर्मवीर भारती ।

आ चुके हैं पर आज उन्हें देखने की दृष्टियों का भेद भी काफी मौलिक रूप से उपस्थित है। दूसरों की अनुभूतियों के आधार पर उठी हुई सामाजिकता अब लगभग बुझ गई है और पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, किसान, मजदूर, शोषित-वर्ग का नाम-भर गिना देना सामाजिकता का लक्षण नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत जीवन के छोटे-से-छोटे पहलू में संघर्ष की जो छाया पहुँची है उसकी अभिव्यक्ति असली सामाजिकता मानी जाने लगी है। अपनी और अपने आस-पास की जिन्दगी में उसकी छाप देखकर, उसे भोगकर आज का कवि सामाजिकता को अपना रहा है।

लेकिन जैसा कि हमने अभी कहा इस सामाजिकता को देखने की दृष्टियाँ आज कई-एक हैं। सामान्य रूप से उसके विरोधी और अनुकूल पक्षों से आज सभी परिचित हैं, कम-से-कम परिचित होने का दावा तो करते ही हैं। इस कारण जहाँ एक ओर विरोधी और अनुकूल ध्रुव अलग-अलग दिखाई देते हैं वहाँ इनके ऊपर एक-सी दिखाई देने वाली किन्तु विभिन्न दृष्टियों ने एक नया उलझाव नये कवि के मन में पैदा कर दिया है। जीवन के विरोधी तत्त्वों से जो आक्रान्त हैं पर जिन्हें उनसे त्राण पाने का मार्ग समझ में नहीं आता, उनमें सामाजिक परिस्थितियों की अनुभूति के साथ एक नये प्रकार की हताशा अथवा अनास्था पैदा होती है। वे मार्ग ढूँढ़ने का यत्न करते हैं पर परिस्थितियों की चट्टानों पर सिर पटककर छटपटाते रह जाते हैं। दूसरी ओर सामाजिक न्याय और कल्याण के विभिन्न स्वर उन्हें सुनाई देते हैं। सामाजिक मुक्ति का दावा करने वाले भिन्न-भिन्न विचारादर्श उन्हें आस-पास दिखाई पड़ते हैं, पर सभी में उन्हें एक-न-एक कमी नजर आती है। कोई थोथा लगता है, कोई कमजोर, कोई ढीला-ढाला, कोई मनगढ़न्त और अव्यावहारिक, कोई बाहर से थोपा हुआ, कोई भयावह, कोई संदिग्ध, कोई प्रच्छन्न, दुकान की बाहरी सजावट-जैसा और इस तरह कोई भी 'एप्रोच' उनकी बौद्धिकता और अनुभूति को स्वीकार नहीं होता। इसलिए हर 'एप्रोच' में कमी अनुभव करके वे सभी पर से आस्था खो बैठते हैं।

धर्मवीर भारती, रघुवीरसहाय, सर्वेश्वरदयाल, विजयदेव साही, राजनारायण बिसारिया तथा कुँवर नारायण की इधर की कुछ रचनाओं में अनास्था और 'निषेध' (निगेटिविज़्म) की छायाएँ देखने को मिलती हैं। भारती में विश्वास और अनास्था का अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट रूप से नजर आता है। एक ओर ऐसी पंक्तियाँ हैं :

> ठहरो, ठहरो, ठहरो, ठहरो हम आते हैं
> हम नई चेतना के बढ़ते अविराम चरण
> हम मिट्टी की अपराजित गतिमय सन्तानें
> हम अभिशापों से मुक्त करेंगे कवि का मन।

और दूसरी ओर····

> हम सबके दामन पर दाग़
> हम सबकी आत्मा में झूठ
> हम सबके माथे पर शर्म
> हम सबके हाथों टूटी तलवारों की मूठ
>
> दो हमको फिर झूठे युद्ध
> दो हमको फिर झूठे ध्येय
> हारेंगे फिर यह है तय

फिर उसको मानेंगे हम प्रभु की हार
अपने को मानेंगे फिर अपराजेय।[१]

अथवा

सूनी सड़कों पर ये आवारा पाँव
माथे पर टूटे नक्षत्रों की छाँव
कब तक
आख़िर कब तक
लड़ने वाली मुट्ठी जेबों में बन्द
नया दौर लाने में असफल हर छन्द
कब तक
आख़िर कब तक ?[२]

पर आज सिर्फ भग्नावशेष
बेस्वाद सान्त्वना, धीरज, ढाढस, सब्र, भाग्य
उजियाले की जड़ हँसी
अंधेरे के आँसू

सच मानो प्रिय
इन आघातों से टूट-टूटकर रोने में कुछ शर्म नहीं
कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं,
मेजों से लगकर सो जाते कितने पठार,
कितने सूरज गल रहे अंधेरे में छिपकर,
हर आँसू कायरता की खीझ नहीं होता।[३]

इस रचना में भी जीवन के निषेध और विश्वास दोनों का अन्तर्द्वन्द्व मिलता है। आज के कवि की यह अनास्था सामाजिक संघर्ष की कटुता और परिणामगत पस्ती से उपजती है।

इस प्रकार सामाजिक चेतना से उत्पन्न कटुता भी मौजूदा कविता की एक विशिष्टता है। यह कटुता अनास्थामूलक भी है और किसी एक सिद्धान्त को किताबी रूप में अनुदारता, असहिष्णुता और कट्टरता से स्वीकार करने के कारण भी। इसके अलावा सीधी परिस्थिति-जन्य कटुता भी है, जो आवश्यक रूप से अनास्थाजनित नहीं होती। इस प्रकार की कटुता आगे बढ़कर स्वस्थ सामाजिकता में परिवर्तित भी हो सकती है।

तीसरी बात मानवता और जीवन-कल्याण में विश्वास के स्वर की है। विश्वास की आवाज यद्यपि आज कुछ कम है फिर भी जितनी है वह उतनी ही मजबूत और बलवती है। इस मानवतावादी दृष्टि में सामाजिक अवस्था को देखने का पैनापन है; मौजूदा परिस्थितियाँ किस गति

१. धर्मवीर भारती।
२. 'संक्रांति'—भारती।
३. 'हिमालय के आँसू'—साही।

से बढ़ रही हैं, किधर बढ़ रही हैं, उनका आज क्या रूप है और यह स्वरूप किस तरह दूसरे रूपों में ढलता जा रहा है इसकी समझदारी यहाँ मौजूद है। इस आवाज में भविष्यवादिता का एक तत्त्व भी दिखाई देता है और यह भविष्यवादिता दिन-दिन अधिक गहरी होती जा रही है। अब वह जिन्दगी के छोटे-से-छोटे पहलू की खण्ड-अनुभूति को उठाकर उस पर अपने सिद्धान्तों को कसना और अपने विश्वास की छाप को लगाना चाहती है। हमारे देश की संस्कृति के वह अनुरूप भी है। यही आवाज आगे आने वाली कविता में निरन्तर बढ़ती जायगी ऐसा हमारा निश्चित विचार है।

अन्त में हम नई कविता के उन समस्त पहलुओं की ओर इशारा करेंगे जिनसे बचकर आज के कवि को चलना होगा, यदि उसके सामने केवल साहित्यिक 'लीडर' बनने का लक्ष्य नहीं है और वह मेहनत करके हिन्दी के काव्य-साहित्य का भविष्य सँवारना चाहता है।

सबसे पहली बात तो यह है कि नया कवि 'वादों' और गुटों के फेर में न पड़कर अपना स्वतन्त्र चिन्तन करे और उसे अपने मौलिक ढंग से विकसित करे। जान बूझकर पूर्वाग्रह के साथ एक के पक्ष या दूसरे के विरोध में रचना न करे। सिर्फ देखा-देखी या सुन-सुनाकर मान्यताएँ बनाने का दम न भरे, क्योंकि वे कभी टिकाऊ नहीं होतीं। हाँ, यह बात जरूर है कि इसके लिए जरा मेहनत के साथ पठन, अनुशीलन, मनन, स्वतः आलोचन और चिन्तन करना पड़ेगा, 'शॉर्ट-कट' नहीं मिल सकेगा। लेकिन श्रेष्ठ रचनाकार को 'शॉर्ट-कट' का मोह तो होना नहीं चाहिए, यदि वह श्रेष्ठ रचनाकार बनना चाहता है, अपनी नई शैली गढ़ना चाहता है और आगे के लिए कुछ छाप छोड़ना चाहता है। इस रास्ते पर चलकर हो सकता है मेहनत में वर्षों निकल जायँ और बहुत जल्दी पाँचवें सवारों में नाम न आ पाए। पर जिसे कोई गम्भीर काम करके आगे की पीढ़ियों के लिए सौंप जाना है उसे यह करना पड़ेगा, दूसरा कोई रास्ता है ही नहीं।

एक और भी आवश्यक बात यह है कि नया कवि प्रयोगों को एक नारे के रूप में ग्रहण न करे। नयेपन के नाम पर वह अस्वाभाविक विशृङ्खलता, विचित्रता, विलक्षणता, कृत्रिम खींच-तान और ऊल-जलूल, शब्द-उपमान-संग्रह करके लोगों को चौंकाने, ध्यान आकृष्ट करने, नई शैली का आभास पैदा करने या सनसनी मचाने का प्रयास न करे। क्योंकि न तो उससे सनसनी मचती है, और न नई शैली का निर्माण होता है; बल्कि स्वयं उसकी रचनाएँ दयनीय अथवा हास्यास्पद हो जाती हैं। छन्दों की व्यर्थ तोड़-मरोड़, जो बिना किसी गम्भीर आधार या सिद्धान्त के की जाती है, जान-बूझकर 'गद्य' बनाने का यत्न, अथवा छन्द, लय, अन्तःसंगीत की अज्ञानता, दूर-दूर के असम्बद्ध उपमानों का संग्रह, रद्दी, छिछोरे, ओछे, निकृष्ट, फूहड़ या शालीनता-रहित वैयक्तिक व्यापारों की अभिव्यंजना, कविता को प्रगतिवादी या प्रयोगवादी बनाने के लिए जबरदस्ती कुछ नाम, नारे, 'कैचवर्ड्स', खोखले प्रतीक, स्थानीय देशज या जनपदीय शब्द अथवा उपमाओं की ठूँस-ठाँस, नई फिलासफी या विचार-आदर्श देने के लिए उलझी-सुलझी अर्थहीन बौद्धिकता और तर्क आदि से न तो कविता में नयापन आता है और न उससे कोई नया चमत्कारी साहित्य-प्रवर्तन होता है; श्रेष्ठ कविता होने या काव्य साहित्य को समृद्ध करने की बात तो दूर रही। आज नये कवियों में इस 'तुक्केबाजी' का चलन जगह-जगह दिखाई देता है जिससे स्वयं उन्हीं कवियों को खतरा है। इस गम्भीर खतरे से आज के कवि को सचेत रहकर मेहनत से अपना स्वस्थ-विकास करना होगा।

इधर के नये कवियों के लिए एक और चेतावनी देना भी हम ज़रूरी समझते हैं। आज इसकी अत्यधिक आवश्यकता है कि नया कवि कुछ ठोस रचना और साहित्यिक निर्माण की ओर ध्यान दे, अपने मत और मान्यताओं का स्पष्टीकरण और पुनर्स्पष्टीकरण ज़रा कम करे। हो सकता है उसके मत और मान्यताएँ अपरिपक्व ही हों, और इसीकी सम्भावना अधिक है। हमारे देश में बात करने और नुक्ताचीनी करने की आदत दूसरों से कुछ ज़्यादा ही है, मेहनत करने और रचनात्मक कार्य करने की कम। पर यदि हम अपने काव्य-साहित्य के भाण्डार-गृह को नई कविता की एक अभूतपूर्व भेंट देना चाहते हैं, तो हमें छोटी-छोटी बातें, अधकच्चरे सिद्धान्त, तर्क, फलसफ़े का चक्कर अपने विकास के लिए अपने तक ही रखकर देश और विदेश की कुछ बड़ी बातों और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर उन्मुख होना होगा। उन्हें अपने कृतित्व में उतारना होगा। उदासी, पस्ती, अनास्था, कमज़ोरी की भावना को दूर हटाकर कविता में विश्वास का स्वर फूँकना होगा। अपने समाज को कमज़ोरी और निराशा दिलाने के बजाय मज़बूती और हिम्मत दिलानी होगी। देश की युगीन परम्पराओं के अनुकूल मानवता के कल्याण में गहरी आस्था पैदा करनी होगी। हम समझते हैं कि भविष्य ऐसी ही कविता के हाथ में है।

अनुशीलन

डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त

'पद्मावत' का पाठ और 'आईन-ए-अकबरी'

जायसी का 'पद्मावत' सन् ९४७ हि० (१५४० ई०) में लिखा गया था, और अबुलफ़ज़ल ने 'आईन-ए-अकबरी' सन् १००३ हि० (१५९५ ई०) में समाप्त किया था। अतः इधर जब मैंने 'पद्मावत' के लेखन-काल के भारतीय जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिए 'आईन-ए-अकबरी' का अवलोकन किया तो उसमें मुझे ऐसे अनेक शब्द मिले जो 'पद्मावत' में भी आये हैं।

अब से चार-पाँच वर्ष पूर्व 'जायसी-ग्रन्थावली' के सम्पादन के समय 'पद्मावत' के पाठ-निर्धारण के प्रसंग में ऐसे अनेक स्थल मेरे सामने आये थे जहाँ पर निर्धारित सम्पादन-सिद्धान्त प्रायः ऐसे पाठ की ओर ले जाते थे जो अपरिचित ही नहीं बहुत-कुछ अर्थहीन भी प्रतीत होता था, जब कि दूसरी ओर केवल हस्त-लिखित प्रतियों में ही नहीं सम्पादित संस्करणों में भी इस प्रकार के पाठान्तर मिलते थे जो अधिक परिचित और अर्थयुक्त प्रतीत होते थे। ऐसे स्थलों पर, कहना नहीं होगा, मैंने प्रथम मार्ग का ही अवलम्बन किया था। मुझे हर्ष है कि ऐसे अनेक स्थलों के पाठ 'आईन-ए-अकबरी' के द्वारा नितान्त सार्थक और जायसी के युग के प्रमाणित हो रहे हैं।

नीचे ये स्थल दिये जा रहे हैं। 'पद्मावत' के उद्धरणों के साथ दी हुई संख्याएँ मेरे 'जायसी-ग्रन्थावली'[1] पाठ की क्रमशः छन्द तथा पंक्ति-संख्याएँ हैं। 'आईन-ए-अकबरी' के स्थल-संकेत ब्लाचमैन के किये हुए उसके प्रसिद्ध अनुवाद के द्वितीय संस्करण[2] के अनुसार हैं। पाठान्तर उद्धरणों के सामने ही चौकोर कोष्ठकों में दे दिये गए हैं, और जिन अंशों के वे पाठान्तर हैं उन्हें उल्टे 'कामों' से इंगित कर दिया गया है। जिन प्रतियों में ये पाठान्तर मिलते हैं, उनका निर्देश प्रस्तुत लेख के लिए अनावश्यक समझकर नहीं किया गया है, जिज्ञासु पाठक उन्हें उपर्युक्त मेरे संस्करण तथा अन्य संस्करणों में देखकर जान सकते हैं।

---

१. प्रकाशक—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, प्रयाग, १९५२ ई०।

२. प्रकाशक—रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल, कलकत्ता, १९३९ ई०।

[१, २] बारह बानि और बनवारी

'पद्मावत' में पहला शब्द अनेक स्थलों पर आया है, यथा :

काह कसौटी कसिए 'कंचन बारह बानि' ।[१] [अधिक चढ़ै तेहि बान]

कुन्दन कया दुवादस बानी ।[२]

'कनक दुवादस बानि होइ' यह सोहाग वह माँग ।[३]

[कनक दुवादस माँगतेहि]

'आईन-ए-अकबरी' में कहा गया है, "भारत में सोने की सर्वोच्च कक्षा की शुद्धता को 'बारह बानि' कहा जाता है, क्योंकि भारतीय शुद्धता की बारह कक्षाएँ मानते हैं।"[४]

दूसरा शब्द यद्यपि एक ही बार आया है किन्तु उसीसे सम्बद्ध है :

दीन्हि कसौटी 'औ बनवारी' ।[५] [ओपनवारी]

आ० अ० में कहा गया है, "कुछ लम्बी शलाकाओं के सिरों पर, जो पीतल या वैसी ही किसी धातु की बनी होती हैं, सोने के छोटे-छोटे टुकड़े लगे होते हैं जिन पर उनकी शुद्धता अंकित रहती है। जब कारीगरों को सोने के किसी नवीन टुकड़े की शुद्धता जाँचनी होती है, वे इस नवीन टुकड़े से और फिर उक्त शलाकाओं से कसौटी पर रेखाएँ खींच लेते हैं और दोनों प्रकार की रेखाओं का मिलान करके वे उक्त सोने की शुद्धता जान लेते हैं [इन्हीं शलाकाओं को बनवारी कहा जाता है।]"[६]

[३] सूरजकान्त

यह शब्द 'पद्मावत' में दो बार आता है, किन्तु दोनों बार अत्यधिक पाठान्तर-बाहुल्य के साथ :

'सुरुज क्रान्ति करा जसि' निरमल नीर सरीर ।[७]

[सुरुज किरिन तें आगरि, सु० क्रान्ति तें आगरि, सू० रानी तसकरा, सु० करा तेइँ निरमल, सु० करा नित करा जस, सु० करौं जस निरमल, सु० क्रान्ति जस निरमल, सु० कीता कातिक जस, सु० करा नित आवै, सु० करा नित आगरि, सु० किरिन जसि निरमल]

'सूरुज क्रान्तिकरा' निरमली ।[८]

[सुरुज क्रान्ति ते सुठि, सु० क्रान्ति दुति गिव, सु० के करा ताहि, सु० करा नित करा, सु० किरिनि दुतिगियँ, सु० क्रीति करा, सु० करौं दुति गियँ]

१. २७३.६ ।
२. ४६८.१ ।
३. १००.१ ।
४. जिल्द १, पृष्ठ १८ ।
५. ८३.५ ।
६. जिल्द १, पृष्ठ १६
७. ४६८.८ ।
८. ४८१.६ ।

यह 'सूर्यकान्त' है, जिसका विवरण 'सूरजक्रान्त' करके आ० अ० में इस प्रकार दिया गया है, "दोपहर के समय लोग एक गोल टुकड़ा, एक श्वेत और कान्तियुक्त पत्थर का, जिसे हिन्दी में 'सूरजक्रान्त' कहते हैं, धूप में रख देते हैं और तदनन्तर वे एक रुई का टुकड़ा उसके पास रख देते हैं जो कि उक्त पत्थर की आँच से जल उठता है।"[१]

[४–६] अवरंग, ओरँगा और ओरँगाना

पहला शब्द 'पद्मावत' में इस प्रकार आता है :

राघौ चेतनि चेतनि महा। 'आउ ओरँगि' राजा के रहा।[२] [आऊसरि]

आ० अ० में राज-सिंहासन को 'अवरँग' कहा गया है।[३] अतः 'ओरँगि' का अर्थ कदाचित् होगा, 'राज-सिंहासन के निकट'। 'पद्मावत' के उपर्युक्त शेष दो शब्द भी इसी 'अवरंग' से व्युत्पन्न प्रतीत होते हैं, यद्यपि इनमें से अन्तिम को 'अरकान-ए-दौलत' से व्युत्पन्न माना गया है :

'ओरँगा' केर कठिन है जाना।[४] [ओरिरँग]
सबै छत्रपति 'ओरँगन्ह' राजा।[५] [औगढ़]
छतिस लाख 'ओरँगन्ह' असवारा।[६] [दरिगह, तुरुक]
जाँवत अहै सकल 'ओरँगाना'।[७] [अरकाना]
अष्टौ कुरी नाग 'ओरँगाने'.........।[८]
[वै, सब, सब ओरँगे, सब अरुझे, सब ढरिकै, सब वारगे, ओरंगावन, अरवानी]

[७] बारगाह

'पद्मावत' में आता है :

चितउर सौंह बारिगह तानी।[९]

आ० अ० में खेमों-शामियानों के साथ इसे इस प्रकार वर्णित किया गया है, "बारगाह जब बड़ा होता है, १०,००० से अधिक व्यक्तियों के लिए पर्याप्त होता है। इसके लगाने में एक हज़ार फ़र्राश लगते हैं, जो यन्त्रों की सहायता से इसे एक सप्ताह में लगा पाते हैं।... सादा बारगाह (जिसमें सोने आदि का काम नहीं होता है) बनाने में १०,०००) या अधिक ही रुपये लगते हैं, और यदि वह अलंकृत बनाया जाता है, तो उसका मूल्य अपरिमित होता है।"[१०]

---

१. जिल्द १, पृष्ठ ४०।
२. ४४६.१।
३. जिल्द १, पृष्ठ ५२।
४. ५२४.६।
५. २६.३।
६. ४५७.३।
७. १२८.२।
८. ६६.६।
९. ४६५.५।
१०. जिल्द १, पृष्ठ ५५।

[८-१०] देवजीरा, मधुकर और झिनवाँ

'पद्मावत' में अनेक प्रकार के चावलों के साथ इनका भी उल्लेख हुआ है :

मधुकर ढेला 'जीरा' सारी ।[१] [झीना]

'झिनवा' रौदा दाउद खानी ।[२] [छेउअन]

आ० अ० में 'देवजीरा' को उत्कृष्ट कोटि के चावलों में बताया गया है, और कहा गया है कि वह राजकीय भोजनालय के लिए ग्वालियर से आता था।[३]

और, अन्यत्र उसमें कहा गया है, "सुखदास, मधुकर और झिनवाँ, जो अपनी सफ़ेदी, कोमलता, सुगन्धि और उत्कृष्टता में प्रायः अतुलनीय होते हैं, अवध में उत्पन्न होते हैं।[४]

[११] चुक

'पद्मावत' में यह इस प्रकार आता है :

चुक्क लाइ कै रींधे भाँटा ।[५]

आ० अ० में राजकीय भोजनालय की सामग्री में इसका भी उल्लेख करते हुए कहा गया है कि "यह एक अम्ल पदार्थ होता है, जो नारंगी और नींबू को इकट्ठा उबालकर बनाया जाता है।"[६]

[१२-१५] पेड़ी, गड़ौता, नौनी और करहँज

'पद्मावत' में पान की पत्तियों के ये नाम इस प्रकार आते हैं :

पेंडी हुत सुनि रास बखानू ।[७]

जोग लीन्ह तन कीन्ह गड़ौना ।[८]

'कर सँज' किंगरी लै बैरागी ।[९] [करहिंजो]

'नेवती भएउँ' बिरह कै आगी ।[१०]

[नौतन होइ, ज्योतिन होइ, नेवती होहिं]

आ० अ० में कहा गया है, "पान की सात प्रकार की पत्तियाँ होती हैं जो नौ नामों से प्रसिद्ध हैं : (१) पेढ़ी अर्थात् वह करहँज जो गवे के लिए छोड़ दिया जाता है, (२) नौती, (३) बहुती, (४) झीव, (५) अधिनीड़ा, (६) अगहनिया या लेवार, और (७) करहँज।"[११]

---

१. २४४.३।
२. २४४.२।
३. जिल्द १, पृष्ठ ६०।
४. जिल्द २, पृष्ठ १८१।
५. २४८.३।
६. जिल्द २, पृष्ठ १८२।
७. ३०६.२।
८. ३०६.३।
९. ३०६.४।
१०. वही।
११. जिल्द १, पृष्ठ ७७।

[१६] बाँक

'पद्मावत' में दो स्थलों पर आता है :

बाँका आनि छुवावहिं हेले ।[1]
आवहिं डोंब छुवावहिं बाँका ।[2]

आ० अ० में इसे शस्त्रों में गिनाया गया है[3] और तत्कालीन शस्त्रों के बनाये गए चित्रों में यह दो बल की खंजर के समान दिखाया गया है । टीकाओं में इसे घरिकारों का एक औज़ार बताया गया है ।

[१७] जेबा

'पद्मावत' में आता है :

'जेबा' खोलि राग सो मढ़े ।[4] [जीभा]

आ० अ० में इसे कवचों की सूची में गिनाया गया है ।[5]

[१८] नारीं

'पद्मावत' में यह शब्द एक से अधिक बार आता है, यथा :

धरीं विषम गोलन्ह की 'नारीं' ।[6] [मारा]
कहौं सिंगार सो जैसी नारीं ।[7]

आ० अ० में दो सामान्य प्रकार की तोपों का उल्लेख किया गया है, "गजनाल—जो एक हाथी के द्वारा ले जाई जा सकती है, और नरनाल—जो एक मनुष्य के द्वारा ले जाई जा सकती है ।"[8] और उसमें यह भी कहा गया है, "आजकल बहुत-सी तोपें इतनी बड़ी बनाई जाती हैं कि उनके गोले १२-१२ मन के होते हैं और उनमें से एक-एक को खींचने के लिए अनेक हाथी और एक हज़ार जानवर चाहिएँ ।"[9]

[१६] चौरासी

'पद्मावत' में आता है :

चँवर मेलि चौरासी बाँधे ।[10]

आ० अ० में कहा गया है, "चौरासी बहुत-सी घंटियों का बना होता है जो एक कपड़े पर गुथी रहती हैं ।"[11]

---

१. ५८०.४ ।
२. ६४२.६ ।
३. जिल्द १, पृष्ठ ११७ ।
४. ४६६.४ ।
५. जिल्द १, पृष्ठ ११८ ।
६. पृष्ठ ५०४.३ ।
७. पृष्ठ ५०७.१ ।
८. जिल्द १, पृष्ठ ११६ ।
९. वही ।
१०. ५१३.५ ।
११. जिल्द १, पृष्ठ १३५ ।

[२०] टैया

'पद्मावत' में आता है :

टैया चँवर बनाए'''।[१] [तैसे, नच्या, तैस]

आ० अ० में कहा गया है, "टैया पाँच लोहे की पट्टियों का बना होता है, जो एक-एक बित्ता लम्बी और चार-चार अंगुल चौड़ी होती हैं।" टैया के बाँधने की विधि भी उसमें दी हुई है।[२]

[२१] पाखर

'पद्मावत' में आता है :

गज मैं मत 'पखरे रजबारा'।[३] [सो राजा वारा, बिखरे रजबारा]

बरन बरन 'पखरे' अति लोने।[४]

आ० अ० में कहा गया है, "पाखर कवच (armour) के समान होता है, और फौलाद का बनाया जाता है; सिर और सूँड के लिए वह अलग-अलग होता है।"[५] टीकाकारों ने 'पाखर' का अर्थ 'झूल' किया है।

[२२] गज झाँप

'पद्मावत' में आता है :

—औ डाले 'गज झाँप'।[६] [गज झाँप, सब झाँप, गल झाँप, जगहस्त]

आ० अ० में कहा गया है, "गज झाँप एक प्रकार के मज़बूत कपड़े का बना होता है जो अलंकरण के लिए पाखर के ऊपर डाला जाता है। यह भव्य प्रतीत होता है।"[७]

[२३, २४] चौगान और हाल

'पद्मावत' में इनके सम्बन्ध की उक्तियाँ दो बार आती हैं :

तब पावौं बा दिल असनाऊँ। जीति मैदान गोइ ले जाऊँ।
आजु खरग चौगान गहि करौं सीस रन गोइ।
खेलौं सौहे साहिसों हाल जगत महँ होइ॥[८]

होइ मैदान परी अब गोई। खेल हाल दहुँका कर होई।'''
हाल सो करै गोइलै बाढ़ा। कूरी दुहूँ बीह कै काढ़ा।''''
मुहमद खेल पिरेम का खरी कठिन चौगान।
सीस न दीजै गोइ जौं हाल न होइ मैदान॥[९]

१. ५१२.८।
२. जिल्द १, पृष्ठ १३६।
३. ५१४.१।
४. ५१३.४।
५. जिल्द १, पृष्ठ १३६।
६. ५१२.८।
७. जिल्द १, पृष्ठ १३६।
८. ६२६.७-९।
९. ६२८. १, ४, ८, ९।

आ० अ० में कहा गया है, "चौगान का खेल दो प्रकार से खेला जाता है, जिनमें से एक यह है कि गेंद को चौगान के डण्डे के मुड़े हुए सिरे के द्वारा बढ़ाते हुए (मैदान के) बीच से हाल तक (उन स्तम्भों तक जो मैदान के सिरे पर उसकी सीमा चिह्नित करने के लिए गड़े रहते हैं) ले जाते हैं। इस प्रकार के खेल को रोल कहते हैं।....जब गेंद हाल तक पहुँच जाती है, तब नक्कारा बजाया जाता है, जिससे कि दूर और निकट के सभी सुन लें।....कभी-कभी बाज़ियाँ भी बदी जाती हैं, खिलाड़ी आपस में बाज़ियाँ जीतते हैं, और जो खिलाड़ी गेंद को हाल तक पहुँचा देता है, वह सबसे अधिक बाज़ियाँ जीतता है।"[१]

[२५-२८] अश्वपति, गजपति, नरपति और गढ़पति

'पद्मावत' में ये नाम दो बार आए हैं :

असुपतीक सिर मौर कहावा। गजपतीक आँकुस गजनावा।
नरपतीक कहाव नरिन्दू। भुअपतीक जग दोसर इन्दू।[२]
गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती। असुपति, गजपति 'औ नरपती।'[३]

[भुअनपति औ नरपती, भूनरपती]

आ० अ० में अश्वपति, गजपति, नरपति और गढ़पति—चार प्रकार के राजा बताये गए हैं—यद्यपि ये ताश के खेल के राजों के प्रसंग में बताये गए हैं : "अश्वपति वह कहलाता है जिसकी शक्ति घोड़ों की संख्या में सन्निहित होती है; गजपती वह जिसकी शक्ति हाथियों की संख्या में सन्निहित होती है, और नरपती वह जिसकी शक्ति पैदल सेना में सन्निहित होती है।"[४] यद्यपि 'गढ़पती' का लक्षण उसमें नहीं दिया गया है, किन्तु उपर्युक्त से यह अनुमान किया जा सकता है कि 'गढ़पती' वह कहलाता है जिसकी शक्ति अपने सुदृढ़ गढ़ में सन्निहित होती है।

[२९-३२] आउज, सुरमण्डल, पिनाक और अँबिरती

'पद्मावत' में आता है :

जन्त्र पखाउम्क 'आउम्क' बाजा।[५] [औजत, आवजो]
'सुरमण्डल' रबाब भल साजा।[६] [सुर मादर]
'बीन पिनाक' कुमाइच कहे।[७] [बीना बेनु]
'बाजि अँबिरती' अति गह गहे।[८] [बाजे अंब्रित]

आ० अ० में ठोंककर बजाए जाने वाले बाजों में 'पखावज' के साथ ही 'आवज' तथा

१. जिल्द १, पृष्ठ ३०१।
२. २६.६, ७।
३. ४४.१।
४. जिल्द १, पृष्ठ ३१८।
५. ५२७.३।
६. ५२७.२।
७. ५२७.३।
८. वही।

तन्त्र-वाद्यों में अन्यों के साथ 'सुरमण्डल', 'पिनाक' तथा 'अंग्रिती' भी हैं।[1]

प्रत्येक प्रयोग में भूलें होने की सम्भावना होती है, और किसी भी विकृत प्राचीन वस्तु को उसके अपने मूल रूप में पुनर्निर्मित करने में तो यह सम्भावना और भी अधिक होती है। अतः 'पद्मावत' के मेरे पाठ-निर्धारण और पाठ-पुनर्निर्माण-सम्बन्धी प्रयोग में भी भूलें हो सकती हैं। ऊपर आये ३२ विशिष्ट शब्दों में से अन्तर केवल (१३) तथा (१५) के सम्बन्ध में है। मेरे संस्करण के 'गड़ौना' के स्थान पर आ० अ० में शब्द 'गड़ौता' है, और मेरे संस्करण के 'कर-मँज' के स्थान पर आ० अ० में शब्द 'करहँज' है। आ० अ० के 'गड़ौता' पाठ की शुद्धता के सम्बन्ध में तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु मेरे संस्करण के 'गड़ौना' पाठ की शुद्धता प्रमाणित है; क्योंकि 'गड़ौता' पाठ से तुक बिगड़ जाता है :

सुनि तुम्हार संसार बड़ौना। जोग लीन्ह तन कीन्ह गड़ौना।

असम्भव नहीं कि आ० अ० में प्रतिलिपि की भूल से 'नूँ' का 'ते' हो गया हो—अन्तर केवल एक और दो बिन्दुओं का है। मेरे 'करहँज' पाठ की शुद्धता इतने स्पष्ट रूप से प्रमाणित नहीं है, फिर भी जहाँ छूटने और बढ़ने का प्रश्न आता है, प्रतिलिपि-क्रिया में छूटने की सम्भावना कहीं अधिक होती है। अतः असम्भव नहीं कि आ० अ० के भी मूल पाठ में 'करमँज' ही रहा हो, और प्रतिलिपि-क्रिया में उसका 'बे' छूट गया हो। किन्तु यदि भूल मेरी ही ओर हो तो भी बत्तीस में से एक के सम्बन्ध में भूल—और वह भी इतनी साधारण भूल—मुझे हर्ष है कि मेरे उन सम्पादन-सिद्धान्तों की यथार्थता ही प्रमाणित करती है जिनके आधार पर मैंने 'जायसी-ग्रन्था-वली' के अपने उक्त संस्करण में 'पद्मावत' का पाठ-निर्धारण और पुनर्निर्माण किया है।

अगरचन्द नाहटा

'पृथ्वीराज रासो' का विस्तार

साधारणतया जो वस्तु २५-३० हजार से ऊपर की संख्या में चली जाती है, उसे हम लाख की संख्या में सम्बोधित करते हुए लोगों को पाते हैं। 'महाभारत' और 'सूरसागर' के श्लोकों एवं पदों का परिमाण भी लाख की संख्या में कहा व सुना जाता है। यही बात 'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध में भी हुई। वर्तमान शोधक विद्वानों में सर्वप्रथम श्री जेम्स कर्नल टॉड ने अपने 'एनल्स एण्ड एण्टीक्यूटिस ऑफ राजस्थान' में रासो का परिमाण लाख श्लोक परिमाण का बतलाया है। उन्होंने ३० हजार श्लोकों के अनुवाद करने का भी उल्लेख किया है।

पाश्चात्य विद्वानों में रासो पर मुग्ध और उसके मर्मज्ञ सर्वप्रथम विद्वान् टॉड ही थे।

तदनन्तर माननीय गौरीशंकर ओझा ने 'कोशोत्सव-स्मारक संग्रह-ग्रन्थ' में प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल' शीर्षक अपने लेख में एक प्राचीन प्रमाण के आधार पर रासो के एक लाख पाँच हजार श्लोक प्रमाण होने के प्रवाद को दोहराया। वे लिखते हैं—"भाषा-

१. जिल्द ३ पृष्ठ २६९-७०।

साहित्य के आधुनिक इतिहास-लेखक जब 'पृथ्वीराज रासो' की घटनाएँ अशुद्ध बताते हैं तब यह कहते हैं कि मूल 'पृथ्वीराज रासो' छोटा होगा और पीछे लोगों ने उसे बढ़ा दिया हो, यह सम्भव है।" परन्तु यह कथन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि चन्दवरदाई के वंशधर कवि यदुनाथ ने करौली के यादव राजा गोपाल पाल (गोपालसिंह) के राज्य-समय अर्थात् वि० सं० १८०० के आस-पास 'वृत्त विलास' नामक ग्रन्थ बनाया। उसमें वह अपने वंश का परिचय देते हुए लिखता है कि "चन्द ने एक लाख पाँच हज़ार श्लोक के परिमाण का 'पृथ्वीराज रासो' के चरित्र का रासो बनाया।

एक लाख रासो कियो सहस पंच परिमाण।
पृथ्वीराज नृप को सुजसु जाहर सकल जहान॥

यह कथन नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो के परिमाण से मिल जाता है। यदुनाथ के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल ग्रन्थ अवश्य होगा, जिसके आधार पर ही उसने उक्त ग्रन्थ का परिमाण लिखा होगा। ऐसी स्थिति में 'पृथ्वीराज रासो' के छोटे होने की कल्पना होनी ही निर्मूल है।"

पता नहीं ओझाजी-जैसे संशोधक विद्वान् ने, नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित रासो का परिमाण 'वृत्त विलास' के उल्लेख से मिलान खाता है, यह बिना जाँच के कैसे लिख दिया। सभा के प्रकाशित संस्करण का भी परिमाण उससे आधा भी नहीं है।

मुझे और भी अधिक आश्चर्य होता है जब कि हमारे विद्वान् बिना किसी तरह की जाँच किये रासो के परिमाण के सम्बन्ध में वही बात अब तक दोहराते जाते हैं। उदयपुर के डॉक्टर मोतीलाल मेनारिया की थीसिस 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' के नाम से सन् १९५२ में प्रकाशित हुई, उनमें वे लिखते हैं कि जो भी हो 'पृथ्वीराज रासो' से हमारा अभिप्राय यहाँ उस रासो से है जिसमें एक लाख छन्द और ६९ सर्ग हैं, जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की तरफ से प्रकाशित हुआ है।

कर्नल टॉड ने जो ३० हजार श्लोकों का अनुवाद करने की बात लिखी है वह भी कहाँ तक ठीक है, कहा नहीं जा सकता। पर मेनारिया जी ने अपने इस ग्रन्थ के पृष्ठ ३३ में टॉड के कथन का हिन्दी-अनुवाद दिया है, उसमें ३ हजार छन्दों का अंग्रेजी-अनुवाद करने का लिखा है। पता नहीं ३० हजार का ३ हजार उन्होंने अपनी कल्पना से किया है अथवा मूल या किसी आधार से। सन् १९५२ में प्रकाशित पण्डित दुर्गाशंकर मिश्र 'पारिजात' की 'हिन्दी कवियों की काव्य-साधना' पुस्तक के पृष्ठ ११ में ३० हजार पद्यों का अनुवाद करने का उल्लेख किया गया है। जहाँ तक मेरा खयाल है कर्नल टॉड का रासो का परिमाण एक लाख 'छन्द' और अनुवाद ३० हजार पद्यों का करने का अभिप्राय न होकर इतने श्लोक परिमाण का है। ३२ अक्षरों का एक श्लोक अनुष्टुप छन्द का श्लोक माना जाता है। रासो के कई-कई छन्द तो बहुत ही बड़े हैं। उनके एक छन्द या पद्य में अनेक श्लोक माने जायँगे।

अब सर्वप्रथम हम रासो के परिमाण के सम्बन्ध में प्रकाशित संस्करण प्राप्त प्रतियों के आधार से विचार करते हैं। सबसे पहले नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण को ही लें। सभा के संस्करण के कुल २६१५ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में करीब २० से २४ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में १६ से ४२ तक अक्षर छपे हैं। इसीसे मध्यवर्ती शब्द-संख्या गिनने से रासो का परिमाण ३६००० श्लोक

होने की गणना बैठती है। इसमें से अन्तिम 'महोबा समय' तो वास्तव में रासो से अलग ही है। इसलिए 'महोबा समय' को बाद में दे देने से पृष्ठ-संख्या २५०६ ही रहती है और उसका परिमाण तो ३४००० के करीब ही रहता है। बहुत-से पृष्ठों में पंक्तियों व अक्षरों की संख्या कम है, इसलिए वास्तव में परिमाण ३० से ३२ हजार के बीच में ही समझना चाहिए। बृहद् संस्करण की हस्त-लिखित प्रतियों की जाँच करने से भी यही बात सिद्ध होती है। श्री मोतीलाल मेनारिया यदि अपने 'राजस्थान में हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज' भाग (एक) में रासो में दिये हुए अपने विवरण पर ही ध्यान देते तो वे रासो का परिमाण १ लाख छन्द बतलाने का कभी भी प्रयत्न नहीं करते। उनकी प्रति नम्बर ४ के विवरण में श्लोक-संख्या २६००० स्पष्ट लिखी हुई है। अन्य प्रतियों की गणना करने से भी इसीके करीब व इससे कम ही परिमाण निकलेगा। उदाहरणार्थ संवत् १७६० वाली जिस प्रति को वे सबसे अधिक महत्त्व की मानते हैं और जिसमें पूरे ६६ समय होने की सूची भी दी गई है, उसकी पृष्ठ-संख्या ८४६ है, प्रति पृष्ठ पंक्ति ११ और प्रति पंक्ति ३३ से ३६ अक्षर होना कहा गया है। इससे तो परिमाण और भी कम बैठता है, यों हमारी गणना से २७॥ हजार श्लोक का ही परिमाण बैठता है।

रासो की हस्त-लिखित प्रतियों का सबसे अधिक विवरण इन पंक्तियों के लेखक ने ही संग्रहीत किया है। उनमें अभी तक ३०००० श्लोक से अधिक परिमाण की कोई भी प्रति कहीं भी जानने में नहीं आई। कई प्रतियों में तो परिमाण प्रति के लेखकों ने भी दे दिया है, अन्य की गणना कर ली गई है।

रासो के परिमाण के सम्बन्ध में दो प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। प्रथम तो रासो के अन्दर उल्लिखित है और दूसरा प्रति के लेखकों ने गणना करके लिखा है। जहाँ तक स्वयं रासो के उल्लेखों का सम्बन्ध है उसके लघुतम संस्करण में पाँच हजार मध्यम और बृहद् संस्करण में ७००० श्लोक होने का सूचक पद्य पाया जाता है।[1] पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित को रासो का मध्यम संस्करणत्व ही प्राचीन प्रतियों में प्राप्त हुआ था और उसमें 'सत सहस रासो' वाला पाठ मिला।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि रासो को लक्षाधिक श्लोक परिमाण बतलाने की परम्परा कितनी प्राचीन है। सं० १८०० के आस-पास के रचित 'वृत्त विलास' का उद्धरण तो ऊपर दिया ही जा चुका है, मुझे इससे भी कुछ प्राचीन उल्लेख प्राप्त हुआ है।

गत वर्ष जैन मुनि विनयसागर जी से मुझे रासो की दो खण्डित प्रतियाँ प्राप्त हुईं। उनमें से 'कयवज खयड' वाली प्रति में १३८४ पद्य हैं और इस प्रति के अनुसार इस समय का परिमाण ४०३४ श्लोकों का व इस समय की संख्या ५८वीं है। यह प्रति संवत् १७७७ के माघ कृष्णा ५ शनिवार को सीतामऊ में खरतरगच्छ के उपाध्याय अमरनन्दन के शिष्य घनसुन्दर के द्वारा लिखी हुई है। इसका श्लोक परिमाण ४०३५ लिखने के पश्चात् २ पद्य कुछ पीछे से लिखे हुए इस प्रकार मिलते हैं :

संवत शिव पैंतीस में अष्टम रवि उजियाल।
चन्द विरुदय कवि ग्यारह ग्रन्थ सुरच्यो विसाल। १३८५

1. दो प्रतियों में ३२ एवं ४२ हजार परिमाण दिया है पर गणना करने पर वह बैठता नहीं है।

सवा लक्ख संख्या सकल, अधिक अपूरब वत्त ।
वेद सुक्त पुराणमय वरणि वार्ता सत्य ॥ १३८७

इनमें से पहले पद्य में रासो का रचना-काल ११३५ बतलाया है, जो अब तक कहीं भी देखने में नहीं आया और दूसरे में उसका परिमाण सवा लाख श्लोक का। कहना नहीं होगा कि ये दोनों ही बातें भ्रान्त एवं कल्पित हैं। वास्तव में रासो की आज तक कहीं भी, कोई भी प्रति लाख श्लोक परिमाण की नहीं मिलती।

डॉक्टर टीकमसिंह तोमर

जटमल और उसकी 'गोरा-बादल की कथा'

जीवन-वृत्त

जटमल ने अपने विषय में लिखा है कि "मोरछड़ो के शासक पठान सरदार, नासिरनन्द अलीखाँ न्याजीखाँ के समय में धर्मसी के पुत्र नाहर खाँ जटमल ने सिबुला ग्राम के बीच अपने ग्रन्थ की रचना की !" सम्भवतः नाहरखाँ जटमल की उपाधि थी अथवा वह मुसलमान हो गया था। श्री ओझाजी ने कवि जटमल-रचित 'गोरा-बादल की बात' शीर्षक लेख में लिखा है कि ओसवाल महाजनों की जाति में नाहर एक गोत्र है, अतएव सम्भव है कि जटमल जाति का ओसवाल महाजन हो।[1]

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १६४० की हस्त-लिखित ग्रन्थों की अप्रकाशित खोज-रिपोर्ट में गोरा-बादल की कथा की एक नई प्रति का उल्लेख किया गया है। यह हस्त-लिखित ग्रन्थ पण्डित मदनलाल जी ज्योतिषी मिश्र, लक्ष्मण जी के मन्दिर के पीछे, भरतपुर के पास सुरक्षित है। इस ग्रन्थ में जटमल का यह वृत्त दिया है :

"आणद उछव होत घर-घर देषता नहीं सोक।
राजा तिहा अलीषान नु' षानना सुर नन्द ॥
सकल सरदार पाठाण माहे अनु नषत्र मां चन्द।
धरमसीहुँ नन्द नाहर जाट जटमल नाम।
कही कथा वणय कें विच साँवेला गाम ॥
कहाँ यकाँ आणंद उपजत सुणत सब सुष होइ।
जटमल हो गुणी अणाँ विघन न लागे कोइ ॥"[2]

इस उद्धरण के अनुसार नासिरखाँ के पुत्र अलीखाँ के समय में धर्मसिंह के आत्मज नाहर जटमल जाट ने साँवेला ग्राम में इस कथा की रचना की। इस विवरण से नाहर जटमल की उपाधि प्रतीत होती है और उनकी जाति जाट ठहरती है।

"संबला (सुवुला, साँवेला) गाँव कहाँ है इसका पता अभी तक नहीं चला, पर

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, पृष्ठ ४०२।
२. का० ना० प्र० सभा की अप्रकाशित खोज-रिपोर्ट, १६४०, M. S. ७१/१६६।

इतना तो निश्चित है कि वह (जटमल) मेवाड़-निवासी नहीं था। यदि ऐसा होता तो चित्तौड़ के राजा रत्नसेन को जो गुहिल वंशी था, कदापि वह चौहान-वंशी न लिखता।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि श्री ओझाजी का उक्त मत केवल अनुमान पर अवलम्बित है। जटमल की इस ऐतिहासिक भूल का कोई और भी कारण हो सकता है।

जटमल-कृत 'गोरा-बादल की कथा' की प्राप्त हस्त-लिखित प्रतियों में उसके विभिन्न नाम मिलते हैं, यथा 'गोरे-बादल की कथा', 'गोरा-बादल री कथा', 'गोरा-बादल की बाता'।

जटमल ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १६८५ फाल्गुन पूर्णिमा (१६२८ ई०) अथवा १६८० वि० (१६२३ ई०) में की थी।[2]

जटमल ने अपने उक्त ग्रन्थ में अलाउद्दीन के चित्तौड़-दुर्ग के आक्रमण के अवसर पर गोरा-बादल के द्वारा वीरता प्रदर्शित करने का वर्णन किया है।

कथानक

जटमल-कृत 'गोरा-बादल की कथा' का कथानक ऐतिहासिक होते हुए भी उसमें रोचकता लाने के लिए पर्याप्त काल्पनिक अंश वर्तमान है। ग्रन्थ के आरम्भ में राणा रत्नसेन और भाट की वार्ता में नाटकीय त्वरा के दर्शन होते हैं। योगी का आगमन, उसकी सहायता से मृग-चर्म पर उड़कर सिंहल द्वीप पहुँचना तथा रत्नसेन को पद्मावती की प्राप्ति के उपाय, एकदम असम्भव तथा आकस्मिक घटनाएँ हैं, पर इनसे कथानक में विस्मय, चित्ताकर्षकता और रोचकता का समावेश हो गया है। इस प्रकार की घटनाएँ काल्पनिक जगत् में ही होती हैं, व्यावहारिक क्षेत्र में उनका होना सम्भव नहीं। जटमल ने चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी कथानक में परिवर्तन किये हैं। अनेक स्थलों पर कवि अधिक स्वाभाविक कारण उपस्थित करता है।

जटमल ने पात्रों के भावों—कृतज्ञता, वीरता, वात्सल्य आदि—के सफल चित्रण के लिए कथानक का समुचित प्रयोग किया है, पर उसने स्त्री-पुरुष-जाति-वर्णन द्वारा कथानक की शृङ्खला को नष्ट कर दिया है। इससे कथावस्तु को भारी आघात पहुँचा है। जटमल ने कतिपय स्थलों पर कथानक के निर्वाह में भयंकर भूलें भी कर दी हैं।

ऊपर के विवेचन के पश्चात् ज्ञात होता है कि जटमल ने कथानक के प्रयोग में कुछ त्रुटियाँ की हैं, पर उसके अधिक रोचक बनाने के लिए कल्पना-शक्ति की भी पूर्ण सहायता ली है। कथानक-चित्रण में उसे पर्याप्त सफलता मिली है।

जटमल ने 'गोरा-बादल की कथा' में प्रचलित वीर-काव्य-शैली का प्रयोग किया है, पर नाम गिनाने, नादात्मक और द्वित्व-वर्ण वाली पद्धति का नहीं के बराबर प्रयोग किया है। ऐसा करने से ग्रन्थ की रोचकता में वृद्धि हुई है। पर अनुप्रास के फेर में पड़ने के कारण 'गोरा-बादल की कथा' कहीं-कहीं पर नीरस और अरोचक हो गई है। जहाँ पर जटमल ने नाम गिनाने की चेष्टा की है वहाँ पर भी काव्यगत गुणों की हानि हुई है। कहीं-कहीं पर शब्दों की तड़क-भड़क ही के जाल में दृष्टि फँस जाती है।

इस ग्रन्थ में व्रज भाषा का प्रयोग हुआ है पर उस पर सर्वत्र राजस्थानी का प्रभाव वर्तमान है। यदि यह कहा जाय कि 'गोरा-बादल की कथा' की भाषा कतिपय स्थलों पर राजस्थानी

---

१. का० ना० पत्रिका, भाग १३, पृष्ठ ४०२।

२. 'गोरा-बादल की कथा', छं० १४६ (पाद-टिप्पणी सहित)।

के भार से इतनी दब गई है कि उसके वास्तविक स्वरूप का जानना कठिन हो जाता है, तो अनुचित न होगा। जटमल ने संस्कृत की शब्दावली के अपभ्रंश-रूपों का प्रयोग किया है, जैसे खेत (क्षेत्र), लक्खण (लक्षण), प्रापत (प्राप्त) इत्यादि।

इसके साथ ही फारसी-अरबी आदि के अमली (शासक), हरम, दीदार शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार जटमल की शैली और भाषा कतिपय दोषों और त्रुटियों से युक्त होते हुए भी काव्योचित गुणों से ओत-प्रोत है। वास्तव में जटमल और उसका काव्य 'गोरा-बादल की कथा' हिन्दी-साहित्य में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

मूल्यांकन

बच्चनसिंह

संस्कृति और सभ्यता के रूप

स्वातन्त्र्य-संग्राम के जागरण-काल में, जब देश राजनीतिक दृष्टि से ही विदेशियों का दास नहीं था, बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भी दासता की ओर तेजी से बढ़ रहा था, जयशंकर 'प्रसाद' ने सांस्कृतिक जागरण का तूर्य-नाद किया। उनके कई प्रमुख ऐतिहासिक नाटकों में भारतीय तथा अभारतीय संस्कृतियों का संघर्ष चित्रित हुआ है।

देश की स्वतन्त्रता के बाद-युग की करवट के साथ, हमारी समस्याएँ भी बदलीं। राष्ट्रीयता का जो स्वर 'प्रसाद' के नाटकों में पाया जाता है वह बहुत-कुछ मन्द पड़ गया। उसके स्थान पर देश के सांस्कृतिक गौरव तथा उसके पुनर्मूल्यांकन की ओर लेखकों और विचारकों की दृष्टि गई। अंग्रेजों के डेढ़ सौ वर्षों के शासन में देश को पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आना पड़ा। उनके अनेक गुण दोषों का प्रभाव हमारे ऊपर पड़ा। इसके फलस्वरूप कुछ नई समस्याएँ भी उत्पन्न हो गई हैं। यहाँ पर हम जिन नाटकों का मूल्यांकन करने जा रहे हैं वे किसी-न-किसी रूप में पूर्वीय और पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता से सम्बद्ध हैं। 'वितस्ता की लहरें' दो विभिन्न जातीय आदर्शों और संस्कृति के संघर्ष की कहानी है। 'धर्म की धुरी' गांधीवादी आदर्शों पर, जो मूलतः आध्यात्मिक और सांस्कृतिक हैं, टिकी हुई है। 'अपना-पराया' के बीच खींची जाने वाली विभाजक रेखा वंश-परम्परा को अपना आधार न मानकर वातावरण-सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से उन्नत या अनुन्नत समाज को अपना आधार बनाती है। 'पर्दे के पीछे' के अधिकांश एकांकी आधुनिक सभ्यता के विकृत पक्षों तथा भ्रान्तिपूर्ण सांस्कृतिक मूल्यों पर व्यंग्य हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र मूलतः आदर्शवादी कलाकार हैं। भारतीय संस्कृति में अपनी अटूट आस्था और अडिग विश्वास को उन्होंने 'वितस्ता की लहरें' में व्यक्त किया है। उक्त नाटक के कथा-संकेत में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—"वितस्ता के तट पर दो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों की टक्कर हुई थी जो अपने विधि-विधान और जीवन-दर्शन में एक दूसरी के विपरीत थीं। यवन-सैनिकों में विजय का उन्माद था तो पुरु और केकय जनपद के नागरिकों में देश के धर्म और पूर्वजों के आचरण की रक्षा का भार। दोनों ने एक-दूसरी को जाना और समझा और बहुत अंशों में वैर और द्रोह मिटाकर शील और

सहयोग के बढ़ने का अवसर दिया गया....''

अपने उपर्युक्त दृष्टिकोण को मूर्त रूप देने के लिए मिश्रजी ने परम्परा-मुक्त कथा को नया मोड़ दिया है। मिश्रजी की कल्पना के अनुसार पुरु अलिक सुन्दर से हारता नहीं बल्कि परिस्थितियाँ स्वयं विजयी को सम्मानजनक सन्धि करने पर बाध्य करती हैं। यूनानी इतिहास-लेखकों के आधार पर पुरु की पराजय सर्वथा असन्दिग्ध नहीं मानी जा सकती। नाटक के दूसरे अंक में पुरु यूनानी दूत टिथोनस से उसके इतिहास-लेखकों पर सन्देह प्रकट करते हुए कहता है—"कितनी बातें जो इनकी समझ में न आयँगी—नीचे-ऊपर कर लिख दी जायँगी। तुम्हारी स्तुति और दूसरों की निन्दा होगी इनके इतिहास में। आगे आने वाले विचारक इस इतिहास से भ्रम में पड़ेंगे....।" ऐतिहासिक घटनाओं को नाटकीय रूप देने के लिए उसके कुछ तथ्यों को नया रूप दिया गया है। अलिक सुन्दर की प्रेयसी ताया का अपहरण तथा अभागे दारयहु की कन्या आर्तकाया की दो छोटी बहनों का यवन-शिविर से उद्धार ऐसी ही घटनाएँ हैं। पुरु के पुत्र का अन्त तक जीवित रखना ऐतिहासिक प्रमाणों के विरुद्ध है। इसे भारतीय नाट्य-सिद्धान्त की सुखात्मक परिणति का तकाजा समझना चाहिए। काल्पनिक स्वच्छन्दता का यथोचित उपयोग करते हुए भी उन्होंने इतिहास के मूल ढाँचे को बनाए रखा है।

यों भारतीय संस्कृति की भाँति यूनानी संस्कृति भी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण स्वीकार की गई है। फिर भी अलिक सुन्दर का ध्वंसमूलक बर्बरतापूर्ण आक्रमण उसे बर्बर और विश्वास-घाती सिद्ध करता है। दारयहु की कन्याओं का अपहरण, अश्मक नेता अश्वकर्ण की पत्नी को छीन लेना, सुन्दरी ताया का पशा पोलस के विशाल भवनों में आग लगाना और स्वयं विजयी का इसकी प्रशंसा करना आदि घटनाएँ उसकी सांस्कृतिक हीनता का परिचय देती हैं। आयुध-जीवियों को किले के बाहर सुरक्षापूर्वक निकल जाने का वचन देकर भी उन पर विश्वासघाती आक्रमण करना उसके चरित पर अमिट दाग है। यूनानी इतिहासकार प्लूटार्क लिखता है—"यह आचरण उसके सामरिक यश पर काला धब्बा है"[1]—"खेत में काम करते हुए मालवों पर टूट पड़ना सामरिक नीति के विरुद्ध था"[2]—यूनानी संस्कृति का यही इतिहास-सम्मत दृश्य इस नाटक में अंकित हुआ है। यूनानी संस्कृति का यह चित्रांकन मिश्रजी के प्रथम नाटक 'अशोक' की याद दिलाता है। उक्त नाटक में मिश्रजी का दृष्टिकोण इसके ठीक विपरीत था। वहाँ पर ऐतिहासिक तथ्यों के साथ भी खिलवाड़ किया गया था। इस नाटक में उसका पूरा प्रायश्चित्त कर दिया गया है। किन्तु भारतीय संस्कृति का जो उदात्त सांस्कृतिक चित्र खींचा गया है वह कोरा आदर्शात्मक तथा एकांगी हो गया है। चरित्रों की स्वाभाविकता पर भी इसका बहुत अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है।

'प्रसाद' के नाटक भी मूलतः भारतीय संस्कृति का चित्र उपस्थित करते हैं। किन्तु उनसे हमें सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की प्रेरणा मिलती है। प्राचीन ऐतिहासिक आच्छादन में उन्होंने वर्तमान और भविष्य के संकेत भी दिए हैं। मिश्रजी का दृष्टिकोण इतना व्यापक नहीं है। भारतीय संस्कृति का व्यामोह उन्हें इस प्रकार जकड़े हुए है कि उनकी पुनरुत्थानवादी (revivalist) प्रवृत्ति अपनी सीमाओं के बाहर नहीं झाँक पाती। संस्कृति के गत्यात्मक पक्ष पर ध्यान न देने

१. मैक क्रिण्डल, पृष्ठ ३६०।
२. एरियन। ६,६।

से उसका अंकन बहुत-कुछ स्थिर और जड़ हो गया है। भूमर्ष सामन्तीय संस्कृति (बालक ब्राह्मण का वृद्ध क्षत्रिय से श्रेष्ठ मानना 'पुत्रार्थे क्रियते भार्या' मिहर-परम्परा में अटूट आस्था आदि) वीर-पूजा के संकेत हैं। भारतीय संस्कृति के इन महान् आदर्शों के साथ-साथ उन्हें तक्षशिला के बाजारों में निर्धन पिताओं का पशुओं की भाँति अपनी कन्याओं का बेचना भी देखना चाहिए था। वहाँ की बहु-विवाह-प्रथा पर भी दृष्टि डालनी चाहिए थी।

जातीय धर्म और गौरव की रक्षा के लिए पुरु ने जिस अदम्य उत्साह, अभूतपूर्व पौरुष और रण-नीति का परिचय दिया है उसे नाटककार ने पूरी सफलता से अंकित किया है। उसका समर्थ व्यक्तित्व सामाजिकों का आकर्षण-बिन्दु है। उसके व्यक्तित्व की महनीयता नाटकीय वातावरण को गम्भीर बनाती गई है। किन्तु भारतीय संस्कृति के प्रति आग्रह और अतिशय निष्ठा (जिसे मिश्रजी ने कथा-संकेत में अस्वीकार किया है) पुरु को मानवीय दुर्बलता की भूमि पर खड़ा होने भी नहीं देती। जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी के अभाव में उसका चरित्र उतना निखर नहीं पाता। 'प्रसाद' ने 'चन्द्रगुप्त' में पुरु को अपेक्षित महत्त्व नहीं दिया तो मिश्रजी ने अलिक सुन्दर को। अलिक सुन्दर की विजय की पूर्वगाथाएँ मोलियर के चरित्रों की भाँति पुरु को 'लिलीपुट द्वीप' में जाने से बचा लेती हैं, फिर भी एक हद तक अन्य पात्र उसके सामने बौने ही दिखाई पड़ते हैं। विष्णुगुप्त ऐसे नीतिज्ञ और कूट के पंडित से उसका मत-वैभिन्न्य उसको एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करता है। यवन-नीति को आत्मसात् करने वाला विष्णुगुप्त अपनी कूटनीतिज्ञता, संघटना-क्षमता और कार्य-कुशलता में काफी अच्छी तरह अंकित किया गया है।

ताया के शब्दों में लेखक ने मानवता को नया संदेश देते हुए लिखा है—"कुछ ऐसा हो कि मानवता के घाव पर शीतल विलेपन लगे और वितस्ता की लहरों में अनुराग का जल हो।" किन्तु क्या आज के युद्ध-लोलुप स्वार्थी-राष्ट्र अपने उन्माद को भूलकर शत्रु की वीरता, क्षमा, दया को वही मान्यता देंगे? आज की बहुमुखी समस्याएँ पहले की अपेक्षा अधिक उलझी हुई हैं। हृदय-परिवर्तन के सरल ढंग आज की भयग्रस्त और संत्रस्त मानवता की पीड़ा दूर करने में बहुत अधिक समर्थ नहीं हैं। इसके लिए जबरदस्त ऑपरेशन की आवश्यकता है।

'वितस्ता की लहरें' में एक स्थान पर पुरु ने कहा है—"शरण से जो सम्भव नहीं है उससे कहीं अधिक दया और शील से सम्भावित है।"

राजा राधिकारमण प्रसादसिंह की 'धर्म की धुरी' की टेक भी वही है। इस नाटक में विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न साम्प्रदायिक दंगों को क्षमा और शील से शान्त किया जाता है। अहमद गांधीवादी मुसलमान है। वह कहता है—"मुहम्मद साहब अपनी नमाज में बराबर कहा करते थे कि ऐ अल्लाह! मैं गवाही देता हूँ कि सब आदमी भाई-भाई हैं।" सन्तशरण गांधीवादी हिन्दू हैं। वे हिन्दू-धर्म और संस्कृति की व्यापक व्याख्या करते हैं—"एक ईश्वर—राम, अल्लाह या गॉड—जो कहो। हर आदमी उसका बन्दा, और आपस का मेल-जोल-भाई चारा। धर्म का प्राण ही ठहरा प्रेम—विश्व प्रेम।" यह विश्व-प्रेम मानवतावाद की नई पुकार है। अहमद एक हिन्दू की रक्षा करता हुआ साम्प्रदायिकता की अग्नि में जलकर राख हो जाता है। संतशरण उसकी बीबी और बच्चे की रक्षा करते हैं। एक हिन्दू शरणार्थिनी महिला का विवाह कराने में भी वे सफल होते हैं। अन्त में लोगों का साम्प्रदायिक उन्माद शान्त हो जाता है और वे सन्तशरण के मुरीद हो जाते हैं।

एक पूर्वनिश्चित योजना और आदर्शवादी परिणति के कारण कथानक बहुत-कुछ यान्त्रिक और सपाट हो गया है। जीवनगत वक्रता, जो इस योजना का अंग नहीं बन सकती थी, जान-बूझकर बहिष्कृत कर दी गई है। सिद्धान्तों के ऊहापोह में उत्सुकता का पता नहीं चलता। नाटक का परिपाटीग्रस्त अंत (conventional ending) उसी प्रकार का है जिस प्रकार 'एक था राजा' की कहानी के अन्त में कहा जाता है—"जैसा उनका राज-पाट लौटा वैसा सात घर सुद्दई हों तो उनका भी लौटे।"

नाटक के सभी पात्र किसी-न-किसी सिद्धान्त को ढोते फिरते हैं। उनकी प्रतीकात्मक ठठरियों पर मानवीय मांसलता नहीं दिखाई पड़ती। रक्त-मांसहीन छाया-पुतलिकाओं की भाँति वे सूत्रधार के हाथ में नाचते रहते हैं।

राजा साहब का दूसरा नाटक 'अपना-पराया' 'धर्म की धुरी' की अपेक्षा अधिक नाटकीय और कार्यपूर्ण है। इसका कथानक भी अपेक्षाकृत कम पिटा हुआ है। इस नाटक का सम्बन्ध भी हिन्दुओं और मुसलमानों से है, दो भिन्न-भिन्न समाजों से है। आवारागर्द यूसुफ़ का तथाकथित पुत्र गुलाब सुरेश से निरन्तर आर्थिक सहायता उपलब्ध करके, समय-समय पर उससे उपदेशामृत पान करता हुआ भी यूसुफ के स्तर से आगे नहीं बढ़ता। अन्त में सुरेश की ही लड़की को उड़ा ले जाता है। एक विशेष सामाजिक वातावरण में पलने के कारण उसके संस्कार नहीं बदल पाते। सुरेश का पुत्र, जो वास्तव में यूसुफ के संसर्ग से पैदा हुआ है, एक सुसंस्कृत समाज में रहता है। अपने उच्च संस्कारों के कारण वह प्राणों की बलि देकर अपनी बहन की रक्षा करता है। रानी और सुरेश के अन्तर्द्वन्द्व, रानी की करुण स्थिति, यूसुफ की टिपिकल आवारागर्दी हमें अपने बीच के मनुष्यों में पहुँचा देती है। प्रेमनाथ संतशरण की भाँति आदर्शवादी सुधारक हैं। ऐसे व्यक्ति समाज में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। प्रेमनाथ को छोड़कर इसके शेष चरित्र मानवीय आशा-निराशा और दुश्चिन्ताओं से नहीं छूट पाते। इस नाटक में भी जो आदर्शवादी हल प्रस्तुत किया गया है वास्तविक जीवन से उसका मेल नहीं बैठता। प्रेमनाथ की तरह आदर्शवादी व्यक्ति हमारे समाज में कितने होंगे? आज की नारी-समस्या कुछ गिने-चुने व्यक्तियों के दाक्षिण्य, दया तथा आदर्शों द्वारा नहीं सुलझाई जा सकती। उसे अपनी रक्षा अपने-आप करनी होगी।

पहले ही कहा जा चुका है कि पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता से भी हमारी संस्कृति और सभ्यता प्रभावित हुई है। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर भी हमारा उच्च-मध्यवर्ग पाश्चात्य सभ्यता को छोड़ने को कौन कहे उसे और भी अधिक अपनाता जा रहा है। भट्टजी के 'पर्दे के पीछे' के अधिकांश एकांकी पाश्चात्य सभ्यता पर तीखे व्यंग्य हैं। पाश्चात्य सभ्यता और पूँजीवादी व्यवस्था किस प्रकार हमारी संस्कृति का मूल्यांकन कर रही है इस पर भट्टजी की दृष्टि गई है। भट्टजी न तो सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद में विश्वास करते हैं और न पाश्चात्य सभ्यता की अतियों में। वे नये-पुराने मूल्यों के संतुलन में ही जीवन की वास्तविकता देखते हैं।

व्यंग्य-विधान आज के एकांकी नाटकों का सर्वप्रधान वैशिष्ट्य है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ जीवन की कृत्रिमताएँ बढ़ती जाती हैं। ज्यों-ज्यों सभ्यता के कृत्रिम उपादान बढ़ते जायँगे त्यों-त्यों व्यंग्य-साहित्य का महत्त्व भी बढ़ता जायगा। यह व्यंग्य-विधान अपने सम्पूर्ण तीखेपन में जीवन को अपेक्षित दिशा में मोड़ने का एक जबरदस्त साधन है। कहना न होगा कि इस

संग्रह के अधिकांश एकांकी तथाकथित आधुनिक सभ्यता और विदेशी मूल्यों पर तीव्र व्यंग्य हैं।

'नई बात' इस संग्रह का पहला एकांकी है। आज श्रेष्ठता भी एक-मात्र मापक अर्थ है। इस आर्थिक श्रेष्ठता तथा तज्जन्य सामाजिक मर्यादा ने सांस्कृतिक मूल्यों को इस प्रकार ढँक लिया है कि वे अत्यन्त हीन दृष्टि से देखे जाते हैं। सुनन्दा, कुन्तल और किशोरीलाल कवि का सांस्कृतिक मूल्य नहीं समझ पाते। उसकी महत्ता से अभिभूत होकर एक दिन सुनन्दा उसे सहायतार्थ कुछ नोट भेंट करती है। कवि उन्हें गरीबों में बाँट देता है। इसीको सब लोग 'नई बात' कहते हैं। पूँजीवादी वर्ग के लिए यह नई बात हो सकती है। यह वर्ग उसका त्याग और औदार्य देखकर आश्चर्यचकित हो गया है, जैसा कि नाटककार ने इस एकांकी के अन्त में दिखलाया है। किन्तु यह वर्ग इतना भोला-भाला नहीं है। उस वर्ग के आश्चर्य-चकित होने के मूल में बौद्धिक वर्ग की आत्म-चेतना को दूसरी दिशा में भटका देना है। इस प्रकार का परम्परायुक्त conventional हल जीवन की यथार्थता के विपरीत है। निर्धनता की चक्की में पिसता हुआ कवि-दार्शनिक कितने दिनों तक साधना करता रहेगा? उसके घर और परिवार के लोग तथा स्वयं कवि और विचारक भी प्रशंसा की द्राक्षा में कब तक डुबकी लगाते रहेंगे?

'यह स्वन्त्रता का युग' पाश्चात्य शिक्षा-संस्कृति में पली हुई नवयुवतियों की काम-मूलक स्वच्छन्द प्रवृत्ति पर गहरा व्यंग्य है। 'मायोपिया' में विवाह न करने वाली उच्च शिक्षा-प्राप्त स्त्रियों की आत्म-प्रवंचना का पर्दाफाश किया गया है। नारी-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण के चिरंतन सत्य को झुठलाकर पुरुष के प्रति क्षोभ और उपेक्षा का भाव उनकी अपनी हीनता का द्योतक है। यह कृत्रिम अहं अपने में कितना खोखला है इसे सुधी के अन्तर्द्वन्द्व में देखा जा सकता है। 'वार्गेन' भोग-वृत्ति पर आधारित वैयक्तिक स्वतन्त्रता का निकृष्ट रूप है।

'पर्दे के पीछे' एक सामाजिक व्यंग्य है। सेठ लोग तो चोरबाजारी, बेईमानी के लिए बदनाम हैं ही। किन्तु जनता के कांग्रेसी सेवक चोरबाजारी न करके भी सेठों से कम पैसे वाले नहीं हैं। गांधीजी का नाम बेचकर स्वार्थ के लिए ये क्या नहीं करते? सेठ के शब्दों में इसका व्यंग्य नग्न हो उठा है—"ये हैं कांग्रेस के लोग। मेरे समान ही स्वार्थी और अर्थ-लोलुप। इनके भी वैसे ही ठाट हैं—मकान, कोठी, मोटर, नौकर-चाकर, फिर मज़ा यह कि काम कुछ नहीं करते। व्यापार कोई नहीं करते..........।" 'बाबूजी' पारिवारिक स्वार्थपरता पर कड़ा व्यंग्य है।

परम्परा-पालन के निमित्त रंगमंच की दृष्टि से भी इन नाटकों पर विचार कर लेना चाहिए। 'परम्परा-पालन के निमित्त' मैंने इसलिए कहा कि हिन्दी का अपना रंगमंच न होने के कारण अभिनेता की दृष्टि से हिन्दी-नाटकों पर विचार करना बहुत-कुछ उपहासास्पद दिखाई पड़ता है। आज हिन्दी के नाटक रंगमंच को दृष्टि में रखकर जरूर लिखे जाते हैं किन्तु कितने नाटकों को रंगमंच पर अभिनीत होने का सुअवसर प्राप्त होता है? हिन्दी-नाटकों की रंगमंचीय कल्पना केवल बौद्धिक होती है। फिर भी लक्ष्मीनारायण मिश्र ने हिन्दी को नई रंगमंचीय टेकनीक दी है। 'वितस्ता की लहरें' के रंग-निर्देश कहीं पर अनावश्यक नहीं हैं। नाटक केवल दो स्थानों पर सिमटा हुआ है। अतः केवल तीन पर्दों से काम चल सकता है। संवाद स्पष्ट, व्यंजनापूर्ण, संक्षिप्त तथा प्रभावोत्पादक हैं। इस नाटक में मिश्रजी के संवादों में और भी निखार आया है।

राजा साहब की संवाद-योजना अपनी रूमानियत के कारण नाटकीय यथार्थता को व्यक्त करने में समर्थ नहीं प्रतीत होती। फिर आज का सामाजिक एक विशेष सैद्धान्तिक पद्धति तथा परम्परायुक्त अन्त को रंगमंच पर नहीं देखना चाहता। नाटकों का रेडीमेड हल वास्तविकता से दूर होने के कारण अपेक्षित प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकता। कार्य-व्यापार की योजना के कारण 'अपना-पराया' अपेक्षाकृत रंगमंच के अधिक अनुकूल है। रंगमंच की दृष्टि से भट्टजी के एकांकी सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। भाषा का सहज प्रवाह, संवाद की स्वाभाविकता इनमें सर्वत्र पाई जाती है। कुछ एकांकियों की घटनाएँ और कार्य-व्यापार उद्देश्य की एकता में सम्यक् योग नहीं पाते। इसलिए प्रभावान्विति भी त्रुटिरहित नहीं हो सकी है। उदाहरण के लिए 'पर्दे के पीछे' में कांग्रेस-कर्मियों का प्रसंग किरायेदार और इन्कमटैक्स-ऑफिसर के प्रसंग से जुड़ा हुआ नहीं है तथा 'बाबूजी' में भोलानाथ और कान्ता का प्रसंग कथा-प्रवाह में कोई विशेष योग-दान नहीं करता। शेष एकांकी वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से भट्टजी की सजगता, जागरूकता और प्रौढ़ता के द्योतक हैं।

हिन्दी-कथा-साहित्य की दौड़ में हिन्दी का नाट्य-साहित्य सबसे पीछे रह गया है। हाँ, एकांकी नाटक संख्या तथा गुण दोनों दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि कर रहा है। भट्टजी का नया संग्रह इसी बात का द्योतक है। हिन्दी-एकांकियों की वृद्धि का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण कारण है रंगमंचों पर उनका खेला जाना। रेडियो-विभाग ने भी इसके विकास में उचित योग दिया है। बड़े नाटकों की ओर से जनता और लेखक दोनों उदासीन दिखाई पड़ते हैं। मिश्रजी-जैसे प्रख्यात नाटककार कई छात्रोपयोगी नाटक लिखने के पश्चात् 'वितस्ता की लहरें'-जैसा महत्त्वपूर्ण नाटक लिख सके हैं। इस उत्साहहीनता के मूल में रंगमंच का अभाव ही मानना होगा। व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक दोनों दृष्टियों से हिन्दी का रंगमंच नगण्य-सा है। हिन्दी-रंगमंच की अनुपस्थिति में हिन्दी-नाटकों की उन्नति की बहुत आशा नहीं की जा सकती।[1]

१. 'वितस्ता की लहरें', लेखक—लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

'धर्म की धुरी' और 'अपना-पराया', लेखक—राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, प्रकाशक—श्री राजराजेश्वरी साहित्य-मन्दिर, पटना—६।

'पर्दे के पीछे', लेखक—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक—मसिजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली।

लक्ष्मीकान्त वर्मा

पलायनवाद : दो स्थितियाँ

किसी भी कला-कृति में वर्तमान सत्य की अभिव्यंजना उतनी ही स्वाभाविक है जितना कि प्रचलित सामाजिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक कुण्ठाओं एवं आस्थाओं द्वारा कलाकार का प्रभावित होना। कभी-कभी इनकी अभिव्यक्ति अपवाद रूप से भी प्रकट होती है। ईपिक्यूरियन्स (epicureans), सिनिक्स (cynics), स्कैपटिक्स (sceptics) के बारे में उनकी असंतुलित और अमर्यादित कृतियाँ केवल एक ही बात बताती हैं कि वे वस्तु-स्थिति के वास्तविक रूप को जानते हुए भी वास्तविकता से जान-बूझकर पलायन करना ही अपनी विशेषता मानते थे। नीत्शे-वादी मान्यताएँ यदि एक ओर वैयक्तिक संकीर्णता और असन्तुलन को जीवन का स्वर्णिम लक्ष्य चित्रित करने की चेष्टा में अतिवादी संकीर्ण दर्शन प्रस्तुत कर सकती हैं, तो साम्यवादी विचार-धारा का तथाकथित बृहत् समाजवादी दर्शन भी आधुनिक युग में अपनी चरम सीमा पर संकीर्ण-ताओं में कुछ कम नहीं है। वस्तुतः मार्क्सवादी सिद्धान्तों की अतिवादी प्रगतिशील परिणति उस व्यापक अनास्था की संकीर्ण मनोवृत्ति की परिचायक है, जो संस्कारगत संक्रमण एवं मूल्यगत भ्रान्तियों के कारण विकसित हुई है। वास्तव में इन अपवादपूर्ण कृत्रिमताओं का न तो कोई स्थायी महत्त्व रहा है और न रहेगा। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है उनके थोथे तर्क-जालों और अस्पष्ट नारों में जीवन को ऊपर से छू लेने की क्षमता चाहे जितनी हो, लेकिन जहाँ तक जीवन के आन्तरिक स्तरों और व्यापक चेतना के सूत्रों को प्रभावित करने का प्रश्न है, मनुष्य और उसकी आन्तरिक अनुभूतियों को नये मूल्यों और नई व्यवस्थाओं से सम्बद्ध करने का प्रश्न है, यह निश्चय है कि अपनी अतिवादी एवं एकांगी मनोवृत्ति के कारण उनको सफलता मिलना कठिन है। जीवन न तो स्थिर रेखाओं में बद्ध केवल वस्तुपरक स्नैप शॉट है और न ही वह एक ऐसा चलचित्र है जिसमें केवल गति-ही-गति हो, और रेखाओं के बीच केवल शून्य हो या शून्य भी न रहकर केवल एकांगी चित्र हो जिसमें देश, काल (time and space) अथवा आयामों (dimensions) का सर्वथा अभाव हो। जीवन में मूलतः एक गहराई (deepness) है। जो कला-कृति केवल लम्बाई-चौड़ाई को लेकर व्यक्त होती है और गहरी अनुभूतियों को उचित स्थान नहीं दे पाती वह केवल सामयिक होती है। उसका समाचारगत मूल्य चाहे जितना हो, विचारशील विकास की वह कृतियाँ मापने में सदैव असफल ही रहती है। वस्तुतः इस प्रकार की कला-कृतियों में केवल उन्मूलित भावनाओं का संशय और उनकी द्विविधा ही अधिक झलकती है और ये द्विविधाएँ, ये संशय उस पलायनवादी प्रवृत्ति की प्रतीक होती हैं जिसमें आस्थाहीन जीवन की झुँझलाहट ही प्रश्रय पाती है। 'फ़िराक़' गोरखपुरी का 'धरती की करवट' नाम का संग्रह इन्हीं अतिवादी संकीर्णताओं एवं अति साहसिकतावादी भ्रान्तियों का प्रतीक है।

शायद इन्हीं मूल्यगत भ्रान्तियों का एक दूसरा रूप हमें वैरागी के काव्य-संग्रह 'बदली की रात' में मिलता है। यह संग्रह आत्मपरक होने के नाते 'फ़िराक़' गोरखपुरी की काव्य-कृति से कई दृष्टियों में ऊपर उठ जाता है। यद्यपि इस संग्रह में संशय है, दुविधा है, पलायन और अनास्था की मार्मिक संवेदना है, दिग्भ्रम है और असन्तुलित संक्रामक हृदय की धड़कनों की

आहटें हैं; लेकिन फिर भी भावनाओं के प्रति ईमानदारी, उनकी आत्मपरक अनुभूति और आत्म-संशय की बेचैनी से भरा हुआ दर्द उसकी कला को अधिक प्रभावपूर्ण बना देता है। कवि का संशय केवल नारों से सन्तोष नहीं पाता। वह किसी पताका के नीचे, चाहे वह जैसी भी हो, मनुष्य को खड़ा करके उसका नीलाम करने को तैयार नहीं है। वह इन पृष्ठभूमियों से मुक्त मनुष्य की आत्मनिष्ठा को देखना चाहता है, उन नये सूत्रों को संग्रहीत करना चाहता है जो स्वयं आस्था के स्वर पर विकसित हो सकें,....जिनमें केवल अपने स्वर हों, अपनी अनुभूति हो और संशय भी हो तो ऐसा कि जो सामाजिक चेतना को केवल डंके की चोट पर न जगाये, बल्कि उसमें एक ऐसा दर्द पैदा कर दे जो जीवन को सार्थक और गतिशील बनाने में नारों की अपेक्षा आत्मानुभूति की भावना जाग्रत कर सके। और यही कारण है कि उस नये सत्य और उन नये मूल्यों के अभाव में कवि का संशय पलायन के रूप में भी गहराई से व्यक्त हो सका है।

लेकिन इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि केवल इस संशय के कारण ही वैरागी की कला-कृति का कोई महत्त्व नहीं है। वस्तुतः संशय ही जिज्ञासा को जन्म देता है और इसीलिए बहुधा इसका भ्रम विचित्र रूप से अभिव्यक्त होता है। जब संशय संकीर्णताओं में विकसित होकर अमर बेल के समान समस्त जीवन पर छा जाता है तो निर्मूल निराधार होने पर भी वह समूचे जीवन के विकास को गतिरुद्ध कर देता है, उसमें कृत्रिमता ला देता है, उसे कुरूप और बेढंगा बना देता है। लेकिन जब यही संशय उस आत्माभिव्यक्ति की गहराई लेकर उभरता है, जो अपने चारों ओर के विशृङ्खल जीवन को अर्थ देना चाहती है, तब वह अपने मूल की गहराई में उन तत्त्वों को जानना चाहता है जो संवेदनशील अनुभूतियों के साथ उस दृष्टिकोण की खोज में डूबना चाहते हैं—जो व्यापक हो, सार्वभौम हो, सर्वहितेच्छु हो; और इन सबके अतिरिक्त मानवीय हो ताकि नयें मूल्यों और नई मान्यताओं का व्यापक आकार बन सके और नई परम्पराओं को विकास के साथ सम्बद्ध कर सके।

यद्यपि मूलतः उपर्युक्त दोनों स्थितियाँ पलायन की मानी जायँगी लेकिन इन दोनों में अन्तर होगा, इन दोनों के उद्देश्यों में अन्तर होगा, माध्यम और अभिव्यक्ति में अन्तर होगा।

प्रथम स्थिति वह है जिसमें मिथ्या साहसिकता, आक्रोश, आतंकजन्य शौर्य, बौखलाहट और आवश्यक द्विविधा के स्वर विकसित होते रहते हैं और इस दिग्भ्रम के साथ व्यक्त होते हैं जैसे वे स्वयं युग के मसीहा हों, सृष्टि के संरक्षक हों और मानव-जीवन को ऊपर उठाने के लिए केवल वही रास्ता ठीक समझते हों जिसका कि वे स्वयं अनुसरण करते हों। वे उस पेटेण्ट दवा की तरह कुछ पेटेण्ट नारों तक मानव-बुद्धि को सीमित कर देना चाहते हैं जो सरदी-जुकाम से लेकर थाईसिस तक में काम दे सकती है। लेकिन यह पेटेण्ट दवा अक्सर काम नहीं देती, क्योंकि जो दवा बाँटते हैं उनकी जबान रटी हुई होती है, उनका अभिनय और उनकी भावना उधार ली हुई होती है इसीलिए उसमें 'अपील' भले हो उपचार तो नहीं ही होता और आज के इन्सान को न तो अपील करने वाली वकालत की भाषा चाहिए, न लबादे पहने हुए उपचारक। आज उसे ऐसा साहित्य और ऐसे साहित्यकार-कलाकार की आवश्यकता है जो केवल उसका दर्द एक इन्सान के नाते अनुभव कर सके, और उस अनुभव में न तो सुधारक का वक्तव्य हो और न बाल की खाल निकालने वाला तर्क ही। आज के विक्षिप्त जीवन को केवल एक मानसिक (psychic) संवेदनशील सहानुभूति की आवश्यकता है। लेकिन जो इस स्थिति के वास्तविक रूप की उपेक्षा

करते हैं वे कुछ ऐसे संकुचित नारों को ही साहित्य और दर्शन का सत्य और लक्ष्य मान लेते हैं जिनकी विवेचना में तथ्य कुछ नहीं मिलता, ऐसा लगता है जैसे कोई हिस्टीरिक नृत्यकार दूर के ढोल की ताल पर अपनी विचित्र-विचित्र मुद्राएँ बना रहा हो, लेकिन वे मुद्राएँ इतनी सन्दर्भहीन हों कि उनका वास्तविक मर्म केवल एक मजाक बनकर रह जाय।

किन्तु इस प्रथम स्थिति के अतिरिक्त इस संक्रमण युग में एक दूसरी भी स्थिति है जिसमें अतिवादी संकीर्णताओं के बावजूद कलाकार जीवन के मूल प्रश्नों से विपथ नहीं होता। यद्यपि उसके भीतर भी परम्परागत रूढ़ियों के प्रति खीझ होती है, स्वीकार की हुई सीमाओं से क्षुब्ध मालूम होती है, भ्रान्तियों के प्रति विद्रोह की भावना जागरूक होती है। लेकिन यह सब होते हुए भी वह वस्तु-स्थिति से पलायन करता है—नये मूल्यों के लिए, व्यापक मानवीय संवेदनाओं के लिए, उन तथ्यों के लिए जो मात्र अनुसरण न होकर विवेक-प्रधान होते हैं। मनुष्य को केन्द्र मानकर उसकी आत्म-उपलब्धि की जिज्ञासा ही इस पलायन को उन कुण्ठित, संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों से अलग करती है जो केवल मन्त्र के रूप में स्वीकार की जाती है। इसकी मूल भावना अपनी श्रेणी में उन सभी को समेट लेती है जिन्होंने 'मत-प्रचार' की अपेक्षा उन जीवन्त सृजनात्मक सृष्टि-चेतना के स्रोतों को ही श्रेयस्कर माना है जो परम्परा को तोड़ते हुए भी उन सूक्ष्म मानवीय संस्कारों को स्वीकार करते हैं जो सदैव जीवन के विकासशील तत्त्वों को प्रोत्साहित करते रहते हैं।

इस पृष्ठभूमि में 'फ़िराक़' गोरखपुरी की नवीनतम पुस्तक 'धरती की करवट' और श्री वैरागी की 'बदली की रात' स्पष्ट रूप से आज की उन्मूलित भावनाओं के अन्तर्गत विस्थापित पलायनवादी प्रवृत्तियों की दो विभिन्न स्थितियों को प्रदर्शित करती हैं। लेकिन दोनों ही में वर्तमान तिक्त परिस्थितियों से ऊबकर किसी नई दिशा की ओर संकेत किया गया है। दोनों ही वस्तु-स्थिति के प्रति विद्रोह करते हैं। लेकिन अन्तर वहाँ पैदा होता है जहाँ एक रूस और चीन तक ही मानव-विकास की कल्पना सीमित कर देता है और दूसरा उनके अतिरिक्त भी मानव-मूल्यों को स्थापित करने की सम्भावना रखता है। वैरागी की निर्वासित भावनाएँ मानव-मूल्यों के बिखरे तत्त्वों को जोड़ने में क्रियाशील होना चाहती हैं, 'फ़िराक़' गोरखपुरी की भावनाएँ रूस और चीन की प्रशस्तियों तक सीमित होने के कारण खोखली और पोली-सी लगती हैं। वैरागी में मानवता के प्रति आस्था है, 'फ़िराक़' की सारी आस्था साम्यवाद और प्रगतिशील संकीर्णताओं तक ही सीमित है। 'फ़िराक़' की आस्था है :

"हमारे देश में इसकी भारी आवश्यकता है कि हमारी जातीय चेतना बीसवीं सदी के सबसे बड़े सन्देश को ग्रहण कर ले—यह सन्देश है रूस और चीन की क्रान्ति का··· मेरी कविताओं के इस संग्रह में कई कविताएँ अनेक शीर्षकों से मिलेंगी जिनमें मैंने भारतीय चेतना को उकसाकर यह अनुभव कराना चाहा है कि ये क्रान्तियाँ इस सदी की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं···अब हम आपको चीन ले चलते हैं·······"

चीन और रूस की क्रान्ति का समर्थन या उनको अस्वीकार करने की अपेक्षा यदि 'फ़िराक़' साहब ने आज की संक्रान्ति-ग्रस्त और विस्थापित आस्थाओं के सामने उन सूक्ष्म मूल्यों की अपील की होती, जो मानवता के निकट हैं, तो शायद वह उस चेतना को ज्यादा सही रास्ते की ओर उकसा पाते। रूस और चीन को मानवता के विकास की चरम सीमा मानने में सन्देह होना

तर्क-संगत भी है·······इसलिए अपनी आस्था की घोषणा के बजाय यदि उनकी प्रतिभा रूसी साम्यवाद और अमरीकी डालर के आगे भी मनुष्य की कल्पना और आस्था पर विश्वास करती तो निश्चय ही उससे हमारी जातीय चेतना को ज्यादा बल मिलता।

"हथौड़े में हसिये में इर्फ़ानियत है, वहाँ हर अमल ऐन रूहानियत है।
है चीन की जीत हर तमन्ना की जीत, है चीन की जीत सारी दुनिया की जीत।"

स्पष्ट है कि 'फ़िराक़' साहब ने अपने और अपने साथ तमाम इन्सानियत की तमन्ना को चीन की क्रान्ति और रूस के हँसिये-हथौड़े तक ही सीमित कर रखा है। चीन की क्रान्ति इतिहास की एक घटना है और कोई भी घटना जीवन के सशक्त तत्त्वों से बड़ी होती है, यह स्वीकार करना ग़लत है। हँसिया-हथौड़ा केवल एक प्रतीक है, और प्रत्येक प्रतीक की अपनी एक सीमा होती है। इसलिए यह कहना कि संसार की और मनुष्य की सीमा केवल एक घटना और एक प्रतीक में ही सम्पूर्ण है, सर्वथा ग़लत है। जिन्दगी इन सीमाओं के आगे भी पनपती और बढ़ती है इसलिए कला, साहित्य और दर्शन को केवल इन्हीं सीमाओं में बाँधकर रखना मानवीय विकास की भर्त्सना करना है।

"जब रूस के मतलअ से हुआ नूर का तड़का, सरमाया परस्ती का चिराग़ और भी भड़का।
हिटलर का गर्जना है कि बिजली का है कड़का, सुनकर बरे आज़म भी जिसे काँप उठेंगे।
हम ज़िन्दा थे, हम ज़िन्दा हैं, हम ज़िंदा रहेंगे।"

प्रथम पंक्ति की आत्महीनता अन्तिम पंक्ति के आत्मविश्वास को नपुंसक बनाकर छोड़ देती है। विस्थापित भावनाओं के संघर्ष में अपने ऊपर विश्वास की कमी की ही प्रतिक्रिया रूस की रोशनी में विकसित होती है। 'फ़िराक़' साहब की यह दिमाग़ी दासता इस बात को पुनः पुष्ट करती है कि वह स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सोचने में असमर्थ हैं। समस्त मानवता का संशय रूस और चीन के 'निर्णय-सिन्धु' में ही है और उसके अतिरिक्त उनकी आस्था किसी भी दूसरी चीज पर नहीं है; यहाँ तक कि अपने पर भी नहीं है।

इस सम्बन्ध में बर्नर्ड शॉ की एक पंक्ति का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उसका कहना था कि "Decadence can find agents only when it wears the mask of progress"[१] और इस कथन का एक-मात्र कारण यह है कि विस्थापित भावनाओं की संकीर्णता समस्त चेतना को इतनी नृशंसता से जकड़ लेती है कि हर वह नारा, हर वह ध्वनि, जो केवल गूँज पैदा करके इन्सान के दिमाग़ को छोड़ देती है, वही सत्य मालूम पड़ने लगती है। कहना न होगा कि 'फ़िराक़' साहब अपनी भावनाओं को इस स्वाभाविक असंगति से बचाने में असफल ही रहे।

इसके विपरीत इन्हीं स्थितियों की प्रतिक्रिया दक्षिण के कवि वैरागी में दूसरे प्रकार से व्यक्त हुई है। न तो वैरागी संशय और दुविधा की स्थिति में संकीर्णता ही स्वीकार करते हैं और न अपनी जिज्ञासा के कौतूहल को नये मानव-मूल्यों के अनुसंधान से ही पृथक् करते हैं। उनकी स्थिति है कि :

---

१. In moments of progress the noble succeed because things are going their way : in moments of decadence the base succeed for the same reason : hence the world is never without the exhilaration of contemporary success." —Bernard Shaw.

"आज खड़ा तू चौराहे पर
संगी-साथी गये बिछुड़कर
प्रात गगन हँसता है सिर पर।"

लेकिन उनकी व्यापक चेतना यह है कि :

"चारों ओर अनन्त दिशाएँ—आगे जीवन का पथ फैला।"

और तब सन्देश यह है कि—

"चल रे मानव आज अकेला।"

वाद और विवादों की इस भ्रान्तिजनक स्थिति में आज मनुष्य को केवल उसका ही आत्मविश्वास ऊपर उठा सकता है। जिस अपवाद के बीच संतप्त जीवन की आस्थाएँ चूर-चूर हुई जा रही हैं, उस स्थिति में शायद वैरागी जी की यह वाणी उनको शक्ति और सम्बल प्रदान करने में सफल होगी, जो इन दोनों अतिवादी विचारधाराओं के अतिरिक्त केवल मानवीय चेतना पर विश्वास करके आगे बढ़ना चाहते हैं। जहाँ 'फ़िराक़' साहब केवल एक वर्ग-विशेष यानी अमरीका को ही दोषी ठहराकर मानवता की बात न करके रूस की प्रशस्ति लिखते हैं, वहीं निरपेक्ष कलाकार के स्वत्व को सुरक्षित रखते हुए वैरागी का कथन है कि :

"खून और आँसू के कीचड़ बीच खिला जीवन जल जाता।"

और

"मानव रत विनाश लीला में, पर मानवता सृजनशील है।"

लेकिन आज वह मानवता ही जैसे भेदों के आडम्बर में खो गई है और वैरागी को सारा संसार और सारा समाज ही ऐसा लगता है जैसे :

"मानवता है कहाँ अरे यह गूँगों-पशुओं की जमात है।"

वैरागी की इन पंक्तियों में युग के मसीहों को चौंका देने की क्षमता है। वस्तुतः उनकी यह आवाज आज उस चेतन और सजीव आत्मा की सप्राण आवाज है जिसने दो महायुद्धों के बीच उन समस्त प्रचारकों का असली रूप देख लिया है। कभी इसी आवाज ने कोरिया से लेकर क्रेमलिन और वाशिंगटन तक की प्रस्तर-मूर्तियों को पूजा था, उनको अपनी श्रद्धा और स्नेह अर्पित किया था, लेकिन आज के मनुष्य के सामने आज वे मूर्तियाँ मूक और बधिर-सी प्रतीत होती हैं। आज उनके स्थापित मूल्य नष्ट हो चुके हैं और यही कारण है कि सचेत आत्मनिष्ठ मानव आज इन्सान के लिए कुछ नये मूल्यों और नई मर्यादाओं को स्थापित करने में जिज्ञासु और जागरूक है।

और जहाँ इन नये मूल्यों को स्थापित करने की भावना है, वहीं आज मनुष्य इस बात को भी ध्यान में रखना चाहता है कि ये मूल्य मनुष्य को लक्षित करके बनाये जायँ, उसकी आस्था पर बनें, क्योंकि यह निश्चय है कि किसी अतिवादी विचारधारा के अनुसार किसी भी प्रकार के आरोपित मूल्य आज के मनुष्य को ऊपर उठाने में असफल होंगे। आज के लिए यह आवश्यक है कि इस समूचे जीवन को सर्वथा मनुष्य की दृष्टि से देखें और उन समस्त संदर्भों से अलग मानव-मूल्यों का मूल्यांकन करें, जिन्होंने आज उसे उस आत्महीन, निरीह यन्त्र के समान बना दिया है जो खोखला, रोग-ग्रस्त, घावों से भरा हुआ, निर्जीव हाथों को उठा-उठाकर केवल जय-जय की ध्वनि गुँजाना जानता है—जिसके पास अपना कुछ नहीं है, यहाँ तक कि उसकी अपनी

चमड़ी भी नहीं है ।

'फ़िराक़' साहब और वैरागी में यही मौलिक अन्तर है। 'फ़िराक़' शायरी की मज़बूबियत की अपेक्षा विषय की मजबूबियत में अधिक विश्वास करते हुए मालूम पड़ते हैं। उनका विषय विशुद्ध मानव नहीं है, उनका स्वर उस मनुष्य के लिए है जो आदमी से ज़्यादा और आदमी से कहीं बड़ा उन मान्यताओं को मानता है जो रूस और चीन में प्रचलित हैं ।

यह तो रही वैरागी और 'फ़िराक़' गोरखपुरी के जीवनगत मान्यताओं में अन्तर और उसकी प्रतिक्रिया की बात । 'फ़िराक़' गोरखपुरी की कला की विज्ञप्ति के सामने 'धरती की करवट' एक छोटी कला-कृति है । वैरागी को अभी हिन्दी-संसार शायद ही जानता हो। इस बात को स्वीकार करने में हमें हर्ष होता है कि उर्दू के विद्वान् और विख्यात शायर ने हिन्दी में भी लिखना प्रारम्भ किया है। वैसे 'फ़िराक़' की ग़ज़लों और रूबाइयों ने उर्दू-शायरी में एक विशेष क्रान्ति पैदा की थी । ग़ज़ल के क्षेत्र में उनके प्रयोग अद्वितीय माने जाते हैं। शैली, भाषा, भाव और अभिव्यक्ति के साथ-साथ बौद्धिक जागरूकता 'फ़िराक़' की उर्दू-शायरी की बान है, लेकिन अपने उस्तादाना अन्दाज में जब 'फ़िराक़' साहब उर्दू के वजन पर हिन्दी में लिखने का प्रयास करते हैं तो उनकी काव्य-रचना शिथिल पड़ जाती है। कहीं-कहीं अटपटेपन के साथ-साथ असंस्कारी प्रयोग बड़े ऊबड़खाबड़ लगते हैं। काव्य की कोमल अभिव्यक्ति के अनुकूल भाषा की स्वाभाविकता नहीं निभ पाती। मुहावरे इतने अधिक हो जाते हैं कि भावनाएँ चुटीली होने की अपेक्षा अधिक बाजारू हो जाती हैं और इन सबका एक-मात्र कारण यह है कि हिन्दी की अपनी एक शैली ढल चुकी है। कम-से-कम काव्य के क्षेत्र में वह शैली काफ़ी आगे बढ़ चुकी है । हो सकता है किन्हीं कारणों से 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' या 'अज्ञेय' की भाषा-शैली, या जैनेन्द्र का गद्य 'फ़िराक़' साहब को नापसन्द हो, लेकिन हिन्दी ने उन्हें स्वीकार कर लिया है और आज अधिकांश लेखक उन्हींके आधार पर लिख भी रहे हैं। काफ़ी साहित्य लिखा भी जा चुका है; इसलिए उर्दू का अच्छे-से-अच्छा अन्दाज़े-बयान भी आज की शैली में खप नहीं पाता। 'धरती की करवट' की अधिकांश कविताओं की शैली अपरिचित और भौंडी मालूम पड़ती है ।

आत्मपरकता (subjectivity) काव्य की आत्मा है। 'फ़िराक़' साहब की अधिकांश कविताएँ इतनी राजनीतिक हैं कि उनका काव्यगत सौन्दर्य नष्ट हो गया है। 'धरती की करवट' की अधिकांश कविताएँ सूचनाएँ अधिक देती हैं, भावना कम। 'फ़िराक़' साहब से हम यह आशा करते थे कि इस रचना-संग्रह में उनकी अधिकांश पंक्तियाँ निम्नलिखित स्तर की होंगी। जैसे :

"इक हल्क़ए ज़ंजीर तो ज़ंजीर नहीं है
इक नुक़्तए तस्वीर तो तस्वीर नहीं है
तक़दीर तो क़ौमों की हुआ करती है
इक फ़र्द की क़िस्मत कोई तक़दीर नहीं है ।"

यद्यपि हम व्यक्ति को इतना गण्य नहीं मानते फिर भी यदि इसी विश्वास और गहराई के साथ 'फ़िराक़' साहब ने अपनी भावनाएँ प्रस्तुत की होतीं तो शायद यह पुस्तक अधिक प्रिय होती। लेकिन अफ़सोस तो यह है कि अधिकांश रचनाओं में 'इस दुनिया की ऐसी-तैसी' ही बहुत है, अपनी अनुभूतियों के बारे में कहीं कुछ नहीं। लगता है जैसे पूरी किताब एक

ग्रामोफ़ोन-रिकार्ड हो, जिसमें तवे में जकड़ी हुई आवाज़-ही-आवाज़ है, व्यक्तित्व की छाया कहीं भी नहीं है।

भाषा और लिपि के बारे में केवल इतना ही कहना है कि पुस्तक के आरम्भ में 'ये कविताएँ कैसे पढ़ी जायँ' शीर्षक से जो-कुछ 'फ़िराक़' साहब ने लिखा है वह एकांगी है। प्रमाण के लिए हिन्दी में 'फ़', 'ज़' इत्यादि के नीचे से बिन्दी हटाने की बात बहुत पहले उठाई गई थी जिसको 'फ़िराक़' साहब ने स्वीकार करने से शायद कोई हानि समझी है लेकिन 'ऋ' को 'रि' लिखने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं हुई। अगर 'फ़िराक़' लिखकर बिन्दी मिटा दी जाय तो वही उतना ही अनुपयुक्त होगा जितना कि ऋषि को 'रिशि' कर देना। लिपि के विषय में व्यावहारिक रूप से इन मान्यताओं को स्वीकार कर लेना भिन्न बात है।

जैसा कि कहा जा चुका है ग़ज़ल के 'तख़ैयुल', 'तगज़्ज़ुल' और उसके शिल्प-विधान में नये प्रयोग करने वालों में 'फ़िराक़' साहब का विशेष स्थान है। लेकिन नई शक्तियों के प्रतीक के रूप में उर्दू-शायरी के इन्क़लाबी शायर का यह मत है :

"आजकल प्रयोगवाद की एक फुलझड़ी हिन्दी-कविता में कुछ लोगों ने छोड़ रखी है.... इन लोगों ने प्रयोगवाद की जैसी मिसालें पेश की हैं उसे मैं झखमारवाद कहता हूँ।"

जहाँ तक 'फ़िराक़' साहब का यह वक्तव्य है वह इतना खोखला है कि कम-से-कम उर्दू के प्रतिष्ठित शायर की कलम से यह शब्द शोभा नहीं देता। पता नहीं प्रयोगवादी रचनाएँ 'फ़िराक़' साहब ने कहाँ तक पढ़ी हैं, लेकिन 'प्रयोगवादी' जिसे हम नई कविता भी कहते हैं, उसमें हिन्दी-प्रतिभा की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का सशक्त और स्वस्थ परिचय मिलता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वैसे बिना पढ़े राय क़ायम कर लेना बात दूसरी है।

'धरती की करवट' के विषय में अन्तिम वाक्य कहने की अपेक्षा, 'फ़िराक़' साहब की यह रुबाई ही काफ़ी है :

"लफ़्ज़ों की दुकाँ को अब बढ़ाना होगा
कुछ करके मुअल्लिम को दिखाना होगा।
तालीम को ख़ल्लाके अमल होना है
पंजों में दिमाग़ अब बसाना होगा।"

ताकि पंजों में सृजन-पिण्ड का आकार बन पाए न कि वह केवल एक सलाम का प्रतीक बनकर भूल जाय।

'बदली की रात' के लेखक वैरागी दक्षिण भारत के हैं। हिन्दी का उनके लिए 'फ़िराक़' साहब से ज़्यादा कठिन प्रतीत होना स्वाभाविक है। फिर भी जिस शिल्प-निपुणता और शैली का सफल प्रयोग 'बदली की रात' में मिलता है वह इस बात का सन्देश देता है कि हिन्दी भाषा का संस्कार समस्त भारत में आत्मानुभूति के साथ ग्रहण किया जा रहा है।

'बदली की रात' मूलतः आज के संक्रमण का प्रतीक है। यद्यपि उसमें 'संशय' और 'पलायन' की संदिग्ध वाणी पर्याप्त है, लेकिन वह संशय व्यक्ति का संशय ही नहीं वरन् इस युग के संशय के साथ सम्बद्ध है। जहाँ एक ओर वैरागी टूटती हुई मान्यताओं के बीच घुटन अनुभव करते हैं वहीं वह नई मान्यताओं के प्रति जिज्ञासु भी हैं। उनकी टूटी हुई आस्था नई आस्था की याचक अवश्य है, लेकिन नई आस्था के प्रति जागरूक होने के कारण उनकी वाणी

में नास्तिकता अथवा आस्थाहीनता नहीं है।

समस्त काव्य-संग्रह में चार प्रकार की कविताएँ हैं। पहली तो वह जो कवि की आत्म-चिन्तना को प्रदर्शित करती हैं। इन कविताओं में वैरागी की जीवन के प्रति दृष्टि अधिक साफ़ और स्पष्ट रूप से उभरी है। सामूहिक चेतना को स्वीकार करते हुए वह व्यक्ति की मर्यादा को भी सुरक्षित रखना चाहते हैं। शायद उनकी भावना आजकल की दलगत समूहवाद की विषमताओं से अछूती नहीं है। तभी उनके स्वरों में सहसा ही पलायन की भावना जाग्रत होती है; लेकिन यह पलायन कायरता का पलायन नहीं है और न ही इसमें अतिरंजित करने वाली बन्धनहीन नृशंसता है।

दूसरी प्रकार की कविताएँ भावना-प्रधान आत्म-उद्बोधन से सम्बद्ध हैं। इस वर्ग में कवि की आत्मपरक भावनाएँ सृष्टि और व्यक्ति की समस्याओं को लेकर चलती हैं। इनमें मनुष्य का खोखलापन भी मिलता है; उसके आडम्बर और बहुरंगी कलेवर के साथ उस दर्द की अनुभूति है जो सृजन को शक्ति प्रदान करती है।

तीसरी प्रकार की कविताएँ गीत-शैली के अन्तर्गत आती हैं। यद्यपि इन गीतों में काफ़ी शिथिलता है और इनके शिल्प-निर्वाह में कहीं-कहीं शिथिलता भी दिखाई पड़ती है लेकिन यह सब होते हुए भी इनकी प्रेक्षणीयता मार्मिक है। ऐसा लगता है जैसे कवि जीवन को एकांगी न बनाकर समस्त तथ्यों और सत्यों को अपनी रागात्मिक शक्ति के साथ समेटता चलता है। गीतों में निराशावादी प्रवृत्तियों का प्राचुर्य है। सूफ़ियों की शैली में भी कुछ गीत हैं, जो एकात्मानुभूति के महत्त्व को शिथिल कर देते हैं।

चौथी प्रकार की कविताएँ 'आधुनिका' के अन्तर्गत आजकल की नई कविता की विषय-वस्तु और शिल्प-निर्माण से प्रभावित हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत 'पलायन' कविता महत्त्वपूर्ण है। इसमें वह सभी नये तत्त्व हैं जो आधुनिक हिन्दी-कविता की नवीनतम शैली के अन्तर्गत आते हैं। कहीं-कहीं बिम्बों और प्रतीकों का बड़ा सफल चित्रण मिलता है। मानवीय संवेदनाओं के साथ जहाँ कहीं भी कवि की जागरूक अन्तर्वेदना व्यक्त हुई है वह स्थल बड़े मार्मिक और हृदय-ग्राह्य हैं।

लेकिन जहाँ हमें वैरागी में प्रतिभा के सूत्र स्पष्ट दिखलाई देते हैं वहीं ऐसा लगता है जैसे उनके चिन्तन में बहुत-कुछ कच्चापन और अर्ध सत्य है जो उनकी चेतना को भ्रमित करने में अधिक सफल हुआ है। इस भ्रम और भ्रान्तिजनक (confused) स्थिति में से जो आस्था और विश्वास के सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, उनको एकत्र करके एकरूपता देने का दायित्व वैरागी जी का है। कला न तो केवल भाव है, न केवल चिन्तन है, वह भाव और चिन्तन के साथ-साथ कुछ चिह्न अंकित करती चलती है जिसमें भविष्य की सम्भावनाएँ प्रश्रय पाती हैं और विकसित होती हैं। वैरागी जी में जहाँ दृष्टि है, भाव है, चिन्तन है और शिल्प है वहाँ उनके थिराये हुए विचारों को और अधिक उभार से व्यक्त होना चाहिए, उनकी निखरी हुई सद्भावना और अधिक आस्थावान होनी चाहिए और उनका संशय आज की सीमाओं को लाँघकर समाप्त होना चाहिए। मानव-अनुभूतियों से द्रवित उनका भावना-प्रधान व्यक्तित्व यदि अधिक संतुलित रूप से व्यक्त होता तो थोड़ी-बहुत आतंकजन्य विस्थापित प्रवृत्तियाँ, जो सहज ही उभर आई हैं, न होतीं और कवि अपनी कला को केवल—

"कैसे भाग जाएँ हम ?
कैसे जाग जाएँ हम ?
काल की मुट्ठी से बालू बन
कैसे खिसक पाएँ हम ?"

की भावना तक सीमित रखने की अपेक्षा, उसे मुट्ठी में पिण्ड रूप देकर उस प्राण-प्रतिष्ठा के मन्त्र का आह्वान करता जिसमें धीरता और सहनशीलता ही जीवन के नये मूल्यों को विकसित और प्रस्तुत करती हैं।[1]

रामखेलावन पाण्डेय

प्रेतों की शव-परीक्षा

इस उपन्यास में निम्न-मध्यवर्ग और उसके रूढ़िबद्ध संस्कारों की कथा है जिनकी संस्कृति समझने की भूल की जाती रही है। इन संस्कारों के प्रेत ही यहाँ बोलते हैं, इनकी आत्माएँ हमारी आत्माएँ हैं। अतः 'प्रेत बोलते हैं' में उनकी साँसों का स्पंदन है, जो साँस लेते हैं पर जीवित नहीं; जिनमें गति है किन्तु जीवन की स्फूर्ति और प्रेरणा नहीं। निम्न-मध्यवर्ग आज संस्कारों का खण्डहर है जिसमें उल्लू बसते हैं और प्रेत बोलते हैं। मृतप्राय निम्न-मध्यवर्ग का प्रतिनिधि और प्रतीक है 'समर'—समाज-भीरु, स्वप्निल, आदर्शात्मक एवं काल्पनिक महत्त्वाकांक्षी, किन्तु दब्बू और ऐसा दब्बू जो कायरता की सीमा का स्पर्श कर ले। इसकी कथा संयुक्त हिन्दू-परिवार की दयनीयता के परिपार्श्व में विकसित होती है जिसके मरणशील-ह्रासोन्मुख संस्कार व्यक्ति को आकुञ्चित कर रहे हैं। वस्तुतः अतीत का मोह, जिसे हम अखण्ड भारतीय संस्कृति की संज्ञा देते रहे हैं, प्रेत और भूत बनकर मानवीय चेतना को कुण्ठित कर रहा है और अतीत-मोही पुनरावर्तनवादी इन्हें आदर्श का महत्त्व देकर नई समस्याएँ खड़ी कर रहे हैं। इसमें प्रेतात्माएँ नहीं बल्कि जीवित प्रेत साँस ले रहे हैं, वे निम्न-मध्यवर्ग के प्रेत हैं। नवीन मानवता के उन्मेष के लिए इन वास्तविक प्रेतों से मुक्ति चाहिए, इन सांस्कारिक भूतों से मुक्ति। लेखक इस मुक्ति के मसीहा के रूप में 'प्रगतिशील मानवता' की अवतारणा करता है जो कम्युनिस्ट मानवतावाद ही है और कुछ नहीं। लेखक के इन विचारों से सहमत नहीं होना दूसरी चीज है, और आलोचक इस समाधान से सहमत भी नहीं है, किन्तु लेखक अपने विचारों के कारण अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। फिर भी इस धारणा में संगति नहीं कि अगली व्यवस्था की चिन्ता किये बिना ही आज की स्थिति त्याज्य है। इसे प्रगतिमूलक भी नहीं माना जा सकता। लेखक कुछ ऐसा मानता हुआ दीख पड़ता है कि अभाव स्वयं अपनी पूर्ति का अन्वेषण कर लेगा, क्योंकि उसके प्रतिरूप शिरीष का कथन है : "...कुछ भी सही पहले एक

---

१. 'धरती की करवट', लेखक—'फ़िराक़' गोरखपुरी, प्रकाशक—इलाहाबाद लॉ जरनल प्रेस, इलाहाबाद। 'बदली की रात', लेखक—वैरागी, प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग।

अवस्था को तो छोड़िए तभी तो दूसरी में आ पाएँगे। साफ बात तो यह है कि अगली अवस्था चाहे जो हो, न तो इन परिवर्तन-विरोधियों द्वारा दी गई होगी, न कोई पुरानी होगी—वह बिलकुल नई होगी, बिलकुल नई होगी।"[1]

वस्तुतः 'समर' का अतीताविष्ट धूमिल आदर्शवाद शिरीष के 'प्रगतिशील मानवतावाद' के साथ टकराता नहीं, उसे लेखक ने इतना कमजोर समझा कि प्रथम संसर्ग में ही चकनाचूर हो जाता है, अतः संस्कार सांस्कारिक बन्धन प्राप्त करने में अक्षम ही रह गए। 'समर' धूमिल आदर्श के सपनों को जीवन में उतार नहीं सका, उसमें क्षमता का अभाव है और अपनी अक्षमता के लिए नारी को बन्धन मानने की मध्यवर्गीय धारणा से वह जड़ीभूत भी है। 'समर' के प्रेत का आत्म-विश्लेषण वस्तुतः लेखक द्वारा निम्न-मध्यवर्गीय समाज का विश्लेषण है : "मेरी भावनात्मकता कभी भी मुझे विश्लेषणात्मक दृष्टि से न देखने को मजबूर करती रही। मैं जानता था यह मुसीबत है, यह कीचड़ है, दलदल है, जो मुझे बाँधे हुए है।""न जाने कैसा एक भावात्मक सम्बन्ध था जो मुझे उससे बाँधे था—मैं तड़फड़ाता, चीखता, चिल्लाता और ठिठुरते पक्षी की तरह अपने-आपमें मुँह छिपाकर पड़ रहता।" और प्रेतों का समवेत विश्लेषण है : "एक लम्बे अर्से से, एक अनादि युग से हमें इन कब्रों और समाधियों में बन्द कर दिया गया था—इन्हें हमारा शरीर बना दिया गया था—और यह सड़ा-गला शरीर हमें घोंटे हुए था, हमें दबोचे हुए था! हमारी सिसकियाँ बाहर नहीं आ पाती थीं।"

'प्रेत बोलते हैं' मूल रूप में कथा है यद्यपि इसमें सिद्धान्तों की सघनता और समाधान का निर्देश है जो मौलिक नहीं, उनके प्रकाशन के माध्यम में नवीनता अवश्य है। इस कथा में कथानक बन पाने की क्षमता भी है और गति की क्षिप्रता भी तथा प्रारम्भिक अंशों में कथा-रस का भी संयोग है। समाधान-रूप प्रगतिशील मानवता, साम्यवादी समाज-दर्शन-मात्र है उससे भिन्न नहीं, क्योंकि 'समर' को यह भर्त्सना खाए जा रही थी कि उसके "जैसे हजारों प्राणी इस दलदल में धँसे गल रहे हैं, सड़ रहे हैं" और उसने "उन्हें जानने की कोशिश नहीं की। कभी उनका साथ प्राप्त करने को हाथ नहीं बढ़ाया।" सर्वहारा का उल्लेख नहीं करते हुए भी उनकी ओर से लेखक दावा पेश करता है : "समाज की अवस्था या व्यवस्था को बदलने की सबसे अधिक आवश्यकता, अधिक दबाव वाला हिस्सा ही महसूस करता है, जैसे मैंने बताया—क्योंकि वह विकासशील है।" प्रभा का प्रेत ठीक ही कहता है कि "अपनी इस जीवनी-शक्ति को मैंने सदैव ही मौन के बन्धनों में बाँधकर रखा" अतः शिक्षिता होने पर भी प्रभा में प्रेरणा की स्फूर्ति बन सकने की क्षमता नहीं आ पाई। शिरीष समाज-शास्त्रीय दार्शनिक है—लेखक का मुख्य प्रवक्ता, किन्तु अपनी 'प्रगतिशील मानवता' के बावजूद और कारण भी शिरीष भाई उपन्यास के मौलिक अंग नहीं बन पाए और लेखक के व्यक्तित्व और मन्तव्य उनसे उलझ गए। उनके सम्पर्क में 'समर' का परिवर्तन केवल आकस्मिक ही नहीं बल्कि अमनोवैज्ञानिक भी है। उपन्यास चरित्र-प्रधान नहीं बल्कि विचार-प्रधान और समस्यामूलक है, अतः विविधता के दर्शन नहीं, साम्य और वैषम्य के आधार पर चारित्रिक स्पष्टता भी नहीं। पात्र व्यक्ति और व्यक्तित्वमूलक न होकर प्रतिनिधि, प्रतीक और 'टाइप' ही रह गए। लगता है कि अन्तिम पृष्ठों तक आते-आते लेखक अपना धैर्य खो बैठता है और इस हड़बड़ी में अपने

१. पृष्ठ २७३।

सारे सिद्धान्तों का भार शिरीष भाई के दुर्बल कन्धों पर डाल कर सन्तोष की साँस लेता है। अतः शिरीष 'प्लेटफार्म-स्पीकर' बन जाता है, यद्यपि उसके श्रोताओं की संख्या अधिक कभी नहीं रही। इस कारण सैद्धान्तिक आग्रह आरोप बन गए, कथा के अन्तराल से उभरने वाले मार्मिक सत्य और जीवन्त स्फूर्ति नहीं बन पाए और यहीं पर कलात्मकता की न्यूनता है, अन्यथा लेखक के पास समस्याओं को उपस्थित करने की अपनी टेकनीक है, उपमाओं में नवीनता और वैज्ञानिक संस्कार भी। उसमें व्यङ्ग्यपूर्ण हास्य भी है: "मैं लिखने-पढ़ने बैठा हूँ कि उस्ताद बन्नेखाँ ठुमरी के गरम पानी से वह गरारे कर रहे हैं कि न सिर्फ मैं झुँझलाकर भन्ना जाता हूँ, मुझे खुद कै होते-होते रह जाती है। अब हालत मेरी यह हो गई कि मैं सोता तो आज़ाद काश्मीर या कराची से आते शमशाद के गीतों की गोद में और जागता तो गोआ और सीलोन से गूँजते लतामंगेशकर के स्वरों की प्रभाती में, भोजन की जगह मुकेश के गाने और तल्हत महमूद के टेंटुए की तरकारी।"

केवल कथा-रसाग्रही को अनुपलब्धि का जो क्षोभ हो, लेखक की भाषा और शैली में ताजगी, सरसता और स्फूर्ति है यद्यपि आलोचक की आकांक्षा सदा जगती रही कि काश लेखक अपने को व्याकरण और मुहावरों के गड्ढों से बचा पाता, बच जाता। सिद्धान्त और विचार-पद्धति में नवीनता नहीं रहने पर भी लेखक में उद्वेलित करने की शक्ति है और यौनवाद के नग्न प्रदर्शन द्वारा सुलभ और सस्ती लोकप्रियता का मोह भी उसे नहीं, जैसा कि आज के अधिकांश हिन्दी-उपन्यासों में पाया जाता है। 'प्रेत बोलते हैं' की अनुपलब्धियाँ श्री राजेन्द्र यादव के भावी विकास की सूचना को आकुञ्चित करती दीख पड़ती हैं।[1]

अजितकुमार

व्यक्ति, परिवार और समाज

हिन्दी-कहानी का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाले एक डॉक्टर की धारणा है कि "कहानियाँ अपने दृष्टिकोण और चरम परिणति में अस्पष्ट और रहस्यात्मक होती जा रही हैं।"[2] किन्तु इस बात से सब लोग सहमत न होंगे। यों आज के युग में किसी भी बात पर सब लोगों का एक मत हो सकता है—ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, लेकिन इस प्रश्न पर तो बिलकुल ही नहीं; क्योंकि हिन्दी-कहानी की यह प्रवृत्ति जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' और जोशी के प्रथम चरण की तथा उनका अनुकरण करने वाले अन्य लेखकों की है। इसका पूर्व रूप हैं: प्रसाद तथा 'हृदयेश' की वे कहानियाँ, जो भावना तथा कल्पना पर आधारित हैं। स्वयं जैनेन्द्र आदि की अपेक्षाकृत

१. 'प्रेत बोलते हैं', लेखक—श्री राजेन्द्र यादव, प्रकाशक—प्रगति प्रकाशन, दिल्ली।
२. डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल: 'हिन्दी-कथा-शिल्प में कथानक का ह्रास'—'आलोचना' अंक ७।

अस्पष्ट और रहस्यात्मक कहानियों के मूल में वह विद्रोह था, जो इन लेखकों ने प्रेमचन्द-युग की इतिवृत्तात्मकता और सादगी के विरुद्ध किया। ऐसी कहानियों का बहुत-कुछ कारण मनोविज्ञान की नई दृष्टि और सांकेतिकता तथा प्रतीकात्मकता की आवश्यकता का अनुभव भी था। अस्तु, यह बीच का दौर था, जब हिन्दी-कहानी नये पैटर्न खोजने में यत्नशील थी।

इधर के लेखकों ने जैनेन्द्र, 'अज्ञेय' आदि के शिल्प, मनोविश्लेषण तथा सूक्ष्म सांकेतिकता को ग्रहण करते हुए भी हिन्दी-कहानी को अधिक स्पष्ट, सुबोध तथा सुगम बनाया है—इसका प्रमाण वे अगणित कहानियाँ हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रही हैं। (अपितु उपर्युक्त कहानीकारों की परिवर्ती रचनाएँ भी हैं), साथ ही ये चार कहानी-संग्रह भी हैं जो इस समय मेरे सम्मुख हैं।

'अपना राज : अपने आदमी' के लेखक रामकृष्ण बक़ौल ख़ुद पिछले दस वर्षों से दूसरे नाम से 'चलतू क़िस्म' की रचनाएँ लिख रहे हैं। रामकृष्ण नाम से वे 'स्थायी महत्त्व' की रचनाएँ लिखते हैं। उनकी ईमानदारी के हम क़ायल हैं कि चलतू क़िस्म की रचनाएँ लिखकर भी वे स्वीकार कर लेते हैं, वरना ऐसे लेखकों की कमी नहीं है जो चलतू चीज़ें लिखते रहकर भी जीवन-भर इसी भ्रम में पड़े रहते हैं कि उन्होंने स्थायी साहित्य की रचना की है। इस नाते रामकृष्ण जागरूक कलाकार और सजग आत्म-आलोचक हैं। उन्होंने 'सुन्दर की अपेक्षा सत्य का सहारा अधिक' लिया है। 'आज के जीवन का सही ख़ाका पेश करते हुए' यदि कहीं 'कटुता' आ गई है तो लेखक ने सहर्ष उसे आने दिया है।

पुस्तक तथा लेखक के विषय में ये अच्छी-अच्छी बातें पढ़कर जब हम कहानियाँ पढ़ना आरम्भ करते हैं तो बहुत संतोष नहीं होता। लेखक ने मोटी-सी यह बात भुला दी है कि कहानी 'इतिहास' नहीं है, कुछ और भी है। बस, इसीलिए उसने हर कहानी में इतिहास को बताया है, दुहराया-तिहराया है, और वह भी अकुशल ढंग से। इतिहास ही हो तो उतना न भी खले, अकुशलता खल जाती है।

प्रस्तुत संग्रह की अधिकांश कहानियाँ कांग्रेस द्वारा प्रेरित विविध राष्ट्रीय आन्दोलनों की पृष्ठभूमि लेकर लिखी गई हैं। पहली कहानी 'अपना राज : अपने आदमी' दो मित्रों—राजू तथा दीनू—की कहानी है। पीछे मुड़कर घटनाओं को देखने वाली 'रिट्रास्पेक्ट' शैली की उपर्युक्त कहानी प्रलापात्मक भावावेग के साथ प्रारम्भ होती है। कहानी में विक्षिप्त मन का सफल अंकन है। यों ढाँचा दुरुस्त है, लेकिन चोट ठीक जगह नहीं पड़ती। कुल मिलाकर गरीब दीनू के प्रति बहुत सहानुभूति उपजती हो, ऐसा भी नहीं है। मन्त्री राजेन्द्रनाथ का चरित्र पाठक के मन में असन्तोष तथा ग्लानि भरता है। उनके पक्ष में एक ही बात कही जा सकती है कि उन्होंने अयोग्य तथा अशिक्षित 'दीनू' को किसी उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान पर नौकरी नहीं दिलाई। किन्तु लेखक तो इसी बात को लेकर क्रुद्ध है। अतः आक्रोश तथा व्यंग्य यदि इस बात पर है कि 'अपना आदमी' होकर भी 'अपने राज' में राजेन्द्रनाथ ने दीनू को बढ़िया नौकरी नहीं दिलाई, तो सरासर ग़लत व्यंग्य है।

अन्य कहानियों में पात्रों की यानी लेखक की स्मृति 'सिनेमा की रील' अथवा 'मेल ट्रेन' की गति से दौड़ती है। स्मृति की यह क्षिप्र गति ही रामकृष्ण की कहानियों में अक्सर व्यतिक्रम उत्पन्न कर देती है। कहानियाँ घटनाबहुल हो जाती हैं, क्रमबद्धता और योजना पीछे छूट

जाती है। संग्रह की पहली-दूसरी-तीसरी-चौथी तथा अन्य कहानियाँ भी इसका शिकार हुई हैं। अत्यधिक घटनाओं के समावेश और कथा की परिधि के सीमित न रहने के कारण मूल संवेदना का सूत्र छूट-छूट जाता है।

'कहानी जिन वाक्यों से प्रारम्भ होती हो, उन्हींसे समाप्त भी हो, एक विशेष प्रकार की पूर्णता तथा समग्रता की ओर इंगित करने वाली यह एक आकर्षक विधि है। किन्तु आरम्भ के डेढ़ पृष्ठों को अन्त में भी वैसे-का-वैसा ही रख देना भोंडी बात है। पहली कहानी में ऐसा ही हुआ है। इससे वे बाद के डेढ़ पृष्ठ पाठक के लिए बेकार हो जाते हैं, वह उन्हें पहले ही पढ़ चुका है। इसी प्रकार, 'रूप और ऋतु' की कहानी जिस घटना से आरम्भ होती है, उसी से अन्त भी करती है—यह दिखाकर लेखक ने अच्छे शिल्प का परिचय दिया है, यद्यपि अच्छी अन्तर्दृष्टि का नहीं।

अन्तर्दृष्टि का अभाव इनमें से अधिकांश कहानियों की सबसे बड़ी दुर्बलता है और घटना-बाहुल्य सबसे बड़ी विशेषता, सबलता निश्चय ही नहीं। इतिहास—चाहे वह पात्र के जीवन का हो अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन का—लेखक को प्रिय है। किन्तु यह इतिहास-वर्णन प्रायः इतिहासात्मक, रूखा और ऊबाने वाला हो जाता है। यों वर्णन की सादगी बड़ा गुण है, पर उसने श्री रामकृष्ण के हाथों पकड़कर अपना प्रभाव खो दिया है। थोड़े अधिक शिल्प-नैपुण्य के साथ ये कहानियाँ प्रथम श्रेणी की बन सकती थीं, अन्यथा कला के नितान्त अभाव में निम्न द्वितीय श्रेणी की रह गई हैं। प्रत्येक कहानी के अन्त में लेखक ने कोई-न-कोई 'स्पर्श' करने का यत्न किया है, किन्तु वह 'स्पर्श' अक्सर ऊपर-ही-ऊपर निकल जाता है, छूता नहीं। 'दाँत' और 'चुनाव' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं, पर दुर्भाग्यवश 'चुनाव' एक विदेशी कहानी की हू-ब-हू नकल है।

एक नियन्त्रित ढाँचे पर गढ़ी हुई कहानियों का संग्रह होते हुए भी समग्र रूप से समाज की विषमताओं, रूढ़ियों, अन्यायों तथा ढकोसलों पर यह पुस्तक एक गहरा और सशक्त प्रहार है।

इसके विपरीत 'ज़िन्दगी के अनुभव' में श्रीमती नमिता लुम्बा जीवन की एक दूसरी ही झाँकी उपस्थित करती हैं। इन कहानियों के संसार में राजनीतिक दाँवपेंच नहीं हैं, सामाजिक अव्यवस्था के प्रति वैसा आक्रोश भी नहीं है, 'घूसखोरी, चोरबाजारी, जनता की बेहाली, भूख-शोषण' के हृदय-विदारक चित्र भी नहीं हैं क्योंकि ये घर के भीतर की कहानियाँ हैं—परिवार और प्रेम की कहानियाँ हैं। साथ ही ये श्रीमती नमिता की कहानियाँ हैं इसलिए इनमें सर्वत्र एक नारी का दृष्टिकोण व्याप्त है। यह स्वाभाविक है। नारी के मनोभाव, उसके मनोविज्ञान तथा प्रतिक्रियाओं के भीतर श्रीमती लुम्बा की प्रत्यक्ष गति है—फ़र्स्ट हैण्ड। इसीलिए ये कहानियाँ सजीव तथा यथार्थ लगती हैं।

जीवन के खण्ड हैं, जो अचानक प्रारम्भ होकर अचानक समाप्त हो जाते हैं। यही शैली श्रीमती नमिता की भी है। अनायास उनकी कहानियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं और परिणति भी सहज रूप में हो पाती है। 'पूर्ण' वे उतने के लिए ही हैं जितना उन्हें 'कहानियाँ' बनाने के लिए आवश्यक है, अन्यथा जीवन उन कहानियों के पहले भी है और बाद भी। श्रीमती लुम्बा को भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि जिस जीवन का अंकन वे कर रही

हैं, वह सबको परिचित है। वे कथा में सीधा प्रवेश करती हैं।

संग्रह की प्रत्येक कहानी में शिल्प-विधान की एकरूपता दिखती है, फिर भी यह हमें उबाती नहीं, वरन् अपनी अकृत्रिमता तथा स्वाभाविकता के कारण मोह लेती है। कहानी की प्रथम पंक्ति ही पाठक का कुतूहल जाग्रत करती है—"यह सन्ध्या आखिर सो क्यों नहीं पा रही है? ओह! न्यायालय और जज! कहानी रोचक जान पड़ती है। नाम भी तो खूनी है।" आदि!

ऐसे ही सहज रूप में ये कहानियाँ समाप्त भी होती हैं। कहीं 'मातृहीना' बालिका को पिता की झिड़की खाकर मलिन होते दिखाया है तो कहीं 'जनवरी की एक रात' में अकेले घर में डरी हुई पत्नी और बहन का मज़ाक उड़ाते हुए मदन को। इसी प्रकार के स्थलों पर ये कहानियाँ समाप्त हो जाती हैं और हम आनन्द के प्रसंग पर अकुण्ठित होकर हँसने लगते हैं तथा अन्याय अथवा अव्यवस्था की बात पढ़कर व्यथित होते हैं।

इस संग्रह की कुछ कहानियाँ हैं जो केवल परिस्थिति को व्यक्त करती हैं। 'प्रतिदान' में एक युवती, यह जानकर कि उसका प्रेमी विवाहित है और केवल उसके प्रेम के कारण अपनी विवाहिता पत्नी से विमुख है, आत्महत्या कर लेती है। समस्या का सुलझाव स्पष्ट न होने के कारण यहाँ 'घटना' का वर्णन-मात्र हुआ है। दूसरे प्रकार की कहानियों में समस्या का विवरण और उसके प्रति असन्तोष का भाव मिलता है, जैसे 'जिन्दगी का अनुभव'। इसमें एक टाइपिस्ट लड़की अपने अफ़सर की काम-वासना का शिकार होकर गर्भवती हो जाती है और अफ़सर दूसरी लड़की से विवाह करके विदेश जाने की योजनाएँ बनाते हैं। "न जाने कितनी भोली लड़कियाँ इस दफ़्तर के पैसे के बदले अपनी अनमोल इज़्ज़त खोकर उसीकी तरह रो रही होंगी।" लेकिन इसका हल आखिर क्या है? यह हल श्रीमती नमिता लुम्बा 'अपराजिता'-जैसी कहानियों में देती हैं जहाँ समाज के बन्धनों को तोड़कर प्रेमिका अपने प्रेमी के साथ विवाह कर सकने में सफल होती है।

साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होने पर भी 'सरिता' और 'धर्मयुग' के ढंग की ये पारिवारिक कहानियाँ सामान्य पाठकों को पसन्द आयँगी, इसकी आशा की जा सकती है।

'संघर्ष के बाद' में श्री विष्णु प्रभाकर ने 'मेरी कैफ़ियत' के अन्तर्गत इतना कुछ कह दिया है कि इस संग्रह की कहानियों के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानना-कहना शेष नहीं रहता। विष्णु प्रभाकर पुराने लेखक हैं, पिछले बीस वर्षों से तो लगातार लिख रहे हैं। उनकी कहानियाँ इस बीच पुरस्कृत और सम्मानित भी हुई हैं। जैसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—प्रारम्भ में उन पर आर्यसमाज का प्रभाव रहा है और आज भी जैसे वह प्रभाव छूटा नहीं है तभी तो एक विशेष प्रकार की आदर्शवादिता का मोह उन्हें बाँधे हुए है। वे उन कहानीकारों में नहीं हैं, जो समाज के समूचे खोखले ढाँचे का पर्दाफ़ाश करके रख देते हैं और कहते हैं—देखो, यह तुम हो! तुम कितने घृणित हो!

इसके विपरीत, विष्णु प्रभाकर का ढंग दूसरा है। समस्या का विश्लेषण तथा प्रस्तावना वे पहले ही ढंग से करते हैं। स्थिति की भयंकरता को दिखाने में वे किसी से कम नहीं हैं, किन्तु उसे प्रायः एक ऐसा मोड़ दे देते हैं कि वह सारी विषमता एक मनोहर स्वप्न में परिणत हो जाती है। विष्णु प्रभाकर निर्मम नहीं हो पाते, उनमें एक विचित्र-सी नैतिक सहानुभूति है और

नैतिक सहानुभूति को एक लेखक ने अक्षम्य रूढ़ि कहा है। अक्षम्य वह न भी हो, रूढ़ि तो है ही। जो भी हो, इस संग्रह की बहुत-सी कहानियों को पढ़ने पर पाठक के मन में अन्याय के विरोध में आवाज बुलन्द करने की प्रवृत्ति नहीं उठती। पाठक भी पात्रों के साथ-साथ विश्वास करने लगता है कि 'सुधार तो होगा ही' और प्रायः तो भ्रमवश यह भी सोचने लगता है कि 'परिस्थिति तो सुधर चुकी है, अब उसके लिए चिन्तित होने की क्या आवश्यकता !' लेखक द्वारा प्रस्तुत आदर्श, यथार्थ-जैसा दिखकर हमें भुलावा देता, दे सकता है—और यह बात ठीक नहीं है।

'स्वप्नमयी' में प्रसिद्ध कहानीकार अजित की बहन अमला भाई को दो पत्र भेजती है। वह स्वयं कहानी-लेखिका बनना चाहती है, इसलिए लिखती है—"कभी-कभी तो मैं आपकी कहानी सामने रख लेती हूँ। आपका प्लाट तो नहीं चुराती पर शैली ज़रूर चुराती हूँ।" पढ़कर लगता है कि स्वयं लेखक यह पत्र लिख रहा है, क्योंकि प्रारम्भ के विष्णु प्रभाकर पर प्रेमचन्द और शरत्-जैसे लेखकों का प्रभाव बिलकुल स्पष्ट है। '३४ की लिखी कहानी 'स्नेह', शरच्चन्द्र की 'मँझली बहन' से बुरी तरह प्रभावित है और '३६ की 'संघर्ष के बाद' तो 'बिन्दो का लल्ला' का छायानुवाद-भर लगती है। 'जीवन-दीप', 'गृहस्थी', 'दूसरा वर' आदि कहानियाँ मौलिक होते हुए भी प्रेमचन्द-प्रसाद की याद दिलाती हैं। इसी प्रकार 'पतिव्रता' शीर्षक कहानी एक विदेशी कहानी का उत्कृष्ट भारतीयकरण ज्ञात होती है।

'अभाव' प्रस्तुत संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। मनोविज्ञान के भीतर इस कहानी की इतनी गहरी पैठ है कि सहसा इसकी मौलिकता पर विश्वास नहीं होता। ऐसी साँचे में ढली कहानी लिख पाने के लिए विष्णु प्रभाकर बधाई के पात्र हैं। फिर भी कहानी के अन्त में प्रोफ़ेसर के चरित्र को दिये गए मोड़ से हम सहमत नहीं हैं। आदर्श होते हुए भी वह अस्वाभाविक है। सच तो यह है कि लेखक की अधिकांश कहानियाँ एक ही जगह टूटती जान पड़ती हैं। वह जगह है—आस्थावादिता, उद्देश्यवादिता, आदर्शवादिता। आस्था आवश्यक है, वाद का आग्रह अनावश्यक। इस आग्रह के वशीभूत होकर ही विष्णु की कुशल लेखनी भी कहानियों को ऐसे स्थल पर परिणति देती है जहाँ अन्त—विशिष्ट, अलग और ऊपर से थोपा हुआ जान पड़ता है।

यों विष्णु प्रभाकर का अपना रंग उन कहानियों में सबसे अधिक उभरा है जो उन्होंने पंजाब के जीवन को या साम्प्रदायिक दंगों को लेकर लिखी हैं। वह सब लेखक का 'आँखों देखा'-जैसा है। दंगों पर लिखी गई 'मैं जिन्दा रहूँगा', 'मार्ग में', 'ताँगे वाला' आदि कहानियाँ हृदय-द्रावक हैं। विष्णु प्रभाकर जीवन के गहरे, अनुभूतिपूर्ण और आवेगात्मक पलों को बड़ी सरलता से पकड़ लेते हैं और कहानी के विधान में भली प्रकार निभाते हैं। अक्सर ये 'मूड्स' इतने सूक्ष्म और संवेदनपूर्ण होते हैं कि कविता के 'मूड्स' जान पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'अगम-अथाह' को लें। अपने मूल रूप में इस कहानी का भाव भी एक करुण कविता का भाव है जिसने अपने रंग-रूप-आकार के कारण एक सफल कहानी का रूप धारण किया है।

'स्वप्नमयी' में ही अमला लिखती है : "जीतने के लिए प्रयत्न करना ही सबसे बड़ी सफलता है। तब मैं फिर उत्साह से भरकर पन्ने रँगने लगती हूँ। पन्ने रँग-रँगकर ही तो आज आप एक महान् कथाकार बन गए हैं। मैं भी बनूँगी।" विष्णु प्रभाकर ने भी जीतने के लिए ही पिछले बीस वर्षों से निरन्तर प्रयत्न किया है। पुराने प्रभावों को हटाया है और कला

तथा शिल्प में परिष्कार लाए हैं। आज वे बीत भी गए हैं और यही कारण है कि प्रस्तुत संग्रह में संकलित १९५०–५३ के बीच लिखी गई— 'गृहस्थी', 'जज का फ़ैसला', 'सम्वत' और 'डायन' आदि—उनकी ऐसी कहानियाँ हैं जिन पर कोई भी साहित्य गौरवान्वित हो सकता है।

श्री कमल जोशी के संग्रह 'चार के चार' की कहानियाँ सब एक-सी अच्छी हैं। स्तर में विशेष अन्तर नहीं मिलता। सधी क़लम से वे लिखी गई हैं, इसीलिए यदि कहीं ऐसा जान भी पड़ता है कि कहानी बन नहीं पा रही है तो यह संशय अन्ततः भ्रम ही सिद्ध होता है। कहानी कैसी भी क्यों न हो, अन्त में कमल जोशी उसे सँभाल ही लेते हैं। इससे ज्ञात होता है कि दृष्टि उन्होंने कहानीकार की पाई है।

बिना भूमिका के कहानी में सीधा प्रवेश—यही कमल जोशी की शैली है। कथा का सूत्र बीच में से पकड़कर ही वे प्रारम्भ कर देते हैं और कुछ इस तरह बढ़ते हैं कि पहले की कथा दुहराने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिए इन कहानियों में उत्तर-घटना को बताकर पूर्व-घटना का परिचय देने की विधि बिलकुल छोड़ दी गई है। कई कहानियाँ, भूत तथा भविष्य-काल की क्रियाओं में लिखी होने पर भी, प्रत्यक्ष वर्तमान में घटती हैं। सम्पूर्ण इतिवृत्त को न लेकर ये अपने आकार में उतनी ही घटना लेती हैं जितनी कथा-मात्र के लिए आवश्यक है। इनके प्रारम्भ में देखिए:

"सिगरेट समाप्त कर सतीश ऑफ़िस जाने के लिए तैयार होगा।"...[1]

"हजारीलाल ने आत्म-हत्या कर ली...।"[2]

"काफ़ी खोज-तलाश के बाद अब मैंने एक नया पार्क ढूँढ लिया है..."[3] आदि

'कन्हैया की माँ' शीर्षक कहानी नारी-मनोविज्ञान के रोचक पहलुओं पर प्रकाश डालती है। कन्हैया की माँ-जैसी स्त्रियाँ पराधीन रहना पसन्द नहीं करतीं, घर बसाने की कल्पना उन्हें असह्य है, बाजारू औरतों का जीवन ही उनका जीवन है—सच है। लेकिन हर सहारे को ठुकराने के प्रयास में एक पागल व्यक्ति के प्रति करुणा से भरकर—स्वयं उसे सहारा देकर—अन्ततः खुद उस पर मन, प्राण से आश्रित हो जाना—नारी का स्वभाव ही कुछ ऐसा विचित्र है। इससे मिलते-जुलते वातावरण का अंकन करने वाली दूसरी कहानी 'चार के चार' है। 'चार के चार' एक पुरानी बात को नये परिवेश में प्रस्तुत करती है। भिखारियों के ऐसे सहकार जीवन-यापन की सुविधा के लिए आम तौर पर बन जाते हैं जहाँ एक माँगता-कमाता है, दूसरा खाना बनाता है। इस कहानी का पुरानापन समस्त प्रेम-कहानियों का ही पुरानापन है। अनुराग, अवैध सम्बन्ध, प्रतिहिंसा—सारी बातें हमारी जानी-पहचानी हैं, पर 'वेन्यू' बिलकुल नया है, और इसीलिए कहानी के अन्तिम वाक्य हमारे कानों में देर तक गूँजते रहते हैं। लँगड़े भिखारी के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण कपासी गर्भवती हो जाती है। इस सूचना को पाने पर उसके अन्य दोनों साथी लँगड़े को मार-पीटकर भगा देते हैं। लँगड़े के चले जाने के बाद—

"निर्विकार पत्थर की तरह कपासी बैठी रही। कुछ वक्त कटा। काने ने एक बार रसिकता की कोशिश की—'ख़ैर, हमारे दल में चार थे, चार जने फिर हो जायँगे, हा, हा

१. स्वप्न के आखिर में।

२. लाश।

३. कामरेड।

हा''''' लूले की फटकार सुनकर वह चुप हो गया।"

रसिकता एवं परिहास की इस रुचि का परिचय पाकर हम स्तब्ध रह जाते हैं।

कमल जोशी की अधिकांश कहानियाँ 'चरित्रों' पर आधारित हैं। ये चरित्र मूलतः व्यक्ति के चरित्र हैं जो कहीं-कहीं अपने वर्ग के चरित्र का भी परिचय देते हैं। उनके पात्रों की प्रकृति तथा स्वभाव सामान्य से कुछ अधिक विशिष्ट है। उनमें परिवर्तन भी होते हैं। कमल जोशी की कला की सफलता का रहस्य यही है कि इस चरित्र-परिवर्तन का आधार वे गहरी मनोवैज्ञानिकता को बनाते हैं और यहीं वे हिन्दी के पहले खेवे के कहानीकारों से भिन्न हैं। वे 'चरित्र-चित्रण' के आधारों की पूर्ण व्याख्या तथा विश्लेषण करते हैं। इन्सान को सतही तौर पर पेश करने वाली 'हृदय-परिवर्तनवादी' कलाकारिता से जोशी की कला भिन्न है।

इस प्रकार कहानी की घटनाओं को भी इन्होंने कुशलता के साथ क्रमबद्ध किया है। इसीलिए उनकी कहानियाँ पूर्व-निर्धारित क्रम के अनुसार परिचालित होती नहीं जान पड़तीं। एक घटना से दूसरी घटना और एक क्रिया से दूसरी प्रतिक्रिया विकसित होती दिखती है।

कहानियों में दोष खोजना आवश्यक नहीं है। बहुत-सी दृष्टियों से कमल जोशी की कहानियाँ निर्दोष हैं, पर एक बात अवश्य है कि आदमी के बहुत अच्छे स्वभाव का, बहुत स्वस्थ मनोविज्ञान का अथवा बहुत अनुकरणीय चरित्र का अंकन ये कहानियाँ नहीं करतीं। इसके विरुद्ध इन कहानियों के पात्र अधिकांशतः विकृत, छली, कुण्ठित तथा कलुषित ढंग के लोग हैं। अस्तु, मानव-चरित्र के जिस पहलू पर विष्णु प्रभाकर आवश्यकता से अधिक बल देते जान पड़ते हैं, उसका अभाव इन कहानियों में खलता है। मानव के प्रति सही दृष्टिकोण कदाचित् इन दोनों के बीच कहीं है।

इन पुस्तकों में संग्रहीत कहानियाँ एक विस्तृत जीवन-भूमि का परिचय देती हैं। इन सभी लेखकों ने अपना-अपना ढंग विकसित कर लिया है। यदि इन पुस्तकों में उनकी प्रतिनिधि कहानियाँ संग्रहीत हैं (जो शायद हैं) तो हम पाते हैं कि इन लेखकों को जो-कुछ भी कहानी के माध्यम से कहना है—वह सब धीरे-धीरे उनके सम्मुख निश्चित और स्पष्ट होता गया है। कुल मिलाकर अपनी कहानियों में यदि विष्णु प्रभाकर एक भावुक और आदर्शवादी स्वप्नद्रष्टा हैं तो रामकृष्ण अन्यायी तथा अक्षम शासन के प्रति विद्रोह करने वाले एक सैनिक। कमल जोशी यदि विभिन्न चरित्रों तथा परिस्थितियों के कुशल-निर्मम चित्रकार हैं तो नमिता लुब्धा प्रेम तथा परिवार की मधुर-तिक्त अनुभूतियों को कथा-सूत्र में पिरोती हैं।

अस्तु, इसमें सन्देह नहीं कि इन संग्रहों में हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। सेक्स, प्रेम, परिवार, राजनीति, क्षुधा, साम्प्रदायिकता, व्यक्ति, समाज, सार्वदेशिकता और तत्कालीनता—सभी का 'दर्शन-दिग्दर्शन' इनमें मिलता है। इस दृष्टि से ये किसी भी साहित्य की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं। उत्कर्ष-अपकर्ष को देखें तो कलात्मक प्रतिभा और शिल्प-नैपुण्य कमल जोशी में सबसे अधिक है, रामकृष्ण में यह सबसे कम पर आग तथा विद्रोह सबसे अधिक। अन्तर्दृष्टि विष्णु प्रभाकर में उच्चकोटि की है और मनमोहकता श्रीमती नमिता लुब्धा में बहुत-कुछ।

इस सबसे बढ़कर उपर्युक्त लेखकों की विशेषता यह है कि उन्होंने कहानियाँ किसी विशेष वर्ग के लिए नहीं लिखीं। इनके अभिप्रेत पाठक समूचे हिन्दुस्तान की जनता में फैले हैं। ये कहानियाँ अगम, दुर्बोध तथा अस्पष्ट नहीं हैं। मनोविज्ञान, प्रतीक-पद्धति, सांकेतिकता आदि

विधियों को अपनाकर भी इनमें 'निश्चित इतिवृत्त तथा स्पष्ट सहानुभूति का ह्रास'[1] नहीं हुआ है। ये तत्त्व इनमें प्रचुरता के साथ हैं और इसलिए इस भय का कारण नहीं है कि ये तथा इनकी-सी आजकल की असंख्य कहानियाँ पाठकों की समझ में नहीं आ रही हैं।[2]

गंगाप्रसाद मिश्र

चाँद-सूरज के बीरन

'चाँद-सूरज के बीरन' श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्म-कथा का प्रथम भाग है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी को किशोरावस्था से ही लोक-गीतों के भाव-माधुर्य ने मोह लिया था और लोक-गीतों के इस आकर्षण ने ही उन्हें एक परिवार और एक ग्राम की सीमाओं में बँधकर न रहने दिया। उनके इस आकर्षण की विशेषता यह थी कि उन्हें किसी एक ही बोली के गीतों का आकर्षण न मोहित करता था, जहाँ पंजाबी के गीत उन्हें अच्छे लगते थे वहीं अपने स्कूल के चपरासी वंशी के पूर्वी और अपने सहपाठी वजीरखान के लाउई के गीत भी। गीतों के इस व्यापक आकर्षण ने सत्यार्थी के पैरों में वह चक्कर उत्पन्न किया जिसके विषय में गाँव के ज्योतिषी ने पहले ही आशंका प्रकट कर दी थी।

पुस्तक का नाम 'चाँद-सूरज के बीरन' जैसा रोमाण्टिक है वैसा ही सार्थक भी। चाँद और सूरज नित्य-प्रति पृथ्वी की परिक्रमा करते-करते कभी नहीं थकते, वैसी ही प्रकृति तो देवेन्द्र सत्यार्थी ने भी पाई है।

प्रस्तुत पुस्तक में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के बचपन से लेकर युवावस्था के पदार्पण तक का चित्र है। लेखक ने उन सब प्रभावों को बड़ी सुन्दरता से सँवारा है, जो उसके व्यक्तित्व को बनाने में सहायक हुए हैं। अपने परिवार और ग्राम भदौड़ का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र उसने खींचा है। जिन व्यक्तियों ने उसके जीवन को अधिक प्रभावित किया है उनमें मौसी भागवन्ती, भाभी धनदेवी, माँ, माजी, ताई गंगी, फत्तू, बाबा और उसका सहपाठी तथा मित्र आसासिंह हैं। इन सबके स्नेह से देव का व्यक्तित्व जिस प्रकार माखन की पुतली की भाँति कोमल, भावुक और सरस बनता है, उस पूरे कार्य-कलाप के शब्द-चित्र देने में लेखक को बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। इस आत्म-कथा को पढ़ते समय एक बात सदैव मेरे मन में आती रही है कि नगर और ग्राम के बालकों में एक सबसे बड़ा अन्तर यह होता है कि किराये के मकानों में रहने वाले, आज यहाँ कल

१. 'हिन्दी कथाशिल्प में कथानक का ह्रास'—'आलोचना' अंक ७।

२. 'अपना राज : अपने आदमी', लेखक—रामकृष्ण, प्रकाशक—ऋता प्रकाशन, पोस्ट बाक्स १२, लखनऊ।
'जिन्दगी के अनुभव', लेखिका—नमिता लुम्बा, प्रकाशक—सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।
'संघर्ष के बाद', लेखक—विष्णु प्रभाकर, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
'चार के चार', लेखक—कमल जोशी, प्रकाशक—शुभ्रा प्रकाशन, २६ कण्ट्राक्टर्स (वेस्ट) जमशेदपुर।

वहाँ स्थानान्तरित हो जाने वाले परिवारों में पलने वाले बच्चों का प्रकृति से उतना नैकट्य कभी नहीं स्थापित हो सकता जितना ग्रामीण बच्चों का; जो घर की गाय, भैंसों, बैलों और बकरियों से ही एक अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं पाते बल्कि जिन्हें घर के सामने के पीपल और बरगद पुरानी कहानियाँ सुनाते प्रतीत होते हैं और खेत के नन्हे-नन्हे पौधों की पत्तियाँ जीवन का नया सन्देश देती प्रतीत होती हैं। बचपन से ही देव के स्वभाव में एक स्वच्छन्दता है, व्यर्थ के बन्धनों के प्रति उसके मन में एक प्रकार का आक्रोश और विद्रोह है। भय से कोई काम उससे नहीं करवाया जा सकता, प्रेरणा और आदर्श उससे चाहे जो करवा लें। गीत, लोक-गीत, ग्राम-गीतों की, चाहे वह किसी प्रदेश या बोली के हों, भाव-सुकुमारता तथा आडम्बरहीनता-जैसे बचपन से ही उसका जीवन-संगीत बन गई थी। उसके सहपाठी आसासिंह ने उसके इस शौक को और खराद चढ़ाई, राधाराम ने भी इसमें सहायता दी और नागरिकता के कायल लोगों का यह कथन कि जो बात उर्दू की शायरी में है वह गँवारू गीतों में कहाँ आ सकती है उसके मन को न डिगा सका। लोक-गीतों के प्रति प्रेम उसके मन में गहरे-से-गहरा उतरता चला गया और एक दिन उसने अपना यह रंग दिखलाया कि उन्हींके चक्कर में वह अपने परिवार और माता-पिता को छोड़कर निरवलम्ब चल दिया। ग्राम-गीतों के इस प्रेम की तुलना किसी संसारी प्रेम या लगन से न करके किसी आस्तिक के अपने इष्टदेव के प्रति प्रेम से ही की जा सकती है। 'चाँद-सूरज के बीरन' को पढ़कर यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि लोक-गीत ही देवेन्द्र सत्यार्थी का जीवन है, यदि इन्हें उनके जीवन से निकाल दिया जाय तो जैसे जीवन का सार ही निकल जाय।

देवेन्द्र सत्यार्थी अपनी आत्म-कथा से स्पष्ट ही आदर्शवादी दिखलाई देते हैं। इस आत्म-कथा में यदि मुझे कोई कमी दिखलाई दी तो वह मानसिक दुर्बलताओं के चित्रण की कमी—आत्मघात वाली घटना ही एक दिखलाई दी।

'चाँद-सूरज के बीरन' में कहीं-कहीं बड़े ही हृदयग्राही और मार्मिक गीत लेखक ने दिये हैं, जिनके भावों की सुकुमारता, आडम्बरहीनता, विचारों का अछूतापन तथा कौमार्य मन को विद्ध कर देता है। कुछ उदाहरण देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। पंजाबी और उनका आशय देने के बदले केवल आशय ही दिये देता हूँ :

"कब्रें इन्तजार करती हैं, जैसे माताएँ बेटों का इन्तजार करती हैं।"

कब्र और माँ की यह तुलना निश्चय ही अद्भुत है।

"ओ चाँद, तेरी और मेरी चाँदनी; ओ तारे, तेरी और मेरी धमक, ओ री ओ! चाँद रोटियाँ पका रहा है, तारा रसोई कर रहा है, ओ री ओ! चाँद की पकाई हुई रोटियाँ मैंने खा लीं, तारे की रोटियों में से भी दो ही बची रह गईं, ओ री ओ! सास ने मुझसे कहा, 'घी में मैदा गूँधो।' ओ री ओ! घी में मैदा कम पड़ा, सास मुझे गालियाँ दे रही है, ओ री ओ! ओ सास, मुझे गालियाँ मत दे, यहाँ हमारा कौन सुनेगा, ओ री ओ! महलों के नीचे खड़ा है मेरा बाप, तुम्हारी गालियाँ सुन-सुनकर उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं, ओ री ओ! न रो बाबुल, न रो, बेटियों के दुःख बहुत बुरे होते हैं, ओ री ओ! चाचे का बेटा भाई लगता है, वह मेरे पास से गुजर गया। मेरा अपना बीरन होता तो नदियों को चीरता हुआ मुझे आ मिलता। ओ री ओ!"

इस गीत की मार्मिकता की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है, बात चाहे कितनी ही

पुरानी हो परन्तु हृदय को झकझोर देती है।

ये वह कोमल गीत हैं जो देवेन्द्र सत्यार्थी को जैसे घुट्टी में ही मिल गए थे, इन्हींने उनके जीवन को बनाया, सँवारा और प्रेरणा दी है। इन्हें जाने बिना देव के व्यक्तित्व के विकास को नहीं समझा जा सकता।

देवेन्द्र सत्यार्थी की गद्य-शैली बड़ी स्वाभाविक, शब्दाडम्बरहीन, पर सशक्त है। भावों को प्रकट करने की प्रचुर क्षमता उसमें है। दृश्यों का चित्रण करने में और कल्पना की ऊँची उड़ानें भरने में हमें सत्यार्थी के कवि के दर्शन होते हैं, पर उनकी काव्यात्मकता न तो उनकी शैली को बोझिल ही बनाती है न गद्य-काव्य के निकट ही पहुँचा देती है; जैसा अक्सर कवियों के गद्य में हो जाता है।

मुझे यह पूर्ण विश्वास है कि देवेन्द्र सत्यार्थी की इस आत्म-कथा के प्रथम भाग का हिन्दी-जगत् में खूब ही स्वागत होगा और पाठक आगामी तीन भागों की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे, जो निश्चय ही अधिक रोचक होंगे, क्योंकि उनमें सत्यार्थी जी के पर्यटन की कथा होगी।[1]

ति० शेषाद्रि

भारतीय साहित्य का परिचय (तमिल)

इस पुस्तक का गेट-अप, छपाई आदि सुन्दर है। छपाई की भूलें नहीं के बराबर हैं; और जो दो-चार-भूलें यत्र-तत्र दिखाई देती हैं वे भी शायद तमिष् के अक्षरों की अनभिज्ञता के कारण हुई हैं। उदाहरण के लिए उयिरेळुतु[2] शब्द को लें, ळु की जगह लु या षु होना चाहिए। 'कुरिग्जि-वकली'[3] शब्द अवश्य ग़लत छपा है।

तमिष् की एक विशेष ध्वनि ष् है उसका संकेत सर्वत्र एक समान नहीं किया गया है। यह बात अवश्य खटकती है। मेरी राय में इस ध्वनि का 'ष' के नीचे बिन्दी लगाकर संकेत देना उचित होगा; क्योंकि यह ध्वनि 'ल' या ळ की अपेक्षा ष के अधिक समीप है। इस पुस्तक में इस अक्षर के लिए कहीं ल का व्यवहार हुआ है तो कहीं ळ का, यह अवश्य भ्रम में डाल सकता है।

तमिष् की और एक विशिष्ट ध्वनि है जिसका र के नीचे बिन्दी देकर संकेत किया जा सकता है। वह ध्वनि आर. रि. वु[4] या आर् ऱुप्पडै में पाई जाती है।

अगर लेखक शुरू में इन ध्वनियों का परिचय दे देते और पुस्तक में सर्वत्र उसके अनुकूल सावधानी दिखाते तो अच्छा होता।

१. 'चाँद सूरज के बीरन', लेखक—देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली।
२. पृष्ठ १६।
३. पृष्ठ २१।
४. पृष्ठ १७।

तमिल भाषा और साहित्य के परिचयात्मक ज्ञान की दृष्टि से यह पुस्तक पर्याप्त ही नहीं, बल्कि सुरुचिपूर्ण तथा सुन्दर है। लेखक तमिल-भाषी हैं और दिल्ली में रहते हैं अतः इस काम के लिए बिलकुल उपयुक्त व्यक्ति हैं। तमिल-साहित्य के विशाल कानन का इतना अच्छा तथा सुन्दर परिचय देना अवश्य कठिन काम है, पर लेखक ने अपना उत्तरदायित्व खूब निबाहा है। एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं।

फिर भी जो तमिष और तमिष् साहित्य के ज्ञाता हैं वे एक बार पुस्तक पढ़कर यही समझेंगे कि लेखक ने ऊपर-ऊपर की सुनी या पढ़ी बातों का आधार लेकर यह पुस्तक तैयार की है।

इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) कवि-परिषद्[1] का जो नाम इस पुस्तक में आया है उसका तमिष् मूल 'पुलवर-संघ' है। 'पुलवर' कवि का समानार्थी नहीं है, यद्यपि कवि पुलवर भी हो सकता है, अतः 'पुलवर' को पण्डित के अर्थ में अनूदित करना अधिक युक्त होगा।

(२) इसी प्रकार 'आररिवुयिर' को छः बुद्धि वाले कहकर समझाने का प्रयास किया गया है। पता नहीं, हिन्दी-भाषा-भाषी उसे ठीक तरह से समझ सकेंगे? पाँच इन्द्रिय-ज्ञान के अतिरिक्त विवेकयुक्त मनुष्य को 'आररिवुयिर' कहा जाता है। मेरी सम्मति में इस बात को समझाकर कहना आवश्यक था।

(३) 'आष्वार'[2] का अर्थ 'रक्षक' दिया गया है। लेकिन तमिल में 'आष्वार' शब्द भी है और एक 'आलवार' शब्द भी है। 'आलवार' का अर्थ रक्षक है और 'आष्वार' का अर्थ है 'जो डूबे रहते हैं'। वे सदा भगवद्गुणार्णव में डूबे या मग्न रहते थे, अतः उनकी उपाधि आषवार पड़ी।

अब कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं, जिनमें पद्यों के अर्थ करने में असावधानी बरती गई है, जिससे उनका अर्थ-गौरव घट गया है या भाव विपरीत हो गया है अथवा समझने में भ्रम हो सकता है—

(१) 'विशालकाय हाथी जब जलाशय में पड़ा रहता है'[3] आदि का मूल इस प्रकार है—

इक्कुरु माक्कळ वेण् गोडु कषा अलिन्
नीत्तुरै पडियुं पेरुं गलिरु पोल्—

इसमें 'वेण्गोडु कषाअलिन्' का अर्थ है 'सफ़ेद दाँत साफ़ करें, इस उद्देश्य से' लेखक के अर्थ से ऐसा लगता है मानो हाथी पहले ही पानी में हो, बालक नटखटपन कर रहे हों और हाथी उसे सह रहा हो। असल बात यह है कि हाथी सफ़ेद दाँतों का मैल दूर करना चाहता है। इसी कारण वह जलाशय में पड़ा रहता है। अगर यहाँ अर्थ 'जलाशय' का विद्वानों की संगति से, 'बालक' का पण्डित कवि से और 'साफ़ करने' का सदुपदेश देने से लगाया जायगा तो इस पद्य का अर्थ-गौरव तथा सौन्दर्य नष्ट हो जायगा।

(२) 'पारि'[4] सम्बन्धी पद्य का भावार्थ साफ़ नहीं हुआ है।

१. पृष्ठ १४।
२. पृष्ठ २६।
३. पृष्ठ २८।
४. पृष्ठ ३०।

(३) 'तिरुवल्लुवर'[1] के सम्बन्ध में लिखा गया है। 'तिरुक्कुरल' से काफ़ी भावार्थ भी दिये गए हैं। लेकिन यह पता नहीं लगता कि लेखक ने निश्चित पद्यों को लेकर, उनके अनुवाद दिये हैं या समूचे ग्रन्थ के अध्ययन से निष्कर्ष निकालकर भावार्थ प्रस्तुत किया है। अगर अनुवाद ही हों,. तो पद्य-संख्या देने से यह भ्रम दूर हो जाता।

एक वाक्य है : 'स्त्री से महान् और कौन है यदि वह शील रूपी सुदृढ़ शक्ति से युक्त हो तो....'[2]

अगर यह व्याख्या लेखक की अपनी शैली में है तो कहना पड़ेगा कि भाव में गम्भीरता नहीं है, और 'तिरुवल्लुवर' के अर्थ-गौरव को स्पष्ट नहीं करती है। अगर किसी पद्य का अनुवाद है तो अनुवाद जल्दी में असावधानी से किया गया है।

शायद यह इस कुरळ का अनुवाद है :

पेण्णिर् पेरुन्दक्क, याकुळ कर् पेन्नुन्
तिण मैयुण्डाहप् पेरिन्

[जो सतीत्व की दृढ़ता रखने वाली हो ऐसी स्त्री से बढ़कर श्रेष्ठ सम्पत्ति क्या है—कुछ नहीं है।]

(४) इसी तरह 'रूठना'-सम्बन्धी जो नमक वाली उपमा दी गई है उसके लिए 'कुरळ' में आधार नहीं मिलता।

विषय के ज्ञान के सम्बन्ध में भी कुछ भ्रम के उदाहरण हैं—

(१) कहा गया है कि 'शिलप्पधिकारम्'[3] नाटकीय शैली में रचित सर्वांग-सुन्दर काव्य है। तमिष के साहित्यज्ञ जानते हैं कि यह ठीक नहीं है।

(२) आण्डाल के बारे में बात करने वाला कोई 'तिरुप्पावई' का नाम तक लेना भूल जाय, यह समझना कठिन है। यह किसी भी तमिष् देशवासी के मन में एक खीझ पैदा करेगा। शायद लेखक को पता नहीं है कि 'तिरुप्पावई' 'नाच्चियार तिरुमोषि' के अन्तर्गत नहीं आया है यद्यपि तिरुमोषि का अर्थ 'श्रीसूक्तियाँ' है। 'पावै व्रत' 'काम व्रत' से अधिक प्रसिद्ध है और 'तिरुप्पावई' का ही अधिक महत्त्व है।

(३) लेखक ने भारतीदासन् की प्रशंसा खूब की है। एक कलाकार के रूप में इनको इतनी प्रशंसा मिलनी भी चाहिए थी। लेकिन नामक्कल रामलिंगम् पिल्लै का परिचय अधूरा है। लेखक यह मानेंगे कि कला उस समय हेय हो जाती है जब वह हेय भावों का प्रचार करने लग जाती है।

भारती दासन् के घातक प्रचार का कोई सबल प्रतिद्वन्द्वी है तो वह नामक्कल रामलिंगम् पिल्लै हैं। कविता के ही क्षेत्र में वे उसका यथायोग्य जवाब देकर राष्ट्रीय एकता, भक्ति की दृढ़ आस्था, गांधीवादी सिद्धान्तों के आधार पर सामाजिक उन्नति तथा आर्थिक उत्थान आदि का प्रचार तथा प्रसार कर रहे हैं। उनके मूल्यांकन में लेखक अवश्य चूक गए हैं। भारती दासन् को पढ़ने वाले तमिष-संस्कृति का अच्छा परिचय प्राप्त नहीं कर सकते।

१. पृष्ठ ३२।
२. पृष्ठ ३४।
३. पृष्ठ ३८।

लेखक ने 'नेडुन्तोगै' का नाम दिया है, और बाद में वे अहनानूरु[1] की चर्चा करते हैं। दोनों एक ही चीज के नाम हैं, लेखक यह कहना भूल गए हैं।

लेखक यदि 'आररूप्पडै' का शाब्दिक अर्थ भी दे देते तो समझना सरल हो जाता।

आधुनिक काल के साहित्यिकों में लेखक कुछ मान्य व्यक्तियों के नाम छोड़ गए हैं; जैसे औवै दोरैसामी पिल्लै, डॉ० मा० राजमाणिक्कम् पिल्लै आदि हैं। शायद ऐसा इसलिए हुआ कि पुस्तक छोटी है और स्थान का अभाव था।

एक बात का मैं स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ। लिखा गया है—"बी० एस० रामैया इधर कुछ वर्षों से साहित्य-जगत् से दूर हट गए हैं यह खेद की बात है।"[2]

उनके आश्वासनार्थ मैं यह कहना चाहूँगा कि बी० एस० रामैया की कहानियाँ अब सभी पत्र-पत्रिकाओं को सजाने लगी हैं। परन्तु प्रश्न है एक व्यक्ति-विशेष के प्रति इतना पक्षपात क्यों ? उनके समकक्ष लेखकों के बारे में तो लेखक भूल ही गए।

'चन्दा मामा' के तमिल रूप का नाम 'अंबुली मामा' है।

इन साधारण भूलों के बावजूद प्रस्तुत पुस्तक सुरुचिपूर्ण है। इसका विषय-संकलन बहुत उत्तम रीति से किया गया है।

अगले संस्करण में यदि इन त्रुटियों को दूर किया जायगा तो पुस्तक और भी उपादेय हो सकेगी।[3]

राजेन्द्रप्रसादसिंह

प्रगतिशील चिन्तन और साहित्य

'प्रगति' एक सापेक्ष अर्थ रखने वाला शब्द है। किसी युग, राष्ट्र, समाज या व्यक्ति के सम्बन्ध में जब इस शब्द का प्रयोग होता है, तो एक अवस्था, क्रिया या विचार का दूसरे इन तत्त्वों से बढ़ जाना ही सामान्य अभिप्राय रहता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि समय के व्यतीत हो जाने से ही 'प्रगति' की संज्ञा सार्थक हो जाती है, प्रत्युत एक स्थिति के कुछ प्रमुख तत्त्वों का दूसरी में विकास हो जाने से होती है। परिवर्तन ही प्रगति नहीं है; प्रगति की प्रक्रिया में परिवर्तन, विकास या क्रान्ति घटित हो सकती है।

इस सम्बन्ध में डॉ० रांगेय राघव की नवप्रकाशित पुस्तक 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' की कुछ पंक्तियों पर ध्यान जाता है : "प्रगति जन-कल्याण है, कितनी अधिक, कितनी कम, इसका निर्धारण प्रगतिशीलता के मानदण्ड कर सकते हैं। प्रगति संसार में

१. पृष्ठ २२।

२. पृष्ठ ११७।

३. 'तमिल और उसका साहित्य', लेखक—पूर्ण सोमसुन्दरम्, सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन', प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली : बम्बई।

सदैव रही है—जीवन में भी, साहित्य में भी, किन्तु अब हम जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं, वह सामाजिक तथा राजनीतिक विश्लेषण के आधार पर स्थित है और उसीके आधार पर हम किसी कवि को तत्कालीन समाज और तत्कालीन राजनीति में सापेक्ष्य रूप से रखकर उसकी आलोचना करते हैं।" प्रगति के सम्बन्ध में हमारी यह 'अब' की धारणा निश्चय ही प्रगति के क्षेत्र को 'विचार' की स्वतन्त्र विकास-परिधि से हटाकर 'व्यवस्था' के संकिन वृत्त में ला देती है और मात्र-व्यवस्था के आधार पर विचार को अवलम्बित सिद्ध कर, 'प्रगति' के अर्थ को सीमित कर, 'प्रगतिशीलता' बना देती है। उपर्युक्त धारणा में 'विश्लेषण' को ही आधार माना गया है, जो सामाजिक और राजनीतिक होने के कारण मनोगत मूल्यों के प्रति पूर्ण न्याय की शक्ति नहीं रखता, यह प्रायः सिद्ध ही है। मनोगत मूल्यों की स्थिति व्यक्ति की विशिष्टताओं पर भी बहुत-कुछ निर्भर रहती है, यद्यपि सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव, उसकी व्यावहारिक गति-विधि के माध्यम से, उस स्थिति के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। किन्तु उक्त पुस्तक के लेखक ने स्पष्ट ही लिखा है: "समाज में ही मनुष्य का इति-अथ है। अतः प्रगतिशील विचारक उन सब विचार-धाराओं को गलत मानता है, जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती हैं।" व्यक्ति की उन विचार-धाराओं को वह ठीक नहीं समझता जो समाज में शोषण को प्रश्रय देती हैं और मनुष्य को मनुष्य से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से घृणा करना सिखाती हैं। अवश्य ही ऐसी विचार-धाराओं का खण्डन होना चाहिए, यदि उनके पीछे सामाजिकता, सर्वांगीणता, बन्धुत्व और साम्य के विरुद्ध षड्यन्त्र कर स्वार्थ-पोषण का लक्ष्य छिपा रखा गया हो और उनकी सैद्धान्तिक स्थापनाओं में आत्मानुभूति के बदले मात्र विडम्बना भरी हो, साथ ही उनके द्वारा निर्दिष्ट आचार-विधान से सिद्ध होता हो कि समकालीन युग-चेतना के विकास की सीमा को वर्ग-स्वार्थ के लिए ही संकीर्ण कर लिया गया। ऐसा इसलिए कि युग-चेतना की विकास-सीमा के कारण, सामाजिक वर्ग-स्वार्थ के पोषण की प्रवृत्ति सुप्त रहने पर, जो विचार-धाराएँ व्यक्तियों की आत्मानुभूति से सहज ही फूटकर समाज में स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होती हैं; उन पर आधुनिक वर्ग-विश्लेषण की दृष्टि से वर्ग-स्वार्थ के लिए षड्यन्त्र का आरोप करना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। रांगेय राघव ने भी स्वीकार किया है: "प्राचीनों की सीमाएँ थीं। वे जिस युग में रहते थे, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाते थे। कार्लमार्क्स के पहले यह ज्ञान समाज को नहीं था।" तब ऐसे आरोपों पर भी पुनर्विचार होना चाहिए। विचार-धाराओं के एकांगी होने की बाबत भी कुछ ऐसी ही बात है। जिसे हम आज एकांगिता समझते हैं, वह कभी मूल रहस्य या अनिवार्यता के रूप में भी मानी गई हो सकती है। ऐसी विचार-धाराएँ अपने युग-परिवेश में अपेक्षाकृत प्रगतिशील भी सिद्ध हो सकती हैं, जिसे स्वीकार करने के लिए व्यापक सामाजिक मानदण्ड आवश्यक है। रांगेय राघव बहुत दूर तक उस उदार मानदण्ड के समर्थक और प्रयोक्ता हैं, किन्तु सहज आत्म-चिन्तन के द्वारा उद्गत प्राचीन व्यक्तिवादी विचार-सरणियों की मूलगत निर्लेपता पर वे विश्वास-पूर्वक जोर नहीं देते—मात्र इसलिए कि इतिहास की दृष्टि से समाज-व्यवस्था पर उनके फल शोषण-प्रधान हुए। किसी समाज-व्यवस्था को जब तक उसके लोग वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से निर्मित और स्वीकृत नहीं करते, तब तक उस पर शोषण-प्रधान होने का आरोप ठीक नहीं, वह समकालीन युग-चेतना की विकास-सीमा के अनुसार आदर्श व्यवस्था के रूप में भी स्वीकृत हुई हो सकती

है। तब तत्कालीन शोषक-शोषित-सम्बन्ध में भी घृणा और विवशता के बदले औचित्य और सन्तोष का शान्तिमय वातावरण मान लिया जायगा। ऐसी स्थिति में, एक काल-खण्ड में मानी गई प्रगति को उसके लिए ही, भविष्य में प्रतिक्रिया नहीं माना जायगा। शायद इसी दृष्टि से रांगेय राघव ने भारतीय साहित्य-परम्परा के सम्बन्ध में स्वीकार किया है : "हमारा साहित्य प्रारम्भ से ही जन-कल्याण की भावना से अनुप्राणित है। उसमें अपने-अपने युग के बन्धनों के अनुरूप शोषित वर्गों की हिमायत की गई है।" फिर भी, न जाने क्यों, आत्मानुभूति के सम्बन्ध में वे लिखते हैं : "अभी तक जिसे आत्मानुभूति कहते रहे हैं, वह व्यक्तिगत वस्तु है, और उच्च वर्गों ने उसकी आड़ लेकर जन-समाज का शोषण किया है।" इस विचार में आत्मानुभूति की मूलगत दिव्यता और निरपेक्षता का अनुपात स्वीकार नहीं किया गया। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व के प्रभाव और शास्त्र-रचना की विवेचना करते हुए वे लिखते हैं : "इन तीन अवस्थाओं में (बर्बर, सामन्त और इस्लाम के युग) क्रम से शास्त्रों ने जो मर्यादा नियत की, वह उच्चवर्गीय लोगों और ब्राह्मणों के स्वार्थ की सिद्धि करती थी।" इस निष्कर्ष में जनता के द्वारा ब्राह्मणों के धार्मिक महत्त्व की स्वाभाविक स्वीकृति और शास्त्रीय नियमों के प्रति एक आत्मीयता के मूल में बसी हुई परम्परागत व्यापक श्रद्धा और हार्दिक सचाई का स्थान नहीं है। लेखक ने श्रद्धा और हार्दिक विश्वास की सहजता कहीं नहीं मानी है; पर ये तत्त्व व्यक्ति की स्वतन्त्र विशिष्टता के द्वारा मनोगत मूल्यों की रचना में गहरा योग देते हैं।

श्रद्धा और आस्था वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अविनाशी और व्यापक तत्त्व हैं। उनकी स्वीकृति बुद्धि और व्यवस्था की दृष्टि से न की जाय पर भावना और चरित्र की दृष्टि से अवश्य होती है। सभी देशों के जन-जीवन के लिए यह एक संस्कृति-संगत सत्य है। भारतीय जन-जीवन के अध्ययन से तो सिद्ध होता है कि मानव-प्रगति की सूक्ष्मतामूलक दिशाओं का निर्देशन श्रद्धा और आस्था ने ही किया है; जो तर्क-विरचित नहीं, सहज हार्दिक तत्त्व हैं।

मस्तिष्क की यह यान्त्रिक व्याख्या शरीर-विज्ञान का एक यथार्थ हो सकती है, जीवन की प्राणवत्ता का सत्य नहीं, क्योंकि जीवन की दृष्टि से न मस्तिष्क एक यन्त्र-मात्र है और न हृदय। जीवन में तो मस्तिष्क उस परिधि का बोधक है, जिसमें उचित-अनुचित और लाभ-हानि की व्यावहारिक और तर्कबद्ध स्थिति रहती है, और हृदय उस घेरे की व्याप्ति का बोधक, जिसमें मानवीय और व्यक्तिगत संस्कार के तत्त्व, अतीन्द्रिय अनुभूतियों की शक्ति और आत्मा की सहज द्रवणशीलता प्रतिष्ठित होती है। रांगेय राघव हृदय और बुद्धि की यह विशिष्ट भिन्नता नहीं मानते; जिनमें सामंजस्य न होने पर ही अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था आती है जो बाहरी संघर्षों का भी सूत्रपात करती है।

मानव-विकास के इतिहास में श्रद्धा और आत्मानुभूति पर आधारित कला और धर्म के विकास का मार्क्सवादी अध्ययन करने वाले मानते हैं कि वर्ग-स्वार्थ और वर्ग-संघर्ष ही उसकी मूल प्रेरणा है; शोषण ही उसकी कारणभूत शक्ति सिद्ध है। डॉ० रांगेय राघव भी लिखते हैं : "मनुष्य का इतिहास प्रमाणित करता है, आज तक शोषण किसी-न-किसी रूप में जीवित रहा है। समाज की व्यवस्था बदली है, वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध बदले हैं, किन्तु पूँजीवाद तक शोषण जारी रहा है, उसके रूप सदैव ही बदलते रहे हैं।" "शोषण किसी भी रूप में हो, प्रगतिशील साहित्य उसका प्रत्येक युग में विरोध करता है। आज ही नहीं, वह कालिदास

के युग में भी यही देखता है कि उस समय कौन शोषक-वर्ग का हिमायती था और कौन नहीं था।" "जैसे-जैसे सामन्तीय समाज-व्यवस्था विषयशील होती गई, वेदान्त का प्रचार उच्च वर्गों में अधिक बढ़ चला और उसने जन-समाज को फिर भाग्यवाद आदि में जकड़ा और शोषण-पद्धति का न्याय देने का प्रयत्न किया। उस वेदान्त का समाज-पक्ष सामन्तवाद था। संसार-भर में धर्म ने जन-समाज को दबाये रखने का काम किया है।" इन धारणाओं से कला, धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में उनकी विषयगत सदाशयता सन्देहजनक जान पड़ती है; किन्तु श्रद्धा, आत्मानुभूति और ज्ञान-सम्बन्धी दृष्टिकोण से मूलतः प्रेरित और नियन्त्रित होने के कारण उनके विकास का प्रच्छन्न अभिप्राय वर्ग-स्वार्थ को प्रश्रय देना नहीं माना जा सकता; आधुनिक अर्थशास्त्रीय दृष्टि से उस विकास का व्यवस्थात्मक फल भले ही वैसा मान लिया जाय। धर्म और कला के विकास में कारणभूत तत्त्व तो शुद्ध रूप से आत्मानुभूति, आत्मबोध और श्रद्धा रही है, उसका ही फल शोषण का प्रसार हो चला हो—ऐसा विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता, जब तक सिद्ध न हो जाय कि धर्म और कला से ही आर्थिक सम्बन्धों का संगठन होता रहा है। धर्मशास्त्र की मान्यताओं ने जिस अनुपात में आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन में भाग लिया है, उस अनुपात में उच्च शासक-वर्गों का प्रभाव उन पर है; पर जिस अनुपात में आत्म-चिन्तन और जीवन-दर्शन की उपलब्धियों को प्रसारित किया है, उस अनुपात में वे व्यवस्था-निरपेक्ष और स्वतन्त्र हैं।

पर डॉ० रांगेय राघव व्यक्तिगत उपासना के विरोधी नहीं हैं और न प्रगतिशीलता को उसका विरोधी मानते हैं। वे लिखते हैं: "प्रगतिशील साहित्य उस शाश्वतवाद का विरोधी नहीं है जो समाज और राजनीति को 'माया' समझकर दूर रहता है और इस प्रकार शोषण को सहायता नहीं देता। वह शाश्वतवाद व्यक्ति का अपना विश्वास है। यदि वह राजनीति और समाज पर अपना बुरा प्रभाव डालता है, तो वह विरोध का पात्र है, अन्यथा व्यक्ति के मन का वह उपासना-क्षेत्र है; जिसकी कोई सामाजिक जिम्मेदारी नहीं है तो प्रगतिशील साहित्य उसका विरोध नहीं करता।" तब व्यक्ति के आत्म-दर्शन के सम्बन्ध में कोई निश्चित दृष्टिकोण न देकर उसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन नहीं करने वाली प्रगतिशीलता, मात्र समाज-सम्बद्ध मानी जायगी। तब वह भी एकांगी और व्यक्ति के 'स्व' को उपेक्षित रखने के कारण एक पूर्ण जीवन-दर्शन नहीं कही जा सकती। तब एक विरोधाभास भी स्पष्ट है कि एक स्थान पर लेखक का मत उद्धृत करना पड़ा है: "प्रगतिशील विचारक उन सब विचार-धाराओं को ग़लत मानता है, जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती हैं।" फिर व्यक्ति को एकांगी होने की स्वतन्त्रता कहाँ रही? किन्तु व्यक्ति के लिए किसी निश्चित जीवन-दर्शन का भी संकेत कहाँ हुआ? एक अन्य प्रसंग में रांगेय राघव ने लिखा है: "मनुष्य का असली काम है ज्ञान प्राप्त करना और सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं का निर्माण करना, प्रकृति पर विजय प्राप्त करके सृष्टि के रहस्यों को खोजना।" किसी भी प्रगतिशील चिन्तक का यह सबसे उदार स्वर माना जायगा; पर मनुष्य के द्वारा अधिकाधिक इन सारे कार्यों का सम्पादन आधुनिक युग में हो रहा है; फिर भी शोषण और स्वार्थ के विरुद्ध उसकी मानवता और नैतिकता नहीं बढ़ रही, जो इन असली कामों को नकली साबित होने से बचा ले। इसका कारण उसके स्वभाव में श्रद्धा और हार्दिक सहानुभूति का ही 'अभाव' है, जो वर्ग-घृणा और आर्थिक तनाव की

भित्ति पर निर्भर है।

मनुष्य का अभ्युदय अनेक प्रकार से रुका हुआ है। उसके जीवन की सारी सम्भावनाएँ विफल होती जा रही हैं। उसकी निर्माण-शक्ति जितनी ही उन्नति करती जाती है वह उतना ही नैतिक ह्रास के गर्त में अनिश्चित भविष्य की ओर लुढ़कता जाता है। ऐसी स्थिति में जहाँ शोषण की श्रृङ्खलाएँ छिन्न कर दी जाती हैं, वहाँ भी व्यक्तियों की अधिकार-लिप्सा और अधिकारियों के सशक्त संकीर्ण स्वार्थ का प्रसार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और जन-प्रगति के लिए जहर बन जाता है।

गोर्की के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ० रांगेय राघव रूस की प्रगति पर भी विचार व्यक्त कर चुके हैं : "मैक्सिम गोर्की रूस में उस समय हुए, जब वहाँ एक अभूतपूर्व परिवर्तन हो रहा था। उन्हें इतिहास के तीन दौर देखने पड़े, उनमें से गुजरना पड़ा और वे प्रत्येक युग के प्रति सचेत रहे। पहला युग था ज़ार का समय, दूसरा युग था क्रान्ति-युग और तीसरा युग था क्रान्ति के बाद का निर्माण-काल। पहले युग में दरिद्रता, दुःख और अन्याय था। दूसरा युग शोषित-वर्ग का वह प्रचण्ड और विराट् संघर्ष था, जिसने तीसरे युग को ला खड़ा किया। तीसरे युग में मनुष्य को इतिहास में पहली बार स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। मनुष्य की यह स्वतन्त्रता अराजकतावादियों और आतंकवादियों की स्वतन्त्रता नहीं थी। यह सामाजिक स्वतन्त्रता थी जिसमें व्यक्ति के अधिक-से-अधिक विकास की सम्भावना सरल हो गई थी।" किन्तु यह प्रश्न सहज ही उठ आता है कि क्या वह सम्भावना सफल भी हुई या हो रही है अथवा कभी भविष्य में हो सकने की आशा से अनुप्राणित है ? रांगेय राघव का इस सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट विचार नहीं मिलता। किन्तु 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' के प्रकाशन से पूर्व ही, १९४९ में प्रकाशित पुस्तक 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' में प्रथमतः उदार और निष्पक्ष दृष्टि से मार्क्सवाद और साहित्य की विवेचना प्रस्तुत करते हुए धर्मवीर भारती ने रूस के सम्बन्ध में उल्लेख किया था : "ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, रोलाँ ने अनुभव किया कि रूस के क्रान्तिकारी धीरे-धीरे सैद्धान्तिक संकीर्णता में उलझते जा रहे हैं। वे विचार-स्वाधीनता की अवहेलना कर रहे हैं और धीरे-धीरे स्वयं रूसी क्रान्ति एक प्रतिक्रियावाद का संकीर्ण पथ ग्रहण करती जा रही है। रोलाँ ने अनुभव किया कि इस समय विचार-स्वातन्त्र्य का नारा बुलन्द करने की ज़रूरत है और मानवता का तकाज़ा है कि इस तरह की बौद्धिक तानाशाही की पूरी खिलाफ़त की जाय।" स्वयं रोलाँ के शब्दों में—"१९२१-२२ में इस महान् हिंसात्मक मानसिक ग़ुलामी के विरुद्ध मैंने एक अथक लड़ाई छेड़ रखी थी।"

दरअसल क्रान्ति के पश्चात् की कटोर शासन-नीति के फलस्वरूप ही १९२९ में आर० ए० पी० पी० के अध्यक्ष के रूप में आबरबाख ने साहित्य में संकीर्ण सामयिकता और तानाशाही की नीति चलाई और कलाकारों पर दबाव की हद रखकर मनमानी रचनाओं से सांस्कृतिक स्वतन्त्रता छीन ली। पर, इसके फलस्वरूप येसेनिन-जैसे सुकुमार जनप्रिय और मायकावस्की-जैसे राष्ट्रवादी कवियों को भी आत्महत्या कर लेनी पड़ी। येसेनिन तो अबरबाख की संकीर्णता के सूत्रपात-काल में ही १९२५ में हुतात्मा हो गया और मायकावस्की भी पाँच वर्षों के भीतर ही कलाकार की स्वतन्त्रता, प्रेम और हृदय की उन्मुक्तता पर जैसे शहीद हो गया। आर० ए० पी० पी० को भंग कर दिया गया और उदार 'सामाजिक यथार्थवाद' के सिद्धान्त के द्वारा व्यक्ति के

अन्तःकरण की मुक्ति को भी प्रश्रय देने वाला सिद्धान्त रूस में प्रतिष्ठित हुआ। धर्मवीर भारती ने लिखा है : "संकीर्ण मार्क्सवाद तो क्रान्ति के बाद स्वयं रूस में ही दो कदम भी नहीं चल पाया। सोवियत रूस की संस्कृति आज मार्क्सवाद की सीमाएँ पार कर गई है। वह एक व्यापक भूमि पर खड़ी है। उसने मार्क्सवाद की नई व्याख्या की है।" किन्तु, 'आलोचना' के 'आलोचना-विशेषांक' में अपने एक लेख में विजयदेव नारायण साही ने १९५० में लिखी, कमिसार जोजेफरेवाई की जो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, उनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि व्यक्ति और लेखक के प्रति रूस की उदारता सारी आशाओं पर पानी फेरकर अटूट तानाशाही बन गई है। पंक्तियाँ हैं : "पार्टी के नेतृत्व के द्वारा ही यह सम्भव है कि जनता की माँगें, आवश्यकताएँ और आलोचनाएँ लेखकों के पास पहुँचाई जायँ; श्रमिक जनता के जीवन के अनुसार साहित्य को सज्जित कर दिया जाय, जिससे वह शताब्दियों के प्रवाह में अलग हो गया था, और साहित्य को समाजवादी निर्माण और सामाजिक दीक्षा का सेवक बना दिया जाय।"—प्रस्तुत उद्धरण से इतना तो स्पष्ट है कि कम्युनिस्ट पार्टी की नीति की प्रतिध्वनि ही रूसी साहित्य की कसौटी बन गई है और वे सुनहले सपने बरबाद हो गए हैं जिनमें मानवतावादी निर्माण और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के दिव्य कँगूरे जीवन की नई उषा के उल्लास को दूने-चौगुने कर देते। अब प्रश्न यह नहीं है कि रूस की नीति क्यों संकीर्णतर होती गई है, बल्कि सवाल है कि शोषण की पूँजीवादी परम्परा जिस देश में छिन्न कर दी गई, उसमें भी उदार मानवतावाद का प्रसार क्यों नहीं हुआ ? इसके जवाब में शायद कहना पड़ेगा कि शोषण के उस रूप का क्षय ही असली मानवीय समस्या नहीं है। समस्या है मानवता के सर्वांगीण अभ्युदय की; जिसके लिए मात्र आर्थिक परिवर्तन या क्रान्ति अपेक्षित नहीं। संसार का इतिहास एक सर्वतोमुखी क्रान्ति चाहता है; जिसका आधार आदमी के प्रतिगामी संस्कारों का विसर्जन होगा, जो नैतिक और बौद्धिक परिवर्तन से सम्भव है; जिसके बिना आर्थिक क्रान्ति अधूरी और विफल है, भले ही वह प्राथमिक औचित्य की अधिकारिणी हो।

भारत के सम्बन्ध में और हिन्दी-साहित्य के प्रति अपना प्रगतिशील चिन्तन लागू करते हुए रांगेय राघव ने जिस यथार्थवादी व्यापक दृष्टि से सामाजिक विकास को हृदयंगम किया है, उसके अनुकूल आधुनिक भारतीय स्थिति का निष्कर्ष भी उचित है : "आज मज़दूर-क्रान्ति का दौर नहीं है, साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे को दृढ़ करने का भारत में प्रयत्न है। यही प्रगतिशील साहित्य का राजनीतिक और वर्तमान पक्ष है।" अपना यह निश्चय प्रकट करके रांगेय राघव ने अतिक्रान्तिवादी कुत्सित समाज-शास्त्रियों को राजनीतिक प्रगतिशीलता की भारतीय सीमा का औचित्य भी समझाया है और इस क्रम में मार्क्सवादी खेमे के संकीर्णतावादी आलोचकों की दृष्टि और पिछले दिनों में हुई प्रगति का विस्तृत समालोचन करके साहित्य और प्रगतिशील चिन्तन की उदात्तता का परिचय दिया है। मूलतः उनके दृष्टिकोण में इस केन्द्रीय प्रश्न की स्थिति है : "अध्यात्मवाद के समर्थकों का कहना है कि जब आप हर चीज़ को बदलती हुई मानते हैं तो फिर वह क्या चीज़ रहेगी जो आगे के युग में भी साहित्य में स्थायी बनकर रह सकेगी ?" प्रकारान्तर से, यही प्रश्न मार्क्स के मन में भी उठा था : "उस बात को समझ लेना ज़्यादा कठिन नहीं है कि ग्रीक तथा अन्य शाश्वत साहित्य सामाजिक प्रगति के बन्धनों से बद्ध था, पर यह समझना कठिन-सा है कि कितने ही समय बाद आज भी उनसे उतना ही रस मिलता

है, आनन्द मिलता है और कला की उच्चता उन्हें अब तक ऐसा आदर्श बनाए है कि उनकी-सी पूर्णता मिलनी कठिन दीखती है।" डॉ० रांगेय राघव इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करते हैं : "तब बदलते हुए जीवन में शाश्वत क्या है ? मनुष्य की सामाजिकता, मनुष्य के प्रति मनुष्य की प्रीति यानी मानवतावाद अर्थात् समाज के लिए जन-कल्याण की भावना का विकास, यह अभी तक चलता चला आया है और चलता चला जायगा।" साहित्य के सम्बन्ध में इसी मानवतावादी भाव से वे लिखते हैं : "प्रगतिशील साहित्य और उसके मानदण्ड केवल राजनीति में समाप्त नहीं हो जाते वरन् मनुष्य-जीवन की व्यापकता का स्पर्श करते हैं।"

किन्तु मार्क्स ने भी जिसे रसानुभूति-सा समझा है और भारतीय साहित्य का जो अभिन्न 'रस' तत्त्व है, उसके प्रति रांगेय राघव की दृष्टि उलझी-सी है। वे लिखते हैं : "रस-प्रक्रिया में उदात्तीकरण की जो भावना सर्वयुगीन साहित्य को मापने का मानदण्ड बनाना चाहती है, वह केवल एक संकुचित दृष्टिकोण है। क्योंकि 'उदात्त' की भावना युगानुरूप होती है। एक युग का 'उदात्त' दूसरे युग का नहीं होता।"—अवश्य ही रांगेय राघव समझते होंगे कि 'उदात्त' के उपकरण युगानुरूप होते हैं और 'उदात्त' बनाने की भावना चिरन्तन प्रेरणा है और उदात्त की अनुभूति के जिस युग की भूमि पर चेतना पा सके; चेतना में मूर्त आनन्द भी चिरन्तन है। तब 'उदात्त' की प्रेरणा युगानुरूप उपकरणों को माध्यम स्वीकार करके जब 'उदात्त' की अनुभूति का आनन्द ले लेती है, तो माध्यम के व्यवधान चेतना से ओझल हो जाते हैं और 'रस' की अवस्था आ जाती है, जो युगानुरूप उपकरणों से परे है। वही शाश्वत है; जिसके तत्त्वों की झलक मार्क्स ने भी पाई थी। इस ओर ध्यान न देकर लेखक ने 'मानवीयतावाद' का एक विवादास्पद रूप भी समाधान की जगह पर रखा है।

भारतीय इतिहास और हिन्दी-साहित्य के पहले की भारतीय अवस्था के विवेचन में पुस्तक के अत्यधिक पृष्ठ अनावश्यक सामग्रियों से भी भर गए हैं; पर सबसे दिलचस्प हिस्सा वह है जिसमें कुत्सित समाज-शास्त्रियों के नाम पर डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचना-परम्परा की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के लिए कुछ tactful कही जाने वाली दृष्टि से सुझाव भी दिये गए हैं, जो बड़े दिलचस्प हैं। गांधी-नीति की भी यथेष्ट व्याख्या करके लेखक ने गांधीजी को पूँजीवाद का सन्त-परम्परागत समर्थक माना है, जिनके समन्वयवाद की अब आवश्यकता नहीं। जो सबसे स्पष्ट निर्णय है, बधाई के योग्य है, कि 'प्रगति' मात्र बाह्य नहीं, पूर्ण मानवीय होती है।[1]

---

१. 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड', लेखक—रांगेय राघव, प्रकाशक—सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा।

भारतभूषण अग्रवाल

काव्य और जीवन पर श्री सुमित्रानंन्दन पन्त के विचार

'काव्य ही कवि का परम वक्तव्य है'[1] पर कभी-कभी परिस्थितिवश कवि को अपनी बात अन्य माध्यम से भी कहनी पड़ जाती है। विशेषतः प्रथम महायुद्ध और उसके बाद से भारत की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक परिस्थितियों में जो संक्रान्ति उपस्थित हुई, और जो आज तक उत्तरोत्तर गहन गम्भीर रूप ग्रहण करती रही है, उसने कवि को बाध्य कर दिया कि वह काव्य और जीवन-सम्बन्धी अपनी मान्यताएँ पाठकों तक पहुँचाए, और जीवन की गतिविधि के अनुरूप काव्यगत वस्तु और शिल्प में निरन्तर प्रतिफलित परिवर्तन की ओर उसके विवेक को जाग्रत करे। इसी कारण आज के कवि को स्वयं अपना व्याख्याता भी बनना पड़ा है, और जो मूल्यांकन उसे अपने आलोचकों से सहज ही मिल जाना चाहिए था, उसकी ओर भी ध्यान दिलाना पड़ा है। यह चाहे कवि का धर्म न हो, आपद्धर्म ही हो, पर यह आवश्यक है, और कविता में जो विकास और संक्रान्ति उपस्थित हुई है, उसका आग्रह है।

इसलिए अपने प्रथम प्रकाशित काव्य-संग्रह 'पल्लव' के साथ नवयुग-वाहक कवि पन्त को एक विशद भूमिका जोड़ देनी पड़ी थी, जिसमें उन्होंने तत्कालीन काव्य-परिस्थितियों का विवेचन करके अपनी काव्य-शैली और रूप-प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत की थी। 'पल्लव' की वह भूमिका युगान्तरकारी थी, और अपनी ओजस्विता और नवीन दृष्टि के लिए ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त कर चुकी है। तब से लेकर अब तक युग-शिल्पी पन्त के काव्य ने जीवन और समय की प्रगति के साथ-साथ चलते हुए अनेक मोड़ पार किये हैं, और प्रायः प्रत्येक मोड़ पर उनको अपनी नई प्रगति का महत्त्व उद्घाटित करने के उद्देश्य से गद्य की पगडंडियों का सहारा लेना पड़ा है। इन्हीं पगडंडियों का संग्रह अब 'गद्य पथ' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

गद्य का यह पथ कवि पन्त ने अवश्य ही आपद्धर्म से निःसृत सामयिक आवश्यकता के रूप में ही अपनाया, पर उनके इन निबन्धों को एकत्र देखकर हमें इस आकस्मिक संयोग से आन्तरिक सुख भी मिलता है क्योंकि इन निबन्धों में पिछले तीस वर्षों की कविता के उत्थान, विकास और विस्तार का जो आकलन है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पन्त की कोटि के कवि-साधक में अपने युग की समस्याओं का विश्लेषण करने और उनसे उद्भूत काव्य-प्रभावों का उपयुक्त मूल्यांकन करने की ऐसी असाधारण क्षमता विश्व-साहित्य में विरल ही है, और हमारे लिए तो वह अकेली घटना है।

'पल्लव' का काल कवि पन्त की कला का उदय-काल है, इसलिए उसकी भूमिका में जो प्रखर आत्मविश्वास और अपनी बात को बेहिचके कह सकनेका खुलापन है वह तत्काल मन पर प्रभाव डालता है। 'पल्लव' के साथ पन्त ने जिस क्षेत्र में पदार्पण किया था, उसमें यद्यपि खड़ी बोली निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित हो चुकी थी, पर अभी ब्रजभाषा और उसके काव्य के प्रति लोभ-भरी दृष्टि बराबर जाती थी और ऐसा भी माना जाता था कि खड़ी बोली गद्य के लिए तो

१. स० ही० वात्स्यायन।

ठीक है पर पद्य-रचना ब्रजभाषा में ही मधुर हो सकती है। अपनी इस भूमिका में इसीलिए पन्त को एक प्रकार से हिन्दी के समस्त पूर्ववर्ती काव्य पर दृष्टि-निक्षेप करना पड़ा, और प्राचीन महारथियों के प्रति यथायोग्य श्रद्धा प्रकट कर चुकने के बाद ब्रजभाषा-काव्य और ब्रजभाषा-माध्यम की सीमाएँ दिखानी पड़ीं। उनकी वाणी में युग की पुकार थी और तरुण कवि-हृदय का ओज था, इसीलिए उनकी शैली और दीर्घ वाक्य-विन्यास में असाधारण प्रवाह और गहरी प्रभावोत्पादकता है। "पर उस ब्रज के वन में झाड़-झंखाड़, करील-बबूल भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा आलाप, उसके कृमिल-पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थिपंजर, रोड़े, सिवार और घोंघों की भी कमी नहीं। उसके बीचों-बीच बहती हुई अमृत-जाह्नवी के चारों ओर जो शुष्क कर्दममय बालुका-तट है, उसमें विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियों के अस्पष्ट पद-चिह्न कालानिल के झोंके से बचे हुए, यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उस ब्रज की उर्वशी के दाहिने हाथ में अमृत का पात्र और बाएँ में विष से परिपूर्ण कटोरा है, जो उस युग के नैतिक पतन से भरा छलछला रहा है। ओह, उस पुरानी गूदड़ी में असंख्य छिद्र, अपार संकीर्णताएँ हैं।"

उद्दाम निर्झर की-सी वेगवती शैली में मन के उत्साह को नाना रूपक-प्रतीकों के माध्यम से चित्रित कर पन्त ने इस भूमिका में ब्रजभाषा-युग की परिसमाप्ति और नवीन सांस्कृतिक जागरण शंखध्वनित किया था। पन्त कवि के रूप में अपने कर्तव्य और धर्म के प्रति सदैव सचेत रहे हैं। इस भूमिका से भी स्पष्ट है कि वे काव्य के इतिहास में किस मोड़ पर हैं, यह स्पष्टतः चीन्हते थे। और भूमिका के पहले भाग का अन्त जिन वाक्यों से होता है वे ऐसी भविष्यवाणी-जैसे लगते हैं, जो आज सच हो चुकी है।

'पल्लव' की इस भूमिका के उत्तरार्द्ध में कवि ने अपनी कविता के शिल्प-विधान और रूप-प्रकार की विवेचना उपस्थित की है, विशेष रूप से अपनी शब्द-योजना और छन्द-संगीत पर दृष्टि डाली है। उन दिनों छायावाद के विरोध में सबसे प्रबल तर्क उसके रूप और शिल्प को लेकर ही दिये जाते थे, इसलिए यह व्याख्या आवश्यक और समयानुकूल ही थी। इस अंश को पढ़ने से हम अचानक कवि के अनुभवों के साझीदार हो जाते हैं। एक-एक शब्द कवि के मन में कौन-सी झंकारें जगाता है, शब्दों से भावों और व्यापारों की चित्र-योजना किस प्रकार की जाती है, यह पन्त ने मनोरम और उल्लासपूर्ण ढंग से इस भूमिका में स्पष्ट कर अपने सूक्ष्म संवेदनशील मन की एक झाँकी दी है। यह ठीक है कि सारी भूमिका में छायावाद के भाव-जगत् का कोई निरूपण नहीं है, निरूपण तो क्या उल्लेख तक नहीं है, पर कवि यह जानता न हो, सो नहीं। शिल्प और रूप-विधान पर उसने यह जोर जान-बूझकर उसकी अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव करके दिया है, और आज तो यह बात हम निश्चय रूप से जानते हैं कि हिन्दी-कविता में छायावाद की प्रतिष्ठा और सम्मान में 'पल्लव' की इस ऐतिहासिक भूमिका का अत्यन्त मूल्यवान योग रहा।

अपने प्रथम काव्य-संग्रह और 'पल्लव' के उपरान्त प्रकाशित 'वीणा' के लिए पन्त ने जो भूमिका लिखी थी, और जो बाद में संक्षिप्त और संशोधित रूप में ही प्रकाशित हुई, वह अपने मूल रूप में पहली बार 'गद्य-पथ' में संग्रहीत हुई है। तीन पृष्ठों की छोटी-सी इस भूमिका में कवि पन्त के एक ऐसे व्यक्तित्व की झलक है जो अन्यत्र नहीं मिलती। इसमें उनके स्वर में

व्यंग की किंचित् परुषता भी है और आत्मरति भी, जो निश्चित रूप से तत्कालीन हिन्दी-काव्य-मठाधीशों की समयान्धता की ही प्रतिक्रिया है। इन स्वनामधन्य आलोचकों ने छायावादी काव्य-कृतित्व को समझने और परखने के स्थान पर उसकी जैसी बेहिसाब खिल्ली उड़ाई उससे पन्त-जैसे कोमल-स्वभाव प्राणी को भी यदि यह स्वर अपनाना पड़ा तो क्या आश्चर्य ! यही नहीं, इस छोटी-सी भूमिका में छायावाद के विरुद्ध दिये गए तर्कों की जो एक झलक है वह बरबस हमें आज दिन प्रयोगशील काव्य के विरुद्ध तर्कों का स्मरण करा देती है, और यह कहने पर विवश करती है कि अपनी सहज संवेदन शक्ति के सहारे हिन्दी के कवि ने समय-समय पर जो युगानुरूप मार्ग ग्रहण किया है उसका सच्चा आशय समझने में हिन्दी के तत्कालीन सत्ताधारी आलोचक असमर्थ रहे हैं। यह तो ठीक है कि आलोचना सदैव आलोच्य की अनुगामिनी होती है, पर हिन्दी-साहित्य में छायावाद-काल के प्रारम्भ से प्रयोगवाद-काल तक के इस दीर्घ समय में आलोचना ने पहले अपने आलोच्य का तिरस्कार कर बाद में ही उसका मूल्य पहचाना है।

'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' के बाद 'गुञ्जन', 'युगान्त', 'युगवाणी', और 'ग्राम्या' कवि पन्त की काव्य-चेतना के ये विकास-चरण हैं। इन सारी काव्य-कृतियों में 'गुञ्जन' एक प्रकार से बीच की कड़ी है और उसमें प्रौढ़तर भाव-मन्थन ध्वनित है। 'गुञ्जन' तक आते-आते हिन्दी में छायावाद समादृत और प्रतिष्ठित हो चुका था, उसके उद्घोषक कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन प्रारम्भ हो गया था, वैसे भी वह काव्य-चेतना के एक चरण की परिणति व्यक्त करता है। इसीलिए 'गुञ्जन' में कवि ने गद्य-पथ का सहारा नहीं लिया और बाद में 'युगान्त', 'युगवाणी' एवं 'ग्राम्या' के प्रकाशन तक उसको इस पथ की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि इनमें अभिव्यक्त भाव और अनुभूतियाँ युग-जनित भावनाएँ थीं, और यह हिन्दी के लिए शुभ-योग था कि उन्हें परखने वाले आलोचक उस समय उपस्थित थे। सच तो यह है कि छायावाद के उपरान्त जो सशक्त सामाजिक भाव-धारा हिन्दी में प्रवाहित हुई उसने, कम-से-कम प्रारम्भ में, कवि और आलोचक की दूरी घटा दी। पन्त के काव्य में जो मोड़ इस समय उपस्थित हुआ उसका सहज अपनाव आलोचकों में मिला और छायावाद का यह अग्रदूत अनायास नई सामाजिक चेतना का भी अग्रदूत बना। निरन्तर विकास करते रहने वाले कवि पन्त की यह सिद्धि साधारण नहीं है, क्योंकि ऐसा बहुत ही कम होता है कि अपने ही द्वारा प्रतिपादित भाव और सिद्धान्त को छोड़कर कलाकार आगे बढ़ सके। पर पन्त के लिए यह अत्यन्त सहज था, क्योंकि वे जीवन-द्रष्टा हैं और अपने कवि-कर्म को जीवन से सम्बद्ध करके ही देखते रहे हैं। छायावाद का कार्य समाप्त हो चुका है, यह उन्होंने स्वयम् ही पहचाना, स्वयम् ही नया पथ ग्रहण किया और हिन्दी-काव्य को नई गति और प्रेरणा दी। उन्होंने 'आधुनिक कवि : भाग २' की बृहत् भूमिका में स्पष्ट लिखा : "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध, और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" छायावाद के समर्थ कवियों में पन्त के अतिरिक्त केवल 'निराला' की रचनाओं में ही यह चेतना और मिलती है। अन्य अनेक कवि आज तक उस 'अलंकृत संगीत' से ही अपना काम चलाते रहे हैं।

'पर्यालोचन' नामक 'आधुनिक कवि : भाग२' की यह भूमिका कवि पन्त ने सन् १६४१

में लिखी थी जब 'ग्राम्या' के प्रकाशन के साथ उनके काव्य-विकास का द्वितीय याम पूर्ण हो चुका था, और वे युग-कवि के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे। इसीलिए इस भूमिका में पहली बार उन्होंने अपने भाव-जगत् और काव्य-सिद्धान्तों पर अपने विचार व्यक्त किये, एवं अपने विभिन्न काव्य-संग्रहों के सम्बन्ध में अपना मत प्रकाशित किया। इस भूमिका का अध्ययन साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि वह पन्त के काव्य के व्यक्तिगत पक्ष और सामाजिक पक्ष दोनों पर भरपूर प्रकाश डालता है, और ऐसा करने में पन्त ने जिस तटस्थता एवं वस्तु-परक दृष्टि का प्रमाण दिया है वह उनकी गम्भीरता और मानसिक संतुलन का परिचय देती है।

अपनी प्रारम्भिक काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में पन्त ने लिखा है : "कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्म-भूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।" लेकिन बाद में चलकर पन्त ने इस प्राकृतिक दर्शन की सीमाएँ पहचानीं। उन्होंने लिखा है : "अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की सीमा तक सहिष्णुता प्रदान करता है, और एक प्रकार से प्रकृति को सर्व-शक्तिमयी मानकर उसके प्रति आत्मसमर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।" छायावाद में बहुल-व्याप्त जीवन की क्षणभंगुरता अस्वास्थ्यकर है, यह पहचानकर ही कवि पन्त उसके शैलोद्यान से उतरकर सामाजिक जीवन की कुरूपता मिटाने की ओर उन्मुक हुए थे, और तब उनकी वाणी में हमारी धरती का जीवन और उसका संघर्ष ध्वनित हुआ। लेकिन इस वाणी में एक समन्वय का स्तर भी था। जिस प्रकार 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अपनी अनेक रचनाओं में उन्होंने मार्क्सवाद का स्वागत करते हुए उसका गांधीवाद से समन्वय करने की आवश्यकता बताई थी, उसी प्रकार इस भूमिका में भी उन्होंने साफ लिखा था कि वे ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को उपयोगी मानते हुए भी अपूर्ण मानते हैं, और विराट् लोक-कल्याण के उद्देश्य से यह आवश्यक समझते हैं कि उसका भारतीय अध्यात्म के साथ समन्वय किया जाय। उनकी घोषणा है : "ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म-दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रम-जीवियों के संगठन, वर्ग-संघर्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदांत में मिली उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ सत्य की खोज सापेक्ष के उस पार, 'अवांग-मनस-गोचर' की ओर चले गए हैं वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अंतस्तल तक डुबकी लगाकर, उसके आलोक में जन-समाज के सांस्कृतिक विकास के उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैधानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास नहीं हो सका है।" लेकिन इस समन्वय की आवश्यकता पर जोर देते हुए भी पन्त की दृष्टि भविष्य पर ही टिकी थी, सामाजिक

कर्तव्य से बचने या भाग जाने की किसी ओछी प्रवृत्ति की आड़ के लिए उन्होंने समन्वय का यह नारा नहीं दिया था, वरन् वे आध्यात्मिक विकास पर निरन्तर ध्यान इसी कारण रखते थे कि वे वर्तमान के मृतप्राय समाज के संस्कारों के भूतों की घृणास्पद वस्तु-स्थिति से अत्यन्त विकल थे, प्रगति के लिए आकुल थे। उन्होंने लिखा : "सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अंधकार में फैले इस मध्यकालीन संस्कृति के तथाकथित ऊर्ध्व-मूल अश्वत्थ को जड़ और शाखासहित उखाड़कर फेंक देना होगा और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न करना होगा जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तु-स्थितियों में हों।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मार्क्सवाद से आध्यात्मिक दर्शन के समन्वय की बात कहकर पन्त ने सामाजिक प्रगति की आवश्यकता से मुँह नहीं मोड़ा था, वरन् वे सामाजिक जीवन के उच्चतर सांस्कृतिक विकास के लिए ही निरन्तर आध्यात्मिक विकास पर ज़ोर देते रहे हैं। निरे जड़वाद और यन्त्रवाद को ही कहीं हम जीवन की इतिश्री न समझ बैठें, भौतिक सुख और वैभव में मानवीय सम्बन्धों और भावनाओं के सौन्दर्य से कहीं दृष्टि न फेर लें, यही सोचकर उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया है। यही नहीं, भारतीय दर्शन के नाम पर वे अंधविश्वासों के पक्षपाती नहीं हैं, यह उन्होंने निःसंकोच घोषित किया : "भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते जिसका चरम विकास अद्वैत-वाद में हुआ है। यह मध्यकालीन आकाश-लता शताब्दियों के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, प्रथाओं और मतमतान्तरों की शाखा-प्रशाखाओं में पुञ्जीभूत और विच्छिन्न होकर एवं हमारे जातीय जीवन के वृक्ष को जकड़कर उसकी वृद्धि रोके हुए है। इस जातीय रक्त को शोषण करने वाली व्याधि से मुक्त हुए बिना और नवीन वास्तविकता के आधारों और सिद्धान्तों को ग्रहण किये बिना, हममें वह मानवीय एकता, जातीय संगठन, सक्रिय चैतन्यता, सामूहिक उत्तर-दायित्व और विपत्तियों का निर्भीक साहस के साथ सामना करने की शक्ति और क्षमता नहीं आ सकती जिसकी कि हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में महाप्राणता भरने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है।"

'ग्राम्या' के बाद एक दीर्घकालीन मौन के उपरान्त पन्त के कई नये काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। भारत की स्वतन्त्रता से लेकर अब तक 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'उत्तरा', 'युगपथ', 'रजतशिखर' और 'शिल्पी' उनके काव्य-ग्रन्थ हैं। इनमें से पहले दो ग्रन्थों में पन्त का आध्यात्मिक चिन्तन मुख्य रूप से व्यक्त हुआ है और वह चिन्तन श्री अरविन्द के दर्शन से गहरे ढंग पर प्रभावित चिन्तन है। इस प्रभाव की विशेष रूप से, और उनके इस आध्यात्मिक सम्मान की साधारण रूप से, कुछ आलोचकों ने काफी चर्चा की है, और उसमें प्रतिगामी तत्त्वों की ओर झुकाव पाया है। इसलिए 'उत्तरा' की भूमिका के रूप में पन्त को अपना मत और जीवन-दर्शन स्पष्ट करना पड़ा है। 'उत्तरा' की यह भूमिका पन्त के प्रौढ़ मानस का गम्भीर उद्गार है जिसमें आवश्यक विशालता और उदारता तो है ही, समसामयिक जीवन को उसके सर्वांग और समस्त रूप में देखने का भी उज्ज्वल प्रयत्न है। यही कारण है कि इस भूमिका के स्वर में मन्यु होते हुए भी क्षोभ का अभाव है, अपने सिद्धान्त पर अविचल आस्था होते हुए भी मतभेद के प्रति संयम और सन्तुलन का प्रदर्शन है। इस भूमिका में उन्होंने एक बार फिर भौतिक दर्शन के साथ आध्यात्मिक विकास के समन्वय की ओर हम सबका ध्यान आकृष्ट किया है। पर सबसे अधिक

ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने सामाजिक प्रगति की ओर कम बल नहीं दिया है, जैसा कि भ्रमवश कुछ आलोचक मानते हैं, वरन् यही स्थापित किया है कि सामाजिक विकास की सम्पूर्णता तभी सिद्ध होगी जब हम आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विकास पर भी अपनी दृष्टि गड़ाये रहेंगे। उन्होंने लिखा है : "मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक-आर्थिक हलचलों की बाह्य सफलताओं द्वारा ही मानव-जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए संसार में एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा जो मानव-चेतना के राजनीतिक, आर्थिक मानसिक तथा आध्यात्मिक सम्पूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित करके आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा।" अपने ऊपर लगे प्रतिगामिता के आरोप के विरुद्ध उन्होंने बहुत दृढ़ स्वर में यह प्रतिवाद व्यक्त किया है : "मेरा मन यह नहीं स्वीकार करता कि मैंने अपनी रचनाओं में जिस सांस्कृतिक चेतना को वाणी दी है, एवं जिस मनःसंगठन की ओर ध्यान आकृष्ट किया है उसे किसी भी दृष्टि से प्रतिगामी कहा जा सकता है। मैंने सदैव ही उन आदर्शों, नीतियों तथा दृष्टिकोणों का विरोध किया है जो पिछले युगों की संकीर्ण परिस्थितियों के प्रतीक हैं, जिनमें मनुष्य विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों तथा वर्गों में विकीर्ण हो गया है। उन सभी विश्लिष्ट सांस्कृतिक मान्यताओं के विरुद्ध मैंने युग की कोकिल से पावक-कण बरसाने को कहा है जिनकी ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि अब खिसक गई है और जो मानव-चेतना को अपनी खोखली भित्तियों में विभक्त किये हैं। मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक-संगठन तथा मनःसंगठन एक-दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग (लोक)-चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।

'गद्य-पथ' के दूसरे भाग में पन्त की समय-समय पर आकाशवाणी से प्रसारित वार्ताएँ और कुछ महत्त्वपूर्ण भाषणों के अंश संग्रहीत हैं। इनका सबसे पहला आकर्षण तो यही है कि वे पहली बार प्रकाशित हुए हैं। फिर भाषण होने के कारण उनमें रोचकता अधिक है, और पन्त के मनोरम व्यक्तित्व की अधिक कोमल और हृदयग्राही छाप उनमें मिलती है। 'मेरा रचनाकाल', 'मैं और मेरी कला', 'आज की कविता और मैं', 'जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण', 'पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा', 'काव्य-संस्मरण' और 'मेरी पहली कविता' नामक निबन्ध व्यक्तिपरक हैं, और पन्त के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी एवं आवश्यक सूचनाएँ देते हैं। पन्त के आलोचक और जीवनीकार के लिए यह अमूल्य सामग्री है। इन निबन्धों में पन्त ने अपनी कला के विकास पर जो विचार प्रकट किये हैं वे सर्वत्र उन विचारों से मिलते हैं जिनका उल्लेख हम कर आए हैं। कहीं भी कोई द्विविधा, विरोध या उलझाव नहीं है। सच पूछिए तो पन्त स्वयं ही अपने सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं और अपने कवि की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गति को शब्दों में बाँध सकने में समर्थ हो सके हैं। वे शायद अकेले ऐसे कवि हैं जिनकी कविता उन्हीं के विचारों की कसौटी पर बेहिचक कसी जा सकती है। यह पन्त के अन्तःसंयोजित व्यक्तित्व का भी अकाट्य प्रमाण है। अन्य निबन्ध, जैसे 'भारतीय संस्कृति क्या है', 'भाषा और संस्कृति', 'साहित्य की चेतना', 'सांस्कृतिक आन्दोलन', 'कला और संस्कृति' आदि, युग की सांस्कृतिक और कलात्मक समस्याओं पर द्रष्टा पन्त के विचारों को व्यक्त करते हैं जिनमें उनकी उपरोक्त स्थापनाएँ ही आवश्यकतानुसार संक्षेप या विस्तार में दी गई हैं।

लेकिन इस खण्ड में एक रेडियो-वार्ता इन दोनों समूहों से अलग है। वह है 'यदि मैं 'कामायनी' लिखता'। इस वार्ता में अनायास ही हमें प्रसाद की कला पर पन्त के विचार मिलते हैं। 'कामायनी' जिस विशद और गहन रूप में अपने युग की चेतना और संघर्ष को प्रतिध्वनित करती है, उसकी ओर हम सबका ध्यान आकर्षित करते हुए, और प्रसाद की महान् कलात्मक सिद्धि पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भी पन्त ने अपने अद्वितीय संतुलन का परिचय देते हुए 'कामायनी' की त्रुटियों का भी उल्लेख किया है। यह उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है क्योंकि हिन्दी-आलोचना के किसी भी संस्थान ने उस पर दृष्टि नहीं डाली है, और वह यह भी सिद्ध करता है कि समाज की वास्तविक प्रगति की कामना पन्त में कितनी बलवती है। पन्त ने 'कामायनी' की समस्या के व्यक्तिपरक समाधान की चर्चा करते हुए कहा है : "पर यह तो विश्व-जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं है। मनुष्य के सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह इड़ा-श्रद्धा का समन्वयकर वहाँ तक कैसे पहुँचे। उसके सामने जो चिरंतन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन, जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मनश्चैतन्य के बीच का, लोक-परलोक के बीच का, धरती-स्वर्ग, एक बहु, समरस या बहुरस के बीच के व्यवधान को मिटाकर यह अन्तराल किस प्रकार भरा जाय ? उसके लिए निःसंशय ही इड़ा-श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आए। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नहीं कर पाते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है, किन्तु व्याधि कैसे दूर हो ? क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुँचकर और वह भी व्यक्तिगत रूप से ?"[1]

१. 'गद्य-पथ', लेखक—श्री सुमित्रानन्दन पन्त, प्रकाशक—साहित्य-भवन, इलाहाबाद।

परिचय

नये नगर की कहानी

लेखक—रावी, प्रकाशक—राजपाल प्रकाशन, आगरा।

प्रस्तुत पुस्तक में जो बात सबसे अधिक ध्यान देने की है और जिसकी दाद दी जा सकती है वह है रचयिता की एक 'नया नगर' निर्माण करने की नीयत। वैसे यह दुःख की बात है कि यह नीयत अमिश्रित नहीं है। इसमें आत्म-विज्ञापन की ओछी मनोवृत्ति बुरी तरह पैठ गई है। प्रति तीसरे या चौथे पृष्ठ पर स्वयं लेखक की ओर से या किसी पात्र की ओर से 'रावी' की प्रशंसा या उनकी सम्भावनाओं के बारे में लम्बी-चौड़ी सुन-सुनकर जी ऊब उठता है। मगर फिर भी हम चाहें तो मूल प्रेरणा को लेखक की कमजोरी से अलग करके देख सकते हैं। यहाँ तक लेखक बधाई का पात्र है।

यह एक उपन्यास है या नहीं इस झमेले में हम नहीं पड़ेंगे। फिर भी चूँकि कथासूत्र है इसलिए तत्सम्बन्धी प्रश्न उठता ही है। कथा यों है कि वेंकटाचलम नामक एक युवक-योगी एक खास तरह के आदमियों को इकट्ठा करके 'नया नगर' नामक एक कालोनी बसाने का सपना देखता है। वह रावी से मेल-भाव बढ़ाकर उन्हें भी अपने दल में शामिल कर लेता है। मुख्यतः लेखक, कलाकार, बुद्धिजीवी, धनिक और सुधारवादी युवक इस संगठन में आते हैं। कुछ वेश्याएँ और बकौल वेंकटाचलम 'सेक्सुअली स्टार्व्ड' लड़कियाँ भी इस संगठन में आती हैं। पिकनिक होती है, सैर होती है और अन्त में जलसा होता है जिसमें लेक्चर होते हैं और 'नया नगर' में शामिल होने के लिए आवेदन-पत्र और उक्त नगर के निर्माण के लिए आर्थिक सहायता के वायदे जमा करके पूरा-का-पूरा दल दिल्ली चल देता है। जाते वक्त भविष्य को वर्तमान बनाकर वेंकटाचलम रावी को 'नया नगर' का नक्शा, काम-काज और हाल-चाल डिक्टेट करा जाता है।

यों सुना है कि ऐसे अनेक पंथ इस देश में हैं जो तर माल खाने या गाने-बजाने में ही किसी आगामी जीवन का स्वरूप देखते हैं। ऐसों की नीयत में शक करने का हमें कोई हक्क नहीं है मगर हम इन्हें कोरे खब्तियों से ज़्यादा कुछ भी मानने के लिए मजबूर भी नहीं हैं। ऐसे ही हैं हमारे 'नये नगर' के निर्मातागण। हर जिस-तिस को वे अपने मत में मूड़ लेते हैं। जिसे देखिए उनका चेला बना चला आता है। लाखों के वायदे तो चुटकी बजाते हो जाते हैं।

पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर 'नये नगर' का एक कल्पित चित्र दिया गया है। एक नदी (पुस्तक के अनुसार यमुना) के किनारे बसे हुए इस नगर में मन्दिर, मस्जिद, घण्टाघर और छोटे-बड़े बहुत से मकान घिचपिच बने हुए दिखाई देते हैं। पेड़-पत्ती का कहीं नामो-निशान

तक नहीं है।

—श्रोंकारनाथ श्रीवास्तव

भारतीय शिक्षा

लेखक—डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा देश की विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं में दिये गए भाषणों का संग्रह है। पुस्तक के नाम से इस बात का आभास नहीं मिलता और पाठक अनायास ही भारतीय शिक्षा पर लेखक के विशद एवं गम्भीर चिन्तन की अपेक्षा करने लगता है। परन्तु पुस्तक भाषणों का संग्रह-मात्र होने के कारण न तो विषय का विशद विवेचन प्रस्तुत करती है और न भारतीय शिक्षा की विभिन्न समस्याओं का विस्तृत विश्लेषण तथा समाधान। सरल भाषा में सीधे ढंग से राजेन्द्र बाबू ने अपने विचार श्रोताओं के सम्मुख रखे हैं। उनका विषय-प्रतिपादन तथा भाव-स्पष्टीकरण का ढंग इतना सरल एवं ग्राह्य है कि वह तत्क्षण प्रभावशाली हो उठता है। शिक्षा-सिद्धान्त के अनेक वादविवादपूर्ण विषयों पर उन्होंने मध्यम मार्ग अपनाया है जो राष्ट्रपति के लिए स्वाभाविक ही है। यह सभी जानते हैं कि राजेन्द्र बाबू क्रान्तिकारी एवं सीमान्तस्थ विचारधारा के पोषक नहीं। शिक्षा के विषय में भी उनकी विचारधारा संतुलित तथा सामूहिक रही है।

'भारतीय शिक्षा' चार खण्डों में विभाजित है : प्रथम खण्ड—नवीन शिक्षा-पद्धति; द्वितीय खण्ड—प्राचीन शिक्षा-पद्धति; तृतीय खण्ड—वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति; चतुर्थ खण्ड—प्रकीर्ण। प्रत्येक खण्ड के अन्तर्गत तद्विषयक चार-छः भाषणों का संकलन किया गया है।

राजेन्द्र बाबू राष्ट्रीय शिक्षा को भारत की परम्परागत शिक्षा के आधार पर नियोजित करने के पक्ष में हैं। यह सर्वमान्य है कि हमारी वर्तमान शिक्षा-योजना विदेशी आधार पर संघटित होने के कारण न तो हमारी समस्याओं का भली भाँति समाधान करने में ही समर्थ है और न हमारे परम्परागत आदर्शों तथा जीवन की मान्यताओं को ही प्रतिष्ठित करने में। अतएव, भारतीय परम्पराओं, मान्यताओं तथा आदर्शों से ओत-प्रोत जन-शिक्षण की व्यवस्था करना हमारे लिए आवश्यक है। यह बात हमें राजेन्द्र बाबू के शब्दों में भली भाँति समझ लेनी है कि "जनता के हृदय से सम्पर्क टूटने के बराबर और कोई हानिकर और प्रतिक्रियावादी क़दम न होगा।" इस दृष्टि से हमें प्रगतिशील शिक्षा-व्यवस्था की योजना बनाना आवश्यक है।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति शीर्षक खण्ड में नारी-शिक्षा एवं गुरुकुल तथा राष्ट्रीय शिक्षा-व्यवस्था पर राजेन्द्र बाबू ने अपने विचार प्रकट किये हैं। राजेन्द्र बाबू के नारी-शिक्षा-विषयक विचार भी हमारी परम्परागत धारणाओं पर आधारित हैं। वे कहते हैं—"मैं चाहता हूँ कि नारी ऐसा विचार न करे कि उसे भी वही काम करने हैं जो पुरुष करते हैं। दोनों के लिए काम बड़ा है और अपने-अपने अलग-अलग कामों को ही दोनों पूरी खूबी के साथ अंजाम दे सकते हैं।"

वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति शीर्षक खण्ड में 'विज्ञान की प्रगति', कृषि-विज्ञान आदि विषयों पर विचार-प्रदर्शन किया गया है। खण्ड का नामकरण दोषपूर्ण है; उसका अर्थ शिक्षा-पद्धति में वैज्ञानिकता लाने का निकलता है, जब कि देश में विज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता से ही उसका तात्पर्य है।

जहाँ तक राजेन्द्र बाबू के शिक्षा-विषयक विचारों को एकत्रित करके पाठकों के सम्मुख

रखने का प्रश्न है, प्रकाशकों का प्रयत्न सराहनीय ही कहा जायगा। हिन्दी का शिक्षा-साहित्य-अत्यन्त न्यून है और मौलिक विचारों तथा सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने वाले ग्रन्थों का अभाव है। भारतीय जन-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क रखने वाले नेता के शिक्षा-विषयक विचारों का अध्ययन भारतीय शिक्षाविदों में विचार-चेतना जाग्रत करेगा यह आशा इस पुस्तक से करना स्वाभाविक है। परन्तु, ग्रन्थ के प्रणयन में कुछ बातें अवश्य खटकती हैं। पुस्तक में संकलित अधिकांश, १५ भाषण सन् १९५० के बाद के हैं, परन्तु शेष ४, १९२० अथवा १९३५ के हैं। यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति की विचारधारा समयानुसार थोड़ी-बहुत परिवर्तित होती रहती है। एक छोटे-से संकलन में १९२० से १९५३ तक के भाषणों को एक साथ रखना विचार-प्रतिपादन की दृष्टि से खटकता है। अच्छा होता यदि केवल १९५० के बाद वाले भाषणों को ही यहाँ संग्रहीत किया जाता। यह भी स्पष्ट है कि संकलित भाषणों में से कुछ अंग्रेजी में दिये गए होंगे जिनका अनुवाद पुस्तक में दिया गया है, यद्यपि इस बात का उल्लेख प्रकाशक ने कहीं नहीं किया है। जहाँ राजेन्द्र बाबू की अपनी भाषा है वहाँ वह सरल, सीधी तथा स्पष्ट है किन्तु अनुवाद कहीं-कहीं बड़ा ही जटिल हो गया है।

—डॉ० सुबोध अग्रवाल

आलोचना का उपन्यास-विशेषांक

अक्तूबर १९५४ में १३वें अंक के साथ आलोचना अपने प्रकाशन के चौथे वर्ष में प्रवेश कर रही है। पिछले वर्षों की भाँति इस वर्ष का प्रवेशांक भी विशेषांक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इतिहास अंक तथा आलोचना अंक ने हिन्दी-समीक्षा के दो बड़े अभावों की पूर्ति की है। उसी परम्परा में आलोचना का १३वाँ अंक उपन्यास अंक होगा जिसमें प्रथम बार हिन्दी के अधिकारी समीक्षक हिन्दी-उपन्यास के विभिन्न पक्षों का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

- हिन्दी-उपन्यास के अध्ययन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने की दृष्टि से प्रारम्भिक खण्ड के कुछ लेखों में विश्व-उपन्यास के विकास और इतिहास का विस्तृत निरूपण होगा। विश्व-साहित्य में किस प्रकार गद्य के माध्यम से जीवन का विराट् चित्रण कर उपन्यास ने महाकाव्य का स्थान लेने की चेष्टा की है, किस प्रकार पिछली कुछ शताब्दियों के चिन्तन-विकास और ऐतिहासिक परिस्थितियों ने उपन्यासों के वस्तु-तत्त्व और रूप-गठन में अपने को प्रतिबिम्बित किया है, विश्व-उपन्यास के प्रसंग में भारतीय उपन्यास की उपधारा कहाँ तक उसके समानान्तर और कहाँ तक उससे अलग दिशाओं में प्रवाहित होती रही है, तथा इस विराट् पृष्ठ-भूमि में हिन्दी-उपन्यास की क्या स्थिति है—इन प्रश्नों पर समीक्षक अपना मत व्यक्त करेंगे।
- द्वितीय खण्ड के लेखों में हिन्दी-उपन्यास के उद्भव से उसकी वर्तमान परिणति तक का पर्यवेक्षण किया जायगा। वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से हिन्दी-उपन्यास की तिलिस्म से सामाजिक क्रान्ति तक की यात्रा, प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन और परवर्ती उपन्यासकारों द्वारा प्रस्तुत सामाजिक यथार्थ की विभिन्न व्याख्याएँ, आर्थिक तथा नैतिक परिस्थितियों से उत्पन्न असन्तोष के कारण कथाकारों के विक्षुब्ध अहम् द्वारा नये कथा-परिधानों की खोज पर विचार करने के साथ-साथ हिन्दी के कुछ प्रमुख उपन्यासकारों और उपन्यासों पर विस्तृत अध्ययन भी संकलित किये जायँगे जिनमें प्रेमचन्द के पूर्व, प्रेमचन्द और उनके समकालीन तथा उनके परवर्ती उपन्यासकारों के कृतित्व का सम्यक् निरूपण होगा।
- अन्तिम खण्ड में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों और समस्याओं पर कथाकारों और समीक्षकों के विचार आमन्त्रित किये जायँगे जो उपन्यास के लेखक, समीक्षक और पाठक के सम्मुख बार-बार उपस्थित होते रहे हैं। क्या हिन्दी-उपन्यास अब भी प्रौढ़त्व को नहीं पहुँच सका है? क्या हिन्दी-उपन्यास केवल मध्यवर्ग की चेतना को ही वहन कर सका है और क्या यही उसकी सीमा रहेगी? कथा-साहित्य में नैतिक आग्रह का क्या रूप है और अश्लीलता का क्या कोई सर्वनिर्धारित मानदण्ड बन सकता है? कथा-साहित्य में आर्थिक और राजनीतिक यथार्थ कब और कैसे कला का यथार्थ बन पाता है? प्रेम और रागात्म-सम्बन्धों के असन्तुलन की समस्या क्या उपन्यास की अनिवार्य समस्या है? इन समस्त प्रश्नों पर हिन्दी के प्रमुख कथाकारों के विचारपूर्ण लेख आमन्त्रित किये जायँगे जो न केवल हिन्दी-उपन्यास की कुछ विगत और वर्तमान उलझनों पर प्रकाश डालेंगे वरन् आगे के कृतित्व के लिए भी पथ प्रशस्त कर सकने में समर्थ होंगे। इस दृष्टि से इस उपन्यास-विशेषांक का न केवल समीक्षात्मक वरन् सृजनात्मक महत्त्व भी है

—प्रकाशक, आलोचना।

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।